चौथा खण्ड

संपादक

कृष्णवल्लभ द्विवेदी—श्रीनारायण चतुर्वेदी

सहयोगी लेखक

डा० गोरखप्रसाद, डी० एस-सी० (एडिनबरा), एफ० आर० ए० एस०, रीडर, गणित, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, लेक्चरर, भौतिक विज्ञान धर्मसमाज कॉलेज, अलीगढ़।

श्री० मदनगोपाल मिश्र, एम० एस-सी०, प्रिंसिपल, कान्यकुब्ज कॉलेज, लखनऊ।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०।

श्री० रामनारायण कपूर, बी० एस-सी० (मेटल०)।

डा० शिवकण्ठ पाण्डेय, डी० एस-सी०, रीडर, वनस्पति-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्रीचरण वर्मा, एम० एस०-सी०, एल-एल० बी०, रीडर, जीव-विज्ञान, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० सीतलाप्रसाद सक्सेना, एम० ए०, बी० काम०, भू० लेक्चरर अर्थशास्त्र, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, एम० ए०, डी० एस-सी० (लंदन), उपकुलपति, सागर-विश्वविद्यालय।

डा० राधाकमल मुकर्जी, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर, समाज-विज्ञान, लखनऊ विश्वविद्यालय।

श्री० वीरेश्वर सेन, एम० ए०, वाइस-प्रिंसिपल, गवर्नमेंट स्कूल ऑफ आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट्स, लखनऊ

श्री० द्वारकाप्रसाद, एम० ए०, लोहारदगा।

डा० डी० एन० मजूमदार, एम० ए०, पी-एच० डी० (कैंटब), पी० आर० एस, एफ० आर० ए० आई०, लेक्चरर, मानव-विज्ञान लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्यामसुंदर द्विवेदी, एम० ए०, एल-एल० बी० साहित्यरत्न, जूडीशियल ऑफिसर, मध्यभारत।

श्री० शम्भुप्रसाद बहुगुणा, एम० ए०, अध्यापक, इसाबेला थाबर्न कॉलेज, लखनऊ।

श्री० लक्ष्मीशंकर मिश्र 'अरुण', बी० ए०।

श्री० भगवतशरण उपाध्याय, एम० ए०।

प्रकाशक

राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव

हिन्दी विश्व-भारती कार्यालय,

चारबाग, लखनऊ

विषय-सूची

विश्व की कहानी

आकाश की बातें — पृष्ठ

उल्काएँ . .. ... डा० गोरखप्रसाद, एम० ए०, डी० एस-सी० १८५७
दूरदर्शक ... . " १९९५
दूरदर्शक के आविष्कार और विकास की कहानी, एवं कुछ प्रसिद्ध दूरदर्शक " २०८१
संसार का सबसे महान् नवीन दूरवीक्षण-यंत्र " २१६३
वेधशालाएँ और उनका कार्य .. , २२६१

भौतिक विज्ञान

आलोक रश्मियों में इन्द्रधनुष के रंग ... श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, एल-एल० बी० १९७५
आलोक-तरंगों का रहस्य " " २०३६
ध्वनिमय जगत् ... . " " २१६६
ध्वनि-तरंगें तथा उनका परावर्तन " " २२७५

रसायन विज्ञान

हैलोजन कुटुम्ब—फ्लुओरीन, ब्रोमीन और आयोडीन
का रासायनिक परिचय ... ... श्री० मदनगोपाल मिश्र, एम० एस-सी० १८६५
मूलतत्त्वों में सामाजिक व्यवस्था—विभिन्न परमाणुओं की संयोजन-शक्ति की कथा " १९८३
गंधक .. . . " २०९१
रासायनिक पदार्थों का राजा—गंधक का तेजाब .. " २१७७
रासायनिक भाषा ... . " २२८३

पृथ्वी की कहानी

पृथ्वी की रचना

ज्वालामुखी पर्वत और उनका उग्र उद्गार—(१) श्री० रामनारायण कपूर, बी० एस-सी० १८७७
ज्वालामुखी पर्वत और उनका उग्र उद्गार—(२) „ „ १९९३
'गाइसर' या तप्त जल और भाप के प्राकृतिक फव्वारे „ „ २१०१
भूकम्प या भूचाल ... .. „ „ २१८७

धरातल की रूपरेखा

मौसम और जलवायु—(३) वर्षा की कहानी तथा मौसम सबधी जांच करनेवाले यत्र ... ... श्री० रामनारायण कपूर, बी० एम-सी० १८८७
जलवायु के आधार पर धरातल का (प्रादेशिक) विभाजन „ „ २००७
धरती के प्रधान प्राकृतिक खड ... ... „ „ २१११

पेड़-पौधों की दुनिया

अन्नपूर्णा-भडार पत्ती की कहानी—(६) निराली पत्तियां ... डा० शिवकण्ठ पाण्डेय, एम० एस-सी०, डी० एस-सी० १८९३
कार्बन एसिमिलेशन के कुछ असाधारण तरीके .. „ „ २०१३
कीटाशी अथवा क्रातिकारी हिंसक पौधे—नाइट्रोजन एसिमिलेशन के कुछ असाधारण तरीके—(१) „ „ २२९५

जानवरों की दुनिया

जानवर कितने समय तक जीवित रहते हैं श्री० श्रीचरण वर्मा, एम० एस-सी०, एल-एल बी० १९०१
भारतीय तथा विदेशी पक्षी—(१) . . „ „ २०२३
भारतीय तथा विदेशी पक्षी—(२) . „ „ २११५
भारतीय तथा विदेशी पक्षी—(३) ... „ „ २१९९
भारतीय तथा विदेशी पक्षी—(४) . ... „ „ २३०५

मनुष्य की कहानी

हम और हमारा शरीर

हम श्वास क्यों और कैसे लेते हैं ... श्री० [illegible] वर्मा, एम० एस-सी०, [illegible] ... २०३१
रक्त-संचालन-प्रणाली—(१) जीवन की रक्तिम स्रोतस्विनी—रुधिर स्रोत ... ,, ... २१२७
रक्त संचालन-प्रणाली—(२) हमारे शरीर का अद्भुत पंप—हृदय— ... ,,
और उससे संलग्न धमनियों और शिराओं का विचित्र जाल ... ,, ... २२०८

हमारा मन

मन और शरीर ... श्री० [illegible], एम० ए० ... २२१६
प्रत्यक्षानुभूति ... ,, ,, ... २३२१

मानव समाज

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और आर्थिक स्वदेश-हित—(२) .. श्री० सीतलाप्रसाद सक्सेना, एम० ए० ... १९२१
अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और आर्थिक स्वदेश हित तथा
औद्योगिक संरक्षण की नीति ... ,, ,, ... २२२३

प्रकृति पर विजय

धरती पर विजय—(८) विशालकाय बांधो का निर्माण .. श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी० १९११
नल में पानी कहाँ से आता है ... ,, ,, ... २०३७
यंत्र-युग का सबसे महत्त्वपूर्ण ईंधन—कोयला ... ,, ,, ... २१३७
यंत्र-युग की शक्ति का स्रोत—खनिज तेल या पेट्रोलियम ... ,, ,, ... २२३१
गगनचुम्बी इमारतें ... ,, ,, ... २३२७

मनुष्य की कलात्मक सृष्टि

चीनी भास्कर्य या तक्षण-कला ... श्री० वीरेश्वर सेन, एम० ए० ... १९२५
जापान की कला—(१) वास्तुकला तथा मूर्त्ति-निर्माण-कला ... ,, ,, ... २०४७
जापान की कला—(२) चित्रकला ... ,, ,, ... २२४१
भारतीय कला—(१) विषय-प्रवेश ... ,, ,, ... २३३७

मनुष्य की कहानी (क्रमशः)

साहित्य-सृष्टि

सस्कृत-वाड्मय—(२) वेद ... ... श्री० भगवतशरण उपाध्याय, एम० ए० १९३९

सस्कृत-वाड्मय—(३) वेदो का काल-निर्णय ... ... " " २१४९

सस्कृत-वाड्मय—(४) ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् .. " " २२५१

सस्कृत-वाड्मय—(५) वेदाग और सूत्र-साहित्य, इतिहास (रामायण-महाभारत) और पुराण तथा तत्र-साहित्य " " २३४१

देश और जातियाँ

उत्तरी हिमप्रदेश के निवासी एस्किमो—(२) ... श्री० कृष्णवल्लभ द्विवेदी, बी० ए० २३५१

भारतभूमि

डोम—सयुक्त प्रात की एक और जरायमपेशा जाति...डा० डी० एन० मजूमदार, एम० ए०, पी-एच० डी० १९४९

भील जाति—(१) . ... " " २१५५

भील जाति—(२) .. .. " " २२५७

मानव विभूतियाँ

लियोनार्डो दा विंची ... ... डा० सत्यनारायण, पी-एच० डी० १९५७

लियो टॉलसटॉय—एक व्यक्तित्व ... श्री० ब्रजमोहन तिवारी, एम० ए०, एल-टी० २०५९

विश्व की कहानी

यदि हमारे किसी बड़े नगर पर भारी उल्कापात हो तो कैसा विनाशकारी दृश्य प्रस्तुत होगा,
यह असम्भव नहीं कि भविष्य में कभी ऐसा उल्कापात हो कि उसके कारण क्षण भर ही में कोई बड़ा शहर मटियामेट हो जाय। यद्यपि यह देखते हुए कि भारी उल्काएँ कभी ही-कभी गिरती हैं, ऐसे संकट की आशंका कम ही है।
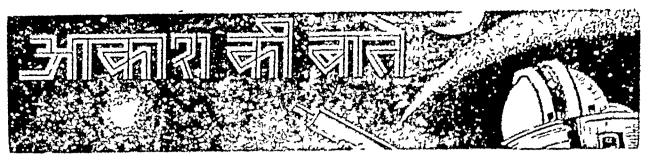
उल्काएँ

ग्रहों, उपग्रहों और केतुओं के अतिरिक्त हमारे सौर मण्डल के एक और विचित्र सदस्य हैं, जिन्हें हम उल्काएँ या टूटते हुए तारे कहकर पुकारते हैं। ये आकाशीय पिंड यथार्थ में क्या हैं और आधुनिक ज्योतिष उनके बारे में क्या-क्या बातें जान पाया है, आइए, इस लेख में देखें।

रात को अक्सर तारे टूटकर गिरते हुए जान पड़ते हैं। ये ही उल्काएँ हैं। अधिकांश उल्काएँ तो हमारे वायुमंडल में ही भस्म हो जाती हैं और उनका कोई अंश पृथ्वी तक नहीं पहुँच पाता, परंतु कुछ उल्काएँ बहुत बड़ी होती हैं। गिरते समय उनसे प्रचंड ज्वाला-सी निकलती है और सारी भूमि प्रकाशित हो उठती है। वायु को चीरते हुए भयानक वेग से उनके चलने का शब्द कोसों तक सुनाई पड़ता है और पृथ्वी पर गिरने की धमक भूकंप-सी जान पड़ती है। सौभाग्य की बात है कि ऐसी बड़ी उल्काएँ कभी-ही-कभी गिरती हैं, अन्यथा उनके मारे हमारा रहना ही कठिन हो जाता।

जैसा हम आगे देखेंगे, उल्काएँ वस्तुतः छोटे-बड़े पिंड हैं, जो अंतरिक्ष में वर्तमान रहते हैं। जब कभी पृथ्वी इनमें से किसी पिंड के पास आ जाती है या वह पिंड पृथ्वी के पास आ जाता है तो वह पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति के कारण खिंच आता है। उसका वेग तब इतना बढ़ जाता है कि वायु के संघर्ष से उसकी सतह तप्त हो जाती है। तब उसमें से गैसें निकल पड़ती हैं, जो जल उठती हैं। इन्हीं जलती हुई गैसों के कारण उल्काएँ हमें दिखलाई पड़ती हैं, अन्यथा वे इतनी ठंढी होती हैं कि उनमें से यों कुछ प्रकाश नहीं निकलता।

कभी-कभी उल्काएँ हमारे वायुमंडल की रगड़ से फट जाती हैं और तब उनमें बिजली तड़पने के समान शब्द होता है।

उल्काओं की जातियाँ

अपने स्वरूप के अनुसार उल्काओं की साधारणतः तीन जातियाँ मानी जाती हैं। यदि उल्का फीकी, केवल तारे की तरह, जान पड़ती है तो इसे छोटी उल्का या 'टूटता तारा' (shooting star) कहते हैं। यदि उल्का इतनी बड़ी हुई कि उसका कोई अंश पृथ्वी तक पहुँच

९ अक्टूबर, १९३३, की रात को जर्मनी मे देखी गई एक उल्का-झड़ी का फोटो

कभी-कभी आकाश में एक साथ ही धड़ाधड़ ऐसी उल्काएँ टूटने लगती हैं कि उनकी झड़ी-सी लग जाती है और एक भयप्रद दृश्य प्रस्तुत हो जाता है। ऊपर के फ़ोटो में एक ऐसी ही उल्का-झड़ी का चित्र है, जो घंटों तक ऊपर लिखी तिथि की रात को आकाश में अपना आतिशबाज़ी का खेल दिखाती रही थी।

जाय तो उसे 'उल्का-प्रस्तर' (meteorite) कहते हैं। परंतु यदि उल्का बड़ी होने पर भी आकाश ही में फटकर चूर-चार हो जाय तो उसे साधारणतः 'अग्नि पिंड' (fire-ball) कहते हैं।

छोटी उल्काओं में उन सब उल्काओं की गणना है जो केवल अत्यंत मंद प्रकाश के तारे से लेकर शनि या बृहस्पति-जैसे ग्रहों की तरह चमक पाती हैं। ऐसी उल्काएँ प्रति रात्रि ही दिखलाई पड़ती हैं। अग्नि पिंड बहुत कम दिखलाई पड़ते हैं। ये कम-से-कम बृहस्पति या शुक्र के समान चमकीले होते हैं और कभी-कभी तो पूर्णिमा के चंद्रमा से भी कई गुने बड़े और उससे कहीं अधिक चमकीले होते हैं। ऐसे बड़े अग्नि पिंडों के हवा को चीरते हुए चलने का शब्द बादलों की गड़गड़ाहट सा जान पड़ता है और जब ये फटते हैं तो जान पड़ता है कि कान का पर्दा ही फट जायगा। जहाँ तक पता लगाया जा सका है, ज्ञात हुआ है कि अग्नि-पिंड के फटने पर इसके इतने छोटे टुकड़े हो जाते हैं कि वे हमारे वायु-मंडल में ही भस्म हो जाते हैं और उनका कोई अंश पृथ्वी तक नहीं पहुँचता। अनुमान किया जाता है कि उल्काओं की इन तीन जातियों में कोई मौलिक अंतर नहीं है; केवल छोटे-बड़े होने के कारण ही उनके रूप में इस प्रकार का अंतर पड़ता है। तो भी उपरोक्त वर्गीकरण में सुविधा है।

उल्का-प्रस्तरों का उत्पात

उल्का-प्रस्तरों से कैसी भयानक दुर्दशा हो सकती है इसका अनुमान एक-दो उदाहरणों से चलेगा। साइबेरिया के येनीशाई नामक एक छोटे से प्रांत में ३० जून, १९०८, को सात बजे सवेरे एक अत्यंत प्रचंड उल्का देखी गई। सूर्योदय हो चुका था, तो भी इसकी चमक अद्वितीय थी। हज़ारों मनुष्यों ने इसे देखा और लाखों ने इसकी घड़घड़ाहट सुनी। इसके गिरने पर पृथ्वी काँप उठी। आस पास के शहरों में भूकंप के स्वयंलेखन-यंत्र में पृथ्वी का कंपन अंकित हो गया। परंतु लोगों के बहुत चेष्टा करने पर भी उस स्थान का पता न चला जहाँ उल्का-प्रस्तर गिरा था। पीछे इसका कारण ज्ञात हुआ। बात यह थी कि उल्का के प्रचंड तेज और भयानक शब्द से लोगों को यही धारणा हुई कि प्रस्तर कहीं पास में ही गिरा होगा, परंतु वस्तुतः वह एक प्रायः निर्जन स्थान में येनीशाई से सौ मील की दूरी पर गिरा था।

कई कारणों से वैज्ञानिक इस प्रस्तर की खोज में १९२१ के पहले नहीं निकल सके। १९१४-१८ का योरपीय महासमर भी इनमें से एक कारण था। १९२१ में खोज तो की गई, परंतु सफलता नहीं मिली। लोग वहाँ तक न पहुँच सके जहाँ

ध्रुव के समीपवर्ती नक्षत्रों का २। घंटे तक फ़ोटो लिये जाने पर जहाँ पृथ्वी के आवर्त्तन के कारण प्लेट पर गोल रेखाओं द्वारा प्रदर्शित नक्षत्रों का यह अनोखा चित्र खिंच आया, वहाँ उसी समय आकाश में टूटी हुई एक उल्का का भी फ़ोटो उस पर उतर आया, जिसका प्रकाश-मार्ग सीधी रेखा के रूप में चित्र को आड़े काटते हुए दिखाई दे रहा है। (फो०—'नार्मन लाकयर वेधशाला'।)

प्रस्तर गिरा था, क्योंकि मार्ग बड़ा दुरूह था। १९२७ में वैज्ञानिकों का एक दूसरा दल इसी खोज के लिए निकला और असह्य कठिनाइयाँ झेलता हुआ अंत में उल्काप्रस्तर के पतन-स्थान तक पहुँच गया। तब पता चला कि दुर्घटना अनुमान से कहीं अधिक भयानक थी। यह स्थान पहले घना जंगल था। उल्काप्रस्तर गिरने के बाद दूर तक भूमि तृणरहित हो गई थी। कई मील के घेरे में पृथ्वी ऐसी फट और खुद गई थी जैसे किसी कल्पनातीत भीमकाय हल से इसे जोत दिया गया हो। ज्वालामुखी पर्वतों के मुख के समान कई गड्ढे भी बन गए थे। पतन-स्थान से पचास मील तक स्थित मकान गिर गए थे और मनुष्य मर गए थे। एक व्यक्ति ने बतलाया कि उसके एक संबंधी के पास डेढ़ हज़ार पशु थे, परन्तु उल्का-प्रस्तर के गिरने के बाद उनका कहीं पता ही नहीं चला; केवल एक-दो पशुओं की जली भुनी लाश मिली थी।

परंतु वहाँ कोई एक बड़ा-सा पत्थर नहीं मिला। अनुमान किया जाता है कि वस्तुतः एक प्रस्तर नहीं गिरा, प्रस्तर-समूह गिरा होगा। सब पत्थर भूमि में बहुत गहरे धँस गए होंगे और इसीलिए वे दिखलाई नहीं पड़ते। लोगों ने विचार किया है कि कभी खोद कर कुछ पत्थर निकाले जायँगे। कुछ तो इसमें विशेष आर्थिक लाभ का भी स्वप्न देखते हैं, क्योंकि कभी कभी उल्का-प्रस्तर प्रायः शुद्ध लोहा रहता है। यदि इस उल्का की भी बनावट ऐसी ही है तो लोहे को बेचने से काफ़ी धन मिलेगा, क्योंकि अनुमान किया जाता है कि हजारों टुकड़े निकलेंगे, जिनमें से कुछ तो तीन-तीन हजार मन के होंगे।

अरिज़ोना का गड्ढा

अरिज़ोना में एक गड्ढा है, जो निस्संदेह किसी उल्का-समूह के गिरने के कारण बना है। इसका व्यास एक मील से थोड़ा ही कम है। इसकी दीवार भीतर से लगभग ६०० फ़ीट ऊँची है। बाहर से, भूमि के ढल आने के कारण, इस गड्ढे की दीवार कुल १५० फ़ीट ही ऊँची है। इस गड्ढे के आस पास पाँच मील तक हज़ारों छोटे छोटे उल्का-प्रस्तर मिलते हैं, परन्तु बड़े-बड़े प्रस्तर निस्संदेह भूमि के भीतर धँस गए होंगे। ज़मीन को बरमे से छेदकर बानगी निकालने पर पता चला है कि गड्ढे के नीचे पृथ्वी कई सौ फ़ीट तक चूर्ण हो गई है। परन्तु अभी तक उन प्रस्तरों का पता नहीं चला, जिनके कारण यह गड्ढा बना होगा। लोगों का अनुमान है कि इसका कारण यह होगा कि प्रस्तर तिरछे गिरे होंगे। इसलिए वे गड्ढे की पेंदी के नीचे न

आकाश में टूटते हुए एक अग्निपिण्ड के प्रकाश मार्ग का फ़ोटो

अग्निपिण्ड का प्रकाश-मार्ग चित्र के नीचे दिखाई दे रही सीधी रेखा द्वारा प्रदर्शित है। ऊपर नक्षत्रखचित आकाश में एक विशाल नीहारिका दिखाई दे रही है। यह दूरदर्शक केमेरा द्वारा लिया गया फ़ोटो है। देखिए, अग्निपिण्ड के मार्ग की मोटाई कहीं कम कहीं ज़्यादा है। (फो०—'नेशनल वेधशाला' प्राग

होंगे, किसी एक बगल होंगे। इस उल्का-प्रस्तर समूह को गिरे कई हज़ार वर्ष हो गए होंगे, क्योंकि अब इस गड्ढे के किनारे ऐसे वृक्ष उगे हैं जिनकी आयु ७०० वर्ष से कम नहीं है। (गड्ढे के चित्र के लिए देखो पृ० १८६३-६४)

ऐतिहासिक उल्का-प्रस्तर

प्राचीन भारतीय इतिहास में उल्का प्रस्तरों के गिरने की चर्चा कहीं नहीं मिलती, परन्तु अन्य प्राचीन पुस्तकों में कहीं कहीं इनकी चर्चा आ गई है। बाइबिल में एक स्थान पर लिखा है कि ईश्वर ने आकाश से बड़े-बड़े पत्थर गिराए। सम्भवतः उल्का प्रस्तर गिरे होंगे। प्राचीन रोमन ग्रंथकार लिवी ने ६५० ईस्वी पूर्व में उल्का-प्रस्तरों के गिरने की बात लिखी है। लोगों ने इसे देवताओं के कोप का परिणाम समझा और इसलिए ६ दिन का व्रत रखने की आज्ञा कर दी गई। चीनी पुस्तकों में भी कहीं-कहीं पत्थर बरसने की बात लिखी है।

सी० पी० ओलिवियर अपनी पुस्तक "मीटियर्स" में लिखता है कि इस बात के बहुत से प्रमाण मिलते हैं कि मूर्तिपूजा के अति प्रारंभिक रूपों में उल्का-प्रस्तरों की पूजा भी शामिल थी। वह यह भी लिखता है कि वह पवित्र पत्थर जो मक्का के काबा में उत्तर पूर्व कोने में लगा हुआ है उल्का-प्रस्तर ही है।

आधुनिक भारत में गिरे भारत-वर्ष के कई उल्का प्रस्तर कलकत्ते के म्यूज़ियम (अजायबघर) में सुरक्षित रक्खे गए हैं। नवीन प्रस्तरों का इतिहास जिओलॉजिकल सरवे

उल्का की जीवन कहानी

आरंभ में उल्कापिण्ड एक सामान्य ठंडे प्रस्तर पिण्ड के रूप में रहता है जैसा चित्र की सबसे ऊपरी पंक्ति में प्रदर्शित है। तदनन्तर यदि वह हमारे वायुमंडल में प्रवेश कर गया तो घर्षण के कारण उसमें भयंकर ताप और प्रकाश उत्पन्न हो जाता है जिससे वह जल उठता है और भीषण गति से दौड़ता हुआ अंत में राख हो जाता है जैसा कि चित्र में भिन्न-भिन्न चार पंक्तियों में दिखाया गया है। यदि वायुमण्डल ही में वह जलकर राख नहीं हो जाता तो कभी-कभी पृथ्वी पर गिरकर विनाश का दृश्य भी प्रस्तुत कर देता है।

की पत्रिका में प्रकाशित होता रहता है। कोई विशेष बड़ा प्रस्तर अभी नहीं मिल सका है।

उल्का-प्रस्तरों से डर

यह असंभव नहीं है कि भविष्य में कभी ऐसा उल्कापात हो कि उसके कारण कोई बड़ा शहर क्षण भर में मटियामेट हो जाय, परंतु इस बात को देखते हुए कि भारी पत्थर कभी ही-कभी गिरते हैं और पृथ्वी इतनी बड़ी है, इसकी विशेष आशंका नहीं जान पड़ती। सौभाग्य की बात है कि पृथ्वी को वायुमंडल चारों ओर से घेरे हुए है। यह वायुमंडल कवच-सा काम देता है। अधिकांश उल्काएँ इसी के घर्षण से राख हो जाती हैं। यदि वायुमंडल न होता तो अक्सर समाचारपत्रों में यह पढ़ने में आता कि अमुक व्यक्ति सड़क पर चला आ रहा था और अचानक उल्का-प्रस्तर की चोट से प्राण खो बैठा। अनेक व्यक्तियों के एक साथ ही मरने की सूचना भी कभी-कभी मिलती, क्योंकि एक ही स्थान में एक ही समय पर अनेक उल्का-प्रस्तर गिरते कई बार देखे गए हैं। १८३० में फ्रांस के एक स्थान में एक बार दो-तीन हजार पत्थर गिरे। वहाँ के निवासी व्याकुल हो गए। पौलैंड के एक स्थान में एक बार लगभग एक लाख पत्थर गिरे थे। अभी हाल ही में (१६ जुलाई, १६१२, को) अरिज़ोना में चौदह हजार पत्थर गिरे। पत्थरों की संख्या कुछ तो हमारे वायुमंडल में उनके चूर-चूर हो जाने से बढ़ जाती है, परंतु यह अधिक संभव है कि आरंभ से ही कई पत्थर एक साथ ही चलते

हैं। जो अग्निपिंड हमें चन्द्रमा के समान बड़े दिखलाई पड़ते हैं वे एक ही पत्थर न होते होंगे, अन्यथा वे वायु में ही भस्म न हो जाते। अवश्य ही ऐसे अग्निपिंड उल्का-समूह होते होंगे, जो पास-पास रहने के कारण और अपने अत्यंत तेज के कारण हमें एक पिंड के समान दिखलाई पड़ते हैं।

उल्का-झड़ी

केवल उल्का प्रस्तर ही समूह में नहीं चलते। कभी-कभी छोटी-छोटी उल्काएँ भी सैकड़ों,हज़ारों की संख्या में देखी जाती हैं। इस घटना को 'उल्का झड़ी' कहते हैं। कभी-कभी घंटों तक उल्का झड़ी लगी रहती है। एक दर्शक ने एक उल्का झड़ी का निम्न वर्णन किया है :—

"१२ नवम्बर, १७९९, को तीन बजे तड़के लोगों ने मुझे उल्कापात देखने के लिए जगाया। घटना उत्कृष्ट और भयानक थी। सारा आकाश ऐसा जान पड़ता था मानो आतिशबाज़ी के बाणों से प्रकाशित हो उठा हो। यह घटना दिन निकल आने के बाद केवल सूर्य के प्रकाश से ही बंद हुई। प्रति क्षण उल्काएँ उतनी ही असंख्य जान पड़ती थीं जैसे तारे, और प्रत्येक दिशा की ओर उड़ रही थीं। केवल वे पृथ्वी से आकाश की ओर नहीं जा रही थीं। वस्तुतः, सभी उल्काओं का मार्ग पृथ्वी की ओर ही थोड़ा बहुत झुका सा जान पड़ता था और जिस

अब तक पाया गया संसार का सबसे बड़ा उल्का-प्रस्तर

यह अमेरिका के न्यूयार्क शहर के एक अजायबघर में सुरक्षित है और वज़न में ३७ टन अर्थात् लगभग १००० मन है। यह भीमकाय आकाशीय वज्र उत्तरी ध्रुव की खोज करनेवाले सुप्रसिद्ध एडमिरल पेरी को ग्रीनलैंड के हिमाच्छादित द्वीप में पड़ा मिला था। इसके आकार का कुछ अनुमान आप समीप खड़े हुए व्यक्ति की ऊँचाई द्वारा कर सकते हैं।

(फ़ो०—'अमेरिकन म्यूज़ियम आफ़ नेचरल हिस्ट्री')

न्यूयार्क के अजायबघर में सुरक्षित एक और भीमकाय उल्का-प्रस्तर
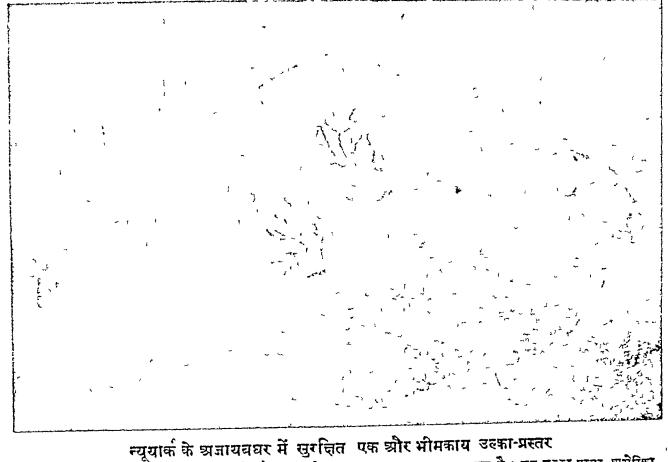
यह 'विलामेट प्रस्तर' के नाम से प्रसिद्ध है और वज़न में १६ टन या लगभग ४०० मन है। यह उल्का-प्रस्तर अमेरिका ही में मिला था। देखिए इसकी ऊबड़खाबड़ सतह के गड्ढों में इतनी जगह है कि लड़के उनमें आराम से बैठ सकते हैं। ज़रा कल्पना कीजिए कि जब यह पत्थर पृथ्वी पर गिरा होगा तो इसने कैसा उत्पात मचाया होगा।

जहाज़ पर हम थे उसके ऊपर भी कुछ खड़ी गिरती जान पड़ीं, यहाँ तक कि मैं बराबर डर रहा था कि दो-चार हम लोगों के बीच भी आ गिरेंगी। ×××× पीछे मुझे मालूम हुआ कि यह दृश्य बहुत दूर तक दिखलाई पड़ा।"

इस उल्का-झड़ी के चौंतीस वर्ष बाद फिर ऐसी ही झड़ी देखने में आई। एक दर्शक ने लिखा कि "आज सुबह बड़े तड़के आकाश में उल्काओं का आश्चर्यजनक दृश्य देख पड़ा। लेखक का ध्यान इस ओर लगभग पाँच बजे आकर्षित किया गया। उस समय से लेकर सूर्योदय तक इनका स्वरूप अद्भुत और अति शोभायमान था। मैंने इस प्रकार का जो कुछ भी पहले देखा था उससे यह कहीं बढ़कर था। इस दृश्य का कुछ अनुमान करने के लिए पाठक को उल्काओं की लगातार वर्षा की कल्पना करनी चाहिए। ये बाण की तरह थीं और आकाश के एक बिंदु से चारों ओर फैलती थीं। ×××× उल्काएँ भिन्न-भिन्न चमक की थीं। कुछ तो केवल बिंदु-सरीखी थीं। कुछ बृहस्पति या शुक्र से भी बड़ी और चमकदार थीं। एक तो लगभग चद्रमा के बराबर थी। प्रकाश की लपट ऐसी तेज़ थी कि सोये हुए मनुष्य जाग उठते थे।"

यह उल्का-झड़ी केवल तड़के ही नहीं, ९ बजे रात के कुछ पहले से आरंभ हुई थी और अनुमान किया गया था कि प्रति घंटे दस हजार उल्काएँ गिरती रही होंगी।

ऊँचाई

उल्काएँ कितनी ऊँची होती होंगी, इस प्रश्न पर लोगों की सम्मतियाँ पहले बड़ी विचित्र थीं। परंतु अट्ठारहवीं शताब्दी के अंत में दो जर्मन विद्यार्थियों ने उल्काओं की दूरी नापी। उन्होंने उसी रीति का प्रयोग किया जिससे क्षेत्रमापक (सरवेयर) अगम्य स्थानों की दूरी निकालता है। उनके बाद कई दूसरों ने भी दूरी नापी। इन सब वेधों से पता चला कि उल्काएँ जब हमें पहले दिखलाई पड़ती हैं तो लगभग ७० मील की ऊँचाई पर रहती हैं और अधिकांश उल्काओं का अंत ५० मील की ऊँचाई ही पर हो जाता है। इनका वेग सौ, सवा सौ मील प्रति सेकंड के लगभग होता है। ठीक गोल न होने

के कारण बहुत सी उल्काएँ फिरकी की तरह नाचती हुई गिरती हैं। बहुत चमकीली उल्काओं के मार्ग में धुआँ सा कुछ रह जाता है, जो कुछ समय तक दिखलाई पड़ता रहता है।

उल्का केन्द्रों का मार्ग

यदि उल्काओं का मार्ग नक्षत्र-चित्रों पर खींचा जाय तो पता चलता है कि बहुत सी उल्काएँ एक ही बिंदु से चलती हैं। प्रारम्भ में अदृश्य रहने के ही कारण वे हमें एक बिंदु से आती हुई नहीं जान पड़तीं। केवल उल्का-झड़ियों के समय ही उनके एक बिंदु से चलने का आभास हमको मिलता है। उस बिंदु को जहाँ से उल्काएँ चलती हुई मानी जा सकती हैं, संपात-मूल (radiant) कहते हैं।

बहुत से वेधों का मानचित्र खींचने पर बहुत महत्त्वपूर्ण बात यह ज्ञात हुई कि संपात मूल नक्षत्रों (तारों) के बीच उसी नियम से चलते हैं जिससे केतु। केवल यही नहीं, कुछ संपात-मूल तो ठीक उन्हीं कक्षाओं में चलते हैं जिनमें कुछ परिचित केतु अदृश्य होने के पहले चलते थे। उदाहरणत., एक उल्का-संपात-मूल ठीक प्रसिद्ध बीला केतु के मार्ग में चलता हुआ मिला है। बीला केतु का इतिहास 'हिंदी विश्व भारती' के पृष्ठ १७८८ पर दिया जा चुका है और वहाँ बतलाया गया है कि यह केतु देखते-देखते एक बार टूट गया था और अब कई वर्षों से अदृश्य है।

उल्काएँ क्या हैं

उल्का-संपात-मूल की उपरोक्त गति के कारण समझा जाता है कि उल्काएँ वस्तुतः केतुओं के ही रोड़े, टुकड़े या अंग हैं। अनुमान किया जाता है कि केतुओं के मार्ग में असंख्य रोड़े और ढोंके बिखर जाते होंगे, क्योंकि जैसा हम केतुओं पर विचार करते समय देख चुके हैं, केतु ठोस नहीं होते। वे रोड़ों और ढोंकों के समूह होते हैं। जब कभी पृथ्वी किसी केतु के मार्ग के पास से होकर जाती है तो कुछ रोड़े आकर्षित हो आते हैं। ये रोड़े भी अवश्य

अरिज़ोना का सुप्रसिद्ध गड्ढा, जो निस्सन्देह किसी उल्का-समूह के गिरने से बना है

आज से हज़ारों वर्ष पहले कोई भीषण वृहत् उल्का या उल्का-समूह अमेरिका के अरिज़ोना प्रदेश की मरुभूमि में गिरा था जिसके भयंकर आघात की यादगार के रूप में लगभग १ मील व्यास का यह गड्ढा आज भी मौजूद है। काल प्रभाव से यह गड्ढा अब बहुत कुछ भर गया है फिर भी अभी इसकी औसत गहराई ६०० फ़ीट है।

ही केतुओं के मार्गों में चला करते होंगे। कहीं-कहीं रोड़ों के घने समूह होते होंगे। वे ही संपात-मूल की तरह हमको जान पड़ते होंगे। रोड़े शब्द से यह न समझना चाहिए कि सभी टुकड़े कंकड़ के रोड़ों के बराबर होते होंगे। जैसा केतुओं के संबंध में बतलाया गया है, ये सरसों से भी छोटे से लेकर सैकड़ों हज़ारों मन के रोड़े और ढोके होते होंगे।

अब उल्का-झड़ियों की उत्पत्ति की भी बात समझ में आ सकती है। जब कभी हमारी पृथ्वी किसी पुराने केतु के मार्ग के बहुत समीप होकर जाती होगी और वहाँ रोड़ों का समूह बहुत घना होता होगा तो ये रोड़े हमें उल्का-झड़ी के रूप में दिखाई पड़ते होंगे। उल्काओं के समूहबद्ध होकर चलने का कारण भी इस सिद्धान्त से स्पष्ट हो जाता है। समूह के विभिन्न पिंड आरंभ में आस-पास रहते हैं और पृथ्वी की ओर खिंचने पर भी वे आस पास ही रह जाते हैं।

उल्काओं के प्रकाश से उनकी तौल का भी अनुमान किया गया है। पता चला है कि अधिकांश उल्काएँ सरसों के समान छोटी होती होंगी। अग्निपिंड और उल्का-प्रस्तर अवश्य ही बहुत बड़े होते होंगे। सबसे बड़ा उल्का-प्रस्तर, जो इस समय तक पाया गया है, वह है जो अमेरिका के म्यूज़ियम में रक्खा है। यह ग्रीनलैंड से लाया गया था और लगभग १००० मन का है।

अरिज़ोना के उल्कापात द्वारा निर्मित महान् गड्ढे की गहराई आरंभ में ११५० फ़ीट से कम न रही होगी जैसी चित्र में प्रदर्शित है। धरती में कुआँ-सा खोदकर १४०० फ़ीट की गहराई तक गिरे हुए उल्काप्रस्तर की खोज की गई है पर अभी पता नहीं लगा है। अवश्य ही इस गड्ढे के तले में हज़ारों टन का एक उल्काप्रस्तर या प्रस्तर-समूह विलुप्त है।

उल्का-प्रस्तरों की रासायनिक बनावट

अनुमान किया जाता है कि उल्काओं के भीषण वेग के कारण उन पर हमारे वायुमंडल की रगड़ इतनी अधिक लगती है कि उनकी सतह अत्यंत तप्त हो जाती है और उनमें से गैसें निकल पड़ती हैं। ये गैसें जल उठती हैं। गैस निकलने का प्रमाण उल्काओं के प्रकाश को त्रिपार्श्व द्वारा विश्लेषण करने से मिला है। त्रिपार्श्व द्वारा देखने पर श्वेत प्रकाश अपने विभिन्न रंगों में बँट जाता है और इन रंगों की सूक्ष्म परीक्षा से पता चल जाता है कि प्रकाश कैसे पदार्थों से आ रहा है।

उल्काओं की जीवन-लीला एक ही दो सेकंड में समाप्त हो जाती है। इसलिए उल्का पिंड भीतर तक गरम नहीं हो पाता। केवल सतह ही गरम हो पाती है। पानी से तर स्थानों पर गिरे प्रस्तर तो कभी-कभी बरफ से ढके पाये गए हैं। जान पड़ता है कि भीतर अत्यंत ठंढा रहने के कारण तप्त बाहरी सतह भी शीघ्र इतनी ठंढी हो जाती है कि पास के पानी को जमा डालती है।

अधिकांश उल्का-प्रस्तरों के ऊपर एक पतली चमकती हुई तह रहती है, मानों इस पर वार्निश कर दी गई हो। अवश्य ही यह ऊपरी तह के पिघल जाने के कारण बन जाती होगी। बहुत-से प्रस्तरों में चेचक के दाग की तरह गड्ढे भी पड़े रहते हैं। शीघ्र जलनेवाले भागों के पहले जल जाने के कारण ये गड्ढे बनते होंगे। उल्का-प्रस्तरों को प्रयोगशाला में गरम करने पर उनमें से गैसें निकलती हैं। इससे पता चलता है कि मार्ग में गरमी के कारण उनमें से गैस निकलने का सिद्धांत ठीक होगा।

अधिकांश उल्का-प्रस्तरों की बनावट रवादार होती है। तेजाब में डालकर उनकी ऊपरी सतह को काट देने पर यह रवादार बनावट खिल उठती है और स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ने लगती है। थोड़े से ही उल्का-प्रस्तरों में लोहे की मात्रा अधिक होती है। ऐसे लौह-प्रस्तरों की संख्या कुल तीन प्रतिशत होती है। शेष उल्का-प्रस्तरों की रचना पृथ्वी के साधारण रवादार पत्थरों की सी होती है। रवादार होने से यह पता चलता है कि ये पत्थर कभी पिघली अवस्था में रहे होंगे। उल्का-प्रस्तरों में कोई नवीन मौलिक पदार्थ नहीं पाया गया है। परंतु उनके सब पत्थरों की बनावट ठीक हमारे पत्थरों की-सी नहीं होती।

अन्य आकाशीय पिंडों से हमारी पृथ्वी का भौतिक संपर्क होना असंभव-सा जान पड़ता है, परंतु हम अवश्य कोई उल्का प्रस्तर पा सकते हैं और तब सचाई से डींग हाँक सकते हैं कि हमारे पास केतु का एक टुकड़ा है!

हैलोजन कुटुम्ब

क्लोरीन के संबंधी—फ्लुओरीन, ब्रोमीन और आयोडीन का रासायनिक परिचय

उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में एक विचित्र बात वैज्ञानिक मनीषियों के देखने में आई। अब तक अधिकतर मूलतत्त्वों का अन्वेषण और उनके तथा उनके अनेकों यौगिकों के गुणों का निर्धारण हो चुका था। इन गुणों की तुलना करने पर मूलतत्त्वों के विभिन्न समुदायों में एक घनिष्ठ कौटुंबिक सादृश्य पाया गया। इसी गुण-सम्बन्धी समानता के आधार पर समस्त मूलतत्त्व नव प्रधान वर्गों, और उपवर्गों को भी मिलाकर सोलह समुदायों में, विभक्त कर दिए गए। मूलतत्त्वों के जिन समुदायों में सबसे अधिक कौटुम्बिक साम्य मिलता है, उनमें हैलोजन भी है। हैलोजन कुटुम्ब में चार मूलतत्त्व हैं—फ्लुओरीन, क्लोरीन, ब्रोमीन और आयोडीन। ग्रीक भाषा में 'हैलस' का अर्थ 'सामुद्रिक लवण' और 'जनाओ' का अर्थ 'मैं उत्पन्न करता हूँ' है। 'हैलोजन' इन्हीं दो शब्दों की संधि से बना है, और इसका अर्थ है सामुद्रिक लवणों को उत्पन्न करनेवाला। फ्लुओरीन को छोड़कर अन्य तीनों मूलतत्त्व सामुद्रिक लवणों में पाये जाते हैं (दे० पृ० ५३५)।

इन चारों मूलतत्त्वों में फ्लुओरीन अपनी आपेक्षिक अनुपयोगिता के कारण सबसे कम विख्यात है। लेकिन
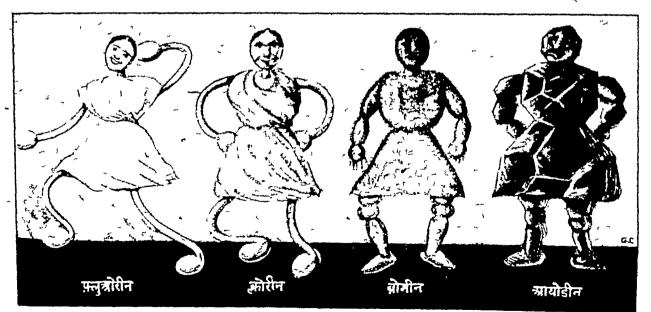
हैलोजन कुटुम्ब की चार सदस्याएँ

सभी क्रियाशील और एक ही प्रकार की सक्रियता प्रदर्शित करनेवाली। फ्लुओरीन सबसे अधिक क्रियाशील, सबसे हलकी, सबसे गोरी, गैस-रूप—और इस प्रकार गुणों में क्रमिक परिवर्त्तन होते हुए आयोडीन सबसे भारी, सबसे काली, ठोस-रूप होती है! मूलतत्त्वों में भी कौटुम्बिक साम्य!—कितनी सुंदर प्राकृतिक व्यवस्था!!

वह सबसे अधिक क्रियाशील मूलतत्त्व होने के कारण मनोरंजक है, और इसके अतिरिक्त उसका अम्ल हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड ही एक ऐसा पदार्थ है जिसमें रेत (सिलिका) और शीशा जैसे पदार्थ सरलता से घुल जाते हैं। शीशे पर चित्रकारी आदि करने के लिए यही अम्ल काम में लाया जाता है। क्लोरीन का वर्णन हम पिछले दो प्रकरणों में कर चुके हैं। अंतिम प्रकरण में ब्रोमीन का भी उल्लेख हुआ है, कारण वह अश्रु-गैसों के निर्माण में उपयुक्त होती है। ब्रोमीन का नाम आपने फोटोग्राफी के सबंध में भी सुना होगा, कारण ब्रोमीन और चाँदी के योग से 'सिल्वर ब्रोमाइड' नामक महत्त्वपूर्ण फोटोग्राफिक पदार्थ बनता है। आयोडीन का नाम तो हमारे प्रायः सभी पाठकों ने सुना होगा। टिंक्चर ऑफ़ आयोडीन इसी तत्त्व का एक घोल होता है।

इन चारों मूलतत्त्वों में कौटुम्बिक समता इसलिए पाई जाती है कि इनके गुण या तो एक ही से होते हैं, अथवा परमाणु के भारीपन के अनुसार उसी क्रम से उनमें शनैः-शनैः परिवर्त्तन होता जाता है; उसी प्रकार जैसे एक ही कुटुम्ब के सदस्यों में समानता तो रहती ही है, किंतु अवस्था के अनुसार उनके गुणों और आचरण में अंतर भी पाया जाता है। फ्लुओरीन इन सबमें सबसे हलकी होती है। उसका परमाणु-भार केवल १६ है, अर्थात् उसका परमाणु हाइड्रोजन के परमाणु से, जो सबसे हलका होता है, १६ गुना भारी है। इसी प्रकार क्लोरीन का परमाणुभार ३५·५, ब्रोमीन का ७९·६ और आयोडीन का १२६·६ होता है। इसी क्रम से अब इनके वाष्पों के रंगों को देखिए—फ्लुओरीन हलकी पीली, क्लोरीन हरापन लिये हुए पीली, ब्रोमीन भूरी लाल, और आयोडीन नीललोहित—सभी रंगीन हैं, किंतु क्रमशः रंगों की गहराई बढ़ती जाती है। फिर साधारण दशाओं में अवस्था भी उसी प्रकार भिन्नता प्रदर्शित करती है—फ्लुओरीन और क्लोरीन गैस, ब्रोमीन धूमोत्पादक द्रव, आयोडीन ठोस। सभी में एक ही प्रकार की तीक्ष्ण गंध भी होती है। और देखिए, पानी से वे कितने गुनी भारी होती हैं, यानी उनके आपेक्षिक घनत्व ये हैं—फ्लुओरीन (द्रव) १·०८, क्लोरीन (द्रव) १·५५, ब्रोमीन (द्रव) ३·१६, आयोडीन (ठोस) ४·९३। इसी क्रम से उनके द्रवणांक और क्वथनांक भी बढ़ते जाते हैं। इसी प्रकार की समानता अथवा क्रमिक परिवर्त्तन हमें उनके रासायनिक गुणों में भी मिलते हैं। अत्यंत संयोगातुर होने के कारण इनमें से कोई भी तत्त्व प्रकृति में मुक्तावस्था में नहीं पाया जाता। सभी हाइड्रोजन से संयुक्त होकर अम्लों का उत्पादन करते हैं, किंतु फ्लुओरीन का हाइड्रोजन से संयोग सबसे तीव्र और आयोडीन का सबसे मंद होता है। यदि फ्लुओरीन और हाइड्रोजन का मिश्रण अँधेरे और ठण्डे में भी रख दिया जाय, तो वे तुरत विस्फोटन के साथ संयुक्त होकर हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड (HF) को उत्पन्न कर देती हैं। छाया में फैले हुए सूर्य के प्रकाश में क्लोरीन और हाइड्रोजन का संयोजन धीरे-धीरे, किंतु सीधी पड़ती हुई धूप में विस्फोटन के साथ होता है, और इस प्रकार नमक का तेज़ाब यानी हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड (HCl) बनता है। ब्रोमीन और हाइड्रोजन के संयोग को संभव करने के लिए दोनों के मिश्रण को, विशेषतः तप्त प्लैटिनम के उत्प्रेरक प्रभाव में गर्म करना पड़ता है। इस प्रकार हाइड्रोब्रोमिक ऐसिड (HBr) नामक पदार्थ बनता है। आयोडीन और हाइड्रोजन भी इन्हीं अवस्थाओं में संयुक्त होते हैं, किंतु और भी कठिनता के साथ। इसी प्रकार अन्य तत्त्वों से भी फ्लुओरीन का संयोग सबसे प्रबल, क्लोरीन का उससे कुछ कम प्रबल, ब्रोमीन का उससे भी कुछ कम प्रबल और आयोडीन का सबसे कम प्रबल होता है। तथापि, तत्त्वों से संयुक्त होने में ये सभी सक्रियता प्रदर्शित करती हैं।

पानी के साथ इन तत्त्वों की प्रक्रिया में भी यही क्रम दिखाई देता है। पानी में फ्लुओरीन प्रवाहित करने पर अनायास ही ओज़ोनयुक्त ऑक्सिजन निकलने लगती है—

$$2H_2O + 2F_2 = 4HF + O_2$$
$$3H_2O + 3F_2 = 6HF + O_3$$

क्लोरीन गैस को पानी में मिलाने पर सूर्यप्रकाश में रखने से ही ऑक्सिजन गैस धीरे-धीरे निकलती है—

$$2H_2O + 2Cl_2 = + HCl + O_2$$

इन्हीं दशाओं में ब्रोमीन की पानी पर क्रिया और भी मंदतर होती है, और आयोडीन की पानी पर क्रिया नहीं के बराबर होती है। इसी कारण, फ्लुओरीन सबसे प्रबल ऑक्सीकारी और रंगनाशक तत्त्व, क्लोरीन उससे कम, ब्रोमीन उससे भी कम और आयोडीन इन सबसे कम है। कास्टिक सोडा आदि क्षारों के घोल पर क्लोरीन, ब्रोमीन और आयोडीन की रासायनिक क्रिया एक ही प्रकार की होती है। यदि क्षारों के ठंढे घोलों में ये तत्त्व मिलाए जाते हैं, तो दो लवण, यथा क्लोरीन की कास्टिक सोडा पर क्रिया से सोडियम क्लोराइड और सोडियम हाइपोक्लोराइट, बनते हैं। किन्तु गर्म क्षारीय

घोलों में इनकी क्रिया द्वारा क्लोराइड आदि और क्लोरेट आदि बनते हैं। क्लोरीन से सोडियम हाइपोक्लोराइट (दे० पृ० १६५२) और पोटैशियम क्लोरेट, ब्रोमीन से पोटैशियम ब्रोमाइड, और आयोडीन से पोटैशियम आयोडाइड आदि उपयोगी लवणों का निर्माण इन्हीं रासायनिक क्रियाओं द्वारा होता है।

जब फ्लुओरीन अन्य तीन तत्त्वों के हैलाइड लवणों के घोलों में प्रवाहित की जाती है, तो क्रमशः क्लोरीन, ब्रोमीन और आयोडीन निकल पड़ती हैं, और फ्लुओराइड बन जाता है। यथा—

$$2KBr + F_2 = 2KF + Br_2$$

पोटैशियम ब्रोमाइड, फ्लुओरीन, पोटैशियम फ्लुओराइड, ब्रोमीन

परंतु ये तीनों, इस प्रकार, फ्लुओरीन को स्थानांतरित नहीं कर सकतीं। इसी प्रकार क्लोरीन ब्रोमीन और आयोडीन को, और ब्रोमीन आयोडीन को निकाल बाहर कर सकती हैं; लेकिन आयोडीन ब्रोमीन अथवा क्लोरीन को, और ब्रोमीन क्लोरीन को नहीं हटा सकती। सारांश यह है कि ये चारों मूलतत्त्व समान गुणोंवाले होते हैं, किंतु रासायनिक सक्रियता की दृष्टि से फ्लुओरीन प्रबलतम, क्लोरीन उससे कम प्रबल, ब्रोमीन उससे भी कम प्रबल और आयोडीन सबसे कम प्रबल है। गुणों में इस प्रकार की समानता अथवा नियमित क्रम से परिवर्तन न केवल हम इन तत्त्वों बल्कि इनके यौगिकों में भी देखते हैं।

फ्लुओरीन

जिन खनिजों में फ्लुओरीन संयुक्तावस्था में रहती है उनमें फ्लुओरस्पार और क्रायोलाइट प्रधान हैं। ये खनिज अनेक स्थानों में पाये जाते हैं, लेकिन प्रचुर परिमाणों में नहीं। फ्लुओस्पार कैल्सियम और फ्लुओरीन का यौगिक, अर्थात् कैल्सियम फ्लुओराइड (CaF_2) होता है। यह एक मणिभीय खनिज होता है, जो रक्त-तप्त किए जाने पर गलकर बहने लगता है। चमकते हुए मणिभीय खनिजों को अंग्रेज़ी में बहुधा 'स्पार' कहते हैं, और लैटिन में 'फ्लुओ' का अर्थ है 'मैं बहता हूँ'। इसीलिए इस खनिज का नाम, 'फ्लुओरस्पार' हुआ। 'फ्लुओराइट' इसका दूसरा नाम है। फ्लुओरस्पार एक बड़ा ही मनोरंजक खनिज होता है। शुद्ध रूप में इसके स्फटिक रंगहीन और पारदर्शक होते हैं, अन्यथा अत्यंत न्यूनांशों में धातव ऑक्साइडों आदि से मिश्रित होने के कारण वे लाल, भूरे, पीले, हरे नीले, बैंगनी आदि बड़े ही सुहावने रंगों के होते हैं। इसके कुछ स्फटिक, अत्यंत नयनाभिराम होने के कारण, रत्नों के रूप में भी व्यवहृत होते हैं। बहुधा एक ही स्फटिक के समानांतर स्तरों में भिन्न भिन्न सुंदर रंग हुआ करते हैं। फ्लुओरस्पार के स्फटिकों में बहुधा यह गुण भी होता है कि उनके बीच से देखने से वे एक रंग के, किंतु ऊपर से देखने से दूसरे रंग के, प्रतीत होते हैं। इस घटना को

हाइड्रोफ्लुओरिक अम्ल का महत्त्व
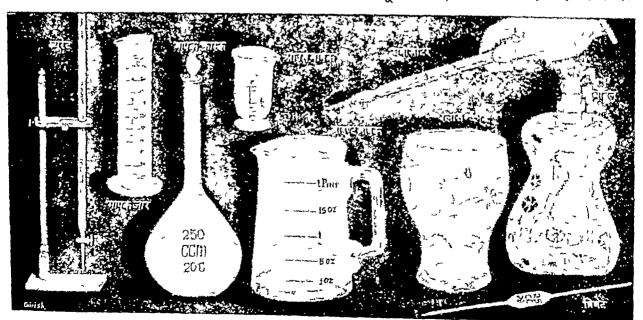
शीशे के पात्रों पर चित्रकारी तथा वैज्ञानिक उपकरणों पर अंकलेखन—क्या आपको ज्ञात है किसके द्वारा हुआ है?

अंग्रेजी में फ्लुओरेसेन्स (Fluorescence) इसीलिए कहते हैं कि यह फ्लुओरस्पार में पाई जाती है। अपनी भाषा में इस झलक को प्रतिदीप्ति भी कहते हैं। कुछ अन्य पदार्थों में भी प्रतिदीप्ति का यह गुण पाया जाता है। फ्लुओरस्पार के तो स्फटिकों के छोटे छोटे टुकड़े जब अँधेरे में गर्म किए जाते तो वे हरे अथवा नारंगी रंग के प्रकाश से झलक उठते हैं। इस प्रकार की झलक को तापदीप्ति (Thermo-luminescence) कहते हैं। जब ये स्फटिक अँधेरे में खरल में पीसे जाते हैं। तो घूमते हुए मूसल के पीछे-पीछे रवे झलकते हुए दिखाई देते हैं। इसे घर्षण-दीप्ति (Triboluminescence) कहते हैं। फ्लुओरस्पार के सबसे अच्छे स्फटिक इङ्गलैण्ड के उत्तर में सीसे की खानों में मिलते हैं। कार्नवाल की टीन की खानों में ग्रेनाइट पत्थर के साथ, और डर्बीशायर की खानों में सीसे के खनिज और चूने के पत्थर के साथ, ऐल्प्स पर्वतों के नाइस (gneiss) पत्थर के साथ, और कभी-कभी वेसुवियस ज्वालामुखी के लावा में भी फ्लुओरस्पार मिलता है। धातु-निर्माण में द्रावक (flux) के रूप में और शीशा, इनैमल, लुक, हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड, आदि के बनाने के लिए यह काम आता है।

फ्लुओरीन का दूसरा यौगिक क्रायोलाइट दक्षिणी ग्रीनलैण्ड में पाया जाता है। यह एक सफेद शीशा-सा मणिभीय खनिज होता है, और देखने में बर्फ से बहुत-कुछ मिलता जुलता है। इसीलिए इसका नाम क्रायोलाइट पड़ा। ग्रीक में क्रायोस का अर्थ 'बर्फ' और लाइथॉस का 'पत्थर' है, अतएव क्रायोलाइट का अर्थ 'बर्फ का पत्थर' हुआ। रासायनिक दृष्टि से, क्रायोलाइट अलुमीनियम फ्लुओराइड और सोडियम फ्लुओराइड के संयोग से बना होता है, [इसका अणुसूत्र $AlF_3 \cdot 3NaF$ होता है। क्रायोलाइट धातुओं के निर्माण में द्रावक के रूप में, और ओपल (दूधिया) पत्थर, लोहे के इनैमल, अलुमीनियम और उसके लवण, तथा हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड के बनाने में प्रयुक्त होता है। फ्लुओर-ऐपाटाइट [$CaF_2 \cdot 3Ca_3(PO_4)_2$] नामक खनिज में भी कैल्शिअम फ़ास्फेट के साथ साथ फ्लुओरीन कैल्शियम फ्लुओराइड के रूप में रहती है। न्यूनांशों में फ्लुओरीन अनेक अन्य खनिजों तथा पत्थरों में, समुद्र और सोतों के जल में तथा पेड़-पौधों, हड्डियों, दाँतों के इनैमल, मस्तिष्क रक्त, दूध, आदि में भी रहती है। मनुष्य के मस्तिष्क में लगभग ३ मिलीग्राम फ्लुओरीन होती है। शरीर में रहनेवाले आवश्यक लवणों में कैल्शियम फ्लुओराइड की भी गणना है, इसीलिए बायोकेमिक दवाओं में भी वह व्यवहृत होता है।

सन् १६७० ई० में श्वाखार्ड महोदय ने यह देखा कि फ्लुओरस्पार को सलफ्यूरिक ऐसिड के साथ गर्म करने पर ऐसा धूम उठता है जिससे शीशे का छादन शीघ्रता से होने लगता है। तब से लगभग डेढ़-सौ वर्ष बाद अनेकों रासायनिकों के अनुसंधानों के फलस्वरूप १८१३ ई० में, यह निश्चित हो सका कि फ्लुओरस्पार एक नए ही तत्त्व फ्लुओरीन का यौगिक है। फ्लुओरस्पार में उपस्थित और हैलोजन कुटुंब के क्लोरीन आदि के समान होने के कारण इसका नाम फ्लुओरीन पड़ा। किंतु अभी तक फ्लुओरीन अपने तत्त्वरूप में पृथक् न की जा सकी थी। इस समय से १८८६ ई० तक, अर्थात् लगभग ७५ वर्ष तक, अनेकों वैज्ञानिक इसको विलग करने का निष्फल प्रयत्न करते रहे। इसका कारण था फ्लुओरीन की अत्यधिक संयोगशीलता। अकेले रहना उसकी प्रकृति में ही नहीं—हीलियम, आर्गन आदि क्लीव गैसों, आलसी नाइट्रोजन, और सर्वथा पुरुष-गुण-विहीन* ऑक्सिजन को छोड़कर किसी भी तत्त्व से संयुक्त हो जाने और अनेकों अणु-गृहों के निकट आने पर स्त्री-तत्त्वों को निकाल बाहर कर, पुरुष-तत्त्वों से संबंध स्थापित कर लेने में उसे देर नहीं लगती। ऐसी संयोगशील फ्लुओरीन को बिछुड़ने के लिए बाध्य करने में यदि वैज्ञानिकों को ७५ वर्ष लगे तो कोई अधिक आश्चर्य नहीं। रास्को नामक एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक तो यह कह उठा कि फ्लुओरीन को पृथक् करना "आधुनिक रासायन की कठिनतम समस्याओं में से एक" है। किंतु मानव-जिज्ञासा बड़ी बलवती होती है; प्रकृति भी उसके सामने अपना सर झुकाती है—फ्लुओरीन को अपने एकाकी गैसीय रूप में मनुष्य के सामने आना ही पड़ा! यह गैस मनुष्य के काम में न आई, किंतु उसका दर्शन और तत्त्वबंधी ज्ञान लाभ ही उसके ७५ साल के प्रयास का क्या कुछ कम पुरस्कार था!

फ्लुओरीन के पृथक् करने में वैज्ञानिकों के सामने अनेकों समस्याएँ खड़ी हुईं। किस पदार्थ से बने हुए पात्र में यह गैस तैयार की जाय? सभी साधारण धातुओं पर, यहाँ तक कि गर्म करने पर सुवर्ण और प्लैटिनम पर भी, वह तुरंत आक्रमण करके उनसे संयुक्त हो जाती है।

* यहाँ धातु-गुण-संपन्न तत्त्व के पुरुष-रूप और अधातु-गुणसंपन्न तत्त्व के स्त्री-रूप होने की कल्पना की गई है।

शीशा और क्वार्ट्ज़ पत्थर ऐसे स्थायी पदार्थ भी उससे, और विशेषत: उसके अम्ल हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड से, नहीं बच सकते। अनेकों रासायनिक विधियों द्वारा फ्लोराइडों तथा हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड से फ्लुओरीन निकालने का प्रयत्न किया गया, किंतु सब निष्फल!—प्रबल से प्रबल ऑक्सीकारी पदार्थ हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड से हाइड्रोजन अलग करने में समर्थ न हुए। अनेक फ्लोराइडों को ताप, विद्युत् तथा अन्य रासायनिक उपायों द्वारा विच्छिन्न करने का भरसक प्रयत्न किया गया, किंतु फ्लुओरीन ने दर्शन न दिये। हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड विद्युत्-विश्लेषण द्वारा अपने तत्त्वों हाइड्रोजन और क्लोरीन में विच्छिन्न हो जाती है, तो क्या हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड भी हाइड्रोजन और फ्लुओरीन में न टूट जायगी? सर हम्फ्री डेवी ने बहुत पहले ही हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड के जलीय घोल में बिजली प्रवाहित की थी, किंतु विश्लेषण-पात्र के जिस अंग में फ्लुओरीन को एकत्र होना चाहिए था उसमें ओज़ोन-मिश्रित ऑक्सिजन गैस निकलकर इकट्ठी हो रही थी। पानी की उपस्थिति में फ्लुओरीन का स्वतंत्र अस्तित्व संभव ही नहीं! बाद में वैज्ञानिकों ने सोचा कि शुद्ध द्रवीभूत हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड का ही विद्युत् विश्लेषण क्यों न किया जाय? लेकिन इसके उपयोग में भी अड़चन पड़ी। उसका वाष्प बड़ा ही विषाक्त प्रमाणित हुआ। उससे फ्लुओरीन को विलग करने के प्रयत्न में फ्रांस के पी० लूयेट ने १८५० में और जे० नैन्सी ने १८६९ में अपने प्राण गँवाए। तथापि बड़ी ही सावधानी के साथ वैज्ञानिकों ने उसे बंद विश्लेषण-पात्र में रक्खा, किन्तु यह क्या? बिजली की धारा तो उसमें चली ही नहीं! शुद्ध पानी भी तो बिजली का चालक नहीं, किंतु जब लवण उसमें घुल जाते हैं तो वह अच्छा संचालक हो जाता है। पेरिस के तेजस्वी प्रोफ़ेसर हेनरी मोयसाँ ने हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड द्रव में पोटैशियम फ्लुओराइड लवण घोल कर देखा तो बिजली उसमें चल रही थी। प्लैटिनम और इरीडियम की मिश्र धातु की उसने एक U-नली (चूल्हाकार नली) बनवाई, जिसमें दोनों ओर पार्श्व-नलियाँ लगी हुई थीं, और इसमें इसी घोल को भरा। इस मिश्रधातु पर फ्लुओरीन की क्रिया प्लैटिनम की अपेक्षा मंदतर होती है। इस नली के दोनों अंगों में उसने इसी मिश्रधातु के विद्युत्शिरों को डुबा दिया, और नली के दोनों मुँहों को फ्लुओरस्पार की ऐसी डाटों से बंद कर दिया जिनमें से होकर विद्युत्शिरे अंदर जा रहे थे। उन डाटों को उसने शीसे की चँदियों और चपड़े द्वारा

ब्रोमीन का निर्माण

जर्मनी के कार्नेलाइट नामक खनिज के अवशिष्ट घोलों से क्लोरीन द्वारा उसी की बहन ब्रोमीन मानव उपयोग के लिए किस प्रकार निकाल बाहर कर दी जाती है। पूरा विवरण लेख में पृ० १८७१-७२ पर देखिए।

विद्युत्-प्रयोग बना दिया। द्रवीभूत मेथिल क्लोराइड (क्वथनांक −२३°C) से यह नली निरंतर ठंडी रक्खी गई, और उसमें विद्युत्धारा प्रवाहित कर दी गई। दोनों ओर की निकास-नलियों से गैसें निकलने लगीं। एक ओर से हाइड्रोजन और दूसरी ओर से [illegible] फ्लुओरीन निकलती चली आ रही थी। मोयसाँ के उपायों के सामने उसकी एक न चली—उसे आत्मसमर्पण कर देना ही पड़ा। तेरह वर्ष बाद, अर्थात् १८९९ में, मोयसाँ ने देखा कि प्लेटिनम-इरिडियम की नली के स्थान पर ताँबे की नली भी काम आ सकती है, क्योंकि ताँबे और फ्लुओरीन के संयुक्त होने से ताँबे का पृष्ठ ताम्र-फ्लुओराइड के पटल से आच्छादित हो जाता है, जो फ्लुओरीन के नाशन कार्य को रोक देता है। फिर बिजली के सिरे अब भी उसी मिश्र धातु के थे। फ्लुओरीन निकालने की नवीनतम प्रणाली में, जो १९३१ में निकाली गई थी, ताँबे की ही V आकार की नली प्रयुक्त होती है। इसी में पोटैशियम हाइड्रोजन फ्लुओराइड (KF. HF) भर दिया जाता है, और इसी नली पर लपटे हुए बिजली के तारों द्वारा गर्म करके पिघला दिया जाता है। नली के दोनों अंग बेकलाइट सीमेंट की डाटों से बंद रहते हैं, और उनमें से आते हुए शुद्ध ग्रेफाइट के बिजली के सिरे पिघले हुए पोटैशियम हाइड्रोजन फ्लुओराइड में डूबे रहते हैं। इस प्रकार यह विधि अधिक सस्ती और सुविधामय हो जाती है। नटी की भाँति अब फ्लुओरीन मोयसाँ तथा अन्य वैज्ञानिकों के सामने अपनी सयोगशीलता के खेल दिखाने लगी। इन प्रयोगों को करते समय इस बात का विशेष ध्यान रक्खा गया कि फ्लुओरीन पास न फटकने पावे, नहीं तो वह अपने अपहरण करनेवालों से अपनी विषाक्तता द्वारा भीषण बदला लेती। थोड़ा-सा गंधक शीशे के पात्र में बंद गैस में रक्खा गया। शीशे पर सूखी फ्लुओरीन की क्रिया तीव्र नहीं होती। वह पहले पिघला और फिर भक से जल उठा—गंधक और फ्लुओरीन के सयोग से सल्फर फ्लुओराइड तेज़ी से बन रहा था, और इसी सयोग द्वारा उत्पन्न ताप ज्वाला के रूप में प्रदर्शित था। फास्फरस, पोटैशियम, सोडियम, कार्बन-चूर्ण, सिलिकन, आयोडीन, ब्रोमीन, सिलिकन, आर्सेनिक, ऐंटिमनी आदि अनेकों तत्त्व स्वत फ्लुओरीन में जल उठते हुए देखे गए। चूर्ण अथवा पत्तुरों के रूप में लोहा, जस्ता, टीन, मैग्नेशियम, मैङ्गनीज, निकेल, अलुमीनियम और चाँदी भी थोड़ा-सा गर्म करने पर गैस में फ्लुओराइडों का उत्पादन करते हुए जल उठे। अलकोहॉल, तारपीन, ईथर आदि कार्बनिक पदार्थ भी गैस के अंदर रखते ही भभक उठे। कितनी क्रियाशील थी फ्लुओरीन—प्रकृति के सबसे सक्रिय तत्त्व का परिचय मनुष्य को मिला था।

हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड फ्लुओरस्पार पर गंधकाम्ल की क्रिया से तैयार की जाती है। सीसे के एक रिटार्ट में शुद्ध पिसे हुए फ्लुओरस्पार और ६० प्रतिशत सल्फ्यूरिक ऐसिड का मिश्रण गर्म किया जाता है और निकलती हुई हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड गैस सीसे के पात्र में रक्खे हुए पानी में शोषित कर ली जाती है। व्यापारिक घोल में ४० प्रतिशत हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड रहती है। यह गटापर्चा अथवा मोम की अथवा भीतर मोम से मढ़ी हुई शीशे की बोतलों में रक्खी जाती है। शीशे पर अक्षर अथवा चित्र आदि अंकित करने के लिए उस पर पहले पिघला हुआ मोम चढ़ा दिया जाता है। ठंडा होते ही मोम का एक पतला पर्त शीशे पर जम जाता है। अब स्टाइलस (लोहे की नोकवाली क़लम) अथवा सुई आदि किसी अन्य नोकदार वस्तु से इस तह को खुरचकर शीशे पर वांछित चिह्न अंकित कर दिए जाते हैं। यदि खुदे हुए स्थान का पृष्ठ खुरदुरा अथवा धुँधला रखना होता है तो हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड वाष्प में शीशे का पृष्ठ कुछ देर तक के लिए रख दिया जाता है। शीशे को साफ और चिकना खोदने के लिए हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड का जलीय घोल काम में लाया जाता है। मोम के पर्त पर खुरचे हुए नक़्शों पर यह घोल, उससे तर किया हुआ ब्लाटिंग पेपर रखकर अथवा किसी अन्य विधि से, लगा दिया जाता है। कुछ ही देर में शीशे के घुल जाने से डिज़ाइन शीशे पर खुद जाता है। घोल में अमोनियम फ्लुओराइड भी मिला रहने से खुदाव साफ़ और चिकना नहीं किंतु अपारदर्शक रहता है। मोम पिघलाकर अथवा तारपीन के तेल द्वारा पोंछ कर हटा दिया जाता है। शीशा हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड में इसलिए घुल जाता है कि उसका विशेष अवयव सिलिका (सिलिकन डाइऑक्साइड) इस अम्ल में सिलिकन फ्लुओराइड और पानी को उत्पन्न करता हुआ सरलता से घुल जाता है—

$$SiO_2 + 4HF = SiF_4 + 2H_2O$$

शीशे के अन्य अवयव सोडियम ऑक्साइड, कैल्शियम ऑक्साइड (चूना) आदि भी फ्लोराइडों और पानी में परिणत होकर हट जाते हैं। कृत्रिम ग्रैफ़ाइट, फ़िल्टर पेपर,

बेत, ढाली हुई वस्तुओं, आदि में से सिलिका निकाल डालने के लिए भी यह ऐसिड व्यवहृत होती है। यह अम्ल कीटाणुनाशक भी होता है, और शराब और रंग बनाने के कारख़ानों में वह और सोडियम फ़्लुओराइड आदि उसके कुछ लवण हानिकारक कीटाणुओं को नष्ट करने, अथवा उनकी बाढ़ रोकने के लिए, प्रयुक्त होते हैं।

ब्रोमीन

ब्रोमीन का आविष्कार फ्रेञ्च वैज्ञानिक ए० जे० बेलर्ड ने १८२६ ई० में किया था। उसने अल्पांशों में सामुद्रिक लवणों में उसका अस्तित्व (मैग्नीशियम ब्रोमाइड के रूप में) सिद्ध किया और यह प्रदर्शित किया कि वह क्लोरीन से ही मिलता-जुलता एक तत्त्व है। उसमें क्लोरीन के ही समान एक तीक्ष्ण दुर्गंध होती है, अतएव उसने इसका नाम ब्रोमीन रक्खा। ग्रीक भाषा में 'ब्रोमॅस' का अर्थ 'दुर्गंध' होता है। सिल्वर ब्रोमाइड के रूप में मेक्सिको और चिली की चाँदी की खानों में ब्रोमीन मिलती है, और मैग्नीशियम, कैल्शियम, सोडियम और पोटैशियम के ब्रोमाइडों के रूप में वह अल्पांशों में समुद्र, झीलों तथा जर्मनी और अमेरिका के कुछ सोतों के जल में, एवं स्टासफ़र्ट (जर्मनी) और मिचिगन (अमेरिका) के लवण-निक्षेपों में पाई जाती है।
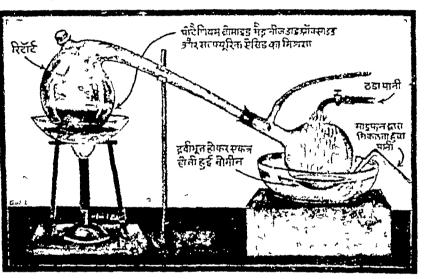
रसायनशाला में ब्रोमीन का उत्पादन

ब्रोमाइड लवण से गंधकाम्ल और मैङ्गनीज़ डाइऑक्साइड द्वारा ब्रोमीन मुक्त करके तैयार कर ली जा सकती है। प्रयोगशाला में इसी विधि का उपयोग होता है।

कोलतार से टिरियन बैंगनी (डाइब्रोमोइंडिगो) आदि कुछ रंगों के बनाने में ब्रोमीन का बहुत उपयोग होता है। ब्रोमीन से ही उसका महत्वपूर्ण लवण पोटैशियम ब्रोमाइड का निर्माण होता है। इस पोटैशियम ब्रोमाइड से फ़ोटोग्राफ़िक प्लेटों और फ़िल्मों पर चढ़ाए जानेवाले लवण सिल्वर ब्रोमाइड का निर्माण होता है। औषधरूप में भी वह रोगी के क्लेश का शमन करने के लिए प्रयुक्त होता है, और प्रयोगशाला में ब्रोमीन तैयार करने के काम आता है। गत महायुद्ध में "अश्रुगैसों" को बनाने में ब्रोमीन काफ़ी बड़े परिमाणों में प्रयुक्त हुई थी। इथिलीन ब्रोमाइड आदि उपयोगी कार्बनिक पदार्थों को बनाने के लिए भी ब्रोमीन का उपयोग होता है। प्रयोगशाला में ऑक्सीकारक के रूप में ब्रोमीन वॉटर का व्यवहार होता है। कीटाणुनाशक होने के कारण ब्रोमीन निःसंक्रामक के रूप में भी प्रयुक्त होती है। इसके लिए वह कीज़लगूर (दे० पृ० ११९३) नामक मिट्टी में शोषित कर ली जाती है और "ब्रोमम सॉलिडिफ़िकेटम" (ठोस ब्रोमीन) के नाम से बाज़ार में बिका करती है। कीज़लगूर मिट्टी ७५ %तक ब्रोमीन शोषित कर लेती है। उपर्युक्त कामों के लिए ब्रोमीन प्रायः समुद्रजल से अथवा स्टासफ़र्ट निक्षेपों के कार्नलाइट नामक खनिज से ही निकाली जाती है। इन दोनों से ब्रोमीन को पृथक् करने में क्लोरीन गैस का ही उपयोग होता है। एक टन समुद्रजल मे प्रायः२॥ आउंस ब्रोमीन निकलती है। कार्नलाइट ($KCl.\ MgCl_2.\ 6H_2O$) में अल्पांशों में (लगभग १ प्रतिशत) मैग्नेशियम, पोटैशियम और सोडियम के ब्रोमाइड भी मिले रहते हैं। कार्नलाइट के गर्म संपृक्त घोल को ठंडा करने और फिर इसे सांद्र करने से उसका सबसे अधिक अघुलनशील लवण पोटैशियम क्लोराइड रवों के रूप में अलग हो जाता है। बचे हुए घोल (मातृद्रव) में 0·2से0·3 प्रतिशत तक ब्रोमीन ब्रोमाइडों के रूप में रह जाती है। गर्म बचा हुआ घोल एक मीनार में फ़व्वारे के रूप में छोड़कर मिट्टी के गेंदों के बीच से होकर टपकाया जाता है, और नीचे से क्लोरीन और भाप ऊपर की ओर प्रवाहित की जाती है। क्लोरीन ब्रोमीन को मुक्त कर देती है, और भाप उसे वाष्पीभूत करके बाहर निकाल देती है। बाहर आकर वह ठंडे पानी में डूबी हुई सर्पिल नलियों में प्रवाहित होती है, जिससे वह द्रवीभूत होकर एकत्र हो

जाती है। जो ब्रोमीन द्रवीभूत नहीं हो पाती वह एक मीनार में भरे हुए भीगे लोहे के बुरादे में शोषित कर ली जाती है। लोहा फेरसोफेरिक ब्रोमाइड ($FeBr_2, 2FeBr_3$) में बदल जाता है, और इस ब्रोमाइड से पोटैशियम ब्रोमाइड तैयार कर लिया जाता है। मुख्य मीनार से घोल नीचे आकर एक टैंक में इकट्ठा होता है। इस टैंक के नीचे तक भाप की नली पहुँचती है। यहाँ से भाप निकलकर ऊपर टैंक में लगे हुए ताकों से इधर-उधर टेढ़ी-मेढ़ी गति से ऊपर जाता है, और घोल में उपस्थित रही सही ब्रोमीन को भी अपने साथ बहा ले जाती है। शेष घोल प्रायः ब्रोमीनशून्य होता है और बाहर निकल जाता है। इस प्रकार निकाली हुई ब्रोमीन में क्लोरीन और आयोडीन भी अल्पांशों में रहती हैं। अतएव उसका शोधन करने के लिए उसमें आवश्यक परिमाणों में पोटैशियम ब्रोमाइड और ज़िंक ऑक्साइड छोड़कर वह स्रवित कर लिया जाता है। क्लोरीन पोटैशियम ब्रोमाइड की और आयोडीन ज़िंक ऑक्साइड की क्रिया द्वारा शोषित हो जाती है, और शुद्ध ब्रोमीन स्रवित होकर पृथक् हो जाती है।

मिचिगन के भूगर्भ में स्थित निक्षेप स्तरों में नमक के साथ ०·१ प्रतिशत से कुछ अधिक ब्रोमीन, सोडियम और मैग्नेशियम ब्रोमाइडों के रूप में, मिली रहती है। इन स्तरों से नमक ब्राइन (लवणीय घोल) के रूप में पंप द्वारा बाहर निकाला जाता है। ब्राइन से नमक मणिभीभूत करके पृथक् कर लेते हैं और शेष घोल का बिजली द्वारा विश्लेषण कर लेते हैं। इस प्रकार ब्रोमीन ऐनोड पर मुक्त होती रहती है और वहाँ उसे इकट्ठा कर लेते हैं।

प्रयोगशाला में ब्रोमीन प्रायः पोटैशियम ब्रोमाइड से तैयार की जाती है। दो भारांश पोटैशियम ब्रोमाइड और एक भारांश मैङ्गनीज़ डाइऑक्साइड को मिलाकर एक रिटॉर्ट में रक्खा जाता है और इस मिश्रण में सांद्र गंधकाम्ल छोड़कर उसे ढक दिया जाता है। गर्म करने पर ब्रोमीन का धूम बाहर निकलने लगता है, और पोटैशियम बाइसल्फेट और मैङ्गनीज़ सल्फेट नामक लवण बनकर रिटॉर्ट में रह जाते हैं—

$$2KBr + 3\,H_2SO_4 + MnO_2$$
$$= KHSO_4 + MnSO_4 + 2H_2O + Br_2$$

यह वाष्प ठंडे पानी में डूबे हुए फ़्लास्क में द्रवीभूत कर ली जाती है। तथापि कुछ-न-कुछ वाष्प बाहर भी निकलती है, किन्तु इसे बाहर हवा में नहीं मिलने दिया जाता, कारण ब्रोमीन गले, नाक और आँखों में अतीव जलन पैदा कर देनेवाली और अधिक परिमाणों में विषाक्त होती है। अतएव फ़्लास्क का मुँह बंद रक्खा जाता है और उसकी पार्श्वनली को रबरनली से संबद्ध करके उसके दूसरे सिरे को धूमकोष्ठ अथवा 'सिङ्क' के अंदर डाल दिया जाता है। यह जान लेना भी मनोरंजक है कि ब्रोमीन और पारा ये दो मूलतत्त्व ही ऐसे हैं जो साधारण दशाओं में द्रवावस्था में रहते हैं।

इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि तरल ब्रोमीन त्वचा के संसर्ग में न आने पावे, नहीं तो त्वचा के जल जाने से घाव तक हो जाते हैं जो जल्दी अच्छे नहीं होते। यदि ब्रोमीन किसी प्रकार लग जावे तो उसे तुरत पानी से और फिर खानेवाले सोडे (सोडियम बाइकार्बोनेट) के घोल से धो देना चाहिए और फिर जले हुए स्थान को वैसलीन से भली भाँति ढक देना चाहिए। यही बात सांद्र अम्लों से जल जाने पर भी करना चाहिए।

आयोडीन

सन् १८१२ ई० में कोर्टोय नामक पैरिस के एक शोरा बनानेवाले रसायनज्ञ ने समुद्र की घास की राख को सांद्र गंधकाम्ल के साथ एक रिटॉर्ट में गर्म किया। उसने देखा इस मिश्रण से बहुत ही सुंदर बैंगनी रंग की एक वाष्प, निकलकर रिटॉर्ट के ठंडे पृष्ठों पर काले चमकते हुए पत्तुरों के रूप में जम रही है। गेलूजक (दे० पृ० १५३५) और डेवी ने १८१४ में यह सिद्ध कर दिया कि यह पदार्थ एक नवीन तत्त्व है और उसका नाम आयोडीन रक्खा गया। ग्रीक भाषा में 'आयोडेस' का अर्थ बैंगनी होता है। समुद्र-जल में आयोडीन आयोडाइडों के रूप में न्यूनांशों में अर्थात् एक लाख भारांशों में एक अंश, रहती है। गहरे समुद्रों में उगनेवाली कुछ घासें, विशेषतः लैमिनेरिया घास, समुद्र-जल से आयोडीन शोषित करती रहती है, अतएव उनके कलेवरों में अधिक आयोडीन होती है। फ्रांस, ग्रेटब्रिटेन और जापान में इन घासों की ही राख से आयोडीन निकाली जाती है। उष्ण कटिबंधों के कुछ स्पंजों में तो १४ प्रतिशत तक आयोडीन रहती है। अनेक जल-जन्तुओं के कलेवरों में कुछ-न-कुछ आयोडीन संयुक्तावस्था में रहती है। 'कॉडलिवर आयल' में उसका अस्तित्व सूक्ष्मांशों में रहता है। कुछ खनिजों में भी आयोडीन का अस्तित्व संयुक्तावस्था में पाया जाता है। चिलियन खनिज कैलिचे में लगभग O·2 प्रतिशत आयोडीन का यौगिक सोडियम आयोडेट ($NaIO_3$)

मिला रहता है। आजकल अधिकतर आयोडीन कैलिचे से ही निकाली जाती है। खनिज से मणिभीकरण द्वारा शोरा पृथक् कर लिया जाता है (दे० पृ० १०६८), किंतु सोडियम आयोडेट अधिक घुलनशील होने के कारण बचे हुए घोल (मातृ-द्रव) में रह जाता है। इसमें आवश्यक परिमाणों में सोडियम बाइसल्फ़ाइट नामक लवण छोड़ा जाता है। इस लवण की क्रिया से सोडियम आयोडेट से आयोडीन मुक्त होकर नीचे बैठ जाती है। इसे अलग करके निरमिच कपड़े में दबाकर सुखा लेते हैं, और फिर उड़ाकर शुद्ध कर लेते हैं।

समुद्री घास से आयोडीन निकालने के पहले उसे इकट्ठा करके सुखाते हैं और फिर उसे छिछले गड्ढों में भरकर जला देते हैं। इस प्रकार जो राख बच रहती है उसे 'केल्प' कहते हैं। केल्प में न केवल सोडियम और पोटैशियम के आयोडाइड वरन् उनके ब्रोमाइड, क्लोराइड और सल्फेट भी अशुद्धियों के रूप में रहते हैं। केल्प को गर्म पानी में मिलाकर उसके स्वच्छ घोल को अघुलनशील पदार्थों से अलग कर लेते हैं। इस घोल को सांद्र और ठंडा करने पर सल्फेट मणिभीभूत होकर अलग हो जाते हैं। बचे हुए घोल में सांद्र सल्फ्यूरिक ऐसिड मिलाकर उसे लोहे के भपकों में भर लेते हैं, और उसमें मैङ्गनीज डाइऑक्साइड का आवश्यक परिमाण मिला दिया जाता है। भपकों को सीसे के बने हुए ढक्कनों से बंद करके नीचे भट्ठी द्वारा गर्म करते हैं, और इस प्रकार निकलते हुए आयोडीन की वाष्पों को ढक्कने में संबद्ध नली से बाहर ले जाकर 'ऐलुडेल' नामक मिट्टी के पात्रों की पंक्तियों में ठंढा और घनीभूत करने के लिए प्रवाहित करते हैं। आयोडीन ऐलुडेलों में जमकर रह जाती है और द्रवीभूत पानी बहकर बाहर चला जाता है। इन्हीं ऐलुडेलों के पृष्ठों से आयोडीन खुरच ली जाती है। केल्प के एक टन में १० से १२ पौंड तक आयोडीन तैयार होती है। इस विधि में आयोडीन आयोडाइडों से उसी प्रकार की रासायनिक प्रक्रिया द्वारा मुक्त होती है, जैसी ब्रोमीन की प्रयोगशाला में तैयार करने की विधि में पोटैशियम ब्रोमाइड से ब्रोमीन के मुक्त होने में होती है।

इस प्रकार प्राप्त आयोडीन में प्रायः तीन पदार्थ— क्लोरीन, ब्रोमीन और पानी—अशुद्धि के रूप में रहते हैं। अतएव इसका शोधन करने के लिए, इसे थोड़े-से पोटैशियम आयोडाइड (क्लोरीन और ब्रोमीन अलग कर देने के लिए) और अनबुझे चूने (नमी हटा देने के लिए) के साथ पीस लेते हैं, और फिर इस मिश्रण को गर्म करके आयोडीन को उड़ा लेते हैं। इस ऊर्ध्वपातन (उड़ाने) की प्रयोगशाला की विधि अगले पृष्ठ के चित्र में प्रदर्शित है। अशुद्ध आयोडीन बालुकाकुंडी पर गर्म की जाती है। आयोडीन के सुन्दर बैंगनी वाष्प उठते हैं और पानी से भरे हुए फ्लास्क के ठंडे पेंदे पर काले चमकते

आयोडीन के निर्माण की एक विधि

कुछ समुद्री घासों की राख में आयोडाइड लवण रहते हैं। इस राख के घोल को सांद्र गंधकाम्ल और मैङ्गनीज़ डाइऑक्साइड के साथ गर्म करने पर आयोडीन मुक्त होकर वाष्पीभूत हो जाती है। इसे 'ऐलुडेल' नामक मिट्टी के पात्रों में घनीभूत कर लेते हैं।

लोहे का पात्र

ऐलुडेलों की पंक्तियाँ

हुए बहुधा ऊपर में एकत्रित होते हैं। इस प्रकार शुद्ध आयोडीन ऊपर जम जाता है और अन्य-पदार्थ नीचे के पेंदे पर ही रह जाते हैं।

प्रयोगशाला में पोटैशियम आयोडाइड से आयोडीन उसी प्रकार तैयार की जाती है जैसे पोटैशियम ब्रोमाइड से ब्रोमीन। अंतर केवल यही होता है कि उसके उतने अधिक तापक्रम और दबाव न होने के कारण इसके धुएँ को कमरे की हवा में न मिलने देने के लिए प्रबंध करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। सागर तट के मौजी पौधों में आयोडीन प्राप्त की जाती है।

टिंक्चर आयोडीन के रूप में आयोडीन से हम भली भाँति परिचित हैं। यद्यपि इस टिंक्चर का व्यवहार त्वचा पर आयोडीन के दाहक प्रभाव के कारण अब बहुत कुछ उठ गया है तथापि निष्क्रामक और कीटाणुनाशक होने के कारण इसका उपयोग होता ही है। यदि आपको टिंक्चर आयोडीन बनाना हो तो आधा आउंस आयोडीन, आधा आउंस पोटैशियम आयोडाइड और आधे आउंस पानी को एक शीशे के पात्र में मिलाकर हिलाइए, तो एक गहरे रंग का घोल बन जायगा। इस घोल में मेथिलेटेड स्पिरिट (यदि बाहर लगाना हो), अथवा रेक्टिफाइड स्पिरिट (यदि मुँह में लगाना हो अथवा पानी आदि में डालकर पीना हो), मिलाकर उसे एक पाइंट अथवा लगभग डेढ़ बोतल कर लीजिए। आयोडीन पानी में बहुत कम घुलती है, किंतु पोटैशियम आयोडाइड के घोल में वह खूब घुलनशील है और इससे भूरा-लाल घोल तैयार होता है। कुछ द्रवों में यथा क्लोरोफार्म, कार्बन डाइसल्फाइड आदि में आयोडीन के घुलने से सुंदर बैंगनी रंग का घोल तैयार होता है। घावों पर लगाई जानेवाली 'आयडोफ़ॉर्म' (CHI_3) नामक

आयोडीन का शोधन

अशुद्ध आयोडीन को गर्म करने पर शुद्ध आयोडीन बैंगनी वाष्प के रूप में उड़कर ऊपर के ठंडे पृष्ठ पर जम जाती है, और अशुद्धियाँ नीचे ही रह जाती हैं।

द्रव क्षार (विशेषतः धोनेवाला सोडा) की उपस्थिति में अल्कोहाल पर आयोडीन की ही प्रक्रिया द्वारा बनता है। यह प्रक्रिया सरलता से देखी जा सकती है। एक परीक्षा-नली में थोड़ा-सा गाढ़ा टिंक्चर आयोडीन ले लीजिए और उसे लगभग ७०°C तक गर्म कर लीजिए। अब उसमें धोनेवाले सोडे का घोल उतना छोड़िए कि आयोडीन का रंग विसर्जित हो जाय। ठंडा करने पर आपको आयडोफ़ॉर्म के पीले कण अवक्षिप्त होते दिखाई देंगे और आयडोफ़ॉर्म की गंध भी मिलेगी। आयडोफ़ॉर्म का व्यवहार भी उसकी दुर्गन्ध और त्वचा पर दाहक प्रभाव के कारण बहुत-कुछ उठ गया है। पोटाशियम आयोडाइड और कोलतार से कुछ रंगों को बनाने में भी आयोडीन का उपयोग होता है। स्टार्च के अतीव तनु घोलों में भी आयोडीन मिलाने से घोल नीला हो जाता है। यह नीला रंग घोल के गर्म करने पर उड़ जाता है, किंतु ठंडा करने पर फिर लौट आता है। मैदा, चावल, आलू, आदि किसी को भी थोड़ा सा पानी में घोलकर उसमें टिंक्चर आयोडीन के कुछ बूँद मिला देने से यह रंग देखा जा सकता है। इस प्रकार स्टार्च की उपस्थिति की पहचान आयोडीन द्वारा और आयोडीन की स्टार्च द्वारा हो सकती है। प्रयोगशाला में भी आयोडीन के घोल का प्रयोग विश्लेषणात्मक प्रयोगों और परीक्षाओं में होता है।

आयोडीन यद्यपि अपने कुटुम्ब में सबसे कम प्रबल होती है, तथापि उसकी सक्रियता भी प्रदर्शनीय है। पीले फॉस्फरस के एक टुकड़े पर आयोडीन के कुछ टुकड़े छोड़ दीजिए। फास्फोरस पिघलकर जलने लगता है। थोड़ा-सा पारा और आयोडीन के कुछ पत्तर एक साथ खरल में घोटिए, ये दोनों तत्त्व संयुक्त हो जाते हैं। इन सब क्रियाओं में आयोडाइड नामक यौगिक बनते हैं।

पृथ्वी की कहानी

ज्वालामुखी के भीषण विस्फोट के परिणाम का एक दृश्य—मीलों की परिधि में फैला हुआ 'क्रेटर' फट गया है
यह न्यूज़ीलैण्ड के समीपवर्ती 'श्वेत द्वीप' नामक एक टापू पर स्थित ज्वालामुखी का फ़ोटो है। ऊपर धुएँ के बादल उठ रहे हैं और सामने की ओर ढही हुई दीवार की बाजू में से 'लावा' बहकर समुद्र मे गिर रहा है। कालान्तर में यदि समुद्र का पानी ज्वालामुखी के गर्त्त में कहीं घुस पड़ा तो भयंकर विस्फोट होगा।

ज्वालामुखी पर्वत और उसका उग्र उद्गार—(१)

भूगर्भ की महाप्रचण्डाग्नि का दिग्दर्शन

भूगर्भ के अदृश्य अन्तराल में होनेवाली किसी साधारण-सी घटना के फलस्वरूप धरती के कठोर आवरण को चीरकर, धरातल पर भूकम्प मचाता, धुआँ, आग, धूल, मिट्टी और राख के महाभयङ्कर काले, मटमैले घने बादलों के पर्वत उड़ाता, अति उष्ण द्रवित खनिज पदार्थ 'लावा' को उगलकर अजगर की चाल से विनष्टकारी नद के रूप में बहाता हुआ ज्वालामुखी का उग्र उद्गार धरातल पर होनेवाली महा आश्चर्यमयी प्रलयंकर घटनाओं में से एक है। यद्यपि यह धरातल पर घटित होती है तथापि इसका सम्बन्ध धरातलीय अन्य किसी भी घटना से नहीं प्रतीत होता। यह तो उस रहस्यमय भूगर्भ से सम्बन्धित है, जिसकी झाँकी देखने का प्रयत्न हमने पृष्ठ ५४६-५५४ में किया था, और जो सदैव ही एक जटिल समस्या के रूप में मनुष्य के आगे रहेगी। ज्वालामुखी पर्वतों की रचना और उनके उद्गारों के अध्ययन में मनुष्य ने भूगर्भ के रहस्यों के सम्बन्ध में बहुत-कुछ जाना है और वह बहुत-कुछ और भी जानने की आशा करता है। आइए, इस और आगे के प्रकरण में इस सम्बन्ध में संक्षेप में आपको अब तक ज्ञात हाल बताने की चेष्टा करें।

धरातल पर ज्वालामुखी पर्वतों का वितरण

आजकल सम्पूर्ण धरातल पर 'जाग्रत्' ज्वालामुखी पर्वतों की संख्या लगभग ४३० है। 'जाग्रत्' ज्वालामुखी पर्वतों से हमारा तात्पर्य उनसे है जो समय-समय पर धुआँ, आग, राख तथा लावा आदि उष्ण पदार्थ बाहर उगलते रहते हैं। कुछ आग्नेय पर्वत एक समय तक तो जाग्रत् रहते हैं, परन्तु थोड़े काल के पश्चात् लावा आदि पदार्थ उगलना बन्द कर देते हैं। फिर कुछ काल पर्यन्त उनमें जाग्रत् होने के चिह्न पाये जाते हैं। ऐसे ज्वालामुखी पर्वत 'प्रसुप्त' कहलाते हैं। परन्तु जो ज्वालामुखी कुछ काल 'जाग्रत्' अथवा 'प्रज्वलित' रहने के उपरान्त लावा आदि पदार्थों का
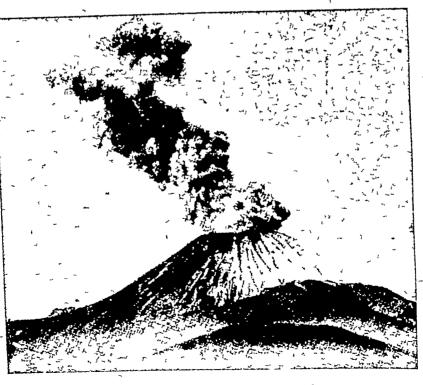
कुछ वर्ष हुए विस्फुटित न्यूज़ीलैण्ड के एक ज्वालामुखी पर्वत का दृश्य। यह कई मील दूर से लिया गया फ़ोटो है।
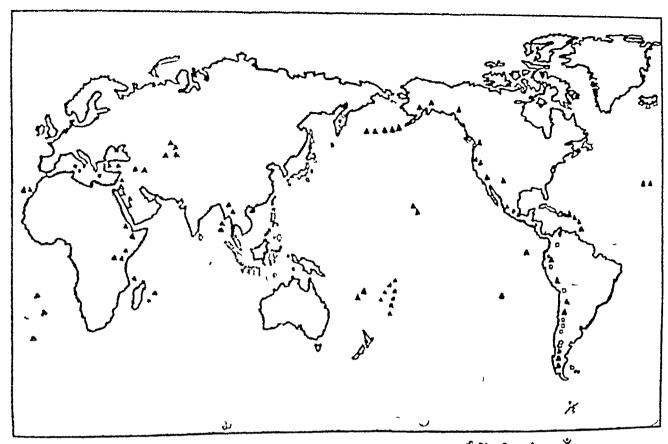
धरातल की मुख्य-मुख्य जाग्रत् और प्रसुप्त ज्वालामुखी पर्वतों की शृंखलाएँ
काले त्रिकोण चिह्न प्रसुप्त ज्वालामुखी के और चौकोर चिह्न जाग्रत् ज्वालामुखी के सूचक हैं।

उगलना एकदम बन्द कर देते हैं, जिनके मुख मौसमी शक्तियों के आक्रमण से जीर्णशीर्ण होने लगते हैं, और जिनके गले का छेद बन्द होकर उनके मुख में जल भर जाने से सरोवर बन जाता है और मुख (Crater) की दीवालों पर वृक्षादि उग आते हैं, उनको 'शान्त' ज्वालामुखी पर्वत कहते हैं। इस प्रकार के 'प्रसुप्त' तथा 'शान्त' ज्वालामुखी पर्वत धरातल पर सहस्रों हैं। ज्वालामुखी पर्वतों की पंक्तियाँ धरातल पर लम्बी, नियमबद्ध पेटियों के रूप में फैली हैं, इनमें से सबसे प्रमुख वह पेटी है, जो प्रशान्त महासागर को घेरे हुए है। पूर्वी द्वीपसमूह इसका प्रधान केन्द्र है। अकेले जावा द्वीप में ही ४३ ज्वालामुखी पर्वत हैं। छोटे-छोटे द्वीपों में होकर ज्वालामुखी पर्वतों की शृंखला फिलीपाइन द्वीप तक जाती है और फिर उत्तर की ओर आगे बढ़कर फ़ारमूसा और लूचू द्वीप समूह में होती हुई जापान में पहुँचती है। जापान में लगभग ३० जाग्रत् ज्वालामुखी पर्वत हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध 'फ़्यूजीयामा' है। जापान के आगे क्यूरायल द्वीप, कमचटका प्रायद्वीप और एल्युशियन द्वीप में होकर यह शृंखला एशिया को छोड़कर अमेरिका के अलास्का देश में प्रकट होती है। यहाँ कई ज्वालामुखी जाग्रत् अवस्था में हैं। अलास्का के पश्चिमी तट से वह शृंखला उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी समुद्र-तट के समानान्तर होती हुई तट के निकट से नीचे की ओर मध्य अमेरिका में पहुँचती है। यद्यपि उत्तरी अमेरिका का समस्त पश्चिमी तट इस शृंखला के अन्तर्गत आ जाता है, तथापि आजकल कनाडा और संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) में एक भी जाग्रत् ज्वालामुखी पर्वत नहीं है। परन्तु मेक्सिको और मध्य अमेरिका में यह पंक्ति फिर उग्र रूप धारण कर लेती है। यहाँ से आगे एण्डीज पर्वत में धुर दक्षिण सिरे के टेराडेलफ़्यूगो द्वीप तक बराबर ज्वालामुखी पहाड़ हैं। ज्वालामुखी पर्वतों की यही शृंखला अन्टार्क्टिक महाद्वीप के इरेबस पर्वत से निकलकर न्यूज़ीलैण्ड के उत्तरी द्वीप में होती हुई न्यूहेब्रेडीज, सालोमन द्वीप, तथा न्यूगिनी-तट से निकलकर फिलीपाईन द्वीप के दक्षिण के टापुओं में पहुँच जाती है।

इसके अतिरिक्त ज्वालामुखी पर्वतों की एक शृंखला पूर्व पश्चिम दिशा में भी सम्पूर्ण धरातल को घेरे हुए है। मध्य अमेरिका के ज्वालामुखी पर्वतों की शृंखला पश्चिमी द्वीपसमूह तक पाई जाती है और यही अटलांटिक महा-

सागर में फैल गई है। एजोर्स, केप वर्डी और कैनरी द्वीपों में होकर यह शृंखला भूमध्यसागर तक चली गई है। वहाँ से एशिया माइनर और अरब में होकर पूर्वी द्वीपसमूह की शृंखला के साथ चलती हुई आगे यह प्रशान्त महासागर में चली जाती है। इसके अतिरिक्त अफ्रीका की 'रिफ्ट' नामक घाटियों के प्रदेश भी ज्वालामुखी पर्वतों के लिए प्रसिद्ध हैं। 'राइन रिफ्ट' में अनेकों शान्त आग्नेय पर्वत पाए जाते हैं। जो रिफ्ट जार्डन नदी की घाटी से आरम्भ होकर लाल सागर होती हुई पूर्वी अफ्रीका में चली गई है उसमें भी कई ज्वालामुखी पर्वत हैं। मध्य एशिया में भी आग्नेय पर्वतों के चिह्न पाए जाते हैं।

ज्वालामुखी पर्वत केवल भूतल पर ही नहीं, जलमण्डल में भी पाए जाते हैं। प्रशान्त महासागर में जितने अधिक ज्वालामुखी हैं, उतने भूतल भर पर नहीं हैं। धरातल के समस्त जाग्रत् ज्वालामुखी पर्वतों के पाँच भागों में से तीन भाग अकेले प्रशान्त महासागर में हैं।

ज्वालामुखी पर्वतों की शृंखलाओं के सम्बन्ध में अध्ययन करने से दो बातें विशेष उल्लेखनीय प्रतीत होती हैं। एक तो यह कि लगभग सभी ज्वालामुखी पर्वत धरातल की उच्च पर्वत-श्रेणियों के निकट की नीची भूमि पर स्थित हैं। दूसरे, या तो वे समुद्र-तट पर हैं अथवा समुद्र के भीतर हैं और यदि समुद्र-तट से दूरी पर हैं तो झीलों अथवा अन्य जलाशयों के आस-पास हैं। ये दोनों ही बातें ध्यान देने योग्य हैं। सम्भव है, ज्वालामुखी की उत्पत्ति का सम्बन्ध इन बातों से हो।

ज्वालामुखी पर्वतों की आकृति और आकार

ज्वालामुखी पर्वतों की आकृति शंकु (cone) के समान होती है। चोटी पर का भाग खुला हुआ रहता है और मुख अथवा 'क्रेटर' (crater) कहलाता है। क्रेटर बहुधा छिछली कढ़ाई या कटोरे के समान होता है। कटोरे की पेंदी के छेद का सम्बन्ध भूगर्भ से एक नली के द्वारा रहता है, जिसे ज्वालामुखी की गर्दन (neck) कहते हैं। इसी नली के द्वारा भौगर्भिक पदार्थ ज्वालामुखी के मुख में आता है और वह वायुमण्डल में फेंक दिया जाता है।

ज्वालामुखी के शंकु का आकार छोटे-छोटे टीलों से लेकर धरातल के कुछ सर्वोच्च पर्वतों के समान तक होता
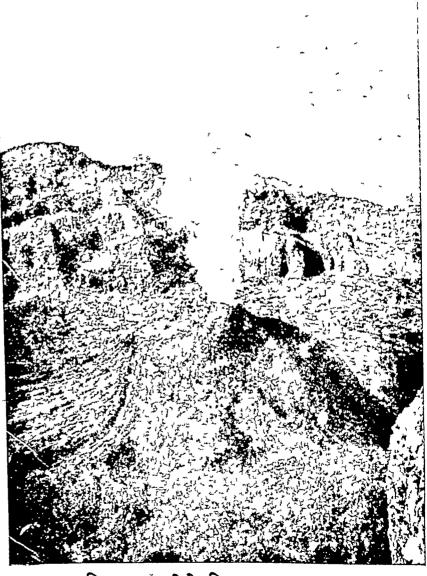
सुप्रसिद्ध ज्वालामुखी वेसुवियस का एक गाढ़ 'क्रेटर'

प्रायः ज्वालामुखियों के प्रधान क्रेटर के अतिरिक्त और भी कई छोटे छोटे शंकु फूट निकलते हैं, जिनमें से आग और धुँआ निकलता रहता है।

इटली के सुप्रसिद्ध ज्वालामुखी पर्वत वेसुवियस के प्रधान 'क्रेटर' या मुख गर्त का हवाई जहाज द्वारा ऊपर आसमान से लिया गया फ़ोटो

निकलते हैं। इन पदार्थों के परिमाण के अनुसार ज्वालामुखी का उद्गार 'विस्फोटक' अथवा 'शान्त' होता है। 'विस्फोटक' उद्गार के समय ज्वालामुखी जिन पदार्थों को उगलता है, उनमें शिलाखण्डों के अंश, राख, धूल तथा धुआँ आदि की प्रधानता रहती है। शान्त उद्गार के समय ज्वालामुखी अधिकतर पिघला हुआ द्रवित खनिज (लावा) ही उगलता है। सर्वथा विस्फोटक अथवा सर्वथा शान्त उद्गारोंवाले ज्वालामुखी पर्वतों के अतिरिक्त अनेकों ज्वालामुखी ऐसे भी हैं जो कभी विस्फोटक हो जाते हैं और कभी शान्त। कभी तो इनसे राख और धुएँ के बादल उठते हैं और शिलाखण्डों की चूरचार की बौछार होती है और कभी केवल उष्ण 'लावा' का शान्त प्रवाह ही।

विस्फोटक ज्वालामुखी का उद्गार महाप्रलयंकारी होता है। इसके द्वारा जन-धन का जितना नाश होता है उतना शान्त उद्गारों द्वारा नहीं। अचानक ही धरातल में अति भीषण गड़गड़ाहट की ध्वनि होती है और धरातल को फोड़कर महाविकराल रूपवाले घने, काले, धूल-राख और धुएँ के बादल निकलकर काजल की आँधी की तरह आकाश में छा जाते हैं। विस्फोट की उग्रता इतनी शक्तिशाली होती है कि चट्टानों के खण्ड सैकड़ों फीट ऊपर वायुमण्डल में उछल जाते हैं और फिर 'बम-वर्षा' की भाँति धरातल पर गिरते हैं। राख और धुएँ के बादल कई सप्ताहों और कभी कभी कई मास तक वायुमण्डल में छाये रहते हैं। विषैली गैसों से युक्त ये बादल जिस ओर भी उड़ जाते हैं, उस ओर महासर्वनाश उपस्थित हो जाता है। कभी-कभी ये इतने घने और विस्तृत होते हैं कि सूर्य भी इनकी ओट में छिप जाता है और

है। एण्डीज पर्वत की कुछ सर्वोच्च चोटियाँ ज्वालामुखी हैं और अब भी प्रज्वलित हैं, जैसे 'कोटोपेक्सी' जो इक्वेडर में १९६०० फीट की ऊँचाई पर है। इसका मुख आधा मील चौड़ा और १५०० फ़ीट गहरा है। अधिकांश ज्वालामुखी पर्वत आस पास के धरातल से १०००० से १२००० फीट की ऊँचाईवाले शंकुरूपी पर्वतशिखरों के रूप में पाए जाते हैं। कुछ सागरस्थित ज्वालामुखी इससे भी अधिक ऊँचाई पर हैं। हवाई द्वीप समूह के ज्वालामुखी १४००० से १८००० फीट तक गहरी प्रशान्त महासागर की तली से उठकर जल के बाहर १४०८० फीट तक ऊँचे उठे हुए हैं, अर्थात् उनकी तले से पूरी ऊँचाई लगभग ३०००० फीट है। सिसली द्वीप का 'माउण्ट एटना' नामक ज्वालामुखी पर्वत समुद्र तट से ११००० फीट ऊँचा है और इसके शंकु के आधार का व्यास ३० मील से कम नहीं है।

ज्वालामुखी का उद्गार

ज्वालामुखी पर्वतों के उद्गार के समय गैसरूप धुआँ, शिलाखण्डों का अंशात्मक ठोस पदार्थ तथा पिघला हुआ द्रव लावा, ये तीन प्रकार के पदार्थ अभ्यन्तर से

उस प्रदेश में दिन में ही रात्रि का महान्धकार छा जाता है। ज्वालामुखी पर्वत और उसके आस पास की भूमि पर कई सप्ताह तक राख और धूल की वर्षा होती रहती है। धड़ाकों की ध्वनि इतनी तेज़ होती है कि सहस्रों मील तक सुनाई देती है। कभी कभी इतना भीषण विस्फोट होता है कि सागर के जल में असाधारण ज्वार की तरंगें उठ जाती हैं और आस-पास के तटों की नीची भूमि इन उत्ताल तरंगों की बाढ़ में पूर्णतया नष्ट भ्रष्ट हो जाती है।

विस्फोटक उद्गार के समय निकलनेवाले धुएँ में अभ्यन्तर से बहुत अधिक जलवाष्प भी मिलकर उठ जाती है। राख और धूल के साथ ऊपर वायुमण्डल में पहुँचकर यह ठण्डी हो जाती है और जल में परिणत होकर धरातल पर मूसलाधार बरस जाती है। साथ ही मिट्टी, धूल और राख के कणों को भी नीचे बैठाती है, जो पानी में भीगकर कीचड़ का रूप धारण कर लेते हैं। थोड़े ही काल बाद जब कीचड़ अतिवृष्टि के कारण अधिक गीला हो जाता है, तब वह बहने भी लगता है। इस कीचड़ की नदी का प्रवाह जिस ओर भी हो जाता है, वहाँ का संकट अवर्णनीय है। जो जीव इस प्रलयंकर बाढ़ में फँस जाते हैं उनका हाल यह होता है कि न भागकर वे प्राण ही बचा सकते हैं और न खड़े होकर इस मुसीबत को ही झेल सकते हैं। फल यह होता है कि छटपटाते हुए उनको अपना अन्त देखना पड़ता है।

ज्वालामुखी के विस्फोटक उद्गार का दृश्य साक्षात् प्रलय का सूचक होता है। धरातल से उगला हुआ उष्ण गैसमय पदार्थ वायुमण्डल में छा जाता है। भीषण मूसलाधार वर्षा होती है। बिजली चमकती है। ऊपर बादल गड़गड़ाते हैं। नीचे धरती काँपती है। ज्वालामुखी के मुख से आग की लपटें निकलती हैं और शिलाखण्ड अंगारे-से आकाश की ओर उछलते हैं और फिर ठण्डे होकर धरातल पर बमवर्षा का ताण्डव दृश्य उपस्थित कर देते हैं। भाप के अतिरिक्त अन्य अनेक दहनशील गैसें और भी निकलती हैं, जिनमें कार्बन-डाइऑक्साइड, हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड, हाइड्रोफ्लोरिक ऐसिड, हाइड्रोजन, आदि प्रमुख हैं। गन्धक तथा गन्धकमय अन्य पदार्थ और अमोनियम क्लोराइड गैस भी कभी-कभी बहुत निकलती पाई जाती है। गैसों का उद्गार केवल पर्वत के मुख से ही नहीं होता, वरन् उसके शंकु के धरातल में अनेकों दरारें हो जाती हैं, जिनसे गैसों का धुआँधार उद्गार मिट्टी की चिमनी के सदृश होता है।

गैसों के साथ जो ठोस पदार्थ विस्फोटमय उद्गार के समय आकाश में अंगारों-सा उछलता है, वह कुछ तो चिमनी की उखड़ी हुई चट्टानों की चूरचार और कुछ भूगर्भ से आनेवाली शिलाओं के अंशात्मक पदार्थ तथा

हवाई द्वीप के माओना लोआ नामक ज्वालामुखी के विस्फोट के समय उद्गार के प्रवाहित पिघले हुए उष्ण 'लावा' की भीषण नदी का दृश्य। चित्र में काले रंग की बाढ़ आगे बढ़ती चली आ रही दिखाई दे रही है।

विस्फोट के समय ज्वालामुखी के धुएँ के उद्गार का प्रलयंकर दृश्य
विशेष विवरण के लिए पढ़िए पृष्ठ १८८०-८१ का मैटर।

है। अति महीन कणोंवाले पदार्थ को 'धूल' कहते हैं।

ज्वालामुखी से उगले गए इन ठोस पदार्थों की रचना में बहुत विचित्रता पाई जाती है। पदार्थ का कुछ अंश तो मधुमक्खी के छत्ते के समान अनेकछिद्रीय होता है और कुछ पत्थर-सा घना और ठोस। ब्लाक, बम, तथा लैपिली और राख का अधिकांश भाग पर्वत के मुख के पास ही गिरकर जमा होता जाता है और शंकु की रचना में सहायक होता है। महीन कण-वाली राख और धूल बहुत काल तक वायुमण्डल में रह जाती है और वायुवेग के साथ-साथ उड़कर कहीं-की-कहीं पहुँच जाती है। इसके धरातल पर आते-आते कभी-कभी बहुत समय बीत जाता है। साथ ही इसका विस्तार भी बढ़ जाता है और जब यह धरातल पर छा जाती है तब अपार क्षेत्रफलवाली भूमि को ढाँप लेती है। ज्वालामुखी धूल की वर्षा मनुष्य और वनस्पति दोनों ही के लिए घातक है, यद्यपि इसकी मोटी तह भूमि को अत्यन्त उर्वरा बना देती है।

थोड़े काल तक उपरोक्त पदार्थों को उगलने के पश्चात् ज्वालामुखी का विस्फोटमय उद्गार 'शान्त' होने लगता है। धरती का काँपना, गड़गड़ाहट तथा धड़ाकों की आवाज़ें धीरे-धीरे बन्द हो जाती हैं। धुएँ के बादल हलके पड़ जाते हैं और वर्षा का वेग बन्द हो जाता है। परन्तु उद्गार अभी समाप्त नहीं होता। विस्फोटक और दहनशील गैसों की लपटों और भाप, राख, और धूल के बादलों के स्थान पर पिघला हुआ अति उष्ण द्रव अब बाहर उफ़नने लगता है और मुख के चारों ओर गिरकर जमा होने लगता है। यह द्रव 'लावा' कहलाता है। लावा की धारा शंकु की उन दरारों से भी फूट निकलती है, जिनसे पहले धुआँ, गैसें और दहनशील लपटें निकलती थीं। कभी-कभी लावा का प्रवाह शंकु की दरारों से ही होता है, मुख से

पिछले उद्गारकाल के ठण्डे हो गए लावा के जमे हुए अंश का मिश्रण होता है। इन ठोस खण्डों का आकार महीन धूलकणों से लेकर टनों भारी शिलाखण्डों तक का होता है। नाशपाती तथा उससे बड़े आकार के वे खण्ड जो चिप्पड़ के पदार्थ के होते हैं अथवा पुराने जमे हुए लावा के खण्ड होते हैं 'ब्लाक' कहलाते हैं। जो पदार्थ भूगर्भ से पिघली हुई दशा में निकलकर वायुमण्डल में पहुँचते-पहुँचते ठण्डा होकर जम जाता है और धरातल पर 'ठोस' रूप में गिरता है उसके खण्डों को 'बम' नाम से पुकारा जाता है। सुपारी के आकार के खण्ड 'लैपिली' और मटर के आकार के कणों को 'ज्वालामुखी राख' कहते हैं। यही राख बहुधा 'सिन्डर' नाम से भी पुकारी जाती

नहीं, और कभी दरारों से छूटते हुए लावा का वेग इतना तीव्र होता है कि शङ्कु भग्न होकर एक बाजू में नष्ट हो जाता है और लावा की मोटी धारा उस ओर को उमड़ पड़ती है। लावा चिपचिपा (लसलसा) होता है इसलिए अन्य तरल पदार्थों की भाँति जल्दी बह नहीं पाता। इसका प्रवाह अति मन्द होता है और कभी-कभी इतना मंद होता है कि देखनेवाले उसे गतिहीन समझते हैं। जब तक लावा ठण्डा होकर ठोस और कठोर चट्टान का रूप धारण नहीं कर लेता, तब तक उसका आगे सरकना जारी रहता है। वास्तव में लावा का पदार्थ बहता नहीं है, वरन् लुढ़कता है। ऊपर का अंश ही सामने की ओर लुढ़ककर आगे बढ़ जाता है। परन्तु ऊपर का अंश तो शीघ्र ही ठण्डा होने लगता है और ठण्डा होने से जमकर कड़ा हो जाता है, इसलिए कभी-कभी ऐसा होता है कि ऊपर की पपड़ी ठण्डी होकर स्थिर हो जाती है, परन्तु उसके भीतर का लसलसा पदार्थ गरम और द्रवावस्था ही में रहने के कारण आगे की ओर लुढ़कता रहता है। ऐसी दशा में बहुधा यह होता है कि ऊपर की जमी हुई पपड़ी खिंचाव के कारण अनेक छोटे-बड़े खण्डों में भग्न हो जाती है और ये असम्बद्ध खण्ड भी नीचे के खिसकते हुए पदार्थ पर डगमगाते-से आगे बढ़ते जाते हैं। अन्त में जब लावा ठण्डा होकर शिथिल और प्रवाह शून्य हो जाता है तब इन अगणित खण्डों के कारण उसका धरातल कँटीला, ऊबड़-खाबड़ तथा ऐंठा हुआ रूप धारण कर लेता है। हवाई द्वीप की भाषा में इस प्रकार के विचित्र धरातलवाले लावा का एक विशेष नाम 'आ आ' है।

लावा का धरातल ठण्डा होने पर कभी कभी चिकना, गोल और मोटे टीलों का रूप भी धारण करता है और ऐसा दिखाई देने लगता है जैसे 'कछुए की खोपड़ी' अथवा 'गेंडे की खाल'। इस प्रकार के धरातलवाले लावा को हवाई द्वीपवाले 'पा हो हो' नाम से पुकारते हैं।

लावा का रंग उद्गार के समय अति प्रचण्ड अंगारे-सा लाल अथवा श्वेत होता है। जैसे जैसे वह आगे बढ़ता जाता है उसका ऊपरी पर्त ठंढा होकर काला पड़ता जाता है। ऊपरी पपड़ी की बनावट उसकी लसलसाहट पर निर्भर है। अति लसलसा लावा शीघ्र बह नहीं पाता, इस कारण मुख के चारों ओर ही उसके मोटे मोटे पर्त जमा होने लगते हैं। कम लसलसा लावा तेजी से बहता है, विशेषकर अति ढालू भूमि पर। परन्तु इस दशा में भी इसकी प्रवाह-गति अधिक-से अधिक १०-१२ मील प्रति घण्टा ही रहती है। लावा की धारा का प्रवाह वर्षों तक होता रहता है, परन्तु जैसे-जैसे धारा पुरानी पड़ती जाती है, उसका रेंगना कम होता जाता है। लावा का लसलसापन उसकी रासायनिक रचना पर निर्भर है।

लावा की धारा जब बहते बहते ढाल के नीचे की ओर जाती है तब बहुधा ऐसा होता है कि ऊपरी पपड़ी कड़ी होने से रुक जाती है, परन्तु पपड़ी के नीचे का लसलसा पदार्थ ढाल के नीचे की ओर लुढ़क जाता है और पपड़ी के नीचे खोखला स्थान रह जाता है, जो एक खोह का रूप धारण कर लेता है। अनेक ज्वालामुखी पर्वतों के लावा की बनी चट्टानों में इस प्रकार की खोहें पाई जाती हैं। ज्वालामुखी के शान्त हो जाने पर उसके मुख

ज्वालामुखी द्वारा उगला गया लावा
ठंढा होने पर लावा का धरातल ऐसा ही ऊबड़खाबड़ हो जाता है

में जो गर्म जल एकत्रित होता है, वह इन्हीं छेदों के द्वारा अदृश्य होकर कहीं झरने और कहीं सोतों के रूप में वह निकलता है।

शांत उबलता लावा उद्गार के पश्चात् ज्वालामुखी के मुख के चारों ओर छोटे मोटे गुम्बज के आकार के ढेरों में जम जाता है। अधिक ठण्डा और धुआँरहित लावा भी जम कर गुम्बदाकार हो जाता है। जर्मनी, बोहिमिया तथा मध्य फ्रांस आदि स्थानों में इस प्रकार के लावा के गुम्बज अधिक पाए जाते हैं। अमेरिका के 'लासेन वालकेनिक नेशनल पार्क' नामक स्थान पर ५० वर्गमील भूमि के क्षेत्र में इस प्रकार के १३ गुम्बज हैं, जिनमें सबसे बड़ा 'लासेन पीक' है।

उत्तप्त लावा जब ज्वालामुखी से बाहर आता है तब उसके वेग से दबकर अनेक प्रकार की गैसें उसी में घुल-कर बाहर आती हैं। ताप कम होने से ये गैसें शीघ्र ही लावा को छोड़कर वायुमण्डल में मिलने के लिए छट-पटाती हैं। इस कारण लावा में बहुधा उबलन पाई जाती है। दहनशील गैसें लपटों के रूप में जलकर सहस्रों बत्तियों के प्रकाश से भी अधिक उजाला करती हैं। अन्य गैसें और भाप धुएँ के बादल बनकर उड़ जाती हैं। लावा से छुटकारा पाकर निकलती हुई गैसें बहुधा कड़ी ठण्डी पपड़ी के कारण वायुमण्डल में नहीं मिल पातीं, वरन् पपड़ी के नीचे ही दबी रह जाती हैं। इनके छुटकारा पाने के प्रयत्नों के कारण पपड़ी में बड़े-बड़े फफोले उठ जाते हैं। ऐसे लावा के जम जाने और ठण्डा हो जाने पर उसकी बनावट देखने से प्रतीत होता है कि उसमें अवश्य वायव्य पदार्थ 'क़ैद' रहा होगा, क्योंकि उसमें असंख्य छिद्र पाए जाते हैं। लावा में जितनी अधिक गैस होती है, उसकी पपड़ी की तह उतनी ही अधिक छिद्रयुक्त होती है। इस प्रकार की लावा की पपड़ी के अंश को झाँवा पत्थर या 'प्यूमस' के नाम से पुकारा जाता है। अधिक बड़े फफोलेवाली लावा की पपड़ी के पत्थर को 'स्कोरिया' कहते हैं।

ज्वालामुखी पर्वत के शंकु की रचना

शंकु की रचना उस पदार्थ के जमने से होती है, जो उद्गार के समय ज्वालामुखी के मुख से निकलकर मुख के चारों ओर गिरता है। इसमें लावा, राख, धूल, कंकड़ पत्थर, बम आदि सभी पदार्थ होते हैं। विस्फोटक उद्गार के समय बम, राख, धूल आदि का पर्त जमा हो जाता है और शान्त उद्गार के समय लावा का पर्त जमकर पिछले असंगठित पदार्थ को स्थायी कर देता है। इस प्रकार के शंकु-आकार देखने में बहुत सुन्दर प्रतीत होते हैं। आधार के पास की भूमि थोड़ी ढालू होती हुई ऊपर उठती है और नतोदर धरातलवाला ढाल बनाती हुई चोटी के पास तीव्र ढाल में परिणत हो जाती है। फ़िलिपाइन द्वीप का मेयन तथा जापान का फ़्यूजीयामा नामक ९००० फ़ीट ऊँचा प्रसिद्ध ज्वालामुखी इसी प्रकार के दर्शनीय शंकु हैं।

कभी कभी ऐसा होता है कि शंकु के ढालू धरातल में से बहुमुखी फोड़े के समान अनेक छिद्र फूट निकलते हैं, जिनसे धुआँ, भाप, लपटें तथा लावा भी निकलने लगता है। यदि अधिक समय तक इन छिद्रों से इसी प्रकार आग्नेय उद्गार होता रहता है तो इनके चारों ओर भी धीरे-धीरे छोटे-छोटे शंकु के रूप में पदार्थ जमा होने लगता है। एटना नामक प्रसिद्ध ज्वालामुखी पर्वत के धरा-तल पर इस प्रकार के अनेक 'परजीवी' शंकु बने हुए हैं। इनमें से कुछ तो ७०० फ़ीट ऊँचे विशाल आकार के हैं। प्रमुख ज्वालामुखी के उद्गार से कभी-कभी तो ये 'परजीवी' और भी प्रचण्ड होकर उद्गार करने लगते हैं और कभी उसके उगले पदार्थ के नीचे दबकर नष्ट हो जाते हैं।

केल्डेरा अथवा कड़ाहारूपी गर्त

ज्वालामुखी के छिद्र के ऊपरी भाग को क्रेटर अथवा कड़ाहा कहते हैं। यह शंकु के छोर पर गर्त के रूप में होता है, जिसकी तली का सम्बन्ध भूगर्भ से होता है। बहुत से पर्वतों का यह गर्त इतना अधिक लम्बा चौड़ा होता है कि उसके चारों ओर की ऊँचाई नगण्य-सी हो जाती है, जिसके बीच में एक विस्तृत मैदान के रूप में गर्त की तली बन्द रहती है। कैनारी द्वीप का महाविशाल गर्त 'ला केल्डेरा' (La Caldera) ३-४ मील चौड़ा है और तीन ओर १५००-२५०० फ़ीट ऊँची पहाड़ियों से घिरा है। यह विशाल गर्त ज्वालामुखी का क्रेटर (कड़ाहा) ही है। संसार में इस प्रकार के और भी बहुत-से कड़ाह-रूपी गर्त हैं, जो ज्वालामुखी पर्वत के विस्फोटक उद्गार के समय नष्ट हो गए शंकु के रिक्त स्थान के सूचक हैं।

शान्त ज्वालामुखी की गर्दन में भरे हुए लावा के अन्तराल में धँस जाने से जो रिक्त स्थान बनता है, उसमें शंकु का ऊपरी ढाँचा ढह पड़ता है और इस प्रकार एक विस्तृत गर्त उत्पन्न हो जाता है, जिसमें जल भर जाने से सुन्दर सरोवर की रचना होती है। सुप्रसिद्ध 'क्रेटरझील' इसी प्रकार उत्पन्न गर्त में बनी है। यह सुरम्य झील कैस्केड रेंज के एक ज्वालामुखी पर्वत की चोटी पर स्थापित है।

विस्तार में यह ६ मील लम्बी और चार मील चौड़ी है। इसकी गहराई २००० फीट है। चारों ओर यह ढालू पहाड़ियों से घिरी है, जो ५०८ से २००० फीट तक ऊँची हैं। इस झील में एक द्वीप भी है, जिसे 'विजर्ड द्वीप' कहते हैं। यह द्वीप वास्तव में एक शांत ज्वालामुखी पर्वत का शकु है, जो जलमग्न प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस महागर्त में जल भर जाने पर इस द्वीपरूपी ज्वालामुखी का उद्गार हुआ होगा।

विस्फोटक गर्त

ज्वालामुखी के उद्गार का एक और रूप होता है, जिसे विस्फोटक गर्त कहते हैं। ये गर्त धरातल को फोड़कर आग्नेय पदार्थ उगलने लगते हैं। यह पदार्थ उनके मुख के चारों ओर ऊँची मेढ़ के रूप में जमा होता है, शकु-आकार में नहीं। इन विस्फोटक गड्ढों का विस्तार कई सहस्र फीट तक का होता है। कोई-कोई तो दो मील से भी अधिक चौड़े हैं। जब ये शान्त हो जाते हैं तब इनमें भी वर्षा का जल भर जाता है और ये झीलों का रूप धारण कर लेते हैं। जर्मनी में राईन नदी के पश्चिम में इस प्रकार की अनेक झीलें पाई जाती हैं।

ज्वालामुखी कितने दिन प्रज्वलित रहता है ?

विभिन्न ज्वालामुखी पर्वतों के इतिहास से यह प्रतीत होता है कि प्रत्येक के प्रज्वलित जीवन की अवधि भिन्न-भिन्न होती है। उदाहरण के लिए सुप्रसिद्ध ज्वालामुखी एटना के इतिहास को देखने से पता चलता है कि विगत लगभग २५०० वर्ष से यह ज्वालामुखी उसी प्रकार जाग्रत् रहा है, जैसा कि आज है। वैज्ञानिक लोग इस पर्वत के विशाल आकार को देखकर यह गणना करते हैं कि यह कम-से-कम ३००००० वर्ष तक निरन्तर ज्वालामुखी के उद्गार से निकलकर जमा हुआ होगा। मानवीय दृष्टि से यह समय 'अपार' होता है, परन्तु भूतत्त्विक दृष्टिकोण से देखने पर एटना का जन्म अभी कल ही की घटना है—क्योंकि एटना का उद्गार आधुनिक भूगर्भिक युग में हुआ प्रतीत होता है। इसी प्रकार अन्य अनेकों ज्वालामुखी पर्वतों की जाग्रतावस्था की कहानी भी मानवीय पुरातन काल से चली आती है और वे आज भी उसी प्रकार आग उगलते देखे जाते हैं, जैसे पूर्वकाल में।

बहुत से ज्वालामुखी पर्वत एक बार जाग्रत् होकर फिर
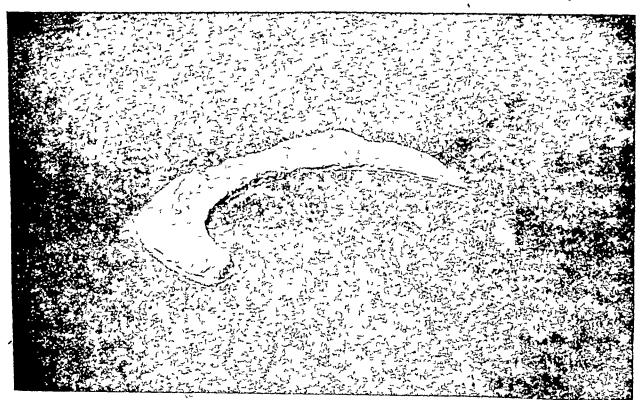
पुरातनकाल के किसी महान् ज्वालामुखी के क्रेटर का शेषांश, जो प्रशान्त महासागर के अथाह जल में से हवाई द्वीपसमूह के समीप अब भी इस अर्द्ध-चन्द्राकार रूप में अपना मस्तक ऊपर उठाए हुए है।

सुप्त हो जाते हैं और इतने लम्बे काल तक सुप्तावस्था में रहते हैं कि लोग उन्हें 'शान्त' समझने लगते हैं। सहस्रों वर्ष उनके इसी शान्तावस्था में बीत जाने के पश्चात् एक दिन सबको चकित करते हुए वे पर्वत फिर अपना कार्य आरम्भ कर देते हैं। उनका उद्गार इतना आकस्मिक होता है कि लोग सोचने का समय ही नहीं पाते। ये उद्गार महाविनाशकारी होते हैं। ऐसे उद्गारों के परिणामस्वरूप ही लाखों नर-नारी और पशु, भुनगों की भाँति, नष्ट हो जाते हैं। बड़े बड़े पुराने समृद्ध नगर बात-की-बात में धूल में मिल जाते हैं।

इटली का वेसुवियस नामक प्रसिद्ध ज्वालामुखी पर्वत मध्य युग तक बराबर शान्त बना रहा। यहाँ तक कि इसके क्रेटर में पेड़ पौधे उग आए। कोई भी चिह्न इसके जाग्रत् होने का नहीं पाया जाता था। अचानक ही १६३१ ई० में इसका भीषण विस्फोटक उद्गार आरम्भ हो गया और आज तक बराबर यह उद्गार होता रहता है।

मनुष्य की स्मृतिकाल के भीतर ही अनेकों ज्वालामुखी पर्वतों का उद्गार आरम्भ हुआ है और अभी तक जारी है। वेसुवियस इसी प्रकार का एक उदाहरण है। परन्तु इसके बारे में यह कहा जाता है कि यह मांटे सोम्मा नामक पुरातन ज्वालामुखी के स्थान पर जन्मा है। मेक्सिको के प्रसिद्ध ज्वालामुखी जोरुल्लो का सर्वप्रथम उद्गार २८ सितम्बर १७५९ ई० को हुआ। यह ज्वालामुखी एक खेती के मैदान में फूट निकला था। मध्य अमेरिका में १७७० ई० में एक और भी ज्वालामुखी आरम्भ हुआ था। इसका नाम इजाल्को है। ये सब अभी तक जाग्रत् हैं। १९१४ ई० के पूर्व अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र की सीमा में कोई भी ज्वालामुखी नहीं पाया जाता था और न किसी पुराने ज्वालामुखी के उद्गार का ही पता चलता था। अचानक मई १९१४ ई० में केलिफोर्निया के लासेन पीक नामक स्थान पर आग्नेय उद्गार आरम्भ हुआ और वह आज तक बराबर जारी है।

हमारे उपरोक्त कथन से यह तात्पर्य नहीं निकलता कि ज्वालामुखी पर्वत अनन्त काल तक जाग्रत रहते हैं। आज धरातल पर जाग्रत् ज्वालामुखी पर्वतों की अपेक्षा 'शान्त' ज्वालामुखी अधिक हैं। परन्तु साधारणतया ज्वालामुखी पर्वतों का जीवनकाल मानवीय दृष्टि से 'लम्बा' होता है।

ज्वालामुखी पर्वतों का नष्ट होना

ज्वालामुखी की प्रसुप्तावस्था में तथा शान्त काल में उस पर मौसमी दूत अपना क्षयात्मक कार्यक्रम वेगपूर्वक जारी कर देते हैं। यों तो आदि से अन्त तक निरन्तर ही मौसमी क्षति का सामना ज्वालामुखी पर्वत को करना पड़ता है तथापि प्रसुप्तावस्था में उसकी क्षति ही क्षति होती है रचना बन्द हो जाती है। किसी जाग्रत् ज्वालामुखी का हम जो रूप देखते हैं, वह वास्तव में उस द्वन्द्व के परिणाम का अवशेष है, जो प्रकृति की क्षयात्मक और ज्वालामुखी की रचनात्मक शक्तियों के बीच निरन्तर छिड़ा रहता है। उद्गारकाल में भी जल के प्रवाह से उसमें से निकली हुई धूल और राख कीचड़ के रूप में बहकर कहीं-की-कहीं पहुँचा दी जाती है। वायु का वेग उद्गार के पदार्थ को उड़ाकर दूर ले जाने की चेष्टा करता है। जैसे ही उद्गार शान्त हो जाता है, ज्वालामुखी के पर्वत की रचना के लिए नवीन पदार्थ मिलना बन्द हो जाता है और तब क्षयात्मक शक्तियों को बेरोकटोक अपना कार्य करने का अवसर मिलता है। लावा का ऊपरी झामा-सरीखा नरम पटल सरलता से और शीघ्रता से नष्ट हो जाता है। गर्दन में भरे कठोर अंश और उससे सम्बन्धित चारों ओर की नालियाँ (जो दरारों के भीतर लावा पहुँचाती थीं) शीघ्र नष्ट नहीं हो पातीं, परन्तु उनको लपेटे हुए जो राख धूल और चट्टानों के खण्ड जमे रहते हैं वे थोड़े समय पश्चात् उखड़-उखड़कर अलग हो जाते हैं और उनका नरम पदार्थ वायु और जल के द्वारा स्थानान्तरित कर दिया जाता है। क्षयात्मक कार्यकर्त्ताओं के प्रहार से अन्त में ज्वालामुखी का समस्त शंकु विलीन हो जाता है, केवल कठोर लावा का वह शिलाखण्ड बच जाता है जो ज्वालामुखी की गर्दन में भरा रहकर ठण्डा हो जम गया था, और जो भूगर्भ से सम्बन्धित है।

अनेकों ऐसे भी शान्त ज्वालामुखी हैं जिनके कुछ भाग पर तो अभी क्षयात्मक आँच नहीं आई है, परन्तु कुछ भाग नष्ट होकर विलीन भी हो चुका है। ऐसे ज्वालामुखी वास्तव में वैज्ञानिकों के अध्ययन की आदर्श सामग्री हैं, क्योंकि इनकी रचना को देखकर ही वैज्ञानिक अपनी कल्पनाओं को सार्थक करता है, अन्यथा जाग्रत् ज्वालामुखी के मुख में जाने की किसकी हिम्मत है! जाग्रत् ज्वालामुखी का उद्गार कितना भयानक होता है, इसका परिचय आप आगे के लेख में पाएँगे। उसी में यह भी बताने की चेष्टा की जायगी कि भूगर्भ की यह आतिशबाज़ी क्यों छूटती है।

मौसम और जलवायु
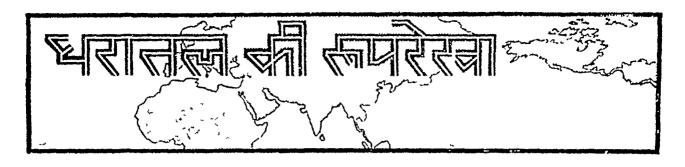
३—वर्षा की कहानी तथा मौसम-संबंधी जाँच करनेवाले यन्त्र

सूर्य से आनेवाला ताप धरातल के जलाशयों को सुखा देता है, यह साधारणतः सभी के अनुभव की बात है। जलाशयों का जल वास्तव में सूर्यताप के प्रभाव से सलिलावस्था से वायव्यावस्था में परिणत होकर भापरूप में वायुमण्डल में मिल जाता है। जब तक यह भाप धरातल के निकट के वायुमण्डल में रहती है तब तक यह अदृश्य रहती है। परन्तु जब धरातल के निकट की वायु धरातल को छूकर गर्म हो जाती है तब हल्की होकर वह ऊपर उठ जाती है और उसके साथ ही उसमें भरी भाप भी अधिक ऊँचाई पर चली जाती है। अधिक ऊँचाई पर पहुँचकर जब वायु ठण्डी होने लगती है तब उसमें भाप धारण करने की शक्ति बहुत कम रह जाती है, क्योंकि वायु का जितना अधिक तापक्रम होता है उतनी ही अधिक भाप धारण करने की उसकी शक्ति होती है। ठण्डी वायु से छुटकारा पाते ही भाप भी ठण्डी होकर बादलों का रूप धारण कर लेती है। वायु में उड़ते हुए बादल वास्तव में धरातल से भाप बनकर अदृश्य हुए जल के वायव्य रूप हैं।

अधिक ऊँचे उठ जाने से अथवा और किसी कारण से जब बादल का वायव्य पदार्थ ठण्ढा हो जाता है तब घनीभूत होकर जलसीकरों तथा विशेष अधिक ठण्ढा हो जाने से हिमसीकरों में परिणत हो जाता है। जब तक जलसीकरों और हिमसीकरों का आकार तथा भार कम रहता है तब तक वायु उनको धारण किए रहती है, परन्तु उनके अधिक भारी हो जाने से वायु उनको धारण करने में असमर्थ हो जाती है और तब ये हिमसीकर और जलसीकर तुषारपात तथा जलविन्दुओं के रूप में धरातल पर गिर पड़ते हैं। वायुमण्डल में सम्मिलित वायव्यरूपी जल जिन अन्य रूपों में हमारे सामने आता है वे कुहरा, ओस, पाला तथा ओला आदि हैं जिनके सम्बन्ध में आप वायुमण्डल की चर्चा के अन्तर्गत पढ़ चुके हैं (देखिए पृष्ठ ८२९-८३०—वि० भा० भाग ७)। वायुमण्डल में सम्मिलित भाप जब तक धरती पर जलरूप में आकर उसे सिञ्चित नहीं कर देती तब तक हम उसे वर्षा नहीं कहते। यही कारण है कि कुहरा, पाला और ओस आदि यद्यपि वायुमण्डल की अदृश्य भाप ही से धरातल पर उत्पन्न होते हैं तथापि इनको वर्षा के अन्तर्गत नहीं माना जाता।

सम्पृक्त वायु का तापक्रम यदि कम हो जाता है तो उसकी अतिरिक्त भाप घनीभूत होकर जलसीकरों में परिणत हो जाती है। भाप से युक्त वायु के मार्ग में ऊँचे ठंडे पहाड़ों के आ जाने से अथवा उष्ण प्रदेश से शीत प्रदेश की ओर चलने से उसका तापक्रम कम हो जाता है। साईक्लोन में पड़कर भी वायु ऊपर उठकर ठण्डी हो जाती है। कभी-कभी शीतल वायु उष्ण वायु के निकट पहुँच जाती है। उसके प्रभाव से भी वायु का तापक्रम अचानक ही कम हो जाता है। जलसीकर से युक्त होने पर वायु जब और अधिक ठण्डी होने से उनको वहन करने में असमर्थ हो जाती है तब उसके जलसीकर बूँदों के रूप में धरातल पर टपक पड़ते हैं और वर्षा आरम्भ हो जाती है। बादलों के जल को कृत्रिम उपायों द्वारा बरसाने के भी अनेकों प्रयत्न किये जा चुके हैं, परन्तु उनमें विशेष सफलता कभी भी नहीं मिली। हाँ, कृत्रिम रूप से बादलों की रचना कर उनको बरसाने में आशातीत सफलता प्राप्त हुई है।

यद्यपि वायुमण्डल का वेष्ठन धरातल को सभी स्थानों पर समान रूप से घेरे हुए है तथापि धरातल के विभिन्न भागों के वायुमण्डल में जलवाष्प की मात्रा समान नहीं पाई जाती। जलवाष्प की उन प्रदेशों में अधिकता

रहती है वहाँ गर्मी भी अधिक पड़ती है और जलाशय भी अधिक हैं। ऐसे ही प्रदेशों में वर्षा भी अधिक होती है। किसी प्रदेश में वर्षा का होना न होना जिन बातों पर निर्भर है वे हैं उस प्रदेश की आकाशिक स्थिति, प्राकृतिक बनावट, समुद्र से दूरी और सामुद्रिक धाराओं का प्रभाव। साईक्लोन के पथ पर तथा पहाड़ों के हवादार ढालों पर बहुधा अधिक वर्षा होती है। अत्युष्ण कटिबन्ध में भूमध्यरेखा के आसपास बहुत गर्मी पड़ती है और यहाँ की वायु बहुत ऊपर उठा करती है, इस कारण इस प्रदेश में बहुत अधिक वर्षा होती है। इसके विपरीत जिन प्रदेशों पर वायु ऊपर से नीचे को उतरती है वहाँ वर्षा नहीं होती, क्योंकि नीचे उतरने से वायु का ताप बढ़ जाता है और उसमें अधिक भाप ग्रहण करने की शक्ति आ जाती है, जिससे धरती को सींचने के स्थान पर वह उस प्रदेश की धरती को सुखा देने की शक्ति रखती है।

पर्वतों के उन ढालों पर जहाँ हवा ऊपर से नीचे को उतरती है पानी नहीं बरसता। ऐसी हवा को 'फोहेन-हवा' कहते हैं। फोहेन हवा गर्म परन्तु सूखी होती है। हिमालय पर्वत के उत्तर में तिब्बत की ओर के ढालों पर इसी कारण वर्षा का अभाव रहता है। कनाडा के पश्चिमी भाग में राकी पर्वत से उतरती हुई सूखी और गरम हवाओं के कारण ही वहाँ की बर्फ पूर्वीय स्थानों की अपेक्षा पहले पिघल जाती है।

फोहेन-वायु के सूखा होने का यह कारण होता है कि वायु के मार्ग में पर्वत आ जाने से पर्वत पार करने के लिए हवा को ऊपर उठना पड़ता है। ऊपर उठने से वह ठण्डी हो जाती है और उसकी अतिरिक्त भाप सामनेवाले ढाल पर ही बरस जाती है। जब पर्वत पार करके वह पीछेवाले ढाल पर पहुँचती है तब जैसे-जैसे वह नीचे उतरती जाती है उसका तापक्रम बढ़ता जाता है और वह असम्पृक्त होती जाती है। इसी कारण अन्त में वह सूखी ही बनी रहती है।

कर्क और मकर रेखाओं के आस-पास भी, जहाँ भूमध्य-रेखा पर से उठी हुई वायु नीचे उतरती है, वायु का ताप बढ़ जाता है। इसलिए वहाँ वर्षा नहीं होती। प्रति-चक्रवात में पड़ी हुई वायु भी जल नहीं बरसाती, क्योंकि उसमें भी वायु का प्रवाह ठण्डे स्थान से गरम स्थान की ओर होता है।

समुद्र तथा समुद्र के निकट की भूमि पर वर्षा अधिक होती है। जैसे-जैसे समुद्र-तट से दूरी बढ़ती जाती है वर्षा की मात्रा कम होती जाती है। इसी प्रकार धरातल पर भूमध्य रेखा तथा उसके आस-पास की भूमि पर अधिक वर्षा होती है। वहाँ मूसलाधार पानी बरसता है। परन्तु उच्च अक्षांश में पानी की मात्रा बहुत कम रह जाती है।

दक्षिण के गर्म और आर्द्र प्रदेश की ओर से आनेवाली हवा जलवाष्प से युक्त होती है। किन्तु उत्तर पूर्व और उत्तर-पश्चिम की ओर से आनेवाली हवा ध्रुव-प्रदेशों से आने के कारण ठंडी होती है। यह ठंडी हवा गर्म हवा से भारी होगी। अतएव, गर्म हवा ऊपर उठकर फैलेगी और इस प्रकार ठंढी हो जाने से उसकी जलवाष्प बरस पड़ेगी। बीच में काली बूँदोंवाले भाग से हवा का दवाव और फलस्वरूप वर्षा का रुख सूचित किया गया है।

प्रय. सम्पूर्ण धरातल पर गरमी की ऋतु ही में अधिकांश वर्षा होती है, क्योंकि उस समय वायु में भाप अधिक रहती है और पवन समुद्र से स्थल की ओर चलती है। शीतकाल में सूर्य से कम ताप मिलने के कारण भाप भी कम बनती है और पवन प्राय स्थल से समुद्र की ओर चलती है। इसलिए इन दिनों प्रायः बहुत कम वर्षा होती है और उत्तरी गोलार्द्ध में वर्षा का सबसे अधिक वेग जुलाई मास में रहता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में यही ऋतु जनवरी मास में रहती है। परन्तु उत्तरी गोलार्द्ध के शीतोष्ण कटिबन्ध के पश्चिमीय भाग में जाड़े की ऋतु भी समुद्री गरम धाराओं के प्रवाह से तथा साईक्लोनों की अधिकता के कारण समुचित वर्षा हो जाती है।

अत्युष्ण कटिबन्ध में गर्मी की अधिकता से अधिक भाप बनती है और इसलिए वहाँ वर्षा भी अधिक होती है। लेकिन शीतोष्ण कटिबन्ध में ताप कम रहने के कारण कम भाप बन पाती है और इस कारण वहाँ वर्षा इतनी प्रचुर नहीं होती जितनी अत्युष्ण कटिबन्ध में।
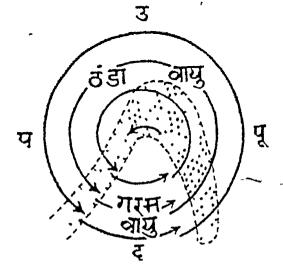
जिन प्रदेशों में तिजारती अथवा पछुआ हवाएँ सदा चलती रहती हैं, उनमें वर्षा भी सदा होती रहती है। पछुआ हवाओं के क्षेत्र में, उत्तरी गोलार्द्ध में ४०° उत्तरी अक्षांश के ऊपर के प्रदेशों में वर्ष भर की वर्षा का औसत २० से ५० इञ्च तक रहता है। भूमध्य रेखा के निकट के प्रदेशों में ८० इञ्च अथवा इससे भी अधिक वर्षा होती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में ४०° दक्षिणी अक्षांश के दक्षिण शीतोष्ण कटिबन्ध में २० से ६० इञ्च तक वर्षा होती है। दक्षिणी पूर्वीय एशिया और उत्तरी आस्ट्रेलिया में आधी से भी अधिक वर्षा ग्रीष्म के तीन महीनों में होती है। उत्तरीय अमेरिका और एशिया तथा योरप के महाद्वीपों के भीतरी भाग शीतकाल में अत्यन्त ठण्डे हो जाते हैं। वहाँ नवम्बर से अप्रैल तक बराबर पाला पड़ता है और वर्षा का अभाव रहता है। यहाँ जो कुछ पानी बरसता है वह ग्रीष्म ऋतु ही में बरसता है। जो भाग तिजारती हवाओं के क्षेत्र के सिरे पर स्थित हैं, उनमें भी ग्रीष्म ऋतु ही में वर्षा होती, है। मानसूनी प्रदेश में ग्रीष्म ऋतु में वर्षा अधिक होती है। इस क्षेत्र में वर्षा का साल भर का औसत ३०-१५० इञ्च तक रहता है, लेकिन शीतोष्ण कटिबन्ध में २० इञ्च से अधिक वर्षा नहीं होती। भूमध्य-सागर, केलिफोर्निया और न्यूज़ीलैंड तथा केप प्रदेश में अधिकांश वर्षा शीतकाल में होती है जब पछुआ हवाएँ इन प्रदेशों पर चलती हैं। प्रायः ३०° उत्तरी और दक्षिणी अक्षांशों के निकट ऐसे उच्च भारवाले गरम रेगिस्तान हैं, जहाँ नियमित रूप से वर्षा कभी नहीं होती। इसी प्रकार के बर्फीले रेगिस्तान ध्रुव प्रदेशों के पास हैं।

वायुमण्डल की भाप का तापक्रम यदि अचानक ही बहुत कम हो जाता है तो वर्षा के स्थान में तुषारपात होता है। तुषारपात तभी होता है जब भाप से भरी वायु का तापक्रम ३२° फ० से नीचे गिर जाता है। पहाड़ों की ऊँची चोटियों तथा उच्च अक्षांशवाले ठण्डे प्रदेशों में बहुधा वर्षा के स्थान पर तुषारपात ही होता है। शीतोष्ण कटिबन्ध के उत्तरीय भागों और शीत कटिबन्धों में जाड़े भर बर्फ पड़ती है। शीतोष्ण कटिबन्ध के समुद्रीय प्रान्तों
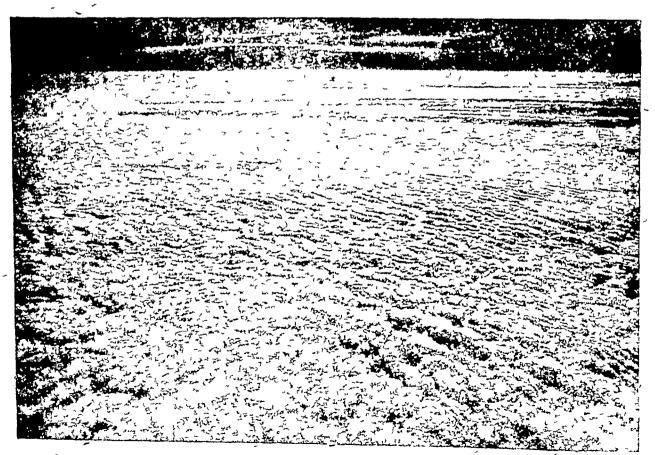
वर्षा लानेवाले बादलों का जमघट—कई हज़ार फ़ीट की ऊँचाई से वायुयान द्वारा लिया गया एक फ़ोटो

में घना कोहरा पड़ता है। कोहरा भी वायु की भाप का ही एक रूप है। यह जाड़ों में भाप से भरी गरम वायु और ठण्डी वायु के सम्पर्क में आने से अथवा शीतल धरातल से गरम वायु के छूने से उत्पन्न होता है, न्यूफ़ाउण्डलैंड तथा ब्रिटिश द्वीपसमूह के तट कोहरे के लिए प्रसिद्ध हैं।

धरातल पर सबसे अधिक वर्षा भारत के उत्तरी पूर्वीय क्षेत्र में चेरापूँजी नामक स्थान में होती है और सबसे कम वर्षा सहारा के मरुस्थल में। यद्यपि सहारा का मरुस्थल भाप से भरी वायु के मार्ग में पड़ता है तथापि वहाँ की भीषण गर्मी के कारण बादल धरातल तक पहुँचने के पूर्व ही भाप में परिवर्तित हो जाते हैं। हिमालय पर्वत के उत्तर में तिब्बत के लेह नामक स्थान पर भी वर्षा नाम-मात्र को ही होती है। इसका कारण यह है कि भाप से भरी वायु हिमालय के पार पहुँचते-पहुँचते अपनी सब भाप बरसा चुकती है।

वर्षा मापक यंत्र

किसी प्रदेश की जलवायु पर उस प्रदेश पर होनेवाली वर्षा का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। वर्षा जलवायु का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसलिए जलवायु के सम्बन्ध में यह जानना परम आवश्यक है कि कहाँ कितनी वर्षा होती है। किसी क्षेत्र पर बरसनेवाले जल को माप करने के लिए जिस यंत्र का उपयोग किया जाता है उसे वर्षा-मापक यंत्र 'रेन गाज' (Rain gauge) कहते हैं। इस यंत्र द्वारा किसी स्थान के एक विशेष क्षेत्रफल पर बरसने-वाले जल को एकत्रित कर लिया जाता है और उसकी माप से यह पता चलता है कि उस स्थान पर कितनी वर्षा हुई। जिस बर्त्तन में वर्षा का जल एकत्रित किया जाता है उसके ऊपर धातु की एक कीप (Funnel) लगी रहती है जिसका व्यास ५ से ८ इञ्च तक होता है। जो वर्षा का जल कीप के मुख में गिरता है वह उसकी टोंटी द्वारा नीचे के बर्त्तन में जमा हो जाता है। २४ घंटे में एक बार अथवा विशेष प्रयोजन होने पर न्यूनाधिक समय पर्यन्त बर्त्तन में जमा हुए पानी की माप की जाती है। रेन गाज को धरती पर नहीं रक्खा जाता है, वरन् धरती से एक या दो फीट ऊँचे स्थान पर रक्खा जाता है, जिससे आसपास गिरनेवाले जल की छींटें उसमें न पड़ें। कीप भी इस आकार की बनाई जाती है कि उसमें गिरनेवाले जल की एक बूँद भी बाहर न छलकने पाए और न भाप बनकर उड़ने पाए। बहुत से प्रदेशों में वर्षा के साथ-ही-साथ कभी-कभी बर्फ़ भी गिरता है, जिससे कुप्पी की टोंटी बन्द हो जाने की आशंका रहती है। इस कारण कुप्पी का ऊपरी भाग इतना लम्बा बनाया जाता है कि प्रचुर मात्रा में बर्फ़ जमने पर भी वर्षा-जल के लिए पर्याप्त स्थान बच रहता है। नियत समय पर जब यंत्र खोला जाता है और उसमें बर्फ़ जमी पाई जाती है तब गरम पानी डालकर बर्फ़ पिघला दी जाती है और बर्फ़ के पिघलने से जो जल प्राप्त होता है वह मालूम कर लिया जाता है। कुप्पी के मुँह का क्षेत्रफल पहले ही ज्ञात होता है इसलिए जब जल की आयतन की नाप होती है तो उसमें क्षेत्रफल से भाग देने से जल की ऊँचाई इञ्चों में प्राप्त हो जाती है। यदि कुप्पी के मुँह का क्षेत्रफल १६ वर्ग इंच है और यंत्र में एकत्रित जल की मात्रा ३२ घन इंच है तो उस स्थान पर प्रति वर्ग इंच २ इंच जल की वर्षा हुई। जलमापक यंत्र पर इसीलिए घन इंचों के स्थान पर इंचों के ही चिह्न बनाए जाते हैं।

अन्तरिक्ष मान-विभाग (Meteorological Department) से जब यह विज्ञप्ति निकाली जाती है कि चेरा-पूँजी पर साल भर की वर्षा का अनुपात ५०० इंच होता है तब उसका तात्पर्य यह होता है कि यदि चेरा-पूँजी के किसी समतल भाग की भूमि पर साल भर होने-वाली वर्षा का जल एकत्रित किया जाय (और उसका तनिक भी अंश भूमि में न सोखने पाए और न भाप बनकर वायु में उड़ने पाए) तो वर्ष भर के बाद उस भाग पर ५०० इंच मोटी जल की तह चढ़ जायगी।

यदि यह कहा जाय कि एक एकड़ भूमि पर एक इंच जल बरसा है तो उसका तात्पर्य यह हुआ कि उस भूमि पर लगभग २७०० मन जल बरसा है। यदि चेरापूँजी में बरसनेवाला साल भर का जल वहाँ एकत्रित ही रहे, न धरती में सोखे और न भाप बनकर उड़े तो साल भर में सारी चेरापूँजी की भूमि ४१-४२ फीट गहरे जलवाले सरोवर की तली बन जायगी। परन्तु यह जल अधिकांश निचली भूमि की ओर उतने ही वेग से बह जाता है जितने वेग से बरसता है और कुछ भाप बनकर वायु-मण्डल में भी मिल जाता है।

मौसम बतानेवाले अन्य-यंत्र

हम पहले बता चुके हैं कि लगभग सभी देशों में मौसम की जाँच-पड़ताल करने के लिये वेधशालाएँ बनी होती हैं। इन्हें मानमन्दिर (Observatory) कहते हैं। मानमन्दिरों में भाँति-भाँति के यंत्रों द्वारा मौसम की जाँच प्रति क्षण होती रहती है। केन्द्रीय मानमन्दिरों

को चारों ओर के मानमन्दिर तार द्वारा बराबर रिपोर्ट भेजते रहते हैं और केन्द्र के कार्यालय सबका संग्रह करके पिछले दिन के मौसम की रिपोर्ट तथा आनेवाले दिन के मौसम का अनुमान-पत्र निकाला करते हैं।

मौसम की रिपोर्ट लगभग सभी उच्च श्रेणी के दैनिक पत्रों में छपती है। इस रिपोर्ट में जो विवरण रहता है उसमें प्रमुख स्थानों के वायुभार, तापांश, वायुधारा की दिशा और शक्ति, आर्द्रता, दृश्यता, धूप, वर्षा, मेघाच्छन्नता, ऋतु की विशेषता आदि का हाल दिया रहता है। ये सभी बातें मनुष्य के दैनिक जीवन पर प्रभाव डालती हैं इसलिए इनका जानना आवश्यक होता है। वर्तमान युग में बेतार और रेडियो के यन्त्रों द्वारा मौसम के समाचार और भी शीघ्र एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाते हैं। आजकल मौसम सम्बन्धी रिपोर्ट का सबसे अधिक उपयोग वायुयान-संचालन, जलयान-संचालन, रेडियो और बेतार के यंत्रों के संचालन में किया जाता है। रेडियो पर आनेवाले समाचारों आदि पर मौसम के परिवर्त्तन का जो प्रभाव पड़ता है वह सभी जानते हैं। मौसम अनुकूल न होने से कभी-कभी रेडियो यन्त्र पर समाचार आदि पाने में बड़ी गड़बड़ी होती है। घने गहरे कोहरे, तुषारपात, कौंधा आदि का प्रभाव जलयान तथा वायुयान-संचालक दोनों को ही झेलना पड़ता है। इसीलिए ये लोग भविष्य के आनुमानिक मौसम के जानने के लिए विशेष उत्सुक रहते हैं।

मौसम-सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने के लिए जिन विशेष यंत्रों को काम में लाया जाता है उनमें से कुछ तो बहुत ही अधिक मूल्यवाले होते हैं और इनकी देख-रेख का विशेष प्रबन्ध करना पड़ता है, परन्तु साधारण मानमन्दिरों में अति मूल्य के यंत्र नहीं रक्खे जाते। वायु का दबाव या चाप जानने के लिए वायुभार-मापक 'बेरोमीटर' यंत्र काम में आता है, जिसका हाल आप पहले पढ़ चुके हैं। वायुभार-मापक यन्त्र के साथ-ही-साथ एक बेलन (Drum) भी रहता है जिस पर ब्रोमाइड पेपर इस प्रकार लिपटा रहता है कि उसके साथ के लगे हुए फोटोयंत्र के द्वारा इस घड़ी की तरह गोल कमानीदार वायुभार-मापक यंत्र के घूमते हुए बेलन पर वायुभार के उतार-चढ़ाव की रेखायें बराबर अंकित होती रहें। वायु का तापांश तापमापक यन्त्र या थर्मामीटर से नापते हैं। ये यन्त्र कई प्रकार के होते हैं। मानमंदिरों में चार यंत्र ऐक विशेष रचना के काठघर में विशेष ढंग
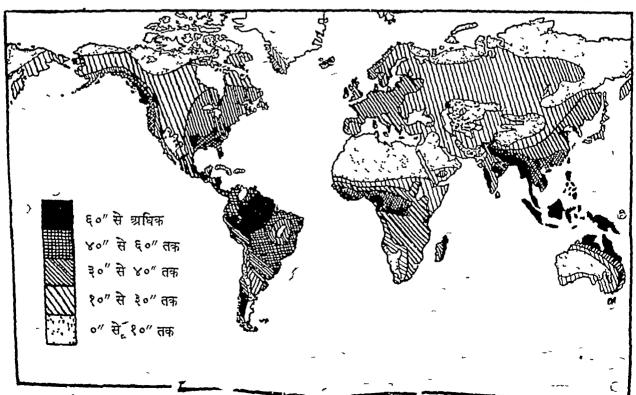
पृथ्वी के विभिन्न स्थलभागों की वार्षिक वर्षा का तुलनात्मक मानचित्र

से लगाये हुए रहते हैं। इस काठघर को 'स्टीवेन्सन का चौकठा' कहते हैं। यह घर पूर्व-पश्चिम २० इंच, दक्षिण-उत्तर की दिशा में १२ इंच और भीतर तली से छत तक १८ इंच ऊँचाई का होता है। इस घर में चारों ओर से हवा आती है, परन्तु धूप नहीं आने पाती। इसके भीतर एक चौखटे पर दो तापमापक यंत्र लगे रहते हैं। इनमें से एक की पारे की घुण्डी बारीक मलमल के एक टुकड़े से ढकी रहती है, जो पास में रक्खे एक जलपात्र में डूबे हुए धागों से जुड़े होने से बराबर भीगा रहता है। यह भीगी घुण्डी वाला तापमापक यंत्र (Wet Bulb Thermometer) कहलाता है। इसका तापांश वास्तविक तापांश से कुछ कम रहता है। वास्तविक तापांश दूसरे सूखी घुण्डीवाले (Dry Bulb Thermometer) से ज्ञात होता है। दोनों के तापांश में सूखी ऋतु में अधिक अंतर रहता है, आर्द्र दिनों में कम। कुहरे के समय दोनों का तापांश समान ही-सा रहता है। परन्तु वर्षा के समय कभी-कभी अधिक अन्तर हो जाता है। इस यंत्र से यह जाना जा सकता है कि वायु की आर्द्रता कितनी है।

एनिमोमीटर नामक यंत्र अथवा इसका सादा रूप आँधी का बल और दिशा जानने के लिए काम में आता है। इसमें इस्पात के एक दण्ड के ऊपर नलीदार पंखा लगा रहता है। दण्ड १५ से ८० फ़ीट तक की लम्बाई का होता है। इसके सिरे पर का पंखा इस तरह बना होता है कि नली का खुला मुँह सीधे वायु की ओर रहता है, जिससे वायु उसमें सीधे निरन्तर प्रवेश करती रहती है। नलिका के मुख पर वायु का जितना दबाव होता है उसका प्रभाव सम्बन्धित नलियों के द्वारा नीचे के लेखक यंत्र पर पड़ता है जो उसको एक बेलन पर चढ़े काग़ज़ पर अंकित करता जाता है। इसके द्वारा वायु की दिशा तथा झोंकों की गति, आँधी का वेग तथा मंद वायु की प्रगति आदि सभी ज्ञात हो जाती हैं।

एक प्रकार का उच्च कोटि का 'रेन गाज' या वर्षा-मापक यंत्र
इस यंत्र में अपने आप ही हफ़्ते भर की नित्य की वर्षा की मात्रा का आलेख अंकित हो जाता है।

धूप की तेजी नापने के लिए भी एक विशेष यंत्र का उपयोग किया जाता है। जब धूप होती है तब इस यंत्र में एक शीशे में होकर नीचे के काग़ज़ पर सूर्य की किरणें पड़ती हैं और काग़ज़ पर जलने का निशान हो जाता है। जब धूप नहीं होती है तब काग़ज़ बिल्कुल नहीं जलता है इससे एकदम पता चल जाता है कि किसी दिन कितने घंटे धूप पड़ी।

उपरोक्त यंत्रों के अतिरिक्त और भी ऐसे यंत्र रहते हैं जिनसे भूचाल आने की सूचना तथा उसका वेग और दूरी ज्ञात होती है तथा कुछ यंत्र सूर्य पर उठनेवाले ववण्डरों की सूचना देते हैं जो सूर्य पर धब्बों के रूप में प्रकट होते हैं और जिनका प्रभाव धरातल के मौसम पर पड़ता है, विशेष कर प्रतिचक्रवतों की उत्पत्ति में। सूर्य के धब्बे अधिकता से होने पर पृथ्वी पर चुम्बक संबंधी गड़बड़ी पैदा करते हैं।

उपरोक्त यंत्रों की सहायता से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसके अनुसार मानमन्दिरों से दैनिक सूचनापत्र निकलता रहता है। इस सूचनापत्र में दैनिक मौसम की अवस्था तथा आनेवाले मौसम की आनुमानिक अवस्था का विवरण रहता है।

ऋतु के सम्बन्ध में भारतीय ज्योतिष विद्यावाले भी अपनी गणना से वर्षा आदि के सम्बन्ध में लगभग ठीक ही अनुमान किया करते हैं। परन्तु उनकी गणना ग्रहोप-ग्रह के योग पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त प्रकृति की अवस्था देखकर भी मौसम के सम्बन्ध में अनुमान लगाया जाता है। घाघ और भड्डरी नामक कवियों की रची हुई कुछ ऐसी कहावतें हमारे देश में प्रचलित हैं, जिन पर किसान अधिकतर निर्भर रहते हैं। इन कहावतों की सत्यता अधिकतर अनुभव की जाती है, क्योंकि तथ्य वास्तव में सहस्रों वर्ष के अनुभव से ही संचित किये गये हैं।

अन्नपूर्णा-भंडार पत्ती की कहानी—(६)

निराली पत्तियाँ

अभी तक पत्ती के विषय की जिन बातों की चर्चा की गई है वे अधिकतर साधारण पत्ती और इसके काम-काज से ही सम्बन्ध रखती हैं। हवा से प्राप्त कार्बन-डाइऑक्साइड और जड़ों द्वारा संचित जल तथा नमकों के मेल से सूरज की किरणों में, सिर्फ अपने ही लिए नहीं वरन् पशु-पक्षी व दूसरे सभी जीवों के लिए आहार तैयार करना, वाष्प-त्याग के ज़रिए पौधों से मनों अनावश्यक जल बाहर निकालना और श्वसन-जैसी क्रियायें पत्ती के स्वाभाविक कर्त्तव्य में ही गिनी जाती हैं। इन्हें यथार्थ रीति से पूरा करने के लिए ही पत्तियाँ पतली और चपटी होती हैं। परन्तु विशेष परिस्थिति में, कभी-कभी, इन्हें कुछ ऐसे काम-काज भी करने पड़ते हैं जिन्हें हम इनके नियमित काम नहीं कह सकते। ऐसी पत्तियाँ साधारण पत्तियों से बहुत-कुछ भिन्न होती हैं।

जड़ और पेड़ी की जाँच करते समय, आप पहले देख चुके हैं कि जब कभी पौधे के ये अंग, अपना असली काम छोड़, किसी दूसरी क्रिया में लग जाते हैं तो इनकी सूरत शक्ल में बड़ा अन्तर पड़ जाता है। रस्कस और नागफनी के काण्ड पत्र (अं० ६ चि० १२-१३), आलू, अदरक व ज़िमींकन्द ऐसी रूपान्तरित रचनाओं के अपूर्व उदाहरण हैं। इन्हें देख, बिना पूर्व परिचय, कौन अनुमान कर सकेगा कि साधारण पौधों की पेड़ी की भाँति ये वस्तुएँ भी तने हैं। परन्तु आप भली-भाँति जानते हैं कि इन रचनाओं के तना होने में तनिक भी सन्देह नहीं। इस समय हम जिन पत्तियों की चर्चा करने जा रहे हैं वे भी ऐसी ही विचित्र रचनायें हैं, और इनमें और साधारण पत्तियों में बड़ा अन्तर है। ऐसी पत्तियाँ जो कर्त्तव्य पालन करती हैं वे पत्ती के साधारण काम-काज से बिल्कुल ही निराले होते हैं। यही कारण है कि ऐसी पत्तियों में अनेक रूप-रूपान्तर मिलते हैं। कभी-कभी तो इनमें ऐसी कायापलट हो जाती है कि इनके यथार्थ रूप का बोध होना भी कठिन हो जाता है। इसी कारण हम ऐसी पत्तियों को निराली पत्तियाँ कहेंगे।

निराली पत्तियों के कई भेद हैं और वे भिन्न-भिन्न अंगों के कर्त्तव्य पालन करती हैं। कर्त्तव्य के अनुसार इनकी बनावट व रूपरंग भी पृथक्-पृथक् हैं। कभी ये तने की जगह दूसरे अंगों के धारण करने व सँभालने का काम देती हैं; कभी जड़ की प्रकृति धारण कर शोषण-क्रिया में भाग लेती हैं, कभी फूल की पंखुड़ियों की भाँति पतिंगों को आकर्षित करती हैं, कभी बीज की तरह नये पौधे उत्पन्न करती हैं, कभी पौधे की रक्षा में भाग लेती हैं, कभी ये कोठार का काम देती हैं और
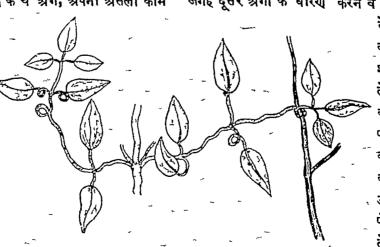
चित्र १—मोरबेल
इस पौधे में पत्तियों के डंठल बौंड़े का काम देते हैं।

नाशं कीड़ों मकोड़ों को पकड़ती हैं। यहाँ पर हम आखिरी दशों की पत्तियों को छोड़ शेष सभी पर थोड़ा बहुत विचार करेंगे। आगे चलकर, किसी दूसरे स्थान पर, इन अनूठी प्रकृतिवाली हिंसक पत्तियों से भी आपको परिचित कराने का प्रयत्न करेंगे।

१—तने का कर्त्तव्य पालन करनेवाली पत्तियाँ

वैसे तो पौधे के फूल, फल, पत्ती-जैसे अंगों को धारण करने का भार तने पर ही रहता है, परन्तु किसी-किसी परिस्थिति में यह काम पत्तियों या इनके किसी दूसरे भाग द्वारा होता है। इस कर्त्तव्य को पत्तियाँ चार प्रकार से पालन करती हैं, जिससे इनके नीचे दिए चार भेद माने जा सकते हैं।

अ—पत्तियों का बौंड़ों में रूपान्तर—अर्थात् वे पत्तियाँ जो बौंड़ों में बदल पौधे के अंग सँभालने का काम करती हैं—जिन पौधों के तने पतले और नाज़ुक होते हैं, उन्हें बिना सहारे, सीधे खड़े होने में कठिनता रहती है। सहारा मिल जाने से यह अड़चन दूर हो जाती है। पर आधार को पकड़ने के लिए विशेष अंग चाहिए। सेम, लोबिया, गुंजा, कृष्णलता-जैसी अनेक बेलों और लताओं के तनों में आधार से लिपटने की विशेषता रहती है, जिससे इनके काम निकल जाते हैं। कुछ पौधे ऐसे हैं, जिनमें यह काम बौंड़ों या हुकों के सहारे होता है।
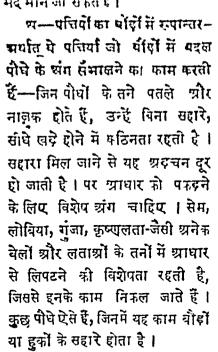
बौंड़े प्राय लम्बे, पतले और लचकदार होते हैं। ये पौधे के किसी भी अंग के रूपान्तर से उत्पन्न हो सकते हैं। अंगूर व कद्दू-लौकी में ये तने या शाखों का रूपान्तर माने जाते हैं, किसी-किसी जाति के टिकोमा में जड़ें बौंड़ों का काम देती हैं और आगे चलकर आप देखेंगे कि कुछ पौधों में फूल के डंठल बौंड़ों की तरह काम करते हैं। इस समय हम आपका ध्यान उन पौधों की ओर ले जाना चाहते हैं, जिनमें बौंड़े पत्तियों या इनके किसी भाग से उत्पन्न होते हैं।

साधारण मटर से हम सभी परिचित हैं। शिम्बी वर्ग के सामान्य पौधों की तरह इसमें भी संयोजित पत्तियाँ होती हैं। अन्तर केवल इतना है कि पत्तियों के कुछ ऊपरी पत्रक बौंड़ों में परिवर्तित हो जाते हैं (अ० ३ चि० ६)। ट्रोपिओलम और मोरवेल (चि० १) के पत्रनाल बौंड़ों का काम देते हैं। ग्लोरिओसा सुपर्बा (*Gloriosa superba*) (चि० २ अ) में पत्ती की नोक ही बढ़कर बौंड़ों की तरह आधार से लिपट जाती है। वन-चटरी (*Lathyrus Aphaca*) (चि० २ ब) में सम्पूर्ण पत्ती बौंड़े में परिणत हो जाती है। इस पौधे में साधारण पत्ती नहीं होती, परन्तु खपत्र पत्र वत् हरे और महीन होते हैं। यही पुंखपत्र पत्ती के काम-काज करते हैं। चोबचीनी (*Smilax*) (अ० १० चित्र १० ब) के बौंड़े पुंखपत्र का रूपान्तर माने जाते हैं।

चि० २—(अ) ग्लोरिओसा

इस पौधे में पत्ती की नोक बौंड़े का काम करती है।

चित्र २—(ब) वनचटरी

इस पौधे में पूरी पत्ती बौंड़े में परिवर्तित हो जाती है।

आधार को पकड़ में पाकर बौंड़े उसमे लिपट जकड़ लेते हैं, जिससे उन्हें अवलम्ब मिल जाता है और इस तरह बौंड़ों के सहारे उनका बोझ सँभल जाता है। ज्यों-ज्यों पौधे बढ़ते हैं वे बौंड़ों से आधार को पकड़-पकड़ ऊपर उठते चले जाते हैं। इस तरह नाज़ुक तने होने पर भी बौंड़ेवाले पौधे ऊपर उठे प्रकाश में फैले रहते हैं।

ब—कटिया (Hooks) या काँटे, जो पत्तियों व इनके किसी विशेष भाग के रूपान्तर से उत्पन्न होते हैं—पत्तियों के काँटों या शूलों में बदल जाने से पौधों के कई काम निकलते हैं। इस समय हम आपका ध्यान उन पत्तियों की ओर ले जाना चाहते हैं, जिनमें ऐसी रूपान्तरित रचनाएँ अन्य अंगों के सँभालने में काम देती हैं। यह विशेषता कुछ आरोही पौधों में मिलती है। इन पौधों की पत्तियों पर कुछ हुक-जैसे मुड़े काँटे होते हैं, जिन्हें वे अपने पास-पड़ोस के पेड़ों व दूसरी वस्तुओं से फँसा उनसे उलझ-कर ऊपर चढ़ जाते हैं। वेत (Rattan Palms) ऐसे
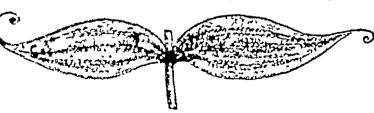
पौधों का एक उत्तम उदाहरण है। इनकी लम्बी पिच्छाकार पत्तियों में कुछ पत्रकों के स्थान पर मुड़े काँटे (कटिया) होते हैं। ऐसे ही काँटे पत्ती की रीढ़ पर भी मिलते हैं। यही काँटे द्रुम-लताओं अथवा वृक्षों के अंगों से फँस जाते हैं, जिससे बेत उन पर चढ़ जाते हैं, इन काँटों के प्रभाव से ऐसे पौधे कमज़ोर तनेवाले होते हुए भी ऊपर उठे खड़े रहते हैं।

स—वे पत्तियाँ जिनके डंठल तैराक रचनाओं में बदल जाते हैं—ऐसी विशेषता कुछ पानी के पौधों में मिलती है। जलखुम्भी और सिंघाड़ा इनके उत्तम उदाहरण हैं। इन पौधों की पत्तियाँ पानी पर तैरा करती हैं (चि० ३)। पत्तियों के पत्रनाल का कुछ भाग फूल रहता है। दबाने से यह भाग पिचक जाता है।

बात यह है कि पत्ती के इस भाग में बहुत-से बड़े-बड़े अन्तर-तान्तविक स्थान होते हैं, जिनमें हवा भरी रहती है (चि० ४)। इस वायु के प्रभाव से ही पत्ती का डंठल गुब्बारे की तरह फूला रहता है और जिस तरह हवाभरी मशक या तूँबी के सहारे पानी में तैरनेवाले का बोझ सधा रहता है, उसी तरह इन हवाभरे फूले अंगों के सहारे सिंघाड़े और जलकुम्भी-जैसे पौधों की पत्तियों का भार सँभला रहता है और वे पानी में तैरा करती हैं।

चित्र ३—जलकुम्भी

द—वे पत्तियाँ जिनके अधोभाग विशेष रूप से परिवर्तित हो पौधों के दूसरे अंगों को सँभालने का काम करते हैं—किसी-किसी पौधे की पत्तियों के अधोभाग उनके दूसरे अंगों के सँभालने का काम करते हैं। कुछ पौधों में ये बहुत लम्बे-चौड़े और मज़बूत होते हैं। केला एक ऐसी विशेषता का पौधा है। इसकी पत्तियों के बड़े-बड़े परनाले-जैसे निचले भाग पत्ती का अधोभाग ही हैं। केले का तना छोटा और मोटा होता है पर यह भूमि के ऊपर नहीं आता। तने के ऊपर से पत्तियाँ निकलती हैं। क्रमशः भीतर से बाहर की ओर की पत्तियाँ अधिक चौड़ी होती हैं। ज्यों-ज्यों अन्दर से नई पत्तियाँ निकलती हैं ऊपरवाली पत्तियाँ और भी फैलती जाती हैं। समय आने पर इनके बीच से फूलों को धारण किए डांडी निकलती है। यह अन्त में फूल-फल से लद जाती है। यह डांडी इतनी पतली और कोमल होती है कि इसके सहारे फूल-फल का बोझ सँभालना तो एक ओर रहा, यह स्वयं बिना किसी आधार के सीधी खड़ी भी नहीं हो सकती। फिर भी पत्तियों के बीच, उनके अधोभागों के सहारे पर खड़ी, यह डांड बीस-पचीस सेर या इससे कम व अधिक वज़नी घँवर का बोझ सुगमता से धारण किए रहती है। इस विशेषता का कारण यही है कि केले की पत्तियों के लम्बे-चौड़े भाग एक दूसरे से मिल तने-जैसा दृढ़ अंग बनाते हैं, जिस पर यह घँवर लदी रहती है। यथार्थ में कदलि खम्भ पत्तियों के अधोभाग का ही समूह है (चि० ५)।

२—जड़ की प्रकृति धारण कर शोषण क्रिया में भाग लेनेवाली पत्तियाँ
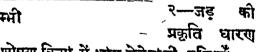
किसी-किसी परिस्थिति में पत्तियाँ शोषण-क्रिया में भाग लेती हैं; अर्थात् वे जड़ का कर्त्तव्य पालन करती हैं इस क्रिया में भाग लेनेवाली पत्तियों के कई भेद हैं।

अ—सबसे पहले इस सम्बन्ध में उन पौधों पर विचार करेंगे जो पानी में डूबे रहते हैं जिनकी पत्तियाँ पानी के अन्दर ही अन्दर फैली रहती हैं, जिससे इन्हें बाहर हवा में आने का अवसर नहीं मिलता। वैसे तो इन पौधों की पत्तियों और साधारण पौधों की पत्तियों में कोई अन्तर नहीं जान पड़ता, पर इनकी अधित्वक् पतली और चर्म रहित होती है। जिस पानी में ये पौधे उगते हैं खनिज लवण भी घुले रहते हैं जिससे इनकी
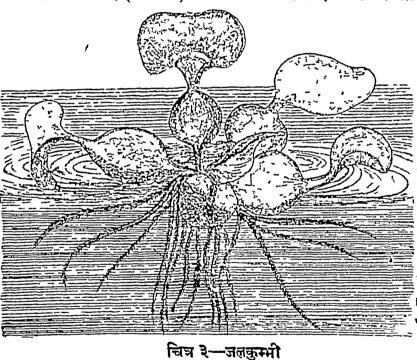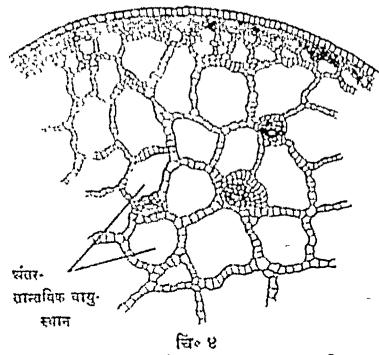
चि० ४

जलकुम्भी के डंठल के फूले भाग के आड़े कटाव का चित्र।

नमकों के घोल और जल दोनों का ही सुभीता रहता है। साधारण पौधों की जड़ों की भाँति ऐसे पौधे की पत्तियाँ जल और नमकों का शोषण करती हैं। इन पत्तियों की यही एक विशेषता है।

ब—पानी में उगनेवाले कुछ पौधे ऐसे भी हैं जिनमें दो तरह की पत्तियाँ होती हैं—एक साधारण हरी, पतली और चपटी पत्तियाँ जो जल पर तैरा करती हैं और दूसरी सूत-जैसी महीन महीन पत्तियाँ जो पानी के अन्दर रहती हैं (चि० ६)। इन पौधों में शोषण का काम इन पत्तियों द्वारा होता है। इस तरह के पौधों का सैलवीनिया (*Salvinia*) नामक जलपर्णांग उत्तम उदाहरण है। इसकी डोरे जैसी पानी के अन्दर फैली पत्तियों को देख कौन कह सकेगा कि ये रचनाएँ जड़ें नहीं हैं? पर यथार्थ में ये रोमवत् रचनाएँ पत्तियों के रूपान्तर से उत्पन्न हुई हैं।

स—जहाँ जल की कठिनाई रहती है ऐसे स्थानों पर कुछ पौधे उगते हैं, जिनकी पत्तियों पर विशेष भाँति के रोम होते हैं। ये रोम वायु की तरी तथा हल्की फुहारों से, जिनसे भूमि भीगती तक नहीं है, सुगमता से जल ग्रहण कर लेते हैं। ऐसे गुणवाली पत्तियाँ अनन्नास समूह के कुछ पौधों और कुछ उपरिजातमूल पर्णांगों में मिलती हैं।

कीटाशी पौधों की पत्तियों में भी, अन्य विशेषताओं के साथ-साथ, खाद्यरस शोषण करनेवाले रोम होते हैं, परन्तु इस विषय की चर्चा हम आगे चलकर करेंगे।

३—फूलों की तरह पतिंगों को आकर्षित करनेवाली पत्तियाँ

फूलों के पास पतिंगों का मड़राना एक स्वाभाविक बात समझी जाती है, फिर भी सब कोई इसके भेद को नहीं जानते। आगे चलकर हम इस विषय की यथार्थ जाँच करेंगे। यहाँ पर हम केवल यही कह देना चाहते हैं कि पतिंगों को आकर्षित करनेवाली सामग्री में फूल की सुन्दरता मुख्य है और फूल का सौंदर्य उसकी पंखुड़ियों पर निर्भर है। इन्हीं के रूप पर मुग्ध हो पतिंगे फूलों से लिपटे रहते हैं। किसी-किसी पौधे के फूलों में रंगतदार पंखुड़ी नहीं होती और कुछ पौधे ऐसे भी हैं, जिनमें फूल इतने छोटे होते हैं कि उनकी ओर आसानी से कीड़ों का ध्यान नहीं जा सकता। इन दोनों ही दशाओं में फूलों की यह कमी कभी-कभी वृन्तपत्रों (bracts) द्वारा पूरी हो जाती है। ऐसे पौधों के वृन्तपत्र पंखुड़ी की तरह मोहक और रंगतदार होते हैं। लालपत्ता और बागेनविलास (चि० ७) में ऐसे वृन्तपत्र होते हैं। बागेनविलास में तीन-तीन फूल एक स्थान पर निकलते हैं। इन फूलों के वृन्तपत्र ऐसे आपस में मिल जाते हैं कि इनसे फूल की कटोरी का आभास होने लगता है। इन वृन्तपत्रों के कारण जिन दिनों बागेनविलास फलती है, इसकी छटा देखने योग्य होती है।

४—बीज की जगह पौधे की उत्पत्ति का काम करनेवाली पत्तियाँ

कुछ पौधे ऐसे हैं, जिनमें पत्तियों से पौधे उगाये जा सकते हैं। अजूबा इस प्रकृति का एक पौधा है। इसका पत्तियों के चाप-दन्तुर किनारों पर कुछ सूक्ष्म कलियाँ होती हैं, जिनसे सुभीता मिलने पर पौधे उग आते हैं (अं० ६ चि० २)। बिगोनिया में भी पत्तियों से पौधे उगाये जा सकते हैं। किसी किसी पर्णांग में यह क्रिया बड़ी सुन्दरता से होती है। इनकी पत्तियों की नोक झुककर जमीन से जा लगती है और वहाँ पर जड़े फूट आती हैं, जिससे उस स्थान पर नया पौधा उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार पौधे की पत्तियों के चारों ओर फैलने से एक ही समय में कई नये पौधे पैदा हो जाते हैं (चि० ८)। ऐसे पर्णांग को चलते-फिरते पर्णांग कहते हैं।

५—पौधे की रक्षा में भाग लेनेवाली पत्तियाँ

कभी-कभी पत्तियाँ अथवा इनसे उत्पन्न विशेष रचनाएँ

पौधे की रक्षा में सहायक होती हैं। जिस ढंग से यह क्रिया होती है, उसके अनुसार हम इसके तीन भेद मान सकते हैं।

अ—काँटेदार पत्तियाँ, ब—हरकत करनेवाली पत्तियाँ, स—पुंखपत्र और वल्कपत्र।

अ—काँटेदार पत्तियाँ—अनेक पशु पक्षी पौधों को चरते रहते हैं और यदि यह क्रिया बेरोक होती रहे तो सम्भव है कि पेड़-पौधों के लिए बड़ी कठिनाई आ बने। पशुओं के इस आक्रमण से बचने का पौधों में एक उत्तम साधन इनके कोमल अंगों पर काँटों या शूलों का होना है। ऐसे काँटे बहुधा पत्तियों या इनके किसी दूसरे भाग में परिवर्त्तन से बनते हैं। कभी-कभी ये पौधों के दूसरे अंगों के रूपान्तर से भी बनते हैं।

काँटेदार पत्तियाँ बहुतेरे पौधों में होती हैं। करुआ (स्वर्णक्षीर), भटकटइया (कटेरी), रसवत (चि० ६ अ) और ऐकैन्थस इलीसीफोलिअस (*Acanthus ilicifolius*) (चि० ६ ब) इनके कुछ उदाहरण हैं। इन पौधों की कँटीली पत्तियों के चरने का साहस किसी पशु को नहीं होता। हार्याचिंघार की पत्ती की नोक पर एक सूजा-जैसा तीक्ष्ण काँटा होता है, जिसके भय से मवेशी उसके पास नहीं फटकते। नागफनी के काण्डपत्र पर वर्त्तमान शूल (अ० ६ चि० ११, १३) भी पत्तियों का रूपान्तर ही समझे जाते हैं। बबूल और थूहड़ के काँटे (अ० ३ चि० ६) पुंखपत्र का रूपान्तर हैं। सभी भाँति के काँटे, चाहे ये पत्तियों या इनके किसी विशेष अंग अथवा पौधे के किसी भी अंग का रूपान्तर हों, उनके कोमल अंगों की पशुओं से रक्षा करते हैं।

ब—हरकत करनेवाली पत्तियाँ और इनका पौधे की रक्षा से संबंध—छुईमुई की पत्तियाँ हाथ छू जाते ही सिमिटकर संकुचित हो जाती हैं (अं० १, पृष्ठ ३७)। ऐसी दशा में पौधा सिमिटकर बहुत छोटा हो जाता है। कुछ लोगों का अनुमान है कि इस प्रकार से सिकुड़ जाने से वह जानवरों की निगाह से बच जाता है और इसलिए इस हरकत के कारण छुईमुई की रक्षा हो जाने की सम्भावना है। दूसरी बात जो इस सम्बन्ध में याद रखने योग्य है वह यह है कि पौधे की एकाएक ऐसी हरकत से मुमकिन है कि कुछ छोटे-छोटे हानिकारक जीव भयभीत हो हट जाते हों और इस तरह भी छुईमुई इनके आक्रमण से बच जाती हो।

छुईमुई के अलावा कुछ पौधे ऐसे भी देखे होंगे जिनकी पत्तियाँ रात के समय आमने-सामने मुड़ एक दूसरी से चिपट लटक जाती हैं (अं० १ चि० ३)। इसी दशा को हम पौधों का नींद में आ जाना या इनकी सुषुप्तावस्था कहते हैं। यह विशेषता अधिकतर शिम्बी वर्ग (Leuminosae) के पौधों में मिलती है। इन पौधों की पत्तियों के आमने-सामने के पत्रक रात में व अधिक तेज़ धूप अथवा बरसात के समय एक दूसरे से जा मिलते हैं। कुछ लोगों का मत है कि पौधों की इस गति के कारण वाष्प त्याग धीमा पड़ जाता है और वे शीत से भी बचे रहते हैं; परन्तु सच पूछिए तो पौधों की निद्रित अवस्था और ऐसी गति का कोई यथार्थ कारण अभी तक समझ में नहीं आया।

स—वल्कपत्र, पुंखपत्र और वृन्तपत्र—शाखाओं के सिरे पर पौधे के बढ़नेवाले कोमल अंग होते हैं, जिन्हें ऊपर से प्रायः वल्कपत्र ढके रहते हैं। इससे इन अंगों की सर्दी-गर्मी व पाले और कीड़ों-मकोड़ों से रक्षा होती है। वल्कपत्र कई भाँति के होते हैं। किसी-किसी पौधे के वल्कपत्र बहुत जल्द गिर जाते हैं, पर किसी-किसी पौधे में ये चिरस्थाई होते हैं। पतझड़ी वृक्षों के वल्कपत्र नई कलियों की शीत और पाले से रक्षा करते हैं। बहुधा ऐसे वल्कपत्रों पर निर्यास, मोम अथवा गोंद होता है, जिससे रक्षा करने में और भी सुविधा रहती है। वल्कपत्र की तरह प्रायः पुंखपत्र भी कोमल कलियों की रक्षा करते हैं। ये भी चिरस्थाई अथवा शीघ्रपाती होते हैं। इनके और भी कई भेद हैं जो इनकी रचना और कर्त्तव्य से संबंध रखते हैं। बरगद, पीपल, पकरिया-जैसे वृक्षों के

चि० ४—कदलिस्तम्भ के आड़े कत्तल का चित्र। अ—आड़े कटे पत्तियों के अधोभाग।

चि० ६—सेलवीनिया

पुंगपत्र (अं० १०, चि० १० अ) कली के रूप में कोमल पत्तियों को सम्पूर्ण ढके रहते हैं और इन्हें सर्दी-गर्मी व पतिंगों से बचाते हैं।

कोमल अंगों की रक्षा के अतिरिक्त पुंगपत्र और भी कई कर्त्तव्य पालन करते हैं, जिससे इनके कई भेद माने जाते हैं। मटर में ये पत्ती-सरीखे हरे और महीन होते हैं (अं० ३ चि० ७) और कार्बन एसिमिलेशन में भाग लेते हैं। चोपचीनी (अ० १० चि० १० ब) में ये बौंड़ों में परिवर्त्तित हो गए हैं और पौधे को चौंड़ने में काम देते हैं। बबूल और थूहड़ में ये काँटों के रूप में होते हैं और इन्हें पशुओं के आक्रमण से बचाते हैं।

वृन्तपत्र कली की दशा में फूल के कोमल अंगों की रक्षा करते हैं। जिस तरह वल्कपत्र साधारण पत्तियों को कली की हालत में ढके रहते हैं उसी तरह प्रायः वृन्तपत्र फूल की कोमल पंखुड़ियों को जब तक फूल नहीं खिलता मढे रहते हैं। वृन्तपत्र भी कई प्रकार के होते हैं। कीड़ों-पतिंगों को फूल तक खींच लानेवाले वृन्तपत्रोंका हम इस अध्याय में पूर्व ही उल्लेख कर चुके हैं। फूल के प्रकरण में हम इस विषय की विशेष चर्चा करेंगे।

परजीवी तथा मृतभोजी पौधों के रंगहीन वल्कपत्र भी किसी अंश में पौधे की रक्षा करते हैं।

६—खाद्य पदार्थ और जल के संचय का काम करनेवाली पत्तियाँ

वैसे तो पत्तियाँ खाद्य-पदार्थ संचित होने योग्य अंग नहीं हैं; क्योंकि एक तो ये पौधे का स्थाई अंग नहीं, दूसरे, यदि इनमें उपार्जित द्रव्य संचित हो जाय तो पौधों की जीवन-व्यापारिक क्रियाएँ धीमी पड़ जायँ। फिर भी किसी-किसी पौधे की पत्तियों में खाद्य-पदार्थ संचित होते हैं। इस प्रकृति के पौधों में यह क्रिया कई ढंग से होती है।

अ—प्याज़, लहसुन, नरगिस की गाँठें पत्तियों में परिवर्तन से ही बनती हैं। इन पौधों की पत्तियों के अधोभाग में, जो इनमें चिरस्थाई अंग होते हैं, खाद्य-पदार्थ जमा हो जाते हैं, जिससे वे दलदार और मोटे हो जाते हैं (अ० ३ चि० ८)।

ब—किसी किसी पौधे में संचय का काम अजीब ढंग से होता है। यथार्थ में ऐसे पौधों में दो तरह की पत्तियाँ होती हैं—एक हरी और लम्बी-चौड़ी साधारण पत्तियाँ, दूसरी चौड़ी पर छोटी पत्तियाँ। दूसरी भाँति की पत्तियाँ पौधे के निचले भाग में ही होती हैं। यह विशेषता कुछ उपरिजातमूल पर्णाङ्गों में मिलती है। अन्य वृक्षों की शाखों पर उगने के कारण इस प्रकृति के पौधों को ज़मीन से मिलनेवाली वस्तुओं की कमी रहती है। साधारण पौधों को ऐसी वस्तुएँ खादों से मिलती हैं। इस प्रकृति-वाले पौधों का खादें जमा करने का ढंग बड़ा ही अद्भुत है। जैसा अभी कह चुके हैं, इनमें साधारण पत्तियों के अलावा कुछ छोटी पर चौड़ी पत्तियाँ होती हैं, जो पौधों के निचले भाग में होती हैं। यथार्थ में ये दूसरी भाँति की पत्तियाँ जिन पेड़ों पर ऐसे उपरिजातमूल पौधे उगते हैं उनके तनों और डालों से सटी रहती हैं। इन्हीं पत्तियों पर कूड़ा-कबाड़ा और पेड़ से झड़-झड़कर
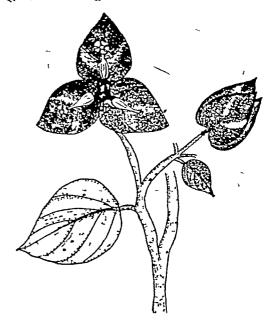
चि० ७—बोगेनविलास
गहरे रंग की पत्रवत् रचनायें वृन्तपत्र हैं।

चि० ८

एक विशेष जाति का चलता-फिरता पर्णाङ्ग।
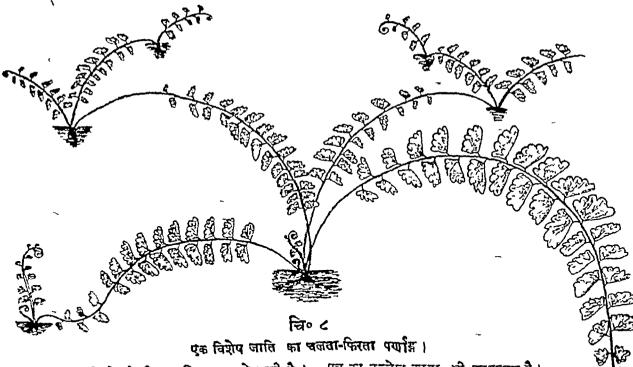
पत्तियाँ तथा चिड़ियों की बीट आदि इकट्ठा हो जाती है। बरसात के जल के साथ भी, जो इन वृक्षों की डालों से बहकर नीचे को जाता है, बहुतेरे खाद्य-पदार्थ बहकर यहाँ जमा हो जाते हैं। इन पत्तियों पर जमा वस्तुओं को उनकी जड़ें सरलता से शोषण करती हैं। इस प्रकार इस प्रकृति के उपरिजातमूल पौधों में भूमि से मिलनेवाले खाद्य-पदार्थों का सवाल बड़ी सुन्दरता से हल हो जाता है।

स—कुछ पौधों की पत्तियों में जल संचित रहता है। यह विशेषता अधिकतर मरुभूमि के पौधों में मिलती है। इन पौधों में जलसंचय-तन्तु होता है। वाष्पत्याग के अध्याय में हम इसकी पहले ही चर्चा कर चुके हैं।

बीजपत्र

निराली पत्तियों के विषय की जाँच करते समय बीज-पत्र का उल्लेख करना भी आवश्यक है। ये रचनायें प्रायः साधारण पत्ती से भिन्न होती हैं और इनका बीज से ही संबंध रहता है। प्रत्येक जाति के बीज में ऐसी पत्तियों की संख्या जाति के अनुसार एक, दो व इससे अधिक होती है।
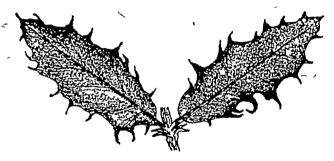
किसी-किसी पौधे के बीजपत्र साधारण पत्तियों की भाँति महीन और चौड़े होते हैं, परन्तु अधिकतर पौधों में वे दलदार और मोटे होते हैं (चि० १०)। प्रायः इनमें खाद्य-पदार्थ संचित रहते हैं, जिसकी जाँच हम प्रयोगों से कर सकते हैं। चने, मटर, उरद, मूँग आदि की दालें, जो हमारे खाने में काम आती हैं और दूसरे बीज स्टार्च, प्रोटीन अथवा तेल व वसा से भरे रहते हैं। पौधों में ये वस्तुएँ भूमि के जल तथा नमकों और वायु की कार्बन के मेल से उपार्जित होती हैं और प्रायः उनके बीजों में ही जमा रहती हैं। जिस समय बीज उगते हैं यही पदार्थ

चि० ९—(ब) एकैन्थस इलीसिफोलियस पत्ती की धार पर काँटे होते हैं।

चि० ९—(अ) रसवत काँटे पत्तियों का रूपान्तर हैं।

चि० १०—बीजोद्भेद (चित्र—श्री डी० एस० कमठान द्वारा) ।

काम आते हैं। जिस ढंग से ये संचित द्रव्य पौधों के काम आते हैं, हम आगे चलकर बीज के प्रकरण में बयान करेंगे।

पौधे के दूसरे अंगों का पत्रवत् कार्य तथा रूपान्तर
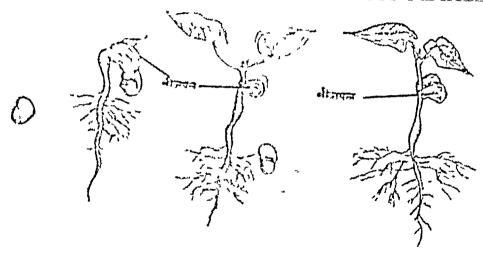
जिन पौधों में साधारण पत्तियाँ नहीं होतीं, या होती भी हैं तो अत्यन्त छोटी, उनमें पत्तियों की क्रिया किसी दूसरे अंग-द्वारा होती है। नागफनी तथा रसकस के काण्ड-पत्र तथा किसी-किसी आर्किड की जड़ें पत्तियों के कर्त्तव्य पालन करती हैं। शतावर में भी साधारण पत्तियों की जगह काग़ज़ी वल्कपत्र होते हैं और शाखें हरी होती हैं। यही पत्ती का काम करती हैं। कुछ बबूल की जाति के वृक्षों की पत्तियों में साधारण फलक नहीं होते, परंतु इनके डंठल चौड़े और पत्ती-जैसे होते हैं (अं० १२ चि० १)। इन वृक्षों में यही डंठल साधारण पत्ती के काम करते हैं। जैसा आपको स्मरण होगा इन वृक्षों में पहिले साधारण बबूल की जाति के वृक्षों की तरह संयोजित पत्तियाँ निकलती हैं, परंतु धीरे-धीरे ऐसी पत्तियों का निकलना बंद हो जाता है और पत्तियों के फलक की जगह उनके डंठल चौड़े और पत्रवत् होने लगते हैं। अन्त में साधारण पत्तियों का निकलना बिल्कुल ही बंद हो जाता है और ऐसी रूपान्तरित पत्तियाँ ही निकलती हैं (चि० ११)।

चि० ११—एक बबूल के जाति के पेड़ की टहनी—पत्रवत् रचनाएँ साधारण पत्तियाँ नहीं हैं। ये नाल पत्र (Phyllodes) हैं। (फ़ो०—श्री डी० एस० कमठान द्वारा)

निराली पत्तियों के विवरण पर विचार करने से हम देखते हैं कि परिस्थिति और प्रयोजन के अनुसार पौधों के अंगों की रचना और बनावट में बड़े-बड़े परिवर्त्तन उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी पौधे का एक ही अंग भिन्न-भिन्न कर्त्तव्य पालन करता है। ऐसी दशा में कोई आश्चर्य्य की बात नहीं कि उसे भिन्न-भिन्न रूप धारण करने पड़ते हैं। कभी-कभी एक ही क्रिया जुदा-जुदा पौधों में अन्य अन्य अंग द्वारा होती है। ऐसे अंगों में समरूपता होना भी स्वाभाविक बात है। उदाहरण के लिए हम बौंड़ों को ही ले सकते हैं। यद्यपि देखने में बौंड़े एक-सरीखे जान पड़ते हैं, परन्तु इनकी असली दशा में प्रायः बड़ा अन्तर मिलता है। इस तरह, अंगूर तथा कद्दू-लौकी के बौंड़े तने का रूपान्तर हैं, परन्तु मटर व वनचटरी में ये पत्तियों के परिवर्त्तन से बनते हैं। जो अंग देखने और कर्त्तव्य-पालन में एक-जैसे होते हैं, परन्तु असलियत में भिन्न भिन्न, उन्हें औपम्य अंग (analogous organs) कहते हैं। कभी-कभी एक ही अंग के कार्य्य के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप मिलते हैं। ऐसी रचनाओं में रूप और कर्त्तव्य में विभिन्नता होने पर भी अन्तराकृतिक समानता रहती है। इन्हें हम समश्रेणी अंग homologous organs कहते हैं। बबूल व थूहड़ के काँटे, वनचटरी की पत्रवत् रचनायें तथा चोब-चीनी के बौंड़े समश्रेणी अंग हैं। ये रचनायें इन पौधों में पुंखपत्र का रूपान्तर हैं। इसी तरह रसकस व नागफनी के कांडपत्र, आलू, ज़मींकन्द और अदरक तथा हल्दी की गाँठें भी समश्रेणी अंग हैं। ये वस्तुएँ तने का रूपान्तर हैं।

जानवर कितने समय तक जीवित रहते हैं ?

यह जगत् नश्वर है। यहाँ आदि के बाद सभी का अन्त आता है। पेड़-पौधे, जीव-जन्तु, नदी-नाले, चाहे जिस ओर निगाह दौड़ाइए, सारी सृष्टि नाशवान् ही दीख पड़ती है। यहाँ जो आता है, उसे कुछ समय में चला भी जाना पड़ता है। अन्त तक न कोई पहुँच सका है और न पहुँच ही सकेगा। भाँति-भति के जीव इस पृथ्वी पर जन्म लेते हैं और मर जाते हैं। हाथी घोड़े, पक्षी, कीट-पतिंगे सभी जन्म लेकर एक ही लक्ष्य अर्थात् मृत्यु की ओर बढ़ते हैं। किन्तु लक्ष्य तक पहुँचने में किसी को कम समय लगता है, किसी को अधिक। इसी बात का जानना बड़ा मनोरंजक है कि किस जीव को इस लक्ष्य तक पहुँचने में कितना समय लगता है। इसके जानने से हमको केवल आर्थिक लाभ ही नहीं होता, वरन् कुछ और उपयोगी बातें भी मालूम हो जाती हैं। इन्हीं का उल्लेख इस लेख में किया गया है।

बन्दी किये जाने से पशुओं की आयु घटती है अथवा बढ़ती है ?

भिन्न-भिन्न जानवर कितने समय तक जीवित रहते हैं, यह वैज्ञानिकों और साधारण लोगों, दोनों ही के लिए एक मनोरंजक विषय है, किन्तु जानवरों की ठीक-ठीक आयु बतलाना सहज नहीं है। मावन जाति की ठीक आयु का पता तो हमें इस प्रकार लगता है कि जब किसी स्त्री या पुरुष का जन्म होता है तो उसके जन्म की तारीख़ सरकारी या म्युनिसिपिल रजिस्टरों में दर्ज कराई जाती है और उसकी मृत्यु की तारीख़ भी इसी प्रकार लिख ली जाती है जानवरों की दुनिया में ऐसा कोई नियम नहीं है। किसी-किसी जीव की आयु का अनुमान उनके शरीर के कुछ भागों की रचना से हो जाता है। पालतू जानवरों ही की उम्र हम ठीक से जानते हैं; परन्तु कुछ ऐसे जानवरों की उम्र का भी हिसाब रक्खा गया है जो मनुष्य के प्रति अपनी उपयोगिता अथवा विचित्रता के कारण प्रसिद्ध हैं और जिन्हें लोग अजायबघरों में या निजी जन्तु-शालाओं में पालते हैं। इसलिए हमें बहुत से घुड़दौड़ जीतनेवाले घोड़ों, बहुमूल्य मवेशियों और ख़ानदानी कुत्तों की अवस्थाओं का भी कुछ ज्ञान है; किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि ये मनुष्य द्वारा पाले गए जीव यदि स्वतत्र होते तो उनकी स्वतन्त्रता का उनके जीवन-काल पर क्या प्रभाव पड़ता। इसका हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि बन्दी किये जाने से पशुओं की उम्र घटती है अथवा बढ़ती है। यह अवश्य है कि जब कोई जीव मनुष्य के निरीक्षण में आ जाता है तो उसको केवल प्राकृतिक शत्रुओं से ही रक्षा नहीं मिलती वरन् अकाल, सूखा आदि विपत्तियों से भी वह बचा रहता है और कभी कभी उन बीमारियों से भी बच जाता है जो साधारण दशा में उसके जीवन के अत का कारण बन जातीं। साथ-ही-साथ यह भी कहा जा सकता है कि उनका जीवन स्वाभाविक न रहने से उनका स्वास्थ्य और आयु पर उल्टा प्रभाव पड़ता है। कुछ दशाओं में मनुष्य की रक्षा से जानवरों की आयु अधिक होती है, तो कुछ में घट भी जाती है।

यह निश्चय है कि जगली अवस्था में अधिकतर जीव बूढ़े होने पर जल्दी ही किसी अत्याचार के कारण मृत्यु को प्राप्त होते हैं। कवच के ज़रा भी कमजोर पड़ने या शस्त्रों (सींग, पंजे आदि) के गिर जाने या प्रतिक्रिया के मन्द हो जाने से वे जीव जीवन के युद्ध-क्षेत्र से बाहर ढकेल दिये जाते हैं अथवा उनके सदा चौकन्ने रहनेवाले शत्रु उन्हें अपना शिकार बना लेते हैं। इसलिए ऊँचे दर्जे के अधिकतर जंगली जीव ज़बर्दस्ती की मौत से मरते हैं, शायद ही कोई वृद्धावस्था तक पहुँच पाता है। आराम की जिन्दगी बिताने के दण्डस्वरूप बुढ़ापे के दुख और यंत्रणाएँ मनुष्य और उसके पाले हुए जानवरों के ही भाग्य में पड़ी हैं। इसलिए यदि कोई पालतू तोता ८०

जीता रहता है तो हमको यह न समझना चाहिए कि वह वन में रहते हुए भी उतनी ही आयु प्राप्त करता। फिर भी बन्दी जीवों के आलेखों से पशुओं की आयु पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है और उनकी जीवन-अवधि के विषय में प्रचलित बहुत से भ्रम दूर हो जाते हैं।

पत्थरों में दादुर

छोटी जाति के मेढक या दादुर के विषय में बहुत-सी किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं कि वे पेड़, कोयले या पत्थर में दब या गड़कर बिना खाये-पिये हज़ारों वर्ष तक उनमें क़ैदी बने रहते हैं। इसका एक अच्छा उदाहरण यह है। कहा जाता है कि एक समय किसी किसान को एक औसत क़द का ज़िन्दा मेढक ज़मीन में ४ फ़ीट की गहराई पर एक बड़े पत्थर में गड्ढे के भीतर बैठा मिला था। यह पत्थर इतना कड़ा था कि कुदाली से भी सहज में नहीं काटा जाता था। मेढकों के बारे में जितनी भी कथायें सुनी गई हैं उनमें सबसे अच्छी यही है और ऐसा कोई कारण भी नहीं है कि यह वर्णन गलत समझा जाय, किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उस किसान ने मेढक को जिस अवस्था में पाया उसका बिल्कुल सही अवलोकन किया। इसी तरह का क़िस्सा एक पत्थर की खान के बारे में भी प्रसिद्ध है, जिसकी भौगर्भिक आयु पृथ्वी पर मेढकों और दादुरों के विकास होने से भी पहले की मानी जाती है।

मेढकों का स्वभाव होता है कि वे सर्दी पड़ने पर पानी के किनारे को छोड़कर ऐसे निर्जन स्थानों की खोज में लग जाते हैं जहाँ वे पाले से बचे रहें और भूखे शत्रुओं की दृष्टि से ओझल होकर चुपचाप पड़े रहें। वे काई जमे हुए तटों पर सूराख़ों में छिप जाते हैं अथवा पुराने पनालों में घुस जाते हैं या उखड़े हुए पत्थर और मिट्टी के ढेलों के बीच के टेढ़े-मेढ़े रास्तों में शरण लेते हैं, और कभी-कभी वे तालाब के किनारे मिट्टी के भीतर घुसकर समाधि लगा जाते हैं। वहाँ बेचारे मेढक अपनी सारी क्रियाओं को त्यागकर मुँह, नाक और आँखों को बन्द किये हुए बिना खाये-पिये अचेत-से पड़े रहते हैं। अपनी खाल द्वारा वे साँस लेते रहते हैं, उनकी हृदय-गति भी बहुत मन्द हो जाती है। वसन्त-आगमन पर उनमें फिर से फुर्ती आ जाती है और वे अपने गुप्त स्थानों से बाहर आकर खाने-पीने, कूदने-फुदकने लगते हैं। लेकिन ठंडक अचानक ही यदि इतनी बढ़ जाय कि उनके छिपने के गर्म स्थानों में भी उनका रक्त जम जाय तो वे वहीं सोते के सोते ही रह जाते हैं।

यह जानते हुए हमको उपर्युक्त किसान के क़िस्से को समझने में कोई अधिक कठिनाई नहीं मालूम पड़ती। ऐसा हो सकता है कि जो मेढक उसे मिला वह किसी छिद्र द्वारा सर्दी की मौसम बिताने के लिए उस पत्थर में पहुँच गया और उसके घुसनेवाला रास्ता एक-आध रोड़े आ जाने से बन्द-सा हो गया, किन्तु उसमें कुछ हवा जाती रही। इसीलिए वह जीवित बना रहा, पर रास्ता बन्द हो जाने से वह बाहर भी न निकल सका। यह जाँच की गई है कि मेढक और दादुर दो एक साल बिना खाये हुए भी सहज में जीवित बने रहते हैं; परन्तु यदि उन्हें मकड़ी-से कीड़े मिलते रहें तो वे और अधिक समय काट सकते हैं।

कुछ प्राणियों की आयु

पालतू जानवरों के अलावा किसी विशेष जन्तु के जीवन-काल का ठीक ज्ञान प्राप्त करना कठिन है; किन्तु कई प्रकृतिवादियों—प्रोफ़ेसर ई० कौरशेल्ट, सर पी० सी० माइ-चेल और मेजर स्टैन्ली फ़्लावर—ने बहुत-से पालतू और जंगली जानवरों की आयु के विषय में खोज की है और उन्हीं के विवरणों के अनुसार कुछ साधारण प्राणियों की आयु हम नीचे दे रहे हैं—

नाम	वर्ष	नाम	वर्ष
ह्वेल	४००-५००	चकवा	३०
खाद्य कछुआ	३००-४००	घोड़ा	२७
पाइक मछली	२००	गाय	२५
मगर	१००	सुअर	२५
हाथी	१००	मोर	२४
बाज़	१००	सारस	२४
राजहंस	१००	कबूतर	२०
कौआ	१००	बुलबुल	१८
सामन मछली	१००	लावा	१८
बगुला	६०	बकरी	१५
तोता	६०	कुत्ता	१५
बाम मछली	६०	तीतर	१५
हंस	५०	महूका	१५
गिद्ध	५०	मुर्ग़ी	१४
अबाबील	५०	बिल्ली	१३
सिंह	४०	भेड़	१२
चिम्पान्ज़ी	४०	लाल मुनिया	१२
ऊंट	४०	ख़रगोश	५-७
ओरैंग	४०	फुदकी चिड़िया	३
गौरैया	४०	घरेलू चूहा	२॥

डील और आयु में सम्बन्ध

उपर्युक्त सूची देखने से विदित होता है कि सबसे लम्बी आयु स्तनपोषी वर्ग की ह्वेल मछली की होती है, जो जीवों में सबसे बड़ी और भारी होती है। इनमें से कोई-कोई २६-२७ गज या उससे भी अधिक लम्बी होती है। ग्रीनलैंड की ह्वेल का वजन लगभग ४२०० मन तक पहुँचता है और उसकी लम्बाई ८० फ़ीट होती है। रोरक्वाल या बेलीना ह्वेल ग्रीनलैंड की ह्वेल से भी लम्बाई-चौड़ाई में बड़ी होती है। चिटगाँव बन्दरगाह के किनारे एक रोरक्वाल आ पड़ी थी, जिसकी लम्बाई ६० फुट और शरीर का घेरा ४२ फ़ुट था। हिन्द-महासागर में इस जाति की कोई-कोई ह्वेल पूरे १०० फ़ीट की भी मिली हैं। इससे यह कहा जा सकता है कि डील और आयु में कुछ सम्बन्ध है। छोटी मशीन की अपेक्षा बड़ी मशीन को घिसने बिगड़ने में ज्यादा देर लगती है।

अपने डील के लिए स्तनपोषियों में मनुष्य सबसे अधिक जीनेवाला प्राणी है और उसके बाद गौरिल्ला, ओरैंग और चिम्पाञ्जी जैसे वन-मानुषों का नम्बर है। चिम्पाञ्जी और ओरैंग को पकड़कर जीवित रखना कुछ समय पहले एक असम्भव काम था, लेकिन हाल ही में मनुष्य ने उन्हें बन्दी रखकर वर्षों तक जीवित रखने में सफलता प्राप्त की है और कोई-कोई चिम्पाञ्जी या ओरैंग ४०-५० वर्ष तक अजायबघरों में जीवित रहे हैं। फ़िलाडेलफ़िया की जन्तु-वाटिका में एक चिम्पाञ्जी था जो अपनी जाति के पालतू प्राणियों में सबसे बूढ़ा था। वह सन् १६३१ में इस वाटिका में लाया गया था और ३६ वर्ष की अवस्था प्राप्त करके सन् १६३५ में मर गया। इस समय से पहले कभी पकड़े हुए चिम्पाञ्जियों के बच्चे न हुए थे और यह चिम्पाञ्जी इसीलिए प्रसिद्ध है कि वह पकड़े हुए चिम्पाञ्जियों में सबसे पहले बच्चे का बाप बना। पकड़े हुए बन्दर अक्सर १५ वर्ष के बाद भी जीवित रहे हैं। यह देखा जाता है कि प्रधानभागीयों से नीचे चलकर शरीर ज्यों-ज्यों छोटे होते जाते हैं त्यों-त्यों प्राणी प्रौढ़ता और मृत्यु को जल्दी प्राप्त कर लेते हैं। भारतीय मामूली बंदर बैबून के मुक़ाबले में जल्दी बूढ़ा हो जाता है, क़िन्तु अपने से छोटे अमेरिका के मारमूसा बंदर से अधिक आयु प्राप्त करता है। किंतु कुछ उदाहरण इसके विरुद्ध भी मिलते हैं। प्रत्येक नियम अपनी विरुद्ध बातों से ही सिद्ध
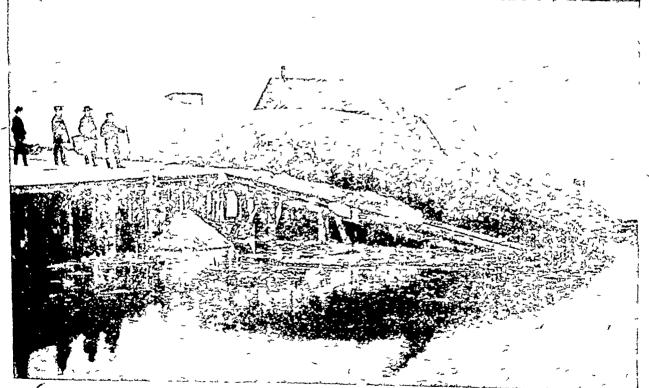
बेलीना नामक ह्वेल मछली, जो संसार के वर्तमान प्राणियों में सबसे बड़े डील-डौलवाला जीव है। चित्र में समीप खड़े आदमियों के डील से तुलना कीजिए। इसकी उम्र ४०० या ५०० वर्ष तक भी पहुँचते पाई गई है।

होता है। अमेरिका के समशीतोष्ण कटिबन्ध में पाया जानेवाला गिद्ध अपने बराबर के सब बन्दरों से कहीं अधिक समय तक अर्थात् ४० वर्ष तक जीता रहता है। ऑस्ट्रेलियावासी नीची श्रेणी के स्तनपोषी एकिडना और चींटाहारी भी ४० वर्ष से ऊपर जीते हैं। कहा जाता है कि वे उरगमों से इतने मिलते जुलते हैं कि आयु और डील में जो सम्बन्ध अन्य स्तनपोषियों में बतलाया गया है वह इनमें लागू नहीं होता।

हाथी के बारे में आम लोगों का विश्वास है कि वह कई सौ वर्ष जीवित रहता है और इस विषय के बहुत से किस्से हैं, किन्तु वे विश्वास के योग्य नहीं हैं। दस वर्ष का हो जाने पर हाथी बच्चा देने लगता है और कभी कभी वह सौ वर्ष पार कर लेता है लेकिन अधिकतर ५० वर्ष के बाद उसमें बुढ़ापे के चिह्न प्रगट होने लगते हैं। गैंडा और दरियाई घोड़ा ४० वर्ष की उम्र तक जवान बने रहते हैं और सन्तान उत्पन्न करते हैं। ऊँट से ३० साल तक कड़ी मेहनत कराई जा सकती है। पालतू घोड़े और बड़ी जाति के घरेलू मवेशी भी ३०-४० साल तक जीते रहते हैं। मनुष्य का विश्वसनीय साथी कुत्ता ११-१२ वर्ष में बिल्कुल बूढ़ा हो जाता है, लेकिन एक कुत्ते के बारे में लिखा है कि वह ३४ वर्ष तक ज़िन्दा रहा था। बिल्ली बहुधा १० साल तक जीती है और कभी-कभी २० वर्ष की आयु तक पहुँच जाती है। मेशनीकाफ साहब के पास एक बिल्ली थी, जो २३ वर्ष के बाद मरी थी। वह उसे खट्टा दूध और मट्ठा पिलाया करते थे, क्योंकि उनका विचार था कि खट्टा दूध उम्र बढ़ाने की एक औषधि है।

पशु-और पक्षियों के भोजन का आयु पर प्रभाव

बिल्ली, भालू, समुद्री शेर और सिंह अपने डील के अनुसार १५ से ४० वर्ष तक जीवित रहते हैं। बिल्ली-वंश का सबसे अधिक जीनेवाला प्राणी शेर ही है। बराबर के डीलवाले स्तनपोषियों में मांसाहारियों की अपेक्षा शाकाहारी अधिक आयु प्राप्त करते हैं। फल खानेवाले चमगादड़ से लोमड़ी दुगनी बड़ी होने पर भी उम्र में उसकी आधी ही होती है। मामूली कीटाणु भक्षी चमगादड़ और सर्व-भक्षी चूहे की उम्र बराबर होती है।

किन्तु चिड़ियों में इसका-उल्टा होता है। बहुत-सी
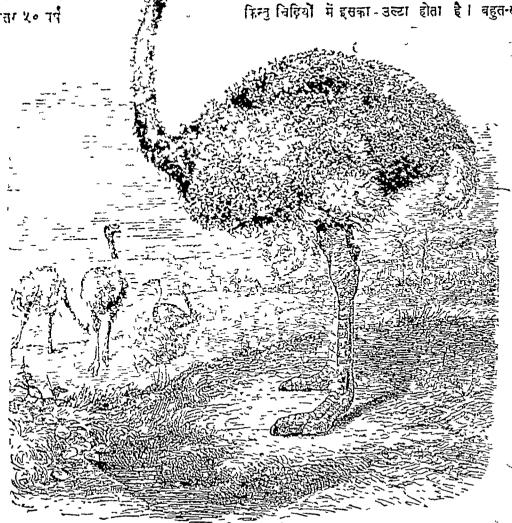
शुतरमुर्ग, जो पक्षियों में सबसे बड़े डीलवाला प्राणी है, अपने भारी डील के बावजूद अपने से छोटे क़द के मांस खानेवाले साधारण गिद्ध से कहीं कम आयु प्राप्त करता है।

मुर्दे खानेवाली चिड़ियों की आयु बहुत लम्बी होती है। ८ फ़ीट ऊँचे और २॥ मन बोझवाले शुतरमुर्ग़ की उम्र उससे कहीं छोटे मास खानेवाले गिद्ध से कम होती है। अत्यन्त गतिशील जीवन व्यतीत करने पर भी बहुत सी चिड़ियों की उम्र लम्बी होती है। कौआ, बाज और कभी-कभी तोते और उल्लू भी १०० वर्ष बिताकर मरते हैं। कहा जाता है कि उत्तरी योरप का बड़ा उल्लू बन्दी रहने पर भी ६८ वर्ष से अधिक जिया है और बहुत-से तोते तथा काकातूए इससे भी अधिक जीते रहे हैं। इस बात के आलेख मौजूद हैं कि हंस ८०, सारस ७०, उल्लू ६० और कबूतर ५० वर्ष तक जीते रहते हैं। तोतों की लम्बी उम्र का अन्दाज उनकी चोंच, चगुल और परों की कमी से हो जाता है।

उरगमों में सबसे अधिक जीनेवाला कछुआ है

उरगमों की आयु-अवधि के बारे में कुछ और ही प्रश्न उठते हैं। मछलियों और मंडूकों की तरह अपने बचपन में वे भी तेज़ी से बढ़ते हैं, किन्तु युवावस्था प्राप्त करने पर उनकी बाढ़ की गति मन्द हो जाती है, यद्यपि वह जन्म भर क़ायम रहती है। ये कायर और आलस्यमय जीवन व्यतीत करनेवाले प्राणी बड़े डील और बड़ी आयु को प्राप्त करते हैं। उनमें से किसी-किसी की उम्र इतनी ज्यादा होती है कि साधारणतः सुनकर विश्वास नहीं होता। लार्ड रौथ्सचाइल्ड ने अपने विख्यात अजायबघर में कई विशालकाय कछुए पाले थे। इनमें से एक, जो शैगस द्वीपसमूह से लाया गया था, ६।। मन भारी था और ३०० वर्ष से ऊपर जीता रहा था। अन्य कई २०० वर्ष की अवस्था में भी जिन्दा थे। कहा जाता है कि सेंट हेलीना के टापू में एक कछुआ अभी तक मौजूद है जो उस समय भी उतना ही बड़ा था, जब वहाँ फ्रांस का प्रसिद्ध वीर नैपोलियन बन्दी था। दक्षिणी अमेरिका से लगभग ५०० मील दक्षिण-पश्चिम की ओर और कोस्टारिका से ६०० मील दक्षिण विषुवत् रेखा पर गलापैगोस नामक एक द्वीप-समूह है। यहाँ थल वासी बड़े कछुओं की एक जाति पाई जाती है, जिनकी संख्या अब बहुत कम रह गई है। ये कछुए समुद्री जल में बिल्कुल ज़िन्दा नहीं रह सकते। कोई नहीं जानता कि वह इन टापुओं में पहुँचे कैसे! इनकी सबसे मनोरंजक बात इनके डील और आयु के बारे में है। एक मनुष्य ने, जिसने

गलापैगोस द्वीप-समूह का निवासी एक भीमकाय स्थलवासी कछुआ

प्राय. ३। मन वज़न और १। गज़ लंबे पाए गए हैं और इनमें से कई की आयु १५० से ३०० वर्ष तक रही है।

समुद्र के तट पर रहनेवाला केकड़ा
जो पूर्ण रूप से तीन वर्ष में बढ़ पाता है और इस बीच १७ बार अपनी खाल बदल डालता है।
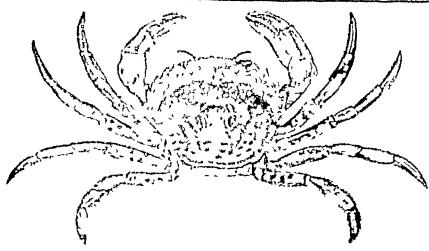
दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ये वृहत्काय जन्तु इतने दिनों तक जीवित रहते हैं कि स्वाभाविक, मृत्यु उनके लिए कठिन हो जाती है। सन् १७६६ में सिचेलीज़ टापू से ऐसे ही पाँच कछुये मौरीशस द्वीप में लाये गये थे। उनमें से एक १६०१ ई० में ज़िन्दा था जिसका उल्लेख डाक्टर गैडो ने किया है। "यद्यपि वह क़रीब क़रीब अन्धा था तो भी उसका स्वास्थ्य अच्छा था। उसकी पीठ की लम्बाई १ गज़ से ऊपर थी और वह उस पर दो आमदियों को लादकर ले जा सकता था। कछुओं के जीवन के सुस्त ढंगों के लिए यही उपयुक्त है कि उनमें से बहुतेरे बड़ी उम्र तक जियें। जिस प्रकार उनके बूढ़े होने की गति धीमी है उसी प्रकार मरने में भी वे सुस्त हैं।"

सबसे पहले उनका पता लगाया था, लिखा है कि वे अपनी पीठ पर आदमियों को बैठाकर ले जा सकते हैं। वे लगभग १। गज़ लम्बे और ३॥ मन भारी होते हैं। डार्विन साहब ने स्वयं इन टापुओं में जाकर उन्हें देखा था। उनका लिखना है कि उनमें से एक बड़े जीव को ६ गज़ प्रति मिनट की गति से अर्थात् दिन में लगभग ४ मील चलते देखा गया। ये धीरे चलनेवाले जीव जब प्यासे होते हैं तो पानी की खोज में दूर-दूर तक चले जाते हैं। चूंकि उनका गोश्त स्वादिष्ट होता है और चर्बी से निकलनेवाले तेल के अच्छे दाम मिलते हैं इसलिए लोगों ने उन्हें मारकर कम कर डाला और कुछ पकड़कर अजायबघरों में भी ले जाये गये। इसी कारण अब ये कछुये किसी-किसी टापू में तो बिल्कुल ही नहीं रह गये हैं और किसी में दो-चार ही बाक़ी हैं। इन अद्भुत कछुओं में से एक का चित्र इसी लेख के साथ दिया गया है।

दो मनुष्यों को पीठ पर लाद ले जानेवाला कछुआ

ये बड़े कछुये १५० वर्ष तक तो अवश्य ही जीते हैं, लेकिन उनके लिए ४००-५०० वर्ष की भी अवधि बतलाई जाती है। किंतु हमको इसमें कुछ सन्देह है। हाँ, यह कहना कि जीवन की लम्बाई में कछुये अन्य जानवरों से बाज़ी मार ले जाते हैं कुछ अनुचित न होगा। डार्विन साहब ने लिखा है कि बूढ़े हो जाने पर ये कछुये किसी दुर्घटना से ही मर जाते हैं। गलापैगोस द्वीप के निवासियों ने उन्हें बतलाया कि उन्हें कभी कोई ऐसा मरा कछुआ न मिला, जिसकी मृत्यु का कारण प्रत्यक्ष न हो।

प्राप्य लेखों से विदित होता है कि हर तरह के मगर और घड़ियाल ४० वर्ष की अवस्था में पूर्ण रीति से प्रौढ़ हो जाते हैं। यही बात बड़े साँपों के लिए भी कही जा सकती है। सर्प भी धीरे-धीरे ही मृत्यु को प्राप्त करते हैं। किन्तु कौन साधारण मनुष्य ठीक-ठीक कह सकता है कि काला नाग कितने वर्षों तक जीता रहता है। जल-स्थलचरों के बारे में जो लेख मिलते हैं उनसे पता चलता है कि जापान का महाकाय समन्दर (Salamander), जो ५ फ़ीट तक लम्बा होता है, अर्द्धशताब्दी तक जीवित रह सकता है। भेंक के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वह शताब्दियों तक जीवित रहता है लेकिन यह ग़लत है। वह घोड़े के ही बराबर (२५–४० वर्ष) ज़िन्दा रहता है। कुछ इंच की लम्बाई वाले न्यूट पानी में पालने पर २५ वर्ष से भी अधिक जीवित रहे हैं, लेकिन साधारणत उनकी आयु १५ साल की मानी जाती है और वृक्षवासी मेढकों की १० वर्ष।

मछलियों की आयु का पता लगाना

मछलियों में पाइक, सामन और कार्प शताब्दियों तक जीनेवाली कही जाती हैं। मछलियों के डील के बारे में जिस प्रकार बहुत-सी गप्पें हाँकी गई हैं उसी प्रकार उनकी अवस्थाओं के बारे में भी मछुओं में बहुतेरी कपोल-कल्पित कथायें प्रचलित हैं। इसकी एक उत्तम कहानी यह है। एक देहाती मछुवे ने एक बार एक पाइक मछली पकड़ी

सागर के रंग-बिरंगे कुसुमवत् प्राणी—समुद्री एनीमोन

जिनके संबंध मे पिछले अंक में विस्तृत विवरण दिया जा चुका है। ये गुलदावदी, डहेलिया, सूर्यमुखी और गेंदे के फूलो की तरह अपनी मनोहर पंखड़ियो को फैलाए दिखाई पड़ रहे रंग-बिरंगे जीव ससार के समस्त सागरों मे बिखरे हुए हैं। इनकी यथार्थ आयु कितनी होती है, यह हम निश्चयपूर्वक नहीं बता सकते, किन्तु कुछ जल-जंतु-सग्रहालयो मे ६० वर्ष तक जीवित रहते पाए गए हैं।

जापान का महाकाय समंदर (Salamandar)

यह लंबाई में ५ फीट तक पहुँचते पाया गया है और लगभग ५० वर्ष तक जीवित रह सकता है। इसके अजीब काले बदन, शिकनदार चमड़ी और चपटी दुम पर ध्यान दीजिए। जापानी लोग इसे शौक से खाते हैं।
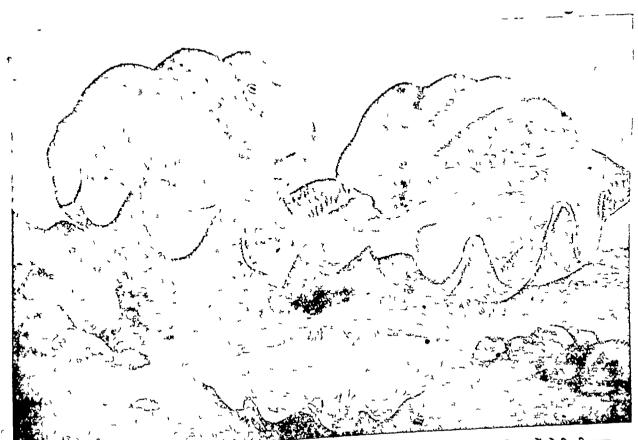
घोंघा वंश के प्राणियों में क्लैम नामक बड़ी सीप साठ सौ वर्ष तक जीवित रहती है। इस चित्र में ऐसी ही कुछ सीपों के बृहत् आकार के छिलके दिखाई दे रहे हैं, जो ३ फीट से १० फीट तक चौड़े पाए जाते हैं।

और उसकी उम्र गई सौ वर्ष बतलाई, क्योंकि उसके पेट में एलिज़बेथ के काल का एक सिक्का मिला था। न जाने यह सिक्का मछली के पेट में कब और कैसे पहुँचा हो। उससे मछली की आयु से क्या सम्बन्ध ? प्लेस मछली के ३७ साल तक पहुँचने के लेख मौजूद हैं। बाम मछली के बारे में कहा जाता है कि वे १० अथवा २० वर्ष तक अंडे भी नहीं देतीं और उस समय तक उनमें वृद्धावस्था के कोई चिह्न नहीं दिखलाई पड़ते। कोई-कोई छोटी मछली में एक साल में ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देती हैं।

मछलियों में उम्र का पता लगाने के लिए वैज्ञानिकों ने दो मनोहर और विश्वास योग्य लक्षण निकाले हैं, किंतु ये उन्हीं मछलियों में लागू होते हैं जिनमें कड़ी हड्डी का पिंजर होता है और जिनके शरीर पर पूर्ण आकृति के सिन्ने होते हैं। इन मछलियों की खोपड़ी के अन्दर कान में दो चपटी चीनी की-सी हड्डियाँ होती हैं जिनमें इक-केन्द्रीय चक्र साफ़-साफ़ बने होते हैं। सिन्नों के ऊपर भी इसी प्रकार चक्र होते हैं। यह चक्र गर्मी की बाढ़ के समय को दर्शाते हैं। यह समझा जाता है कि जितने चक्र इन पर मिलें उतनी ही गर्मियाँ मछली ने बिताई होंगी। मछली की आयु का ठीक पता सिन्नों के पढ़ने से हो जाता है। लेकिन प्रायः पढ़नेवालों में मतभेद हो जाता है। परन्तु जब सिन्ने के घेरे और कान की हड्डी के घेरे गलफड़ों को ढकनेवाली हड्डी की लकीरों से मिल जाते हैं तो भूल होने का सन्देह नहीं रह जाता। इस तरह पता चलता है कि **मछलियों में भी बड़े डील और बड़ी आयु का घनिष्ठ संबंध है**। पहले दी हुई सूची देखने से विदित होता है कि कोई मछली १०० वर्ष जाती है, कोई ५० वर्ष, कोई २५ वर्ष और कोई-कोई केवल २-३ वर्ष की ही होती हैं।

अपृष्ठवंशियों की उम्र

बिना रीढ़वाले जन्तुओं में भी जहाँ तक पता चला है, भिन्न-भिन्न समूहों की आयु में बड़ा अन्तर है। विश्वास किया जाता है कि घोंघा वंश के प्राणियों में क्लैम नामक बड़ी सीप ६०-१०० वर्ष तक जीती है, जिसके भारी छिलके गिरजों में पवित्र जल रखनेवाले पात्र के काम में आते हैं। यही उन दरियाई सीपों के बारे में भी कहा जाता है जिनमें मोती मिलते हैं। बड़ी कौड़ीवाला जीव २० वर्षों तक पानी के बर्त्तनों में जीवित रक्खा गया है, किन्तु मामूली कस्तूरा १० वर्ष में ही वृद्ध हो जाता है। नदी तथा तालाबों में रहनेवाले घोंघा की आयु ४-५ वर्ष ही होती है। सीप और कस्तूरे की भाँति के घोंघा-वंश के प्राणियों में उम्र का पता उनके छिलके के ऊपर की रेखाओं से लगता है। गर्मी के दिनों में जब भोजन की अधिकता होती है वे बढ़ते हैं, और ज्यों ज्यों भीतर नर्म शरीर बढ़ता है त्यों-त्यों ऊपर कड़ा छिलका भी बढ़ता जाता है। शीतकाल में बाढ़ रुकी रहती है। इस तरह प्रति वर्ष उनके कड़े छिलके में एक के बाद दूसरा घेरा मेड़ बनाता जाता है। इन्हीं घेरों को गिनकर उनकी आयु का कुछ अनुमान हो जाता है। इनके छिलकों के संग्रह पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें भी बड़े डीलवालों की आयु अधिक होती है और छोटे डीलवालों की छोटी।

समुद्र-तट पर रहनेवाले केकड़े ३ साल में पूर्ण रूप से बढ़ पाते हैं और इनके समय में १७ बार उनकी खाल बदलती है। बड़ा झींगा जीवन के प्रथम ३ वर्षों में १४ बार अपने वस्त्र बदलता है, लेकिन उसके पश्चात् ५ वर्षों में वह केवल ७ बार ऐसा करता है; क्योंकि ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता जाता है उसके लिए कड़ी खाल बदलना कठिन होता जाता है। दरियाई झींगे की वय २० वर्ष से भी अधिक होती है।

अधिकतर पतिंगे कम आयुवाले होते हैं। चींटा और चींटी १०-१५ साल जीते हैं, लेकिन गर्मियों में काम करनेवाली शहद की मक्खी थककर दो ही महीनों में मर जाती है। **कीट जीवन की एक अत्यन्त आश्चर्यजनक बात यह है कि उसमें बहुतेरे ऐसे हैं जिनकी युवावस्था बहुत छोटी होती है, किन्तु बाल्यकाल दीर्घ होता है।** कोई-कोई गुबरीले ७ वर्ष की अच्छी आयु प्राप्त करते हैं, लेकिन उनमें से किसी-किसी के इल्ले पेड़ों के धड़ों या लकड़ी में घुसकर अपना कठिन जीवन ४५ वर्षों तक काटते रहते हैं।

उत्तरी अमेरिका में एक प्रकार का झींगुर होता है। इसके इल्ले का जीवन-काल तो १७ वर्ष होता है, किन्तु युवावस्था की इतिश्री कुछ सप्ताहों में ही हो जाती है। लेकिन सबसे विचित्र जीवन 'मे फ्लाई' नामक जीव का है जो अपना बचपन ३-४ साल तक जल में ही बिताने के बाद युवक रूप धारण करके हवा में उड़ने लगता है और एक ही सन्ध्या में अपना जीवन-कर्त्तव्य पूर्ण करके मृत्युलोक को सिधार जाता है। इनमें से कुछ तो केवल घंटे भर ही जीवित रहते हैं। इस विचित्र प्राणी का चित्र अगले पृष्ठ पर दिया गया है।

उपचार में काम आनेवाली जोंक २० वर्ष

रह सकती है। एक कैंचुए के बारे में मालूम है कि वह १० वर्ष जिया था। कठकवची जीवों में सितारा मछली की उम्र ५ साल तक मानी जाती है और समुद्री कीड़े केकड़ों की उससे दूनी। समुद्री कुमुद अथवा एनीमोन जैसे कोमल शरीरवाले प्राणियों और मूँगा वंश के जीवों के जीवन-काल में बहुत अन्तर होता है। एनीमोनों के जीवन की मियाद का पता नहीं है और न शायद कभी लग ही सके। सम्भव है कि उनमें से कुछ की आयु बहुत कम हो। समुद्री जानवरों को पालने के लिए सबसे पहले लगभग ५० वर्ष पूर्व कई देशों में काँच या अन्य पदार्थों के हौज या पात्र बनाए गये थे। उनकी स्थापना के दिन जो एनीमोन उनमें रक्खे गये थे वे उन तालाबों में अभी तक ज्यों के-त्यों बने हुए हैं। एडिनबरा नगर का प्रसिद्ध एनीमोन ६७ वर्ष की अवस्था प्राप्त करके मरा था। छोटे-छोटे जीव, जिन्होंने सैकड़ों मील तक फैले हुए बड़े-बड़े मूँगों की चट्टानें बना दी हैं, केवल कुछ दिनों के ही मेहमान होते हैं। मीठे जलों में पाया जानेवाला स्पंज प्रायः एक वर्ष ही जीता है, लेकिन कुछ सागर-निवासी स्पंज बहुत दिनों तक जीवित रहते हैं। कहा जाता है कि एक-कोषीय जीव तो यह जानते ही नहीं कि स्वाभाविक मृत्यु क्या है! यह तो बहुकोषक शरीर धारण करने का ही दंड है।

उपर्युक्त बातों से पता चलता है कि जन्तु-जगत् में कुछ अधिक जीनेवाली शरीरावस्थाएँ हैं जिनमें आमदनी ज्यादा और ख़र्च कम होने के कारण बहुत सी सामग्री (बड़े शरीरों के रूप में) जमा हो जाती है। इनका रहन-सहन शांत और स्थिर होता है। इनकी नलिकाविहीन गुत्थियों में अत्यन्त उत्तेजक रस नहीं बनते और इनमें लम्बा विश्राम करने का स्वभाव हो जाता है। इनमें सन्तानोत्पादन क्रिया भी कुछ अधिक मँहगी नहीं होती। कम जीनेवाली शरीरावस्थायें इनसे बिल्कुल पृथक् होती हैं। उनकी आमदनी और ख़र्च क़रीब क़रीब बराबर होने के कारण उनमें माल अधिक एकत्र नहीं हो पाता। उनका मिज़ाज तेज होता है और वे अपना जीवन अत्यन्त भयंकरता से व्यतीत करती हैं। सन्तान उत्पन्न करने में उनके शरीर पर बड़ा बोझ पड़ता है। यह कहना कि एक विशेष प्रकार की शरीरावस्था कितने समय तक चलेगी सरल नहीं है, क्योंकि इन बातों के अलावा यह बात हमको स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्येक प्राणी की जीवन-अवधि उसकी निजी परिवर्त्तनशीलता पर निर्भर है।

इसलिये यह सम्भव है कि प्राकृतिक चुनाव के मार्ग या सिलसिले में प्रत्येक प्रकार के जीव अपने जीवन की अवधि को इस प्रकार सुधार लें या ठीक कर लें जिसमें वे मृत्यु के संयोग का बड़े कुटुम्ब द्वारा मुक़ाबला कर सकें और उस पर भी अपनी वंशवृद्धि के कार्य को जीवन के प्रभावोत्पादक तथा शक्तिमय काल तक ही सीमित रक्खें। अतः यह कहा जा सकता है कि जो जानवर इतने दिनों तक ज़िंदा न रह सकेंगे कि अपनी जगह दूसरों को छोड़ जायँ, उनका वंश नष्ट हो जायगा। इसी प्रकार वे जीव भी इस जगतीतल से विलीन हो जायँगे, जो हद से ज्यादा दिनों तक जीवित रहकर अपनी ढलती हुई जिन्दगी में भी सन्तानोत्पादन करते रहेंगे।

'मे फ्ला ई' नामक विचित्र प्राणी
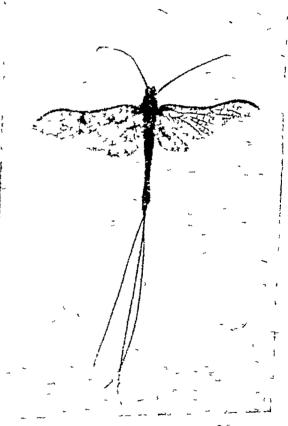
इसकी जीवन-अवधि बहुत ही अल्पकालिक होती है। यह नाज़ुक जीव इल्ले के रूप में अपना बाल्यकाल तो जल में कई महीनों तक, बल्कि कभी-कभी तीन-चार वर्ष तक बिताता है, किन्तु युवावस्था प्राप्त करने पर जब वह हवा में उड़ने लगता है तो एक ही दिन-रात में अपना जीवन-कर्त्तव्य पूरा करके मृत्युलोक को सिधार जाता है। कहते हैं, इनमें से कई तो केवल घंटे भर ही जीवित रहते हैं।
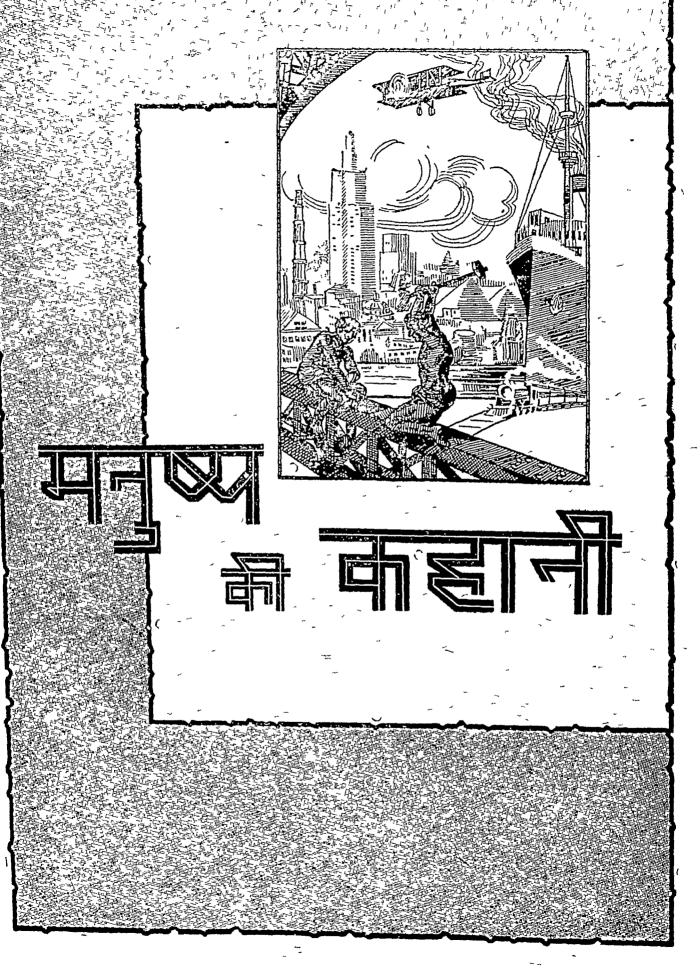
मनुष्य
की कहानी

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने विशाल बाँधों के निर्माण में संसार के अन्य सभी राष्ट्रों से बाज़ी मार ली है। इस चित्र में कुछ ही वर्ष हुए बनाए गए सुप्रसिद्ध नोरिस डैम के निर्माण के समय का भव्य दृश्य दिखाई दे रहा है। इस बाँध के निर्माण में सत्तर लाख पौंड ख़र्च हुए थे। निर्माण का काम रात को भी चलाया जाता था, जैसा इस फ़ोटो से स्पष्ट हो जाता है। यह विशाल बाँध टैनिसी नदी पर बनाया गया है।

धरती पर विजय--(८) विशालकाय बाँधों का निर्माण

पिछले कुछ अंकों में आपने यातायात-संबंधी मनुष्य के भगीरथ प्रयत्नों—सड़कों, रेलों, मोटरों, जहाज़ों वायुयानों, नहरों और सुरंगों—की मनोरंजक कहानी पढ़ी। आइए, अब उसके दूसरे कुछ वृहत् प्रयासों का भी दिग्दर्शन करें, जो धरती पर विजय पाने की उसकी चिर-अभिलाषा के सूचक हैं।

अंग्रेजी में एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है कि जल एक अत्यन्त ही उपयोगी सेवक है, किन्तु इससे बढ़कर निरंकुश स्वामी अन्य कोई नहीं हो सकता। निस्संदेह इस लोकोक्ति में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। भारत में जल की प्रलयङ्कारी प्रवृत्तियाँ प्रत्येक साल वर्षा ऋतु में हमें देखने को मिलती हैं। बाढ़ की विपदा का ध्यान आते ही हृदय काँप उठता है। किन्तु विज्ञान की सहायता से आधुनिक युग ने जल की अपरिमित शक्ति को अपना दास बना लिया है।

जल की शक्ति को क़ाबू में लाने के लिए इञ्जीनियर को जल के अनियंत्रित समूह को ऐसा बाँधना पड़ता है ताकि जिस दिशा में तथा जितनी मात्रा में वह चाहे जल को ले जा सके। इस बँधे हुए जल से इञ्जीनियर नहरों द्वारा सिंचाई का काम ले सकता है, गिरते हुए जल के प्रबल वेग से अपरिमित मात्रा में वह विद्युत्शक्ति उत्पन्न कर सकता है, अथवा सूखी नदी के पेटे में अथाह जल की धारा प्रवाहित कराकर उसे वह इस योग्य बना सकता है कि उसमें विशालकाय समुद्री जहाज़ सरलतापूर्वक आ-जा सकें।

भारत-सरीखे देश में जहाँ साल के कुछ महीनों में प्रचुर मात्रा में वर्षा हो लेती है, नदियाँ बरसात के मौसम में उग्र रूप धारण कर लेती हैं, किन्तु अन्य ऋतुओं में वे ही नदियाँ क्षीणकाय होकर जल की एक पतली रेखा बन जाती हैं। हमारे पूर्वजों ने भी वर्षा ऋतु की जलराशि को संचय करने के लिए कृत्रिम झीलें बनाई थीं ताकि वर्षा व्यतीत हो जाने पर खेतों की सिंचाई के लिए इस जल का उपयोग किया जा सके। दक्षिण भारत में इस ढंग की अनेक झीलें देखने को मिलती हैं। जहाँ-कहीं भी नदी सँकरी पथरीली घाटियों में से होकर

आधुनिक भारत की जलसंचय योजना का एक उज्ज्वल उदाहरण
यह दक्षिण भारत के कावेरी नदी के सुप्रसिद्ध मेट्टूर बाँध का दृश्य है, जो लाखों एकड़ ज़मीन को सींचता है।
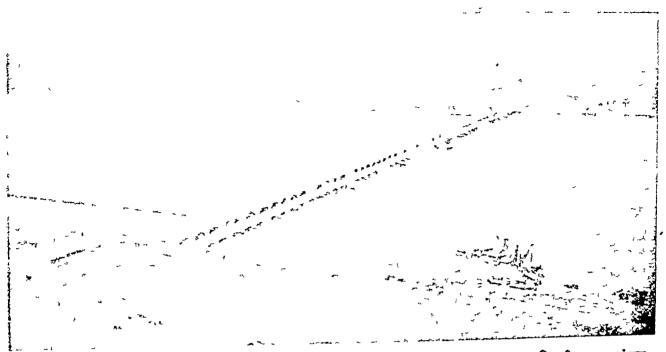
हमारे देश की सिचाई की सबसे महान् योजना—सिन्ध नदी पर निर्मित सक्खर बाँध का दृश्य, जिसकी गणना संसार के बहुत बड़े बाँधों में की जाती है।

है, एक मज़बूत बाँध नदी के पेटे में एक किनारे से दूसरे किनारे तक बना लेते हैं। इस प्रकार थोड़े ही श्रम से एक तिकोनी झील वहाँ बन जाती है। इस झील के अन्दर पानी का धरातल भी आसपास के खेतों से ऊँचा रहता है, क्योंकि झील के जलालय भर जाने के बाद ही पानी नदी के रास्ते आगे बढ़ता है। अतः इस ऊँची झील से आसानी के साथ आसपास के खेत सींचे जा सकते हैं। दक्षिण भारत का चिंगलपुट बाँध ११०० वर्ष पुराना है, किन्तु आजकल भी लगभग ४००० एकड़ भूमि इसके पानी से सींची जाती है। कावेरी नदी का एनीकट बाँध अभी १८३० ई० तक काम में आ रहा था। यह बाँध ईसा की द्वितीय शताब्दी में बना था। इसकी लम्बाई १००० फीट थी, और चौड़ाई लगभग ५० फ़ीट। इस बाँध द्वारा एकत्रित जल से ७ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होती थी। इस बाँध का निर्माण पत्थर के अनगढ़ टुकड़ों द्वारा हुआ था। लंका में २४०० वर्ष पहले बने हुए बाँध का उल्लेख भी मिलता है। अंग्रेज़ों के आने के पहले मद्रास प्रान्त में पेनियरी बाँध द्वारा बनी हुई एक कृत्रिम झील थी, जिसका क्षेत्रफल ६५ वर्ग-मील था, और बाँध की कुल लम्बाई ३० मील थी।

आधुनिक युग में भी भारत कृत्रिम जलाशयों तथा बाँधों के निर्माण में अग्रगण्य है। अवश्य ही बाँध के निर्माण में हद दर्जे की सावधानी और सतर्कता की आवश्यकता पड़ती है। ठोस होने के अतिरिक्त बाँध को पूर्णतया पानी के लिए अभेद्य होना चाहिए। यदि बाँध के एक ओर से दूसरी ओर को पानी की दो-चार बूँदें भी टपकनी शुरू हुईं तो कुछ ही काल के उपरान्त वह सूक्ष्म छिद्र बढ़कर बाँध को नष्ट कर देगा, साथ ही निकटवर्ती प्रदेश पर एक प्रलयङ्कारी बाढ़ की विपदा भी ढाएगा।

साधारणतः दो प्रकार के बाँध बनाए जाते हैं—एक कन्क्रीट सीमेन्ट और पत्थर से तैयार किया जाता है, दूसरा मिट्टी से। मिट्टी द्वारा निर्मित्त बाँध के दोनों ढाल पर प्रचुर मात्रा में मिट्टी बिठाई जाती है, किन्तु ठीक मध्य में कन्क्रीट सीमेण्ट या कड़ी मिट्टी की एक अत्यन्त सुदृढ़ दीवाल खड़ी की गई होती है। बाँध के निर्माण में सर्वप्रथम नींव दुरुस्त करनी होती है। जिस ठौर बाँध खड़ा करना होता है, वहाँ नदी के पेटे से समस्त कीचड़ बालू तथा नरम मिट्टी खोदकर निकालनी होती है। तदुपरान्त ठीक मध्य में एक सिरे से दूसरे सिरे तक गहरी खाई खोदी जाती है, जब तक कि अन्त में खाई के पेंदे पर सुदृढ़ चट्टान या ऐसी कड़ी ज़मीन मिल न जाय कि पानी उसमें प्रवेश करके जज्ब न हो सके। अब नींव को समतल करके कन्क्रीट की मज़बूत दीवाल एक सिरे से दूसरे सिरे तक उसी खाई के अन्दर खड़ी करते हैं। इस बात की पूरी सावधानी रखनी होती है कि खाई का पेंदा और इस दीवाल की जड़ एक-दूसरे को सुदृढ़तापूर्वक पकड़ लें;

क्योंकि यह दीवाल ही बाँध का पृष्ठदण्ड होने जा रही है। ज्यों-ज्यों दीवाल खाई के बाहर ऊँची होती जाती है, इसके दोनों किनारों पर मिट्टी बिठाते जाते हैं। पानी की ओर के किनारे पर प्राय: कन्क्रीट का पलस्तर कर देते हैं अथवा पत्थर के बड़े आकार के रोड़े क्रम से जमा दिये जाते हैं, ताकि पानी की चोट से बाँध की मिट्टी अपने स्थान से हट न जाय। मिट्टी के बाँध सस्ते अवश्य पड़ते हैं, किन्तु १०० फीट से अधिक ऊँचाई के लिए इस श्रेणी के बाँध निरापद नहीं समझे जा सकते। ऐसी दशा में समूचा बाँध कन्क्रीट या पत्थर से बनाया जाता है।

कन्क्रीट के बाँध प्राय: समकोण त्रिभुज के आकार के बनाये जाते हैं। बाँध के निचले भाग को अधिक चौड़ा इस कारण बनाना पड़ता है कि पानी के अन्दर प्रत्येक फुट नीचे जाने पर पानी का दबाव प्रति वर्गफुट पर लगभग ३० सेर बढ़ता जाता है। कन्क्रीट बाँध के लिए भी पूरी तरह सख्त नींव ढूँढ़नी पड़ती है। कभी-कभी तो नदी के पेटे की सख्त चट्टान की खोज में बहुत गहराई तक खोदना पड़ता है। इस तलैटी में प्राय: पानी के सोते भी फूट पड़ते हैं। ऐसे सोते के प्रति तनिक भी उदासीन नहीं रहा जा सकता। सोते को निरापद बनाने की इञ्जीनियरों ने अच्छी तरकीब निकाल ली है। ठीक सोते के मुँह के ऊपर पत्थर का एक पानी के लिए अभेद्य बक्स-सा बना देते हैं—इस बक्स के ऊपरी ढक्कन के बीच से एक मज़बूत नली सीधे ऊपर को जाती है। सोते का पानी अपने वेग के कारण इस नली में एक नियत ऊँचाई ही तक चढ़ पाता है। फिर नली के ऊपरी सिरे में ठोस कन्क्रीट भली प्रकार भर देते हैं। इस प्रकार सोते का पानी इस बक्स और नली के बाहर निकल नहीं पाता, साथ ही नली के फटने का भी ख़तरा नहीं रहता, क्योंकि नली के अन्दर ऊँचे चढ़ने की सुविधा मिल जाने के कारण पानी का वेग भी अपेक्षाकृत शान्त हो जाता है। इस बक्स के दोनों ओर से कन्क्रीट का बाँध अब आसानी के साथ खड़ा कर लिया जाता है।

बाँध के अन्दरवाले ढाल पर पत्थर के छोटे-बड़े टुकड़े जमा दिये जाते हैं। इन टुकड़ों के बीच की ख़ाली जगह में सीमेन्ट और कन्क्रीट अच्छी तरह भर देते हैं, ताकि पानी उनके बीच से प्रवेश कर बाँध को हानि न पहुँचा सके। भारत की जलसंचय योजना में पेरियार बाँध और सिन्ध-

सक्खर बाँध की ६६ मेहराबों का भव्य दृश्य
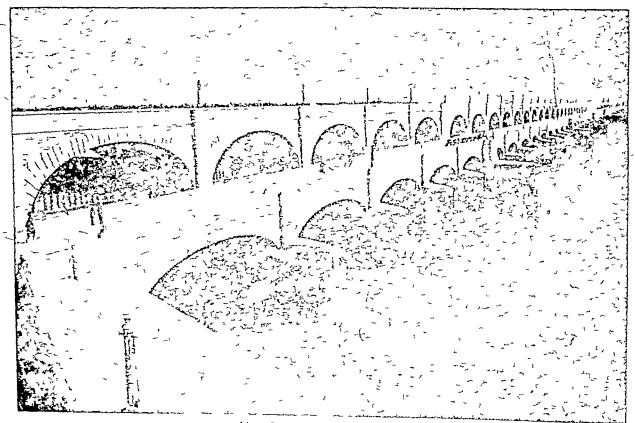
इस शक्तिशाली बाँध द्वारा जो जल-संचय किया गया है उससे साठ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई की जाने लगी है।
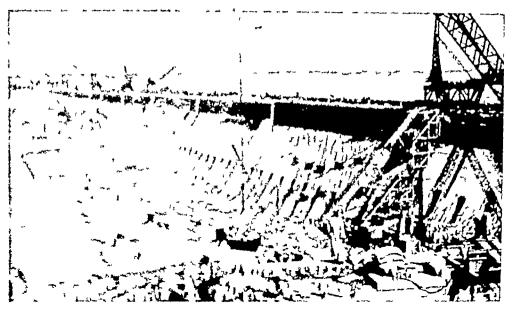
नील नदी पर बनाए गए मिस्र के सुप्रसिद्ध ऐस्वान बाँध को पहले से ३० फ़ीट और अधिक ऊँचा उठाने के प्रयास का चित्र। विशेष विवरण लेख में पढ़िए।

प्रान्त के सक्खर बाँध विशेष उल्लेखनीय हैं। पेरियार बाँध ट्रावन्कोर रियासत में पेरियार नदी पर बनाया गया है। मुख्य बाँध नदी के तल से १७८ फीट ऊँचा है। लगभग १३ अरब टन पानी पेरियार द्वारा निर्मित्त झील में इकट्ठा होता है। पेरियार स्कीम निस्संदेह इञ्जीनियरिंग कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। दक्षिण भारत के पश्चिमी घाट के पर्वत मानसून हवा को पूर्व की ओर पहुँचने नहीं देते। फलस्वरूप पश्चिमी ढाल पर तो प्रति वर्ष २०० इंच से भी अधिक वर्षा हो जाती है, किन्तु पूर्व के प्रान्त सूखे ही रहते हैं। ट्रावङ्कोर की पेरियार नदी वर्षा का बहुत सारा जल अरबसागर में गिराती है। इञ्जीनियरों ने यह स्कीम बनायी कि यदि किसी भाँति पेरियार का जल पूर्वी प्रदेश में पहुँचाया जा सके तो उस सूखे प्रदेश में भी लहलहाते हुए खेतों का निर्माण किया जा सकता है पेरियार के पास से ही वैगाई नदी बहती है, किन्तु इसका रुख पूर्व की ओर है। वैगाई मदुरा ज़िले में से होकर बंगाल की खाड़ी में गिरती है। इस स्कीम के अनुसार पेरियार नदी के पेटे में ऊँचा बाँध डालकर नदी का लगभग सारा पानी वैगाई नदी में ले आना था। इस विशाल स्कीम को पूरा करने में पूरे सात साल लगे थे।

उस भयानक, निर्जन, तथा जङ्गल से भरे प्रान्त में इस स्कीम को कार्यान्वित करना साधारण कार्य्य न था। निकटतम बस्ती उस स्थान से २० मील की दूरी पर थी और रेलवे स्टेशन ८० मील की दूरी पर था। बाँध की नींव तैय्यार करने का काम आरम्भ हुआ। साल के ६ महीने तक काम इस कारण आरम्भ न हो सका कि नदी में उन दिनों ज़ोरों की बाढ़ थी। फिर अन्य तीन महीनों में उस प्रदेश में मलेरिया का प्रबल प्रकोप फैला। अतः केवल तीन महीने काम हो पाया था। पेरियार बाँध तैय्यार करनेवाले इञ्जीनियर ने इस सिलसिले में लिखा है कि "प्रथम दो वर्षों तक हर रात को चौकीदार हाथ में मशाल और नगाड़े लेकर प्रत्येक कैम्प के चारों ओर पहरा देते, क्योंकि प्रायः जंगली हाथी कैम्प में घुस आया करते थे। ये मनमाने ढंग से मशीनों को तोड़ डालते, सामान नष्ट कर डालते, पत्थरों और तार के खम्भों को उखाड़ डालते, जस्ते की चद्दरों को तोड़ते मोड़ते, बालटियों को कुचल देते और अन्य सभी शरारतें, जो उनकी बुद्धि और शक्ति द्वारा सम्भव होतीं, वे ज़रूर करते।"

पेरियार और वैगाई के उद्गमस्थान को पर्वत की एक ऊँची श्रेणी अलग करती है। अतः पेरियार बाँध द्वारा रोके गए जल को वैगाई में पहुँचाने के लिए इस पर्वत-श्रेणी के भीतर से एक सुरंग खोदनी पड़ी जिसकी लम्बाई ५६०० फीट है—यह १२ फीट चौड़ी और ७॥ फीट ऊँची है। एकदम ठोस आग्नेय चट्टानों में विस्फोटक पदार्थों की सहायता से यह सुरंग थोड़ी-थोड़ी करके खोदी गई थी।

बाढ़ के दिनों में बाँध द्वारा निर्मित्त झील का क्षेत्रफल ७४५४ एकड़ तक पहुँच जाता है। इन दिनों पानी की अधिकतम गहराई १६२ फीट होती है। अन्य ऋतुओं में पानी की गहराई १३१ फीट तक रहती है। यह पानी वैगाई नदी द्वारा ८६ मील की यात्रा करके मदुरा में पहुँचता है, जहाँ एक लाख अस्सी हज़ार एकड़ भूमि की यह प्यास बुझाता है।

भारत की सबसे विशाल सिंचाई की स्कीम सक्खर बाँध की योजना है। यह बाँध सिन्ध नदी पर सक्खर नामक स्थान में बनाया गया है। ६ वर्ष के अनवरत परिश्रम के बाद

१६३२ में यह महान् योजना पूरी हुई। यह बाँध कुछ अधिक ऊँचा नहीं है, किन्तु इसकी लम्बाई लगभग एक मील है। यह विशाल बाँध ६६ मेहराबों पर टिका हुआ है। प्रत्येक मेहराब में सुदृढ़ फौलाद के दो फाटक लगे हुए हैं, जिन्हें इच्छानुसार विद्युत्यन्त्रों द्वारा आसानी से ऊपर को उठाया जा सकता है। बाद के दिनों में इन्हें खोल-कर सिन्धु-नद का अतिरिक्त जल आगे बह जाने देते हैं। प्रत्येक फाटक का वज़न ५० टन के क़रीब है। सक्खर बाँध द्वारा एकत्रित किये हुए जल से लगभग ६० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होती है। सात मुख्य नहरों द्वारा यह जल निकट के प्रदेशों में पहुँचाया जाता है। इनमें से प्रत्येक नहर इङ्गलैण्ड की टेम्स नदी के आकार की है।

विशेषज्ञों की धारणा है कि इस स्कीम को पूरा करने में जितनी मिट्टी खोदनी पड़ी है उतनी पनामा नहर के निर्माण में भी नहीं खोदनी पड़ी थी। इसमें कुल ख़र्च १६ करोड़ रुपयों से भी अधिक पड़ा था। किन्तु सक्खर बाँध ने सिन्ध के सूखे प्रदेश में प्राण का संचार कर दिया है। जिस प्रदेश में पहले कहीं हरियाली ढूँढ़े पर भी नहीं दीखती थी, वहाँ अब ४२ करोड़ मन से भी अधिक गेहूँ, लाखों मन रुई, कई लाख मन चावल और तेलहन आदि प्रति वर्ष पैदा किये जाने लग गये हैं।

विशालकाय बाँधों के उल्लेख में मिस्र के बाँध भी अद्वितीय स्थान रखते हैं। तभी तो मिस्र को 'नील नदी की देन' कहते हैं। इतिहास के आदि काल से ही नील नदी ने लाखों व्यक्तियों को भोजन दिया है। नदी के किनारे दोनों ओर की पतली पट्टी पर हर साल बाढ़ के दिनों में नील नदी अपने पानी के साथ बारीक उपजाऊ मिट्टी की एक परत बिछा जाया करती थी। यही बाढ़ की मिट्टी इन खेतों को शक्ति प्रदान करती थी। रेगिस्तान के निर्जन प्रान्त में नील नदी समृद्धि और वैभव का प्रसाद अपने दोनों ओर बिखराती हुई रूमसागर से जा मिलती है। लगभग १०० वर्ष पूर्व तक नील-तट के निवासी नील के प्रसाद के लिए प्रकृति का आसरा लगाये रहते थे—फलस्वरूप कभी-कभी कई साल तक ऐसा होता कि नील नदी में इतनी अधिक बाढ़ न आ पाती कि पानी किनारे के खेतों में फैल सकता। अस्तु, खेत सूखे और बजर ही पड़े रहते। देश में चारों ओर त्राहि-त्राहि मच जाती, लोग अन्नाभाव के कारण तड़प-तड़पकर सहस्रों की संख्या में मरते। नील नदी के पानी को कृत्रिम ढग से खेतों में पहुँचाने का सर्वप्रथम प्रयास पिछली शताब्दी में १८४३ में किया गया। नील नदी के डेल्टा के सिरे पर काहिरा में जहाँ नील दो शाखाओं में विभाजित होती है, एक बाँध बनाने की योजना तैयार की गई। इस बाँध के निर्माण के काम का आरम्भ तो फ्रेंच इञ्जीनियरों ने किया था, किन्तु इसे पूरा करके चालू हालत में लाने का श्रेय ब्रिटिश इञ्जीनियरों को मिला। १८६० में इस बाँध से सिंचाई का काम पहली बार लिया गया। कहा जाता है कि मिश्र के बाद-शाह सईद पाशा ने इस स्कीम को आगे बढ़ाने में विशेष

सूदान के विशाल बाँध 'सेनार डेम' का दृश्य
यह बाँध लगभग २ मील लंबा और इसकी दीवार पेंदे से १२० फ़ीट ऊँची है, जिसमें ८० स्लूसगेट बने हैं।

ग्रेट ब्रिटेन की जलशक्ति-उत्पादन संबंधी सबसे बड़ी योजना के हेतु निर्मित सुप्रसिद्ध लगन बाँध का दृश्य।

७५० मील की दूरी पर प्रथम प्रपात पर ऐस्वान नगर बसा हुआ है। इस विशालकाय बाँध के लिए ऐस्वान की जगह इस कारण चुनी गई कि यहाँ पर नील नदी के तल में स्फटिक शिलाओं की सुदृढ़ चट्टानें हैं, अतः यहाँ बाँध की मजबूत नींव पड़ सकती थी।

जिन दिनों नील में पानी की मात्रा कम रहती है, यह नदी ऐस्वान के झरने पर पाँच शाखाओं में विभक्त होकर गिरती है। उपर्युक्त बाँध इन पाँचों धाराओं के आरपार खड़ा करना था। इस बाँध की लम्बाई १। मील बनानी थी और इसकी ऊँचाई भूमि की सतह से कहीं-कहीं १३० फ़ीट से अधिक।

मार्च १८६८ में इस स्कीम का काम अदम्य उत्साह के साथ आरम्भ किया गया। इञ्जीनियरों के सम्मुख दो बड़ी कठिनाइयाँ थीं। पहली यह कि वर्ष के सात महीनों में, जब कि नील में बाढ़ रहती है, बाँध के लिए नींव तैयार करना असम्भव था और दूसरी यह कि १६ मील प्रति घण्टे के वेग से बहती हुई जलधारा के अन्दर नींव की खुदाई करना अत्यन्त ही कठिन काम था।

काफी सोचने-विचारने के बाद इञ्जीनियरों ने एक अस्थाई वृत्ताकार बाँध बनाकर पूर्व के ओर की चार धाराओं को घुमाकर शेष दो धाराओं में मिला दिया ताकि नदी के पेटे के पूर्वीय भाग से पम्प द्वारा पानी उलीचकर उसे एकदम सूखा बना लें। नींव की खुदाई का काम पेटे के इसी भाग में आरम्भ हुआ। हज़ारों आदमी बारी-बारी से तेजी के साथ काम करते। चौबीसों घण्टे काम जारी रहता, क्योंकि अगली बाढ़ आने के पहले नींव तैयार कर लेना आवश्यक था। सौभाग्यवश बाढ़ आने के पहले ही नींव तैयार हो चुकी थी। बाढ़ ने ६ महीनों के लिए काम फिर रोक दिया।

अगले साल बाढ़ निकल जाने पर बाँध के निर्माण

दिलचस्पी दिखलाई थी। उनका ख्याल था कि बाँध में लगे फाटकों को अचानक खोलकर वे मुहाने से आते हुए शत्रु के समुद्री बेड़े को उलटे समुद्र में बहा देने में समर्थ हो सकेंगे।

काहिरा बाँध की सफल योजना से उत्साहित होकर डेल्टा के ऊपर कई एक बाँध और बनाये गये और नहरों द्वारा बाँध द्वारा संचित जल आसपास के खेतों में पहुँचाया जाने लगा। आख़िर ब्रिटिश गवर्नमेंट ने एक कमीशन की नियुक्ति यह जाँच करने के लिए की कि उत्तरी तथा दक्षिणी मिस्र की खेती करने योग्य समस्त भूमि की सिंचाई के लिए कितने जल की आवश्यकता प्रतिवर्ष होगी। कमीशन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि साल के पाँच महीने नील नदी के औसत जल के अतिरिक्त प्रतिदिन २ करोड़ ६५ लाख टन पानी की आवश्यकता पड़ेगी। इसके यह अर्थ हुए कि ४ अरब टन पानी इस अतिरिक्त माँग को पूरी करने के लिए कृत्रिम झील में इकट्ठा करना होगा।

कमीशन की सिफ़ारिशों के आधार पर अनेक स्कीमें बनीं, किन्तु उन सबमें ऐस्वान बाँध की स्कीम ही सर्वोत्तम जँची। तख़मीना लगाया गया कि इस बाँध द्वारा १ अरब टन पानी इकट्ठा किया जा सकेगा। नील के मुहाने से

का काम फिर पूरे उत्साह के साथ आरम्भ हुआ, और काम इतनी तेजी के साथ आगे बढ़ा कि मई १६०२ तक पूरा बाँध तैयार हो गया। बाँध की चौड़ाई पेंदे पर १०० फ़ीट थी और ऊपर सिरे पर २४ फीट। बाँध मे १४० स्लूसगेट नीचे के लिए तथा ४० स्लूसगेट ऊपर के लिए बनाये गये थे, और बाँध के एक सिरे पर लॉक का भी निर्माण किया गया था ताकि जहाज़ आसानी के साथ बाँध को पार कर सकें।

बाँध में लगे हुए स्लूसगेट स्वय आश्चर्योत्पादक हैं। जिन दिनों नदी में बाढ़ नहीं होती उन दिनों भी प्रत्येक गेट को २०० टन के बोझ के बराबर पानी का धक्का सँभालना पड़ता है। फिर भी यंत्रों की सहायता से एक बच्चा भी इन्हें सरलतापूर्वक ऊपर नीचे सरका सकता है। बाढ के दिनों में सभी द्वार पूर्णतया खुले रक्खे जाते हैं, ताकि बाढ़ के जल के साथ आई हुई उपजाऊ मिट्टी मिस्र के उत्तरी भाग में भी पहुँच सके। बाढ़ ज्यों ज्यों कम होती जाती है, ये फाटक एक-एक करके वन्द कर दिये जाते हैं ताकि आवश्यकतानुसार पानी इकट्ठा किया जा सके। भरी हुई नदी में से बाढ़ के दिनों में स्लूसगेटों से नियाग्रा प्रपात की अपेक्षा दूना पानी गिरता है।

स्लूसगेट के नीचे पानी इतने वेग से गिरता है कि इञ्जीनियरों को यह आशका हुई कि पानी के वेग से नदी का पेंदा इतना गहरा न हो जाय कि बाँध की नींव को क्षति पहुँचे, अत पानी के वेग को तोड़ने के लिए एक ढलुआँ शक्ल का स्फटिक चट्टान और सीमेन्ट का प्लेटफ़ार्म स्लूसगेट की दूसरी ओर बनाया गया। इस चट्टान के निर्माण में ३ लाख ५० हज़ार पौण्ड व्यय हुए थे।

चार-पाँच वर्ष के भीतर ही ऐस्वान बाँध की उपयोगिता से प्रभावित होकर मिस्र गवर्नमेंट ने यह तय किया कि बाँध को और ऊँचा किया जाय ताकि दूर-दूर के खेत भी नील के पानी से सींचे जा सकें। फ़ोर्थ ब्रिज के विशेषज्ञ ब्रिटिश इञ्जीनियर सर वेन्जामिन वेकर ने बाँध ऊँचा करने की स्कीम तैय्यार की। इस योजना के अनुसार बाँध द्वारा निर्मित झील में पहले की अपेक्षा २ अरब २५ करोड़ टन पानी और समा सकेगा। पानी की मात्रा बढ़ने के कारण बाँध पर पानी का दबाव भी अत्यधिक मात्रा में बढ़ जाता है, अत. बाँध की ऊँचाई बढ़ाने के साथ-साथ उसकी मुटाई बढ़ाना भी आवश्यक हो जाता है। ऐस्वान बाँध की मुटाई एक विचित्र तरीक़े से बढ़ाई गई थी। पुराने बाँध की दीवाल में सैकड़ों लोहे की मोटी मोटी सलाखें एकदम सीधी धँसाई गई, और इन्हीं सलाखों को फँसाकर नई दीवाल उठाई गई। नई दीवाल इन्हीं सलाखों के

सुप्रसिद्ध बोल्डर बाँध के पानी के निर्यात का दृश्य। डैम की प्रधान दीवार चित्र में नहीं दिखाई पड़ रही है। इसके लिए देखिए पृ० १६२० का चित्र।

सहारे खड़ी थी। नई और पुरानी दीवाल के बीच तीन-चार इंच की दूरी रक्खी गई थी। दो साल के बाद इन दोनों दीवालों के बीच पत्थर और सीमेन्ट भर दिया गया—शक्तिशाली हवा के पम्प द्वारा सीमेन्ट इस बीच-वाली जगह में फेंककर भरी गई थी। फलस्वरूप दोनों दीवालें मिलकर अब एक हो गई हैं। यदि नई दीवाल आरम्भ से ही पुरानी दीवाल से मिलाकर बनाई गई होती तो सम्भव था कि नई दीवाल सिकुड़ने पर पुरानी से अलग हो जाती। इसी कारण दो साल तक नई दीवाल को यूँ ही खाली छोड़ दिया गया था ताकि जितना इसे सिकुड़ना हो यह सिकुड़ ले। इस बार बाँध २३ फ़ीट ऊँचा किया गया था।

गत योरपियन महायुद्ध के बाद मिस्र के उन्नतिशील देश ने इस बात की आवश्यकता फिर महसूस की कि ऐस्वान बाँध की झील का आकार बढ़ाना होगा। अतएव १९२९ में इस सम्बन्ध में जाँच करने के लिए मिस्र की गवर्नमेण्ट ने कमीशन की नियुक्ति की। कमीशन ने रिपोर्ट दी कि सिंचाई के लिए ऐस्वान बाँध की ऊँचाई २७ फ़ीट और बढ़ाई जा सकती है। आख़िर ४० लाख पौण्ड ख़र्च करके यह स्कीम कार्यान्वित की गई। बाँध द्वारा एकत्रित पानी लगभग १५० मील लम्बी झील के रूप में फैला हुआ है।

सूदान में नीली नील नदी का सेनार बाँध भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रत्येक ग्रीष्म ऋतु में नीली नील में भारी बाढ़ आया करती है। बाढ़ के अतिरिक्त जल को बाँध द्वारा रोककर एक लम्बी-चौड़ी झील बनाने की स्कीम १९१३ में आरम्भ हुई। सेनार नील नदी के मुहाने से २००० मील की दूरी पर स्थित है। योरपीय महायुद्ध छिड़ जाने के कारण बाँध के निर्माण का काम कुछ दिनों के लिए स्थगित करना पड़ा था। २१ जनवरी १९२६ को बाँध का उद्घाटन हुआ। बाँध के निर्माण के लिए नदी का सारा जल अस्थायी बाँधों द्वारा पहले पश्चिमी शाखा में बहाया गया, फिर पूर्वी शाखा में। यह बाँध किसी-किसी स्थान पर १२० फ़ीट ऊँचा है। इसकी पूरी लम्बाई २ मील के लगभग है। नीचे पेंदे पर इसकी मोटाई ९० फ़ीट और सिरे पर १२ फ़ीट है। नदी में सम्भवत ५८ मील दूर तक का जल यह बाँधता है। प्रति वर्ष इसके जल से ३ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होती है। इस बाँध में ८० मुख्य स्लूसगेट हैं, जिनमें से होकर वर्षा ऋतु में अतिरिक्त जल सेनार से आगे बढ़ता है। इसके अलावा नहरों में पानी भेजने के लिए १४ स्लूसगेट और बने हुए हैं। मिस्र का सबसे लम्बा बाँध खार्तूम के दक्षिण में गिबेल औलिया है। यह बाँध श्वेत नील पर बँधा हुआ है। इसकी लम्बाई लगभग तीन मील पहुँचती है। बाँध तीन भागों में बना हुआ है—मध्य भाग १८५० गज़ लम्बा है। इसी भाग मे स्लूसगेट बनाये गये हैं। बाँध का शेष भाग एकदम ठोस है, इसमें एक भी स्लूसगेट नहीं है। इस बाँध द्वारा संचित जल १९० मील लम्बी झील का रूप धारण करता है। इस झील की अधिकतम चौड़ाई ४ मील तक पहुँचती है। यह बाँध १९३७ में तैय्यार हुआ था। उत्तरी सूदान ने इस बाँध की बदौलत अब अच्छे दिन देख लिये हैं।

योरप का सबसे बड़ा बाँध सोवियट रूस में नीपर नदी पर दक्षिण यूक्रेन में था। नीपर बाँध लगभग २०० फ़ीट ऊँचा तथा २५०० फ़ीट लम्बा था। यह बाँध मुख्यतः जलशक्ति से विद्युत्धारा उत्पन्न करने के लिए बनाया गया था। इस बाँध ने आसपास के खेतिहर प्रदेश की कायापलट कर दी थी। बाँध १९३२ में तैय्यार हुआ था, किन्तु साल भर के अन्दर ही बाँध के निकट एक प्रथम श्रेणी का कारोबारी नगर बस गया। सैकड़ों की सख्या में कारख़ाने खुल गये। ये सभी कारख़ाने नीपर बाँध द्वारा उत्पन्न की गई विद्युत्शक्ति से चलते थे। किन्तु अफ़-सोस है कि १९४१ में नाजी जर्मनी के सहसा आक्रमण के कारण सोवियट सरकार को नीपर बाँध स्वय ही डायन-मायट लगाकर नष्ट करना पड़ा, ताकि बाँध शत्रु के हाथ में न पड़ जाय।

विशालकाय बाँधों के निर्माण में अमेरिका भी किसी से पीछे न रहा। अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र का बोल्डर-डैम संसार का सबसे बड़ा मौजूदा बाँध समझा जाता है। यह बाँध कोलोराडो नदी पर बना हुआ है। नेवादा और ओरीजोना के बीच कोलोराडो १००० फ़ीट गहरे खड्ड में से होकर बहती है। नदी के दोनों ओर स्फटिक शिला की चट्टानें एकदम लम्बवत् खड़ी हैं। बाँध बनाने के लिए यही जगह सबसे अधिक उपयुक्त समझी गई।

नदी की तह तक पहुँचने के लिए खड्ड के दोनों ओर दो दो सुरंगें खोदनी पड़ी थीं, ताकि पानी उन सुरंगों के रास्ते आगे बढ़े। प्रत्येक सुरंग ५६ फ़ीट चौड़ी और ४००० फ़ीट लम्बी थी। ये सुरंगें पुन. नदी में मिल जाती थीं। बाँध बनाने की जगह पर पहुँचने से पानी को रोकने के लिए दो अस्थायी बाँध भी नदी में बनाने पड़े थे,

संसार के सबसे महान् जलसेतु—'ग्रांड कूली डैम'—के निर्माण का दृश्य

कहते हैं, अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र के मध्य वाशिङ्गटन नामक प्रान्त में, जहाँ यह बाँध बनाया जा रहा है आज से लाखों वर्ष पूर्व प्रकृति ने एक पर्वताकार जलसेतु की रचना की थी, जो बर्फ़ीले चट्टानों का बना था और लगभग एक मील ऊँचा था। इस गगनचुम्बी बर्फ़ की दीवार ने उक्त प्रदेश की कोलम्बिया नदी की राह में आकर उसका प्रवाह-मार्ग दूसरी ही दिशा में बदल दिया, जिसके फलस्वरूप उक्त नदी ने अपने लिए दो से पाँच मील चौड़ी और लगभग ८०० फ़ीट गहरी एक नई घाटी बना ली। हज़ारों वर्ष तक यह नदी इसी नए रास्ते से बहती रही। जब हिमयुग समाप्त हो गया और बर्फ़ का वह विशाल बाँध पिघल पिघलकर मिट गया तो कोलम्बिया इस नई घाटी को छोड़कर पुनः पूर्ववत् अपने प्राचीन मार्ग से बहने लगी। इस प्रकार उसकी यह बाद की घाटी लगभग ५२ मील लम्बी एक विराट प्रणाली के रूप में सूखी पड़ी रह गई। इसी का नाम 'ग्रांड कूली' है। प्रस्तुत योजना का उद्देश्य यह है कि एक विशाल कृत्रिम बाँध का निर्माण कर कोलम्बिया को पुन. इस 'ग्रांड कूली' के रास्ते बहने को विवश किया [illegible] और इस प्रकार आसपास के [illegible] लाख एकड़ उपजाऊ किन्तु सूखी ज़मीन को सींचा जाय। इस योजना में [illegible] और [illegible] सीना लगाया गया है। कहते हैं, इस बाँध का ढाँचा मिस्र के [illegible] से भी कहीं [illegible]

एक सुरंगों के मुँह के आगे ही, और दूसरा उस जगह के आगे जहाँ से नदी में फिर जाकर मिलती थीं। साढ़े चार साल के भारी परिश्रम के उपरान्त फ़रवरी १९३५ में बोल्डर डैम तैयार हुआ।

यह बाँध ११८० फ़ीट लम्बा और ७२७ फ़ीट ऊँचा है। इसके पेंदे की मोटाई ६५० फ़ीट है। इस बाँध द्वारा निर्मित झील १५० मील लम्बी है। झील की गहराई कहीं-कहीं १००० फ़ीट से भी अधिक है। झील की अधिकतम चौड़ाई ४० मील है। इस विशाल झील के भरने में पूरे ३ वर्ष लगे थे। झील में इतना अधिक पानी भर गया है कि इसके बोझ से स्वयं पृथ्वी भी इस स्थान पर कुछ नीचे को लच गई है। बाँध के नीचे ही खड्ड के पेंदे पर विद्युत्शक्ति उत्पन्न करने के लिए पावरहाउस बना हुआ है। इस पावरहाउस के डायनमों के लिए चालकशक्ति बोल्डर-डैम के संचित जल से मिलती है। यह जल ३६० फ़ीट की ऊँचाई से चार ऊँचे लम्बवत् खड़े पीपों में से होकर नीचे पहुँचता है।

बोल्डर-डैम के जल से १०० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होती है, तथा दक्षिणी केलिफ़ोर्निया के १३ नगरों में यहाँ से जल पीने के लिए पहुँचाया जाता है। इस बाँध के बन जाने से 'इम्पीरियल घाटी' में बाढ़ आने की सम्भावना भी सदैव के लिए रुक गई है।

कोलम्बिया नदी पर ग्राण्ड कूली डैम के निर्माण का कार्य्य दिसम्बर १९३५ में प्रेसिडेण्ट रूज़वेल्ट की प्रेरणा से आरम्भ हुआ था। इस विशाल योजना को कार्य्यान्वित करने के पीछे मुख्य उद्देश्य था बेकारों को काम देना। विशेषज्ञों का ख़याल है कि यह बाँध बोल्डर-डैम से भी बड़ा होगा। इस बाँध द्वारा एकत्रित जल की शक्ति से प्राप्त की गई विद्युत्शक्ति न्याग्रा तथा नीपर पावरहाउस की सम्मिलित विद्युत्शक्ति की दूनी होगी। इस बाँध की लम्बाई एक मील, ऊँचाई ५५० फ़ीट और मोटाई ५०० फ़ीट होगी। बाँध के तैयार करने में जितना कन्क्रीट और सीमेण्ट लगेगा उसकी सहायता से एक तीस फ़ीट चौड़ी कन्क्रीट की सड़क न्यूयार्क से सैनफ्रैन्सिस्को तक बनाई जा सकती है। ग्राण्ड कूली डैम की झील का पानी ८२ हज़ार एकड़ के विस्तार में फैलेगा।
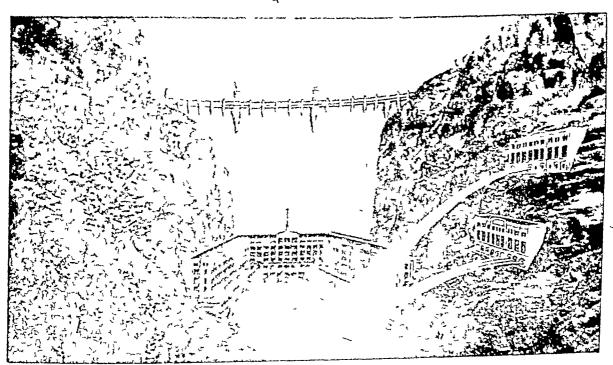
बोल्डर-डैम के पूर्णतया तैयार हो जाने के बाद का भव्य दृश्य

यह विशाल बाँध अब तक तैयार किए गए संसार के सभी बाँधों से बड़ा है। हाँ, अमेरिका का अन्य एक बाँध 'ग्राण्ड कूली डैम' जिसका निर्माण-कार्य अभी समाप्त नहीं हो पाया है, जब पूरा हो जायगा तब वही संसार के सबसे बड़े जल-सेतु का स्थान ग्रहण कर लेगा। बोल्डर डैम जहाँ बनाया गया है, वहाँ केवल खड़े नंगे पहाड़ों से घिरा बियावान ही था, कोई बस्ती न थी। जब बाँध का निर्माण कार्य आरम्भ हुआ तो वहाँ सरकार को पाँच हज़ार मज़दूर और उनके परिवारों के लिए एक नगर बसाना पड़ा। यह बोल्डर सिटी के नाम से आज भी मौजूद है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा आर्थिक स्वदेशहित—

अठारहवीं शताब्दी के मध्य में इङ्गलैण्डवालों ने एक बड़ा महत्वपूर्ण आविष्कार किया। उन्होंने पदार्थ-उत्पादन के कार्य में मशीनों द्वारा सहायता लेने की युक्ति निकाली। वैसे तो मशीनों से सहायता लेने की चेष्टा कुछ समय से बराबर हो रही थी और १६वीं-१७वीं शताब्दी की जहाज़ी कम्पनियों को भी इस कार्य का कुछ श्रेय प्राप्त है, परन्तु उसमें कार्यपूर्ण सफलता उस समय के अनुसार इङ्गलैंडवालों ने ही पहले प्राप्त की। अब इङ्गलैंड के व्यापारियों को अन्य देशों के व्यापारियों की अपेक्षा एक नवीन शक्ति मिल गई। इङ्गलैंड में मशीनों द्वारा उत्पादित पदार्थ का उत्पादन-मूल्य पहले की अपेक्षा बहुत कम होता और पदार्थ थोड़े समय में अगणित संख्या में बन सकते थे। ये दोनों बातें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाने में बहुत महत्वपूर्ण थीं। ये दोनों बातें मशीन द्वारा पदार्थ-उत्पादन में आवश्यक थीं। पदार्थों का उत्पादन-मूल्य तभी कम हो सकता था जब पदार्थ-उत्पादन बहुत बड़ी संख्या में हो। सस्ते मूल्य में असंख्य मात्रा में पदार्थ-उत्पादन करने से इङ्गलैंड अन्य देशों की माँग कम मूल्य में पूरी कर सकता था। जहाज़ी-कम्पनियों तथा व्यापारिक कम्पनियों द्वारा सामान दूर देशों को कम ख़र्चे से ले जाने तथा उनके देश में बेचने का सुप्रबन्ध तो पहले ही हो चुका था। फलत. कम उत्पादन-मूल्य, कम भाड़े का ख़र्च तथा माल बेचने की सुगमता ने इङ्गलैण्ड को वाणिज्य-व्यापार में अन्य देशों से अग्रसर ही नहीं किया, वरन् सारे संसार के व्यापार का एक बड़ा भाग इङ्गलैंड के अधीन हो गया, जिससे इङ्गलैंड आर्थिक उन्नति के शिखर पर पहुँचने लगा। अन्य देशों की तरह इङ्गलैंड ने भी दूसरे देशों में बैंक, व्यापारिक कम्पनियाँ, रेल इत्यादि अपने धन तथा सूद और मुनाफे से बनवाईं और वहाँ की कला-व्यापार तथा उत्पादन पर अपना प्रभुत्व जमाया। अब इँगलैंड अनुकूल-व्यापार-अवशेष की नीति का पूर्ण रूप से पालन करने लगा, जिसके फलस्वरूप संसार के अन्य देशों का, जहाँ इङ्गलैंड के उत्पादित पदार्थ बेचे जाते थे, धन सिमट-सिमटकर इङ्गलैंड को आने लगा। इस समय इँगलैंड ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को एक नया रूप दिया। चूंकि देश-देशान्तरों का पदार्थ उत्पादन-संबधी व्यापार शिथिल पड़ गया, अतएव इँगलैंडवाले वहाँ का कच्चा माल मोल ले लेते और उस कच्चे माल से मशीन द्वारा पदार्थ उत्पादित कर फिर उन्हीं देशों को बेचते थे। इस प्रकार उत्पादन-मूल्य तथा कच्चा माल लाने और उत्पादित पदार्थ ले जाने का भी मूल्य और व्यापारिक लाभ इङ्गलैंड को मिलता था। व्यापार सुरक्षित तथा पर्याप्त होने से इङ्गलैंड की जहाज़ी कम्पनियों, बैंकों तथा नाना प्रकार के व्यापार-संबधी अन्य व्यवसायों ने बहुत उन्नति की। और इस प्रकार इङ्गलैंड संसार के व्यापार तथा धन का केन्द्र बन गया। इस अवस्था को सुरक्षित रखने के लिए इङ्गलैंड ने केवल व्यापारिक नीति ही का भरोसा नहीं किया वरन् राजनीति और राजशक्ति से भी पूर्ण सहायता ली। व्यापारिक कम्पनियों तथा बैंकों द्वारा प्रभावशाली होने के साथ-साथ इङ्गलैंड ने अपने धन, जन तथा हित की रक्षा के लिए थोड़े-थोड़े सैनिक भी भेजना आरम्भ किया। अब ये व्यापारिक कम्पनियाँ अपनी धनशक्ति तथा सेना के सहारे उन देशों की राजनीति में भी प्रभाव डालने लगीं और कुशल कूटनीति द्वारा अन्य देशों की राजनीति तथा व्यापारी प्रभाव को दबाने में सफल हुईं। भारतवर्ष में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का इतिहास इसी क्रम तथा नीति का साक्षी है। अब राष्ट्र द्वारा व्यापार को और व्यापार द्वारा राष्ट्र को सहायता मिलने के कारण इङ्गलैंड ससार में अपना प्रभुत्व बनाये रखने में समर्थ हुआ। पर इतना होने पर भी दूसरे देशों की व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता बिल्कुल बन्द नहीं हो पाई और उन देशों में जहाँ इङ्गलैंड का उत्पादित माल बेचा जाता था क्रमश: बेकारी और निर्धनता बढ़ने लगी। इङ्गलैंड को यह भय हुआ कि उसका वर्त्तमान महत्वपूर्ण स्थान इस

बेकारी के कारण कहीं संकट में न पड़ जाय। साथ ही इँगलैंड के विद्वानों ने यह भी विचार किया कि इँगलैंड की वर्तमान अवस्था तभी चिरस्थायी हो सकती है जब अन्य देश इसी आर्थिक संगठन को संसार के हित का आर्थिक संगठन मानने लगें और इसको बनाये रखने में योग दें। अतएव मशीनों के नये आविष्कार का सहारा लेकर संसार के व्यापारिक दृष्टिकोण को फेरने की चेष्टा की गई। यह सच है कि मशीनों के चमत्कार ने कुछ समय के लिए संसार में चकाचौंध पैदा कर दी थी, क्योंकि मशीनों के व्यवहार द्वारा संसार के विद्वानों को एक नये प्रकार की आयोजना का भान हुआ। जो पदार्थ पहले राजपरिवार के अतिरिक्त अन्य साधारण जन मोल नहीं ले सकते थे वे इतनी बड़ी संख्या में और इतने सस्ते भाव बिकने लगे कि देश का निर्धन परिवार भी उनका उपभोग करने लगा। उत्पादन-कला की वृद्धि का कुछ ठिकाना ही न रहा। नाना प्रकार के पदार्थ सुगमता से बनते और सुदूर देशों को भेजे जाते थे। इँगलैंड के विद्वानों ने मशीनों के प्रति संसार के देशों के इस नवीन अनुराग का पूर्ण लाभ उठाया और यह विचार स्थापित किया कि पदार्थ-उत्पादन तथा जनसाधारण के भोग के हित के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादन मशीनों द्वारा ही हो और केवल वही देश पदार्थ-उत्पादन का कार्य करें जो कम-से-कम मूल्य पर उत्पादन कर सकें। बाकी दूसरे देश पदार्थ-उत्पादन को छोड़कर कच्चा माल पैदा करें अथवा खेती के कार्य में निपुणता प्राप्त करें। इसको 'अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादन सहयोग की नीति' का उज्ज्वल नाम दिया गया। इस योजना को पूर्ण करने के लिए यह भी विचार प्रगट किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार निर्वाधित (Free trade) होना चाहिए, जिससे वास्तविक सुविधाओं (Real abvantages) के आधार व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता द्वारा व्यापार प्राकृतिक नियमों के अनुसार चल सके और इस प्रकार संसार के व्यापार की उन्नति की चरम सीमा प्राप्त हो। इन सराहनीय सिद्धान्तों के आधार पर प्रमुख अँगरेज़ अर्थशास्त्रज्ञ एडम स्मिथ ने 'इँगलैंड का वर्त्तमान हित ही संसार का हित है', यह सिद्ध करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की। उन दिनों मशीनों द्वारा पदार्थ-उत्पादन का मुख्य केन्द्र इँगलैंड था। एडम स्मिथ के सिद्धान्त के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादन सहयोग के आधार पर इँगलैंड को पदार्थ-उत्पादन का कार्य मिलना चाहिये था और अन्य देशों को खेती तथा कच्चा माल पैदा करना चाहिए था। इसी तरह निर्वाधित व्यापार के मानी यह हुए कि इङ्गलैंड के उत्पादित पदार्थों को मूल्य के अलावा किसी अन्य विचार से दूसरे देशों में जाने से न रोका जाय, चाहे इसमें उन देशों में उत्पादन-कार्य नष्ट हो, व्यापार मन्दा हो अथवा बेकारी एवं निर्धनता का ही साम्राज्य क्यों न हो। अपेक्षित-उत्पादन मूल्य मत (Theory of Comparative Costs), जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के निर्णय में बड़ा महत्त्व रखता है, इसी अस्पष्ट ध्येय को लेकर फैलाया गया था। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में इँगलैंड की व्यापार-वृद्धि का अधिक श्रेय इन नवीन मतों के प्रचार तथा प्रचारकों को ही है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के इतिहास के निरीक्षण से यह सारांश निकलता है कि तेरहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक स्वदेशहित आर्थिक नीति की धारा प्रबल रही है और उसके नग्न रूप को छिपाने के लिए बड़े-बड़े सराहनीय सिद्धान्तों की ओट ली गई है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त के पहले ही इस नीति का विरोध होने लगा। विरोध का कारण यह नहीं था कि विरोधी दल कोई सर्वहित की नीति चलाना चाहते थे, परन्तु उनकी यह चेष्टा थी कि इँगलैंड की नीति का खण्डन इस प्रकार किया जाय कि उनके देशहित की नीति के लिए अन्य देशों से सहानुभूति मिले और वे भी अपने देश की आर्थिक उन्नति कर सकें। उन्होंने इस विरोधी नीति को आर्थिक संरक्षण (Economic Protectionism) के नाम से सम्बोधित किया। उनकी धारणा यह थी कि प्रत्येक देश को अपनी कला, व्यापार तथा आर्थिक हित की रक्षा का अधिकार होना चाहिए। वास्तव में, यह मत बहुत सरल तथा सर्वमान्य है, परन्तु इसका लक्ष्य था निर्वाधित व्यापार-नीति (Free trade) को तोड़ना, जिसके द्वारा ही इँगलैंड के व्यापार पर यथार्थ धक्का लगाया जा सकता था। इस नये मत का प्रचार उन देशों ने किया, जो वास्तव में उत्पादन-क्षेत्र में बड़ी सफलता से इँगलैंड की प्रतिद्वन्द्विता कर सकते थे, परन्तु जिन्हें इँगलैंड की एक शताब्दी पूर्व की संचित धनराशि, व्यापारिक अनुभव तथा सुसंगठित उत्पादन-प्रणाली निर्वाधित प्रतिद्वन्द्विता में ठहरने नहीं देती थी। वे चाहते थे कि राष्ट्रीय प्रतिबन्धों द्वारा कुछ समय के लिए इँगलैंड के उत्पादित पदार्थ उनके देश में न जाने पाएँ और इस समय में वे स्वयं अपनी उत्पादन-शक्ति इतनी प्रबल कर लें कि इँगलैंड की प्रतिद्वन्द्विता उन्हें व्यापारक्षेत्र में नीचे न गिरा सके। इस मत का सर्वप्रथम नेता एक जर्मन अर्थशास्त्रज्ञ था, जिसका नाम लिस्ट (List) था। इसने अपने मत को तीन सिद्धान्तों के रूप में संसार के सामने रक्खा। उसका कहना था कि

उद्योग की प्रारम्भिक अवस्था में किसी देश के निवासी औद्योगिक उन्नति की उच्च श्रेणी तक पहुँचने के योग्य नहीं होते। वे अन्य देशों से उत्पादित पदार्थ मोल लेते हैं और उसके मूल्यस्वरूप कच्चा माल देते हैं। इस प्रकार के व्यापार से उनका उत्पादित पदार्थों के सबंध में ज्ञान बढ़ता है और उनकी व्यापारिक शक्ति प्रबल होती है। औद्योगिक उन्नति की मध्यम अवस्था में देशवासी साधारण प्रकार के पदार्थ उत्पादन कर सकने योग्य होते हैं और इस प्रकार निरन्तर चेष्टा करते रहने से वे अधिक दुष्कर उत्पादन-कार्य की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। यदि वे इस क्रमानुसार कार्य करते रहें तो तीसरी अवस्था में यह देश औद्योगिक प्रभुत्व में भाग लेने लगता है। इस अवस्था-क्रम के आधार पर लिस्ट ने व्यापार के सम्बन्ध में इस धारणा का प्रचार किया कि प्रारम्भिक अवस्था में उन देशों के साथ निर्बाधित व्यापार का स्वागत करना चाहिए जो उद्योग में उन्नति कर चुके हों, क्योंकि इससे औद्योगिक शिक्षा मिलने में सहायता होती है। साथ ही इस प्रकार उत्पादन के लिए मशीनें इत्यादि भी अन्य देशों से मोल ली जा सकती हैं। दूसरी अवस्था में देशों में बन सकने योग्य पदार्थों को बनाने के लिए नए कारख़ाने स्थापित करना चाहिए और उनके संरक्षण के लिए अन्य देशों के बने हुए उन पदार्थों पर आयात-कर द्वारा रोक लगानी चाहिए। तीसरी अवस्था में संरक्षक-कर (Protective duty) का कार्य पूर्ण हो चुकने पर आयात-कर को हटा देना चाहिए। लिस्ट के इस संरक्षण (Protection) पक्ष के मत को अल्पकालिक उद्योग की पुष्टि का सिद्धान्त (Protecion of Infant Industries) कहते हैं।

इस मत के समर्थन में लिस्ट का कहना है कि किसी भी देश को इसलिए औद्योगिक एकाधिकार नहीं मिलना चाहिए कि वहीं औद्योगिक उन्नति पहले प्रारम्भ हुई। साथ ही प्रतिद्वन्द्विता के भय से अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोगिक उत्पादन के नाम पर पिछड़े हुए देशों को उन्नति करने का अवसर न देकर सदैव के लिए नीची श्रेणी के उद्यम में लगाये न रक्खा जाय। इस तर्क का लक्ष्य इङ्गलैंड के एडम स्मिथ द्वारा प्रचार की गई अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-नीति का काट करना था।

औद्योगिक संरक्षण में एक मत यह भी है कि इसके द्वारा देश में बेकारी घटाई जा सकती है। बेकारी दूर करने के तर्क के आधार पर कई देश तो यहाँ तक बढ़ गये हैं कि वहाँ प्राकृतिक सुविधाओंवाले उद्योगों के अतिरिक्त ऐसे भी उद्योग किये जाते हैं, जिनके लिए कच्चा माल इत्यादि अन्य देशों से लाना पड़ता है। इसका उदाहरण इङ्गलैंड के रुई के कपड़े के कारख़ाने, जापान के लोहे के सामान बनाने के कारख़ाने और रुई के कपड़े के कारख़ाने इत्यादि हैं।

संरक्षण के पक्ष में एक सारपूर्ण तर्क यह भी उठाया गया है कि प्रत्येक देश को अपनी राष्ट्र-स्वतन्त्रता बचाने के साधनों को एवं अन्य सहायक पदार्थों को अपने देश ही में बनाना चाहिए, चाहे इसमें औद्योगिक रूप से हानि ही क्यों न हो। पिछले महायुद्ध के बाद कुछ देशों ने इस तर्क को बहुत महत्व दिया और अपने देश में आवश्यकता के सब पदार्थ बनाने की आयोजना की। उन्होंने इस बात पर विचार नहीं किया कि ऐसा करने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संकुचित होगा अथवा उन्हें ये पदार्थ अन्य देशों से मोल लेने के मूल्य की अपेक्षा महँगे पड़ेंगे। वास्तव में ऐसे देशों में व्यक्तिगत व्यापारिक स्वतन्त्रता का लोप-सा हो गया है और राष्ट्र ही ऐसे प्रश्नों का निर्णय करता है। उनका ध्येय है अपनी आवश्यकताओं को देश के अन्दर ही पूर्ण करना। इस नीति को आर्थिक स्वत:पूर्त्ति (Economic sufficiency) की नीति कहते हैं। उनकी धारणा है कि इस नीति का पालन करने से शत्रु देश की स्वतन्त्रता नहीं छीन सकते और न देश बेकारी तथा निर्धनता के कठोर जाल में फँस सकते हैं। उनका कहना है कि आजकल स्वातन्त्र्य-रक्षा के लिए उपयोगी पदार्थ तथा जीवन सामग्री उतनी ही आवश्यक हैं जितने कि शस्त्रादि, क्योंकि अब किसी देश को पराजित करने के लिए शस्त्र का व्यवहार कम करके आर्थिक बहिष्कार, व्यापारबन्दी इत्यादि का कठोर व्यवहार किया जाता है। इसलिए शस्त्रबल के साथ-साथ आर्थिक बल भी अधिक होना चाहिए। इस मत का भी सर्वप्रथम नेता जर्मनी है। यह निर्बाधित व्यापार के विपक्ष की दूसरी सीमा है। इसमें सन्देह नहीं कि इङ्गलैंड की व्यापारिक नीति भी इस मत के लिए उत्तरदायी है, परन्तु इसमें भी कोई आश्चर्य की बात नहीं कि यह मत केवल इङ्गलैंड के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा आर्थिक प्रभुत्व को मिटाने का एक प्रयत्न ही हो। सम्भव है कि आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता से ही ऐसे विचार का प्रचार तथा पालन किया जा रहा हो। इसमें तो सन्देह नहीं कि आर्थिक स्वदेशहित इस धारणा का भी मूल है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में मर्केन्टाइलिस्ट के समय से आज तक स्वदेशहित ही मुख्य ध्येय रहा है, 'सर्वहितनीति' अथवा 'अन्तर्राष्ट्रीय हित नीति' केवल भ्रमपूर्ण धारणाएँ
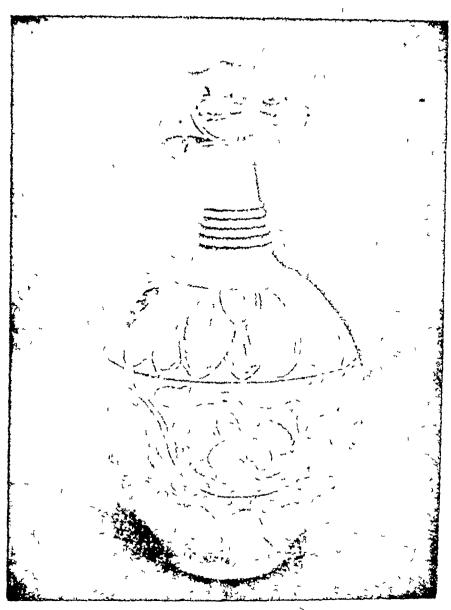
उत्तरकालीन टैङ् राजवंश के युग (९वीं–१०वीं शताब्दी ईस्वी) का एक सुन्दर कलश
इसकी मनोहर नक्काशी और कलापूर्ण आकृति पर ध्यान दीजिए।
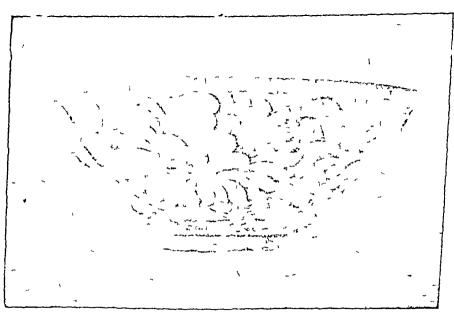
सुङ् राजवंश के काल (९६०–१२८० ई०) का एक चीनी मिट्टी का नक्काशीदार प्याला।

चीनी भास्कर्य या तक्षण-कला

पिछले अंक में हमने चित्रकला के क्षेत्र में चीन की देन एवं विशेषताओं का परिचय पाने का प्रयास किया था। प्रस्तुत प्रकरण में कला के दूसरे महत्त्वपूर्ण अंग भास्कर्य या मूर्त्ति-निर्माण के संबंध में चीन की प्रगति का दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

चीन की चित्रकला की भाँति वहाँ के भास्कर्य या मूर्त्तिनिर्माण-कला को भी एक अत्यंत प्राचीन वंशपरंपरा से युक्त होने का गर्व और गौरव प्राप्त है। इस क्षेत्र की प्राचीनतम कलाकृतियाँ और उनका इतिहास तो आज पुरातत्त्व के धुँधले कोहरे में विलीन है—उनके संबंध में हमारी परिमित जानकारी केवल श्रुति-मूलक है न कि वास्तविक अवशिष्ट स्मारकों पर प्रस्थापित। हाँ, ईस्वी पूर्व तीसरी शताब्दी के अंतिम चरण के लगभग के "दैत्याकार बर्बरों" (जिनके बारे में कहा नहीं जा सकता कि वे ठीक-ठीक किस जाति के और कौन लोग थे) की बारह भीमकाय मूर्त्तियों तथा हरिण के शीश एवं ड्रेगन के शरीर की मिश्रित दानवीय आकृतियों के साँचे में ढाले गये कुछ घटाओं के विशाल ढाँचों का इतिहास में उल्लेख मिलता है, जिन्हें महान् सम्राट् चिन शिह हुआङ् ती ने अपने राज्य भर के युद्ध-संबंधी शस्त्रों की धातु गलाकर बनवाया था। यह संभवतः संसार के इतिहास में निःशस्त्रीकरण का सबसे पहला उदाहरण था और तिथिक्रम की दृष्टि से नेपोलियन द्वारा प्रवर्त्तित शत्रुओं की तोपों की धातु गलाकर विजयसूचक तोरण-द्वार बनवाने की प्रथा से लगभग २,००० वर्ष पूर्व की यह घटना थी। ये काँसे की दैत्याकार मूर्त्तियाँ शांसी प्रान्त में वी नदी के तट पर हूसिआओ याङ् के समीप निर्मित राज-प्रासादों में से एक के सामने खड़ी की गई थीं, किन्तु कालान्तर में अन्तिम हान राजवंश के तुङ् चौ नामक राजा द्वारा गला डाली गई थीं, जिसने उनके सिक्के बनाकर राज्य में प्रचलित कर दिए थे। इन मूर्त्तियों की कलात्मक विशेषताओं के बारे में, सिवा इसके कि वे भीमकाय आकार की थीं, आज बहुत कम हाल हमें मालूम है किंतु हमारी समझ में वे उन मन्दिरों के द्वारपालों की भयंकर मूर्त्तियों से ही बहुत-कुछ मिलती जुलती रही होंगी, जिनसे कि हमें उत्तरकालीन चीनी भास्कर्य में इतना अधिक परिचय प्राप्त करने का अवसर मिलता है।

काँसे की कुछ छोटी-छोटी मूर्त्तियों का पता चिन राजवंश के समय में हमें मिलता है। इनमें से अधिकांश बहुत छोटे आकार की हैं और धार्मिक बलि-पात्रों के ढक्कनों पर अलंकार के रूप में प्रयुक्त की गई हैं। इनके विषय भी प्रधानतया आलंकारिक ही हैं और उत्तरकालीन युग की भाँति इस संबंध में विशेषतर पशुओं की आकृतियों ही का अधिकांशतः आश्रय लिया गया है। ड्रेगनों के चित्र पहले पहल इसी युग में हमारे सामने आते हैं, जो अत्यन्त ही भयानक, वीभत्स और विचित्र हैं। कभी-कभी बड़े घंटों के पकड़ने के दस्ते भी इन्हीं आलंकारिक दैत्याकृतियों से विभूषित मिलते हैं।

इस बात का अनुमान लगाना हमारे लिए संभव नहीं है कि इस क्षेत्र की आरम्भिक कला का स्वरूप क्या रहा होगा, क्योंकि चिन युग की सुविकसित कला की पृष्ठभूमि में दीर्घकालीन प्रयोग और अभिव्यक्ति के असफल प्रयासों का भी एक लम्बा समय अवश्य ही गुजरा होगा। बहरहाल यह धारणा की जाती है कि चाओ काल की कला (११२२–२५६ ई० पू०), जो कि चिन युग के ठीक पहले की थी, सांकेतिक और बहुत-कुछ रेखागणित की आकृतियों में निबद्ध ही रही होगी और इस दृष्टि से चिन और हान-युग की उस कला से इसका गहन विरोध रहा होगा, जिसका

वेई तारतार और छः राजवंशों के युग की एक अश्व-मूर्ति

इसका समय चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईस्वी के लगभग माना जाता है। इसके सजीव चित्रण को देखकर सहज ही पशुओं के मूर्तिनिर्माण अथवा चित्रांकन में चीनी प्रतिभा के सामर्थ्य का अनुमान हम लगा सकते हैं।

कि लक्ष्य " वस्तुओं की गति-विधि का यथार्थ चित्रण एवं कलात्मक आकारों के निगूढ़ तत्त्व की अभिव्यंजना करना ही था।"

हान-युग की कलाकृतियों के ऐसे बहुत कम स्मारक अवशिष्ट हैं, जिनके आधार पर हम उस युग की कला की लाक्षणिक विशेषता का किसी दर्जे तक सही-सही अन्दाज़ लगा सकें। जो कुछ थोड़े-बहुत नमूने प्राप्य हैं, उनमें तथा मिट्टी या काँसे में निर्मित कुछ छोटी कलाकृतियों से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि इस युग का भास्कर्य मानवाकृति के चित्रांकन की अपेक्षा पशुओं की आकृतियों के आलेखन के अधिक उपयुक्त था। आदि काल ही से पशु-पक्षियों के प्रति चीनी लोगों का अनुराग कला के क्षेत्र में चित्रों एवं मूर्तियों दोनों ही में अभिव्यक्ति का मार्ग खोजता रहा है। फलस्वरूप मानवाकृति का चित्रांकन बहुत बाद में प्रचलित हुआ प्रतीत होता है। इस दृष्टि से चीनी तक्षण-कला के क्षेत्र में वे ही कृतियाँ कुछ कलात्मक कही जा सकती हैं जो कि उभारकर खोद-कर बनाई गई हैं तथा जो वस्तुतः मूर्तियों की अपेक्षा पाषाण में निर्मित चित्रों जैसी ही हैं। हाँ, मिस्री समाधियों में पायी जानेवाली मूर्तियों से मिलती-जुलती मृतक पर उत्सर्ग की गई जो छोटी छोटी प्रतिमायें यहाँ भी पायी गयी हैं वे अवश्य ही कभी-कभी प्रचुर कला-त्मक सौंदर्य का आभास देती हैं। किन्तु ऐसी मूर्तियाँ अपेक्षाकृत बहुत ही कम उपलब्ध हैं और प्रायः कला की दृष्टि से पशुओं के चित्रांकन से वे घटिया ही साबित हुई हैं।

चीनी मूर्ति-कला पर आज के सबसे बड़े प्रामाणिक लेखक प्रो० ऑस्वाल्ड साइरन ने हान-युग की कला की विशेषताओं का बड़े प्रशंसनीय ढंग से संक्षेप में निम्न प्रकार वर्णन किया है—

"चीनी लोगों ने किसी समय भी मानवाकृति को स्वतः कला का निमित्त नहीं माना, वरन् उन्होंने उसका उपयोग केवल किसी क्रिया अथवा चेतना के पहलू विशेष को साकार बनाने के लिए ही किया। वे शारीरिक गठन अथवा मांसपेशियों की बनावट (organism) से कहीं अधिक विशेष प्रकार की आकृतियों, मनोभावों एवं परिधान संबंधी बारीकियों का चित्रांकन करने में ही दिलचस्पी लेते थे। किन्तु पशुओं की प्रस्तर-मूर्तियों के निर्माण में बिल्कुल ही दूसरी बात घटित होती है। इस क्षेत्र की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ तो (बावजूद इसके कि वे बहुधा छोटे आकार की ही हैं) ऐसी चिरस्मरण रखने योग्य महान् रचनाएँ हैं, जो किसी भी अन्य राष्ट्र अथवा युग की पशुमूर्त्तियों से

घटकर नहीं ठहरेंगी। आरंभ के युगों में जो रूढ़िप्रियता दिखायी देती है उससे अवास्तविकता की ध्वनि नहीं निकलती, प्रत्युत् शारीरिक सगठन, गति-सबधी सौष्ठव एव मूर्त्ति की साकारता ही अधिक प्रस्फुटित हुई है। इस प्रकार कला की दृष्टि से ये मूर्त्तियाँ महान् तथा प्रभावपूर्ण हैं।"

हानकालीन मूर्त्तिकारों ने न केवल अलग-अलग पशुओं के निर्माण में ही नैपुण्य प्राप्त किया बल्कि पशु समूहों के चित्रांकन में भी। अक्सर उन्होंने दो-तीन पशुओं को ही साथ-साथ बड़ा सुघराई से सजाया है और अधिक से अधिक पेचीदगी के साथ उनको जटिल और विचित्र स्थितियों में खड़ा किया है, जिन्हें देखकर चीन के शिल्प-गृह का प्रत्येक दर्शक 'वाह वाह' कर उठता है। युद्ध करते हुए पशुओं की प्रतिमाएँ तो और भी दर्शनीय हैं, क्योंकि उनमें अगों के अधिक से अधिक तनाव एव मांस-पेशियों की हरकतों का पूर्ण विकास चित्रित होता है तथा शरीर एक दूसरे से इस प्रकार उलझे हुए प्रतीत होते हैं कि वे सब मिलकर शिल्पकार की ललित कल्पना को एक बहुत ही सजीव और कलात्मक ढग से मूर्त्तिमान् बना देते हैं। पशुओं के भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार का सबसे अच्छा प्रदर्शन समाधियों में प्रतिष्ठान के लिए निर्मित मिट्टी की लघुमूर्त्तियों में मिलता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मिट्टी ही वह सरलतम और सबसे सुलभ माध्यम है जिसमें पत्थर अथवा लकड़ी की अपेक्षा कलाविषयक नैपुण्य और चतुराई के प्रदर्शन की सबसे अधिक गुंजाइश होती है। यही कारण है कि चीन की मिट्टी की मूर्त्तियाँ कहीं अधिक यथार्थवादी, ताजगी से भरी हुई और सजीव हैं, जैसा कि गढ़ी हुई शिल्प मूर्त्तियों में हमें देखने को नहीं मिलता, क्योंकि माध्यम के कड़ेपन और लचीलेपन के उसमें अभाव के कारण ऐसी मूर्त्तियों की अभिव्यजना में स्वाभाविकता नहीं आ पाती। पालतू पशुओं में से अधिकांश के चित्र चीनी समाधियों की लघुमूर्त्तियों में अकित मिलते हैं, क्योंकि जो पशु अपने मृत स्वामियों की समाधियों तक अनुगमन करते थे उनकी मूर्त्तियाँ मृतक के साथ दफनाने का रिवाज़ था। इसी प्रकार परलोक में अपने स्वामियों की सेवा करने के लिए भृत्यों की भी मूर्त्तियाँ इन पशुओं की मूर्त्तियों के साथ रखी जाती थीं। इन 'मिंग-ची' (समाधियों पर उत्सर्गित मानव-मूर्त्तियों) में प्राय. आश्चर्यजनक कौशल देखने को मिलता है—वे सजीव-सी मालूम पड़ती हैं। पूर्वकाल में चीन में पत्नियों के शव भी अवश्य ही अपने पतियों के साथ गाड़े जाते रहे होंगे, क्योंकि हान-काल की इन लघुमूर्त्तियों में सामान्यत दुबली-पतली महिलाओं की मूर्त्तियाँ भी बहुत अधिक पाई जाती हैं। इन स्त्रियों की ऐसी लम्बी पोशाक चित्रित है कि उनकी चौड़ी आस्तीनें देखकर जापानी 'किमोनो' नामक पोशाक की याद आ जाती हैं।

टैङ् युग (६१८-९०६ ई०) की एक कलापूर्ण प्रतिमा
यह कठोर तपस्या में निरत शाक्यमुनि का चित्र है। यह मूर्त्ति लाख के काम द्वारा बनाई गई है।

शुआन राजवंश के काल की एक क्वान्नन या करुणादेव की प्रतिमा

यह मूर्त्ति लकड़ी की बनी हुई है और इसका समय १२८२ ई० के लगभग माना जाता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हान-काल में विशाल प्रस्तर-मूर्त्तियाँ भी विद्यमान थीं, किन्तु शासन-सम्बन्धी परिवर्तनों के परिणामस्वरूप कलाकृतियों का विनाश इस सीमा तक हुआ कि विजेताओं ने पागलपन के आवेश में अधिकांश बृहत्तर कृतियाँ एकदम नष्ट कर दीं। सियान्फू ज़िले में घोड़ों और साँड़ों की स्मरणार्थक प्रतिमाएँ पाई गई हैं जो कि प्रसिद्ध सेनानायक हो-च्यू-पिंङ्ग की मृत्यु की स्मारक हैं। पर इन्हें देखने से दर्शक को कभी-कभी ऐसा मालूम होने लगता है कि उनमें कला का अपेक्षाकृत बहुत ही कम विकास हो पाया है।

हान युग की कलाकृतियों के विषय में ऊपर अभी तक जो कुछ कहा गया है उससे पाठक को तत्कालीन चीनी कला तथा प्राचीन मिस्र की कला की धाराओं में निस्संदेह बहुत कुछ समानता मिलेगी। यह समानता, जो कि ऊपरी निगाह में छिछली मालूम पड़ती है, वास्तव में गहराई तक जाती है, यद्यपि दोनों की कलाभिव्यंजना का स्वरूप नितान्त भिन्न है। मूर्त्तिनिर्माण-कला के क्षेत्र में चीनियों ने जो सृजनात्मक प्रयास किया, वह मृतात्माओं के निमित्त ही था, न कि जीवित प्राणियों के लिए। इसके प्रमाण में न केवल उपरोक्त मिट्टी और पत्थर की प्रतिमाओं के विभिन्न नमूने ही पेश किए जा सकते हैं, बल्कि स्तूपों के सम्मुख खड़े किए गए शिल्पस्तम्भों और समाधिगृहों (Spirit Chambers) की सजावट के लिए निर्मित अनेकों उभरी हुई मूर्त्तियों का भी उल्लेख किया जा सकता है। ये स्मारक 'शेन-ताओं' या प्रेतात्मा-पथ के, जो कि समाधि-स्थान तक जाता था तथा आगे चलकर स्तूप से दक्षिण दिशा की ओर एक सीधी रेखा में धीरे-धीरे बढ़ा दिया जाया करता था, प्रथम सोपान की मानों सूचना देते थे। समाधि के भीतरी भाग में प्रायः दो या तीन कक्ष होते थे (जैसा कि कोरिया की समाधियों में भी देखा जा सकता है)। इनमें पहला कक्ष प्रेतात्मा का अंत.कक्ष-गृह (Spirit Chamber) कहलाता था और ऐसा माना जाता था कि मृतात्मा निधन के बाद इसी कक्ष में निवास करेगी। इसके अतिरिक्त पीछे के कमरे में विभिन्न प्रकार के पात्रों तथा काँसे और मिट्टी की बनी गृहस्थी की विविध वस्तुओं के साथ शवाधार रखा रहता था। इन समाधियों के अधिकांश सजावट के काम, चाहे वे शिल्प के रूप में हों चाहे चित्रकारी के रूप में, इसी प्रेतात्मा-गृह में केन्द्रित रहते थे, जिसकी दीवारें प्रायः प्राचीन इतिहास और पुराणों की स्मारक घटनाओं के चित्रों तथा नैतिक शिक्षा देनेवाले चित्रों से आच्छादित रहती थीं।

उपर्युक्त प्रेतात्मा-पथ की दोनों बाजू में कभी-कभी प्रतीक-सूचक आकृतियों के सजावटदार स्तम्भों को खड़ा करने की भी प्रथा थी, जैसा कि हम मिस्र की समाधियों के सामने कतारों में प्रस्थापित स्फिंक्स की मूर्त्तियों के रूप में देखते हैं। ये स्तम्भ साधारणत: विशाल आकार के सुसज्जित चौकोर प्रस्तरखंडों पर निर्मित होते थे तथा १५ फ़ीट से लेकर २० फीट तक ऊँचे होते थे। सिरे पर से

बाहर की ओर निकली हुई अपनी कारनीसों के कारण वे सिरे की ओर से ज़रा भारी से देख पड़ते थे और फलतः यथार्थ में वे बहुत सुन्दर नहीं होते थे। ऐसे स्तम्भ होनान, शान्तुङ्ग, ज़ेचनान प्रान्तों में अधिकतर मिलते हैं, किन्तु शिल्प की दृष्टि से उनमे से केवल एक ही स्तम्भ की जोड़ी वास्तव में महत्त्वपूर्ण है। यह शेन नामक एक व्यक्ति की समाधि के पास निर्मित है, जो कि १८०० वर्ष पूर्व ज़ेचनान प्रदेश में मरा था। इन स्तम्भों के ऊपर चारों दिशाओं के प्रतीकों का बड़ा सुन्दर लाक्षणिक निदर्शन है—अर्थात् दक्षिण का लाल पक्षी द्वारा, पूर्व का श्वेत व्याघ्र द्वारा, पश्चिम का नीले ड्रेगन द्वारा और उत्तर का काले कछुए द्वारा। ये पशु-प्रतिमाएँ अपनी रेखाओं की सजीवता तथा अलकारपूर्ण चित्रण-शैली के कारण प्राचीन युग की काँसे और मिट्टी की सर्वोत्तम कलाकृतियों की तुलना में रक्खी जा सकती हैं। इस शैली में हमें उसी स्फूर्ति और स्नायविक खिचाव के दिग्दर्शन की एक झलक मिलती है जो कि इस काल के छोटे-छोटे काँसे के आभूषणों में विशेष रूप से पाई जाती है, और जिस पर कि सम्भव है पश्चिमी एशिया की कलाकृतियों का प्रभाव पड़ा हो।

हान समाधियों के ऊपर बनी हुई उत्‌ङ्कित मूर्त्तियाँ विभिन्न कोटि की और अधिक रोचक हैं, परन्तु वे चित्रकला की ही एक शाखा जैसी प्रतीत होती हैं। वे एक रूढ़िगत रेखा-शैली में अंकित हैं, जिसमें चीनी चित्रकारों के कुशल तूलिका-संचालन का ही अनुकरण किया गया है। वे ग्रीस, मिस्र अथवा असीरिया की उभरी हुई मूर्त्तियों (Reliefs) जैसी यथार्थ उत्‌कित मूर्त्तियाँ नहीं हैं। इन मूर्त्तिसमूहों में बहुधा अश्वारोहियों तथा रथों के लम्बे जुलूस अथवा रथों की निगरानी करते चलते हुए सवारों व मनुष्यों की कतारें दिखाई जाती हैं, जो संभवतः मृत-व्यक्ति की परलोकयात्रा का ही एक चित्रांकन हो। ये मूर्त्तिसमूह एक के ऊपर एक मंजिलवार सजाये गये हैं, जैसा कि ग्रीस के मिट्टी के पात्रों की चित्रकारी में देखा जाता है। यह इस प्रकार होता है कि मानवाकृतियों, पशुओं, वृक्षों, गृहों तथा इस प्रकार की अन्य वस्तुओं की अलग-अलग एक एक क़तार बनी होती है, जो कि खाली पृष्ठभूमि के कारण उन चीज़ों के छाया-चित्र (Silhouettes) जैसी मालूम पड़ती हैं। इनमें कलाकार की निपुणता मुख्यतः आकृति की रूपरेखा अथवा खुदी हुई रेखाओं के उत्तम प्रदर्शन में ही निहित होती है, क्योंकि इन समाधि-मूर्त्तियों में वस्तुतः मूर्त्तिकारी बहुत कम होती है और इसे ठीक
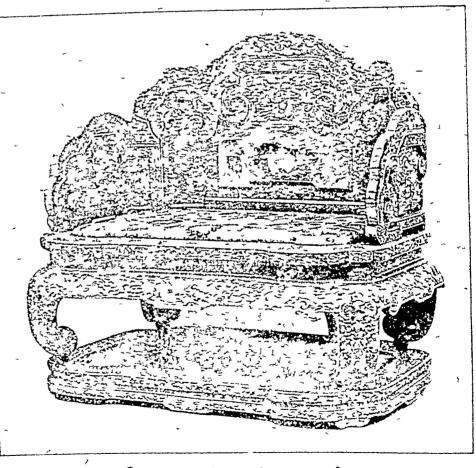
चिङ् राजवश के युग की एक कलाकृति

यह भव्य राजसिंहासन चिन् लुङ्ग (१७३६-१७९५ ई०) के राज्यकाल का गौरवशाली स्मारक है। नक़्क़ाशी के काम का यह सुन्दर नमूना है।

पीपिङ्ग से २६ मील उत्तर में सम्राट् युङ् लो और मिंट् राजवंश के अन्य बारह सम्राटों ने आज से पांच-छः सौ वर्ष पूर्व अपनी समाधियाँ निर्मित कराई थीं। इन समाधियों को जानेवाले मार्ग के दोनो ओर ऊँट, हाथी, सिंह आदि की विशाल पाषाण-मूर्त्तियाँ उन्होंने खड़ी की थीं, जो आज भी चीन को जानेवाले यात्रियों का ध्यान खींचती हैं।

अर्थ हैं भास्कर्य कहना ही कठिन है। बल्कि इसे तो पत्थर पर चित्रकारी का ही एक अनुकरण कहना उपयुक्त होगा।

जो पाश्चात्य विद्वान् दूसरे देशों की कला की हर अच्छाई को ग्रीक कला से प्रभावित मानने की ही प्रवृत्ति रखते हैं, वे यह मानते हैं कि घोड़ों के भव्य चीनी चित्र ग्रीस के अश्व-चित्रों के ही अनुकरण हैं, यद्यपि ऐसी धारणा की पुष्टि के लिए कोई प्रमाण नहीं। यों तो फिर यह भी कहा जा सकता है कि ग्रीस की कला की सारी बातें मिस्र की कला की ही देन हैं और ग्रीसवालों ने मिस्र की कला से जो भी लेने लायक था ले लिया। वस्तुत: चीनी तक्षण-कला का स्वरूप ग्रीक तक्षण-कला से बिल्कुल ही भिन्न है। चीनी भास्कर्य प्रधानत: स्मारणार्थक, आलंकारिक और रूढ़िगत भावना से ओत-प्रोत है जब कि ग्रीक कला वस्तुत: यथार्थवादी, दिखावटी (अपने कलात्मक अर्थ में) तथा शरीर-संगठन और उसकी गतिविधि के बाह्य निदर्शन से ही अधिक वास्ता रखती थी तथा अंतस्तल के सौन्दर्य एवं उसकी प्राणधारा के चित्रण की ओर से पराङ्मुख थी। यह आश्चर्य की बात होगी यदि यह माना जाय कि चीनियों सरीखी जन्मना अश्वारोही जाति ने अश्वमूर्त्तियाँ निर्मित करना सुदूर ग्रीस से सीखा हो, जब कि दूसरे प्रत्येक पशु की मूर्त्ति के निर्माण में उन्होंने ग्रीक कला की सहायता के बिना ही अपनी कलाप्रतिभा का पूरा-पूरा प्रयोग करने में सफलता पाई। वू परिवार की समाधियों के प्रवेश-द्वार पर निर्मित वंशचिह्न-सूचक ड्रेगनों, व्याघ्रों और सिंहों की मूर्त्तियाँ अच्छी तरह यह प्रदर्शित कर देती हैं कि चीनी शिल्पकार ग्रीसवालों की सहायता के बिना ही इस क्षेत्र में क्या कमाल दिखा सकते थे। वस्तुत: ऐसा विश्वास करना कठिन है कि चीनी अश्व मूर्त्ति तथाकथित बैक्ट्रियन स्रोत की ही उपज थी।

हान-वंश के पतन के पश्चात् चीनियों का कला-संबंधी नैपुण्य कुछ उतार की दशा में आ गया, क्योंकि इसके बाद के काल में चीन में अशान्तिपूर्ण युद्ध और राजनीतिक उथल-पुथल का वातावरण छा गया था। इस युग में कला के क्षेत्र में क्या हुआ, इसके विषय में बहुत ही कम हाल मालूम हो सका है, लेकिन ऐसा विश्वास किया जाता है कि हान-काल की कलाविषयक रूढ़ियाँ इस काल में भी

जारी रहीं। पत्थर की छोटी-छोटी मूर्त्तियाँ अब भी यथापूर्व समाधियों में रखी जाती रहीं और साधारण जीवन के वास्तविक दृश्य तो, जिनमें तत्कालीन पुरुषों और स्त्रियों के जीवन चित्रित रहते थे, इसी काल में सर्वप्रथम दृष्टिगोचर हुए। ऐसे दृश्य हमें प्राय गाते हुए, मुर्गियाँ चराते हुए, बच्चों को गोद में लिये हुए अथवा इसी प्रकार के काम-धंदों में व्यस्त स्त्री-पुरुषों की उन मिट्टी की मूर्त्तियों में देखने को मिलते हैं, जो होनान प्रान्त में पाई गई हैं।

इस काल की मूर्त्तिकला की बृहत्तर और सबसे भव्य कृतियाँ नानकिंग के राजवंशों के लिए निर्मित हुई हैं। ये दो भिन्न श्रेणियों में विभाजित हैं—सिंह मूर्त्तियाँ तथा शिमेरा की मूर्त्तियाँ। शिमेरा चीनी परंपरा में ड्रैगन और शेर इन दोनों के समागम से उत्पन्न एक पशु माना गया है। उसकी और सिंह की आकृति में मुख्यत यही प्रधान भेद है कि जहाँ चीनी मूर्त्तियों में असली शेर के कन्धों पर पंख भी प्रदर्शित रहते हैं, वहाँ उनके शरीर पर शिमेरा की तरह न तो पखने अथवा बड़े-बड़े स्केल ही होते हैं, न आलंकारिक दाढ़ी ही। सर्वप्रथम शिमेरा शुङ्ग-वेन-ती की समाधि में प्रतिष्ठित हुआ था और उसका समय सन् ४३३ ई० माना जाता है। सभी चीनी सिंहों की मूर्त्तियों के समान वह एक विशालकाय पेकिन के कुत्ते जैसा दिखाई देता है और उसके बदन भर में पखने या स्केल तथा उसके कानों और कन्धों पर दो जोड़े पख भी प्रदर्शित हैं। छठी शताब्दी के आदि से लेकर अन्त तक शिमेरा सम्राटों की शक्ति के प्रतीक और शाही समाधियों के संरक्षक बने रहे।

चिङ् युग (१७३६-१७९५ ई०) का एक कलापूर्ण शीशे का पात्र

इसके ऊपर उत्कीर्ण बेलबूटों के सौंदर्य पर ध्यान दीजिए।

विशेषज्ञों की दृष्टि में इन अद्भुत प्राणियों की प्रतिमाएँ चपलता और ओज के प्रदर्शन का चरम उदाहरण हैं। उनकी असाधारण भयंकरता और उमड़ते हुए शक्तिप्रवाह की तो बीसियों योरपीय कला-पारखियों ने प्रशंसा की है और कहा जाता है कि बावजूद अपने बृहदाकार शरीर के ये शिमेरा की मूर्त्तियाँ देखने में कड़े पक्के फौलाद की लचीली छड़ या कमानी जैसी प्रतीत होती हैं।

पखवाले सिंह भी, जिन्हें सभी कला के समालोचक शिमेरा के समान ही महत्त्वपूर्ण समझते हैं, उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए होते थे जो कि राजघराने के परिवारों की समाधियों के संरक्षक शिमेराओं का होता था। पंखवाले सिंहों की मूर्त्तियों के सबसे प्राचीन और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समूह लियाङ् परिवार के सदस्यों अर्थात् सम्राट् वू ती- के बन्धु बान्धवों की समाधियों पर प्रतिष्ठित हैं। शिमेरा और सिंह दोनों ही बिल्ली की जाति के पशु हैं और दोनों के विशाल टेढ़ी-मेढ़ी गर्दनें तथा पंख होते हैं; केवल इतना ही अन्तर होता है कि शेर के स्केल अथवा पखने नहीं होते और न शिमेरा की तरह उनके आलंकारिक दाढ़ी ही होती है। इसके अतिरिक्त उनके एक लम्बी-सी ज़बान होती है जो कि खुले हुए जबड़ों से बाहर निकले हुए सीने पर लटकती रहती है। योरपीय विद्वानों का अनुमान है कि पखदार सिंह की प्रतिमा बनाने का मूल विचार चीनियों को असीरिया के पंखयुक्त सिंहों को देखकर हुआ होगा। यह एक आश्चर्य की बात है कि उत्तरी प्रान्तों में इन सिंह-मूर्त्तियों के कहीं निशान नहीं दीखते जो कि तारतारों के प्रभुत्त्व में थे। फलतः असीरियन कला का प्रवेश

चीन में खोतान होकर आनेवाले सुप्रसिद्ध रेशम-व्यापार के मार्ग से ही हुआ होगा।

अब हम छः राजवंशों के युग के भास्कर्य के सबसे महत्त्वपूर्ण विभाग अर्थात् धार्मिक मूर्त्ति-निर्माण कला के विषय पर आ रहे हैं। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि भारतीय कला का प्रभाव चीन पर उस समय पड़ा जबकि भारत और मध्य एशिया में उसका विकास हुए बहुत दिन हो चुके थे। इस समय तक पहुँचते पहुँचते धार्मिक विषयों के भिन्न-भिन्न स्वरूप, प्रतीक आदि की निश्चित रूपरेखाएँ बन चुकी थीं, अतएव चीनी लोगों ने उन्हें उसी प्रकार ज्यों-का त्यों अपना लिया, जिस प्रकार कि उन्होंने बौद्ध धर्म-ग्रन्थों को अपनाया। और यदि इस सबंध में उन्होंने कुछ संशोधन भी किये तो उनका सबध विषय की अपेक्षा कलात्मक दृष्टि से उसके अर्थ-निरूपण ही से अधिक था। फलतः मूर्त्तियों के निर्माण सबंधी बौद्ध नियमों का कड़ाई के साथ पालन करने के कारण चीन की धार्मिक कला ने बहुत अंश तक अपनी स्वाभाविक विकासजन्य लाक्षणिक विशेषता खो दी। ऐसा मालूम होता है मानों वहाँ के कलाकार धार्मिक विषयों के चित्रांकन संबंधी निश्चित नियमों की बेडियों में जकड़कर सदैव तड़पते रहे और कभी भी उन्हें वास्तविक निश्चिन्तता नहीं प्राप्त हो सकी। चीन की बौद्ध मूर्तियों में से अधिकांश में पृथक्-पृथक् व्यक्तियों का ही शांत स्थिर मुद्रा में बैठे या खड़े हुए चित्रण पाया जाता है और सिवा किसी विशेष लाक्षणिक भावभंगी के उनमें गति का दूसरा कोई चिह्न हमें नहीं दिखाई दे सकता। उनके शीर्षभाग एक ही विशेष नमूने के हैं, यद्यपि उनमें कहीं-कहीं स्थानीय शैली के अनुरूप ज़रा-सा परिवर्त्तन भी देखा जा सकता है। बहरहाल उनमें सस्ती यथार्थवादिता का कोई प्रयास हमें नहीं दीखता जो कि पाश्चात्य जगत् में कला के नाम से अभिहित किया जाता है। चीन में सबसे प्राचीन बौद्ध प्रतिमाएँ काँसे की छोटी-छोटी मूर्त्तियाँ हैं, जिनमें कला-विषयक कोई कौशल नहीं मिलता। इनमें खड़ी ज्वालाग्नि अथवा पत्ते की शक्ल की द्युति के आगे, जिसमें ज्वालाग्नि रूपी आभूषण खुदे हुए होते हैं, आसन लगाए अथवा खड़े हुए महात्मा बुद्ध का चित्रण है। उनके परिधान स्पष्टत गान्धार के परिधानों की याद दिलाते हैं और छोटी-छोटी प्रतिमाओं के पीछे की वृहत् द्युति भी गान्धार की कला की ही विशेषता है।

चीन में बौद्ध मूर्त्तियों का सबसे विशाल समूह शांसी प्रान्त में सुप्रसिद्ध यून काङ् नामक गुफ़ा-मन्दिरों में मिलता है। इस स्थान पर जो बहुमूल्य सामग्री प्रदर्शित है, उसमें शैली-सम्बन्धी विभिन्न विचारधाराएँ अथवा प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं, जिनमें कुछ तो मध्य एशिया और भारत से आई हुई और कुछ चीनी कला के आरम्भिक स्वरूपों से सम्बन्धित पाई जाती हैं। यहाँ की कई आलंकारिक कृतियों में स्पष्ट रूप से ईरानी शैली की विशेषताएँ देखी जाती हैं और तक्षशिला तथा पेशावर के उत्कीर्ण भास्कर्य में स्थापत्यकला-विषयक जो नमूने मिलते हैं ठीक वे ही हमें यहाँ की कृतियों में भी मिलते हैं। साथ ही यहाँ हम सजावट की उन शैलियों की भी झलक पाते हैं, जो कि हान काल का स्मरण हमें कराती हैं। शिलाखण्ड में खोदकर बनाई गई मूर्त्तियों में जो सबसे प्रसिद्ध यहाँ हैं वे एक विशेष शैली में निर्मित की गई बुद्धों और बोधिसत्वों की भीमकाय प्रतिमाएँ हैं। किन्तु कला की दृष्टि से ये विशाल मूर्त्तियाँ अपेक्षाकृत गौण भागों में पाई गई इनसे छोटी प्रतिमाओं से कहीं घटकर ही हैं। इन लघुतर प्रतिमाओं के निर्माण में चीनी शिल्पियों ने लालित्यपूर्ण आकृति तथा सुसंगत रेखाचित्रण को सफल बनाने की अपनी भावना का पूर्ण उपयोग किया है।

शिल्पकला की यही शैली होनान प्रान्त के लुङ्मीन के सुप्रसिद्ध गुफ़ा-मन्दिर में भी पाई जाती है। इन गुफ़ा-मन्दिरों का निर्माण सन् ४६४ ई० के लगभग किसी समय आरम्भ हुआ था। यह बड़े दुःख की बात है कि शिल्पकला की अधिकांश सुन्दर कृतियाँ बहुत हाल में ही कला-कृतियाँ नाश करने की प्रवृत्ति के कारण नष्ट हो गई, जिसके परिणामस्वरूप मौलिक शिल्प-कलाकृतियों में से मुश्किल से १० प्रतिशत बच रही हैं। शेष सभी या तो चकनाचूर करदी गई या उनका शिरच्छेदन कर दिया गया। इनमें से कुछ प्रतिमाओं के पुराने मस्तकों के स्थान पर ऐसे मिट्टी के मस्तक लगा दिये गये हैं, जिनकी बनावट पहले से निकृष्ट है।

लुङ्मीन में सबसे सुन्दर और सबसे प्राचीन प्रतिमाएँ तथाकथित लेवो लाओ तुङ्ग नामक गुफ़ा में हैं। ये गुफ़ाएँ नीचे से लेकर ऊपर तक तह पर तह खुदे हुए ताकों से भरी हुई हैं, जिनमें विभिन्न बुद्धों और बोधिसत्त्वों की प्रतिमाएँ या तो अकेले या सेवा में उपस्थित भिक्षुओं के चित्रों सहित निर्मित हैं। इनमें से अधिकांश प्रतिमाएँ छठी शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में निर्मित हुई थीं। किंतु यथापूर्व कई शताब्दियों की कलाकृति-विनाश की प्रवृत्ति
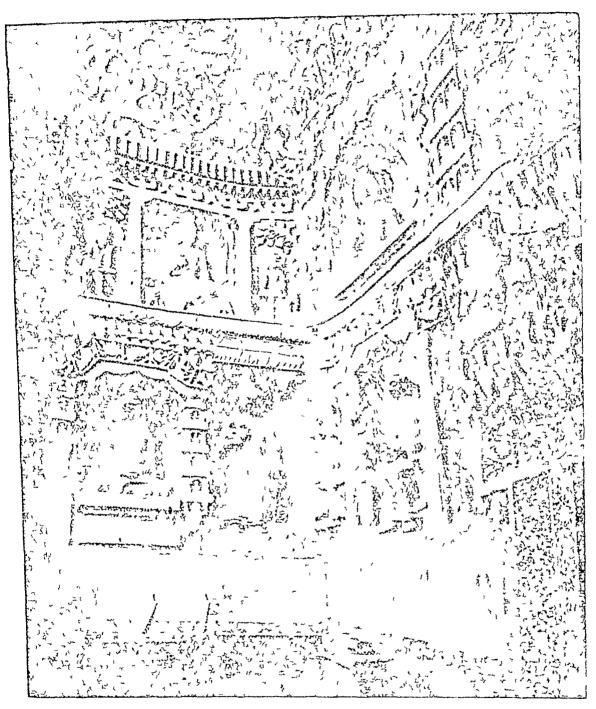
शासी प्रान्त के ता तङ्-फू नामक स्थान के समीपवर्ती एक गुफा-मदिर के भीतर वनी हुई उत्‌ कित मूतियां

नानकिङ के समीप हसिग्राश्रो चिङ् की समाधि के पास अवस्थित एक प्राचीन भीमकाय सिंहमूर्त्ति

होनान प्रान्त की सुप्रसिद्ध लुङ्मीन नामक गुफा में स्थित एक विशालकाय बुद्ध-मूर्त्ति

चीनी तुर्किस्तान में पाई गई एक बुद्ध मूर्त्ति
इसमें भारत की गाधार शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

(Vandalism) ने उन्हें अपने पूर्वकालीन गौरव से बहुत अंश में वंचित कर दिया है।

होनान में कुंगसिन के निकट शिन कू सू के गुफा-मन्दिरों में भी इस प्रकार की कलाकृतियाँ पाई जाती हैं। शैली की दृष्टि से वे लुङ्मीन की प्रतिमाओं की ही तरह हैं, किन्तु उनकी कलाविषयक विशेषताएँ बिल्कुल उतनी ही उत्तम नहीं।

एक अन्य प्रसिद्ध गुफा-समूह—तीन लुङ्ग शान के गुफा-समूह—की प्रतिमाएँ सम्भवतः सन् ५६० ई० और ५८० ई० के मध्य में किसी समय निर्मित हुई थीं। ये प्रस्तर-मूर्तियाँ बड़े ही कौशल से बनाई गई हैं और ध्यान को बर्बस आकर्षित करनेवाली यथार्थता उनकी विशेषता है। चित्र का विषय बिल्कुल वही है जो कि दूसरे गुफा-मन्दिरों की प्रतिमाओं का है अर्थात् महात्मा बुद्ध अरहतों, भिक्षुओं और दानियों के मध्य में बैठे हुए हैं। उनकी प्रमुख विशेषता यह है कि उनमें हाथों के चित्रण में परम्परागति भारतीय मुद्रा का प्रयोग हुआ है और महात्मा बुद्ध का दायाँ कन्धा अनाच्छादित है जो कि विशेष रूप में एक भारतीय रूढ़ि ही है और चीन की बुद्ध प्रतिमाओं में केवल बाद के टैङ् शिल्प में ही देख पड़ती है।

चिह-ली प्रान्त की प्रतिमाएँ भी क़रीब-क़रीब इस ढंग की हैं, लेकिन वे साधारण शिलाखण्ड के बजाय संगमरमर द्वार निर्मित हुई हैं। इसी प्रकार यून-मेन-शान की विशाल प्रतिमाएँ भी चौपहल शिलाखण्ड काटकर निर्मित हुई हैं और कुछ अधिक कलाविषयक नैपुण्य के साथ बिल्कुल उसी परम्परा को जारी रखती हैं।

चीन की समस्त ललित कलाओं तथा कारीगरियों का पूर्ण विकास टैङ्काल (६१९-९६०) में हुआ। टैङ् कालीन प्रथम शताब्दी कला की दृष्टि से साधारणत: चीन का सर्वश्रेष्ठ युग समझा जाता है। चीन में बौद्ध शिल्प की सबसे अधिक परिपक्व और सर्वोत्तम कृतियाँ इसी युग की देन हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता उनकी सर्वांगरूपेण पूर्णता है और उनकी शान का तो कहना ही क्या। ये चीजें इससे पहले के युगों की कलाकृतियों में मुश्किल से पाई जा सकती हैं। इनमें आकृतियों का पूर्ण और सशक्त विकास हुआ है और उनकी सजावट बड़ी ही वैभवपूर्ण और शानदार है। कहा जाता है कि पश्चिमी एशिया के कलाकृति-निर्माण के केन्द्रों, विशेषकर ससीनियन-साम्राज्य का इस काल की कला पर बड़ा प्रभाव पड़ा। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि भारत से जो विचार-धारा आई वह चीन के बौद्ध शिल्प के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी, जब कि काँसे और चाँदी की छोटी-मोटी कृतियों की सजावट में फारस की कला का प्रभाव बहुत साफ-साफ देखा जा सकता है।

तीन लुङ्ग शान की गुफायें, जो इसके बाद निर्मित हुईं, यह प्रमाणित करती हैं कि यह स्थान भारतीय कला के प्रभाव क्षेत्र का विशेष केन्द्र था। यहाँ का सबसे आकर्षक प्रतिमा-समूह वह है जिसमें बुद्ध मैत्रेय अन्य दो मूर्तियों के साथ एक ऊँचे आसन पर पल्थी मारे बैठे हुए हैं। इस प्रतिमा की अंगस्थिति, मुद्रा एव शारीरिक गठन से एक ऐसी निश्चिन्तता, आकर्षण एव मादकता का भाव टपकता है जो कि चीनी प्रतिमाओं में बहुत ही कम देखने में आता है। यह दु:ख की बात है कि इनमें से अधिकाश प्रतिमाओं को तथाकथित पाश्चात्य कलासमीक्षकों की कलाकृति-विनाश की प्रवृत्ति के कारण काफी धक्का पहुँचा है। प्राय: योरप और अमेरिका के विभिन्न अजायब-घरों में इन प्रतिमाओं को तोड़ मरोड़कर उनके अंग यहाँ-वहाँ बाँट दिए गए हैं।

कुछ प्रतिमाओं मे हम देखते हैं कि महात्मा बुद्ध का प्रमुख चित्र तो कमोबेश रूप में परम्परागत शैली में निर्मित हुआ है, किन्तु उसके साथ के बौद्ध सन्यासियों और भिक्षुओं का चित्रण सजीव रोमन चित्रों के समान बड़े ही यथार्थवादी ढग से हुआ है। इस प्रकार की कृतियाँ इस बात की द्योतक हैं कि शिल्पकार अब विशुद्ध धार्मिक प्रेरणा से ही सतुष्ट न रहे, बल्कि उन्होंने प्रकृति और मानव-जीवन की ओर भी दृष्टि डाली।

टैङ् काल के अंतिम दिनों में धार्मिक प्रतिमाओं की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई। किन्तु शिल्प-कलाविषयक विशेष प्रकार की निपुणता का अब ह्रास हो चला था। शिल्पकला ने चित्रकला के निजी गुणों का अनुकरण करने का प्रयत्न किया और बहुत सी भास्कर्य-कलाकृतियाँ तो सचमुच ही चित्रकला की सर्वश्रेष्ठ कृतियों के ही आधार पर अथवा अनुकरण में निर्मित हुईं और उन्हीं की भाँति वे रँगी और सजायी गईं।

१२वीं और १३ वीं शताब्दी में भास्कर्य द्वारा चित्रकारी करने का बड़ा चलन हो गया और इस काल की बहुत-सी प्रतिमाएँ लकड़ी और लाख के काम में निर्मित हुईं। इन प्रतिमाओं में से अधिकाश या तो खड़े हुए बोधिसत्व, अथवा क्वान्नन—करुणा का देवता अथवा देवी—की हैं, जो कि बौद्ध देवमडली के महान् अवलोकितेश्वर का अवतार माना जाता है। क्वान्नन, जो कि आरभ में पुरुष

छः राजवंशों के युग की एक काँसे की बौद्ध प्रतिमा

प्रभाव मंगोल काल में जनता के मस्तिष्क से जाता रहा। हाँ, ताओ धर्म का प्रभाव बढ़ रहा था। शांसी प्रान्त में हाओतीन क्वान की गुफा मूर्तियाँ ताओ-मतावलम्बी दार्शनिक ची-यून-त्सू के जीवन की घटनाएँ चित्रित करती हैं। इनमें इस युग से पूर्वकाल की चित्रकारी-सम्बन्धी रुचि काफी मात्रा में दृष्टिगोचर होती है।

मिंग काल (१३६८-१६४३) में चीनी शिल्पकला की प्रभावोत्पादकता तथा शक्तिसम्पन्नता का तेज़ी से ह्रास होने लगा था। बौद्ध-प्रतिमाओं के निर्माण की फिर एक बार बाढ़-सी आ गई और 'अरहतों' का निर्माण सर्वाधिक लोकप्रिय विषय बन गया। किंतु आरम्भिक कालों की कलाकृतियों को जो धार्मिक प्रेरणा स्फूर्ति प्रदान करती रही, वह अब बहुत मंद पड़ गई और कलाकारों की नैसर्गिक चित्रण की ओर प्रवृत्ति बढ़ने लगी।

इस काल की प्रतिमा वस्तुतः भास्कर्य के क्षेत्र में नहीं, बल्कि लघुतर कलाओं में, विशेषकर बढ़िया क़िस्म के मिट्टी के पात्रों के निर्माण में प्रकट हुई थी। इस युग के चीनी पात्र तत्कालीन सभ्य जगत् में बहुत अधिक लोकप्रिय बन गए थे।

मि० आसवल्ड साइरेन लिखते हैं—"मिंग युग के मूर्त्तिकारों ने विशाल खंभों तथा छज्जों के लघुस्तम्भों की पंक्तियों के निर्माण-जैसी सजावट की कला के क्षेत्रों में तथा स्थापत्य के अन्य विवरण के चित्राङ्कन में अपने सर्वोत्तम कला-नैपुण्य का प्रदर्शन किया है, किन्तु उन्होंने धार्मिक अथवा अधार्मिक किसी भी प्रकार की गढ़ी हुई कृतियों के किसी नये प्रकार-विशेष का सृजन नहीं किया। उन्होंने भास्कर्य के क्षेत्र में कोई नवीन प्रयत्न आरम्भ करने की अपेक्षा अपने से पहले के बने नमूनों के अनुकरण में ही कहीं अधिक प्रेरणा प्राप्त करने का प्रयत्न किया।"

था, १०वीं शताब्दी के लगभग महिला हो गया और शिल्पकारों ने उसके बोधिसत्ववाले गुणों की अपेक्षा उसके स्त्रीत्व के गुणों पर अधिक जोर देना शुरू किया। इन लकड़ी के तथा सोने के मुलम्मेवाले क्वाननों के अतिरिक्त मुख्यतः अरहतों के रूप में प्रस्तर-प्रतिमाओं का भी निर्माण होता रहा, जो बड़ी ही सजीव हैं और शायद जीवित नमूनों से प्रेरणा ग्रहण करके बनाई गई हैं।

युआन अथवा मंगोल राज-वंश ने सृजन की अपेक्षा विनाश ही अधिक किया। इस वंश के सम्राट् कोई नई प्रेरणा नहीं प्रदान कर सके—केवल उसी हद तक कला की ओर से वे संतुष्ट रहे, जहाँ तक कि उसके द्वारा सम्राटों और उनके सेनापतियों के गौरव के चित्रण का सवाल था। यह सच है कि ये सम्राट् सहिष्णु थे। किन्तु किसी प्रकार बौद्ध धर्म और कन्फ्यूशियस के मत इन दोनों ही का

संस्कृत वाङ्मय—(२)

वेद

ईसा से लगभग तीन हज़ार वर्ष पूर्व एक तरुण, प्रसन्न और पराक्रमी जाति भारतवर्ष की उत्तरी-पश्चिमी सीमा लाँघकर 'सप्तसिन्धु' की देहली पर आ खड़ी हुई। आर्यों की यह भारतीय शाखा, जो हिन्द-योरपीय आर्य जाति की पूर्वी लहर थी, अपनी नई अर्जित भूमि पर खड़ी हो चतुर्दिक् देखने लगी। उसके चरणों में चौड़ी तेज बहनेवाली नदियों की हरी-भरी सुन्दर तलेटी फैली पड़ी थी। उनकी चौड़ाई को देख 'सिन्धु' का भान होता था। उन दुर्दान्तविक्रम नवागतों को ज्ञात न था कि उनके लोहे की चोट लोहे पर बजेगी, ऐसे लोहे पर जिसकी मूठ मज़बूत हाथों में होगी। वे न जानते थे कि इस आकर्षक भूमि का इंच-इंच रक्त के दामों मिलेगा। बुनियादी, दूर तक फैले जंगलों में जहाँ-तहाँ नगर खड़े थे और इन नगरों के 'लौह दुर्गों' को आर्यों ने देखा, जिनकी छतें 'सौ-सौ स्तम्भों' पर टिकी थीं। ये सौ-सौ स्तम्भों के लौह दुर्गोंवाले भारतीय कृष्ण वर्ण के नत-नासिकावाले थे, जिन्हें आर्यों ने 'दास' और 'दस्यु' कहकर पुकारा। ये छोटे क़दवाले दास नागरिक जीवन के अभ्यस्त थे और उनकी भौतिक संस्कृति उन सुन्दर गौरवर्ण ऊँचे डीलवाले आर्यों की भोंदी ख़ानाबदोश सभ्यता से कहीं बढ़कर थी। घोड़ों की पीठ को अपना घर और धनुष-बाण को अपनी सम्पत्ति समझनेवाले आर्यों ने कलाप्राण उन भारतीयों को उनके महलों से मार भगाया।*

आर्य भावुक थे, प्रेम-पटु और कृतज्ञ। उनके सामने जो वनों का अनन्त विस्तार था उसके संख्यातीत निकुंजों में वे रम गए। वहाँ उनकी विश्वव्यापी चिन्तन की अनेकधा बेलें फूटीं। इस भेद-भरे देश ने नवागंतुकों के सम्मुख अपनी अमूल्य निधियाँ बिखेर दीं और उन्होंने उनमें वे साधन पाए जो उन्हें कभी न मिले थे। सदा के दौड़ते जीवन में उन्हें विराम न मिला था। सामने की समोहक जादूभरी भूमि में उन्होंने अपने टिकाऊ भविष्य के लक्षण देखे। सप्तसिन्धु के चमकते दिनों से उन्होंने अपने अभागे धुँधले पिछले दिनों की तुलना की और इस समृद्ध निसर्ग में अपने हँसते गाँवों के बल्ले गाड़े। फैले मैदानों में घोड़े दौड़ने लगे, फूस के घरों के सामने गाएँ जुगाली करने लगीं, उपत्यकाओं में भेड़ें हिरने लगीं। ख़ानाबदोशों ने यह सुख कभी न जाना था। हृदय कृतज्ञता से भर उठा और प्रेमालु स्वर अनियन्त्रित होगा उठा। काँपते होठों से निसर्ग की स्तुति में स्पन्दित राग का प्रादुर्भाव हुआ। कृतज्ञता के ये संगीत-सूक्त प्रकृति के अवयवों का स्तवन करने लगे और उनके विकम्पित स्वरों का तारतम्य स्वयं आर्यों की नस नस में स्फूर्ति भरने लगा। भविष्य की सुन्दर स्थिर सत्ता में उनका विश्वास जमा। प्रकृति के सुदर्शन प्राणपूरित और दयास्निग्ध अवयवों के पीछे उनके भीम, संहारक और दुर्मुख पूरक भी थे। उनके दर्शक आर्य प्रेम और भय दोनों से भर गए। मानव-जाति के इतिहास में पहली बार मनुष्य ने अपनी आकृति के अनुरूप देवताओं की अभिसृष्टि आरम्भ की। सर सर्वपल्ली राधाकृष्ण कहते हैं कि "मानव-मस्तिष्क रूपी कारख़ाने में जो देव-निर्माण का कार्य हुआ है उसका रूप जिस सफ़ाई के साथ ऋग्वेद में देखने को मिलता है वैसा और कहीं नहीं मिलता। इसमें हमें मानव-मस्तिष्क के प्रभात की ताज़गी और गौरव के दर्शन होते हैं जिसे क्रमागत रीतियों और जड़ीभूत परम्परा ने निष्प्राण नहीं कर दिया है।"† ऋग्वैदिक गायकों ने

*देखिये मेरी पुस्तक Women in Rigveda पृ० १-२।

† Indian Philosophy, खण्ड १, पृ० ७२।

विकम्पित स्वरों से अपनी नित्य की आवश्यकताओं के हेतु स्नेहशील देवताओं के स्तवन किए और अपने अनजान में किए पापों से त्राण के अर्थ रुद्रकाय देवों की प्रार्थना की। ऋग्वेद इन्हीं आर्यों के भय और प्रेम भरे सूक्तों का संचय और मानवता का प्रथम ग्रन्थ है।

ऋग्वैदिक साहित्य के विकास का हमें कोई ज्ञान नहीं क्योंकि इसके पूर्व की किसी मानवी पुस्तक का आधार हमें उपलब्ध नहीं। विल्सन ने यथार्थ कहा है—"जब ऋक् और यजुर्वेदों के पाठ पूर्ण हो जायेंगे तब हमारे हाथ वह सामग्री लगेगी जिससे उपलब्ध परिणाम का हम पूर्ण रूप से अन्दाजा लगा सकेंगे। उस सामग्री से हिन्दुओं की राजनैतिक और धार्मिक स्थिति का यथार्थ ज्ञान हो सकेगा—उस समय की परिस्थिति का ज्ञान, जो आदितम सामाजिक संगठन की नींव है, जो ग्रीक सभ्यता के प्रभात से बहुत पूर्व का है, जो प्राचीनतम हिब्रू लेखों से भी पुराना है और जो केवल मिस्रानी वंशों के ही बाद का है। वैसे इन वंशों की बाबत भी हम सिवा कुछ नामों के और नहीं जानते। प्राचीन गवेषणा से संपर्क रखनेवाली अत्यन्त रोचक सामग्री हमें वेदों से उपलब्ध होती है।" *

'वेद' शब्द 'विद्' धातु से बना है जिसका अर्थ है जानना, ज्ञान—धार्मिक पूत ज्ञान। इस ज्ञान को मेधा-चक्षु आत्माओं ने देखा जिससे वे द्रष्टा—ऋषि—कहलाए। ज्ञानार्थक होने के कारण 'वेद' का अर्थ पुस्तक विशेष नहीं हो सकता। जिस अर्थ में 'कुरान', 'बाइबिल' अथवा 'त्रिपिटक' आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं उस अकेली पुस्तक के रूप में भी 'वेद' का प्रयोग नहीं होता। 'वेद' ज्ञान की वह सन्निहित धारा है जो अखण्ड और अनादि है। जैसे ज्ञान की सृष्टि नहीं होती वह उपलब्ध होता है, वैसे ही वेदों का ज्ञान निर्मित नहीं हुआ, केवल देखा गया और यह दृष्ट ज्ञान सहस्रों वर्षों तक वंशों की क्रमागत पीढ़ियों में ऊपर से नीचे मौखिक साधन से उतरता आया।

वैदिक साहित्य से जिस ज्ञान-समुदाय का बोध होता है उसके तीन मुख्य खण्ड हैं—(१) संहिताएँ, जो सूक्त, मंत्र, प्रशस्ति, यज्ञ-स्तवन आदि के संकलित ग्रंथ हैं (२) ब्राह्मण, जो गद्यात्मक धार्मिक ग्रन्थ हैं और जो वैदिक मंत्रों और ऋचाओं के गूढ़ार्थ भाष्यरूप में अथवा यज्ञ-क्रियाओं के अर्थ लिखे गए हैं, और (३) आरण्यक और उपनिषद्, जिनमें से कुछ तो ब्राह्मणों के ही परिशिष्ट रूप हैं, कुछ स्वतंत्र हैं। उनका संपर्क वन की निर्जनता में ईश्वर, विश्व मानवादि सत्यों के सम्बन्ध में कहे ज्ञान से है। उपनिषदों में आर्यों का प्राचीनतम अध्यात्म निहित है।

संहिता

किसी समय में अनेकों संहिताएँ प्रचलित रही होंगी, जिनका निर्माण विविध गुरुकुलों में हुआ होगा। परन्तु इनमें से अधिकतर केवल पाठभिन्न 'शाखाएँ' थीं। इस समय हमें चार संहिताएँ उपलब्ध हैं—(१) ऋग्वेद-संहिता ऋचाओं का संग्रह है. (२) सामवेद-संहिता सामों अर्थात् गीत-छन्दों का संग्रह है, (३) यजुर्वेद संहिता यज्ञ-सम्बन्धी क्रियाओं और मन्त्रों का संग्रह है। इसके दो भिन्न पाठ हैं—कृष्ण यजुर्वेद, जिसकी अनेकों शाखाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें से प्रमुख तैत्तिरीय संहिता और मैत्रायणी संहिता हैं, और शुक्ल यजुर्वेद, जो वाजसनेयि संहिता है। (४) अथर्ववेद-संहिता विविध प्रकार के मंत्रों और छन्दों का संग्रह है, जिनमें रहस्यमय भाग की प्रचुरता है।

इन चार संहिताओं के कारण ही साधारणतया वेद शब्द बहुवचन में प्रयुक्त होता है। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् साहित्य का प्रत्येक ग्रंथ किसी-किसी संहिता से सबद्ध है। इसी कारण ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद की केवल संहिताएँ ही नहीं वरन् ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् भी हैं। उदाहरणार्थ ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद का, शतपथ शुक्ल यजुर्वेद का और छान्दोग्य उपनिषद् सामदेव का है। वेदों को 'श्रुति' भी कहते हैं, क्योंकि वे सुने गये थे। उस सुने गये अपौरुषेय ज्ञान की ही 'स्मृति' में धर्मशास्त्र कहे गये।

ऋग्वेद

ऋग्वेद निर्विवाद रूप से प्राचनितम संहिता माना जाता है। इसकी अनेक शाखाओं में से इस समय हमें केवल एक—शाकल शाखा—उपलब्ध है। इस शाखा में १०२८ सूक्त संग्रहीत हैं जो दस मण्डलों में विभक्त हैं। ये भी अष्टकों, अध्यायों और वर्गों में प्रस्तुत हैं। इसकी भाषा से स्पष्ट है कि ऋग्वेद प्राचीनतम भारतीय साहित्य है। और ग्रन्थ रूप में तो यह संहिता मानवता की प्रथम पुस्तक है। इसमें सन्देह नहीं कि इसमें अनेक स्तर हैं जो समय के विभाजन के अनुसार पूर्व और पर के हैं। इनमें से कुछ खण्ड पूर्वकालीन ऋषियों द्वारा और कुछ बाद के ऋषियों द्वारा प्रस्तुत किए गए। इसका प्रमाण हमें ऋग्देव से ही प्राप्त होता है—

पूर्वेभि. ऋषिभिरीड्य नूतनैः *

* J. R. A. S., खण्ड १३, १८५२ ई०, पृ० २०६।

* ऋग्वेद ३।

इसके कई मण्डलों के सपूर्ण और कुछ के अनेक भाग ऋषिकुल विशेष में निर्मित्त हुए हैं। द्वितीय से सप्तम मण्डल तक का भाग संभवतः प्राचीनतम है जिसके ऋषि गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ट हैं। आठवें मण्डल के सूक्तों को काण्वों और आंगिरसों ने प्रस्तुत किया है। बाक़ी के पहले, नवें और दसवें मण्डलों के प्रत्येक सूत्र के ऋषियों के नाम अनुक्रमणियों में मिलते हैं। इनमें से कुछ स्त्री ऋषि भी हैं और अनेक ऋचाओं के ऋषि देवता भी हैं जैसे, इन्द्र, शचीपौलोमि, वृषाकपि, यम, यमी, आदि। विन्टरनित्स* आदि ने अनुक्रमणियों को निरर्थक बताया है, क्योंकि उनसे इन ऋषियों का हमें पूरा-पूरा ज्ञान नहीं होता। परन्तु यह विचार अनुचित है, क्योंकि इन ऋषि-नामों की ऐतिहासिकता में हमें सन्देह नहीं हो सकता। इसका विशिष्ट कारण यह है कि ये ऋषि विश्वामित्र, वसिष्ट आदि पूर्ण ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और इनके रचे अनेक मंत्रों में तत्कालीन ऐतिहासिकता की पूर्ण छाप है। विश्वामित्र और वसिष्ट का अनुक्रमिक विरोध, जिसका पूरा विवरण हमें बाद के पौराणिक साहित्य में मिलता है, इसी ऋग्वैदिक समय में आरम्भ हुआ था। उन दोनों के वैमनस्य के कारण तत्कालीन आर्य राजाओं में जो अग्नि प्रज्वलित हुई उसमें अनेक कुल भस्म हो गए। उसी वैमनस्य के कारण दशराज्ञ-युद्ध नामक महासमर हुआ जिसमें सुदास आदि दस राजाओं ने भाग लिया और जिसकी कथा बाद के वैदिक साहित्य और पौराणिक साहित्य में निर्दिष्ट है। ऋषिकुल और इनके प्रमुख व्यक्ति प्राङ्महाभारतकाल के राजकुलों के पुरोहित और ऋत्विज् हैं और इनका विवरण पुराण महाभारत युद्ध के पूर्व के राजकुलों की अपनी तालिकाओं में सविस्तर देते हैं। उन तालिकाओं और ब्राह्मण-उपनिषदादि की गुरुपरम्परा की सूचियों को मिलाने से साफ़ प्रमाणित हो जाता है कि ऋग्वेद में आई इन अनुक्रमणियों की ऋषिपरम्परा ऐतिहासिक और सच्ची है।×

नवें मण्डल के सूक्तों का रूप एक-सा है, क्योंकि उनका देवता एक सोम है। सोम एक पौधे का नाम है, जिसे कूटकर एक प्रकार का आसव प्रस्तुत किया जाता था। यज्ञों में इस आसव को देवताओं के निमित्त देते थे। ईरानी आर्यों के देवता भी सोम से प्रादुर्भूत आसव के पान से विशेष प्रसन्न होते थे। ज़ेन्दावेस्ता में इसका नाम 'होम' मिलता है। प्राचीन भारतीय अनुश्रुति में सोम देवताओं का 'अमृत' है और इस देवपानीय का उद्गम चन्द्रमा है। इसी कारण चन्द्रमा का एक नाम 'सोम' भी है। चन्द्रमा का एक और नाम 'इन्दु' है। 'इन्दु' कहते हैं बूँद को, जो चन्द्रमा की सुधावर्षिणी रश्मियों से टपकती है। इसी कारण 'इन्दु' का अर्थ संस्कृत में बूँद और चन्द्रमा दोनों हैं। सुधा का भी चन्द्रमा से 'सुधाकर' नाम सार्थक होता है। स्वयं ऋग्वेद में 'सोम' शब्द का प्रयोग लताविशेष और चन्द्रमा दोनों के अर्थ में हुआ है। बाद के भारतीय साहित्य मे 'सोम' लताविशेष के अर्थ में प्रयुक्त न होकर केवल चन्द्रमा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद‡ में सोम-लताविशेष भी है और आकाश का राजा चन्द्र भी। और चूँकि सोम का यह रूप ईरानी आर्यों के समय में ही निखर चुका है, ऋग्वेद के नवें मण्डल का समय काफ़ी प्राचीन होना चाहिए। इस संहिता के प्रथम और दशम मण्डल सम्भवत. बाद के हैं। इनमें अनेकों प्रकार की ऋचाओं का समावेश है। फिर भी यह कहना कि इनमें काफ़ी प्राचीन ऋचाएँ नहीं हैं, कठिन होगा। ऋचाओं के काल-निर्णय के लिए भाषा पर निर्भर करना कठिन ही नहीं, अनुचित भी होगा। जिन आँकड़ों से किसी वस्तु का कालनिर्णय विद्वान् करते हैं, उनमें भाषा का स्थान बहुत निम्न है। इन मण्डलों का कालक्रम उनके ऋषियों के ऐतिह्य पर निर्भर है और उसका सम्बन्ध पुराणों और ब्राह्मण-उपनिषदों में दी हुई राजकुलों और ऋषिकुलों की तालिकाओं से बना है। हम उन पर यथास्थान विचार करेंगे।

ऋग्वेद के 'खिलों' का समय बाद का है, जैसा 'खिल' शब्द के अर्थ से ही स्पष्ट है। 'खिल' का अर्थ है पूरक, बाद का। फिर भी सभव है, इनमें से कुछ तो पूर्व ही बन चुके होंगे। ये खिल सूक्त प्रत्येक हस्तलिपि में मिलते भी नहीं। 'वालखिल्य' सूक्त अवश्य प्रत्येक हस्तलिपि के आठवें मण्डल के अन्त में जोड़े मिलते हैं। ये भी सम्भवत. खिलों के प्रकार के ही हैं।

---

*A History of Indian Literature, Vol I, पृ० ५८। ×इन भारत-युद्ध पूर्व के राजकुलों और ऋषिकुलों की पौराणिक और ब्राह्मण-औपनिषदिक तालिकाओं के ऐतिह्य का विस्तृत वर्णन 'महाभारत पूर्व का भारतीय इतिवृत्त' नामक मेरे लेख में देखें—माधुरी, फ़रवरी, १९४२।

‡ नवाँ मण्डल।

यह बराबर ध्यान में रखने की बात है कि अभी तक ऋग्वेद की पूरी तौर से व्याख्या नहीं की जा सकी। बहुतेरे ऐसे सूक्त हैं, जिनका अर्थ विवादास्पद अब नहीं रहा। परन्तु बहुतेरे ऐसे भी हैं, जिनका प्रस्तुत अर्थ नितान्त भ्रममूलक है। इसी कारण अनेक अभारतीय अनुवादकों ने कितने ही सूक्तों को 'निरर्थक' और 'अजीब' तक कह डाला है। निरर्थक सचमुच ही ऐसे सूक्त हैं, क्योंकि उनका अर्थ इन अनुवादकों को ज्ञात न हो सका। परन्तु शायद उनसे कुछ उत्तर न बन पड़े, जब उनसे पूछा जाय कि इन असाध्य सूक्तों का अर्थ यदि भारतीय अनुश्रुतियों से ओत-प्रोत स्वयं यास्क-से प्राचीन निरुक्तकार और सायण-से व्याख्याता जब ठीक-ठीक न कर सके और उनके लिए जब ये सूक्त दुःसाध्य सिद्ध हुए तो क्या भारतीय भावुकता और इतिवृत्ति तथा अनुश्रुति से अनभिज्ञ अथवा कम-से-कम विश्लेषात्मक दृष्टि रखनेवाले इन विदेशी अनुवादकों के लिए सर्वथा दुरूह न होंगे? फिर भी प्रत्येक सूक्त का अनुवाद ये करते ही हैं और कभी-कभी तो शाब्दिक अर्थ करते हुए उन सूक्तों और मंत्रों के अर्थ में एक अनोखी शब्द-परम्परा प्रस्तुत कर देते हैं, जिसे पढ़कर हँसी नहीं रुकती। इस बात को कभी न भूलना चाहिए कि ऋग्वेद के अनुवाद में प्राय: अशुद्धियों का समावेश होना अनिवार्य है, चाहे वे अनुवाद अभारतीय भाषाओं में हों चाहे प्राकृत-अपभ्रंश से बनी हिन्दी आदि प्रादेशिक भारतीय भाषाओं अथवा स्वयं अब की संस्कृत में ही क्यों न हो। यास्क के समय (ल० छठी शती ई० पू०) में ही ऋग्वेद के मंत्र दुरूह हो चुके थे और उसे निरुक्त लिखने की आवश्यकता पड़ी। यह निरुक्त स्वयं पूर्व में बने इसी प्रकार के निघण्टुओं पर अवलम्बित है। यास्क ने जो अपने से पूर्व होनेवाले सत्रह आचार्यों का उल्लेख किया है, उनमें से एक ने अपने समय के ऋग्वेद की ऋचासम्बन्धी दुरूहता घोषित करते हुए कह दिया है कि मंत्र निरर्थक और सदिग्ध हैं। यह निर्घोष वास्तव में दुरूहताजनित क्रोध का है।

एक विशिष्ट प्रश्न ऋग्वेद के सम्बन्ध में यह भी उठता है कि इस वेद के मन्त्रों का निर्माण कैसे हुआ? क्या इनका कारण, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आर्यों का उदार, भावुक हृदय है जिसके फलस्वरूप मंत्र नैसर्गिक देवताओं और प्राकृतिक विभूतियों के स्तवन में नद की भाँति प्रवाहित हो चले अथवा उनका प्रादुर्भाव यज्ञ के निमित्त ऋत्विजों द्वारा हुआ? इस प्रश्न के उत्तर का मंत्रों के भावों में आश्चर्यजनक सम्बन्ध है। इसी कारण विद्वानों ने इस विषय पर काफी बहस की है। इस प्रश्न पर पहले उत्तर के पक्ष में केगी+ हैं और ओल्डेनबर्ग× ने दूसरे के समर्थन में उनका प्रबल विरोध किया है। परन्तु वास्तव में इस प्रश्न का उत्तर इतना जटिल है नहीं जितना पाश्चात्य विद्वानों ने उसे अपने वादविवाद से बना दिया है। यथार्थ में उत्तर मध्यम प्रतिपदा में है। ऋग्वेद में अनेकों ऐसे स्थल हैं जो कवि के हृदय से सम्भूत हुए हैं जैसे उषा के प्रति गाई ऋचाएँ, पुरूरवा और उर्वशी का उपाख्यान, आदि। दूसरे स्थल ऐसे हैं जो यज्ञों से सम्बन्ध रखते हैं और जिनसे यह संहिता भरी पड़ी है। फिर कुछ ऐसे स्थल भी हैं जहाँ उपकृत की वाणी उदार दायकों की स्तुति में निनादित हो उठी है जैसे श्यावाश्व के सूक्त। श्यावाश्व के सूक्तों में काव्य का प्राचुर्य है, क्योंकि वह स्वयं कवि है और विरह से विदग्ध एक तरल मानव। फिर उन स्थलों की भी संख्या कुछ कम नहीं जिनमें समाज-सुधारकों की मेधा दीख पड़ती है, जैसे द्यूत सम्बन्धी सूक्त, यम यमी उपाख्यानादि। अनेक सूक्त ऐसे भी आए हैं जिनमें अपनी व्याधियों से घबड़ाकर ऋषि देवताओं की कृपा को पुकार उठा है, जैसे घोषा के सूक्त और वे जो यक्ष्मा आदि के सम्बन्ध में कहे गए हैं। ऐसा होना अनिवार्य था। एक अद्भुत दुर्द्धर्ष, पराक्रमी, भावुक, उदार, कृतज्ञ और पुजारी जाति की धर्म-पुस्तक में इस प्रकार के विविध प्रसंगों का होना आवश्यक था। जैसी अनेकमुखी उस आर्य-जाति की प्रेरणा थी वैसी ही अनेकमुखी उसकी प्रतिभा भी रही।

देवता

जो कुछ भी हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ऋग्वेद की विशेषता धार्मिक है। इस संहिता से हमें उस एकान्त मनस्वी आर्य-जाति के देवताओं का ज्ञान होता है। इन देवताओं को ही नस्लें द्रविड़ देवताओं के सपर्क से जन्मीं जो आज हिन्दुओं की आराध्य हैं। और इन्हीं देवताओं के विकृत और विकसित रूप भौगोलिक विशेषताओं से प्रभावित होकर आर्यों की उन नस्लों में पनपे जो योरप के ग्रीस, इटली, फ्रांस, जर्मनी, लिथुएनिया, इङ्गलैण्ड आदि देशों में जा बसीं। कुछ अंश तक तो देव-निर्माण का कार्य भी इस संहिता रूपी विश्वकर्मा की वास्तुशाला में

+ The Rig Veda, १८८६। × Religion des Veda, १८६४ पृ० ३।

संपन्न हुआ है। बाइबिल में लिखा है कि भगवान् ने अपनी आकृति के अनुरूप मनुष्य को सिरजा, परन्तु सच तो यह है कि मानव ने अपने भगवान् को अपने आकार की छाया में गढ़ा, उस पर उसने अपनी आकृति की छाप डाली। इस रूप का सबसे उज्ज्वल दर्शन हमें ऋग्वेद कराता है। वहाँ यदि पुजारी के हाँथ-पॉव हैं तो उसके इन्द्र के भी हैं, यदि उसके उदर है तो इन्द्र के भी है, यदि वह वर्त्स खाकर तृप्त हो जाता है, सोम पीकर प्रमत्त हो उठता है तो उसका इन्द्र भी बछड़े से अभितृप्त होता है तथा सोम पानकर विक्षिप्त हो जाता है—फिर **जायेदस्तं मघवन्स्सेदु योनिः** (इन्द्र, गृहोन्मुख हो, पत्नी ही गृह है)—हाँ, इतना अवश्य है कि इन्द्र के हाँथ-पॉव की संख्या अधिक होगी, उसका उदर विस्तृत होगा, उसके लिए वत्सों की संख्या अमर्यादित होगी, उसके सोम की मात्रा अत्यधिक होगी। इसमें सन्देह नहीं कि प्राय' नैसर्गिक देवताओं की कल्पना उनके स्थूल रूप से परे की गई है, जैसे सविता सूर्य का जलता गोला नहीं है, सोम चन्द्रमा की कलाएँ नहीं, अग्नि जलती हुई ज्वाला नहीं है। इनके परे एक निहित शाश्वत चेतन ब्रह्मस्मारक शक्ति का दर्शन और स्तवन ऋषि करता है। यह सत्य है, परन्तु इस चित्र का एक और रूप भी है। अनेक स्थल हैं, जहाँ कवि केवल प्रकृति के अद्भुत अवयवों के बाह्य दृश्य रूप को देखकर ही चकित हो गया है, थिरक उठा है। कितनी ही बार संध्या और प्रात के अरुणाभ सूर्य के प्रभामण्डल, सुधाकर की कौमुदी से मुखरित गगन, वेदी और गृह की प्रज्वलित अग्निशिखा, मेघों में कौंधती नागिन-सी काँपती चपला, तड़पते झंझावात, दिवस के समुज्वल आकाश, रात्रि के निर्मल तारकमण्डल, सुनहरी उषा और अर्थंकरी, अन्नकरी, वसुकरी, वितस्ता पृथ्वी की खरी प्रशस्ति में भी गायक का आर्द्र स्रोत फूटकर बह चला है। फिर इन स्पष्ट आकारों में प्राण फूँक-फूँक वह गायक उन्हें अनेकनामा देवता बनाता है और उन्हें सूर्य, सोम अग्नि, मरुत, वायु, द्यौस्, रात्रि, उषस् और पृथ्वी की सज्ञा प्रदान करता है। कुछ ऐसे देवता भी हैं जो अब तो प्राकृतिक शक्ति से नहीं दीख पड़ते, परन्तु वे ही कभी-न-कभी ऐसे थे अवश्य। ये हैं—इन्द्र, वरुण, मित्र, अदिति, विष्णु, पूषन्, अश्विनीकुमार, रुद्र और पर्जन्य। इनमें से मित्र, विष्णु और पूषन् ऋग्वेद में सूर्य के ही नाम हैं। मित्र तो मिथ्र के रूप में अवेस्ता में भी मिलता है। परन्तु इनके अतिरिक्त कुछ देवता और देवियाँ ऐसी भी हैं जिनका उद्गम भाव और मस्तिष्क है जैसे 'श्रद्धा' और 'मन्यु' (क्रोध)। इन देवताओं के सिवा कुछ ऐसे भी हैं जो अर्धदैवत हैं—जैसे ऋभु, अप्सरस्, गन्धर्व आदि। फिर पितरों का निर्देश भी कितनी ही बार ऋग्वेद में हुआ है। पितृलोक और मृतकों का शासक यम है जिसका 'यिम' नाम ईरानियों की अवेस्ता में मिलता है। आत्मा का वह रूप जो उपनिषदादि बाद के साहित्य में भरा पड़ा है और जिसमें पुनर्जन्म के अनेकानेक कथन हैं, ऋग्वेद में नहीं मिलता। ऋग्वेद का धर्म वास्तव में तत्कालीन जन धर्म है, जनता का। उपनिषदों का धर्म वर्गविशेष का धर्म है जिसमें असाधारणज्ञान की प्रचुरता है। वह आन्वीक्षिकी (Philosophy) की शिलाभित्ति है। जो जनसाधारण का धर्म कभी हो नहीं सकता।

वरुण ऋत का देवता है और देवताओं के भी आचार-नियमों का वह विधाता और रक्षक है। मनुष्यों के भी पाप-पुण्य का लेखा उसी के हाथ रहता है। जब यमी यम को अपने निकट पति रूप में वरण करती हुई पुकारती है यम वरुण का हवाला देता है, कहता है—यमी, वरुण के चर अपलक* प्राणियों के दोषों को देखते रहते हैं। वरुण सर्वोन्नत राजा है, उसी ने सूर्य के सम्मुख पृथ्वी को बिछा दिया है। वही तरुपुलिनों पर वायु का विस्तार करता है, गायों में दूध भरता है, तुरगों में स्फूर्ति उत्पन्न करता है। वही मस्तिष्क में मेधा, जल में अग्नि, आकाश में सूर्य, पर्वतों पर सोमलता जनमाता है और मनुष्यों को पापों से मुक्त करता है।† उसने ऋग्वेद में ही बाद के पौराणिक साहित्य का वह रूप धारण कर लिया है जिसमें वह जल का देवता+ समझा जाता है। वरुण आर्यों का प्राचीनतम और उच्चतम देवता है और इसी कारण वह देवताओं का राजा कहा गया है। वरुण आर्यों का असुर महान् है और अवेस्ता का आहूरमज्दा।

परंतु, धीरे-धीरे जब भारत के उत्तर-पश्चिमी छोर पर आर्यों का द्रविड़ों से मरणातक संघर्ष आरम्भ होता है तब शांति के देवता वरुण की शक्ति भी क्षीण हो जाती है और उसकी जगह आर्यों-सा ही दुर्दम्य, पराक्रमी इन्द्र ले लेता है। इन्द्र आर्यों का राष्ट्रीय देवता है जो उनको उनके कृष्णकाय दास-शत्रुओं पर विजय प्रदान करता है। उसी की सहायता से वे उस मोहन-जो-दड़ो और

---

* ऋग्वेद १०, १०। † ५, ८५। + ७, ८१।

हड़प्पा के अद्भुत शम्बर आदियों के धन-जन सम्पन्न नगरों को मिटा देते हैं। जब वृत्र का आतंक छा जाता है, जब वह 'अपों' को 'पर्वत' में बन्द कर देता है तब इन्द्र सोम से प्रमत्त हो उसे युद्ध के लिए ललकारता है और उसके गदा से हत होकर वृत्र जब अपनी माँ के शव पर गिरता है, 'अपों' की धारा उसके शव के ऊपर से बह निकलती है।* इन्द्र दुर्मद योद्धा है और उसकी स्तुति में २५० सूक्त गाये गये हैं। जो ग्रीकों के देवताओं में ज़ीयस का स्थान है वही इन्द्र का आर्यों के देवताओं में है। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल का बारहवाँ सूक्त विशेष प्रकार से इन्द्र की महानता प्रगट करता है।

अग्नि आर्यों का विशेष बन्धु है। उसी की मध्यस्थता से अन्य देवताओं से आर्यों का सम्पर्क होता है, क्योंकि वही यज्ञ का आधार है। वह प्रथम अतिथि है, क्योंकि उसके प्रज्वलित होने पर ही अन्य देवता आहूत होते हैं। अग्नि कन्याओं का स्नेही और स्त्रियों का पति है,† क्योंकि विवाह के समय दम्पति उसी की भाँवरे भरते हैं। उसकी लपकती रक्तमयी लपटों की अनेकधा कल्पना की गई है। कुछ मन्त्रों में उसकी काव्यमय प्रशस्ति गाई गई है—अग्नि अपने तेज़ जबड़ों से वनों का भक्षण करता है, वह उन्हें टूँगता है, और युद्ध में योद्धा की भाँति उन्हें सुला देता है।+ वायु की सहायता से वह वनों के छोर तक फैल जाता है और वसुधा को केशरहित कर देता है।×

परन्तु आर्यों की कविमेधा वास्तव में उषा की प्रशस्ति में मुखरित होती है। वैसे तो स्निग्ध भावों का सृजन कवि ने वरुण, सूर्य, पर्जन्य, मरुत आदि अनेक देवताओं की स्तुति में किया है, परन्तु जो भावोद्गम इस सतत 'नवा' के सम्बन्ध में हुआ है वह अद्वितीय है। जो मधुर कल्पना कवि ने उसके विषय में की है, वह ससार के प्रारम्भिक साहित्य में तो बे-जोड़ है ही, बाद के भी प्रगल्भ काव्य-जगत् में अछूती है। उसके दर्शन से प्रकृति-प्रेमी आर्य कवि का रोम-रोम खड़ा हो जाता है, उसका हृदय स्पन्दित हो उठता है और संगीत की मनोरम लहरें उसके भावसमुद्र में उठने—विलीन होने—लगती हैं। बीस सुन्दर सूक्त उसकी स्तुति में कहे गये हैं और लगभग ३०० बार ऋग्वेद में उसका नाम आया है। उषा मानवों को पूर्वाकाश का द्वार उन्मुक्त कर नित्य नैमित्तिक पथ पर भेजती है, चराचर को उद्बोधित करती है। वह माता की भाँति सारे जगत् को करुणा से सराबोर कर देती है। यहीं जब कवि उषा को नारी के रूप में व्यक्त करता है, वह उसके मोहक रूप से विक्षिप्त कुछ त्रस्त भी हो जाता है, फिर भी वह उसे आकाश से नीचे भूमि पर खींच लाता है। वह उसे सुन्दरी लावण्यमयी लगती है। माता द्वारा सजाई तरुणी की भाँति वह अपना रूप विश्व को दिखाकर उसे मुग्ध कर लेती है। प्राणिमात्र में वह जागरूकता भरती है, प्रत्येक प्रेमी की मूक भाषा वह पहचानती है। कवि की कल्पना और भी भावुक हो उठती है और वह उषा को सुन्दर वस्त्रों से विभूषित चमकती दमकती वक्ष खोले प्रबल नर्तकी के रूप में चित्रित करता है। परन्तु सहज चिन्तक मुनि यकायक त्रस्त हो उठता है और उसकी वाणी कामुकता के अन्त को सोच काँप उठती है। हिला देनेवाले शब्दों में वह कहता है—समान वर्ण के वस्त्रों से विभूषित वह पुराणी (सनातन की) देवी नित्यप्रति जन्म धारण करती है और नित्य वह पक्षी को थोड़ा-थोड़ा करके काटते हुए श्वघ्नी की नाईं मर्त्यों को दिन-दिन क्षीण करती जाती है, मानव-जीवन से नित्य एक दिन हरती जाती है। इन भावों को ऋषि ने जिस रसपूरित तरलता से अपनी भाषा में व्यक्त किया है, वह संसार के साहित्य में अप्राप्य है। उसी के शब्दों में पढ़ें—

पुनः पुनर्जायमाना पुराणी समानं वर्णमभिशुम्भमाना।
श्वघ्नीव कृत्नुर्विज आमिनाना मर्तस्य देवी जरयन्त्यायुः॥*

इसी भाव को लेकर अंगरेज़ी के महाकवि टेनिसन ने अपनी टिथोनस नामक कविता में उषा का चित्र खींचा है। ग्रीक साहित्य में टिथोनस की कथा आती है। युवा टिथोनस के तरुण और शक्तिसीम पौरुष पर उषा (Eos) मुग्ध हो जाती है, फिर टिथोनस से कृतकृत्य हो वह उसे अमरता का वरदान देती है। अमर टिथोनस मृत्यु का भक्ष्य तो नहीं हो सका, परन्तु जरा के त्रास से भी वह न बच सका। जरा से जर्जर अमरता को कोसता हुआ वह उषा को उपालम्भ देने लगा—

By the strong hours indignant work'd their wills
And beat me down and marr'd and wasted me.
And tho, they could not end me, left me maimed.

---

*ऋग्वेद, १, ३२। † वही, १, ६६, ८। + वही १, १४३, ५। × वही, १, ६५, ८।

*ऋग्वेद, १, ९२, १०।

Thou seest all things thou wilt see my grave. Thou wilt renew thy beauty morn by morn. I earth in earth forget these empty courts. And thee returning on thy silver wheels.

वही भाव है, वही काव्यरूप, परन्तु दोनों की शब्द-शक्ति में कितना अन्तर है। ज्योतिर्वसाना वह आकाश की दुहिता उषा प्राची के क्षितिज पर आ खड़ी होती है और अपने रूप से दर्शकों को चकित कर देती है। वह अमर नारी अजरा है, वह अतीत में चमकती रही, वर्तमान में चमक रही है और भविष्य में चमकती रहेगी। दमकते हुए रजतचक्र की भाँति वह नित्य पुनर्नवा हो उठती है और नित्य वह मर्त्यों का एक दिन हर लेती है, स्वयं वह अनादि अतीत की अन्तिम उषा है और अनन्त भविष्य की प्रथम।

ऊपर के विचार की आधार-पक्तियों को कवि के शब्दों में देना ही उचित होगा जिससे उस काव्यप्रवाह का कुछ अटकल लग सके—

सुसङ्काशा मातृमृष्टेव योषाविस्तन्वं कृणुषे दृशेकम् ।*
विश्वं जीव चरसे बोधयन्ती विश्वस्य वाचमविदन्मनायोः ॥†
अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम् ।%
एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात् ॥=
उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षो नोधा इवाविरकृत प्रियाणि ।+
शश्वत्पुरोषा व्युवास देव्यथो अद्येदं व्यावो मघोनी ॥
अथो व्युच्छादुत्तराँ अनु धूनजरामृता चरति स्वधाभिः ।×
समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व ॥÷

उषा ऋत के मार्ग को जानती है, कभी वह उससे च्युत नहीं होती। वह देवताओं के चक्षु-सूर्य को आकाश की मूर्धा पर लाती है और उसके सुन्दर श्वेत अश्व को वहन करती है। और उस कल्याणी उषा का सूर्य वैसे ही अनुसरण करता है जैसे तरुण तरुणी का—

ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशोमिनाति ॥*
देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती श्वेतं नयन्ती सुदृशीकमश्वम् ।//
सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात् ।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम् ॥∴

ऋग्वेद में इस प्रकार के काव्य-प्रवाह के अतिरिक्त अनेकों शक्तिप्राण मंत्र भी हैं जिनसे उस समय के भाषा-गत ओज का पता चलता है। वागम्भृणी उपनिषत्काल की ब्रह्मवादिनी नारियों की ऋग्वेदकालीन पूर्वप्रतिनिधि है। अद्वैत सिद्धान्त की घोषणा-सी करती हुई उसने सृष्टि-संहारिका शक्ति से अपनी एकता सिद्ध की है—

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥*

ब्रह्मद्वेषियों के संहार के निमित्त वही रुद्र का धनुष चढ़ाती है, मनुष्यों के लिए युद्धों के वितान वही तनती है, पृथ्वी से आकाश तक सर्वत्र वही व्याप्त है। इन्द्राणी के उद्‌गार भी कुछ इसी प्रकार के सबल और दृप्त हैं। जिन ब्राह्मवादिनियों का निर्देश ऊपर किया गया है उनकी शृंखला यथार्थ में ऋग्वेद में ही आरम्भ हो जाती है जिसकी कड़ियाँ वाक्, घोषा, अपाला, विश्ववारा, लोपामुद्रा, रोमशा, आदि अनेकों हैं। ऋग्वेद के अध्ययन से एक पराक्रमी जाति की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति का ज्ञान होता है, परन्तु उसका विवरण हम स्थानाभाव से यहाँ नहीं दे सकते। स्त्रियों की दशा तो उसमें अत्यन्त ऊँची है। वे वहाँ अपने पतियों की पूर्ण मन्त्रिणी हैं, उनकी शक्ति की जननी और रक्षिका हैं। स्वतंत्र, प्रसन्न, सबल इन स्त्रियों का ऋग्वैदिक इतिहास अद्भुत और अलौकिक है×। पत्नी ऋग्वैदिक काल में अपने नाम को सार्थक करती है। पति के घर जाकर वह उनके बच्चे, बूढ़ों, द्विपद-चतुष्पदों, सबका चार्ज ले लेती है+।

ऋग्वेद में ही इसके प्रबल स्वतंत्र देवताओं की एकता प्रतिष्ठित होने लगती है। इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि, जो आरम्भ में पृथक्-पृथक् और स्वतन्त्र देवता हैं, प्रजापति में समष्टि रूप धारण करते हैं और जब विश्वकर्मा की कल्पना सशरीरी हो उठती है तब प्रजनन का कार्य और प्रजापति की सत्ता और भी स्पष्ट हो आती है। इस एकता का चरम विकास उपनिषदों के एकेश्वरवाद और बाद के अद्वैत ब्रह्म में होता है। स्वयं ऋग्वेद में देवताओं का समष्टीकरण हो चला है। ऋषि कहता है—"उसे इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं। वही स्वर्पंखी गरुत्मद् है। जो एक है उसे कवि अनेक नामों की संज्ञा प्रदान

* ऋग्वेद, १, १२३, ११। † वही, १, ९२, ९। % वही, १, ९२, ४। = वही, १, १२४, ३। + वही, १, १२४, ४। × वही, १, ११३, १३; १९। ÷ वही, १, ९१, ३। * ऋग्वेद, ५, ८०, ४। // वही, ७, ७७, ३। ∴ वही १, ११५, २।

* वही १०, १२५, ६। × विस्तृत वर्णन के लिए देखिए मेरी पुस्तक—Women in Rigveda। + ऋग्वेद १०, ८५, ४६।

करते हैं। वे उसे अग्नि कहते हैं, यम कहते हैं, मातरिश्वन् कहते हैं।"*

आख्यायिकाएँ

ऋग्वेद में कुछ मनोरम कथा प्रसंग भी आए हैं जिनसे बाद की नाट्यपद्धति का विकास हुआ है। ऐसे प्रसंगों में पुरूरवा और उर्वशी, यम और यमी, श्यावाश्व, सोमसूर्या विवाह, इन्द्र, इन्द्राणी और वृषाकपि, और द्यूत क्रीड़ा आदि के विशिष्ट हैं। इनमें श्यावाश्व और शशीयसी प्रसंग को छोड़ शेष सभी कथाएँ दसवें मण्डल में आती हैं। पुरूरवा और उर्वशी का संवाद ६५ वें सूक्त में है। अप्सरा उर्वशी राजा पुरूरवा की पत्नी होकर चार वर्ष पृथ्वी पर रहती है। फिर वह उसे छोड़कर चली जाती है। तब उसका राजा के साथ वार्तालाप होता है, जिसमें राजा उससे रुकने का अनुनय करता है और वह अवधि की परिसमाप्ति की ओर संकेत कर चली जाती है। यम-यमी का वार्तालाप दसवें सूक्त में है। दोनों जुड़वे हैं। यमी यम का पति रूप में वरण कर उससे पत्योचित आचरण चाहती है, जिसे वह वरुण का अनुगामी आचार-प्रतिष्ठापक यम सर्वथा अस्वीकार करता है। श्यावाश्व का वर्णन पाँचवें मण्डल के कई सूक्तों में है। वह राजा रथवीति की कन्या से प्रेम करता है, परन्तु रानी उसे अस्वीकार कर देती है, क्योंकि उसके जामाता का आदर्श कवि है जो श्यावाश्व नहीं है। फिर विरह की आग से जलकर जब श्यावाश्व कवि हो जाता है, उसकी मनोकामना पूर्ण होती है। सोम-सूर्या का विवाह-प्रसंग दसवें मण्डल के ८५ वें सूक्त में वर्णित है। इस प्राजापत्य आदर्श विवाह के मंत्र आज भी हिन्दू दम्पति को विवाह के अवसर पर सुनाए जाते हैं। वृषाकपि की आख्यायिका दसवें मण्डल के ८६ वें सूक्त में वर्णित है। इसके वास्तविक भाव की अभी तक किसी ने व्याख्या न की। इन धर्मभिन्न प्रसंगों में जुआरी की कथा, जो दसवें मण्डल के ३४ वें सूक्त में है, एक अत्यन्त करुण कहानी है। जुआरी बारंबार द्यूत से विमुख होने की प्रतिज्ञा करता है, परन्तु 'अक्ष' की झंकृति उसे आकृष्ट करती है और वह नित्य प्रभात काल सभाभवन के स्थाणु की भाँति अक्षों पर जा झुकता है। वह विलखता है अपनी भार्या को देखकर जिसे अन्य प्यार करते हैं। उसकी सास उससे घृणा करती है, उसके साहु अपने ऋण के लिए उसे बाँध लेते हैं, परन्तु वह अपने स्वभाव से मजबूर है।

इस प्रकार अनेक प्रकार की कथाएँ, दान-स्तुतियाँ, देवप्रशस्ति आदि ऋग्वेद के विषय हैं।

ऋग्वेद को शुद्ध और सुरक्षित रखने के लिए आर्यों ने पद, घन, जटा आदि आठ (बारह) पाठों का निर्माण किया।

सामवेद

पुराणों के अनुसार सामवेद की एक सहस्र संहिताएँ थीं। परन्तु उनमें से हमें केवल तीन उपलब्ध हैं। उनमें प्रसिद्ध कौथुम शाखा की सामवेद-संहिता है। इसके दो खण्ड हैं 'आर्चिक' और 'उत्तरार्चिक'। ये दोनों ही छन्दों के संग्रह हैं, जो लगभग कुल के कुल ऋग्वेद (अधिकतर आठवें और नवें मण्डल) से लिए गए हैं। केवल ७५ मन्त्र नए हैं। दोनों खण्डों में कुल १५४९ मन्त्र हैं, पर इनमें कितने ही कई बार आए हैं और उन पुनरुक्तियों को मिलाकर मन्त्रों का पूरा जोड़ १८१० है। ऋग्वेद के छन्द अधिकतर गायत्री, जगती, उष्णिः, बृहती, अनुष्टुभ आदि में हैं, सामवेद के भी प्रायः गायत्री, जगती और प्रगाथा में। सामवेद के सामों का मुख्य निमित्त गायन है। इसी अर्थ आर्चिक और उत्तरार्चिक दोनों प्रस्तुत किए गए हैं। उद्गाता को पहले आर्चिक की सहायता से गान सीखना होता था। फिर वह उत्तरार्चिक में दिए यज्ञ में गाए जानेवाले स्तोत्रों को कण्ठाग्र करता था। आर्चिक में ५८५ ऋचाएँ हैं। इन्हीं के 'साम' हैं। 'सामन' का प्रारम्भिक अर्थ है स्वर, राग। साम इन्हीं ऋचाओं से निकले हैं, इसीलिए ऋचाओं को 'योनि' अर्थात् गर्भ भी कहते हैं। उत्तरार्चिक में ४०० सूक्त हैं जिनमें प्रत्येक में प्रायः तीन-तीन ऋचाएँ हैं। इन्हीं से यज्ञों में गाए जाने वाले स्तोत्र बने हैं। आर्चिक में ऋचाएँ अग्नि, इन्द्र, सोमादि देवताओं के क्रम से हैं। उत्तरार्चिक में यज्ञों के अनुसार। अर्थात् एक स्तोत्र में कई ऋचाएँ होती हैं जिन्हें एक राग—एक साम—से गाते हैं। अनुमानतः उत्तरार्चिक आर्चिक के बाद की कृति है। आर्चिक से दो प्रकार के गाँव और वन के गान (ग्रामगेयगान और अरण्यगान) सम्बद्ध हैं। अरण्यगान ग्राम के बीच नहीं सीखे जा सकते थे। उनके लिए वन का एकाकी वातावरण आवश्यक था। ऊहगान और ऊह्यगान नामक दो और संकलन हैं जिनसे विधिक्रिया के समय सामों का क्रम निर्धारित होता है। ऊहगान का संपर्क ग्रामगेयगान से और ऊह्यगान का अरण्यगान से है। सामगान का गौरव इतना उच्च है कि आर्ष ग्रन्थों के अनुसार, सामों के स्वर सुनते ही ऋग्वेद

* ऋग्वेद, १,१६४,४६।

और यजुर्वेद के मंत्रों का पाठ बन्द कर देना चाहिए।×
साहित्यिक समीक्षा के दृष्टिकोण से सामवेद बहुत महत्त्व नहीं रखता, परन्तु भारतीय सगीत के विकास के अध्ययन में यह प्रारम्भिक शिलाभित्ति है।

यजुर्वेद

जिस प्रकार सामवेद उद्गाता का गेयग्रन्थ है वैसे ही यजुर्वेद अर्ध्वर्यु का स्तोत्र-ग्रन्थ है। पतजलि ने अपने महाभाष्य की भूमिका में अध्वर्युओं के वेद की १०१ शाखाओं का कथन किया है और इसमें सन्देह नहीं कि इस वेद की अनेक शाखाएँ रही होंगी, क्योंकि भौगोलिक क्रम के अनुसार ही इस वेद पर वैयक्तिक और प्रादेशिक छाप पड़ती गई होगी। परन्तु इस समय हमें केवल पाँच शाखाओं का ज्ञान है—(१)काठक-सहिता, (२)कपिष्ठल कठ-सहिता,(३)मैत्रायणी संहिता,(४)तैत्तिरीय-सहिता। कपिष्ठल-कठ-संहिता के कुछ ही अश उपलब्ध हैं। तैत्तिरीय-सहिता को आपस्तम्ब-सहिता भी कहते हैं क्योंकि आपस्तम्ब चरण में इसका विशेष महत्त्व था। ये चारों शाखाएँ कृष्ण-यजुर्वेद की हैं। (५) पाँचवीं वाजसनेयि-संहिता शुक्ल यजुर्वेद की है। इसका नाम इसके प्रमुख ऋषि याज्ञवल्क्य वाजसनेय के नाम पर चला है। वाजसनेयि-संहिता की दो प्रशाखाएँ काण्व और माध्यन्दिन नाम की हैं जिनमें परस्पर बहुत कम अन्तर है। शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद में विशेष अन्तर यह है कि 'शुक्ल' में केवल मन्त्र हैं और 'कृष्ण' में उनकी गद्यात्मक व्याख्या भी है। इसी कारण 'कृष्ण' से ब्राह्मण भाग सबद्ध है। कृष्ण यजुर्वेद वाजसनेयि-संहिता से प्राचीन है।

वाजसनेयि-सहिता के ४० भाग हैं। पहले २५ में मुख्य यज्ञों के स्तोत्र हैं, जिनमें अग्नि, पितृ, सोम, सौत्रामणि, अश्वमेघ आदि हैं। २६ से ३५ भागों को भारतीय अनुश्रुति 'खिल' कहती है, इसलिए ये बाद के होंगे। इनमें पुरुषमेघ, सर्वमेध और मृत्यु आदि वर्णित हैं। ३६-३६ तक के भाग 'प्रवर्ग्य' से सम्बन्ध रखते हैं। ४० वाँ प्रख्यात ईशोपनिषत् है।

यजुर्वेद की भी ऋचाएँ प्राय ऋग्वेद की ही हैं। परतु वे सम्पूर्ण नहीं हैं। यजुर्वेद में आकर वे भिन्न रूप धारण करती हैं। अधिकतर उनमें ऋग्वेद की एक पंक्ति मिलती है। यजुर्वेद की महत्ता अधिकतर गद्यांशों में है। बहुतेरे गद्यात्मक स्तोत्र हैं जिनमें यजमान देवता के प्रति अपनी कामना साफ शब्दों में व्यक्त करता है। ओ३म् शब्द का आरम्भ इसी वेद से होता है। इसके अतिरिक्त कुछ और भी शब्द इसमें मिलते हैं, जिनका एकपदी प्रयोग बाद के अनेकों सम्प्रदायियों द्वारा एक भेदभरे अर्थ में होता है। ओ३म् का दूसरा पर्यायवाची शब्द 'प्रणव' बाद में व्यवहृत होता है और ओ३म् तो उपनिषदों में ब्रह्मवाची हो जाता है।

अथर्ववेद

भारतीय अनुश्रुति से विदित होता है कि अथर्ववेद की गणना पहले वेदों में नहीं हुई। वेदों में केवल ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद तीन की ही गणना थी, बाद में अथर्ववेद भी सम्मिलित कर लिया गया और तब उनकी सख्या चार हुई। बहुत दिनों तक 'त्रयी' शब्द से केवल पहले तीन वेदों का ही बोध होता रहा। वैसे अथर्ववेद का रचनाकाल चाहे बहुत पीछे का क्यों न हो, इसके भीतर वर्णित अनुश्रुतियाँ अत्यन्त प्राचीन हैं। अथर्ववेद का अर्थ है 'अथर्वन् का वेद'। 'अथर्वन्' शब्द का प्रारम्भिक अर्थ है 'अग्नि-पुरोधा' और यह शब्द ईरानी काल का है; क्योंकि ईरानियों की धर्मपुस्तक अवेस्ता में भी अथर्वन् शब्द का प्रयोग हुआ है और वहाँ भी इसका अर्थ वही 'अग्नि-पुरोधा' है। भारतीय वाङ्मय में इस वेद का नाम है 'अथर्वाङ्गिरस'—अथर्वन् और अङ्गिरस्। अङ्गिरस् शब्द का अर्थ भी अथर्वन् की ही भाँति अग्नि-पुरोधा है। दोनों शब्दों का तात्पर्य वैसे एक प्रकार से मोहनादि से है। अन्तर इतना ही है कि अथर्वन् कल्याणकर मोहन (magic) है और अङ्गिरस् अहितकर (Black magic)। अथर्वन् के मन्त्रों से व्याधियों का शमन होता है और अङ्गिरसों से शत्रुक्षय आदि सिद्ध होते हैं।

अथर्ववेद की शौनक शाखा* ७३१ सूक्तों की संहिता है। इनमें सब मिलकर लगभग ६००० ऋचाएँ है। अथर्ववेद बीस मण्डलों में विभक्त है। इनमें १६ वें, २०वें बहुत बाद में जोड़े गये। २० वाँ मण्डल तो पूरा का पूरा ऋग्देव से लिया गया है। इसके अतिरिक्त कुल अथर्वदेव का लगभग सातवाँ भाग ऋग्वेद का है। जो ऋचाएँ ऋग्वेद से ली गई हैं, उनमें आधी से अधिक उसके दसवें मण्डल की हैं, बाकी पहले और आठवें की। अथर्ववेद का अट्ठारहवाँ मण्डल मौलिक है और उसके सम्पादन में भी विशेष बुद्धि से काम लिया गया है। पहले

× आपस्तम्ब १, ३, १०, १६।

*दूसरी शाखा 'पैप्पलाद' को राथ और ह्विट्नी ने छापा है।

सात मण्डलों में छोटे छोटे सूक्त हैं प्रथम में चार-चार ऋचाओं के, द्वितीय में पाँच पाँच के, तृतीय में छः-छः के, चतुर्थ में सात-सात के। पचम में ८ से १८ तक के हैं। छठे मण्डल में तीन-तीन ऋचाओं के १४२ सूक्त हैं और सातवें में एक-एक दो दो के ११८। मण्डल ८ से १४ तक, १७ और १८वें में बड़े बड़े सूक्त हैं। पंद्रहवें और सोलहवें के अधिकांश गद्यात्मक हैं, बहुत कुछ ब्राह्मणों के अनुरूप। चौदहवें में केवल विवाह-संबंधी सूक्त हैं और अट्ठारहवें में केवल मृत्यु-संबंधी।

अथर्ववेद की भाषा और छन्द प्रायः ऋग्वेद के ही हैं। फिर भी उनका प्रयोग अधिकतर इतना प्राचीन नहीं दीखता। इस संहिता का भौगोलिक विस्तार ऋग्वेदवाले से कहीं बड़ा है। अथर्ववेद में आर्यों का निवास गंगा की तलेटी है। ऋग्वेद के अनजाने व्याघ्रादि अथर्ववेद में मिलते हैं। इस वेद में ब्राह्मणों की सत्ता प्रतिष्ठित हो गयी है। अथर्ववेद में आनेवाले ऋग्वैदिक देवता वस्तुतः अब केवल असुर संहारक रह गए हैं। विश्वजनन के सम्बन्ध में भी अनेकों आध्यात्मिक अनाध्यात्मिक विचार चल पड़े हैं जिनमें से अनेक औपनिषदिक हैं। मोहन-मारण रूप जो अथर्ववेद के सूक्तों का है उसी कारण यह वेद नगण्य समझा गया। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है अनुश्रुति में त्रयी विद्या में तीनों वेदों की गणना हो जाने पर ही इसका उल्लेख हुआ है। नवजात शिशु को वेद कर्णगत करते समय अथर्ववेद का नाम ही नहीं लिया गया है यद्यपि उसमें इतिहास पुराणों तक का उल्लेख है।†

अथर्ववेद की दुनिया निराली और ऋग्वेद से सर्वथा भिन्न है। इसमें पुरश्चरण और मारण की विद्या तथा रहस्यमय मन्त्रों का राज्य है। यह जन्तर-मन्तर की दुनिया है। इस संहिता का विशेष महत्त्व तत्कालीन सामाजिक स्थिति जानने में है। इसका एक भाग व्याधियों को दूर करनेवाली ऋचाओं से सम्पर्क रखता है। ये ऋचाएँ या तो व्याधियों के प्रति ही कही गई हैं या उनके रहस्यमय दैत्यों के प्रति। ज्वर का दैत्य तक्मन् है जिसके प्रति अनेक ऋचाएँ गाई गई हैं। इनमें से कितनी ऋचाएँ काव्य की दृष्टि से भी बड़ी सुंदर हैं। इन सूक्तों में आई कितनी ही वनस्पतियों के अवलोकन से भारतीय चिकित्सा-शास्त्र की नींव पड़ी। लोगों को अस्थि-शास्त्र का भी ज्ञान हो गया था। अथर्ववेद रोगों में कृमि-उपद्रवों की ओर भी संकेत करता है। एक स्थल पर अँतड़ी और पार्श्व के कृमियों का हवाला दिया गया है।* स्तोत्रों के देवताओं में पिशाचों और राक्षसों की प्रचुरता हो आती है। पिशाचों के विरुद्ध अथर्ववेद का एक सूक्त√ पठनीय है। अप्सरा और गन्धर्वों को भी इस संहिता ने राक्षसों की ही श्रेणी में रखा† है और उनको दूर करने के लिए भी सूक्त कहे हैं।

इस संहिता में स्वास्थ्य और जीवन वर्धक सूक्त भी हैं जो प्रायः उसी प्रकार के हैं जैसे ऊपर बताए गए हैं। सौ वर्ष जीने की कामना की गई है और १००१ व्याधियों से छुटकारा पाने की।

इस संहिता में मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि विषयों पर भी सूक्त प्रस्तुत हैं। अथर्ववेद में ही 'कामदेव' का विशद प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कामदग्ध पुरुष के लिए एक विशिष्ट साधना बताई गई है। वह धनुष पर बाण रखे। बाण का फलक काँटे का हो और पंख उल्लू के और उसका दण्ड काली लकड़ी का। उस बाण से वह मनवांछित नारी की मृत्तिकाकृति बनाकर उसका बारम्बार भेदन करता हुआ अथर्ववेद का एक मंत्र‡ पढ़े। स्त्री भी वांछित पुरुष के लिए ऐसी ही साधना करे।× इस प्रकार के सूक्तों की संख्या बहुत है।

परन्तु अथर्ववेद में भी कुछ अत्यन्त उत्कर्षपूर्ण सूक्त हैं। वरुण के प्रति कहे गए एक सूक्त× में ईश्वर की सर्वज्ञता का अद्भुत वर्णन है। उसी सूक्त का उत्तरार्ध मिथ्यावादियों के प्रति आग उगलता है। इस संहिता के कुछ मंडलों में वे रहस्यमय सूक्त हैं÷ जिनसे राष्ट्र में बल आता था, राजा विजयी होता था और जिनका पठन बराबर राज्यारोहण के समय राजाओं के सम्मुख हिन्दू-काल में होता आया है। इन्हीं की ओर मानवधर्मशास्त्र□ में निर्देश किया गया है। अथर्ववेद में कुछ सूक्त यज्ञात्मक∠ और विश्वसृजनात्मक भी हैं। इन्हीं में एक अद्भुत ओजभरा सूक्त पृथ्वी के प्रति कहा गया है○। मनुष्य जाति की देशप्रियता का यह सर्वप्रथम स्मारक है।

† शांखायन गृह्यसूत्र, १, २७, ८।

* अथर्ववेद, २, ३१, ४। √ वही, ४, ३६। † वही, ४, ३७—२, ३, ४, ७, ११, १२। ‡ वही ३, २५। × वही ६, १३० और १३८। × वही ४, १६। ÷ वही ३, ४; ३, ३; ५, २०-२१। □ मनुस्मृति ११, ३३। ∠ अथर्ववेद १६, १८, २० । ○ वही १२, १।

डोम—संयुक्तप्रान्त की एक अन्य जरायमपेशा जाति

पहले के एक लेख में मैंने उत्तर भारत की एक महत्त्वपूर्ण जरायमपेशा जाति का वर्णन किया था। प्रस्तुत लेख में मैं आपको एक दूसरी जरायमपेशा जाति अर्थात् डोमों के बारे में कुछ बातें बतलाऊँगा। मुख्यतया मैं युक्तप्रान्त के पूर्वी ज़िलों और बिहार के डोमों का ज़िक्र करूँगा, यद्यपि जो कुछ मैं बताऊँगा उसमें ज्यादातर बातें देश के अन्य भागों में पाये जानेवाले डोमों के बारे में भी लागू होती हैं। ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि सभी डोम पैदाइशी ही जरायमपेशा होते हैं या जुर्म करना उनका जन्मजात व्यवसाय होता है, क्योंकि ऐसे बहुतेरे डोम हैं जो कि ईमानदारी की जिन्दगी बिताते हैं तथा जिनकी जुर्म के कामों में कोई अभिरुचि नहीं।

युक्तप्रान्त के पूर्वी ज़िलों में जो ख़ानाबदोश डोम मिलते हैं उनके जीवनयापन का कोई प्रत्यक्ष पेशा नहीं होता। वह डोम घर-घर का जूठन और सड़ी-गली चीजें खाता, भीख माँगता और स्वभाव ही से चोर होता है। वह क़स्बों और देहातों में अपना अड्डा जमाता है। जब वह बसता है तो शहरों में ही, या उनके बाहर निकटवर्ती क्षेत्रों में रहता है और भंगी का काम करता है अथवा वह श्मशान भूमि के निकट कहीं रहता है जहाँ से चिता के लिए लकड़ी जुटाने में या क़ब्र खोदने में उसके मदद की ज़रूरत होती है। ये दोनों ही काम करने में उसे मज़ा आता है। उनमें से कुछ डोम निगरानी में रक्खे जाने तथा सुधार किये जाने के उद्देश्य से गोरखपुर की जरायमपेशा जातियों की बस्ती (Criminal Tribes Settlement) में लाकर रक्खे गये हैं। वे उक्त बस्ती के घेरे के भीतर रहते हैं और निगरानी के क़ानून के अनुसार, जिसका उद्देश्य उन्हें शान्तिपूर्ण नागरिक बनाना है, आचरण करते हैं। इन प्रतिबन्धों से, जिनके न लगे रहने की अवस्था में वे अपनी ख़ानाबदोशी की ही ज़िन्दगी बिताते, कुछ अंश में उनकी जुर्म की कार्रवाइयाँ ख़त्म हो गई हैं। लेकिन उनमें से बहुत कम ऐसे हैं जो कि सचमुच ईमानदारी की ज़िन्दगी बिताते हों, जैसा कि उनके बीच जाकर प्रत्यक्ष जाँच द्वारा पता लगाने पर मैंने पाया। डोम लोग, खासकर वे जो पूर्वी ज़िलों में अपना अड्डा जमाये हुए हैं, प्राक्-द्रविड़ नस्ल से हैं। उनमें आजकल पाये जानेवाले रीति-रिवाज़ और आचार व्यवहार छोटा नागपुर की सन्थाल, मुण्डा, और हो नाम से प्रसिद्ध आस्ट्रो-एशियाई जातियों की संस्कृति से मिलते-जुलते हैं। उनका क़द छोटा, रंग काला और सर लम्बा होता है। वे "बिना कघी किये हुए लम्बे-लम्बे बालों तथा आदिम अनार्य जातियों के-से विचित्र प्रकार की आँखोंवाले होते हैं।" वे केवल काले रंग और नाटे क़द के ही नहीं होते बल्कि उनकी आकृति निश्चय ही घिनौनी होती है। किन्तु डोम बस्तियों में जाँच-पड़ताल के बाद यह पता चला है कि उनमें कुछ—ख़ास कर स्त्रियों में—साँवले बदन और सुडौल गढ़न के व्यक्ति भी मौजूद हैं जो सम्भवतः पड़ोसी उच्च जातिवालों के साथ नाजायज़ सम्बन्ध रखने का परिणाम है। शहरों के लोग डोमों को भंगी का कार्य करने, घरों में दूसरे छोटे-मोटे गन्दे काम करने तथा हरकारों के काम के

एक जरायमपेशा डोम
(फो०—लेखक द्वारा)

लिए नौकर रखते हैं। उनकी औरतें नालियों तथा आँगन आदि की सफाई करती हैं और कूड़ा-कर्कट इकट्ठा करके म्युनिसिपैलिटी के कूड़ाखानों में फेंकती हैं। इस सिलसिले में गृहस्वामियों की नज़र उन पर पड़ती है और उनके आसानी से कब्ज़े में आ जाने के कारण बहुत-से मौक़ों पर ऊँची और धनी जाति के सम्पन्न लोग उनकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। इस प्रकार डोम लोगों में साँवले और सुडौल गठन के व्यक्तियों की उपस्थिति ऐसे अवैध संबंध के कारण ही हो सकती है। सर विलियम क्रुक ने इस तथ्य का निम्न शब्दों में उल्लेख किया है—'भंगी और डोम-सरीखी जातियाँ बहुत मुद्दत से ऊँची जाति के बहिष्कृत व्यक्तियों की कामवासना की तृप्ति का साधन रही हैं और इन जातियों की पथ्री बदमाश औरतों का ऐसी जातियों के शरीर और आकृति के निर्माण में परिवर्तन ला देने में निश्चय ही बहुत जोरदार असर पड़ा होगा। यदि प्रान्त के एक हिस्से के डोम और दूसरे हिस्से के डोम के शारीरिक गठन में विभिन्नता मिलती है तो स्वाभाविकतया ऐसा ही होने की आशा करनी चाहिए।" शारीरिक गठन की दृष्टि से डोम एक मिश्रित समुदाय या श्रेणी के लोग हैं जिनकी शारीरिक बनावट में 'उनके पेशे की कठोरता और विशिष्ट वातावरण ने' महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ला दिया है। रुधिर के आधार पर बने उनके विभिन्न समुदायों की गोरखपुर में जो अभी हाल में मैंने विवेचना की है, उससे इस वास्तविकता का असाधारण रूप में रहस्योद्घाटन हुआ है। इसके स्पष्टीकरण से जो दिलचस्पी पैदा होगी, उसे दृष्टि में रखते हुए मैं नीचे इसकी विवेचना करूँगा, यद्यपि इस जाति के वैज्ञानिक विवरण से सम्भव है यह स्पष्टीकरण बड़े अंश में मेल न खाए।

जब किसी औसत दर्जे के आदमी के रुधिरकोषों (Blood-cells) का नमक मिले हुए पानी के औसत घोल में काम करना रोक दिया जाता है तो देखा जाता है कि सारे रुधिरकोषों का संचालन एक साथ बन्द हो जाता है। यदि इन रुधिर के कोष की संचालन-क्रिया रोकने का कार्य उसी व्यक्ति के अथवा उसी की श्रेणी (group) के किसी दूसरे व्यक्ति के रक्त के पनिहे भाग (serum) का उपयोग करके किया जाय तो संचालन क्रिया के बन्द रहने पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लेकिन अलग किसी एक ख़ास श्रेणी के मनुष्यों के रुधिर-कोष को किसी दूसरी श्रेणी के मनुष्यों के सीरम में मिलाया जाय तो लाल रुधिरवाले कोष (cells) एक साथ आकर जुट जायँगे। मनुष्य के रक्त को O. A. B और A B इन चार श्रेणियों में इसी वस्तुस्थिति के आधार पर विभाजित किया जाता है। यह आम तौर से लोग जानते हैं कि दुर्घटनाओं में, जिनके कारण शरीर से काफ़ी ख़ून बाहर निकल जाता है, और स्त्री-रोगों के मामलों में रोगी के खून की सहायता की आवश्यकता होती है। और यह कार्य आज औज़ारों द्वारा एक शरीर से खून लेकर उसे दूसरे शरीर में प्रवेश कराकर (transfusion) किया जाता है। आज तो यह एक बहुत मामूली-सी बात हो गई है। पुराने समय में रुधिर प्रवेश कराने की इस क्रिया के सम्पादन में बड़ा ख़तरा रहता था, क्योंकि उन दिनों रुधिरश्रेणियों (Blood groups) के बारे में अथवा रुधिर की सामञ्जस्यता के गुण के बारे में लोगों की जानकारी अधूरी थी। जब एक मनुष्य का खून अथवा केवल सीरम का दूसरे मनुष्य के दौड़ते हुए खून में प्रवेश कराया जाता है और अगर उस खून ने दूसरे मनुष्य के खून में सामञ्जस्यता न हो तो उससे अनिष्ट परिणाम पैदा होते हैं। इसके फलस्वरूप उस व्यक्ति का खून, जिसके शरीर में रक्त का प्रवेश कराया जाता है, जम जाता है। रक्त-संचालन में रुकावट पड़ने लगती है, रक्त-संचालन की गति मन्द पड़ जाती है और थोड़ी ही देर के बाद खून का दौड़ना बिल्कुल बन्द हो जाता है और परिणामस्वरूप उस व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। ऐसा इसलिए होता है कि एक व्यक्ति के लाल रक्तवाले अणु (corpuscles) दूसरे व्यक्ति के लाल रक्त के अणुओं को एक में लाकर मिला देते हैं। ऐसी स्थिति में आवश्यकता इस बात की है कि रुधिर को किसी दूसरे व्यक्ति के रुधिर में प्रवेश कराने के पूर्व यह मालूम कर लिया जाय कि रुधिर में सामञ्जस्यता है या नहीं। ऐसी चार श्रेणियाँ हैं जिनमें मनुष्य-जाति को विभाजित किया जा सकता है। O श्रेणी में वे मनुष्य आते हैं जिनके रुधिर-कोष किसी दूसरे मनुष्य के रुधिर-के तले भाग (Sera) के प्रयोग से एक दूसरे से नहीं सट सकते A. B. श्रेणी में ऐसे मनुष्य आते हैं जिनके रुधिर-कोष शेष तीन श्रेणियों के किसी भी मनुष्य के सेरा से एक दूसरे से मिल जाते हैं। A श्रेणी में वे मनुष्य आते हैं जिनसे रुधिर-कोष B और A B श्रेणी के मनुष्यों के सेरा से सट जाते हैं और B श्रेणी में वे मनुष्य आते हैं जिनके रुधिर-कोष A और A B श्रेणी के मनुष्यों के सेरा से सट जा सकते हैं। यह देखा गया है कि यह रुधिर-

श्रेणियाँ पैदाइशी होती हैं और यह पीढ़ी दर-पीढ़ी तक बिल्कुल ठीक हिसाब से चलता रहता है। बच्चे सिवाय अपने माता-पिता की रुधिर-श्रेणी के किसी दूसरी रुधिर-श्रेणी के नहीं हो सकते। अगर माता-पिता दोनों ही O श्रेणी के होंगे तो बच्चे भी अनिवार्यत ठीक-ठीक O श्रेणी के ही होंगे। अगर माता-पिता A श्रेणी के होंगे तो उनका कोई भी बच्चा B श्रेणी का नहीं होगा। यही सिद्धान्त अन्य श्रेणियों के बारे में भी घटित होता है।

कई मामलों में मैंने देखा कि बच्चों की रुधिर श्रेणियाँ ऐसी थीं कि उनके माता-पिता से उनकी शुरुआत नहीं मानी जा सकती थी, क्योंकि उनके माता-पिता की रुधिर-श्रेणियाँ बच्चों की रुधिर-श्रेणियों से भिन्न थीं। यह बातें पैदाइशी सादृश्यता के सिद्धान्त (heredity theory) के प्रतिवादस्वरूप थीं, अतएव मैंने फिर उनके बारे में जाँच-पड़ताल की। रुधिर-श्रेणियों के ठीक-ठीक निर्णय पर पहुँचने की अपनी कार्यवाही में ऐसे १० मामलों में से सात के बारे में यह ज्ञात हुआ कि डोम बस्ती के लोगों को यह मालूम है कि वे बच्चे दोगले हैं और स्वयं उन्हीं बच्चों के सामने ही उनके बारे में फैली हुई अफ़वाहों पर वाद-विवाद चला करता था। मुझे उन बच्चों के वास्तविक पिताओं की रुधिर-श्रेणी का पता नहीं लग सका, लेकिन इस प्रकार के संयोग का जो परिणाम होता है उसके बारे में ग़लतफ़हमी की गुंजाइश नहीं। इस प्रकार यह पता चलता है कि डोमों में वर्णसंकरता का अंश कितना है।

एक डोम युवक
(फ़ोटो—लेखक द्वारा)

दूसरे वर्गों और जातियों की तरह डोमों में भी अपने को कल्पित पूर्वजों का वंशज मानने की परिपाटी मौजूद है। हर सम्प्रदाय और जाति के लोगों का आजकल यह दावा है कि ये आदि-काल से हैं और पौराणिक-कालीन पूर्वजों की वे सन्तान हैं। फलत अध पतित सर्वहारा मजदूर और नीच जातिवाले घरेलू नौकर (menials) अपना-अपना परम्परागत इतिहास रखने और अपने को सम्मान्य पूर्वजों की सन्तान होने का दावा करने लगे हैं। साधारणत यह पूर्वज ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा कोई निम्न कोटि का देवता होता है, जो कि किसी प्रकार पाप का भागी होने के कारण इन्द्रदेव द्वारा अमान्य पद ग्रहण करने के लिए विवश कर दिया गया होता है और वह अपनी वर्तमान सामाजिक स्थिति को शान्त चित्त से बिना किसी अन्यथा भावना के स्वीकार कर लेता है। डोम जाति की उत्पत्ति से सम्बन्ध रखनेवाली कथाओं का विषय उनकी अस्पृश्यता पर केन्द्रित होता है और किसी गाय अथवा बछड़े की हत्या जाति के कलंकित होने का कारण होती है। अन्य कथाओं के अनुसार डोम वर्तमान सामाजिक स्थिति को इस कारण प्राप्त हुए हैं कि उन्होंने ब्राह्मण वेषधारी परमेश्वर को भिक्षा की याचना करने पर दान देने से इन्कार कर दिया अथवा उनकी उत्पत्ति उस समय राजा वेन या वेण की जाँघ से हुई जब कि ब्राह्मणों द्वारा उसका वध हुआ और ब्रह्मा ने उसके कोई सन्तान न होने के कारण सन्तानोत्पत्ति के लिए उसकी जाँघ को मथ दिया। इस मंथन की क्रिया से एक पुरुष की उत्पत्ति हुई जो कि लुकाठी की तरह काले रंग का और चपटे मुँह और बेहद नाटे क़द का था। यही डोमों का पूर्वज हुआ और आज डोमों का एक वर्ग वेण-वंशी अर्थात् वेण का वंशज कहलाता है।

डोमों के पेशे में कुछ तब्दीलियाँ हुई हैं और उनमें से कुछ वर्ग बेंत की चीजें तैयार करने और टोकरी बनाने के उद्योगधन्धों के द्वारा जीविका चलाते हैं। कुछ वर्गों ने खेती का पेशा अख़्तियार कर लिया है। गोरखपुर की जरायमपेशा बस्ती (Criminal Tribes Settlement) में बसे हुए कुछ डोम भी उक्त बस्ती के प्रबन्ध-विभाग के अधिकारियों द्वारा दी गई भूमि पर खेती करते हैं, पर वे अच्छे किसान नहीं साबित हुए हैं। प्रबन्ध-विभाग के अधिकारी उनकी इस असफलता का दोष उनकी इस अटूट मनोवृत्ति को देते हैं, जो कि तात्कालिक लाभ को देर में प्राप्त होनेवाले भारी पारितोषिक से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण मानती है; और खेती का पेशा ऐसा है कि फ़सल से रुपया पाने या अपनी दैनिक आवश्यकता की चीजों की पूर्ति के लिए उन्हें महीनों इन्तजार करना पड़ता है। हफ़्तेवारी मजदूरी की प्रथा डोम पसन्द नहीं करते। काम करने के बाद तुरन्त ही अगर उसे मज़दूरी मिले तो हफ़्ते भर तक रुककर मिलने-

वाली मज़दूरी से कम ही पर वह काम करने के लिए तैयार हो जायगा। यही बात ज्यादातर ख़ानाबदोश और जरायमपेशा जातियों में देखी जाती है। मेहनत की कमाई के प्रति उनका रुख़ अधिकांशतः इसी विचार को दृष्टि में रखकर निश्चित होता है। बेंत और बाँस का काम करनेवाले डोम लोग जो कि धरकार या बाँस-फोर कहलाते हैं, सवर्ण हिन्दुओं के सम्पर्क में अपेक्षाकृत अधिक आते हैं, और उनका पेशा, जो कि गन्दा नहीं होता, उनकी स्थिति को कुछ हद तक ऊँचा उठाने के लिए जिम्मेदार है। उनका रहन-सहन, आचार-विचार अपेक्षाकृत अधिकांश में हिन्दुओं जैसा हो गया है। वे हिन्दुओं में प्राचीन काल से प्रचलित रीति-रिवाजों को मानते हैं, यद्यपि अब भी उनकी गणना अछूत जातियों में ही होती है। कालान्तर में ये तथा छपरबन्द अथवा चिक या टट्टी बनानेवाले डोम सम्प्रदाय अच्छी जाति के मान लिये जा सकते हैं, किन्तु शौचगृह की सफाई करने, वाले डोमों के लिए अपनी सामाजिक स्थिति को उन्नत बनाने के लिए बहुत ही कम अवसर प्राप्त हैं। चाहे यह बात स्वीकार की जाय या नहीं, किसी भी जाति के पेशे के स्वरूप का उस जाति के सामाजिक दर्जे को निश्चित करने में विशेष प्रभाव पड़ा है। और डोम इस बात के एक जीवित उदाहरण हैं। ऐसे डोम जो कि श्मशान भूमि के निकट रहते हैं—कम-से-कम उनमें से कुछ लोग—अपने को राजा हरिश्चन्द्र की सन्तान होने का दावा करते हैं। पूर्वी डोमों का हरचन्नी सम्प्रदाय अपने को राजा हरिश्चन्द्र से सम्बन्धित बताता है, जिसने अपनी सारी सम्पत्ति दान में व्यय कर दी थी और अन्त में जिसे एक डोम का दास बनना पड़ा था। अपने स्वामी की दया-लुता के व्यवहार के बदले राजा ने उसके पूरे सम्प्रदाय का अपने धर्म में मतपरिवर्त्तन कर लिया, जिसके वे अब तक अनुयायी होते चले आ रहे हैं। डोम लोग चिता जलाने की लकड़ी बेचते हैं और कुछ लकड़ी वे स्वयं चिता पर नियमानुसार रखते हैं तथा शेष लकड़ी मृतक के कुटुम्बी रखते हैं। चिता में लगाने के लिए आवश्यक अग्नि भी वही लाते हैं। मृतक के कुटुम्ब के सदस्य विशेष को, जिसे आग देनी पड़ती है, अपने पास ही खड़े इन्तज़ार करते हुए डोम के हाथ से अग्नि ग्रहण करनी पड़ती है। इस प्रकार वह हिन्दू समाज का एक ऐसा कारीगर है, जिसके बिना उसका काम नहीं चल सकता। उसे मृतक की सामाजिक स्थिति और उसके परिवार के जीवित व्यक्तियों की हैसियत के अनुसार इस कार्य के लिए पारितोषिक मिलता है। उसके इस महत्त्वपूर्ण कार्य ने समाज की दृष्टि में उसे ऊँचा नहीं उठाया है और न उसकी सामाजिक स्थिति इससे कुछ ऊँची उठी है, क्योंकि वह केवल 'श्मशान-बन्धु' अर्थात् श्मशान का ही साथी है। और उसका सम्बन्ध न तो इस समाज से है, जो कि हमारे रहने की दुनिया का प्रतिनिधि है और न तो परलोक से ही उसका कोई सम्बन्ध है, जहाँ कि आत्मा के पास उसकी सेवाएँ पहुँचती हैं। उसकी स्थिति उस परम्परागत राजा त्रिशंकु की-सी है जो कि न तो इस लोक और न परलोक का ही वासी है। उसका सम्बन्ध दोनों लोकों से है, पर वास्तव में वह दोनों में से किसी एक का भी नहीं है।

डोमों का खानाबदोश सम्प्रदाय, जो कि मघिया डोम कहलाता है, शिकार करके और जंगलों में समय समय पर जाकर कन्दमूल और फल तोड़कर, जीविका-निर्वाह करता है। वे अच्छे शिकारी नहीं होते और इसके लिए न तो वे कोई औज़ार और न कोई हथियार ही काम में लाते हैं। चोरी करना या सेंध-मारना उनका खास पेशा होता है। उनकी स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति करती हैं और इस प्रकार प्राप्त निकट सम्पर्क द्वारा वे उन लोगों के बारे में जानकारी हासिल कर लेती हैं। इस जानकारी से लाभ उठाकर उनके पुरुष उन लोगों की सम्पत्ति का अपहरण करते हैं। चोरी के किसी ख़ास तरीक़े के वे आदी नहीं। वे अन्य जरायमपेशा लोगों की तरह कोई औज़ार अथवा 'जेमी' नहीं इस्तेमाल करते। वे एक चाकू रखते हैं जो कि बाँस चीरने के लिए होता है, इसलिए स्वभावतः उसकी धार बड़ी तेज़ होती है। मि० क्रुक ने लिखा है कि किस प्रकार जाड़े के मौसिम में ठंडी रातों में वे गर्म कोयले से भरा हुआ एक मिट्टी का बर्त्तन लिए फिरते हैं, जिस पर वे झुक झुककर तापते रहते हैं और जब बहुत नजदीक से घिर जाते हैं तो वे अपने आक्रमणकारी पर पक्का निशाना बैठाकर फेंकते हैं जिससे अक्सर गहरे ज़ख्म पहुँच जाते हैं।

दूसरी जरायमपेशा जातियों की तरह डोमों में भी शक्तिशाली पंचायत की प्रथा प्रचलित है। साधारणतः यह निर्वाचित सदस्यों से बनी हुई होती है, लेकिन अक्सर विभिन्न दलों के लोग सदस्यों को नामज़द करते हैं और नामज़दगी के लिए सदस्यों के चुनाव में व्यक्तित्व का बड़ा प्रभाव पड़ता है। पंचायत की शक्ति बहुत बड़ी

होती है, उसके निर्णय विवादियों और प्रतिवादियों के साथ सारे सम्प्रदाय पर लागू होते हैं। जिस व्यक्ति को जाति-बहिष्कार का दण्ड मिलता है वह कुजात कर दिया जाता है और पंचायत के निर्णय-विरुद्ध सम्प्रदाय के भीतर कहीं उसकी सुनवाई नहीं होती। उसको उस समय तक दण्ड भोगना पड़ता है, जब तक कि स्वयं पंचायत उसे इससे बरी नहीं कर देती। गोरखपुर की डोम-बस्ती में एक डोम लड़की को भगाने के अभियोग में पचायत ने फ़ैसला किया कि लड़की अपने माता-पिता के पास वापस भेज दी जाय और लड़के पर ५०) जुर्माना हुआ। लड़की ने वापस जाने से इन्कार कर दिया और उस लड़के को ही रख लेने का निश्चय किया; क्योंकि समाज ने लड़के को जाति से बाहर निकाल दिया था। उस युवक ने जुर्माना अदा कर दिया लेकिन इसके बाद तुरन्त ही वह जाति में नहीं लिया गया। उसे अपनी जातिवालों से सामाजिक सम्बन्ध रखने का अवसर नहीं दिया गया। समाज के बड़े-बूढ़ों ने उसे बिरादरीवालों को भोज देने के लिए कहा और जब उसने इस अनुरोध को स्वीकार कर लिया तो फिर वह जाति में ले लिया गया। पंचायत समाज के सदस्यों की ऐसी कार्रवाइयों पर नियंत्रण रखती है जिनके द्वारा यह समझा जाता है कि सामाजिक जीवन में विशृंखलता पैदा होगी अथवा उससे सबंधित समुदाय विशेष के स्वार्थों के प्रति तिरस्कार की भावना उत्पन्न होगी। जब कोई डोम किसी विवाहित स्त्री को भगाता है तो पचायत आज्ञा देती है कि उसके मुँह में कालिख पोती जाय और वह गदहे पर चढ़ाकर रास्ते-रास्ते घुमाया जाता है और बाद में जाति द्वारा बहिष्कृत हो जाता है। किसी डोम द्वारा गोहत्या होना पाप माना जाता है और इसके लिए उसे दण्ड भोगना पड़ता है। लेकिन यों वे सड़े हुए गोमांस तक को खा लेते हैं। हिन्दू आचार-विचार से प्रभावित डोमों में स्वभावत ऐसा करना निषेध माना जाता है। भिखमंगी के पेशे को डोम लोग कोई बहुत अच्छी चीज़ नहीं समझते, लेकिन जुर्म के कामों की बदनामी से बचने के लिए, जो कि वे अक्सर करते रहते हैं, वे भिखमगी का प्राय आश्रय ग्रहण करते हैं। हिन्दुओं में विवाह के सम्बन्ध में जो प्रतिबन्ध साधारणत प्रचलित हैं इन्हें डोम लोग भी मानते हैं। कोई अपने मामा, पिता की बहन, बुआ तथा चचा की पुत्री से विवाह नहीं कर सकता। लेकिन तीन-चार पीढ़ी के बाद ये प्रतिबन्ध बहुत पुराने पड़ जाते हैं। जब कोई ऐसा विवाह करना चाहता है तो उसे पचायत की अनुमति लेनी पड़ती है। डोमों में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित है, लेकिन केवल वे ही, जिनकी आर्थिक स्थिति इस योग्य होती है, एक से अधिक स्त्रियों से विवाह कर सकते हैं। क्वाँरी कन्या से वैवाहिक सम्बन्ध रखना निषिद्ध है। जब किसी ऐसी किसी लड़की से गुप्त प्रेम सम्बन्ध का पता चल जाता है तो उस पुरुष को जुर्माना देना पड़ता है या उस लड़की से विवाह करना पड़ता है।

एक जरायमपेशा डोम और उसकी स्त्री
यह कई बार जुर्म करके सजा पा चुका है।

गोरखपुर के पूर्वी ज़िलों में बहुत से मामलों में मैंने देखा कि लड़कियों ने स्थानीय निवासियों के घरों में काम करते हुए दूसरी जाति के पुरुषों से गुप्त प्रेम सम्बन्ध कर लिया और जब जाति के लोगों को इस गुप्त प्रेम सम्बन्ध के परिणाम का पता लग गया तो पंचायत ने उस लड़की के मा-बाप पर भारी जुर्माना लगाया और तब अपनी ही जाति के पुरुष के साथ उसका विवाह करा दिया और किसी-किसी मामले में लड़की के दोष के लिए वर को रुपया भी दिया।
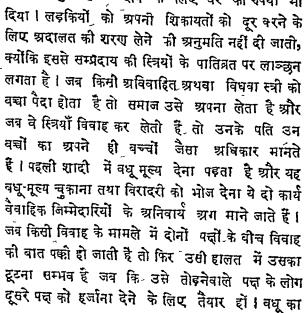
लड़कियों को अपनी शिकायतों को दूर करने के लिए अदालत की शरण लेने की अनुमति नहीं दी जाती, क्योंकि इससे सम्प्रदाय की स्त्रियों के पातिव्रत पर लाञ्छन लगता है। जब किसी अविवाहित अथवा विधवा स्त्री को बच्चा पैदा होता है तो समाज उसे अपना लेता है और जब वे स्त्रियाँ विवाह कर लेती हैं तो उनके पति उन बच्चों का अपने ही बच्चों जैसा अधिकार मानते हैं। पहली शादी में वधू मूल्य देना पड़ता है और यह वधू-मूल्य चुकाना तथा बिरादरी को भोज देना ये दो कार्य वैवाहिक जिम्मेदारियों के अनिवार्य अग माने जाते हैं। जब किसी विवाह के मामले में दोनों पक्षों के बीच विवाह की बात पक्की हो जाती है तो फिर उसी हालत में उसका टूटना सम्भव है जब कि उसे तोड़नेवाले पक्ष के लोग दूसरे पक्ष को हर्जाना देने के लिए तैयार हों। वधू का

मूल्य तो अधिक नहीं होता—लगभग १० रुपये मुद्रा में या उतने ही मूल्य के किसी पदार्थ में—किन्तु बिरादरी के लोगों के भोज में निस्सन्देह एक बड़ी रक़म ख़र्च करनी पड़ती है। विवाह के पश्चात् अनमेल स्वभाव और शारीरिक कुरूपता के आधार पर तलाक़ नहीं हो सकता, लेकिन अगर पत्नी के विरुद्ध परपुरुष से अवैध संबंध रखने के पति के पास ऐसे प्रमाण हों जिनसे पंचायत को विश्वास हो सके तो यह तलाक़ देने का प्रबल कारण हो जाता है। लेकिन स्त्री को पुनर्विवाह की अनुमति रहती है। विधवा को अपने मृत पति के भाई के साथ या ख़ानदान के भीतर विवाह करने की आज्ञा है। ऐसी दशा में उसके माता-पिता को नये पति से मिलनेवाले वधू-मूल्य को मृत व्यक्ति के सम्बन्धियों को लौटा देना पड़ता है। जिस समय वह विधवा के ललाट में अपने सम्बन्धियों के सामने टिकुली लगा देता है उस समय विधवा-विवाह अथवा सगाई की रस्म अदा हुई समझी जाती है।

बच्चा पैदा होने पर १२ दिन की एक अशौच की अवधि मनाई जाती है और इस अवधि में परिवार के लोगों को बिरादरी वालों से मिलना-जुलना निषिद्ध माना जाता है। बारहवें दिन शिशु का मुण्डन होता है और इसी दिन शाम को दाई का, जो कि चमारिन होती है, काम ख़त्म हो जाता है और उसे छुट्टी मिल जाती है। अशौच की अवधि में उसे द्रव्य, वस्त्र और भोजन दिया जाता है। बहुत से परिवारों में दाई की ज़रूरत नहीं होती, क्योंकि परिवार की स्त्रियाँ अथवा पास-पड़ोस की स्त्रियाँ परस्पर एक-दूसरे की सहायता करती हैं। मूत्ररोग सामान्य रूप से पाये जाते हैं और काफी बड़ी औसत में शिशुओं की मृत्यु होती है। बच्चों के पैदा होने पर कौड़ी देकर उन्हें ख़रीद लेने की प्रथा डोमों में भी सर्वप्रिय है। जब किसी स्त्री को जीवित शिशु उत्पन्न होता है अथवा उत्पन्न होने के बाद मर जाता है तो बच्चे को ५, ६ या ६ कौड़ियों के बदले उपचार के साथ ख़रीद लिया जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ऐसा हो जाने के बाद बच्चा मरेगा नहीं। डोमों के नामों से इस रिवाज का पता चल जाता है।

मृत्यु के पश्चात् लाश को जलाने और गाड़ने की दोनों ही प्रथाएँ डोम लोगों में प्रचलित हैं। इनमें ख़ाना-बदोश लोग मुर्दों को जलाने के बजाय गाड़ना पसन्द करते हैं। इनमें भी सम्पन्न डोम-परिवारों के लोग अपने मुर्दों को जलाना पसन्द करते हैं। इसके विपरीत ऐसे परिवारों के लोग जो कि बहुत ही दरिद्र होते हैं अपने मुर्दों की लाश को जंगलों में पशुओं के आहार के लिए फेंक देते हैं। हिन्दुओं की तरह इनमें अपने मुर्दों की हड्डियाँ या राख इकट्ठी करके नदियों में ले जाकर छोड़ने की प्रथा बहुत अधिक मात्रा में लोकप्रिय नहीं है, यद्यपि कुछ लोग अवश्य राख इकट्ठी करते और उन्हें पड़ोस के नदी-नालों में छोड़ देते हैं। अगले जन्म में डोम लोगों का बड़ा दृढ़ विश्वास है और मृतात्माओं की सेवा का वे बड़ा ध्यान रखते हैं। वे अक्सर जंगलों में या नदियों के किनारे पत्तों की वेदी तैयार करते हैं, जहाँ पर लाशें जलाई जाती हैं। इस स्थान पर वे घास की कुछ डंठलें खड़ी कर देते हैं ताकि विचरणशील आत्मा वहाँ आकर आश्रय ग्रहण करे और आत्मा को आराम पहुँचाने के लिए प्रतिदिन थोड़ी-सी पेय वस्तु गिरायी जाती है। मृत्यु के पश्चात् आत्मा के अमरत्व में उनका ऐसा दृढ़ विश्वास है कि वर और वधू के माता-पिता के लिए विवाहोत्सव के अवसर पर पाँच से लेकर सात पीढ़ी तक के अपने पूर्वजों का नाम याद रखना और उनका उच्चारण करना ज़रूरी होता है। पूर्वजों की आत्माओं का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए उनकी आराधना की जाती है और विवाह को सकुशल सम्पन्न करने के निमित्त भेंट चढ़ायी जाती है। पिता की बहिन के पति अर्थात् फूफा को मुखिया के रूप में अपने साले के पुत्र अथवा पुत्री के ब्याह की जिम्मेदारी लेनी पड़ती है और विवाहोपचार के समय वधू की हथेली पर दो-चार बूँद जल छोड़ना पड़ता है। इसके बग़ैर शादी की रस्म अदा नहीं समझी जाती। फूफा को इतना महत्व देने का कारण सम्भवत फूफा की पुत्री से विवाह करने की प्रथा है जो कि उसे श्वसुर की स्थिति में रखती है। अगर सरपुत (साले का लड़का) अपने फूफा की पुत्री या मामा की पुत्री के बजाय किसी दूसरी लड़की से विवाह करना चाहे तो मामा को उसे ऐसा करने की अनुमति देनी पड़ती है। पहले मृत्युसंस्कार के लिए मृत व्यक्ति की बहिन का पुत्र या उसके साले की लड़की का लड़का पुरोहित का कार्य करता था, लेकिन आज यह काम मृत व्यक्ति का पुत्र करता है और इस कार्य के लिए उसे जायदाद में अतिरिक्त भाग मिलता है।

किसी भी जरायमपेशा जाति के लिए अपना एक ऐसा देवता होना ज़रूरी है जो कि परम्परा से ही अपराधी स्वभाव का रहा हो। मि० केनेडी उनके विषय में लिखते हुए कहते हैं, "मघिया डोमों के अपने दो विशेष देवता होते हैं। उनमें

डोम जाति की स्त्रियों के चित्र

ये फ़ोटो स्वयं लेखक द्वारा डोम लोगों के अपने अध्ययन के सिलसिले में लिये गये थे। एक बात ध्यान देने योग्य है कि उच्च जातियों के संसर्ग एवं नई फ़ैशन के प्रसार के फलस्वरूप इस जाति के भी पहनावे, रहन-सहन और रूपरंग आदि पर उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ है। दाईं ओर का निचला फ़ोटो गोरखपुर के जरायमपेशा लोगों की सरकारी बस्ती की कुछ डोम स्त्रियों के एक समूह का चित्र है।

गण्डक प्रमुख हैं। उनकी परम्परा के अनुसार बहुत दिनों की बात है कि गण्डक को चोरी करने के लिए फाँसी की सज़ा हुई थी और मरते समय उसने वचन दिया था कि जब कभी डोमों पर मुसीबत आएगी वह उनकी मदद करेगा। तब से सारी डोम जाति गण्डक की पूजा करती है और प्रत्येक महत्त्वपूर्ण अवसर पर उसकी आराधना की जाती है। वह उनका चोरी का सहायक देवता माना गया है। उनकी दूसरी आराध्य एक देवी है जो कि उनकी कार्रवाइयों में किसी प्रकार से दख़ल नहीं देती, किन्तु स्त्रियों को उनकी बीमारियों की ओर से बहुत सजग रखती है। डोम अपने देवी-देवताओं को सुअर, शराब और शकर चढाते हैं।

इनके अतिरिक्त डोमों के देवी-देवताओं के समूह में भूत प्रेतों की भी काफी भरमार है। गोरखपुर ज़िले के कुछ क्षेत्रों में ये लोग काली देवी और महादेव को भी पूजते हैं। उनकी अधिकांश पूजा सामूहिक रूप से अपने देवताओं को ही लक्ष्य करके होती है और देवताओं को प्रसन्न कर लेने के अपने प्रयत्नों की परख वे चोरी और सेंध मारने में सफलता से करते हैं, जो उनके यहाँ एक जायज़ पेशा माना गया है।
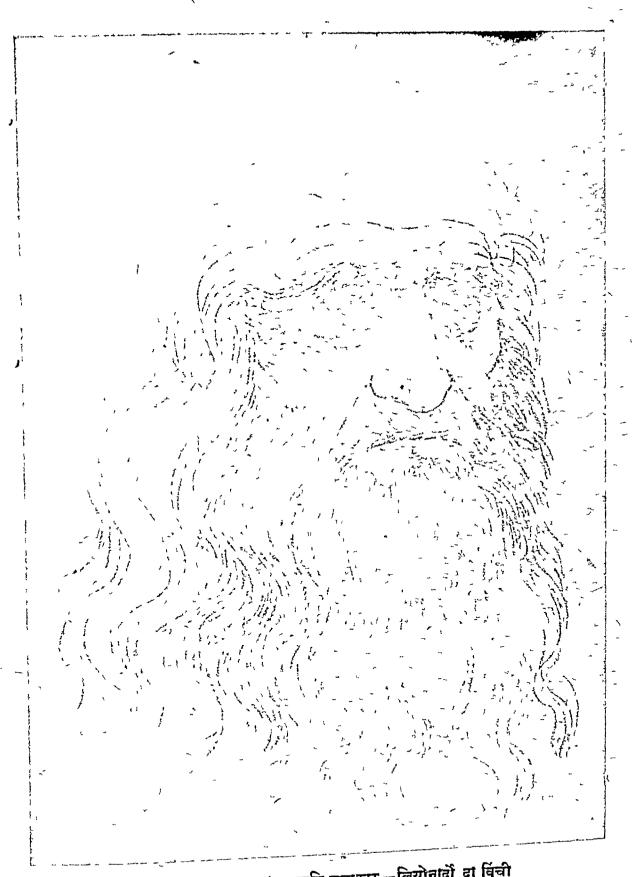
मध्ययुग का एक पाश्चात्य ऋषि-कलाकार — लियोनार्दो दा विंची

यह चित्र स्वयं लियोनार्दो ही का अपने हाथ का बनाया हुआ है और तूरन की रायल लायब्रेरी में सुरक्षित है।

लियोनार्दो दा विंची

संसार के इतिहास में पंद्रहवीं शताब्दी के महान् इटैलियन कलाकार लियोनार्दो दा विंची से अधिक सर्वतोमुखी प्रतिभा का व्यक्तित्व मिलना कठिन है। यह महापुरुष क्या था, क्या न था, आइए नीचे की पंक्तियों में देखें।

बड़े मिश्रीकंद के आकार का स्वरूप, सुडौल, सुन्दर, हृष्टपुष्ट। उन्नत विशाल, चिकना ललाट। लम्बे घुँघराले सर के पीछे के बाल। सामने की लम्बी सफेद दाढ़ी के बीच पूर्ण विकास पाये लाल खरबूजे के समान चेहरा। टॉर्च की तरह तेज प्रकाश से छेदती हुई आँखें। बुढ़ापे की झुर्रियों में छलछलाती सरलता की निशानी।

मोटे तरह से सांसारिक कहे जानेवाले भावों के लिए इस चेहरे में कहीं भी स्थान नहीं। प्रत्येक वस्तु की तह, उसकी आत्मा तक पहुँच जाने की धुन ही उसमें है। इसका बाह्य स्वरूप सदा जाग्रत और बेचैन है, फिर भी भीतर-ही-भीतर अपने आप में लीन। सारी आकृति में स्वप्न और जाग्रत अवस्था का एक साथ ही अनवरत चलता हुआ सुन्दर खेल। सबसे परिचित रहने के ही कारण सदैव अपरिचित भी। अपने आप में लीन रहने के कारण हमेशा बाहर झाँकने में भी व्यस्त। बाहरी आघातों की तह में पहुँच जाने के कारण ही उनके प्रति उदासीन। भीतरी-बाहरी जीवन के सभी पहलुओं को कसौटी पर कस कर पहचाननेवाला पारखी—'मनुष्यों की दुनियाँ' से सदा ऊपर एक विशाल अनन्त संसार का मनुष्य—लियोनार्दो। वास्तव में ही स्वयं प्रकृति ने उसे चुपके-चुपके गढ़ दिया था। इसके लम्बे जीवन का शायद एक ही दिन स्वयं इसके अपने आप से गुप्त रह पाया था। इसी एक दिन के कारण उसके आगे के जीवन की बहुत-सी बातें ढकी रह गईं। वह दिन था इसका जन्मदिन।

लियोनार्दो की कला-प्रतिभा का सूचक एक व्यंगपूर्ण स्केच या रेखाचित्र

इस तरह की आकृतियाँ अंकित करने में वह विशेष पटु था।

लियोनार्दो की माँ का न तो किसी को नाम मालूम है और न उसका इतिहास ही ज्ञात है। सिर्फ इतना पता है कि फ्लोरेंस (इटली) के एक युवक यात्री का विंची नामक एक गाँव में किसी किसान-कन्या से क्षणिक प्रेम हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप लियोनार्दो का जन्म हुआ। कुछ ही दिनों बाद उस यात्री युवक ने उस कन्या का एक अज्ञात किसान से विवाह कर दिया। लियो-

नार्दो के इस नये पिता के नौ लड़के पहले से ही थे और उसकी अपनी माँ से भी उसके कई सगे भाई पैदा हुए।

बचपन में ही अपने वास्तविक पिता के सिपुर्द कर दिए जाने के कारण लियोनार्दो को अपनी माँ की स्मृति बिलकुल ही नहीं रही। आगे चलकर भी उन्हें उसका पता नहीं चला। तीस वर्ष की उम्र तक वह अशांत रूप से ही भटकते रहे। अपने समय के और कलाकारों की भाँति यह भी किसी राजा को ढूँढ़ते रहे, जो इन्हें आश्रय देता और जिसकी यह सेवा कर पाते। इसी प्रकार का व्यक्ति इन्हें मिलान का ड्यूक—इल मोरो—मिला। उसके यहाँ भर्ती होने के लिए इन्होंने अपने को फौजी इंजीनियर और नये हथियारों का आविष्कारक बतलाया। अन्य अपने इल्मों में इन्होंने घर बनाना, नहर निकालना, सगमरमर, ताँबा व मिट्टी की मूर्त्ति बनाना, चित्रकारी करना और बंसी बजाना भी गिनाया। ड्यूक ने पहले इन्हें अपने भाई की मूर्ति बनाने का काम दिया और फिर अगले बीस साल तक जितने भी इल्म इन्होंने गिनाये थे उन सब से संबंध रखनेवाले काम इन्हें दिये।

ड्यूक पर फ्रांस के राजा का आधिपत्य हो जाने पर लियोनार्दो के मालिक बदल गये। इन्होंने अपनी डायरी में लिखा—'ड्यूक का देश, उनकी सम्पत्ति और आजादी चली गई। उनकी कोई भी योजना पूरी नहीं हुई।' पर लियोनार्दो अपना कार्य-क्रम पूरा करते गये। इनके आगे के जीवन में भी कितने ही बार मालिक बदले, पर इसका इन पर कुछ भी असर नहीं हुआ। जिसने इन्हें रुपये दिये उसके लिए ये सब तरह का काम करते गये। सीज़र बोर्गिया के यहाँ ये 'क़िलेबन्दियों के इंजीनियर' रहे, पर इन्हें सफलता नहीं मिली। रोम में पोप के यहाँ नौकरी की, जहाँ इन्होंने अपने को 'रसायनशास्त्र का ज्ञाता' घोषित किया। पर विशेष सफलता इन्हें यहाँ भी नहीं मिली। इनके जीवन में असफलता-सफलता के बहुत से खेल हुए। अन्त में इन्हें फ्रांस के राजा ने अच्छी तनख्वाह पर तूरेन के राजप्रसाद में रखा। यहाँ इन्होंने अपने जीवन के अन्तिम वर्ष निश्चिंततापूर्वक बिताये।

लियोनार्दो की एक विख्यात कलाकृति—इज़ाबेला।

इस चित्र में चित्रकार ने अपने युग का ही मानों चित्र खींच दिया है।

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी की उस योरपीय अशान्ति के ज़माने में (लियोनार्दो का जीवनकाल १४५२ से १५१९ ई० तक रहा है) लियो-नार्दो का बाह्य जीवन घटनारहित ही गिना जायगा। जिस तरह का जीवन उन्हें पसन्द था, इन्हें मिलता गया। इन्हें सिर्फ़ आश्रय, भोजन

और स्थिर जीवन से मतलब था। दोस्ती और राजनीति इनके लिए कोई अर्थ नहीं रखती थीं। किसी प्रकार की प्रतिद्वंद्विता की भी यह इच्छा नहीं रखते थे। संग्राम में भाग लेने की अपेक्षा उसका निरीक्षक बनकर रहना इन्हें अधिक पसन्द था। फ़ौजी इञ्जीनियर रहने पर भी इनके विचार युद्ध-विरोधी थे। किसी की जीत हार से इन्हें मतलब नहीं रहता था। इन्होंने एक बार एक आदमी को फाँसी का दण्ड पाते देखा। उसके विषय में और कुछ न लिख अपनी डायरी में सिर्फ़ उसके कपड़ों के रंग का वर्णन किया! दूसरे मौक़े पर एक तरफ़ लड़ाई चल रही थी और ठीक वहीं बैठे लियोनार्दो हवा, पानी के बुलबुले और समुद्र की लहरों से संबंध रखनेवाले अन्वेषण में लगे थे! इनका कहना था कि 'दयालु प्रकृति हमेशा इस बात का ख्याल रखती है कि आप संसार के सब स्थानों पर कुछ-न-कुछ सीखने की सामग्री पा जायँ।'

युवा कलाकारों को यह उनकी कटु टीका-टिप्पणी होने पर विनम्र रहने की सलाह दिया करते। इसीलिए यह स्वय किसी के द्वारा ख़राब 'सनद' दिये जाने पर उसकी बिलकुल ही परवा नहीं करते थे। अपना मूल्य वह स्वयं ही समझते और यही इनके लिए पर्याप्त था। अपने तन से इन्हें प्रेम था और उसे समुचित वस्त्र पहनाने के यह पक्षपाती थे। इनकी राय में भद्दी आदत तथा रूखे और हलके विचार रखनेवाले लोगों को मनुष्य-शरीर के समान जटिल सुंदर मशीन रखने का अधिकार नहीं होना चाहिए! इसलिए यह बड़े तरतीब और ढग से रहते। इनका कमरा सुंदर चित्रकारी से सजा रहता और वहाँ संगीतज्ञों की टोली जुटी रहती। जानवरों से भी इन्हें प्रेम था, इसीलिए यह उन्हें खाते नहीं थे। पिंजड़े में बन्द पक्षियों को बाज़ार से ख़रीद-ख़रीदकर हवा में उड़ा देने में इन्हें बड़ा आनन्द आता था। यह इनका ख़ास शौक़ था।

जहाँ से भी इन्हें जो कुछ मिलता था, यह ले लेते थे। मूर्ति बनाने या चित्रकारी के लिये पेशगी रुपये, शराब आदि भी ले लेते थे। वह काम शुरू कर देते, पर कुछ काल के बाद जब वह उन्हें पसन्द नहीं आता तो ऊबकर भाग जाते। लोग इसके लिये इन पर मुक़दमा भी किया करते, पर यह कहते—'मेरी क़ीमत कम मत लगाओ! मैं दरिद्र नहीं। जिसकी आवश्यकताएँ अधिक होती हैं वही व्यक्ति दरिद्र होता है।'

वासना का इनके जीवन में स्थान नहीं था। बहुत-

लियोनार्दो का सबसे महान् स्मारक—मोनालिसा का सुप्रसिद्ध चित्र, जिसकी रहस्यपूर्ण मौन मुस्कान पर आज संसार के अधिकांश कलारसिक लट्टू हैं। इस चित्र को बनाने में इस महान् कलाकार को पूरे चार वर्ष लगे थे।

लियोनार्दो द्वारा कल्पित यंत्रों का एक मनोरंजक स्केच

यह प्रतिभाशाली पुरुष न केवल एक कलाकार ही था, प्रत्युत आविष्कारक भी था। इस संबंध में वह अपने युग से कहीं आगे बढ़ा हुआ था।

झुलाये चलते थे। जिन चेहरों में इन्हें विशेषता दिखाई देती, उनका ख़ाका ठीक ठीक उतार लेने के लिए यह उनके पीछे पीछे बहुत दूर तक शहर में भी चलते चले जाते। इनके चित्रकारी का यह ढंग वैज्ञानिक था।

बाइबिल के कुछ व्यक्तियों—बूढ़े, भिखमंगे, भेड़िहारे आदि—का चित्र खींचने के लिए यह बाजार के चौराहे और शराबख़ानों में, जहाँ इन्हें उस प्रकार की सूरतें दिखाई देने की आशा रहती, जाया करते। किसी एक सूरत की चित्रकारी करने के पहले यह उस ढग के सैकड़ों अध्ययन-सूचक चित्र खींचा करते। कभी-कभी यह बाज़ार से किसानों को अपने घर बुला लाते और इन्हें शराब पिलाकर उनका चित्र खींचा करते थे। अपने चित्रण में वह चेहरों के भाव के पीछे छिपे हुए कारणों को ढूँढ़ निकालने की चेष्टा करते। साथ ही आँखों की पलकों के उठते और गिरते समय क्या परिवर्त्तन होते हैं, अथवा हँसने, छींकने, जम्हाई लेने, थकावट, भूख आदि के क्या परिणाम होते हैं खोज निकालते थे।

चित्रण भी यह अपने मन की मौज के हिसाब से किया करते थे। बोझ समझकर चित्रण करने की इनकी आदत नहीं थी। किसी चित्र का चित्रण करते-करते यदि किसी दूसरे अध्ययन के विषय पर उनका ध्यान चला जाता तो वह पहले को भूलकर दूसरे का अध्ययन करने लग जाते थे। एक गिर्जे के लिए इन्हें माडोना का चित्रण कर देना था, पर काम शुरू किये महीनों बीत जाने पर भी चित्र तैयार नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि चित्र शुरू करने के बाद इनकी प्रवृत्ति रेखागणित सीखने की ओर चली गई थी। इसी कारण से इनके लगभग सब चित्र अधूरे ही रह गये। इनके सबसे प्रख्यात चित्र—'अन्तिम भोजन' की भी यही दशा हुई। एक दिन दिनभर बिना खाये-पिये या एक मिनट का दम लिये यह उसमें लगे रहते तो फिर महीनों उसे यों ही छोड़ देते। कभी उसके सामने सिर्फ घंटों खड़े रहकर लौट जाया करते और कभी बहुत

सी सुन्दर और प्रख्यात नारियों के संपर्क में यह आये, पर इनके साथ संबंध रखती हुई कोई प्रेम कहानी कभी भी नहीं सुनी गई। इनके विचार के अनुसार आदमी अकेला रहकर ही पूरा-पूरा स्वय अपना बना रह सकता है।

किशोर लड़कों के प्रति इनका विशेष आकर्षण था, इसके प्रमाण मिलते हैं। उन्हें इन्होंने बड़ी सुन्दर चित्रकारियों द्वारा अमर कर रखा है। बहुत-से सुन्दर लड़कों को यह अपने चित्र, बेचकर पैसा ले लेने के लिये, दे देते थे। कितने ही लड़के इनके चित्र चुरा भी लेते तो यह जान-बूझकर उसका ख़याल नहीं करते थे। पर वे किशोर इनके लिए बड़े ख़र्चीले साबित हुए, यह ये महसूस किया करते थे। किशोरों के प्रति इनका यह आकर्षण सौन्दर्योपासना के ढंग का था। इन्होंने स्वयं एक स्थान पर लिखा है—'बुद्धि के तरफ की वासना सब कामवासनाओं को दूर भगा देती है।'

लियोनार्दो की सभी चीजें, इनके सब काम, ज्ञानप्राप्ति के लिए हुआ करते थे। ज्ञान की खोज के लिए ही यह चित्रों की खोज किया करते। अपनी युवा और वृद्धावस्था में भी यह जो कुछ देखते थे उसका ख़ाका उतार लेने के लिए एक ख़ाके की कापी (स्केच-बुक) अपनी कमर में

हुआ तो एक हलकी कूची फेर देते। यदि इन्हें चित्रण करते-करते मसाले की बनावट का खयाल आता तो उसी को लेकर अन्वेषण करने लग जाते। कई बार तो इसी अन्वेषण में उन्होंने अपने सुन्दर-से सुन्दर चित्र नष्ट कर दिये। पर उसकी इन्हें चिन्ता नहीं थी।

प्रकृति को जानने, उसका रहस्य ढूँढ निकालने की तीव्र लालसा इन्हें थी और इसीलिए सारे जीवन में अनवरत उसका साक्षात्कार करते रहना ही लियोनार्दो की सबसे बड़ी विशेषता रही। इन्होंने अध्ययन का इतना विस्तृत क्षेत्र अपनाया था कि उसकी मोटी-मोटी रेखाओं का चित्रण भी कई जन्म में ही पूरा किया जा सकता था। पानी का स्वरूप, मेकैनिकल इञ्जीनियरी, चित्रकारी आदि संबंधी अपने सारे अध्ययन को सिलसिले से इकट्ठा कर उसका नाम यह 'प्रकृति के पदार्थ' देना चाहते थे। किन्तु यह सब पूरा कर सकना इनके लिए सम्भव नहीं हुआ।

लियोनार्दो ने प्रकृति के काम को एक-एक करके लिया, उसका निरीक्षण किया और फिर उसे रख दिया। यह जीवनभर वैज्ञानिक अन्वेषक रहे। इन्होंने गणित, ज्योतिष, ऐनाटोमी आदि का क्षेत्र छान डाला। हवाई जहाज़, पनडुब्बी जहाज़ निकालने की भी कोशिश की। नदियों का रुख पलट देने की योजना बनाई। प्रकृति ने इनके सामने अपना पर्दा कुछ हद तक हटाया। पर इससे सन्तोष पाने के पहले यह उसका सौन्दर्य देखकर मुग्ध हो गये। यह उसकी आत्मा की चित्रकारी करने की चेष्टा करने लगे। जो कुछ भी इनकी आँखों के सामने आया उसे ठीक उसी स्वरूप में, उसके आन्तरिक सौन्दर्य के साथ अंकित करने की इन्होंने चेष्टा की। यह अन्वेषक से भी अधिक हद तक कलाकार बन गये।

कला के क्षेत्र में इन्होंने प्रकृति से हार मानी। इनके चित्र अधूरे रहे। उनमें भी आज केवल नौ मिलते हैं, जिनमें मुश्किल से पाँच ही चित्रकार के भाव दर्शानेवाले हैं। इन चित्रों की सबसे बड़ी खूबी यह है कि इनमें मनुष्य और प्रकृति मिले हुए हैं। प्रत्येक चेहरा स्वप्न में अनुभव की जानेवाली सुन्दर हरियाली, झील, जलप्रपात, जादू-भरे नीले रंग की पहाड़ की चोटियों आदि प्राकृतिक दृश्यों से निकलता-सा दिखाई देता है। ये चित्र स्वप्नसंगीत के सुन्दर तार हैं जो मनुष्य और प्रकृति को एक दूसरे के साथ मानों बाँध रखते हैं।

इन्होंने अधिकतर किशोर और बूढ़ों की चित्रकारी की। कुछ औरतों की भी चित्रकारी की, जिनमें मोनालिसा (गियोकोन्दा) और इज़ावेला के चित्र आज भी इनकी अमर-कीर्ति का गान करते हैं। इन चित्रों में इन्होंने दो औरतों को नहीं, बल्कि अपने सारे युग के इतिहास को खोलकर रख दिया है। इस क्षेत्र में लियोनार्दो के समकालीन शायद ही दूसरे कलाकार को इनके बराबर सफलता मिली हो।

मोनालिसा (गियोकोन्दा) को तैयार करने में इस महान् कलाकार को चार वर्ष लगे थे। इसके तैयार करते समय लियोनार्दो की उम्र पचास से अधिक थी। इस चित्र में महिला के केशपाश के पीछे प्राकृतिक दृश्य आँका गया है, जिसके कारण यह बहुत ही आकर्षक बन गया है। उसकी आँखें हमारी ओर ताकते समय पूर्ण रूप से खुली हुई हैं।

लियोनार्दो की अन्य एक कलाकृति—बीट्रीस दे'स्त का चित्र

उसकी भावभंगी मधुर और कटाक्षपूर्ण है। उसके होठों में लबालब प्रेम भरा है। मोनालिसा की मूर्ति शांत है, किन्तु साथ ही वह अनुभव में प्रवीण होने का दावा रखती है। यह मोनालिसा अपनी प्रौढ़ मुसकान द्वारा एक साथ ही आध्यात्मिक अनुभूति और पुलकित प्रेम को प्रकट करती है और आनेवाली पीढ़ी की ओर आशा-भरी दृष्टि से निहारती है।

इज़ाबेला हमारी ओर से मानों अपना मुँह फिरा लेती है, वह धीर, एकान्त, प्रतीक्षापूर्ण है। वह अपरिचित निहारकों को, जिनकी संभवतः अन्य औरतें मुसकान द्वारा अभ्यर्थना करतीं, हीन ही समझती है। उसकी आँखें स्पष्ट और निर्भीक हैं। इस चित्र में चित्रकार का नहीं, बल्कि उसके युग का चित्र है।

'माडोना ऑफ दी रॉक्स' नामक लियोनार्दो की एक कृति में एक तरुणी का भावपूर्ण चित्रण

अपने इन चित्रों द्वारा लियोनार्दो योरपीय संस्कृति का सबसे बड़ा संरक्षक साबित हुआ है। जिन दिनों व्यक्तित्व को मर्यादा दे प्रकृति से अपना संबंध विच्छेद कर लेना लोग अपना कर्त्तव्य समझने लगे थे, उस समय अकेला लियोनार्दो ही ऐसा हुआ जिसने आगे आकर मनुष्य और प्रकृति के बीच के संबंध पर ज़ोर दिया और उसका महत्व सारे पश्चिमी जगत् को समझाया। चित्रकारी की कला को तो उसी ने मानों नष्ट होने से बचा लिया। प्रकृति की पूजा करना लियोनार्दो ने ही पश्चिमी चित्रकारों को सिखलाया है। यह शिक्षा उसने प्राकृतिक दृश्यों की अपनी चित्रकारी द्वारा दी है। इन दृश्यों के चित्रण की कला को लियोनार्दो ने इतने ऊँचे पर चढ़ा दिया कि जहाँ से वह गिराई नहीं जा सकती। अपनी वाणी द्वारा भी उसने इसी भाव का प्रचार किया। इस दृष्टि से यूरोप के महान् से महान् चित्रकार मिखेलंगेलो, राफेल, व्रुमॉत, क्यूरट और रेम्ब्रान्ट तक सब का स्थान लियोनार्दो के शिष्यवर्ग में ही है।

प्रकृति की तुच्छ से तुच्छ कीर्ति के प्रति भी भावपूर्ण आराधना का भाव रखना लियोनार्दो की विशेषता थी। यह आराधना उन्हीं मनुष्यों द्वारा संभव होती है जो यह अनुभव करते हैं कि वे सारे ब्रह्माण्ड के एक भाग हैं, उसमें मिले हैं, उसके साथ एक हैं। बिना इस आराधना के संस्कृति का विकास संभव नहीं हो सकता। ख़ासकर चित्रकला को जीवित रखने के लिए तो यह अनिवार्य ही है, क्योंकि सदियों से यही एक कला है, जिसकी विशेषता, जिसका जीवनसूत्र, प्रकृति की आराधना रहा है। यदि लियोनार्दो ने इस आराधना पर ज़ोर नहीं दिया होता तो पश्चिमी जगत् का प्रकृति के साथ का संबंध टूट-सा जाता, जिसके बाद सांस्कृतिक विकास का दरवाजा बंद रहता।

यह दरवाज़ा खुला रखना, पश्चिमी संस्कृति में जान लाना, लियोनार्दो दा विंची का कार्य था। प्रकृति के साथ बातें करना ही इनके जीवन का अर्थ था और यही बात आज भी सिर्फ योरपीय संस्कृति ही नहीं बल्कि सारे संसार की संस्कृति के विकास पर विचार करते समय हमें विशेष रूप से इन्हें श्रंजलि अर्पित करने के लिए बाध्य करती है।

लियोनार्दो द्वारा चित्रित घोड़ों का एक स्केच

विश्व की कहानी
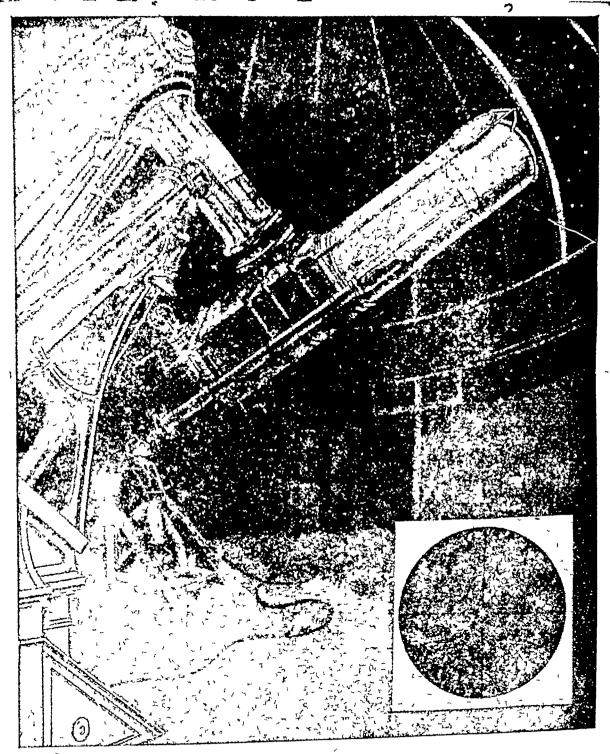
एक भीमकाय दूरदर्शक द्वारा आकाशीय पिण्डों का अध्ययन

पृथ्वी की गति के कारण वही आकाशीय पिण्ड दूरदर्शक के दृष्टिक्षेत्र में स्थिर नहीं रह सकते। अतएव दूरदर्शक इस प्रकार आरोपित रहता है कि वह भू-अक्ष के समानांतर अक्ष के बल घूम सके। आकाशीय पिण्डों के निरीक्षण, और विशेषत: उनके फ़ोटो लेते समय, एक बहुत ही सच्ची घड़ी लगाकर उसे ठीक पृथ्वी के वेग से घुमाया जाता है। ज्योतिषी एक सहायक दूरदर्शक द्वारा बराबर उन्हीं आकाशीय पिण्डों की ओर देखता रहता है। दूरदर्शक में स्थित स्वस्तिक तारों (दे० कोने का चित्र) की सहायता से उसे पिण्डों के स्थानों में लेशमात्र अंतर का भी पता चलता रहता है। यदि कुछ भी अंतर दिखाई दिया तो वह बिजली के बटन को दबाकर दूरदर्शक की गति में इच्छानुसार परिवर्त्तन कर देता है। इस प्रकार अत्यंत तीक्ष्ण और स्पष्ट फ़ोटो उतारे जा सकते हैं।

दूरदर्शक

जिस यंत्र द्वारा आकाश के अगणित अदृश्य पिण्ड मानव दृष्टि-क्षेत्र में घसीट लाए गए हैं, और जिसके द्वारा उनके अनेकानेक रहस्यों का उद्घाटन हुआ है, उसी का मनोरंजक वर्णन हम इस लेख में पढ़ेंगे। हम देखेंगे कि शीशे और दर्पण ने मनुष्य की दृष्टि शक्ति को कितना आगे बढ़ा दिया है!

उस यंत्र को जिसकी सहायता से ज्योतिषी दूरस्थ वस्तुओं को स्पष्ट और प्रवर्द्धित आकार का देखता है दूरदर्शक या दूरबीन कहते हैं। चंद्रमा के पहाड़, शुक्र की कलाएँ, मंगल की धारियाँ, बृहस्पति के उपग्रह, शनि के वलय आदि का ज्ञान इसी यंत्र से हमें प्राप्त हो सका है। इसलिए इस यंत्र की रचना, इतिहास आदि का ज्ञान अवश्य ही चित्ताकर्षक होगा।

दूरदर्शक अपेक्षाकृत अत्यंत सरल यंत्र है। उचित नाप की एक नली के दोनों सिरों पर ताल (लेन्स) लगे रहते हैं, एक ओर बड़ा, एक ओर छोटा, बस यही दूरदर्शक की बनावट है। जिस किसी ने फोटोग्राफ़ी के कैमरे की जाँच की होगी, या व्यवसायी फ़ोटोग्राफ़र को फ़ोटो लेने की तैयारी करते हुए निकट से देखा होगा, वह जानता होगा कि कैमरे के ताल से एक प्रतिबिंब बनता है जिसमें विषय का प्रत्येक ब्योरा बड़ी सचाई से अंकित रहता है।

दूरदर्शक के बड़े ताल का भी काम यही है कि वह आकाशीय पिण्ड का सच्चा प्रतिबिंब बनावे। यह प्रतिबिंब आकाशीय पिण्ड से बहुत छोटा होता है अवश्य, परंतु इस प्रतिबिंब को हम निकट से देख सकते हैं। इसलिए साधारणतः हमें प्रतिबिंब की जाँच से ब्योरों का अधिक ज्ञान हो सकता है, बिना इस ताल के आकाशीय पिण्ड को कोरी आँख से सीधे देखने पर हमें इतने ब्योरे कभी नहीं दिखलाई पड़ सकते। उदाहरणत, यदि हम १०० इंच नाभ्यांतर* का कोई बढ़िया ताल लें तो इससे चंद्रमा का प्रतिबिंब लगभग एक इंच व्यास का बनेगा। इस प्रतिबिंब को हम ६ इंच की दूरी से देख सकते हैं। इतनी कम दूरी से देखने पर इसमें जितने ब्योरे दिखलाई पड़ेंगे उतने बिना ताल के कभी न दिखलाई पड़ेंगे। एक दूसरे उदाहरण से संभवत यह बात और अधिक स्पष्ट हो जायगी। यदि हम इस हिंदी विश्व-भारती के एक पृष्ठ को २० फुट पर रख दें तो हम इसके किसी भी अक्षर को स्पष्ट न देख पावेंगे, परंतु यदि हम अब बीच में १०० इंच

दूरदर्शक द्वारा आकाश-पिण्डों का निरीक्षण
एक बार आकाश पिण्डों को दृष्टि क्षेत्र में लाकर घड़ी चालू कर देने पर वे ही पिण्ड घंटों दिखलाई पड़ते हैं।

*ताल से दूरस्थ वस्तु के प्रतिबिंब की दूरी को 'नाभ्यांतर' कहते हैं।

वाले ताल को रखकर उससे बनी मूर्ति की जाँच करे तो हमें पृष्ठ के स्पष्ट रूप से पढ़ लेने में कुछ भी कठिनाई न पड़ेगी। हाँ, एक असुविधा यह होगा कि प्रतिबिंब उलटा बनेगा, चित्रों के प्रतिबिंब में सर नीचे रहेंगे और टाँगें ऊपर। दूरदर्शक से भी आकाशीय पिण्ड इसी प्रकार उलटे दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु उनमें सिर और टाँग का भेद-भाव न होने के कारण ज्योतिषियों को कोई अड़चन नहीं पड़ती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दूरदर्शक के बड़े ताल से (जिसे 'प्रधान ताल' कहते हैं) दूरस्थ वस्तुएँ हमें स्पष्ट और बड़ी दिखलाई पड़ती हैं। परंतु दूरदर्शक की प्रवर्द्धन-शक्ति अकेले प्रधान ताल से ही नहीं मिलती। इसके छोटे ताल से भी बड़ी सहायता मिलती है। इस छोटे ताल को 'चक्षुताल' कहते हैं क्योंकि आँख इधर ही लगाई जाती है। चक्षुताल का नाभ्यांतर अत्यंत छोटा रक्खा जाता है, इंच या इससे भी कम। सभी ने देखा होगा कि आतिशी शीशे या बूढ़े व्यक्तियों के चश्मे के तालों द्वारा अक्षर या अन्य समीपस्थ वस्तुएँ बड़ी दिखलाई पड़ती हैं। ऐसे ताल बीच में मोटे और चारों ओर पतले अर्थात् उन्नतोदर होते हैं। वस्तुओं को बड़े आकार की दिखलाने के कारण इनको प्रवर्द्धक ताल भी कहते हैं। दूरदर्शक का चक्षुताल वस्तुतः एक प्रवर्द्धक ताल ही है। इसके द्वारा देखने पर प्रधान ताल से बना प्रतिबिंब और भी बड़ा दिखलाई पड़ता है।

दूरदर्शक का चक्षुताल

इस चक्षुताल के ही निकट आँख लगाकर दूरदर्शक से देखा जाता है। दूरदर्शक की प्रवर्द्धन शक्ति और उसमें रंगदोष का न रहना बहुत कुछ चक्षुताल पर निर्भर रहता है।

इस प्रकार प्रधान ताल और चक्षुताल दोनों ही प्रवर्द्धन-शक्ति के बढ़ाने में सहायता देते हैं। प्रधान ताल का नाभ्यांतर जितना ही अधिक होगा और चक्षुताल का नाभ्यांतर जितना ही कम होगा, अंतिम प्रवर्द्धन शक्ति उतनी ही अधिक होगी, परंतु क्रियात्मक रूप से इस नियम का उपयोग केवल एक सीमा तक ही हो सकता है। प्रवर्द्धन-शक्ति की सीमा प्रधान ताल की सचाई और उस के व्यास पर निर्भर है। प्रधान ताल के व्यास की नाप इंचों में जानकर उसे १०० से गुणा करने पर दूरदर्शक की महत्तम प्रवर्द्धन-शक्ति ज्ञात हो सकती है। उदाहरणतः; यदि किसी दूरदर्शक का व्यास २० इंच है तो इसमें न्यूनाधिक नाभ्यांतर का चक्षुताल लगाकर प्रवर्द्धन-शक्ति न्यूनाधिक की जा सकती है, परंतु इसे २०×१०० अर्थात् २,००० से अधिक करने से कुछ लाभ न होगा। सो भी इतना छोटे नाभ्यांतर का चक्षुताल कि प्रवर्द्धन शक्ति २००० हो जाय केवल उसी दिन लगाया जा सकता है जिस दिन वायुमंडल अत्यंत स्वच्छ और स्थिर हो। अन्यथा इतनी अधिक प्रवर्द्धन-शक्ति के उपयोग का परिणाम केवल यही होगा कि बाह्य आकार तो बढ़ जायगा, परंतु ब्योरे भद्दे हो जायँगे, यहाँ तक कि लीपा-पोती-सी हो जायगी और सूक्ष्म ब्योरे सब मिट जायँगे। फल बहुत-कुछ वैसा ही होगा जैसा तब जब पृष्ठ का आकार बड़ा कर दिया जाय, अक्षर भी बड़े-बड़े हो जायँ, परन्तु रोशनाई इतनी फैल जाय कि अक्षर सब एक दूसरे पर चढ़ जायँ और इसलिए कोई भी अक्षर न पढ़ा जाय। साधारण परिस्थितियों में दूरदर्शक के प्रधान ताल के व्यास की इंचों में नाप की २० गुनी प्रवर्द्धन शक्ति पर ही संतोष करना पड़ता है।

रंग-दोष आदि

अधिक प्रवर्द्धन शक्ति के उपयोग में एक बाधा यह भी है कि प्रधान ताल पूर्णतया दोष-रहित नहीं रहता। यदि किसी तारे के प्रतिबिंब की सूक्ष्म जाँच की जाय तो पता चलेगा कि प्रतिबिंब के चारों ओर रंगीन झालर-सी है बहुत कुछ वैसी ही जैसी वस्तुओं को शीशे की कलम (त्रिपार्श्व) द्वारा देखने पर दिखलाई पड़ती है। वैज्ञानिकों ने बहुत चेष्टा की है कि यह 'रंग-दोष' मिट जाय। फोटोग्राफी के लिए बने लेन्सों में तो उनको इस विषय में प्रायः पूर्ण सफलता मिली है। उन्होंने तीन, चार, या अधिक ऐसे सरल तालों के उपयोग से जो विभिन्न रासायनिक बनावट के शीशों से बने रहते हैं और जिनमें से कुछ नतोदर रहते हैं, कुछ उन्नतोदर, रंग-दोष पर विजय पा लिया है। परंतु जब उन्हें दूरदर्शक के लिए तीस-चालीस इंच के व्यास का ताल बनाना पड़ता है तब इन सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत करने में तरह-तरह की कठिनाइयाँ पड़ती हैं। बड़े दूरदर्शकों में से किसी के

प्रधान ताल में दो से अधिक सरल ताल नहीं हैं। कुछ ऐसे दूरदर्शक अवश्य बनाये गये हैं जिनके प्रधान ताल में तीन सरल ताल हैं, परंतु ऐसे दूरदर्शक बहुत बड़े नाप के नहीं बनाये जा सके हैं।

जिस प्रकार प्रधान ताल दो या तीन सरल तालों के संयोग से बनाया जाता है उसी प्रकार चक्षुताल भी वस्तुत कई सरल तालो से बना रहता है। चित्रों के देखने से अच्छे चक्षुताल की बनावट का पता चल जायगा।

दर्पणयुक्त दूरदर्शक

प्रतिबिंब दर्पण से भी बन सकता है। साधारण दर्पण

चन्द्रमा का एक फोटोग्राफ

रंग-दोष के न रहने के कारण दर्पणयुक्त दूरदर्शक से फ़ोटोग्राफ अत्यन्त स्पष्ट उतरता है।

में जो प्रतिबिंब बनता है वह दर्पण के उस पार बनता है और दर्पण से उतनी ही दूरी पर रहता है जितनी दूरी पर वास्तविक पिण्ड। उदाहरणतः, यदि हम चंद्रमा का प्रतिबिंब साधारण दर्पण में देखें तो पता चलेगा कि चंद्रमा का प्रतिबिंब दर्पण से उतनी ही दूर है जितना चंद्रमा। परंतु यदि हम साधारण सपाट दर्पण के बदले तवे की तरह नतोदर दर्पण लें तो इसमें प्रतिबिंब दर्पण के उस पार बनने के बदले दर्शक की ओर बनेगा, जिसका सूक्ष्म निरीक्षण कोरी आँख से या चक्षुताल से किया जा सकेगा। इस प्रकार नतोदर दर्पण और चक्षुताल के संयोग से बने दूरदर्शक को दर्पणयुक्त दूरदर्शक कहते हैं। आजकल के बड़े-से-बड़े दूरदर्शक सब दर्पणयुक्त ही हैं क्योंकि बहुत बड़े प्रधान ताल बन नहीं सकते। संसार का सबसे बड़ा तालयुक्त दूरदर्शक ४० इंच व्यास का है। सबसे बड़ा वर्तमान दर्पणयुक्त दूरदर्शक १०० इंच व्यास का है। २०० इंच व्यास का दर्पणयुक्त दूरदर्शक कई वर्षों से बन रहा है। यह आज (अप्रैल १९४२) तक तैयार नहीं हो पाया है, परंतु आशा की जाती है कि यह शीघ्र ही तैयार हो जायगा, क्योंकि इसमें अब थोड़ा ही काम शेष रह गया है।

आश्चर्यजनक सूक्ष्मता

इन दर्पणों के बनाने में आश्चर्यजनक सूक्ष्मता की आवश्यकता पड़ती है। यदि गणितसिद्ध आकार से दर्पण का पृष्ठ कहीं भी नाममात्र ऊँचा या नीचा रहे तो प्रतिबिंब सच्चा न बनेगा और ब्यौरे मिट जायँगे। हद दर्जे की सूक्ष्मता का वर्णन करने के लिए लोग कहते हैं कि बाल बराबर भी अन्तर नहीं है; परन्तु दूरदर्शकों के बनाने में बाल-बराबर अन्तर तो बहुत हो जायगा। बाल की मुटाई के हजारवें भाग का अन्तर भी नहीं पड़ना चाहिए। जैसा सभी विज्ञान प्रेमी जानते हैं, गरमी पाकर वस्तुएँ कुछ बड़ी हो जाती हैं। शीशा भी इसी प्रकार ताप से बढ़ जाता है। यदि १०० इंच व्यासवाले दर्पण को जाड़े के दिन में कोई अपनी अँगुली से छू दे तो अँगुली की गरमी पाकर वहाँ की सतह नाममात्र उभड़ आयगी—कितनी कम उभड़ेगी इसकी कल्पना आप स्वयं कर सकते होंगे। परन्तु प्रतिबिंब की सुस्पष्टता नष्ट करने के लिए इतना ही पर्याप्त है। २०० इंच व्यास के दर्पण बनाने में विशेष डर इसी बात का था कि लाख प्रयत्न करने पर भी इसकी सतह के ३१,००० वर्ग इंचों को सदा एक ही तापक्रम पर न रक्खा जा सकेगा। लोगों का विश्वास था कि इतना बड़ा दर्पण तापक्रम-विभिन्नताओं के कारण १०० इंच व्यासवाले दर्पण से किसी प्रकार अच्छा न होगा, परन्तु ज्योतिषियों की सहायता रसायनज्ञों ने की। यह भीमकाय दर्पण पाइरेक्स नाम के विशेष शीशे से बनाया गया है, जो ताप के कारण इतना कम बढ़ता है कि आग से निकाले लाल शीशे पर ठंढा पानी छोड़ने पर भी वह नहीं टूटता। साधारण शीशा ऐसी दशा में चूर-चूर हो जायगा, क्योंकि ठंढा पानी पड़ते ही ऊपरी सतह एकाएक इतनी संकुचित हो जायगी कि यह सतह चिथड़े की तरह फट जायगी।

नतोदर दर्पण की सतह बहुत छिछली रहती है; परंतु इसे एक विशेष आकार का होना चाहिए। गेंद की तरह गोल वस्तु की सतह नतोदर दर्पण की सतह को सर्वत्र कभी भी नहीं छू सकती, चाहे उस गोले का व्यास कितना ही कम या कितना ही अधिक रक्खा जाय। वस्तुतः नतोदर दर्पण की सतह 'परवलयाकार' होती है जो गोलाकार सतह से थोड़ी सी ही भिन्न होती है। दर्पण को प्रस्तरचूर्ण से रगड़-रगड़कर और बार-बार परीक्षा करके उसे सच्चा परवलयाकार बनाया जाता है। अंत में इस पर क़लई कर दी जाती है।

आरोपण

मनुष्य का दृष्टिक्षेत्र परिमित है। यदि चंद्रमा को हम १,००,००० गुना बड़ा करके देखना चाहें—और हमारे बड़े दूरदर्शकों से ऐसा करना सम्भव भी है—तो हम समूचे चंद्रमा को एक बार में ही न देख पायेंगे। वस्तुतः हम इसके एक छोटे-से अंश को अत्यन्त प्रवर्द्धित पैमाने पर देखेंगे। परन्तु सभी आकाशीय पिण्ड बराबर पूर्व से पश्चिम की ओर चला करते हैं, जिसका कारण यह है कि पृथ्वी अपने अक्ष पर २४ घंटे में एक बार के हिसाब से घूमती रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि चंद्रमा या अन्य आकाशीय पिण्ड का वह नन्हा सा भाग जो दूरदर्शक में हमें किसी क्षण दिखलाई पड़ता है, दूसरे क्षण दृष्टिक्षेत्र के बाहर चला जाता है। प्रवर्द्धन-शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतने ही अधिक वेग से आकाशीय पिण्ड भागते दिखलाई पड़ेंगे। इसलिए स्थिर दूरदर्शकों से आकाशीय पिण्डों का सूक्ष्म निरीक्षण असंभव है। इसका प्रतिकार इस भाँति किया जाता है कि दूरदर्शक को भी घड़ी द्वारा चलाकर बराबर आकाशीय पिण्ड के एक ही अंग की ओर रक्खा जाता है।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दूरदर्शक की नली को

अमरीका की जगत्-प्रसिद्ध माउण्ट विल्सन वेधशाला [वायुयान द्वारा लिया गया फोटोग्राफ]।
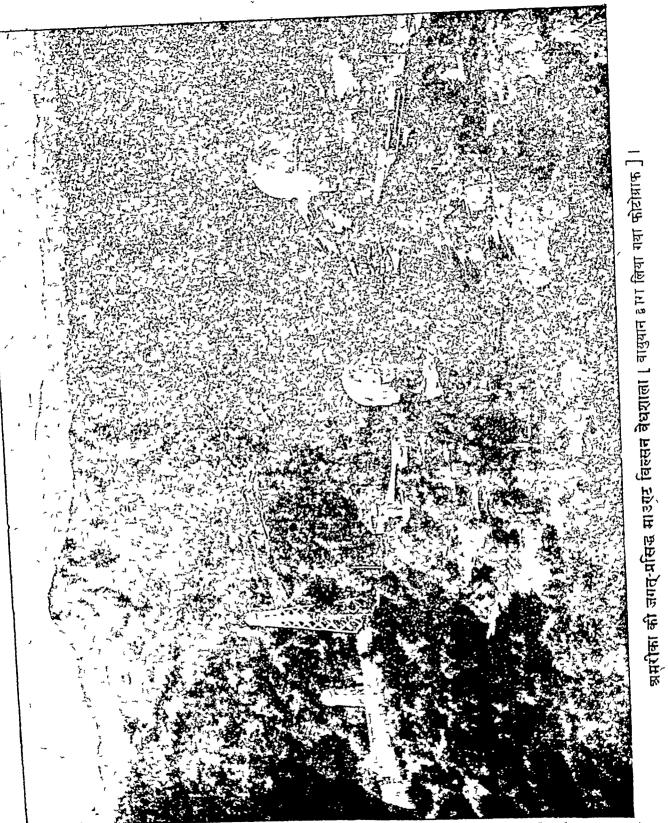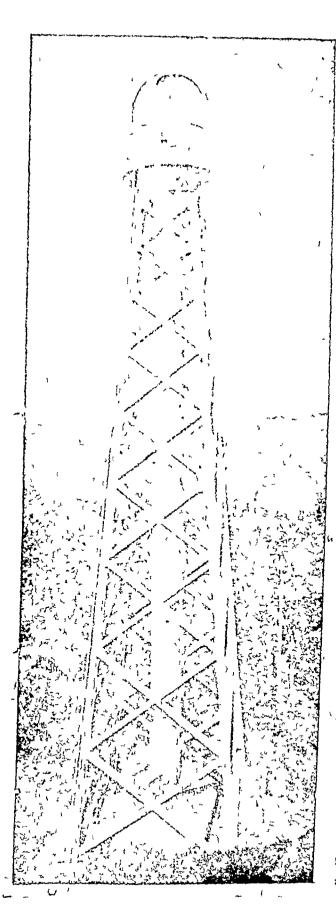
इस प्रकार आरोपित किया जाता है कि वह भू-अक्ष के समानांतर अक्ष के बल घूम सके। फिर बहुत सच्ची घड़ी लगाकर दूरदर्शक को ठीक उसी वेग से चलाया जाता है, जिस वेग से पृथ्वी घूमती है। परंतु सब कुछ करने पर भी घड़ी के वेग और भू वेग में थोड़ा बहुत आकस्मिक अन्तर रह ही जाता है। इसके परिशोध के लिए बड़े दूरदर्शकों में एक दूसरा सहायक दूरदर्शक बँधा रहता है। जब प्रधान दूरदर्शक से फोटो लिया जाता है और यह आवश्यक रहता है कि कुछ समय तक दूरदर्शक एकदम ठीक वेग से चले तो ज्योतिषी सहायक दूरदर्शक द्वारा बराबर देखता रहता है। लेशमात्र भी अंतर दृष्टिगोचर होते ही वह बिजली के बटनों को दबाकर दूरदर्शक की दिशा में इच्छानुसार सूक्ष्म परिवर्त्तन कर सकता है। इस प्रकार अत्यंत तीक्ष्ण और स्पष्ट फोटो उतारे जा सकते हैं। यदि फोटो न उतारना हो, केवल आँख से दूरदर्शक द्वारा आकाशीय पिण्डों को देखना हो, तो एक बार पिण्ड को दूरदर्शक के केन्द्र में लाकर घड़ी चला देने पर वह पिण्ड घंटों तक दूरदर्शक में दिखलाई पड़ता रहेगा।

विभिन्न पिण्डों को देखने के लिए दूरदर्शक उत्तर-दक्षिण दिशा में भी चलाया जा सकता है। एक बार पिण्ड की ओर दूरदर्शक को घुमाकर पेंच कस देने पर तब तक उसे हटाना नहीं पड़ता जब तक किसी दूसरी वस्तु को न देखना हो।

अट्टालिका दूरदर्शक

सूर्य को छोड़ अन्य आकाशीय पिण्डों में इतना अधिक प्रकाश नहीं रहता कि उनके प्रकाश-मार्ग में एक-दो दर्पण रखकर उनके प्रकाश की दिशा सुविधानुसार दिशा में मोड़ ली जाय। दर्पणों के प्रयोग से उनके प्रकाश में जितना क्षय होगा वह उपेक्षायोग्य न होगा। सौभाग्य से सूर्य के लिए बात ऐसी नहीं है। सर्व सूर्य-ग्रहण देखने के लिए ज्योतिषियों को अनेक बीहड़ स्थानों में जाना पड़ता

माउण्ट विलसन का एक अट्टालिका दूरदर्शक
सूर्य की फोटोग्राफी में इस दूरदर्शक का उपयोग होता है। लोहे के गर्डरों से बने स्तंभ के ऊपर एक गुम्बद में यह स्थिर रक्खा रहता है, और भू-अक्ष के समानांतर अक्ष पर घूम सकनेवाले एक घड़ी-सचालित समतल दर्पण की सहायता से वही विषय देर तक देखा जा सकता है। अट्टालिका का प्रत्येक गर्डर खोखली नली में बन्द रहता है जो गर्डर को कहीं नहीं छूता, जिससे हवा के झकोरों से कोई थरथराहट नहीं हो सकती।
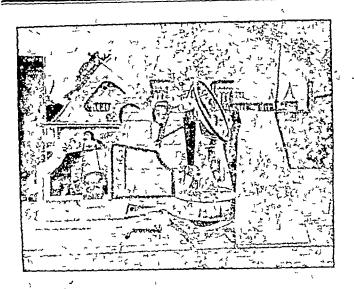
सीलोस्टैट

अट्टालिका दूरदर्शक में लगे हुए समतल दर्पण को सीलोस्टैट कहते हैं। यह उसी दर्पण का चित्र है।

है और वहाँ कुछ दिनों के लिए अस्थायी वेधशाला बना लेनी पड़ती है। ऐसी परिस्थितियों में सुविधा इसी में होती कि दूरदर्शक को स्थिर रक्खा जाय और इसके सामने घड़ी संचालित समतल दर्पण रक्खा जाय। यह दर्पण इस प्रकार आरोपित रहता है कि भू-अक्ष के समानान्तर अक्ष पर घूम सके। ऐसे दर्पण को परावर्त्तनीय स्थापक (Coelostat सीलोस्टैट) कहते हैं।

अमरीका की एक वेधशाला में अट्टालिका दूरदर्शक है। वस्तुतः यह लोहे के गर्डरों का बना स्तंभ है, जिसके ऊपर परावर्त्तनीय स्थापक रक्खा है। सूर्यप्रकाश इस यंत्र के दर्पण से मुड़कर नीचे आता है और ऊर्ध्वाधर स्थिर दूरदर्शक में जाता है। वायु के झकोरों के कारण अट्टालिका की थरथराहट से कोई गड़बड़ी न हो इस अभिप्राय से अट्टालिका का प्रत्येक गर्डर खोखली नली में बंद है, जो गर्डर को कहीं नहीं छूता। इस युक्तिपूर्ण प्रबन्ध से वेग के तूफान में भी भीतरी स्तंभ में कोई थरथराहट नहीं उत्पन्न हो पाती।

गुम्बद

यदि कभी भी आपको किसी वेधशाला के देखने का अवसर मिलेगा तो आपका ध्यान इसके अर्द्ध-गोलाकार गुंबदों की ओर अवश्य आकर्षित होगा। इन गुंबदों के भीतर वेधशाला के बड़े दूरदर्शक रहते हैं। बड़े दूरदर्शक खुले मैदान में आरोपित नहीं किये जा सकते, क्योंकि वे वहाँ धूप और पानी से शीघ्र नष्ट हो जायँगे। यदि वे साधारण घरों के भीतर रक्खे जायँ तो उनसे फिर आकाशीय

वेधशाला का गुम्बद

इस गुम्बद के भीतर वेधशाला का बड़ा दूरदर्शक रहता है। इसमें शीर्ष से जड़ तक एक पतला-सा झरोखा कटा रहता है, जिसे खिसकनेवाले पल्ले को बगल हटाकर खोला जा सकता है। इसके अतिरिक्त कुल गुम्बद घूम सकता है। इससे यह झरोखा किसी भी दिशा में लाया जा सकता है। गुंबद के कारण धूप, पानी और हवा से दूरदर्शक सुरक्षित रहता है। (फ़ोटो रॉयल ऑब्ज़र्वेटरी ग्रीनिच की कृपा से प्राप्त।)
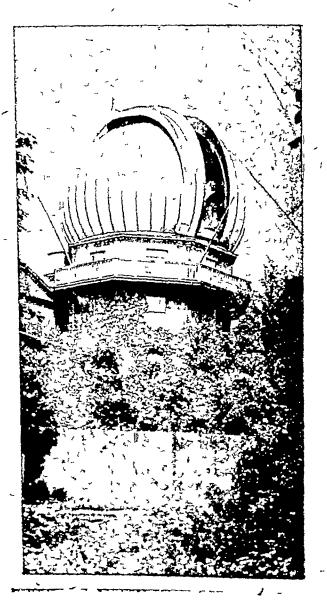
पिण्ड कैसे देखे जा सकेंगे? वे इतने छोटे या हलके तो होते नहीं कि जब चाहें तब उन्हें घर के बाहर निकाल लें और जब चाहें तब उनको फिर घर में लाकर रख दें। इसलिए उनके ऊपर धातु-पत्र का बना, इस्पात के गर्डरों से सुदृढ़ किया गुंबद रहता है। इस गुंबद में शीर्ष से जड़ तक एक पतला-सा झरोखा कटा रहता है, जिसे एक

गुम्बदों का एक दूसरा दृश्य

ग्रीनिचवेधशाला के इन गुम्बदोंके झरोखे बन्द हैं क्योंकि दूरदर्शक से निरीक्षण का काम नहीं लिया जा रहा है। (फ़ोटो रायल आब्ज़र्वेटरी ग्रीनिच की कृपा से)
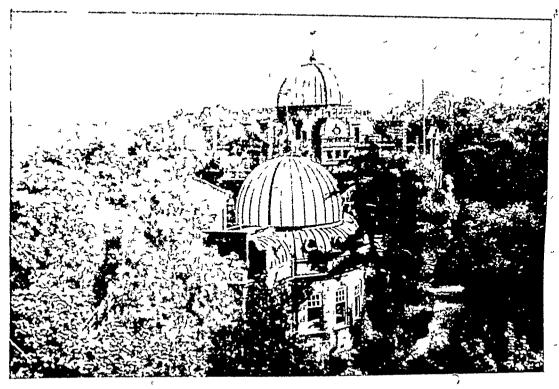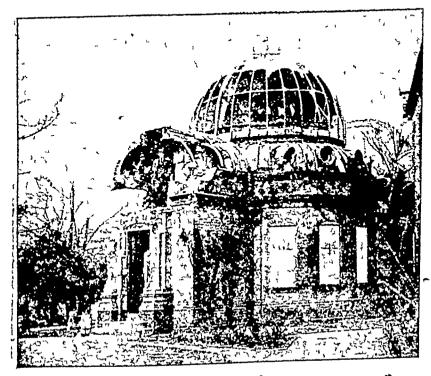
इस चित्र में ग्रीनिच वेधशाला का दूरदर्शक भवन दीख रहा है—यह फ़ोटो १९४० में जर्मन बमवर्षकों द्वारा विध्वंस किये जाने पर ली गई थी। सौभाग्यवश वेधशाला के दूरदर्शक को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँची।

खिसकनेवाले पल्ले को बगल में हटाकर खोला जा सकता है। इसके अतिरिक्त कुल गुंबद घूम सकता है। इससे यह झरोखा इच्छानुसार किसी भी दिशा में लाया जा सकता है। इस प्रबंध से ज्योतिषी गुंबद के नीचे बैठे-ही-बैठे झरोखा खोल और गुंबद को आवश्यकतानुसार दिशा में घुमाकर आकाश के किसी भी भाग को अपने दूरदर्शक से देख सकता है। गुंबद के कारण ओस, शीत और वायु से भी वह सुरक्षित रहता है। काम हो जाने पर झरोखा बंद कर देने से यंत्र की भी समुचित रक्षा होती है।

उपयोगिता

दूरदर्शक की उपयोगिता केवल यही नहीं है कि उससे आकाशीय पिंड प्रवर्द्धित आकार के और इसलिए अधिक स्पष्ट, दिखलाई पड़ते हैं। दूरदर्शक से बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी भी दिखलाई पड़ती हैं जो अत्यंत छोटी

या मंद प्रकाश की होने के कारण कोरी आँख से दिखलाई ही नहीं पड़ती। कारण यह है कि दूरदर्शक का प्रधान ताल आँख की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ा होता है और इसलिए अत्यंत अधिक मात्रा में प्रकाश को एकत्रित करता है, उदाहरणत, ४० इंचवाले दूरदर्शक से तारे कोरी आँख की अपेक्षा ३५,००० गुने अधिक चमकीले दिखलाई पड़ते हैं। इसलिए इससे ऐसे भी तारे दिखलाई पड़ते हैं, जिनसे कोरी आँख से दिखलाई पड़नेवाले मंदतम तारे की अपेक्षा केवल ३५ हज़ारवें अंश में ही प्रकाश आता है। फोटोग्राफी का सहयोग पाकर दूरदर्शक ने इनसे भी मंद प्रकाश के आकाशीय पिण्डों को हमारी दृष्टि के सम्मुख ला दिया है। बात यह है कि प्रकाश के अत्यंत मंद होने पर हम वस्तु को नहीं देख सकते, चाहे घंटों घूरते रहें। परंतु फ़ोटोग्राफ़ी के प्लेट पर मंद प्रकाश का प्रभाव एकत्रित होता चलता है। कई घंटे का प्रकाशदर्शन (एक्सपोज़र) देकर हम ऐसे पिण्डों का भी स्पष्ट चित्र प्राप्त कर सकते हैं जो उसी दूरदर्शक में आँख लगाने पर एकदम नहीं दिखलाई पड़ते। अवांतर ग्रहों के आविष्कार में फ़ोटोग्राफी के प्लेट के इस गुण से पूरा लाभ उठाया गया है। अनेक नीहारिकाओं के पूरे विस्तार का सच्चा ज्ञान हमें फोटोग्राफी से ही मिल सका है।
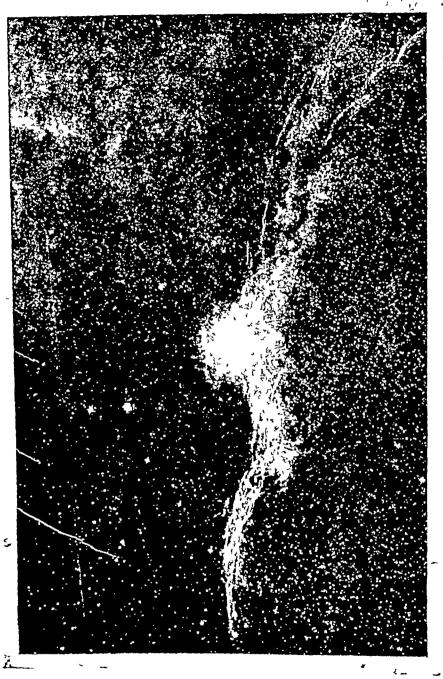
दूरदर्शक से फ़ोटोग्राफ़ लेने के लिए साधारणत: चक्षु-ताल हटा दिया जाता है और प्रतिबिंब के धरातल में फोटोग्राफी की प्लेट लगा दी जाती है। फोटोग्राफ लेने से समय की भी बड़ी बचत होती है। जिन ब्योरों के

सिग्नस की ब्राइडलवेल नीहारिका

अन्य कई नीहारिकाओं की भाँति ब्राइडल नीहारिका भी हमारी पृथ्वी से कई अरब मील की दूरी पर स्थित है। इनसे इतना कम प्रकाश हम तक पहुँच पाता है कि बढ़िया दूरदर्शकों से भी हमारी आँखें इन्हें देखने में असमर्थ होती दूरदर्शक तथा फ़ोटोप्लेट की सहायता से घण्टों का प्रकाशदर्शन दे नीहारिकाओं की फ़ोटो ली जा सकी है।
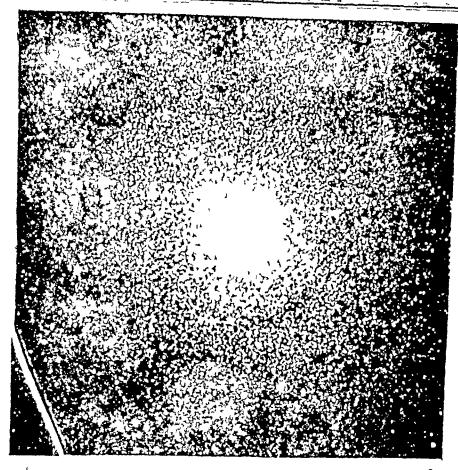
एक तारापुंज

दूरदर्शक की सहायता बिना यह सुंदर तारापुंज सदा अदृश्य ही रहता। एक ६० इंच के दर्पणवाले दूरदर्शक द्वारा ११ घंटे का प्रकाश-दर्शन देकर यह फ़ोटो खींचा गया था। (फ़ोटो माउण्ट विलसन वेधशाला की कृपा से प्राप्त)।

देखने या नापने में घंटों तक दूरदर्शक फँसा रहता वे अब दो चार सेकंड का प्रकाश-दर्शन देकर फ़ोटोग्राफ़ में अंकित कर लिये जा सकते हैं। तब इन फोटोग्राफ़ों का अध्ययन या नाप-जोख सुविधानुसार घंटों तक किया जा सकता है। इस प्रकार एक ही दूरदर्शक से कई ज्योतिषी काम कर सकते हैं।

सतह के ब्योरे, विभिन्न अंगों या पिण्डों के बीच की दूरी आदि की नाप के अतिरिक्त दूरदर्शक से एकत्रित प्रकाश को रश्मिविश्लेषक यंत्र में डालकर पिण्डों की रासायनिक बनावट भी जानी जाती है। तारों की चमक की जानकारी भी दूरदर्शक यंत्र से लिए गये फ़ोटोग्राफ़ों का अध्ययन करके प्राप्त करते हैं। वस्तुतः दूरदर्शक ही आधुनिक ज्योतिषी का प्रधान यंत्र है। यही उसकी आँख है। आकाश सम्बन्धी अधिकांश ज्ञान इसी की सहायता से उसे प्राप्त हुआ है।

दर्पण क्यों?

दर्पणों में एक अवगुण यह होता है कि क़लई कुछ ही महीनों में मंद पड़ जाती है और इसलिए उन पर बराबर क़लई करनी पड़ती है। इसी कारण से छोटे यंत्र बराबर तालयुक्त ही बनाये जाते हैं। परंतु बड़े दूरदर्शक सब दर्पणयुक्त ही बनते हैं क्योंकि एक तो बहुत बड़े तालयुक्त दूरदर्शक बन नहीं सकते, और जो बन भी सकते हैं वे उसी शक्ति के दर्पणयुक्त दूरदर्शक के मुक़ाबले बहुत महँगे पड़ते हैं। ४० इंचवाले वर्तमान तालयुक्त दूरदर्शक से बड़ा इसी जाति का दूसरा कोई दूरदर्शक बना सकने की सम्भावना वर्तमान समय में नहीं जान पड़ रही है। इसका ताल अपने ही बोझ से थोड़ा सा लच जाता है। वस्तुतः यह बहुत ही थोड़ा लचता है, पर सूक्ष्म निरीक्षणों में इतने की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अधिक बड़े तालों में इस कारण और भी कठिनाई पड़ेगी। फिर ताल जितना ही बड़ा होता है वह उतना ही मोटा भी होता है और मोटे ताल में से गुज़रने में बहुत सा प्रकाश नष्ट हो जाता है।

दर्पणों में रंग-दोष नहीं होता। वे इच्छानुसार मोटे बनाये जा सकते हैं, उनके सहारे के लिए उनके पीछे इच्छानुसार टेक आदि भी लगाये जा सकते हैं, उनमें केवल एक ही पृष्ठ को सच्चा करना पड़ता है, आदि। उनमें ये अनेक गुण हैं। अब चाँदी की क़लई के बदले अल्युमिनियम की क़लई करने की रीति का आविष्कार कर लिया गया है और यह क़लई कुछ बरसों तक चल जाती है। इसलिए बार-बार क़लई करने का भी झंझट अब उतना असुविधाजनक नहीं रह गया है। इन्हीं सब कारणों से वैज्ञानिकों का ध्यान इस समय बड़े दर्पणयुक्त दूरदर्शक बनाने की ओर आकर्षित हुआ है।

आलोक-रश्मियों में इन्द्रधनुष के रंग

अभी तक हमने आलोक-रश्मियों के साधारण परावर्त्तन तथा आवर्त्तन का अध्ययन किया है। इस अध्याय में हम आलोक की श्वेत रश्मियों का विश्लेषण करेंगे और तब हम देखेंगे कि सूर्य के रथ में जुते हुए सात घोड़ों से हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों का क्या अभिप्राय था।

हमारे चारों तरफ रंग बिरंगी वस्तुएँ दिखाई देती हैं। हरी-हरी दूब, रंग-बिरंगे फूल, चटकीले रंगोंवाली तितली और सुनहली रेखा से मण्डित सन्ध्या के बादल, सभी मन को मोह लेते हैं। किन्तु सूर्यास्त के उपरान्त रात्रि के अन्धकार में इनके चटकीले रंग पर भी जैसे कालिमा का आवरण पड़ जाता है। श्वेत आलोक में ही ये रंग देखे जा सकते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि विभिन्न वस्तुओं का रंग उन वस्तुओं पर पड़नेवाले प्रकाश पर निर्भर है। श्वेत आलोक में सभी रंग निखर आते हैं। किन्तु लैम्प में यदि लाल रंग की चिमनी फिट कर दी जाय, तो इस लाल रोशनी में सफ़ेद वस्तु लाल दीखेगी, लाल वस्तु लाल किन्तु हरी वस्तु एकदम काली दीखेगी। रंग स्वयं कोई पदार्थ नहीं है। अपारदर्शी वस्तुएँ अपने धरातल से विशेष आलोक-रश्मियाँ परावर्त्तित करती हैं— ये ही परावर्त्तित आलोक-रश्मियाँ हमारी आँखों में प्रवेश करने पर हमें विभिन्न रंगों का अनुभव कराती हैं। कुछ रश्मियाँ लाल रंग का अनुभव कराती हैं, कुछ हरे और कुछ पीले का। वैज्ञानिकों ने देखा कि श्वेत आलोक की सहायता से हर रंग की वस्तुओं को हम देख सकते हैं, अतः उन्होंने यह अनुमान निकाला कि श्वेत आलोक में प्रत्येक रंग की आलोक-रश्मियाँ मिली हुई जान पड़ती हैं, तभी तो हरे, पीले या लाल रंग के धरातल पर श्वेत आलोक जब पड़ता है तो ठीक उसी रंग की आलोक-रश्मि उस श्वेत प्रकाश में से परावर्त्तित होकर बाहर को लौट जाती है, शेष रंगों की आलोक-रश्मियाँ उस वस्तु में जज़्ब हो जाती हैं। सफ़ेद रंग की वस्तुएँ अवश्य ही समान रूप से तमाम रंग की आलोक-रश्मियों को परावर्त्तित करती हैं तथा काली दीखनेवाली वस्तुएँ श्वेत प्रकाश के अन्तर्गत तमाम रंगों को अपने में पूर्णतया जज़्ब कर लेती हैं।

श्वेत रंग के अन्तर्गत तमाम विभिन्न रंग मौजूद हैं—इस नई खोज का श्रेय सर आइज़क न्यूटन को प्राप्त है। पिछले अध्याय में लेन्स द्वारा आलोक-रश्मियों के आवर्त्तन का उल्लेख हमने विस्तृत रूप से किया है। लेन्सयुक्त यन्त्रों में तत्कालीन वैज्ञानिकों ने एक अद्भुत बात देखी। लेन्स द्वारा बने हुए तमाम चित्रों के हाशियों में रंग का पुट नजर आ जाता, यद्यपि मूल वस्तुओं में रंग नाममात्र को भी न था। पहले तो न्यूटन ने सोचा कि लेन्स की गढ़न में दोष होने के कारण बिम्ब में रंग का पुट आ गया है। अतः उसने बड़ी सावधानी के साथ लेन्स को पूर्णतया सही तौर पर खरादा, फिर भी बिम्ब का रंग-दोष दूर न हुआ। अब सर आइज़क न्यूटन ने मनोयोग-पूर्वक आवर्त्तन के रंगदोष की समस्या को हल करने का प्रयत्न आरंभ किया।

न्यूटन ने निम्नलिखित ढंग पर अपना सुप्रसिद्ध प्रिज़्म (त्रिपार्श्व) वाला प्रयोग किया था:—

एक अँधेरे कमरे की खिड़की के दरवाज़े में न्यूटन ने एक नन्हा-सा सूराख़ किया। इस सूराख़ के रास्ते से सूर्य की पतली-सी आलोक-रश्मि अँधेरे कमरे में प्रवेश करती थी। कमरे में तख्ती 'स' पर वह रश्मि एक उजला-सा गोल बिम्ब बनाती थी। अब न्यूटन ने इस आलोक-रश्मि के मार्ग में काँच के त्रिपार्श्व को इस प्रकार रक्खा कि त्रिपार्श्व का शीर्ष नीचे की ओर पड़े। तुरन्त ही यह आलोक-रश्मि ऊपर को मुड़ गई, साथ ही अकेले एक
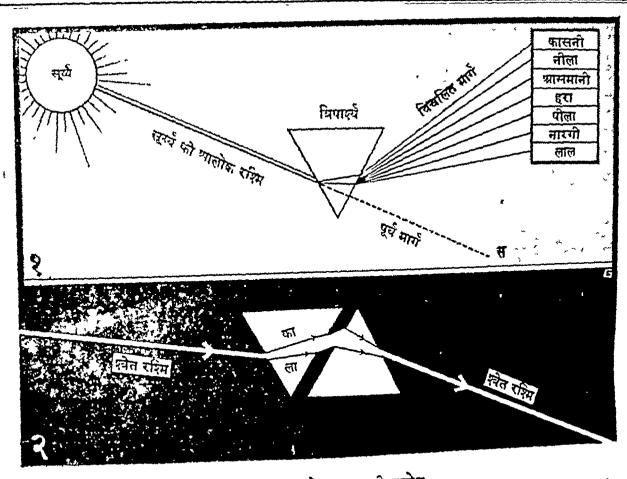
न्यूटन के आलोक-सम्बन्धी प्रयोग
१. इस चित्र में काँच के त्रिपार्श्व द्वारा श्वेत आलोक रश्मि का सात विभक्त रंगों में बिखरना दिखलाया गया है।
२. इस चित्र में प्रथम त्रिपार्श्व द्वारा विस्तरित होने पर श्वेत रश्मि के विभिन्न रंग द्वितीय त्रिपार्श्व द्वारा पुनः एकत्रित हो जाते हैं और अंत में फिर श्वेत रश्मि हो मिलती है (अगले पृष्ठ का मैटर देखिये)।

धवलविन्दु के बजाय उससे पाँच गुना लम्बा सतरंगी बिम्ब उस तख्ती पर मिला। सबसे नीचे लाल रंग फिर नारंगी, पीला, हरा, आसमानी, नीला और कासनी सबसे ऊपर। त्रिपार्श्व की स्थिति देखने से यही निष्कर्ष निकला कि नीले और कासनी रंग की रश्मियों में विचलन सबसे अधिक थी, तथा लाल में सबसे कम।

अब देखिये न्यूटन ने अपने इस प्रयोग के नतीजे का विश्लेषण किस योग्यता के साथ और कितने सुसंगठित तौर पर किया। सबसे पहले उसे इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ना था—श्वेत रश्मि फैलकर भिन्न रंगों में कैसे व्यक्त हो सकी? उसने सोचा कदाचित् ऐसा इसलिए दीख रहा है कि त्रिपार्श्व से गुजरनेवाली श्वेत रश्मि-पुंज के निचले भाग को काँच की कम दूरी तय करनी पड़ती है, तथा ऊपरी भाग को अधिक। इसी कारण ऊपरवाली रश्मि में विचलन अधिक होता है तथा नीचेवाली में कम। अपने इस विचार की जाँच करने के लिए उसने एक रश्मि को त्रिपार्श्व के पतले भाग में से गुज़रने दिया और दूसरी को पेंदे के पास वाले भाग से। किन्तु दोनों ही दशा में रश्मियों का फैलाव बराबर रहा। अतः न्यूटन का उपर्युक्त विचार ग़लत निकला।

न्यूटन ने फिर सोचा सम्भव है रश्मि में फैलाव तथा रंगदोष त्रिपार्श्व (प्रिज्म) के काँच की ख़राबी के कारण हो। उसने भिन्न-भिन्न काँच के बने हुए त्रिपार्श्वों के साथ प्रयोग किया, हर बार उसे उसी क्रम से सातों रंग के बिम्ब मिले। उसने विचारा यदि धवल प्रकाश का सतरंगी रश्मियों में परिवर्त्तित होना त्रिपार्श्व के काँच के दोष के कारण है, तो एक त्रिपार्श्व के बजाय दो त्रिपार्श्व के प्रयोग करने पर तो उपर्युक्त असर दूना हो जाना चाहिए। न्यूटन ने पहले त्रिपार्श्व के बगल में ठीक उसी साइज़ और उसी कोण का एक दूसरा त्रिपार्श्व उलटकर रक्खा। इन दोनों त्रिपार्श्वों में से गुजरने पर आलोक-रश्मि में न तो कोई रंग ही नज़र आया और न उससे बने बिम्ब में फैलाव हो। यह बिम्बविन्दु 'स' से हटा अवश्य था किन्तु साइज़ और स्वरंग में यह बिल्कुल वैसा ही था,
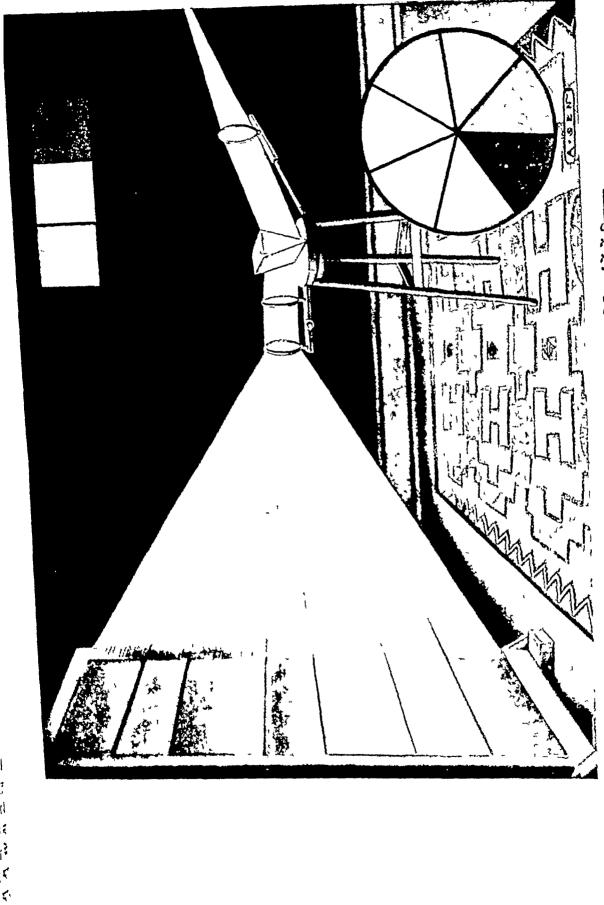
कांँच के त्रिपार्श्व द्वारा श्वेत आलोक-रश्मि का सात विभिन्न रंगों में बिखरना

जैसा बिम्ब एक भी त्रिपार्श्व के न रहने पर तख्ती के 'स' विन्दु पर बना था। अतः न्यूटन का यह ख्याल भी प्रयोग की कसौटी पर सही न उतरा।

न्यूटन ने अब तीसरा हल निकाला—उसने सोचा सम्भव है त्रिपार्श्व में से गुजरने पर आलोक-रश्मियों में वक्रता आ गई हो। भिन्न-भिन्न वक्रता के साथ ये तख्ती को छूती हैं, इस कारण उनके बिम्ब में फैलाव आ गया है। न्यूटन ने तख्ती को भिन्न भिन्न दूरी पर रखकर सतरगी बिम्ब की लम्बाई नापी तो देखा कि दूरी के अनुपात में ही सतरगी बिम्ब की लम्बाई भी घटती-बढती है। इसके अर्थ हुए कि आवर्त्तित रश्मियाँ अब भी सीधी रेखाओं का मार्ग अनुसरण कर रही हैं—इनमें किसी क़िस्म की वक्रता का समावेश लेशमात्र भी नहीं हो पाया है। न्यूटन का यह हल भी सही न साबित हो सका।

अन्त में न्यूटन ने त्रिपार्श्व द्वारा प्राप्त हुए सतरगी बिम्ब के प्रत्येक रंग की आलोक-रश्मि की परीक्षा करने की सोची। तख्ती में पहले उसने एक पतला सूराख़ उस स्थान पर बनाया जहाँ लाल रग का बिम्ब बन रहा था—इस सूराख़ के रास्ते लाल रंग की आलोक-रश्मि तख्ती की दूसरी ओर निकली। इसे न्यूटन ने एक दूसरे त्रिपार्श्व में से होकर गुजरने दिया, उसने देखा कि लाल रश्मि उस त्रिपार्श्व के पेंदे की ओर मुड़ गई। सावधानी के साथ न्यूटन ने लाल रश्मि की विचलन की मात्रा नाप ली। तदुपरान्त एक-एक करके न्यूटन ने सातो रग की रश्मियों के साथ यही प्रयोग दुहराया। हर बार त्रिपार्श्व के उसी विन्दु पर रश्मि आपतित कराई जाती, तथा आपतन कोण भी वही रक्खा जाता, ताकि विचलन की मात्रा की तुलना ठीक रूप से की जा सके। इस प्रयोग के अंत में यह निष्कर्ष निकला कि लाल रंग से पीले हरे रंग, और फिर ज्यों-ज्यों हम कासनी रग की ओर बढते हैं त्यों-त्यों इनका विचलन बढता जाता है।

अब न्यूटन को अपने इस विचित्र प्रयोग का रहस्य समझ में आया। उसने स्पष्ट देखा कि श्वेत आलोक वास्तव में भिन्न रंग की आलोक-रश्मियों के संयोग से बना है। त्रिपार्श्व में से गुज़रने पर भिन्न-भिन्न रंग की रश्मियों में विचलन भी भिन्न मात्रा में होता है, फलस्वरूप ये विभिन्न रंग की रश्मियाँ भिन्न भिन्न मार्गों का अनुसरण करती हैं—इस क्रिया में इनका विश्लेषण हो जाता है। आवर्त्तित रश्मि इसी कारण सतरगी रूप धारण करती है, तथा फैल भी जाती है।

प्रथम त्रिपार्श्व द्वारा आवर्त्तित होने के उपरान्त सात रगों में विभाजित हो जाने पर ये रश्मियाँ जब द्वितीय त्रिपार्श्व में से गुजरती हैं, तो द्वितीय त्रिपार्श्व का शीर्ष उलटा होने के कारण इन रश्मियों में पहले की विपरीत दिशा में विचलन होता है। चूँकि द्वितीय त्रिपार्श्व का कोण प्रथम त्रिपार्श्व के कोण के बराबर ही है, इस कारण द्वितीय त्रिपार्श्व द्वारा उत्पन्न हुआ विचलन प्रथम त्रिपार्श्व के विचलन के बराबर ही होता है। अत सातो रग की रश्मियाँ पुनः एक ही मार्ग पर आ जाती हैं—पुन इनका सयोग होने पर हमें श्वेत आलोक की रश्मि मिल जाती है।

सात रंगों के संयोजन से श्वेत आलोक
फिरकी की सतह कई पट्टियों में बँटी हुई है। ये पट्टियाँ इन्द्रधनुष के रंग में रँगी गयी है। तेज़ी से नाचती हुई फिरकी सफ़ेद दीखती है।

इस सिलसिले में हम एक मनोरंजक प्रयोग कर सकते हैं। १२ इंच व्यास के नाप का एक वृत्ताकार दफ़्ती का टुकडा लीजिये केन्द्र से परिधि की ओर रेखाएँ खींचकर वृत्त को २८ बराबर भागों में बाँट दीजिए। अब प्रत्येक खाने को क्रम से लाल, नारंगी, पीला, हरा, आसमानी, नीले और कासनी रग में रँगिये। इस प्रकार वृत्त पर सतरगी के चार सेट क्रम से दीखेंगे। इस दफ़्ती को तेज़ी के साथ केन्द्रस्थित कीली के चारों ओर घुमाइए जिस प्रकार कुम्हार का चाक घूमता है, ठीक उसी प्रकार। दफ़्ती का वृत्ताकार टुकडा भूरा सफेद दीखेगा। दृष्टिस्थिरता के कारण ही सतरगी दफ़्ती हमें सफेद दिखलाई पड़ती है। हमारे दृष्टिपटल पर बाह्य वस्तुओं का बिम्ब $\frac{1}{10}$ सेकण्ड तक स्थिर रहता है। बिजली चमकती है तो उसकी चमक हमारी आँखों में कुछ देर तक बनी रहती है। जिस समय दफ़्ती तेज़ी के साथ घूमती है, लाल रंग का बिम्ब हमारी आँखों के दृष्टिपटल से मिटने नहीं पाता,

कि पीला भाग सामने आ जाता है, फिर हरा। इस प्रकार .१ सेकण्ड के अन्दर सातों रंग के बिम्ब हमारे दृष्टिपटल पर बन जाते हैं, और उनका संयोग होने पर हमें भूरे सफेद रंग का भान होता है। एकदम निर्मल श्वेत रंग इस प्रयोग में हमें कभी नहीं दिखलाई दे सकता, इसके दो कारण हैं। एक यह कि दफ्ती पर पुते हुए रंग शुद्ध नहीं हैं, दूसरा यह कि वृत्त के भिन्न भिन्न भागों से प्रकाश का एक अंश ही हमारी आँखों में पहुँचता है, जबकि निर्मल श्वेत धरातल के प्रत्येक भाग से आलोक की पूर्ण मात्रा हमारी आँखों में पहुँचती है।

इन प्रयोगों ने रंग सम्बन्धी अनेक समस्याओं को भी सुलझाया। हम देख चुके हैं कि अपारदर्शी वस्तुओं में रंग का भान उनके धरातल द्वारा परावर्तित रश्मियों द्वारा होता है। अब पारदर्शी वस्तुओं की भी व्याख्या की गई। पारदर्शी वस्तुओं को उनके अन्दर से गुजरनेवाली आलोक-रश्मियों की सहायता से हम देख पाते हैं। अतः रंगयुक्त पारदर्शी वस्तुएँ श्वेत रश्मियों में से केवल एक विशेष रंग की रश्मि को अपने में से गुजरने देती हैं, शेष को वे अपने अन्दर जज्ब कर लेती हैं। उनके अन्दर से गुजरकर जो रश्मि हमारी आँखों में पहुँचती है, वैसा ही रंग उस वस्तु में हमें मौजूद दीखता है। न्यूटन के प्रयोग में प्राप्त हुए सतरंगी पट्टी को यदि हम गहरे लाल रंग के शीशे में से देखें, तो सतरंगी पट्टी के अन्य भाग हमें न दीखेंगे—केवल लाल रंगवाला हिस्सा हमें दिखाई देगा। क्योंकि लाल के अतिरिक्त शेष कोई भी रंग इस लाल शीशे को पार नहीं कर सकता।

अपारदर्शी वस्तुओं का रंग बहुत कुछ उन पर पड़ने वाले प्रकाश पर निर्भर करता है। श्वेत वर्ण की वस्तु श्वेत आलोक में (दिन के प्रकाश में) सफेद दीखेगी। लाल रोशनी में लाल दीखेगी, हरी में हरे रंग की और कासनी रंग के प्रकाश में कासनी रंग की। क्योंकि सफेद वस्तु हर रंग की आलोक-रश्मि को समान रूप से परावर्तित कर देती है।

सफेद काग़ज़ पर काली स्याही से मानव आकृति का एक ख़ाका बनाइए। अब लाल रोशनाई से इस व्यक्ति की भौंहें तथा दाढ़ी बना लीजिए। अँधेरे कमरे में रक्त वर्ण के आलोक से देखने पर ऐसा जान पड़ेगा कि लाल रंग की पृष्ठभूमि पर काले रंग की मानव-आकृति बनी हुई है। इस बार दाढ़ी और भौंहों का पता न होगा, क्योंकि काग़ज़ तथा दाढ़ी और भौंहों दोनों से परावर्तित होने-वाली रश्मियों का रंग समान रूप से लाल है। रक्त वर्ण के आलोक के स्थान पर श्वेत वर्ण का आलोक इस चित्र पर डालिये—सफेद पृष्ठभूमि पर आकृति का ख़ाका काला दीखेगा तथा दाढ़ी और भौंहें लाल रंग की। यह दिल-चस्प प्रयोग हमें बतलाता है कि रात के कृत्रिम प्रकाश में विभिन्न रंगों का सही मिलान करना सम्भव नहीं है। सूर्य के आलोक की अपेक्षा दूकान की रात की रोशनी में लालिमा यदि अधिक हुई तो सफेद कपड़े की मिलान हम धोके में आकर हलके गुलाबी रंग के कपड़े के साथ कर जायँगे।

वायु रंगहीन पदार्थ है, फिर भी आकाश नील वर्ण दिखलाई पड़ता है। वायुमण्डल में ऊँचे बहुत दूर तक धूल और पानी के नन्हें-नन्हें कण लाखों करोड़ों की संख्या में मौजूद हैं। ये कण सूर्य रश्मियों में से नीले रंग की रश्मियों को लाल रंग की अपेक्षा अधिक परावर्तित करते हैं। फलस्वरूप परावर्तित प्रकाश में आसमान हमें नीला दिखलाई पड़ता है। किन्तु सूर्यास्त या सूर्योदय के समय सूर्य-रश्मियों को वायुस्तरों की एक मोटी तह को पार करना होता है। इस क्रिया में सूर्य के श्वेत आलोक का बहुत कुछ नीला अंश इधर-उधर परावर्तित हो जाता है अतः हमारी आँखों तक पहुँचने वाले आलोक में रक्त वर्ण का ही बाहुल्य होता है। इसी कारण सूर्योदय और सूर्यास्त पर क्षितिज रक्त वर्ण दीखता है। ऊर्ध्वाकाश के अभियानकारियों का कहना है कि चौदह पन्द्रह मील की ऊँचाई पर आकाश में दिन की दुपहरी के समय भी चारों ओर घना अँधेरा छाया रहता है। नील वर्ण का आकाश वहाँ कहीं भी नहीं दिखलाई पड़ता। इसका कारण यह है कि वहाँ आकाश इतना निर्मल है कि वायुमण्डल में धूलि या जल के एक भी कण मुश्किल से पाये जाते हैं जो नीले प्रकाश को परावर्तित कर सकें।

प्रातः में यदि सूर्य की ओर पीठ करके आप धुएँ को देखें, तो धुआँ आपको नीले वर्ण का दीखेगा। अब आगे बढ़कर सूर्य की ओर अपना मुँह कर लीजिए, इस प्रकार कि धुआँ आपके और सूर्य के बीच में हो। धुआँ अब रक्त वर्ण का दीखेगा, क्योंकि उसमें से छनकर जो सूर्य रश्मियाँ आपकी आँखों तक पहुँच रही हैं उनमें से नीला प्रकाश बहुत कुछ अंशों में इधर-उधर परावर्तित हो चुका है।

कुहरे में मोटर ड्राइवर बावजूद तेज़ हेड लाइट के भी सामने देख नहीं सकता। नीले रंग का बादल सामने

नज़र आता है, क्योंकि कुहरे के अन्दर के धूलि और पानी के कण नीले रंग की रश्मियों का परावर्त्तन प्रचुरता से करते हैं। इस परेशानी से बचने के लिए ड्राइवर अपनी हेडलाइट के सामने पीले रंग का काँच लगा देता है। हेडलाइट के प्रकाश में अब नीला रंग है ही नहीं जो कुहरे से परावर्त्तित हो। अत कुहरा नीले रंग के बादल के रूप में अब नहीं दीखता। यह अब पारदर्शी हो जाता है—ड्राइवर कुछ दूर तक सामने की चीज़ें देख सकता है क्योंकि पीली और लाल किरणें कुहरे को आसानी के साथ भेद सकती हैं।

रंग-भेद पहचानने के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं किन्तु यंग-हेल्महोल्ट्ज़ की थ्योरी ही विज्ञान-जगत् में मान्य समझी जाती है। इस थ्योरी के अनुसार हमारा दृष्टिपटल तीन मुख्य रंगों का अनुभव कर सकता है, नीला हरा और लाल। अन्य रंगों की अनुभूति इन्हीं मुख्य रंगों के आपस में विभिन्न अनुपात में संयोग करने से प्राप्त होती है। शरीर विज्ञान के विशेषज्ञों के अनुसार हमारे दृष्टिपटल का सम्बन्ध तीन मुख्य स्नायुओं से है—इनमें से एक केवल लाल रंग की अनुभूति कर सकता है, दूसरा हरे रंग की और तीसरा नीले रंग की। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिनमें ये तीनों स्नायुएँ भली भाँति काम नहीं करतीं। यदि लाल रंग महसूस करनेवाली स्नायु काम नहीं करती है, तो ऐसे व्यक्ति को रंग-ज्ञान केवल हरे और नीले रंगों के बल पर होगा। दृष्टि की इस ख़राबी "रंग के अन्धेपन" पर हिन्दी विश्व-भारती के पिछले अंकों में पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला गया है।

लेन्स के रंग-दोष को दूर करना

कासनी रश्मि में लाल की अपेक्षा विचलन अधिक होने के कारण उन्नतोदर लेन्स से गुज़रने पर श्वेत रश्मि का कासनी रंग 'क' पर और लाल रंग 'ला' पर केन्द्रित हो जाता है। नतोदर में ठीक इसका उलटा होता है। अतः दोनों को मिलाने पर ऐसा प्रबन्ध हो सकता है कि श्वेत किरणों की कासनी और लाल रंगों का विचलन समान हो—ऐसी दशा में लेन्स से गुज़रने पर किरणों में रंग-दोष न आयगा।

लेन्सयुक्त यंत्रों के रंग-दोष को दूर करने के लिए भी समुचित उपाय अब मालूम हो गये हैं। हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि उन्नतोदर लेन्स कई त्रिपार्श्वों से बना हुआ माना जा सकता है। श्वेत किरणें जब लेन्स द्वारा आवर्त्तित होती हैं तो श्वेत आलोक के सातों रंग की रश्मियाँ इस क्रिया में बिखर पड़ती हैं, क्योंकि इनमें से प्रत्येक के विचलन की मात्रा भिन्न होती है। इसी कारण लेन्स द्वारा बने हुए बिम्ब के किनारे रंगीन होते हैं। न्यूटन के प्रयोग में पहले त्रिपार्श्व के बाद ही दूसरा त्रिपार्श्व उलटी तरह लगाने से बिखरी हुई रश्मियाँ पुन. एकत्रित होकर श्वेत रश्मि में परिणत हो गई थीं। लेन्सयुक्त यंत्रों में रंग दोष दूर करने के लिए इसी तरकीब को काम में लाते हैं—उन्नतोदर लेन्स से सटाकर नतोदर लेन्स रख देते हैं। इस नतोदर लेन्स का काँच तथा इसके धरातल की वक्रता ऐसी चुनते हैं कि आवर्त्तित रश्मि का रंग-दोष तो दूर हो जाय, किन्तु पूर्व मार्ग से वे विचलित अवश्य रहें। महँगे दाम के कैमरे और दूरबीन तथा अणुवीक्षण यंत्रों के उपदृश्य और उपनेत्र लेन्सों में

चार-चार पाँच-पाँच लेन्सों को एक दूसरे से सटाकर तैयार किये जाते हैं ताकि उनका रंग-दोष पूर्णतया दूर हो जाय।

आलोक-रश्मियों के बारे में हमने इतनी पर्याप्त जानकारी हासिल कर ली है, कि अब इन्द्रधनुष की भी हम भली भाँति व्याख्या कर सकते हैं। पानी की बूँदें जब आसमान से गिरती होती हैं, और सूर्य जब हमारी पीठ की ओर होता है, तभी हम इन्द्रधनुष देख पाते हैं। ऊँचे-ऊँचे झरनों से गिरते हुए पानी की फुहारों में भी इन्द्रधनुष के सातो रंग कभी-कभी दिखलाई पड़ते हैं। इलाहाबाद के विद्युत् पावर-हाउस में पानी को ठण्डा करने के लिये कई एक फौवारे बने हुए हैं। इन फौवारों में प्रायः इन्द्रधनुष के सातो रंग दिखलाई देते हैं।

आकाश में दिखलाई देनेवाले इन्द्रधनुष की स्थिति तथा उसका फैलाव दर्शक की स्थिति और सूर्य की क्षितिज में ऊँचाई पर निर्भर करती हैं। जल की बूँदों पर पड़नेवाली सभी सूर्य-रश्मियों से इन्द्रधनुष नहीं बनता। इन्द्रधनुष का निर्माण केवल उन रश्मियों द्वारा होता है जो आवर्त्तन तथा सम्पूर्ण परावर्त्तन के उपरान्त पानी की बूँदों से पुन वापस लौटकर दर्शक की आँखों मे प्रवेश करती हैं। १६७५ ई० में सर्वप्रथम न्यूटन ने इन्द्रधनुष की सही व्याख्या की थी।

चित्र मे पानी की बूँद परिवर्द्धित रूप से दिखलाई गई है। श्वेत आलोक रश्मि बूँद के भीतर प्रवेश करने पर आवर्त्तित होती है—चूँकि सातों रग का आवर्त्तन समान
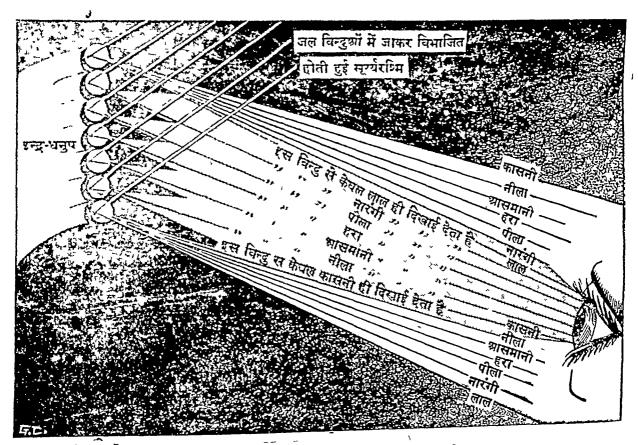
जलबिन्दुओं की अवली से इन्द्रधनुष का निर्माण

प्रत्येक बिन्दु से आवर्त्तन तथा पूर्ण परावर्त्तन के उपरान्त जब आलोक की श्वेतरश्मि बाहर निकलती है, तो वह सात रंगों में विभाजित हो जाती है—सबसे ऊपर कासनी, फिर नीला, आसमानी आदि और सबसे नीचे लाल। दर्शक की आँखों मे एक ही बूँद से बिखरी हुई सातो रंग की रश्मियाँ प्रवेश नहीं कर पातीं। सबसे ऊपरवाली बूँद से लाल रग, उससे नीचेवाली बूँद से नारंगी, उससे नीचेवाली से पीला, फिर हरा और सबसे नीचेवाली बूँद से कासनी रंग की किरणें दर्शक की आँखों में पहुँचती हैं। इस चित्र से हम बखूबी समझ सकते हैं कि प्रत्येक दर्शक अपना निज का ही इन्द्रधनुष देखता है। दो व्यक्ति एक ही समय एक ही इन्द्रधनुष को नहीं देख सकते—दोनों भिन्न-भिन्न इन्द्रधनुष देखते हैं।
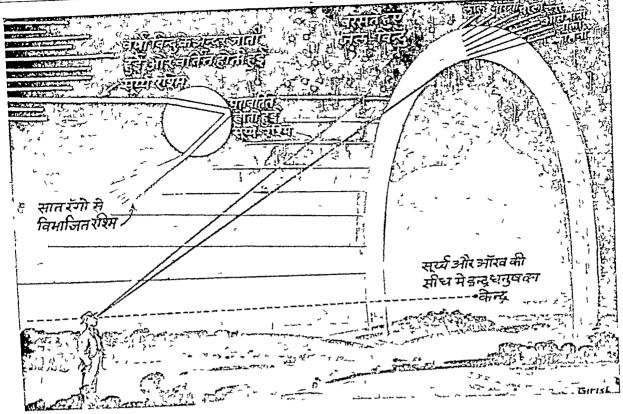
इन्द्रधनुष का निर्माण

चित्र में ऊपर बाईं ओर बड़े आकार में दिखलाया गया है, किस प्रकार श्वेतरश्मि बूँद के अन्दर प्रवेश करने पर पूर्ण परावर्त्तन करती है। पहले आवर्त्तन, फिर पूर्ण परावर्त्तन और अन्त में आवर्त्तन—इन्हीं के फलस्वरूप श्वेतरश्मि सात रंगों में बिखर पड़ती है।

माना में नहीं होता, अतएव बूँद के भीतर प्रवेश करते ही श्वेत आलोक रश्मि के सातों रंग बिखर पड़ते हैं। ये रंग की किरणें बूँद के भीतरी नतोदर धरातल पर इस प्रकार आपतित होती हैं कि इनका पूर्ण परिवर्त्तन हो जाता है—वापस लौटते समय जब ये बूँद से बाहर निकलती हैं, तो एक बार फिर इनका आवर्त्तन होता है। एक के नीचे दूसरी बूँदों से निकली हुई रंग की किरणें दर्शक की आँखों में प्रवेश करने पर उसे इन्द्रधनुष का बोध कराती हैं। चित्र से प्रकट है कि दो दर्शक एक ही इन्द्रधनुष कभी भी देख नहीं पाते। प्रत्येक दर्शक अपना निज का इन्द्रधनुष देखता है।

आकाश में दिखलाई देनेवाले इन्द्रधनुष के वृत्त का केन्द्र उस रेखा पर पड़ता है जो सूर्य और दर्शक की आँख को मिलाती है। वे तमाम बूँदें जो इस रेखा के संग ४० अंश का कोण बनाती हैं, दर्शक की आँखों में कासनी रंग की रश्मियाँ भेजती हैं, तथा वे बूँदें जो उक्त रेखा के संग ४२ अंश का कोण बनाती हैं, दर्शक की आँखों में रक्तवर्ण की रश्मियाँ पहुँचाती हैं। इन दोनों के दर्मियान की बूँदों से अन्य रंग की रश्मियाँ दर्शक की आँखों में पहुँचती हैं। इस प्रकार इन्द्रधनुष के सातों रंग दर्शक को दीख जाते हैं—सबसे ऊपर लाल रंग, फिर नारंगी, पीला, हरा, आसमानी, नीला और सबसे नीचे कासनी रंग।

स्पष्ट है कि सूर्य क्षितिज के जितना निकट होगा, इन्द्रधनुष उतना ही बड़ा दीखेगा, और आकाश में सूर्य जितना ऊपर उठेगा, उतना ही क्षितिज से नीचे इन्द्रधनुष का केन्द्र भी गिरेगा, अतएव दर्शनीय इन्द्रधनुष का साइज भी छोटा होता जायगा। यहाँ तक कि सूर्य की क्षितिज के ऊपर कोणीय ऊँचाई जब ४१ अंश पहुँच जाती है तब इन्द्रधनुष बिलकुल अदृश्य हो जाता है। सन्ध्याकाल में जब सूर्य ढलते-ढलते क्षितिज के करीब पहुँचता है, तब पूर्व दिशा में फिर इन्द्रधनुष दिखलाई दे

पड़ता है। इस समय सूर्य की ऊँचाई क्षितिज से ४१ अंश से कम होती है। यही कारण है कि इन्द्रधनुष प्रात और सन्ध्या को ही दिखलाई देते हैं। दोपहर को इन्द्रधनुष पृथ्वी पर से कभी नहीं दिखलाई देते।

कभी कभी मुख्य धनुष के ऊपर उसी के समानान्तर एक दूसरा इन्द्रधनुष भी दिखलाई पड़ता है। इस गौण इन्द्रधनुष के रंग उतने चटकीले नहीं होते, जितने मुख्य धनुष के। साथ ही इस धनुष में रंगों का क्रम भी उलटा होता है। गौण धनुष में सबसे बाहर कासनी फिर नीला आसमानी और सबसे भीतर लाल रंग होता है। यह धनुष उन रश्मियों द्वारा बनता है, जो पानी की बूँद में दो बार पूर्ण परावर्त्तन प्राप्त करके बाहर निकलते हैं। बूँद की भीतरी सतह से दो परावर्त्तन होने के कारण ही रंगों का क्रम उलट जाता है, अतः लाल किरणें उन बूँदों से हमारी आँखों में पहुँचती हैं, जो सूर्य और हमारी आँख को मिलाने वाली रेखा के साथ ५१ अंश का कोण बनाती हैं, और कासनी रंग की रश्मियाँ ५३ अंश के कोण पर स्थित बूँदों से आती हैं। कभी-कभी पृथ्वी पर से एक तीसरा धनुष भी इन दोनों के ऊपर दीख जाता है, किन्तु उसमें चटकीलापन बहुत ही कम होता है।

प्रायः वायुयान-संचालक दिन में ऊँचे आकाश में जब उड़ते होते हैं तो उन्हें पूर्ण इन्द्रधनुष दीख जाता है, क्योंकि अब इस दशा में क्षितिज धनुष को भंग नहीं कर पाता। मुख्य इन्द्रधनुष जो इस दशा में पूर्ण वृत्त दीखता है, कभी-कभी गौण वृत्त द्वारा परिवेष्टित भी रहता है।

स्वयं कमरे के अन्दर आप इन्द्रधनुष के पूर्ण वृत्त का निर्माण कर सकते हैं। कमरे को एकदम अँधेरा कर दीजिए। अब खिड़की को खोलकर उसमें एक मोटी दफ़्ती का टुकड़ा फ़िट कर दीजिए कि भीतर आलोक-रश्मियों के आ सकने के लिए सॉस न रहे। दफ़्ती के बीच मे एक नन्हा-सा सूराख़ कर लीजिए और सूर्य की रश्मियों को दर्पण द्वारा कमरे के अन्दर इसी सूराख़ के रास्ते फेंकिये। इस प्रयोग के लिए गोल पेंदेवाली बोतल के अन्दर भरा हुआ पानी एक बड़ी बूँद-जैसा काम करेगा। आवर्त्तन और पूर्ण परावर्त्तन के उपरान्त वह आलोक रश्मि विभिन्न रंगों में विभाजित हो जाती है, और दफ़्ती पर इन्द्रधनुष का पूर्ण वृत्त हमें दिखलाई देता है। वृत्त के बाहरी हाशिये का रंग लाल रहता है।

प्रयोगशाला में इन्द्रधनुष का निर्माण

दफ़्ती के पीछे से आनेवाली सूर्य-रश्मि पानी और फ्लास्क के अन्दर से दो आवर्त्तन तथा एक पूर्ण परावर्त्तन के उपरान्त पीछे जब लौटती है, तो वह इन्द्रधनुष के सात रंगों में विभाजित हो चुकी होती है।

चन्द्रमा की किरणें भी वास्तव में सूर्य्य की ही रश्मियाँ हैं, जो चन्द्रमा के धरातल से परावर्त्तित होकर हम तक पहुँचती हैं। अतः सूर्य्य-रश्मियों के सभी नियम चन्द्र-किरणों पर भी लागू होंगे। अनुकूल परिस्थितियों में पूर्णिमा की रात को आकाश में कभी-कभी इन्द्रधनुष दिखलाई दे जाते हैं। अवश्य चन्द्रकिरणों द्वारा निर्मित इन्द्रधनुष में चटकीलापन कम होता है, क्योंकि इन किरणों में सूर्य्य-रश्मियों के मुक़ाबले में आलोक की मात्रा कम होती है।

कभी-कभी सूर्य्य या चन्द्रमा को परिवेष्ठित करता हुआ सतरंगी हैलो (Halo) भी आसमान में दिखलाई पड़ता है। ऊँचे आकाश में ओले के नन्हें-नन्हें कणों से गुज़रने पर श्वेतरश्मि के रंगों का विस्तरण हो जाता है और पृथ्वी पर से हमें सूर्य्य या चन्द्रमा के चारों ओर इन्द्रधनुष के रंग का वृत्त दिखाई पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्वेत आलोक अनेक रंगीन रश्मियों के संयोग से बना है।

मूल तत्त्वों में सामाजिक व्यवस्था

विभिन्न परमाणुओं की संयोजन-शक्ति की कथा

मानवसमाज में विवाह तथा सहवास सबधी अनेक प्रथाएँ प्रचलित हैं। अधिकाश एक पुरुष और एक स्त्री ही विवाह द्वारा संयुक्त होते हैं, प्राय एक पुरुष एक साथ एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करता है, और कभी कभी एक स्त्री भी कई पतियों से एक साथ विवाह करती है। इसके अतिरिक्त स्त्री-स्त्री और पुरुष-पुरुष का प्रेम-सहवास भी मनुष्य-समाज में प्रचलित है। परमाणुओं के संसार की विवाह और सहवास-प्रथाएँ भी मानव-प्रथाओं से कुछ कम रोचक नहीं है। अतर केवल यही होता है कि परमाणु निर्जीव होते हैं, अत उनका पारस्परिक संयोग प्रकृति के अटूट नियमों के अनुसार ही संभव होता है। उदाहरणार्थ, एक ही राजा की सैकड़ों पटरानियों का दृष्टांत तत्त्वों के जगत् में न मिल सकेगा। उसमें तो परमाणुओं का संयोग सरल सख्याओं में ही होता है, जो आठ से अधिक कभी नहीं बढ़ती। डाल्टन ने अपने परमाणुवाद में यही तो कहा है (दे० पृष्ठ १५३४ नियम न० ६)।

मूलतत्त्वों के विभिन्न परमाणुओं की संयोजन-शक्ति निश्चित रहती है। इसी संयोग-शक्ति के अनुसार वे परस्पर अपना सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इस शक्ति की माप का उपाय वैज्ञानिकों ने इस प्रकार निकाला है—हाइड्रोजन सबसे हलका तत्त्व है, इसके अतिरिक्त वह उन तत्त्वों में है जिनकी सयोजन-शक्ति सबसे कम होती है। अतएव वैज्ञानिकों ने हाइड्रोजन की सयोजन-शक्ति को १ माना है और इसी इकाई के आधार पर अन्य मूल-तत्त्वों की सयोजन-शक्तियों को निर्धारित कर दिया है। उदाहरणार्थं हाइड्रोजन का एक परमाणु क्लोरीन के एक परमाणु से संयुक्त होकर नमक का अम्ल बनाता है, अतएव क्लोरीन की भी सयोजन-शक्ति १ हुई; हाइड्रोजन के दो परमाणुओं और ऑक्सिजन के एक परमाणु के संयोग से पानी बनता है, अतएव ऑक्सीजन की संयोजन-शक्ति २ हुई, आदि। यही नहीं, अब क्लोरीन और ऑक्सीजन के आधार पर इनसे संयुक्त होनेवाले अन्य तत्त्वों की शक्तियाँ भी निश्चित हो सकती हैं, यथा क्लोरीन के एक परमाणु और सोडियम के एक परमाणु के संयोग से नमक का उत्पादन होता है, अत सोडियम की संयोजन-शक्ति १ हुई, क्लोरीन के दो परमाणु कैल्शियम के १ परमाणु से सयुक्त होकर कैल्शियम क्लोराइड उत्पन्न करते हैं, अतएव कैल्शियम

पानी का एक अणु
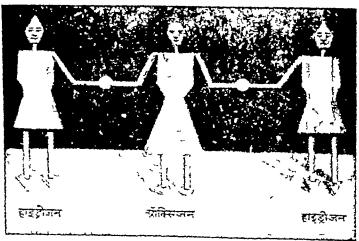
हाइड्रोजन के दो परमाणुओं और ऑक्सीजन के एक परमाणु के संयोग से पानी का एक अणु बनता है। अत ऑक्सीजन की संयोजन-शक्ति दो हुई। इनकी एक-एक बाहु एक-एक संयोजन-शक्ति की द्योतक है।

की शक्ति २ हुई; ऑक्सिजन के एक परमाणु और मैग्नेशियम के एक परमाणु के संयोग से मैग्नेशियम ऑक्साइड बनता है, अत मैग्नेशियम की संयोजन-शक्ति २ हुई। मूलतत्त्वों के समाज में भी संयोग और सहवास के साथ-ही-साथ वियोग, विच्छेद, अपहरण आदि की भी उतनी ही बाहुल्यता है; अतएव केवल संयोग से ही नहीं वरन् इस बात से भी किसी तत्त्व की संयोजन-शक्ति निश्चित की जाती है कि अपहरण के पश्चात् उसका एक परमाणु किस संयोजन-शक्ति के कितने परमाणुओं को स्थानांतरित कर देता है। जैसे, जस्ते का एक परमाणु हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड से क्लोरिन का अपहरण करके हाइड्रोजन के दो परमाणुओं को निकाल बाहर कर देता है; अतः जस्ते की संयोजन-शक्ति दो हुई। इसी प्रकार नाना विधियों से समस्त मूल तत्त्वों की संयोजन-शक्ति निश्चित की जा चुकी है। इसी संयोजन-शक्ति को अंग्रेजी में वेलेन्सी (valency) कहते हैं। संक्षेप में किसी तत्त्व की संयोजन-शक्ति उस संख्या को कहते हैं जिससे यह प्रकट होता है कि उस तत्त्व का एक परमाणु हाइड्रोजन के कितने परमाणुओं से संयुक्त होता अथवा उसके कितने परमाणुओं को स्थानांतरित करता है।

हाइड्रोजन

नाइट्रोजन

हाइड्रोजन

हाइड्रोजन

त्रिभुजी नाइट्रोजन

नाइट्रोजन का एक परमाणु हाइड्रोजन के तीन परमाणुओं से संयुक्त होकर अमोनिया बनाता है। अतएव नाइट्रोजन की संयोजन-शक्ति ३ हुई।

संयोजन-शक्ति और सहजीवन

ऑक्सीजन की संयोजन-शक्ति २, नाइट्रोजन की ३, और कार्बन की ४ होती है। इस चित्र-सूत्रों में इन संयोजक-शक्तियों को इस प्रकार प्रदर्शित करते हैं—

–O–

–N– –C–

संकेतों से लगी हुई रेखाएँ परमाणु की संयोजन-शक्ति

कुछ तत्त्वों के परमाणु

हाइड्रोजन एकशक्तिक, ऑक्सिजन द्विशक्तिक, नाइट्रोजन त्रिशक्तिक और कार्बन चतुर्शक्तिक है। ऊपर की पुतलियाँ मानों इन्हीं तत्त्वों के परमाणु हैं। जब तक इनकी संयोजन-शक्ति पूर्ण रूप से परितृप्त नहीं हो जाती, इन्हें एकाकी रखना कठिन होता है।

को प्रदर्शित करती हैं। यहाँ पर दिए हुए चित्र में परमाणुओं को पुतलीरूप और उनकी संयोजक-शक्ति को बाहुरूप देकर तथ्यों की मनोरंजकता को और भी बढ़ा दिया गया है। आप घबड़ाइए न, मूलतत्त्वों में सहस्त्रबाहु कोई नहीं होते। अधिक-से-अधिक आपको अष्टभुजी मूर्त्ति तक का परिचय हो सकता है, वह भी शायद ही कभी। प्रकृति में इन परमाणुओं का अस्तित्व एकाकी रूप में नहीं रहता, कारण अकेले में उनकी संयोजन-शक्ति परितृप्त नहीं रहती। हाँ, रासायनिक क्रिया मे वे अवश्य भाग लेते हैं, परन्तु उसके पश्चात् ही संयोग द्वारा वे अपनी संयोजन-शक्ति को संतृप्त करके स्थिर रूप में आ जाते हैं। किसी मूलतत्त्व के परमाणुओं को जब तक किसी अधिक आकर्षक तत्त्व के परमाणुओं के साथ अनुकूल दशाओं में मिलने का अवसर नहीं दिया जाता, तब तक वे आपस में ही अनेक प्रकारों से सहजीवन व्यतीत करते हैं। जिन समूहों में किसी तत्त्व के परमाणु इस प्रकार साथ-साथ रहते हैं, उन्हीं को उस तत्त्व के अणु कहते हैं। यह समसंयोग भी संयोजन-शक्ति के अनुसार ही होता है। अधिकतर गैसों के अणुओं में दो-दो परमाणु रहते हैं। यहाँ पर दिए हुए हाइड्रोजन, ऑक्सिजन तथा नाइट्रोजन के अणुओं के पुतलीरूप चित्र बड़े ही सार्थक हैं। इनसे स्पष्टतः प्रदर्शित हो जाता है कि संयोजक-भुजाओं द्वारा दो-दो परमाणु किस प्रकार परस्पर संबद्ध रहते हैं। वैज्ञानिक लोग संकेतों और संयोजन-बंधनों द्वारा इन्हीं अणुओं के चित्र-सूत्र इस प्रकार अंकित करते हैं—

$$H-H \qquad O=O \qquad N\equiv N$$
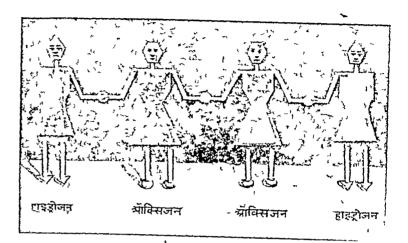
हाइड्रोजन परॉक्साइड में हाइड्रोजन और ऑक्सिजन

ऑक्सिजन के स्त्री-परमाणुओं की परस्पर मित्रता द्वारा संयुक्त होने के कारण दो दम्पतियों का सम्मिलित जीवन हाइड्रोजन परॉक्साइड में चलता है। किन्तु यह सम्मिलित जीवन अधिक स्थायी नहीं होता। छोटे-छोटे विघ्नों (जिनका उल्लेख हाइड्रोजन परॉक्साइड के अध्याय में आ चुका है) के पड़ने पर भी इनमें से ऑक्सिजन का एक परमाणु इस सम्मिलित जीवन को त्यागकर बाहर चला जाता है, और तुरन्त ही ऑक्सिजन का बचा हुआ परमाणु हाइड्रोजन के दोनों परमाणुओं के साथ स्थायी सम्बन्ध स्थापित करके पानी का एक अणु बना लेता है।

पुतलीरूप में हाइड्रोजन, ऑक्सिजन और नाइट्रोजन के अणुओं की कल्पना

इन अणुओं में परमाणुओं की संयोजन-शक्ति परितृप्त है। अतएव प्रकृति में इन तत्त्वों का स्थायी अस्तित्व इन्हीं अणुओं के रूप में पाया जाता है।

ओज़ोन गैस के एक अणु में ऑक्सिजन के तीन परमाणु परस्पर संबद्ध रहते हैं। ओज़ोन का चित्र-सूत्र इसीलिए इस प्रकार लिखा जाता है—

द्रव तथा ठोस तत्त्वों के एक-एक अणु में अनेकानेक परमाणु संयोजन शक्ति द्वारा परस्पर संबद्ध रहते हैं। इनकी संख्या इतनी अधिक रहती है कि अनेक तत्त्वों के विषय में अभी तक वह निश्चित नहीं की जा सकी है। कार्वन और पारद के अणु इसी श्रेणी में आते हैं।

डाइऑक्साइड (O = C = O) न बनकर कार्वन-मोनॉक्साइड (C = O) गैस ही उत्पन्न होती है। अतएव कार्वन-मोनॉक्साइड के अणु में कार्वन की केवल दो संयोजन-शक्तियों का ही उपयोग होता है। वास्तव में उसकी दो शेष शक्तियाँ अतृप्त रहती हैं। इसीलिए कार्वन-मोनॉक्साइड ऑक्सिजन में तत्परतापूर्वक जलकर कार्वन-डाइऑक्साइड में परिवर्त्तित हो जाती है। इसी प्रकार अनेक अन्य तत्त्व भी एक से अधिक संयोजन-शक्तियों को प्रदर्शित करते हैं। उदाहरणस्वरूप गंधक हाइड्रोजन सल्फाइड में २, सल्फर डाइऑक्साइड में ४, और सल्फर ट्राइऑक्साइड में ६, संयोजन-शक्तियों को प्रदर्शित करते हैं।

मूलतत्त्वों में धातुएँ पुरुषों के समान और अधातु स्त्रियों के समान होते हैं। मानव समाज में, विशेषतः जब पुरुषों और स्त्रियों का समागम स्वतंत्रतापूर्वक नहीं होता, पुरुष-पुरुष और स्त्रियाँ - स्त्रियाँ मित्रता की भावनाओं द्वारा संबद्ध रहते हैं, और यह आवश्यक नहीं कि ये पुरुष अथवा ये स्त्रियाँ एक ही कुटुंब की हों। मूलतत्त्वों के समाज में भी, विशेषतः स्त्री-तत्त्वों में, यही बात पाई जाती है। कार्वन और ऑक्सिजन दोनों अधातु तत्त्व हैं, किंतु दोनों तत्परतापूर्वक अपनी संयोजन शक्ति के बल द्वारा संबद्ध होकर एक सम्मिलित जीवन व्यतीत करते हैं। कार्वन चतुर्शक्तिक है और ऑक्सिजन द्विशक्तिक, अतएव कार्वन का एक परमाणु ऑक्सिजन के दो परमाणुओं से संयुक्त होकर कार्वन-डाइऑक्साइड का एक अणु बना देता है। कभी-कभी ऑक्सिजन के परमाणु पर्याप्त संख्या में प्राप्त न होने पर कार्वन का एक परमाणु ऑक्सिजन के एक ही परमाणु से संबद्ध हो पाता है। इस दशा में कार्वन-

कार्वन-डाइऑक्साइड
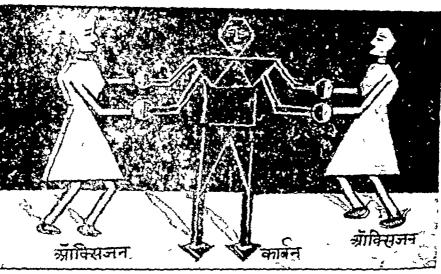
कार्वन-डाइऑक्साइड के एक अणु में कार्वन नामक एक चतुर्भुजी स्त्री ऑक्सिजन नामक दो द्विभुजी स्त्रियों से संबद्ध है।

स्त्री-तत्त्वों के ही संयोग से इस प्रकार की जो समजातीय अणुरूप टोलियाँ बनती हैं, उनमें दृढ़ता नहीं होती है। इस प्रकार के समजातीय अणुओं के पारस्परिक संयोग-शक्ति को उसे सम - संयोजन-शक्ति (Covalency) कहते हैं।

परमाणुओं में विवाह

अधातुओं और धातुओं के संयोग से लवणों का बनना मानों स्त्री और पुरुष को विवाह द्वारा दंपति के रूप में संयुक्त कर देना है। सोडियम और क्लोरीन के संयोग से नमक क्या बनता है मानों उनका विवाह हो जाता है। इस विवाह में पाणिग्रहण होते ही धातु धन-विद्युत् रूपी और अधातु ऋण-विद्युत् रूपी प्रेम से आविष्ट हो जाते हैं और इसी प्रेम द्वारा वे परस्पर आकर्षित और सन्निकट रहते हैं। इसी प्रकार के विद्युदाविष्ट परमाणुओं को आयन (Ion) कहते हैं। इसीलिए इस प्रकार विवाह करानेवाली संयोजन-शक्ति को हम विद्युत्-संयोजन-शक्ति (Electrovalency) कहते हैं। इस संयोजन-शक्ति द्वारा

संयुक्त परमाणु विद्युदाकर्षण द्वारा निकट तो रहते हैं, तथापि उनका अस्तित्व आयनों के रूप में स्वतंत्र रहता है। सम-सयोजन-शक्ति द्वारा सयुक्त परमाणुओं की भाँति वे परस्पर संबद्ध नहीं रहते। बिजली के प्रभाव से ये आयनिक अवयव विद्युत् ध्रुवों की ओर अर्थात् धन आयन ऋण-ध्रुव (negative pole) की ओर और ऋण आयन धन-ध्रुव (positive pole) की ओर खिंच जाते हैं, अतएव विद्युत् सयोजन-शक्ति द्वारा बने हुए यौगिकों को ध्रुवीय यौगिक (polar compounds) कहते हैं। नमक ध्रुवीय यौगिक है, किंतु कार्बन डाइऑक्साइड अध्रुवीय यौगिक (non-polar compound) होता है। कार्बन-डाइऑक्साइड में परमाणुओं का न तो अस्तित्व ही पृथक् होता है और न वे विद्युदाविष्ट ही होते हैं। स्त्रियों-स्त्रियों के बीच में वह विद्युत्-मय स्त्री-पुरुष प्रेम भला कहाँ? मूलतत्त्वों में विवाह परमाणुओं की सयोजन शक्तियों के अनुसार ही होता है। जस्ता की सयोजन शक्ति २ होती है, और क्लोरीन की एक, अतएव जस्ता का एक परमाणु क्लोरीन के २ परमाणुओं से सयुक्त होकर ज़िङ्क-क्लोराइड ($Zn\ Cl_2$ अथवा Cl–Zn–Cl)' बना देता है। अलुमीनियम की सयोगशक्ति ३ होती है, इसलिए वह क्लोरीन के ३ परमाणुओं से सयुक्त अलुमीनियम क्लोराइड ($Al\ Cl_3$ अथवा $Cl-Al\begin{smallmatrix}Cl\\Cl\end{smallmatrix}$) में परिणत होता है। टिन क्लोराइड में टिन का एक परमाणु क्लोरीन के ४ परमाणुओं से सयुक्त है, क्योंकि टिन की सयोजन-शक्ति ४ है। बहुधा अनुकूल अवसर न प्राप्त होने के कारण वह क्लोरीन के दो ही परमाणुओं से सयुक्त होता है, अतएव वह अवसरानुसार दो विभिन्न सयोजन-शक्तियाँ २ और ३ को प्रदर्शित करता है। निम्न लवण को स्टैनस क्लोराइड और उच्च लवण को स्टैनिक क्लोराइड कहते हैं। '–अस' और '–इक' क्रमश निम्न और उच्च यौगिकों के लिए प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य धातुएँ भी एक से अधिक संयोजन-शक्तियों को प्रदर्शित करती हैं। लोहे की सयोजन-शक्ति फेरस यौगिकों में २ और फ़ेरिक में ३ होता है। इस प्रकार के ध्रुवीय यौगिकों के आयनिक अवयवों को बहुधा 'मूलक' (radicals) कहते हैं। धातव अवयव को उसके धन-विद्युदाविष्ट होने के कारण धनमूलक कहते हैं, और अधातव अवयव को उसके ऋण-विद्युदाविष्ट होने के कारण, ऋणमूलक कहते हैं, और इन दोनों मूलकों की सयोजन-शक्ति को क्रमश धन संयोजन-शक्ति और ऋण संयोजन-शक्ति के नाम से पुकारते हैं।

सोडियम क्लोराइड का एक अणु

सोडियम धातु के एक परमाणु का क्लोरीन अधातु के एक परमाणु से सयोग होने पर साधारण लवण अर्थात् सोडियम क्लोराइड का एक अणु बन जाता है। एडिनबरा विश्वविद्यालय के रसायन के प्रोफ़ेसर केण्डाल के अनुसार प्रकृति के पादड़ी ने इन दोनों का विवाह करा दिया है।

कुछ विशेष परमाणु-समूह भी धातुओं अथवा अधातुओं की भाँति धन अथवा ऋण सयोजन-शक्ति प्रदर्शित करते हैं। नाइट्रोजन के एक परमाणु और हाइड्रोजन के चार परमाणुओं का अमोनियम नामक समूह (NH_4) १ धन सयोजन-शक्ति प्रदर्शित करता है, मानों वह सोडियम-सरीखी धातु का एक परमाणु हो। ऐसे समूहों को यौगिक मूलक (compound radical) कहते हैं। अमोनियम का किसी पृथक् पदार्थ के रूप में अस्तित्व नहीं होता, किन्तु अन्य ऋणमूलकों से संयुक्त होकर लवणों आदि का यह उत्पादन करता है। अमोनियम क्लोराइड (नौसादर) में मानों क्लोरीन अमोनियम मूलक से ही

H
H — N — Cl (N से जुड़े: ऊपर H, नीचे H, बाएँ दो H)
H
H

विवाह कर लेता है। उसमें नाइट्रोजन पाँच संयोजन-शक्तियों को काम में लाता है। हाइड्रोजन के साथ चार ऋण और क्लोरीन के साथ १ धन। इसी प्रकार अमोनियम-मूलक अन्य स्त्रीमूलकों से संयुक्त होकर नाना अमोनियम लवणों को उत्पन्न करता है।

ऋण जाति के मूलकों में नाइट्रेट (NO_3) में नाइट्रोजन के एक परमाणु और ऑक्सिजन के तीन होते हैं।

—O—N<(=O)(=O)

इसमें ऑक्सिजन के एक परमाणु की एक संयोजन-शक्ति को छोड़कर अन्य सब परमाणुओं की संयोजन-शक्तियाँ पूर्णतः परितृप्त रहती हैं। इसी खाली संयोजन-शक्ति का उपयोग नाइट्रेट मूलक स्वयं अपने लिए करता है। पोटैशियम की संयोजन-शक्ति एक है, अतएव पोटैशियम नाइट्रेट (KNO_3) (शोरा) का यौगिक बनता है। ताँबे की संयोजन-शक्ति २ है, अतः ताम्र नाइट्रेट [$Cu\ (NO_2)_3$] में ताँबे का एक परमाणु नाइट्रेट के दो मूलकों से संयुक्त रहता है। पोटैशियम नाइट्रेट और ताम्र नाइट्रेट के चित्र-सूत्र हम इस प्रकार लिखते हैं—

K—O—N<(=O)(=O)

Cu<(—O—N<(=O)(=O))(—O—N<(=O)(=O))

इसी प्रकार प्रायः सभी धातुओं के नाइट्रेट लवण होते हैं। सल्फेट ($=SO_4$) एक अन्य यौगिक स्त्री मूलक होता है, जिसकी संयोजन-शक्ति २ होती है। अतएव वह दो एक शक्तिक अथवा एक द्वि-शक्तिक पुरुष परमाणु से संयुक्त होता है, और यदि पुरुष परमाणु त्रि-शक्तिक हुआ, तो दो परमाणुओं की संयोजन-शक्ति वही हुई जो तीन सल्फेटों की। अतः दो त्रिशक्तिक परमाणुओं का विवाह तीन सल्फेटों से हो जाता है। मानव जाति में ऐसी विचित्र शादियाँ आपको न मिलेंगी। अब ज़रा एक-शक्तिक सोडियम, द्विशक्तिक मैग्नेशियम और त्रि-शक्तिक अलुमीनियम के सल्फेटों के चित्र-सूत्रों में परमाणुओं की अंतर्व्यवस्था पर विचार कीजिए—

Na—O—, Na—O— > S (=O)(=O)

$Na_2\ SO_4$

(सोडियम सल्फेट)

Mg < (O—, O—) > S (=O)(=O)

$Mg\ SO_4$

(मैग्नेशियम सल्फेट)

Al (—O, —O, —O) ; Al (—O, —O, —O) ; S (=O)(=O) ×3

$Al_2(SO_4)_3$

(अलुमीनियम सल्फेट)

इस प्रकार के कुछ अन्य स्त्री (ऋण) यौगिक मूलक ये हैं—

कार्बोनेट (CO_3) द्विशक्तिक
नाइट्राइट (NO_2) एकशक्तिक
सल्फाइट (SO_3) द्विशक्तिक
फास्फेट (PO_4) त्रिशक्तिक
ऐसेटेड CH_3CHO) एकशक्तिक

हाइड्रॉक्सिल (OH अथवा–O–H) एक विशेष प्रकार का एकशक्तिक ऋणमूलक है, जो धातुओं से संयुक्त होकर हाइड्रॉक्साइड नामक क्षारीय यौगिकों की रचना करता है। वास्तव में क्षारों के विशेष गुण इसी मूलक के कारण होते हैं। उदाहरणार्थ, कास्टिक सोडा सोडियम हाइड्राक्साइड और चूने का क्षार कैल्शियम हाइड्रॉक्साइड होता है—

Na—O—H

NaOH

(कास्टिक सोडा)

Ca < (O—H)(O—H)

$Ca\ (OH)_2$

(बुझा चूना)

यौगिकों में हाइड्रोजन बहुरूपिये का काम करता है। कहीं तो, उदाहरणार्थ मीथेन (CH_4) गैस में, वह समसंयोजक-शक्ति प्रदर्शित करके उदासीन रूप धारण करता है, तो कहीं, जैसे सोडियम हाइड्राइड (NaH) में वह स्त्री (ऋणमूलक) रूप ग्रहण कर लेता है; परन्तु

हाइड्रोजन जब पुरुष-रूप धारण करके ऋणमूलकों से सयुक्त होता है, तो प्राय अम्ल बनते हैं। धन विद्युदाविष्ट हाइड्रोजन आयन सभी अम्लों का आवश्यक अंग होता है। नींबू और नारंगी, आम और सेब आदि प्राय सभी फलों में खट्टापन इसी हाइड्रोजन आयन के कारण होता है। सबसे महत्त्वपूर्ण तीन खनिज अम्ल हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड (हाइड्रोजन क्लोराइड HCl), नाइट्रिक ऐसिड (हाइड्रोजन नाइट्रेट HNO_3) और सल्फ्यूरिक ऐसिड (हाइड्रोजन सल्फेट H_2SO_4) होते हैं—

H-Cl, H—O—N(=O)(=O)   H—O, H—O >S(=O)(=O)

सिरके मे ऐसेटिक ऐसिड (हाइड्रोजन ऐसेटेट $CH_3COO.H$) होता है—

```
        H
        |
  H—C—C=O
        |    \
        H     O—H
```

रासायनिक प्रतिक्रियाएँ

मानव समाज में प्रेम की प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप न केवल संयोग ही, वरन् तलाक़ अथवा विच्छेद, अपहरण अथवा स्थानापत्ति (निकालकर जगह ले लेना) आदि घटनाएँ हुआ करती हैं। परमाणुओं का समाज भी इन घटनाओं से रिक्त नहीं है। परमाणुओं अथवा परमाणुसमूहों में होनेवाली इन प्रतिक्रियाओं को रासायनिक प्रतिक्रियाएँ कहते हैं। यह दुहराना अनावश्यक है कि ये सारी प्रतिक्रियाएँ संयोजन शक्तियों के ही अनुसार होती हैं। यहाँ पर यह देख लेना भी असंगत न होगा कि ये रासायनिक प्रतिक्रियाएँ कितने प्रकार की होती हैं—

(१) संश्लेषण अथवा सरल संयोग—दो सरलतर अवयवों के परस्पर जुड़ जाने से जब कोई यौगिक बनता है, तो इसे संश्लेषण अथवा सरल सयोग कहते हैं। कार्बन के ऑक्सिजन में जलने पर कार्बन डाइऑक्साइड का बनना, हाइड्रोजन के ऑक्सिजन के साथ जलने पर पानी का बनना, और सोडियम के क्लोरीन के साथ सयुक्त होने पर नमक का बनना तथा नाइट्रोजन का हाइड्रोजन के साथ सयोग करके अमोनिया का बनना इसी प्रकार की प्रतिक्रिया के उदाहरण हैं।

(२) विश्लेषण अथवा सरल विच्छेदन—इस प्रकार की क्रियाओं में यौगिक सरलतर अवयवों में विच्छिन्न हो जाता है। बिजली की धारा के प्रभाव से पानी (दे० पृ० २७२) हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड, नमक आदि क्रमश. हाइड्रोजन और ऑक्सिजन, हाइड्रोजन और क्लोरीन, सोडियम और क्लोरीन आदि सरलतर अवयवों में विश्लिष्ट हो जाते हैं। पारदिक ऑक्साइड को ऊँचे तापक्रम पर गर्म करने से वह पारद और ऑक्सिजन में विच्छिन्न हो जाता है।

(३) स्थानापत्ति—इस रासायनिक क्रिया में किसी यौगिक से एक तत्त्व दूसरे को निकाल बाहर कर देता है और स्वय उसी का स्थान ले लेता है। जस्ता हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड से हाइड्रोजन की बीवियों क्लोरीनों को छीन लेता है और हाइड्रोजन बेचारे को निकलकर भागना पड़ता है। इस प्रकार जस्ते का एक परमाणु हाइड्रोजन के दो
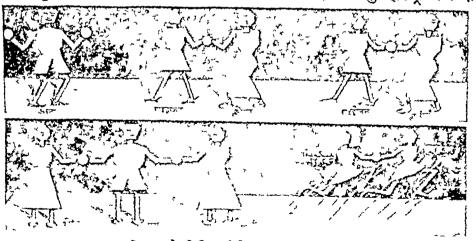
जस्ता की हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड के साथ प्रतिक्रिया

जस्ता हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड से मिलते ही अपनी तीव्रतर रासायनिक प्रीति द्वारा हाइड्रोजन की बीवियों क्लोरीनों का अपहरण कर लेता है और स्वय उनका पति बन बैठता है। बेचारे हाइड्रोजन को गैस-रूप में भागना पड़ता है। दुर्बल हाइड्रोजन ! अच्छा हुआ कि तुम निर्जीव हुए—तुम्हारे हृदय न हुआ। नहीं तो निराशा के कारण शायद तुम आत्मघात कर लेते !!
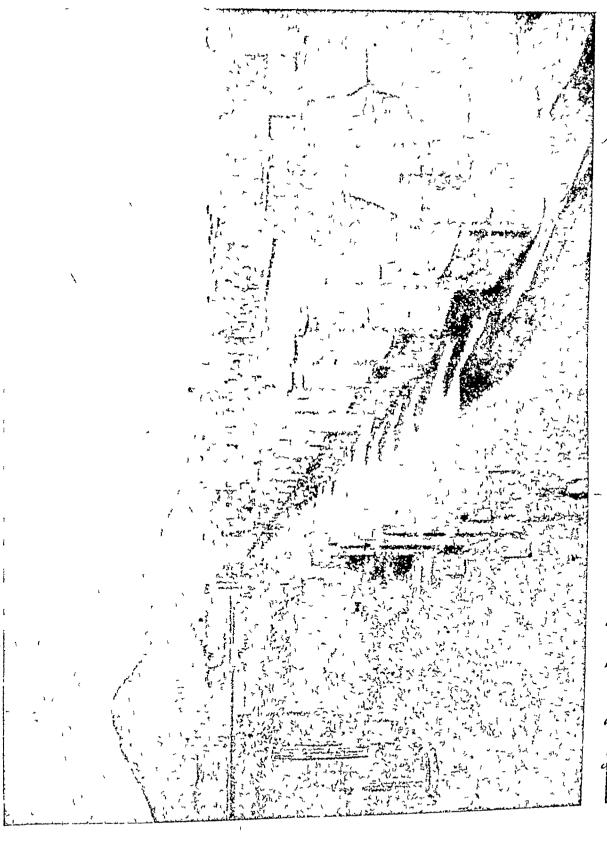
पाम्पाई नगर के भग्नावशेष—दो हज़ार वर्ष पूर्व २४ अगस्त सन् ७९ ई० को जब कि नगर के निवासी अपने कार्यों में व्यस्त थे, अचानक विस्युवियस ने प्रलयङ्कारी ज्वाला उगलना शुरू किया और समूचा नगर २० फ़ीट गहरी धूल, गर्दगुबार और उत्तप्त चट्टानों के चूर के नीचे दब गया।
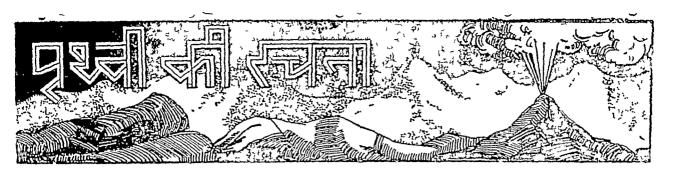
ज्वालामुखी पर्वत और उनके उग्र उद्गार (२)

कुछ प्रसिद्ध ज्वालामुखियों के उद्गारों की कहानी

संसार के अधिकांश ज्वालामुखी पर्वत आजकल शांत और सुषुप्तावस्था में पाये जाते हैं तथापि अनेक ज्वालामुखियों में समय-समय पर ज्वाला भड़क उठती है और अचानक ही उनमें उद्गार आरम्भ हो जाता है। इसके विपरीत अनेक ऐसे भी ज्वालामुखी पर्वत देखने में आते हैं, जिनमें निरन्तर ही उद्गार होता रहता है। कुछ ज्वालामुखी पर्वतों का उद्गार आरम्भ होते समय शनैः-शनैः ज्वाला भड़कती है और कुछ काल उपरान्त उद्गार की पराकाष्ठा हो चुकने पर, फिर धीरे-धीरे सुषुप्तावस्था आरम्भ हो जाती है। कुछ का उद्गार प्रचण्ड वेग से, अचानक ही, भीषण धड़ाकों और प्रचण्ड वेगमयी लपटों से आरम्भ होता है और अन्त में लावा के उफान के उपरान्त शान्त हो जाता है, और कुछ में धड़ाकों और विस्फोटों के उपरान्त भीषण तीव्र ज्वालामय उद्गार के दृश्य देखने में आते हैं, जिनमें पिघले हुए लावा के आग्नेय फौव्वारे, गैसों के प्रज्ज्वलित बादल, राख धूल के वेगमय गुब्बार और चट्टानखण्ड की क्रम-वर्षा, अत्यन्त वीभत्स और भीषण दृश्य प्रमुख हैं।

न तो संसार के समस्त ज्वालामुखियों का उद्गार एक समय ही में होता है और न उनका स्वरूप ही एक-सा होता है। यहां तक कि एक ही ज्वालामुखी के विभिन्न काल के उद्गारों मे भी अत्यधिक असमानता पाई जाती है। इसलिए ससार के समस्त ज्वालामुखियों के उद्गार का कारण एक ही शक्ति है, इस बात में भी शंका होने लगती है। फिर भी अनेक ज्वालामुखियों के उद्गारों की अवस्था का मनन करने पर उनमें ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, जो क्षीणक्रम विन्यास द्वारा एक अछिन्न श्रेणी का रूप धारण कर लेता है। फिर भी, उनके उद्गारों की विशेषताओं के अनुसार हम उन्हें अलग-अलग श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। इसके पूर्व कि हम उनके श्रेणी-विभाजन का अध्ययन करें, यह आवश्यक है कि हम ससार के कुछ प्रमुख ज्वालामुखियों के उद्गारों के इतिहास पर नज़र डालकर उनकी विशेषताओं की जानकारी प्राप्त कर ले।

भूतत्त्विक अध्ययन की दृष्टि से ज्वालामुखी के उद्गार का महत्व उसकी प्रलयकारी भीषणता के रूप मे उतना नहीं है, जितना उसके द्वारा उत्पन्न हुए एक विशेष श्रेणी की आग्नेय चट्टानों की रचना का ज्ञान प्राप्त होने में है। इन चट्टानों की रचना मनुष्य की दृष्टि की ओट में भूगर्भ के किसी अदृश्य प्रांगण में होती है। और यदि ज्वालामुखी का उद्गार न हो तो मनुष्य इनके विषय में सदैव ही अनभिज्ञ बने रहते, क्योंकि इन 'पातालीय (Plutonic Rocks) चट्टानों' के रचनास्थल तक

ज्वालामुखी का उद्गार

जाग्रत ज्वालामुखी पर्वत के क्रेटर से पिघले हुए वह लावा की नदी बहकर पास-पड़ोस की चट्टानों में गड्ढे बना देती है।
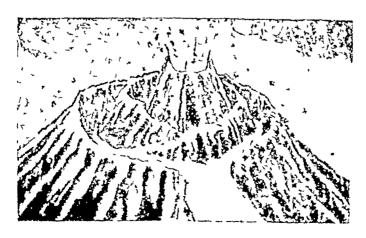
पहुँचना मनुष्य के लिए दुःसाध्य ही नहीं, असम्भव है।

विस्युवियस का उद्गार

इटली का प्रमुख ज्वालामुखी पर्वत विस्युवियस न केवल संसार का सबसे प्रसिद्ध ज्वालामुखी है, वरन् पुरातन भी है। इसके विषय में लोग बहुत काल पूर्व से भाँति-भाँति की किम्वदंतियाँ सुनते आये हैं। तथापि मनुष्य की स्मृति में इसका उद्गार हुए इतना अधिक काल व्यतीत हो चुका था कि लोग इसकी ज्वाला की बात एक दम ही भूल गये थे। अचानक ही, ७६ ई० में इसकी ज्वाला फूट निकली। यह उद्गार इतना प्रचण्ड और भीषण हुआ कि मानव समाज पर प्रलय का सा आतंक छा गया। कई शताब्दियों तक इसकी स्मृति मनुष्यों को भुलाये न भूलती थी। रोमन सभ्यता के जगमगाते हुए, हरक्युलेनियम पाम्पाई और स्टेवियाई, नामक नगर न केवल एकदम तहस-नहस हो गये, वरन् ज्वालामुखी की उगली हुई राख, धूल और आग्नेय चूरचार के इतने मोटे पर्त से ढक गये, जिसे हटाना मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात थी। इस उद्गार की विशेषता यह थी कि इसके उगले हुए पदार्थों में राख, धूल, भाप, गैसों तथा चट्टानों के खण्ड और चूरचार की आग्नेय बौछारों के अतिरिक्त लावा का तनिक भी प्रवाह नहीं हुआ। भाप की अधिकता से इतनी भीषण वर्षा हुई कि हरक्युलेनियम नगर पर जमी हुई राख धूल कीचड़ में परिणत हो गई और कीचड़ कालान्तर में जमकर कठोर चट्टान बन गया। पाम्पाई नगर ज्वालामुखी के मुख से लगभग ६ माल दूर स्थित है। इतनी दूरी पर भी आग, राख, धूल, भाप और वर्षा की भीषण बौछार के फलस्वरूप इस पर ३० फ़ीट मोटी परत जम गई थी। राख, धूल और भाप के बादलों ने आकाश में ऐसा घटाटोप अँधेरा कर दिया था कि सूर्य उसके पीछे विलुप्त हो गया प्रतीत होता था।

माउण्ट विस्युवियस के उद्गार का दृश्य जबकि उसने ७६ ई० में पाम्पाई और हरक्यूलिनियम को पाताल में पहुँचा दिया था। (व्यत्यस्त चित्र cross section)

इस ज्वालामुखी से २५ मील दूर स्थित मिसिनम नगर में इतना गहरा अन्धकार छा गया, जैसा कृष्ण पक्ष की रात में किसी बन्द कमरे में प्रकाश बुझा देने पर होता है। राख और धूल की इतनी भारी बौछार पड़ती थी कि इतनी दूर पर भी लोग बार-बार खड़े हो कर अपने कपड़े झाड़ते थे कि कहीं उसके नीचे बोझ से दब न जायें।

मनुष्य की स्मृति में विस्युवियस का यह सर्वप्रथम उद्गार था। इसके उपरान्त इस ज्वालामुखी में कई बार प्रचण्ड ज्वाला भड़की है और बीच-बीच में शान्ति और सुषुप्तावस्था की कई एक लम्बी अवधि बीती है जो कई बार शताब्दियों तक रही है। ११३६ ई० से १६३१ ई० तक की २०० वर्ष की लम्बी अवधि में इसमें केवल एक बार १५०० ई० में एक सूक्ष्म-साउबाल देखने में आया था परन्तु इस युग की समाप्ति पर इसमें बहुत जल्दी-जल्दी उद्गार होने लगे। १६०६ ई० में इसका आधुनिक युग का सबसे प्रचण्ड उद्गार हुआ। एफ़० ए० पेरेट(F A Parret) महोदय ने इस उद्गार का निरीक्षण और अध्ययन बड़ी तत्परतापूर्वक किया। इस उद्गार का विस्तृत वर्णन उन्होंने एक रिपोर्ट के रूप में लिखा है।

"१६०४ और १६०५ ई० में इस पर्वत के शङ्कुशिखर के निकट एक सूक्ष्म-सीज्वाला भड़कती देखी गई। हल्के धड़ाके और चट्टान का थोड़ा-बहुत लावा दोनों साल तक उफनता रहा। एक बार तो लावा का प्रवाह निरन्तर १० महीने तक हुआ। इस उद्गार की पराकाष्ठा का दृश्य ४ अप्रैल १६०६ ई० को उपस्थित हुआ। इसके तीन विपरीत विशेष स्वरूप देखने में आये। सर्वप्रथम चमकते हुए तरल लावा का उफान और प्रवाह आरम्भ हुआ। राख और धूल के घने काले घटाटोप गुब्बारों ने आकाश को पूर्णतया आच्छादित करके महानिशा का सा अन्धकार कर दिया। शङ्कु के चारों ओर से लावा की नदियाँ

माउण्ट एटना प्रचण्ड उद्गार में

शंकु के प्रत्येक उद्गार के साथ इन शकुओं से दो बार उद्गार होता है। आज कल इस ज्वालामुखी में ऐसे लगभग २०० शकु हैं और इनमें से एक तो ७५० फीट के लगभग ऊँचा है।

बड़े गर्त से उफनकर लावा की धारा १४ नगरों और गाँवों को पार करती हुई, जिनमें ४००० मनुष्य रहते थे, १५ मील की दूरी पर बसे हुए केटेनिया नगर के परकोटे की दीवाल तक पहुँच गई। दीवाल की ऊँचाई ६० फीट के लगभग थी जिसे पार करके इसकी धधकती धार नगर की ओर गिरने लगी और नगर के कुछ अंश को तहस-नहस कर डाला। पिघले पाषाण की इस आग्नेय धारा ने भीषण त्राहि उत्पन्न कर दी। कभी तो यह धारा १५०० फीट प्रति घंटा की गति से और कभी कई दिनों में दो-चार गज़ से भी कम रेंगकर आगे बढ़ती थी। पहली १५ मील भूमि तो इसने केवल २० दिन मे पार कर ली परन्तु अंतिम २ मील बहने में इसे २३ दिन लग गये। जब यह धारा समुद्र में जा मिली तब भी यह उत्तप्त पिघले पदार्थों की ६० गज चौड़ी ४० फीट गहरी नदी के रूप में थी। इस नदी का ऊपरी तल जमकर कठोर हो गया था। परन्तु इस कठोर परत के नीचे से पिघले पदार्थ का दबाव ऊपर के परत को विखण्डित करता हुआ बार-बार वह निकलता था और ऊपर आकर स्वयं भी ठण्डा होकर कठोर रूप में जम जाता था।

एटना की एक विशेषता यह है कि इसके शंकु के ढालों पर छोटे-छोटे 'गौण' शंकु उत्पन्न होते रहते हैं। प्रमुख

क्राकाटोआ का भीषण उद्गार

क्राकाटोआ (Krakatoa) का भीषण उद्गार आधुनिक काल के उन दो महत्त्वपूर्ण उद्गारों में से है जिनके कारण समस्त भूमण्डल डोल उठा था। इनमें से एक क्राकाटोआ का अगस्त १८८३ का उद्गार और दूसरा मई १९०२ ई० का मॉंट पेलयी (Mont Pelee) का है। क्राकाटोआ जावा और सुमात्रा के बीच सुण्डा जलडमरूमध्य का प्रसिद्ध ज्वालामुखी है और मॉंट पेलयी पश्चिमी द्वीपसमूह के मारटीनीक्यु (Martinique) टापू का प्रसिद्ध ज्वालामुखी पर्वत है।

क्राकाटोआ का यह महाभीषण उद्गार १८८३ ई० में हुआ था। इसके पूर्व सन् १६८० ई० में भी यह ज्वालामुखी भड़क चुका था, परन्तु इसके उपरान्त इसने सुषुप्तावस्था धारण कर ली थी। १८८३ ई० के मई मास में इसमें से धुएँ के बादल उठते देखे गये और अगस्त तक धुएँ का उद्गार निरन्तर होता रहा। अब धुएँ के उद्गार के साथ भीषण धड़ाकों के शब्द भी सुनाई पड़ने लगे। धड़ाकों के घनघोर शब्द से वायुमण्डल विकम्पित हो उठा और समस्त भूमण्डल के वायुभार में अप्रत्याशित उतार-चढ़ाव होने लगा। दस घंटे के पश्चात् ही इसका प्रभाव बर्लिन में दिखाई पड़ने लगा। सबसे भीषण

धड़ाका २७ अगस्त के प्रातःकाल में हुआ। इसका घनघोर शब्दनाद जब चारों ओर फैला तो लोग भय और आश्चर्य से उत्पीड़ित हो उठे। इतना भीषण शब्द लोगों ने अपनी स्मृति में आज तक कभी नहीं सुना था। इस धड़ाके के साथ ही टापू का दो तिहाई भाग उड़ गया और पर्वत के स्थान पर तीन-चार सौ गज से भी अधिक गहरा सागर लहराने लगा। इस धड़ाके की आवाज ३००० मील दूर भी साफ सुनाई पड़ती थी। ९४ मील दूर बटेविया के लोग धड़ाकों को सुनकर मृत्यु-आशंका से अधमरे हो गये। ९९९ मील की दूरी पर, सेलीबीज़ (Celebes) टापू के निवासी यह समझे कि धड़ाके उन्हीं के टापू के तट पर किसी जलयान के विस्फोटन से हुए हैं और इसकी खोज करने के लिए उन्होंने अपने माझियों को नावों पर भेजा। १३५१ मील दूर तिमोर (Timor) के निवासी भी इस शब्दनिनाद से अत्यन्त भयभीत होकर काँपने लगे। धड़ाके की गूँज ४ घंटे बाद ही हिन्दमहासागर के पार ३०८० मील दूर रोडरीग्यूज (Rodriquez) द्वीप पर साफ़ सुनाई पड़ी थी। इस धड़ाके के प्रभाव से समुद्र में अति वेगवान लहरें उठीं और इन लहरों ने विरोधी दिशाओं में प्रवाह करके समस्त पृथ्वी के जलमण्डल को डाँवाडोल कर दिया।

क्राकाटोआ का उद्गार

दो शताब्दियों तक सुषुप्तावस्था में पड़े रहने के उपरान्त यह ज्वालामुखी अपनी कुम्भकर्णी निद्रा से प्रलयकारी वेग से जागा—क्राकाटोआ द्वीप का दो-तिहाई भाग इस विस्फोट में टुकड़े टुकड़े होकर उड़ गया।

जावा के टापुओं पर ५० फीट ऊँची जल की धार आ गई और लहरों ने थपेड़ों से जावा और सुमात्रा के तटवर्ती लगभग ३०० गाँव बह गये। और ३६००० से अधिक मनुष्य डूबकर मर गये।

भाप, राख, धूल और चट्टानों के खण्ड आतिशबाजी की फुलझड़ियों की भाँति छूट-छूटकर आकाश में उठते थे और बीस मील की ऊँचाई तक पहुँचते देखे गये थे। इनके लौटकर गिरने से आकाश भर में अत्यन्त काला धुंध छा गया था, जिससे दिन में भी कृष्णपक्ष की रात्रि का सा दृश्य उपस्थित हो गया। यह अन्धकार टापू को चारों ओर १८० मील की दूरी तक घेरे रहा। जब यह राख-धूल लौटकर धरातल पर गिरी, तब तक यह वायुमण्डल में समस्त पृथ्वी के तीन चक्कर लगा चुकी थी। समस्त धरातल के निवासी इस प्रकार इस प्रलयकारी दुर्घटना का परिचय पा गये। राख-धूल के अति सूक्ष्म कणों का धुंध समस्त धरातल के वायुमण्डल में छाया रहा। इन त्रसरेणुओं की आँधी ने १८८३-८४ के शीतकाल भर समस्त धरातल पर अस्ताचलगामी सूर्य की रंग-बिरंगी विशेषकर रक्ताभ एवम् हरित प्रकाशयुक्त मनोरम दृश्यावलियों की उत्पत्ति से समस्त संसार को चकित कर दिया। धूल के पतले आवरण के कारण चन्द्रमा के दृश्य भी योरप में विचित्र दिखाई देते थे।

इस उद्गार के समय लावा का सर्वथा अभाव रहा। केवल राख-धूल और विस्फोटित चट्टानों की अपार राशि ने आकाश में उड़कर लगभग ३००,००० वर्ग-मील भूमि को ढक लिया था। समुद्र में उतरानेवाले

दिन को घटाटोप बादल का स्तम्भ—रात को अग्नि-ज्वाला की ऊँची लपट
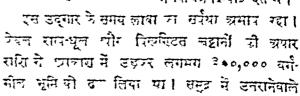
सेन्टामेरिया ग्वाटेमाला का सबसे ख़तरनाक प्रज्वलित ज्वालामुखी है—१६०२ के भीषण उद्गार में हज़ारों जानें इसकी भेंट हुईं और लगभग ४ लाख डालर का नुक़सान क़ाफ़ी और गल्ले के फ़ार्म जल जाने के कारण हुआ। १९३० में इसके उद्गार ने पुन. प्रलय के दृश्य का निर्माण किया था। इसके शंकु में अधिकांश राख ही है, उत्तप्त लावा इस ज्वालामुखी से कम निकला था। पृष्ठ १६६६ देखिये।

झामा पत्थर (Pumice) के कारण जलयानों के मार्ग अवरुद्ध हो गये थे। वायुमण्डल में इस प्रचण्ड उद्गार से जो कम्पन उत्पन्न हुआ उसकी विशाल तरंगों ने सारे संसार के वायुभार को हिला दिया। वायुमण्डल में इन तरंगों का सात बार दौरा हुआ। प्रत्येक लहर ७२ घंटे में क्राकाटोआ से चलकर फिर वहीं लौट आती थी। इस विस्फोट के पश्चात् ज्वार की ऐसी भीषण धारा उत्पन्न हुई थी कि एक बड़े भारी जहाज़ को ज्वार-तरंगें भूमि की ओर मील डेढ मील बहा लाईं और पचास पचास टन-वाले शिलाखण्ड ज्वार-तरंगों में बहकर ३ मील भूमि पर चढ़ गये।

मॉट पेलयी का उद्गार

मई १९०२ ई० में मॉट पेलयी का ताण्डवीय उद्गार आरम्भ हुआ। पिछले ४५ वर्षों से इस ज्वालामुखी की ज्वाला बुझी पड़ी थी। इस पर्वत का फैलाव आध मील व्यास की वृत्त में था। इसके क्रेटर की मुँडेर २००० फीट की ऊँचाई पर थी। १७६२ और १८५१ में इसमें थोड़ी-बहुत खलबली देखने में आई थी परन्तु १८५२ से १९०२ तक तो यह प्रसुप्त ही रहा। अप्रैल १९०२ में इसमें थोड़ी-बहुत जान मालूम पड़ी थी परन्तु इससे आशंकित होने का कोई विशेष कारण न था। भाप, गैस और राख के गुब्बार उठते रहे और कोई-कोई तो १२०० फीट की ऊँचाई तक पहुँचे। ज्वालामुखी के क्रेटर के धरातल में तीन बड़े-बड़े छेद हो गये। इन्हीं से ज्वाला फूटने लगी। परन्तु शीघ्र ही धुएँ में गन्धक की तीव्रता बढ़ने लगी और इस विषैले धुएँ ने सेण्ट-पियरी (St Pierre) शहर की सड़कों पर घोड़ों को मूर्छित करके गिराना आरम्भ कर दिया। थोड़ी ही देर में धुएँ और राख धूल की अधिकता से राह चलना दूभर हो गया।

पाँच मई को क्रेटर में जमा हुआ कीचड़ बहने लगा और पर्वत के ढाल से नीचे बहकर एक फैक्टरी और कुछ मनुष्यों को इसकी बाढ़ ने नष्ट कर दिया। अब लोगों के कान खड़े हुए और वे भय से काँपने लगे। इस समय भूकम्प आने आरम्भ हुए और तोपों की गर्जन-सी गड़गड़ाहट सुनाई पड़ने लगी। भूकम्प के वेग से टापू के पास के समुद्री तार नष्ट-भ्रष्ट हो गये। गड़गड़ाहट की आवाज ३०० मील दूर तक सुनाई पड़ती थी। अचानक ८ मई को एक विशाल काले घनघोर बादल ने क्रेटर के किनारे पर अति तीव्र गति से भयङ्कर आँधी के समान, [illegible] सेण्ट-पियरी नगर की इमारतों, वृक्षों तथा खम्भों को झकझोरना आरम्भ कर दिया। क्षण भर में नगर तहस-नहस हो गया मकान गिरकर मिट्टी में मिल गये। वृक्ष उखाड़कर कहीं के कहीं फेंक दिये गये। सारा नगर धू-धूकर विशाल लपटों में जलकर भस्म होने लगा। दो-चार क्षण उपरान्त नगर पर कीचड़ और पत्थरों की भीषण वर्षा होने लगी। नगर के तीस सहस्र अधिवासियों में दो को छोड़कर शेष उसी में मर-खप गये। अनेक जन तो विषैले धुएँ और प्रचण्ड अग्नि की लपटों में घिरकर मर गये।

यह उत्पात कई मास तक होता रहा। अगस्त में इसका रूप फिर वीभत्स हो गया और आसपास के प्रान्तों के २००० मनुष्यों ने फिर इसकी चपेट में आकर प्राण गँवाये। भाप और राख के बादल छः-सात मील ऊँचे उठकर आकाश में छा जाते थे। तदुपरान्त घनघोर वृष्टि होती थी जिसमें राख, धूल और कीचड़ गिरता था।

जिस समय मॉट पेलयी का उद्गार हो रहा था लगभग उन्हीं दिनों और सम्भवत. एक ही भूगर्भिक शक्ति से प्रेरित होकर ९० मील की दूरी पर सेण्ट विन्सेण्ट नामक टापू का ला-सू-फ्रियर (La Sou Friere) नामक ज्वालामुखी भी ज्वाला उगलने लगा। इसका उद्गार भी मॉट पेलयी के सदृश ही वीभत्स और प्रलयात्मक था। परन्तु इसके आसपास कोई घना बसा हुआ नगर न होने के कारण इस उद्गार में केवल १३५० मनुष्य ही काम आये। दोनों ज्वालामुखियों से निकली हुई धूल बहुत दूर तक उड़कर पहुँची। सेण्ट विन्सेन्ट में इस धूल की ६० फीट गहरी परत जम गई। इस ज्वालामुखी से भी लावा का प्रवाह बिल्कुल ही नहीं हुआ।

आधुनिक काल में लावा का भयंकर उत्पात १७८३ ई० में आइसलैण्ड के स्काप्ता (Skapta) नामक ज्वालामुखी के उद्गार के समय देखने में आया। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि इस ज्वालामुखी से जो विशाल राशि लावा की २५ दिनों के उद्गार में बह निकली थी वह विसुवियस और एटना के दो सहस्र वर्षों के निरन्तर उद्गार की समस्त लावा राशि से भी कहीं अधिक थी।

इस ज्वालामुखी के पार्श्व हिमानी से आच्छादित थे। ज्वालामुखी की ज्वाला से हिम पिघलकर जलधारा के रूप में बह निकला जिसकी भयानक बाढ़ ने साक्षात् प्रलय उपस्थित हो गया। बस्तियों पर घर बह गये और खेत नष्ट हो गये तथा हजारों मनुष्य और पशु डूबकर मर गये।

इसके दो दिन बाद लावा की नदियाँ बहनी आरम्भ

हुई। लावा की आग्नेय धारा ने स्काप्ता नदी के जल को सुखा डाला और नदी की उपत्यका में लावा का प्रवाह होने लगा। लावा की ६०० फीट गहरी और २०० फीट चौड़ी आग्नेय धारा जिस ओर बहती हुई गई वहाँ त्राहि-त्राहि मच गई। नदी का जल बड़ी शीघ्रता से उबल उबलकर सूखने लगा और लावा की धारा आगे बढ़ते-बढ़ते स्काप्ता झील तक जा पहुँची, जहाँ पहुँचने पर झील का जल भी सूख गया और झील में लावा भर गया। एक सप्ताह तक लावा का प्रवाह होता रहा और इस बीच में ज्वालामुखी की एक दूसरी दरार में लावा का दूसरा उबाल आरम्भ हुआ। यह धारा पहली लावा की धारा के ऊपर होकर उसे दबाती हुई और भी अधिक वेग से बहने लगी। धधकती अग्नि की यह विकराल नदी निरन्तर बहती हुई आगे बढ़ती गई और एक प्रपात पर पहुँचकर प्रपात के जल को भस्म करती हुई उसके स्थान पर झरने लगी। विकराल अग्नि का ऐसा धधकता झरना आज तक कभी देखने में नहीं आया था। लोग इसकी कल्पना से ही काँपने लगे। पृथ्वी के आदि युगों की याद आने लगी। इस झरने से झरता हुआ आग्नेय लावा का यह धधकता हुआ नद बहकर समुद्र तक पहुँचा और वहाँ सागर के जल में गिरकर इस प्रकार उबलने लगा जैसे गरम तवे पर पानी की बूँदें छनछनाती हुई उबलती हैं। इस प्रचण्ड उबाल के कारण तट से एक मील की दूरी तक के समुद्र के समस्त जलचर मर गये और उनके मरे हुए निर्जीव शरीर उबलते पानी में उतराने लगे। लावा का यह वीभत्स उद्गार दो वर्ष तक निरन्तर होता रहा और यह विश्वास किया जाता है कि स्काप्ता के उद्गार में लगभग दस सहस्र लाख टन लावा बह निकला जो यदि एक ही स्थल पर एकत्रित किया जाये तो माउण्ट ब्लैक से भी ऊँचा पर्वत बन जाये। इस उद्गार के फलस्वरूप एक वर्ष तक आइसलैण्ड का वायुमण्डल धूल और राख के घने काले बादलों से आच्छादित रहा जिससे सूर्य का दर्शन दुर्लभ हो गया था। ग्यारह वर्ष के बाद भी लावा की कड़ी ठण्डी पपड़ी के नीचे से गरमी निकलती थी।

१६०२ के महत्त्वपूर्ण वर्ष में मध्य अमरीका में भी ज्वालामुखी की आग भड़क उठी। निकारागुआ के मोमोटोम्बो, तथा सालवेडर के इज़ाल्को, और ग्वाटीमाला के सेण्टामेरिया, के ज्वालामुखियों के उद्गार इसी वर्ष हुए। इनमें सेण्टामेरिया का उद्गार अति प्रचण्ड और भयावह था। यह ज्वालामुखी बहुत दिनों से सोया हुआ पड़ा

जावा के माउण्टब्रोमो का उद्गार

था। २४ अक्टूबर को अचानक वह फूट पड़ा और इसका उद्गार एक वर्ष तक निरन्तर होता रहा। परन्तु उद्गार की प्रचण्डता प्रतिदिन कम होती गई। राख और धूल की अपार राशि ने लाखों वर्ग मील भूमि को आच्छादित कर दिया। पर्वत के निकट के भवन ५० फीट से भी मोटी गर्द की तह में छिप गये।

इसके उपरान्त ज्वालामुखी शान्त होता प्रतीत हुआ। केवल १९११ में कुछ गन्धकीय गैसों के बादल इसमें से वेग पूर्ण गति से निकलते पाये गये। अचानक १९२४ ई० की ग्रीष्म ऋतु में उद्गार की प्रचण्डता फिर उभड़ गई। साधारण गड़गड़ाहट और राख-धूल के उद्गार के पश्चात् क्रेटर में लावा का गुम्बज उठता दिखाई पड़ा। इस गुम्बज की ऊपरी पपड़ी फट-फटकर गिरने लगी और भाप के घने बादल ऊपर उठते रहे। धीरे-धीरे फिर उद्गार शान्त पड़ गया। मई १९२२ में इसी प्रकार फिर एक बार उबाल-सा आया और फिर ठण्डा पड़ गया। २ नवम्बर १९२८ की रात्रि में इसमें फिर ज्वाला भभक उठी। गुम्बज के आधार से प्रज्वलित बादल का घना सा गुब्बारा निकलकर आकाश में बहुत ऊँचा उठा। परन्तु इस उद्गार से माट पेली के समान कोई हानि नहीं हुई यद्यपि इसका वेग इतना ही प्रचण्ड और विनाशकारी प्रतीत होता था।

अलास्का के कटमाई नामक ज्वालामुखी का १९१२ का उद्गार भी बिना लावा का उद्गार था। इसमें से निकली हुई राख और धूल इतनी अधिक उष्ण और प्रज्वलित थी कि जिस घाटी में यह भर गई थी उसमें से बहुत समय तक भाप की लपटें निकलती रहीं और इसीलिए लोगों ने उस घाटी का नाम दस सहस्र लौ वाली घाटी (The valley of Ten Thousand smokes) रख दिया।

इसी प्रकार का सूखा उद्गार १८१५ ई० में जावा के निकट सुम्बा द्वीप के ताम्बोरो नामक ज्वालामुखी का हुआ था। इस उद्गार में इतनी अधिक राख और धूल की राशि निकली थी कि ज्वालामुखी के चारों ओर २० मील व्यास की वृत्त के भीतर का प्रत्येक गाँव और नगर इसमें दबकर नष्ट-भ्रष्ट हो गया। यह ख्याल किया जाता है कि इस उद्गार में लगभग १५० घन किलोमीटर राख, धूल निकलकर भूमि पर गिरी होगी।

किलाऊ लावा झील

यह फोटो १६ मार्च १९२१ को ७ बजे दिन में ली गयी थी—उत्तप्त लावा के झील में पहुँचने के कारण पानी मानो क्षुब्ध होकर उत्ताल तरंगों के रूप में पीछे दीवाल बना रहा है।

संसार के ज्वालामुखियों के उद्गारों के इतिहास में प्रशान्त महासागर के हवाई द्वीपों के ज्वालामुखियों के उद्गार अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। इन द्वीपों की दोनों समानान्तर श्रेणियों में असंख्य ज्वालामुखी पर्वत हैं। बहुत-से द्वीप तो सागर की तली में बने हुए ज्वालामुखी के शंकुओं की चोटी के ही वे भाग हैं जो जल के ऊपर निकल आये हैं और असीम जल के बाहर गर्दन उठाये अपनी सत्ता का परिचय देते प्रतीत होते हैं।

हवाई द्वीप पर स्थित मौआना लोआ और किलाऊ नामक ज्वालामुखी आजकल भी जाग्रत हैं। किलाऊ का उद्गार इतना विलक्षण होता है कि उसके प्रचण्ड उद्गार की प्रतीक्षा की जाती है, जिससे उसका अध्ययन किया जा सके। यों तो अनेकों विनाशक उद्गार भी इस ज्वालामुखी में हो चुके हैं, परन्तु साधारणतः इसका उद्गार शान्त ही होता है। साधारण उद्गारों के समय एक प्रकार का तरल पदार्थ लावा बहता है, गैस और चट्टानों

क्राकाटोश्रा के उद्‌गार का एक दूसरा दृश्य
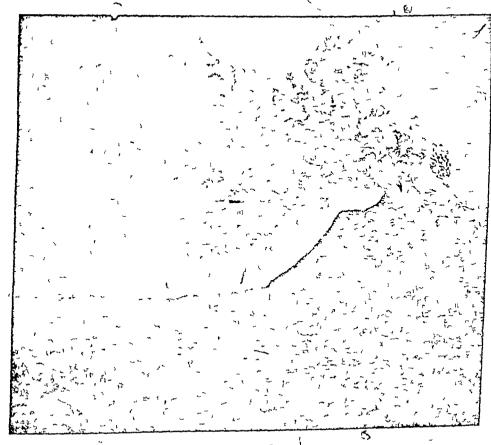
माउण्ट ब्रोमो (जावा) के उद्‌गार का एक दूसरा दृश्य

का अंशात्मक पदार्थ नहीं। यह लावा मधु-सदृश गाढ़ा होता है और उसी के समान बहनेवाला होता है। इसका मुखगर्त्त एक विशाल आकार का कड़ाहा है, जिसकी आकृति और आकार मे समय-समय पर परिवर्त्तन होता रहता है। आजकल यह ३ मील लम्बे और १ मील चौड़े अण्डाकार विशाल गर्त्त के रूप मे है। इसके आधे आकार का एक और छोटा गर्त्त इसकी पेंदी मे है। इस लघु गर्त्त का धरातल जमे हुए लावा-पदार्थ का बना है। इस लघु गर्त्त में एक और गर्त्त है जो पिघले हुए लावा से भरा हुआ है और 'लावा की झील' कहलाता है। इसका नाम हालमाऊमाऊ है। हालमाऊमाऊ की दशा निरन्तर बदलती रहती है। १९१२ ई० में इस झील की लम्बाई-चौड़ाई ८००×५०० फीट थी और इसके लावा का तापक्रम ९५०–११८५ सेण्टीग्रेड था। तरल लावा से धुएँ के बादल ऊपर उठते थे जो कभी तो बहुत ऊँचे उठ जाते थे और कभी कम। कभी-कभी धुएँ का उद्गार इतना प्रबल हो उठता था कि उबलते लावा की धाराएँ उसके साथ-साथ ऊपर उठ जाती थीं। ३ जुलाई १९१२ ई० को लिये गये इसके छायाचित्र (फोटो) से प्रतीत होता है कि उस दिन इसमे ११०० से भी अधिक धाराएँ धुएँ के उद्गार के साथ ऊपर फौवारे की भाँति छूट रही थीं। एक विशेषता यह देखने में आई कि जिन दिनों धुएँ का वेग अत्यधिक होता था, उन दिनों झील के लावा का तापक्रम भी सबसे अधिक होता था।

कभी-कभी लावा की यह झील एकदम सूख जाती है, जैसा कि १९२४ मे हो चुका है। उसका लावा नीचे ही नीचे विलुप्त हो गया। लावा के न होने पर भी गैसों का उद्गार निरन्तर होता रहा और भीषण विस्फोट होते रहे। इस कारण मुख-गर्त्त का व्यास बढ़कर ३५०० फीट हो गया और गहराई भी १५०० फीट हो गई जो पहले की अपेक्षा दूनी थी। इस वर्ष के मई मास मे जब उद्गार का वेग फिर प्रचण्ड हुआ तो उसमें से चट्टानों का अंशात्मक पदार्थ भी बाहर गिरने लगा। पुराने लावा के जमे हुए खण्डों की खूब बौछार हुई।

जुलाई १९१९ मे डा० जग्गर के हालमाऊमाऊ की जाँच प्रति बीस मिनट पर की। पूरे महीने भर यह जाँच होती रही। यद्यपि लावा का धरातल कई कई फीट नीचा-ऊँचा होता रहा, तथापि इन पर ज्वारभाटे का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता था। इससे यह सिद्ध होता था कि लावा की गहराई अधिक नहीं है।

मओनालोआ और किलाऊ के उद्गारों में अपूर्व असमानता पाई जाती है, यद्यपि दोनों ज्वालामुखी सटे-सटे हैं। मओनालोआ का विशाल चपटा शंकु ४० मील व्यास के धरातल पर १५००० फीट ऊँचा है। इससे बहनेवाला लावा भी हालमाऊमाऊ की भाँति ही अति तरलावस्था में रहता है। इसके उद्गार में किसी प्रकार का भी ठोस पदार्थ नहीं निकलता। लावा का प्रवाह क्रेटर से तो बहुत ही कम होता है। वरन् वह शंकु के पार्श्वों को फोड़ता हुआ वह निकलता है। लावा प्रवाह का स्थान भी प्रति नवीन उद्गार के साथ बदलता रहता है। १८६८ ई० में लावा का प्रचण्ड उद्गार हुआ था। सागर-तल से ३००० फीट ऊँचे शंकु के आधार से एक सहस्र फीट से भी अधिक ऊँचाई के लावा के फौवारे छूटने आरम्भ हुए। इस द्वीप की ओर से यात्रा करनेवाले जलयानों के यात्रियों ने देखा था कि उस समय द्वीप का सम्पूर्ण पूर्वीय भाग आग की विकराल लपटों में धू-धूकर जलता प्रतीत होता था। इस ज्वालामुखी से प्रवाहित लावा की धारा चालीस पचास मील चलकर जब समुद्र में गिरती है तब लावा ठण्डा होकर काले बालू में परिणत हो जाता है। इसके विपरीत किलाऊ के क्रेटर से निकलनेवाले लावा का प्रवाह कभी भी क्रेटर को लाँघकर बाहर नहीं हुआ। १९२४ के प्रचण्ड उद्गार के अतिरिक्त और भी अनेक प्रचण्ड उद्गार किलाऊ में हो चुके हैं। १७८९ का उद्गार पूर्वोक्त उद्गार की अपेक्षा कहीं अधिक प्रचण्ड और भीषण था। इसमें चट्टानों के अंशात्मक पदार्थ की अपार राशि का उद्गार हुआ था और साथ ही अति भीषण विस्फोट भी। यद्यपि इस उद्गार का विशेष हाल लोगों को नहीं मालूम है तथापि इसके वृहत् गर्त्त के मुख शिखर पर जमी हुई महीन धूल की परत इसी प्रचण्ड उद्गार की स्मृति सजग किये है। १८४८ से १८५५ ई० तक किलाऊ प्रसुप्तावस्था में रहा। इस दर्मियान झील से निकलनेवाला धुआँ और गैसे भी इतनी कम हो गई कि झील का लावा भी ठण्डा होकर जम गया। ठण्डी होकर जमी हुई लावा की ऊपरी परतें, भीतर की गैसों की भाप के कारण गुम्बजाकार में ऊपर उठ गई। गुम्बज ३०० फीट से भी अधिक ऊँचा हो गया। अगले वर्ष बसन्त ऋतु में इस गुम्बज को फोड़कर ४५-५० फीट ऊँची लावा की धारा फूट निकली और बहुत ज़ोर के धड़ाके हुए। थोड़े दिनों में यह गुम्बज नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

जापान का असो-सान ज्वालामुखी

तथापि अधिकांश ऐसा होता है कि जिन ज्वालामुखियों से लावा का प्रवाह होता है उनसे विस्फोटक उद्गार कम होता है और यदि होता भी है तो उसमें प्रचण्डता नहीं रहती। परन्तु ऐसा कोई नियम अनिवार्य नहीं है। बहुधा ज्वालामुखियों के उद्गार मिश्रित या मध्यम स्वरूप के होते हैं जैसे विसुवियस का उद्गार जो विस्फोटक भी है और शान्त भी। क्राकाटोआ और काटमाई के उद्गार कल्पनातीत विस्फोटक हुए हैं और इसी प्रकार हवाई द्वीप के ज्वालामुखियों के उद्गार शान्त उद्गारों की पराकाष्टा के उदाहरण हैं। उद्गार के स्वरूप के अनुसार ज्वालामुखियों की सात श्रेणियाँ जर्मन-भूतत्त्व-वेताओं ने निर्धारित की हैं। एक ही ज्वालामुखी समय-समय पर विभिन्न श्रेणियों के अन्तर्गत आ सकता है। ये श्रेणियाँ उन ज्वालामुखियों के उद्गारों के अनुसार निश्चित की गई हैं जो आजकल जाग्रतावस्था में हैं। ये श्रेणियाँ हैं —

इस प्रकार के गुम्बज अन्य ज्वालामुखियों मे भी बनते पाये गये हैं। बहुधा ये गुम्बज उन ज्वालामुखियों के सधि-स्थानों पर बन जाते हैं जिनसे अत्यन्त लसलसे लावा का प्रवाह होता है। इन गुम्बजों मे मुखगर्त्त नहीं होता और न इनसे लावा ही बहता है। इन गुम्बजों का पार्श्व अत्यन्त ढालू और कभी-कभी एकदम सीधा होता है। जापान के होक्कैडो (Hokkoido) नामक द्वीप के तारूमाई नामक ज्वालामुखी के गर्त्त में १९०९ ई० में इसी प्रकार का एक गुम्बज बनते देखा गया था। अल्युशियन द्वीपसमूह के उत्तरी समुद्र में १७९६, १८८३, १९०६ और १९०९ ई० में इसी प्रकार के गुम्बज उठकर बोगोस्लाफ द्वीप बन गये।

उपरोक्त ज्वालामुखियों के उद्गारों की कहानी पढने से हमें साफ मालूम हो जाता है कि भूतल के समस्त ज्वालामुखियों में न तो एक ही समय उद्गार होता है और न उद्गार का स्वरूप ही एक-सा होता है। यहाँ तक कि एक ही ज्वालामुखी के समय-समय के उद्गारों में भी भिन्नता पाई जाती है तथा किसी भी ज्वालामुखी के उद्गार का समय नियमबद्ध नहीं है। आज यदि किसी ज्वालामुखी से विस्फोटक उद्गार हो रहा है तब कल उसमें से लावा का प्रवाह भी हो सकता है और संभवत: पूर्वकाल में उसमें से लावा का प्रवाह भी हो चुका है।

१—**हवाईअन स्वरूप**—उदाहरण मओना-लोआ और किलाऊ हैं। इसमें शान्त रूप से लावा का प्रवाह होता है। केवल कभी-कभी विस्फोटक रूप भी हो जाता है।

२—**स्ट्राम्बोलिअन स्वरूप**—स्ट्राम्बोली के उद्गार के सदृश, जिसमे निरन्तर २००० वर्ष से उद्गार हो रहा है और तालबद्ध प्रति १०-१२ मिनट पर इसके गर्त्त के मुख पर लावा की बाढ आती है— उसमें बुलबुले उठते हैं, जो फूटकर लावा, राख, बम और स्फटिक-खण्डों की बौछार करते हैं और लावा फिर बैठ जाता है और अदृश्य हो जाता है। कभी-कभी इस तालबद्ध उद्गार-क्रम का विस्फोटक उद्गार खण्डन कर देता है।

३—**मिश्रित स्वरूप उद्गार**—अधिकाश ज्वालामुखियों के उद्गार इसी श्रेणी के हैं। इनके उद्गार मे अंशात्मक

चट्टानें, विस्फोटक ध्वनि के साथ निकलती हैं और लावा का भी प्रवाह होता है।

४—वल्कैनिअन स्वरूप — यह लिपारी द्वीपपुज के वल्कन द्वीप के ज्वालामुखी के अनुरूप होता है। लावा बहुत ही अधिक लसलसा होता है और विस्फोटक उद्गारों के बीच-बीच में जमकर उसी डाट लगा देता है।

निकारागुआ का मोमोटोम्बो ज्वालामुखी
जो इस समय भी अपनी ज्वाला उगलना जारी रखे है।

इसमें अंशात्मक चट्टानें, राख, धूल आदि का उद्गार होता है परन्तु लावा का प्रवाह नहीं होता।

५—पीलियिअन स्वरूप—मुखगर्त में लावा की डाट जमकर कठोर हो जाती है। आन्तरिक गैस के दबाव से यह डाट ऊपर ढकेल दी जाती है। इसी के पार्श्व को फोड़कर प्रचंड आँधी का वेग बाहर फूट निकलता है और शिलाखण्ड की भाँति शंकु के ढाल से नीचे लुढ़कता है। मान्ट पीले में इसी प्रकार का उद्गार देखने में आया था।

६—प्लीनीयन स्वरूप—विसुवियस के प्रथम ऐतिहासिक उद्गार का वर्णन प्लीनी नामक विद्वान् ने अपने पत्रों में इतनी चतुरता से किया है कि विसुवियस के उस उद्गार जैसे उद्गारों को उसी के नाम पर प्लीनीयन स्वरूप मान लिया गया है। नाम्योगे, काराकोटा नेवडा मेरिया, और काटमाई के प्रसिद्ध उद्गारों की गणना इसी श्रेणी के अन्तर्गत की जाती है।

७—अर्द्ध ज्वालामुखी-विस्फोटक स्वरूप—इस श्रेणी के अन्तर्गत उस प्रकार के उद्गार आते हैं जिनमें न तो राख-धूल ही निकलती है और न लावा का ही प्रवाह होता है। धड़ाके तथा कभी-कभी भाप के उद्गार ही इस प्रकार के उद्गारों की पराकाष्ठा है। जापान के शिरेन (१८८२), बन्दाई सान (१८८८), असामा यान (१८८३) तथा जावा के गेलुगुंग ज्वालामुखियों के उद्गार इसी श्रेणी के हैं। लासेन पीक के विचित्र धड़ाके भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

यद्यपि उपरोक्त अन्तिम श्रेणी को छोड़कर शेष छ श्रेणियों के उद्गार एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं तथापि न केवल ये सब एक ही आग्नेय प्रणाली के विभिन्न स्वरूप हैं वरन् एक ही ज्वालामुखी के मुखगर्त से समय-समय पर अन्य सभी रूपों के उद्गार भी देखने में आ जाते हैं।

जापान का असो-सान ज्वालामुखी

तथापि अधिकांश ऐसा होता है कि जिन ज्वालामुखियों से लावा का प्रवाह होता है उनसे विस्फोटक उद्गार कम होता है और यदि होता भी है तो उसमें प्रचण्डता नहीं रहती। परन्तु ऐसा कोई नियम अनिवार्य नहीं है। बहुधा ज्वालामुखियों के उद्गार मिश्रित या मध्यम स्वरूप के होते हैं जैसे विस्युवियस का उद्गार जो विस्फोटक भी है और शान्त भी। क्राकाटोआ और काटमाई के उद्गार कल्पनातीत विस्फोटक हुए हैं और इसी प्रकार हवाई द्वीप के ज्वालामुखियों के उद्गार शान्त उद्गारों की पराकाष्ठा के उदाहरण हैं। उद्गार के स्वरूप के अनुसार ज्वालामुखियों की सात श्रेणियाँ जर्मन-भूतत्त्ववेताओं ने निर्धारित की हैं। एक ही ज्वालामुखी समय-समय पर विभिन्न श्रेणियों के अन्तर्गत आ सकता है। ये श्रेणियाँ उन ज्वालामुखियों के उद्गारों के अनुसार निश्चित की गई हैं जो आजकल जाग्रतावस्था में हैं। ये श्रेणियाँ हैं —

१—हवाईअन स्वरूप—उदाहरण मओना लोआ और किलाऊ हैं। इसमें शान्त रूप से लावा का प्रवाह होता है। केवल कभी-कभी विस्फोटक रूप भी हो जाता है।

२—स्ट्राम्बोलिअन स्वरूप—स्ट्राम्बोली के उद्गार के सदृश, जिसमें निरन्तर २००० वर्ष से उद्गार हो रहा है और तालबद्ध प्रति १०-१२ मिनट पर इसके गर्त्त के मुख पर लावा की बाढ़ आती है— उसमें बुलबुले उठते हैं, जो फूटकर लावा, राख, बम और स्फटिक-खण्डों की बौछार करते हैं और लावा फिर बैठ जाता है और अदृश्य हो जाता है। कभी-कभी इस तालबद्ध उद्गार-क्रम का विस्फोटक उद्गार खण्डन कर देता है।

३—मिश्रित स्वरूप उद्गार—अधिकांश ज्वालामुखियों के उद्गार इसी श्रेणी के हैं। इनके उद्गार में अंशात्मक

इस प्रकार के गुम्बज अन्य ज्वालामुखियों में भी बनते पाये गये हैं। बहुधा ये गुम्बज उन ज्वालामुखियों के संधि-स्थानों पर बन जाते हैं जिनसे अत्यन्त लसलसे लावा का प्रवाह होता है। इन गुम्बजों में मुखगर्त्त नहीं होता और न इनसे लावा ही बहता है। इन गुम्बजों का पार्श्व अत्यन्त ढालू और कभी-कभी एकदम सीधा होता है। जापान के होक्कैडो (Hokkoido) नामक द्वीप के तारूमाई नामक ज्वालामुखी के गर्त्त में १९०९ ई० में इसी प्रकार का एक गुम्बज बनते देखा गया था। अल्युशियन द्वीपसमूह के उत्तरी समुद्र में १७९६, १८८३, १९०६ और १९०९ ई० में इसी प्रकार के गुम्बज उठकर बोगोस्लाफ द्वीप बन गये।

उपरोक्त ज्वालामुखियों के उद्गारों की कहानी पढ़ने से हमें साफ मालूम हो जाता है कि भूतल के समस्त ज्वालामुखियों में न तो एक ही समय उद्गार होता है और न उद्गार का स्वरूप ही एक-सा होता है। यहाँ तक कि एक ही ज्वालामुखी के समय-समय के उद्गारों में भी भिन्नता पाई जाती है तथा किसी भी ज्वालामुखी के उद्गार का समय नियमबद्ध नहीं है। आज यदि किसी ज्वालामुखी से विस्फोटक उद्गार हो रहा है तब कल उसमें से लावा का प्रवाह भी हो सकता है और संभवत पूर्वकाल में उसमें से लावा का प्रवाह भी हो चुका है।

चट्टानें, विस्फोटक ध्वनि के साथ निकलती हैं और लावा का भी प्रवाह होता है।

४—वल्कैनिअन स्वरूप — यह लिपारी द्वीपपुज के वल्कन द्वीप के ज्वालामुखी के अनुरूप होता है। लावा बहुत ही अधिक लसलसा होता है और विस्फोटक उद्गारों के बीच-बीच में जमकर कड़ी डाट लगा देता है।

निकारागुआ का मोमोटोम्बो ज्वालामुखी
जो इस समय भी अपनी ज्वाला उगलना जारी रखे है।

इसमें अंशात्मक चट्टानें, राख, धूल आदि का उद्गार होता है परन्तु लावा का प्रवाह नहीं होता।

५—पेलियिअन स्वरूप—मुखगर्त्त में लावा की डाट जमकर कठोर हो जाती है। आन्तरिक गैस के दबाव से यह डाट ऊपर ढकेल दी जाती है। इसी के पार्श्व को फोड़कर प्रचंड आँधी का वेग बाहर फूट निकलता है और शिलामग्न की भाँति शकु के ढाल से नीचे लुढ़कता है। लास्सेन पार्क में इसी प्रकार का उद्गार देखने मे आया था।

६—प्लीनीअन स्वरूप—विस्युवियस के प्रथम ऐतिहासिक उद्गार का वर्णन प्लीनी नामक विद्वान् ने अपने पत्रों में इतनी चतुरता से किया है कि विस्युवियस के उस उद्गार जैसे उद्गारों को उसी के नाम पर प्लीनीअन स्वरूप मान लिया गया है। ताम्बोरो, क्राकाटोआ, सेयटामेरिया, और काटमाई के प्रसिद्ध उद्गारों की गणना इसी श्रेणी के अन्तर्गत की जाती है।

७—अर्द्ध ज्वालामुखी-विस्फोटक स्वरूप—इस श्रेणी के अन्तर्गत उस प्रकार के उद्गार आते हैं जिनमें न तो राख-धूल ही निकलती है और न लावा का ही प्रवाह होता है। धड़ाके तथा कभी-कभी भाप के उद्गार ही इस प्रकार के उद्गारों की पराकाष्ठा हैं। जापान के शिरेन (१८८२), बन्दाई सान (१८८३), अज़ूमा सान (१८९३) तथा जावा के गैलुगुग ज्वालामुखियों के उद्गार इसी श्रेणी के हैं। लासेन पीक के विचित्र धड़ाके भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

यद्यपि उपरोक्त अन्तिम श्रेणी को छोड़कर शेष ६ श्रेणियों के उद्गार एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं तथापि न केवल वे सब एक ही आग्नेय प्रणाली के विभिन्न स्वरूप हैं वरन् एक ही ज्वालामुखी के मुखगर्त्त से समय-समय पर अन्य छहों स्वरूपों के उद्गार भी देखने में आ जाते हैं।
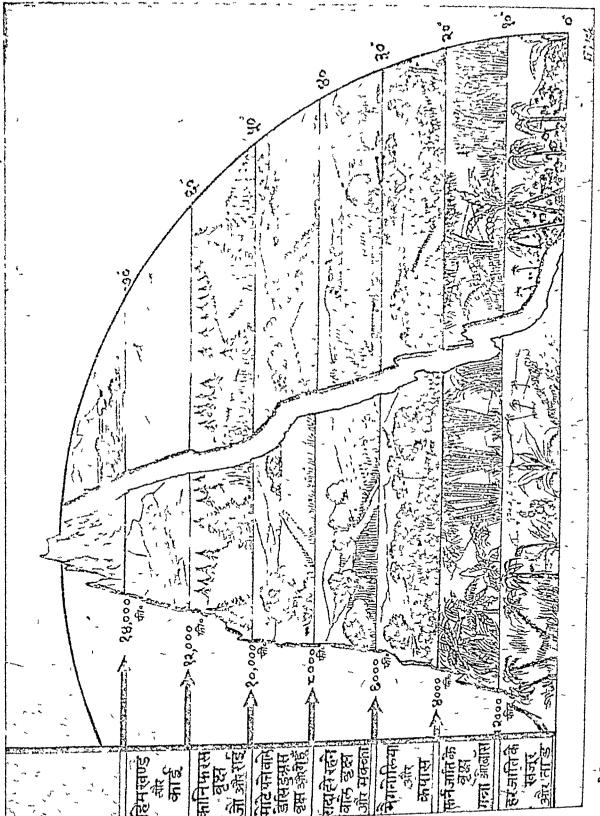
पर्वतों पर जलवायु प्रदेश—पर्वतों पर ज्यों-ज्यों हम ऊँचाई पर चढ़ते जाते हैं हमें विभिन्न-जलवायुओं के प्रदेश मिलते हैं, ठीक उसी तरह जिस प्रकार हमें विषुवत् रेखा से ध्रुवों की ओर बढ़ने पर विभिन्न जलवायुओं के प्रदेश मिलते हैं।
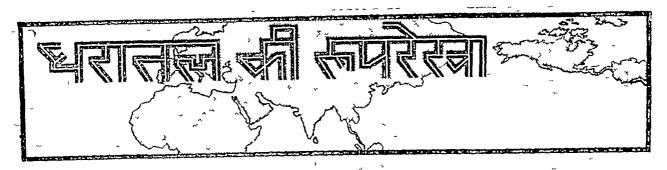
जलवायु के आधार पर धरातल का (प्रादेशिक) विभाजन

हम देख चुके हैं, धरातल के विभिन्न स्थलों पर ताप, वर्षा, पवन आदि की मात्राओं में विभिन्नता पाई जाती है। जलवायु के इन विशेष भागों की स्थान-स्थान की विभिन्नता के प्रधान कारण वे भौगोलिक परिस्थितियाँ हैं, जो उनकी अाक्षांशिक स्थिति, महाद्वीपीय अथवा महासागरीय सीमान्तर्गत होना, समुद्रतल से ऊँचाई-निचाई आदि से उत्पन्न होती हैं। जलवायु की विशेषताओं के अनुसार धरातल का विभाजन कतिपय प्रदेशों में किया जाता है। इन प्रदेशों की प्राकृतिक सीमाएँ निर्धारित करना कठिन है, क्योंकि दो प्रदेशों के सीमान्तक प्रदेश पर उन दोनों ही प्रदेशों की जलवायु के गुण मिलते हैं। एक प्रकार की जलवायुवाले प्रदेश को लाँघते ही दूसरे प्रदेश की जलवायु का अचानक अनुभव नहीं होता। जलवायु के आधार पर धरातल का विभाजन जिन प्रदेशों में किया गया है, उनका नामकरण जलवायु की विशेषताओं के अनुसार न करके उन प्रदेशों अथवा भूखण्डों के नामानुसार किया गया है, जिनमें किसी नियत प्रकार की जलवायु की अधिक से-अधिक विशेषताएँ पाई जाती हैं।

जलवायु के विभिन्न अंगों की न्यूनाधिकता के अनुसार धरातल को विभिन्न प्रदेशों में विभाजित किया जा सकता है। ताप के अनुसार यदि विभाजन किया जाय तो अधिक तापवाले प्रदेश, कम तापवाले प्रदेश और इन दोनों के बीच की दशा के प्रदेश होंगे। इसी प्रकार वर्षा के आधार पर तथा पवन के आधार पर भी धरातल का विभाजन हो सकता है। एक दूसरी रीति, 'समान' और 'परिवर्त्तनशील' जलवायु के आधार पर प्रदेशों को विभाजित करने की हो सकती है। 'समान' जलवायु की उस अवस्था को कह सकते हैं, जिसमें तापक्रम का उतार-चढ़ाव बहुत कम हो, वर्षा की मात्रा में अधिक अन्तर न पड़े, तथा वायु की दिशा और वेग सदैव बदलता न रहे। इसके विपरीत जिस प्रदेश में, तापक्रम का दैनिक और वार्षिक उतार-चढ़ाव अधिक रहता हो, वर्षा भी कभी कम और कभी अधिक तथा पवन के वेग और दिशा में भी असमानता पाई जाय, उसे परिवर्त्तनशील जलवायु का प्रदेश कहेंगे। परिवर्त्तनशील जलवायु की उत्पत्ति का कारण परिवर्त्तनशील मौसम है। यदि एक ऋतु में किसी प्रदेश में सदैव वर्षा होती है और दूसरी ऋतु में एक बूँद भी पानी नहीं बरसता, तब उस प्रदेश में साल भर की जलवायु वर्षा के आधार पर परिवर्त्तनशील मानी जायगी, चाहे दोनों ऋतुओं के ताप में अधिक अन्तर न भी पड़े। इसी प्रकार यदि साल के एक भाग में अधिक ठण्ड पड़ती है और दूसरे में भीषण गर्मी, तब ताप के आधार पर उस स्थान की जलवायु परिवर्त्तनशील मानी जायगी, चाहे वर्षा वहाँ बारहो महीने समान ही होती हो।

जलवायु के निर्माण में सबसे अधिक ताप का प्रभाव पड़ता है, इसलिए धरातल को ताप-कटिबन्धों के अनुसार ही जलवायु-कटिबन्धों में बाँटा जाता है। ४५० ई० पूर्व में परमीनिडेस नामक विद्वान् ने धरातल को, एक उष्ण, दो शीतोष्ण तथा दो शीतप्रधान प्रदेशों में बाँटा था। एक दूसरे विद्वान् कोएप्पन ने धरातल को नौ कटिबन्धों में विभक्त किया। एक केन्द्रीय अति उष्ण कटिबन्ध, दो उष्ण कटिबन्ध, दो शीतोष्ण कटिबन्ध, दो शीत कटिबन्ध, तथा दो बर्फीले खण्ड। ताप के आधार पर आज भी धरातल को, एक उष्ण, दो शीतोष्ण, तथा दो शीत, इन्हीं पाँच कटिबन्धों में बाँट सकते हैं।

ताप के आधार पर बाँटे गये प्रदेशों को भी, जलवायु के अन्य अंगों के प्रभाव के आधार पर, विभिन्न खण्डों में विभाजित किया जाता है। जैसे एक ही ताप कटिबन्ध में अधिक वर्षावाले प्रदेश भी हो सकते हैं और वर्षा-शून्य प्रदेश भी। इन दोनों खण्डों में सम-ताप होते हुए भी जलवायु विभिन्न होगी। इसी प्रकार पवन का भी प्रभाव ध्यान में रखकर ताप कटिबन्धों को विभिन्न विशेषताओं-

टैगा

ग्रीष्म में इस प्रदेश में बर्फ पिघल जाती है और जगह-जगह दलदल बन जाते हैं।

[illegible] है। [illegible] प्रदेशों में गर्मी और [illegible] [illegible] और [illegible] की निकटता का भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। एक ही ताप-कटिबन्ध के स्थल-प्रधान खण्ड की जलवायु जल-प्रधान खण्ड की अपेक्षा बिलकुल भिन्न होती है।
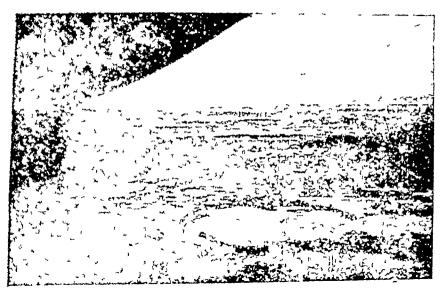
सूर्य की किरणों के झुकाव अर्थात् अक्षांश रेखाओं के आधार पर जो ताप कटिबन्ध माने जाते हैं [देखो वि० भा० पृष्ठ १६६६, भाग १४] वे, उत्तरी शीत कटिबन्ध, दक्षिणी शीत कटिबन्ध, उत्तरी शीतोष्ण कटिबन्ध, दक्षिणी शीतोष्ण कटिबन्ध तथा केन्द्रीय उष्ण कटिबन्ध नामक पाँच कटिबन्ध हैं। इन पाँचों की ताप सबंधी अपनी-अपनी विशेषतायें हैं जिनका प्रभाव जलवायु के निर्माण पर पड़ता है।

उत्तरी और दक्षिणी शीत कटिबन्धों मे शीतकाल में इनकी दक्षिणी और उत्तरी सीमाओं के प्रदेश पर भी २४ घंटे तक सूर्य के दर्शन नही होते और इन कटिबन्धों के केन्द्र (ध्रुवों) पर तो ६ मास तक सूर्य दिखलाई नहीं देता। इसके विपरीत ग्रीष्मकाल में ध्रुवों पर ६ मास तक सूर्य नहीं डूबता और सीमान्तक प्रदेश पर कम-से कम २४ घंटे का दिन होता है। ग्रीष्मकाल के लम्बे दिनों और शीतकाल की लम्बी रातों के तापक्रमों में महान् अन्तर रहता है।

इन कटिबन्धों से भूमध्य रेखा की ओर चलने पर २३½° अ० उत्तर और ६६½° अ० उत्तर के बीच के प्रदेश, तथा २३½° अ० दक्षिण और ६६½° अ० दक्षिण के बीच के प्रदेश शीतोष्ण कटिबन्ध कहलाते हैं। इन कटिबन्धों मे जाड़ों में भी कभी पूरे २४ घंटे सूर्य विलीन नहीं होता और ग्रीष्मकाल में भी दोपहर को ठीक सिर पर सूर्य नहीं पहुँचता। इन कटिबन्धों से ध्रुव-प्रदेशों की ओर जाने पर, शीत और ग्रीष्म, दोनों ही ऋतुओं में सूर्य की किरणें तिरछी पड़ती हैं परन्तु गर्मी मे दिन बड़े होते हैं और सर्दी में छोटे। जैसे जैसे हम ध्रुवों की ओर बढ़ते जाते हैं। दिनों की लम्बाई गर्मी में अधिक होती जाती है और शीतकाल में कम। गर्मी के दिनों में इन कटिबन्धों में यद्यपि सूर्य की किरणें तिरछी होने से कम गर्मी पड़ती है तथापि दिन इतने अधिक लम्बे होते हैं कि गर्मी की मात्रा बहुत अधिक हो जाती है। इसी प्रकार शीतकाल में सर्दी की मात्रा भी खूब बढ जाती है। फलस्वरूप इन कटिबन्धों की शीतकाल और ग्रीष्मकाल की जलवायु में बहुत अन्तर पड़ जाता है।

केन्द्रीय उष्ण कटिबन्ध, शीतोष्ण कटिबन्धों के बीच में भूमध्य रेखा के उत्तर दक्षिण समान दूरी तक फैला है। यहाँ पर साल भर में सूर्य की किरणें दो बार ठीक सीधी सिर पर पड़ती हैं। कर्क और मकर रेखाओं के निकट तो कई दिन तक क्रम से २२ जून और २२ दिसम्बर के लगभग सूर्य ठीक सिर पर चढ आता है। इस कटिबन्ध में दिन और रात की लम्बाई में साल भर बहुत कम अन्तर पड़ता है।

प्रत्येक ताप-कटिबन्ध को जलवायु के अन्य अंगों की विशेषताओं के अनुसार विभिन्न खण्डों में पुन विभाजित किया गया है। उष्ण कटिबन्ध में सूर्य का ताप ही प्रधान अंग है इसलिए वहाँ के जलवायु-विभागों को निर्धारित करने के लिए दो बातों का ध्यान रक्खा गया है। (१) भूमध्य रेखा से दूरी और (२) स्थल की प्रधानता। शीतोष्ण कटिबन्ध की जलवायु पर समुद्र का प्रभाव अधिक पड़ता है इसलिए यहाँ पर जलवायु के तीन खण्ड किये जाते हैं। १—समुद्र से दूर स्थल-प्रधान खण्ड (२) समुद्र-तटवर्ती पश्चिमीय प्रदेश और (३) समुद्र-तटवर्ती पूर्वीय प्रदेश। इन प्रदेशों पर पवन का भी विशेष

प्रभाव रहता है तथा जलधाराओं का भी।

शीत कटिबन्ध की जलवायु दो खण्डों में विभाजित की जाती है। एक उस प्रदेश की जलवायु जहाँ सदैव बरफ जमी रहती है, कभी पिघलती ही नहीं। दूसरी उस प्रदेश की जलवायु जहाँ गरमी की ऋतु में थोड़े दिनों के लिए कुछ बरफ पिघल जाती है।

उष्ण कटिबन्ध में ताप और वर्षा के आधार पर तीन प्रकार की जलवायु पाई जाती है और उसी के आधार पर उष्ण कटिबन्ध को तीन प्रदेशों में बाँटा जाता है। (प्रथम) भूमध्यरेखास्थ वह प्रदेश है, जहाँ पर लगभग पूरे साल भर तक वर्षा होती रहती है। जिन दिनों सूर्य ठीक सिर पर रहता है, उन दिनों वर्षा और दिनों की अपेक्षा अधिक होती है। आकाश में बादल अधिक रहते हैं। तापक्रम बराबर एक-सा रहता है। दिन और रात के तापक्रम में तो कुछ अन्तर भी रहता है, परन्तु ऋतु-ऋतु के तापक्रम में कुछ भी अन्तर नहीं जान पड़ता। बादलों के कारण यद्यपि तापक्रम बहुत ऊँचा नहीं होने पाता तथापि ७८° फा० और ६०° फा० के बीच में रहता है। पवन बहुत कम चलती है और जो चलती भी है वह ठहर-ठहरकर। भूमध्यरेखा के पासवाले कांगो और एमेज़ान प्रदेश तथा मलय द्वीपसमूह में तापक्रम सदा ऊँचा रहता है। यह प्रदेश सेनीगाल अथवा जलमय भूमध्यरेखा प्रान्त कहलाता है। इसमें सघन और दुर्गम वन हैं, जिनमें घुसना भी सम्भव नहीं होता है, केवल सदा उमड़ी रहनेवाली नदियों के मार्ग से ही इस प्रदेश के भीतरी भागों में पहुँचा जा सकता है।

अफ्रीका के बेल्जियन कांगो के भूमध्यरेखीय दुर्गम घने वन

(द्वितीय) सेनीगाल प्रदेश के उत्तर और दक्षिण में भी गरम प्रदेश पाया जाता है। पर इन प्रदेशों में साल के बारहो महीने वर्षा नहीं होती, केवल निश्चित महीनों में ही होती है। शरद् ऋतु प्राय खुश्क परन्तु औसत गरम या शीतल रहती है। इस खण्ड में भी दो प्रकार की जलवायुवाले प्रदेश शामिल हैं। एक सूदान खण्ड और दूसरा मानसून खण्ड।

सूदान खण्ड मे प्राय: उन्हीं दिनों वर्षा होती है, जिन दिनों सूर्य ठीक सिर के ऊपर रहता है। जाड़े में लगभग ७८° फा० और गरमी में ८३° फा० तापक्रम रहता है। यहाँ बहुधा आँधी चला करती है। इस खण्ड की गरम आरामदेह जाड़े की ऋतुएँ प्रसिद्ध हैं।

मानसून खण्ड में वर्षा निश्चित महीनों मे ही होती है। संसार भर में सबसे अधिक वर्षा इसी खण्ड में होती है, लेकिन वर्षा की मात्रा इतनी अधिक अनिश्चित रहती है कि कभी-कभी इस खण्ड के देशों मे दुर्भिक्ष की भी नौबत आ जाती है। इस प्रदेश के जाड़े और गरमी के तापक्रमों में विशेष अन्तर रहता है। सालाना औसत तापक्रम तो ८०° फा० के ही लगभग रहता है परन्तु कुछ

स्थानों पर भयंकर गर्मी के दिनों में तापक्रम बहुत अधिक और सर्दी में बहुत कम हो जाता है। मानसून-खण्ड में भी दो प्रकार के प्रदेश हैं। एक तो वह प्रदेश जहाँ गर्मी अधिक पड़ती है, जाड़ा अधिक नहीं पड़ता और दूसरा वह प्रदेश जहाँ जाड़ा बहुत अधिक पड़ता है, यहाँ तक कि कभी-कभी बर्फ भी गिर जाती है।

(तृतीय) उष्ण कटिबन्ध का तीसरा प्रदेश, जिसे 'सहारा प्रदेश' भी कहते हैं वह प्रदेश है, जहाँ तापक्रम का विशेष महत्त्व है और वर्षा का सर्वथा अभाव। यहाँ पर जाड़े और गरमी की ऋतुओं के तापक्रमों में तो भारी अन्तर रहता ही है, दिन और रात के तापक्रमों में भी आश्चर्य-जनक अन्तर पाया जाता है। यह प्रदेश उष्ण मरुप्रदेश कहलाता है। इसके एक किनारे से ट्रेड हवायें और दूसरे किनारे से पछुआ हवायें, विपरीत दिशाओं में चलती हैं। गरमी में दिन के समय बालू के तप्त हो जाने के कारण तापक्रम बहुत अधिक बढ़ जाता है। दिन में १००° फा० से ऊपर और रात में ३२° फा० से नीचे का तापक्रम यहाँ बहुधा पाया जाता है। यहाँ कभी भूले-भटके साल-दो साल में कुछ बौछारों के रूप में पानी पड़ जाता है। वायु बड़े वेग से चलती है, जिसमें बालू के कण उड़कर गर्द-गुबार के तूफान उत्पन्न करते हैं।

उष्ण कटिबन्ध की जलवायु भूमध्य रेखा के दोनों ओर लगभग ३५° अक्षांश तक ही पाई जाती है। इसके आगे ध्रुवों की ओर बढ़ने पर शीतोष्ण कटिबन्धों की जलवायु के प्रदेश मिलते हैं। इस जलवायु प्रदेश के भी चार खण्ड किये गये हैं। (१) सागर प्रधान (भूमध्य-सागरीय प्रान्त), (२) स्थल प्रधान, (३) पूर्वी तटस्थ प्रदेश और (४) पश्चिमी तटस्थ प्रदेश।

भूमध्य सागरीय प्रान्त में जाड़े में वर्षा होती है और गर्मी के दिनों में मरुभूमि की सी दशा पाई जाती है। सूखी गर्मी और आर्द्र जाड़े का होना इस जलवायु की विशेषता है। आर्द्र जाड़ा होने के कारण यहाँ कभी कड़ी सर्दी नहीं पड़ती। इस जलवायु के प्रान्त में सूर्य का प्रकाश बहुतायत से रहता है। यह भी इस जलवायु की विशेषता है और इसी के कारण यहाँ रसीले फल बहुतायत से उत्पन्न होते हैं। इस प्रान्त में शीतकाल की पछुआ हवाओं से तो वर्षा होती ही है, साथ ही कुछ वर्षा चक्रवातों के कारण भी होती है। भूमध्य सागर के तटीय देशों के अतिरिक्त इस प्रकार की जलवायु केलिफोर्निया तथा दक्षिणी गोलार्द्ध के मध्यचिली, केप प्रदेश, पश्चिमी तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड के नार्थ द्वीप में भी पाई जाती है।

उष्ण कटिबन्ध के स्थल-प्रधान देश समुद्र-तट से दूर होने के कारण सागर के प्रभाव से मुक्त रहते हैं। यहाँ पर जाड़े में सर्दी और गर्मियों में गर्मी की अधिकता, जैसे-जैसे तट से स्थल की ओर जाइये, बढ़ती जाती है।
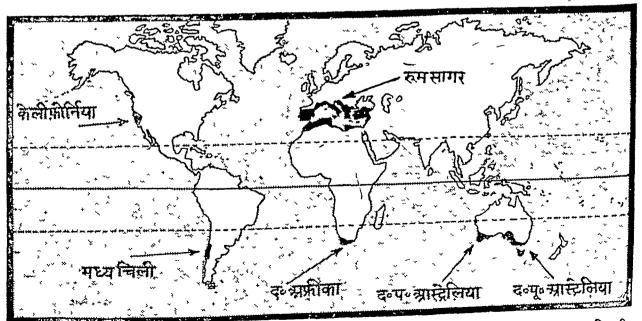
भूमण्डल पर रूमसागरीय जलवायु के प्रदेश—हम देखते हैं कि रूमसागरीय जलवायु उस स्थान पर मिलती है जहाँ ट्रेड हवाएँ तथा ऐण्टी ट्रेड हवाओं की पेटी एक दूसरी को छूती हैं।

समुद्र से बहुत दूर स्थल के भीतर पहुँचने पर गरमी की ऋतु तो बहुत छोटी और जाड़े की ऋतु बहुत बड़ी हो जाती है। तट से विशेष दूर होने के कारण पछुआ हवाओं की गर्मी और वर्षा वहाँ पहुँचने से पहले ही समाप्त हो जाती है। जाड़े की लम्बी ऋतु में महाद्वीपों के धुर भीतरी भाग, साइबेरिया और मध्य कनाडा आदि अत्यन्त ठण्डे हो जाते हैं और बर्फ़ से ढक जाते हैं। ग्रीष्म ऋतु में ऊँचे अक्षांशों में दिन बड़े होते हैं अत तापक्रम ऊँचा हो जाता है और प्रायः १००° फा० तक पहुँच जाता है। जाड़ों में इसके विपरीत (–४०°) फा० के लगभग उतर जाता है।

उष्ण कटिबन्ध के स्थल-प्रधान देशों की मुख्य विशेषता उनके जाड़े और गर्मी के तापक्रमों का असाधारण अन्तर है। यहाँ वर्षा प्राय गर्मी के आरम्भ काल में ही होती है और जाड़े में बहुधा वर्फ गिरा करती है। वर्षा की मात्रा यहाँ कम होती है परन्तु गर्मी के दिनों में वर्फ के पिघलने से पानी प्रचुर मात्रा में लभ्य हो जाता है। इस प्रदेश में घास के विशाल क्षेत्र पाये जाते हैं।

पूर्वीय तट के प्रदेशों की जलवायु यद्यपि लगभग उन्हीं अक्षांशों में पाई जाती है जिसमें भूमध्य सागर वाली जलवायु के प्रदेश पश्चिमीय तटों पर स्थित हैं, तथापि यहाँ पर जाड़े में जो पवन पश्चिम से आती है वह कड़ी सर्दी पैदा कर देती है। तट पर ठंडी धाराओं के बहने से इन प्रदेशों का तापक्रम और भी कम हो जाता है। गर्मी में पवन समुद्र की ओर से आती है इससे इन प्रान्तों में गर्मी में भी वर्षा होती है। घोर ठण्ड और सूखे दिनों का अभाव ही इस प्रदेश की जलवायु की विशेषता है। समुद्र-तट पर तूफ़ान अधिक आते हैं जो अति विनाशकारी होते हैं। मचूरिया और चीन के समुद्र-तटीय-प्रदेश में यह जलवायु पाई जाती है और इसको 'चीनी जलवायु' कहते हैं। इसी प्रकार की जलवायु कनाडा के पूर्वीय तट पर भी पाई जाती है जो 'सेण्ट-लारेन्स की जलवायु' कहलाती है। यहाँ जाड़े अत्यधिक ठण्डे होते हैं और वर्फ भी अधिक गिरती है। ग्रीष्म ऋतु में गर्मी भी काफ़ी पड़ती है परन्तु उतनी नहीं जितनी भीतर के स्थल-प्रधान देशों में पड़ती है। जाड़े में वर्फ और ओले की और गरमी में पानी की वर्षा होती है परन्तु अधिक मात्रा में नहीं। इन देशों में शीत प्रदेश के वन पाये जाते हैं

जलवायु पर समुद्र के सामीप्य का प्रभाव

डेथवैली और जिब्राल्टर लगभग एक ही अक्षांश पर स्थित हैं, किन्तु समुद्र से घिरा होने के कारण जिब्राल्टर का तापक्रम गर्मी में केवल ८०° फा० पर पहुँच पाता है, जबकि डेथ-वैली में १३४° फा० पर पारा पहुँच जाता है।

टुण्ड्रा

इस सतत हिम-प्रदेश में जाड़े की ऋतु में पूरे ६ महीने तक सूर्य के दर्शन नहीं होते। ६ महीने की इस लम्बी रात्रि में आकाश में विद्युत् कणों के घर्षण से प्राय: रंग-बिरंगे आलोक उत्पन्न होते रहते हैं।

पश्चिमीय तट के प्रदेश की जलवायु की यह विशेषता है कि न तो यहाँ गर्मी ही अधिक पड़ती है और न जाड़ा ही। गर्मी में समुद्र-जल की शीतलता और जाड़े में उसकी गर्मी विशेषत: गल्फस्ट्रीम, इसमें सहायक होती है। वर्षा यहाँ बारहों महीने होती है परन्तु जाड़े की ऋतु के आरम्भ होने के ठीक पूर्व उसकी मात्रा अधिक हो जाती है। जाड़ों में समुद्र तट पर कुहरा विशेष रूप से पड़ता है। शीतोष्ण कटिबन्ध के प्रान्तों में सबसे अधिक वर्षा यहीं होती है। साइक्लोन यहाँ अधिक चलते हैं जिनके कारण यहाँ के मौसम में अस्थिरता अधिक पायी जाती है। साइक्लोन, कभी-कभी तो गर्मी की ऋतु में भी, ध्रुव प्रान्तों से आनेवाली पवन के योग से बर्फ की वर्षा कर देते हैं। इस प्रदेश में सूर्य-प्रकाश की कमी रहती है। पश्चिमी युरुप, ब्रिटिश कोलम्बिया आदि देशों में इसी प्रकार की जलवायु पाई जाती है।

शीतप्रधान कटिबन्ध के आर्क्टिक तथा अन्टार्क्टिक प्रदेश में ध्रुव वृत्तों के भीतरवाले भाग ग्रीष्म में भी कभी गरम नहीं होते। यहीं निशीथ सूर्य अथवा अर्द्ध रात्रि के सूर्य के दर्शन होते हैं। ग्रीष्म में हफ़्तों तक सूर्य बराबर दिखाई देता रहता है, परन्तु किरणें बहुत ही तिरछी आती हैं, इसलिए उनमें गर्मी की मात्रा बहुत कम रहती है। दिन और रात दोनों में बराबर ठण्ड रहती है। लम्बी, अँधेरी, खुश्क और ठण्डी रात्रि के बाद लम्बा और ठण्डा प्रकाशयुक्त दिन आता है। इन्हीं को हम शीत और ग्रीष्म ऋतु कहते हैं। ग्रीष्म में कुछ हिमताप और वर्षा भी होती है। धरातल की बर्फ़ भी कुछ पिघलने लगती है जिससे ग्रीष्म में यहाँ दलदल उत्पन्न हो जाते हैं परन्तु शीतकाल में बर्फ के जमने से धरातल कठोर हो जाता है। यहाँ पर ठण्डी तूफ़ानी पवन, विशेषत: जाड़े में अधिक चला करती है। जो भाग शीतोष्ण कटिबन्ध से मिला हुआ है वह टुण्ड्रा कहलाता है। यहाँ सिवार और ग्रीष्म के कुछ अल्पजीवी पौधों को छोड़कर बड़े पौधों का सर्वथा अभाव है। जानवर भी कम हैं और जनसंख्या भी अति क्षीण है। टुण्ड्रा से आगे ध्रुव-प्रान्त के अटल बर्फ वाले प्रदेशों में कभी भी बर्फ नहीं पिघलती और यहाँ बर्फ के मरुभूमिवाले ऐसे प्रान्त हैं जहाँ पर प्राय: किसी प्रकार का भी जीवन नजर नहीं आता।

सम्पूर्ण धरातल पर पर्वतों की जलवायु आसपास के प्रदेशों की जलवायु से भिन्न होती है। प्रति ३०० फ़ीट की ऊँचाई पर तापक्रम १ अंश (फा०) गिर जाता है। इसलिए उष्ण कटिबन्ध के उच्च पर्वत पर चार-पाँच मील चढ़ने से हम इन सभी जलवायु सम्बन्धी कटिबन्धों को देख सकते हैं जो हमको धरातल पर ध्रुव की ओर पाँच-छ सहस्र मील की यात्रा में दिखाई देंगे। पहाड़ का निचला ढाल (प्राय: ३००० फ़ीट की ऊँचाई तक) समीपवर्ती उष्ण प्रदेश के समान ही होगा। अधिक ऊँचाई का प्रदेश शीतोष्ण कटिबन्ध के समान होगा। हिम रेखा के ऊपर का भाग ध्रुव प्रदेशों-सा ठण्डा होगा। अन्तर केवल इतना ही है कि पर्वतों की भिन्न भिन्न ऊँचाई पर दिन-रात की लम्बाई में विभिन्न कटिबन्धों की भाँति अन्तर नहीं पड़ता। जाड़ों में ऊँचे पहाड़ों पर बर्फ़ का गिरना स्वाभाविक है। केनिया पहाड़ की चोटी, यद्यपि वह भूमध्य रेखा पर गरम देश के बीच में स्थित है, सदैव हिमशिलाओं से आच्छादित रहती है।

कार्बन एसिमिलेशन के कुछ असाधारण तरीक़े

परजीवी और मृत-जीवी पौधे—अर्थात् चोर-लुटेरे तथा गिरहकट पौधे

कार्बन-एसिमिलेशन और प्रोटीन संश्लेषण जैसी जीवन-व्यापारिक क्रियाओं पर ध्यान देने से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि पौधों में, हवा की कार्बन और भूमि के जल तथा लवणों के मेल से, अमूल्य वस्तुएँ तैयार होती हैं, जिन पर संसार के सब प्राणियों का जीवन निर्भर है। पर यह अधिकार केवल हरी वनस्पतियों को प्राप्त है जिनमें, पर्णहरित के प्रभाव से शक्कर, स्टार्च व दूसरे बहुमूल्य द्रव्य बनते हैं। कदाचित् आपने कुछ ऐसे पौधे भी देखे होंगे जिनमें पर्णहरित नहीं होता। ऐसे पौधों को कार्बन कैसे मिलता है, अर्थात् इनकी खूराक का प्रश्न कैसे हल होता है ?—इस समय हम आपका ध्यान इसी की ओर आकर्षित करना चाहते हैं।

इसमें सन्देह नहीं, कि पर्ण-हरित के अभाव में पौधों को भी पशुओं की वृत्ति धारण करनी पड़ती होगी, क्योंकि इस दशा में इनमें खूराक की समस्या जल, लवण और कार्बन डाइआक्साइड - जैसी सादी वस्तुओं से नहीं हल हो सकती। इसलिए जिन पौधों में क्लोरोफ़िल नहीं होता उन्हें, हमारी-आपकी तरह, बने बनाए कार्बोहाइड्रेट्स, प्रोटीन व दूसरी आर्गैनिक वस्तुओं की ज़रूरत पड़ती है। प्रकृति में इन पौधों के दो प्रधान समूह हैं—एक पर-जीवी (Parasites) और दूसरे मृत-जीवी या मृत-भोजी (Saprophytes)।

"अमरबेरि बिनु मूल की, प्रतिपालत को ताहि"
इस पद से जितनी दीनता प्रगट होती है, अमरबेलि की जीवनी इसके विपरीत उतनी ही रहस्यमय है। इसकी पीली नाज़ुक बौड़ियाँ प्रतिपालक का खून शोषण करती हैं।
(फ़ोटो श्री० वि० सा० शर्मा द्वारा)

परजीवी पौधे दूसरे जीवों से बने बनाए खाद्य पदार्थ ग्रहण करते हैं और मृत-जीवी मरे जीवों व पशुओं के मलमूत्र या अन्य आर्गैनिक वस्तुओं से।

वास्तव में मृत-भोजी और परजीवी वृत्ति फफूँदी (Fungi) और बैक्टिरिया (Bacteria) की विशेषता है, क्योंकि इनमें स्वभावत क्लोरोफ़िल नहीं होता जिससे इन्हें विवश हो, इस प्रकार का जीवन धारण करना पड़ता है, परन्तु आप सुनकर आश्चर्य करेंगे कि फूल-फल बीज-वाले पौधों में भी कुछ ऐसी क्षुद्र प्रकृति के पौधे हैं। इस समय हमारा इन्हीं से प्रयोजन है। ऐसी प्रकृतिवाले पौधों के विषय में यह कहना कदापि अनुचित न होगा कि, हमारे समाज के आचरणहीन पुरुषों की भाँति ये, प्राय बिना

परिश्रम के ही अपनी सारी व्यवस्थायें पूरी करने का प्रयत्न करते हैं। इनमें से कुछ तो (अर्थात् मृत-भोजी पौधे) भिखारियों की तरह बची खुची व सड़ी-गली वस्तुओं पर ही सन्तोष कर लेते हैं; पर कुछ (अर्थात् परजीवी पौधे) चोर-लुटेरों और डाकुओं की तरह दूसरों पर धावा बोल, उनका सर्वस्व छीनकर मौज उड़ाने का प्रयत्न करते हैं। कोई-कोई तो ऐसे आलसी स्वभाव के हैं कि सर्व-सम्पन्न होते हुए भी मानों स्वभाववश वे ऐसे निकृष्ट जीवन बिताने के लिए विवश हैं। इन अन्तिम श्रेणी के पौधों में प्रायः साधारण पौधों की भाँति, सब अंग भी होते हैं और बहुधा इन्हें जल, लवण, हवा और रोशनी आदि की कुछ कमी भी नहीं रहती, फिर भी ये कुछ-न-कुछ द्रव्य दूसरे जीवों व सड़ी गली वस्तुओं से खींचते ही रहते हैं। आंशिक (partial) परजीवी पौधे इसी श्रेणी की वनस्पतियाँ हैं।

चि० ३—रैफ्लीज़िया

संसार का यह सबसे बड़ा फूल है। इसके सूत्रवत् अंग पड़ोस के पेड़-पौधों से अपने लिए खूराक चुराया करते हैं। इस फूल की प्रत्येक पंखुड़ी प्रायः १ फुट लम्बी होती है। पूरे फूल का चौड़ान एक गज़ से भी अधिक होता है और इसके मधुकोश में लगभग पाँच सेर पानी आ सकता है।

चि० १—बैलैनोफोरा
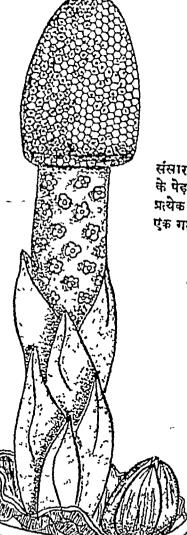
यह पौधा देखने में कुकुरमुत्ते की जाति का प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में यह फूल फल-बीजवाले पौधों की श्रेणी का है। (चित्र मि० शमशुद्दीन अहमद द्वारा)

परजीवी पौधे

गुप्तबीज पौधों में अमरबेल (आकाशबेल) (चि० १), गँठवा (इसे सरसों का बाँदा भी कहते हैं), बैलेनोफ़ोरा (*Balanophora*) (चि०२), रैफ्लीज़िया (*Rafflesia*) (चि० ३) इत्यादि ध्यान देने योग्य परजीवी पौधे हैं। परजीवी जड़ों के प्रसंग में विश्व-भारती के सातवें खंड में इनकी चर्चा की गई है।

परजीवी पौधे दूसरे पेड़-पौधों व जीवों पर उगते हैं और किसी न किसी उपाय से इनसे बने बनाये खाद्य रस ग्रहण करते हैं। इनमें और उपरिजात-मूल-पौधों (Epiphytes) में बड़ा अन्तर है। उपरिजात पौधे केवल आश्रय और प्रकाश के लिए ही अन्य वृक्षों और झाड़ों पर उगते हैं।

जिस वृक्ष पर परजीवी पौधा उगता है उसे पालक या प्रतिपालक (Host) कहते हैं। प्रतिपालक को अपने ही लिए नहीं वरन् परजीवी पौधे के लिए भी द्रव्य निर्माण करना पड़ता है। यहाँ पर हम कुछ साधारण पर-जीवी पौधों की चर्चा करेंगे।

अमरबेल(*Cuscuta*)—अमरबेल से प्रायः सभी परिचित होंगे। यह अक्सर हमारे पास-पड़ोस के झाड़ों और वृक्षों पर फैली रहती है। वैसे देखने में यह सूत-जैसी नाजुक बेल पूर्णतया निर्दोष प्रतीत होती है। इसकी पत्रहीन, पीली-पीली, कोमल डोंडियों को बेर, बबूल अथवा दूसरे पेड़ों की शाखों पर झूमते देख भला कौन अनुमान करता होगा कि जिस वृक्ष पर ये बौराई हुई घूम-घूमकर लिपट रही हैं उसका इनसे कुछ अनिष्ट होने की भी सम्भावना है। परन्तु इसमें कुछ रहस्य है। यही नाजुक डोड़ी, जिसे आप अनायास ही चुटकी से मसलकर चूर-चूर कर सकते हैं, विशाल वृक्षों और कंटकमयी झाड़ों पर पसर, उनके कठोर अंगों में अपनी कोमल शोषण जड़ें प्रवेश कर, उन्हीं का रस चूस मौज से पलती और फूलती फलती है। इस बेल के विषय में कवि की धारणा कि "अमरबेल बिनु मूल की, प्रतिपालत को ताहि।" यथार्थ नहीं प्रतीत होती, क्योंकि अमरबेल में अनेक जड़ें होती हैं जो सुई की भाँति, प्रतिपालक के अंगों में बिंधी रहती हैं (चि० ४)। हाँ, यह बात अवश्य है कि इन जड़ों का भूमि से लगाव नहीं होता। सम्भव है इसी से कवि भ्रम में पड़ गया हो। अमरबेल को साधारण पौधों की तरह भूमि से पानी, लवण जुटाने और हवा की कार्बन डाइऑक्साइड अलग कर इनके संयोग से स्टार्च तथा दूसरे पदार्थों की रचना का झंझट नहीं करना पड़ता। इसे प्रतिपालक से ही सारे पदार्थ बने बनाये प्राप्त हो जाते हैं। इसीलिए इसकी जड़ों का भूमि से लगाव नहीं होता।

चि० ४—अमरबेल
इस परजीवी पौधे के अंगों से शोषण जड़ें निकलकर प्रतिपालक के अंग में बिंध जाती हैं। (चि० मि० शमशुद्दीन अहमद द्वारा)

अमरबेल के डोड़े प्रतिपालक की टहनियों से लिपटे रहते हैं। यदि इन डोरों में से एक को भी, जिस टहनी पर वह फैला हो उससे कोई छुड़ाना चाहे तो अमरबेल के कपट का अवश्य पता चल जायेगा। यह बेल आधार से खनखजूर की तरह चिपटी मिलेगी और इसे आप सुगमता से छुटा नहीं पायेंगे। अधिक ज़ोर से खींचने पर सम्भव है प्रतिपालक की टहनी भी बेल के साथ उखड़ आये। दोनों को ध्यान से देखने पर बेल से निकली जड़ें प्रतिपालक के अंगों में काँटों की तरह बिंधी मिलेंगी (चि० ४), जिन्हें हज़ार कोशिश करने पर भी आप बाहर नहीं खींच सकेंगे। बरबस अलग करने पर इनका अधिकांश भाग टूट-टूटकर प्रतिपालक के अंग में ही रह जायगा। अगर आप उस जगह की, जहाँ पर ऐसी जड़ें प्रतिपालक के अंग में चुभी हों, परजीवी पौधे समेत कतल काट खुर्दबीन से जाँच करें तो ये कोमल जड़ें कठोर-से-कठोर वृक्षों के वक्षःस्थल में उनके आन्तरिक तन्तुओं से जुटी मिलेंगी। इस प्रकार अमरबेल की नसें प्रतिपालक की नसों से सबधित हो जाती है और वहाँ से उपार्जित द्रव्य का निरन्तर शोषण करती रहती हैं।

प्रारम्भ में अमरबेल के बीज तर भूमि या पेड़ों की सड़ी-गली छाल पर उगते हैं। कहते हैं, साधारण रूप से, ये बीज उगने में अपने पड़ोस के दूसरे पौधों के बीजों से कुछ अधिक समय लेते हैं। प्रायः ये पासवाले पौधों के बीजों के उगने के महीने-डेढ महीने बाद अंकुरित होते हैं। अमरबेल के लिए यह बात बड़े सुभीते की है, क्योंकि इस तरह जिस समय इसके बीज उगते हैं, इनके पास ही में छोटे-छोटे अन्य पौधे मिल जाते हैं, जिनके ऊपर आक्रमण कर वह डोंड़ने लगती है।

भूमि पर जिस समय अमरबेल के बीज उगते हैं, इनका एक सिरा साधारण जड़ की तरह नीचे जा घुसता है और दूसरा बढ़कर बाहर की ओर फैलने लगता है। धीरे-धीरे बीज में संचित पदार्थ पौधे की बाढ में व्यय हो जाते हैं और उसके सामने खूराक की विकट समस्या आ खड़ी होती है। पर्णहरित न होने से अमरबेल हवा की कार्बन डाइ-आक्सॉइड को काम में नहीं ला सकती। इधर बचे-खुचे पदार्थ भी, जो विशेषत इसके निचले मांसल भाग में सचित रहते हैं, व्यय हो जाते हैं, जिससे यह भाग पिचककर मुर्झाने लगता है और अन्त में सूख जाता है। इस तरह अमरबेल का भूमि से लगाव छूट जाता है। इस समय इसका ऊपरी हिस्सा तेज़ी से बढ़ता है और अगर इसे किसी दूसरे

पौधे का सहारा मिल गया तो उसे जकड़कर अमरबेल सदैव के लिए निश्चिन्त हो जाती है। अब यह थोड़ी इस पौधे पर पसर-पसर उसके अंग-अंग में शोषण जड़ें घुसेड़ इनकी राह पौधे का मधुर कोश-रस पानकर फूलों से लद फद झूमने लगती है। अगर संयोगवश वहीं इस तरह का अवसर हाथ न लगा और अमरबेल की पकड़ में कोई पौधा न आया तो वह भूमि पर चेतनाशून्य कुछ दिनों तक यूँ ही पड़ी रहती है; मानो किसी सुअवसर की ताक में लगी हो। प्राय: उसे ऐसा अवसर मिल भी जाता है; क्योंकि या तो आस-पास में कोई-न कोई पौधा ही उग खड़ा होता है या अगल-बगल के किसी-न-किसी वृक्ष-झाड़ की टहनी ही इसकी चपेट में आ जाती है। यदि दुर्भाग्य से कोई भी अवलम्ब न मिला तो अन्त में बेल सूख जाती है। सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि जिस अमरबेल में अन्य पौधों का सहारा मिलते ही अनेक शोषण जड़ें फूट आती हैं, वही तर और उपजाऊ भूमि पर यूँही पड़ी-पड़ी निर्मूल सूख जाती है।

जब अमरबेल को किसी पौधे का आधार मिल जाता है तो वह उससे कई बार लिपटने के बाद प्राय: अपना अगला सिरा ऊपर उठाती है जिससे अक्सर इसकी पकड़ में, पौधे की अन्य टहनी अथवा पास पड़ोस के पौधों का कोई अंग आ जाता है जिसके आधार पर यह बौंड़ने लगती है। कभी-कभी हवा के संसर्ग से भी इसकी लतायें झूल-झूलकर एक वृक्ष से दूसरे पर पहुँच जाती हैं। जहाँ-जहाँ अमरबेल का पालक से स्पर्श होता है वहाँ-वहाँ इससे शोषण जड़ें फूट आती हैं। प्रारम्भ में ये जड़ें साधारण जड़ों की भाँति चिकनी होती हैं, परन्तु कुछ ही समय बाद इनके अधित्वक् के कोश बाहर को उभर आते हैं जिससे जड़ें खुरदरी हो जाती हैं। इन कोशों से एक प्रकार का रस भी निकलता है। इस रस और जड़ों के खुरदरेपन के कारण वे प्रतिपालक से चिपक जाती हैं। सबसे विचित्र बात तो यह है कि साधारण दशा में अमरबेल सूखी टहनियों और डंठलों से नहीं लिपटती पर अगर कहीं विवश हो उसे ऐसे अंगों का सहारा लेना पड़ता है तो इससे निकली जड़ें केवल ऊपर चिपटकर ही रह जाती हैं और प्रतिपालक के अन्दर नहीं धँसतीं। मगर जब कभी पौधे का हरा-भरा अंग क़ाबू में आ जाता है तो बेल के ऊपर उभरे दन्दाने बढ़कर प्रतिपालक के अंग को छेदकर अन्दर धँस जाते हैं। अन्त में इन्हीं से शोषण जड़ें उत्पन्न हो जाती हैं। अन्दर पहुँचने पर अमरबेल की शोषण जड़ों के कोश प्रतिपालक के कोशों के बीच फैल जाते हैं। इन दोनों के रसवाहक तन्तु आपस में मिल जाते हैं, और अमरबेल इनके द्वारा प्रतिपालक से उपार्जित द्रव्य ग्रहण करने लगती है। इस प्रकार इन वस्तुओं के ज़ोर पर, बिना ख़ुद स्टार्च या प्रोटीन के निर्माण के झंझट में फँसे ही, अमरबेल बढ़ती रहती है और वह फूल फलों से लद जाती है।

चि० ५—गँठवा—(चोर के भाई गिरहकट) चित्र में बाईं ओर तम्बाकू का पेड़ है और दाहिनी ओर फूलों से लदा हुआ गँठवा—एक कुशल चोर की भाँति गँठवा अपने पड़ोसी तम्बाकू का सर्वस्व छीनने का अन्दर-ही अन्दर प्रयत्न कर रहा है। (फ़ोटो श्री० वी० सा० शर्मा द्वारा)

गँठवा या सरसों का बाँदा (*Orobanche*)—गँठवा एक दूसरे गुप्तबीज समूह का परजीवी पौधा है जैसे पहले कहा जा चुका है (अ० ७ पृ० ८३७) यह सरसों, गोभी, बैंगन, ट्रोपिओलम, तम्बाकू (चित्र ५) तथा और कितने ही पौधों की जड़ों पर उगता है और इन्हीं से अपने लिए ख़ूराक प्राप्त करता है। प्रसंगवश इस पौधे की चर्चा पहले भी की जा चुकी है। इस पौधे का रहस्य अमरबेल से भी विचित्र

है। बाग़-बगीचे या खेती-बारी में इसे दूसरे पौधों के बीच उगे देख किसी को गुमान नहीं हो सकता कि इससे किसी पौधे को कुछ हानि भी पहुँचती होगी (चित्र ५)। परन्तु आपको स्मरण होगा कि यह भीतर ही-भीतर अपने पड़ोसी की जड़ काटता रहता है। इसका भेद तभी खुलता है जब कोई इसे पड़ोस के पौधे के सहित जड़ से उखाड़कर सावधानी से इसकी जाँच करे।

उत्तर-प्रदेश में उगनेवाले गँठवे का पौधा बालिश्त डेढ़ बालिश्त ऊँचा होता है। भूमि के ऊपर इस पौधे की केवल फूलों से लदी मांसल, मटमैली या कुछ पीलापन लिए डाँडी दीखती है। कभी-कभी डाँडी से शाखें भी फूटती हैं। फूलों के अतिरिक्त डालियों पर इधर-उधर छोटे-छोटे वल्कपत्र भी होते हैं, पर साधारण पत्तियाँ इनमें नहीं होतीं। फूल प्राय. नीले या बैंगनी रंग के होते हैं और देखने में कुछ-कुछ तिल्ली के फूल-जैसे लगते हैं; परन्तु इन दोनों में अन्तर होता है। इस पौधे से एक प्रकार की दुर्गन्ध आती है। पौधे का निचला भाग भूमि के अन्दर प्रतिपालक की जड़ों से जुटा रहता है। पकड़ की जगह यह अंग प्राय सूजा रहता है। इस स्थान पर प्रतिपालक की जड़ भी सूजी रहती है। अमरबेल की भाँति गँठवा की जड़ के रसवाहक तन्तु भी प्रतिपालक की जड़ के रसवाहक तन्तुओं से जुटे रहते हैं। इन दोनों के तन्तु आपस में इतने बिंध जाते हैं कि इनको अलग-अलग पहचानना कठिन हो जाता है। प्राय. देखने पर यही जान पड़ता है कि गँठवे की जड़ केवल प्रतिपालक की जड़ की एक शाख है। प्रतिपालक द्वारा उपार्जित द्रव्यों का ही उपभोग कर, अमरबेल की भाँति, यह पौधा भी पनपता और फूलता-फलता है। इसे भी स्टार्च-सश्लेषण आदि क्रियाओं के झंझट में नहीं पड़ना पड़ता।

बैलैनोफोरा (*Balanophora*)—गँठवा की श्रेणी का एक दूसरा पौधा है, जिसे बैलैनोफोरा कहते हैं (चि० २)। यह पौधा भी अपनी खूराक प्रतिपालक की जड़ों से ग्रहण करता है। रहन-सहन के तरीके में बैलैनोफोरा गँठवा से भी ज़्यादा अद्भुत है। फूलने-फलने के दिनों को छोड़ अन्य समय इस पौधे का भूमि के ऊपर प्राय पता भी नहीं चलता, फिर भी इसका मांसल कन्द भूमि के अन्दर सुरक्षित छिपे-छिपे चोर की भाँति, पालक से खींच-खींच द्रव्य संचित करता रहता है। समय पर इन्हीं अर्चित द्रव्यों से पौधे का पालन पोषण होता है।

फूलने का समय निकट आते ही बैलैनोफोरा धरती के फूल की तरह ज़मीन फोड़कर बाहर निकलता है; परन्तु बीज पककर झर जाते ही इसके ज़मीन के ऊपर के भाग की जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। फिर भी इसके निचले भाग से जमीन के अन्दर-ही-अन्दर अनेक नवीन जड़ें निकलकर प्रतिपालक के तन्तुओं से जुड़ी रहती हैं। अन्य परजीवी पौधों की तरह इस पौधे की जड़ों के रस-वाहक तन्तु भी पालक जड़ों के रसवाहक तन्तुओं से मिले रहते हैं और उससे प्रयोजनीय पदार्थ ग्रहण करते रहते हैं। हमारे देश में बैलैनोफोरा हिमालय और खसिया पर्वत पर शाहबलूत-जैसे वृक्षों की जड़ों पर उगता है। इसका पुष्पव्यूह आकर्षक और बड़ा तथा फूल रंगदार होते हैं।

रैफ़्लीज़िया (*Rafflesia*)—परोपजीवी गुप्त-बीज पौधों में रैफ़्लीज़िया विशेष उल्लेखनीय है। यह पौधा जावा तथा सुमात्रा के द्वीपों में होता है। फूल को छोड़ इसके शेष अग अत्यत क्षीणकाय होते हैं। वास्तव में ये अग कुकुरमुत्ते की जाति के पौधों के अगों के समान केवल मकड़ी के जाले-जैसे सूतों (Hyphae) के रूप में ही होते हैं। ये सूत (हाइफी) प्रतिपालक के तन्तुओं में बिखरे होते हैं और वहीं से खाद्य-रस का वे शोषण करते हैं। रैफ़्लीज़िया का फूल, जैसा हम दूसरी जगह लिख चुके हैं (अं० ७ पृ० ८३८) अद्भुत और बड़ा होता है (चि० ३)। इसकी गणना वनस्पति सृष्टि की अपूर्व रचनाओं में है। जैसा आपको स्मरण होगा इस फूल की प्रत्येक पंखुड़ी लगभग एक फुट लम्बी होती है और पूरे फूल की चौड़ान प्राय तीन हाथ होती है। फूल के बीच में मधुकोश होता है जिसमें करीब-करीब पाँच सेर पानी आ जाता है—यह मधुकोश क्या है, एक अच्छा-ख़ासा कुंड है। फूल का वज़न सात-आठ सेर से भी अधिक होता है। ऐसे फूल को घने जगलों में शाहबलूत या किसी दूसरे विशाल वृक्ष की सूखी-साखी जड़ों के पास खिला हुआ देख कौन विस्मित न होगा?

अमरबेल, गँठवा, बैलैनोफ़ोरा और रैफ़्लीज़िया के अतिरिक्त और भी बहुत-से परजीवी प्रकृति के पौधे हैं। फूलवाले पौधों में ही इनकी अनेक जातियाँ मिलेंगी।

फिर भी साधारण पौधों के लिए ऐसी प्रकृति अस्वा-भाविक है और जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, छत्राक और बैक्टिरिया समूह में ही ऐसे अनेक उद्भिन मिलते हैं। यथार्थ में इन पौधों का जीवन ही परजीवी या मृतजीवी होता है। आगे चलकर किसी दूसरे स्थान पर हम इनकी चर्चा करेंगे। यहाँ हम केवल इतना ही कह देना चाहते

है कि ऐसे परजीवी पौधे के प्रकोप से हमारी खेतीबारी को बड़ी हानि पहुँचती है। इनकी बदौलत हर साल लाखों रुपये मिट्टी में मिल जाते हैं। इनके कारण उत्पन्न हुई व्याधियों से माली और किसान सभी हैरान रहते हैं। वे इन्हें समूल नष्ट करने की चेष्टा में वैज्ञानिकों का मुँह ताक रहे हैं और प्रत्येक उन्नतिशील देश में इसका भरसक प्रयत्न भी हो रहा है। कितने ही माइकॉलोजिस्ट (Mycologists) [फंजाई (Fungi) और उनसे पैदा होनेवाली व्याधियों की जाँच करनेवाले वैज्ञानिक], बैक्टिरियालोजिस्ट (Bacteriologists) [बैक्टिरिया और इनसे उत्पन्न होनेवाली व्याधियों की जाँच करनेवाले वैज्ञानिक] तथा अन्य वैज्ञानिक इसकी धुन में संलग्न हैं। कोई गेहूँ के गेरुई रोग का नाश कर किसानों को सुखी बनाने और लाखों रुपये के लाभ के मनसूबे बाँध रहा है, कोई आलू, सेब, सन्तरा अथवा कदमूल फल को सड़ने-गलने से बचाकर सुरक्षित रखने की धुन में लगा है तो कोई किसी और उपयोगी पौधे को इनके प्रकोप से बचाने की कोशिश में सोते-जागते बोर्डो-मिक्सचर और सल्फर-डाइऑक्साइड के सपने देख रहा है।
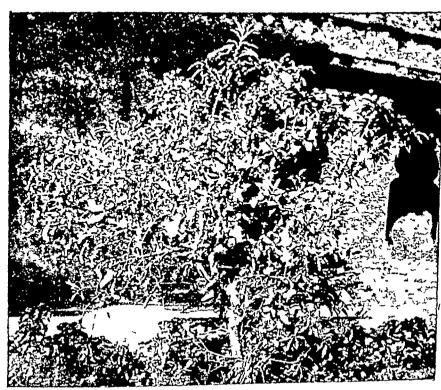
आंशिक परजीवी पौधे

ऊपर जिन पौधों का उल्लेख किया जा चुका है, उनमें क्लोरोफिल नहीं होता। इस श्रेणी के पौधे खाद्य पदार्थों के लिए अन्य जीवों पर पूर्णतया निर्भर रहते हैं। इस समय हम जिन पौधों की चर्चा करने जा रहे हैं, उनमें यद्यपि पर्णहरित रहता है, फिर भी ये किसी अंश में अपने लिए खाद्य रस अन्य पौधों से ग्रहण करते हैं। इस श्रेणी के पौधे, कार्बन तो वायु से प्राप्त करते हैं, पर जल और नमकों के घोल के लिए ये प्रतिपालक के आश्रित रहते हैं। इनमें से कुछ तो साधारण पौधों की भाँति भूमि पर उगते हैं। ऐसी दशा में भला इनके स्वभाव का बाहर से किसी को क्या पता चल सकता है ? फिर भी इनसे कभी-कभी प्रतिपालक को भारी हानि पहुँचती है।

बाँदा (*Loranthus*)—आंशिक परजीवी पौधों में बाँदा से प्रायः सभी परिचित होंगे (चि० ६)। परजीवी जड़ों के प्रसंग में इस पौधे की कुछ चर्चा की गई है। उत्तर प्रदेश में यह पौधा विशेषतः आम, बकायन, शीशम आदि पर उगता है। जाड़े के दिनों में इसकी फूलों से लदी डालियों की छटा निराली रहती है।

चि० ६—बाँदा

यह आंशिक परजीवी पौधा बहुधा आम, शीशम बबूल आदि पर उगता है—(फ़ोटो प्रो० वी० सा० शर्मा द्वारा)

जैसा पहले कहा जा चुका है, बाँदे के बीज लसलसे होते हैं और लसोड़े के बीजों की तरह जिस जगह वे गिरते हैं वहीं चिपक जाते हैं। इस पौधे के पके फलों को चिड़ियाँ चाव से खाती हैं, पर इनकी बीट के साथ बीज ज्यों-के-त्यों बाहर निकल आते हैं। इस तरह इन बीजों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने में चिड़ियाँ बड़ी मदद करती हैं। शाखों पर पड़ी बीट में मौजूदा बीजों से वहीं कालान्तर में बाँदे के पौधे उग आते हैं।

जिस समय बाँदे का बीज उगता है इससे अंकुर निकल प्रतिपालक की डाल की ओर झुककर उससे चिपट जाता है। यहाँ से धीरे-धीरे इसकी प्रारम्भिक जड़ शाख के अन्दर

प्रवेश करने लगती है। अन्त में बाँदे और प्रतिपालक के तन्तु आपस में मिल जाते हैं। अमरबेल की शोषण जड़ों की तरह बाँदे की शोषण जड़ें भी प्रतिपालक की शाखों में चुभी रहती हैं, परन्तु ये जड़ें अमरबेल की जड़ों के मुक़ाबले में बहुत मोटी और मज़बूत होती हैं और मेख की तरह प्रतिपालक की शाखों में ठुकी रहती हैं। जहाँ प्रतिपालक का बाँदा से मेल होता है वहाँ एक कठीली गाँठ पड़ जाती है। कभी-कभी तो ये पुरानी गाँठें आदमी के सिर से भी बड़ी होती हैं।

बाँदे में साधारण पौधों की तरह हरी पत्तियाँ मौजूद होती हैं जिससे इस पौधे में, अन्य उपकरण जुटने पर, स्टार्च की रचना होती है; परन्तु, भूमि से लगाव न होने के कारण, इसे जल और खनिज लवणों के लिए पालक का ही सहारा लेना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि जिस वृक्ष या झाड़ पर बाँदा लगा होता है उसे न केवल अपने लिए वरन् परजीवी बाँदा के लिए भी भूमि से पानी और लवण खींचना पड़ता है। आपस में दोनों के कोष्ठ-तन्तु मिले रहते हैं जिससे ये खाद्यपदार्थ बाँदे में पहुँचते रहते हैं।

विस्कम (*Viscum*) या मिसल्टो (*Misletoe*)—विस्कम (चि० ७) भी बाँदे के ही समूह का एक आंशिक परजीवी पौधा है जो बाँदा की भाँति ही अन्य वृक्षों पर उगता है। यह पौदा मसूरी, नैनीताल, अल्मोड़ा आदि पहाड़ी स्थानों में शाहबलूत जैसे वृक्षों पर अक्सर देखने में आता है। बाँदे की भाँति इस पौधे में भी साधारण

चि० ७—विस्कम
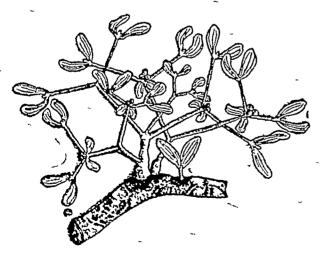
बाँदे की भाँति विस्कम भी आंशिक परजीवी पौधा है। चित्र में मोटी शाखा प्रतिपालक की है। (चि० मि० शमसुद्दीन अहमद द्वारा)
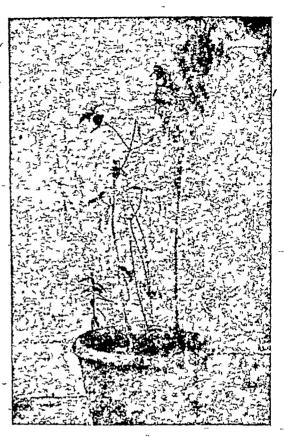
चि० ८—चंदन

इस पौधे के लिए 'ऊँच निवास नीच करतूती' वाली कहावत चरितार्थ होती है। चित्र में दाहिनी ओर चंदन और बाईं ओर एक अन्य पौधा है। दोनों पौधों को गमले में लगाकर फ़ोटो खींची गयी है।

हरी पत्तियाँ होती हैं जिनके प्रभाव से इसमें अन्य हरे पौधों की तरह कार्बन एसिमिलेशन होता है पर खनिज लवणों और जल के लिए यह भी प्रतिपालक पर आश्रित रहता है।

बाँदे की तरह विस्कम के भी पके फल चिड़ियाँ खाती हैं, और अपने बीट के साथ बीजों को दूर-दूर फैलाती हैं, परन्तु नैनीताल आदि ऊपर गिनाये स्थानों में उगनेवाले विस्कम अर्थात् (*Viscum japonicum*) विस्कम जैपोनिकम के बीज विचित्र ढंग से इधर-उधर फैलते हैं। इसके फल के अन्दर का लसदार पदार्थ फल पकने पर अन्दर से स्वयं वेग के साथ निकल पड़ता है जिससे बीज गज़ दो गज़ या इससे भी दूर जा गिरते हैं। हवा की मदद से वे सम्भवतः और भी दूर चले जाते होंगे। इस ढंग से विस्कम के बीज प्रतिपालक की एक शाख से दूसरी पर और प्रायः एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष

पर जो पहुँचते हैं। शाखों पर छिपके विस्कम के बीज बाँदे के बीजों की तरह कालान्तर में उग आते हैं।

चंदन—चंदन की भी गिनती किसी अंश में परोपजीवी प्रकृति के वृक्षों में की जा सकती है। इसमें साधारण पेड़-पौधों की भाँति जड़, तना, पत्ती, फूल-फल सभी अंग होते हैं। साधारण पौधों की तरह यह भूमि पर उगता भी है (चि० ८), और इन्हीं की तरह यह हवा से कार्बन ग्रहण कर स्टार्च की रचना भी करता है; परन्तु फिर भी यह अपनी शोषण जड़ों द्वारा पास के पौधों की जड़ों से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है (चि० ६), और उन्हीं से छिपे-छिपे खाद्य-पदार्थ ग्रहण करता है। कितनी आश्चर्यजनक बात है कि ऐसा शानदार वृक्ष प्रायः घास-फूस से भी कुछ-न-कुछ छीन झपट लेता है। चंदन के भाई-बन्धुओं में कुछ और भी इसी प्रकृति के पौधे हैं। कटुका वर्ग (Scrophulariaceae) या जलनीम के समूह में भी कुछ आंशिक परजीवी पौधे होते हैं।

चि० ६—चंदन और प्रतिपालक की जड़ें

इस चित्र में दिखलाया गया है कि चंदन की जड़ें अपने प्रतिपालक की जड़ों से कैसे मिल जाती हैं। इन दोनों की जड़ों के तन्तु आपस में सम्मिलित हो जाते हैं और इस प्रकार चंदन प्रतिपालक द्वारा उपार्जित द्रव्य शोषण करता है। (फ़ोटो मि० शमशुद्दीन अहमद द्वारा)

मृतजीवी पौधे

परजीवी प्रकृति की तरह मृतजीवी प्रकृति भी फँजाई और बैक्टिरिया की ही विशेषता है। इन दोनों ही श्रेणी के अनेक उद्भिज गलीज व सड़ती-गलती वस्तुओं पर मौज से जीवन व्यतीत करते हैं; परन्तु कोई-कोई ऊँची श्रेणी के पौधे भी ऐसे स्थानों पर उगते हैं जिसमें आर्गेनिक वस्तुएँ अधिक होती हैं। इन पौधों की जड़ों का छत्राक समूह के किसी न-किसी पौधे से सम्बद्ध रहता है। फंगस की सूत से भी महीन हाइफी पौधे की जड़ों के हर ओर लिपटी रहती है (चि० ११ अ)। इन हाइफी की सहायता से ही पौधे की जड़ें आर्गेनिक वस्तुओं का शोषण करती हैं। किसी-किसी पौधे में फंगस कोशों के अन्दर भी अड्डा जमा लेता है (चि० ११ ब)। साधारण पौधों में मानोट्रोपा (*Monotropa*), निओटिया (*Nectia*) ऐसे पौधों के उदाहरण हैं। जिस भूमि में आर्गेनिक द्रव्य नहीं होते वहाँ ये दोनों ही पौधे नहीं उगते। इन पौधों की पेड़ी मांसल होती है और इस पर छोटे छोटे वल्क-पत्र होते हैं, पर साधारण हरी पत्तियाँ नहीं होतीं। इनकी जड़ें मोटी तथा घनी होती हैं। इन जड़ों पर फंगस लिपटा रहता है। निओटिया में फंगस जड़ों के बाहरी कोशों को छेद उसके वल्क-कोशों में जा डटता है। दोनों ही पौधों में फंगस बाहर से आर्गेनिक द्रव्य ग्रहण कर उन्हें इन पौधों को पहुँचाता है। इस तरह इन पौधों को प्रयोजनीय द्रव्य, जो साधारण दशा में कठि-

चि० १०—मानोट्रोपा
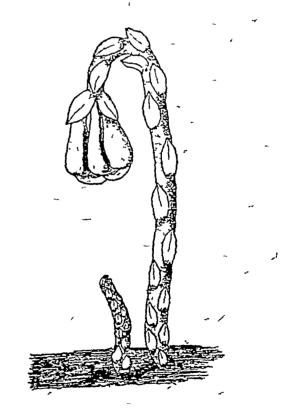
यह पौधा सड़ी-गली वनस्पतियों पर उगता है। इसमें साधारणतः पाई जानेवाली हरी पत्तियाँ नहीं होतीं। (चि० मि० शमशुद्दीन अहमद द्वारा)

नता से मिलते हैं, फगस के सहयोग से अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। किसी-किसी दशा में फंगस को भी थोड़ा बहुत लाभ हो जाता है। एक तो उसे पौधों की जड़ों में आश्रय मिलता है दूसरे, उसका सूखे से भी बचाव रहता है। इस प्रकार के जीवन को, जहाँ दोनों ही साझीदार कुछ-न-कुछ लाभ उठाते हों, सिम्बियोसिस (symbiosis) कहते हैं।

चि० ११—अ
(Exotrophic mycorrhiza)
जड़ के ऊपरी भाग से फगस हटा दिया गया है। यहाँ फगस जड़ के बाहर ही बाहर फैला रहता है। फगस की हाइफी बाहर से आर्गैनिक द्रव्य ग्रहण करती हैं।

निओटिया और मानोट्रोपा श्रेणी के पौधे पर्णहरित के अभाव में भी बढते और फूलते-फलते हैं। इन्हें कार्बोनिक वस्तुएँ पृथ्वी की आर्गैनिक वस्तुओं से फगस की सहायता द्वारा प्राप्त हो जाती हैं।

कुछ लोगों का मत है कि नियोटिया और मानोट्रोपा-जैसे फूल-फलवाले पौधे मृतजीवी प्रकृति के हैं। परन्तु कुछ लोगों का अनुमान यह है कि ये पौधे अपनी जड पर उगनेवाले फंगस (माइकोराइजा) पर केवल परजीवी वृत्ति से जीवन व्यतीत करते हैं।

बिना क्लोरोफिलवाले पौधों में भोजन प्राप्त करने का मृतजीवी वृत्ति सबसे सरल ढग है। जब ये पौधे बीज, स्पोर्स (रेणु) या किसी दूसरे रूप में सड़ती-गलती पत्तियों या जानवरों के मल मूत्र मास पर पहुंच जाते हैं तो इनसे कई तरह के रस निकलकर इन वस्तुओं पर पहुँच जाते हैं और इन्हें सादे घुलनशील और प्रसरणशील वस्तुओं में परिणत कर देते हैं। इन्हीं को मृतजीवी पौधे ग्रहण करते हैं। इन पदार्थों को वे फिर पेचीदा वस्तुओं में बदलते हैं और इस प्रकार इनके अग बनते और बढ़ते हैं और इन्हें काम-काज के लिए शक्ति मिलती है।

आंशिक मृतजीवी पौधे

कुछ पौधे केवल कुछ अश में ही मृतजीवी स्वभाव के होते हैं। साधारण मृतजीवी पौधों की भाँति इनका भी फंगस के साथ लगाव रहता है पर आंशिक परजीवी पौधों की भाँति इनमें साधारण हरी पत्तियाँ भी होती हैं। इस भाँति इनमें स्टार्च-संश्लेषण मामूली ढंग से होता है पर इनकी जड़ों पर फैले फगस की सहायता से भूमि की आर्गैनिक वस्तुओं से भी इन्हें खाद्य-रस मिलते रहते हैं। सम्भव है कि इन पौधों की जड़ों पर फैले फंगस की हाइफी जो बाहरी भूमि में भी पसरी रहती हैं, आर्गैनिक द्रव्य ग्रहण करने के साथ-साथ मूल रोमो की तरह जल और नमकों के घोल भी ग्रहण करती हों। क्योंकि जिन पौधों की जड़ों पर ऐसा फंगस होता है, उनमें या तो मूलरोम होते ही नहीं हैं या होते भी हैं तो बिलकुल थोड़े-से।

यहाँ पर हमने सक्षेप में कुछ ऐसे पौधो की लीला वर्णन की है जो वनस्पति-समाज की मर्यादा भंग कर, साधारण पौधों की प्रकृति के विरुद्ध प्रत्येक स्थान पर सुलभ प्रकाश, वायु, जल, नमक-जैसे पदार्थों का भरोसा त्याग, अपनी स्वतन्त्रता को तिलाञ्जलि दे, लुके-छिपे औरों की कमाई हड़पकर या बची-खुची, सड़ी-गली त्याज्य आर्गैनिक वस्तुओं के आसरे पतित अवस्था में जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसे पौधों को आप भिखमगे, चोर, लुटेरे, गिरहकट, डाकू, कुछ भी कहें अनुचित न होगा। परन्तु इतने ही पर इनकी नीचता का अंत नहीं हो जाता वरन् इनमें से कोई-कोई अपने समाज के बाहर पशु-ससार पर भी आक्रमण करते हैं। ऐसे पौधे हिंसक पशुओं की भाँति अनेक जन्तुओं का शिकार करके उन्हीं पर अपनी ज़िन्दगी बसर करते हैं। अगले प्रकरण में हम कुछ ऐसे पौधों का वर्णन करेंगे।
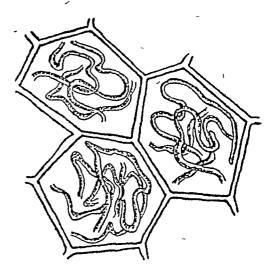
चि० ११—ब
(Endotrophic mycorrhiza)
यहाँ फंगस की हाइफी

लैपविंग अपने अण्डे को से रही है।

चित्र में बायीं ओर दिखलाया गया है कि किस प्रकार अण्डे न्यूनतम जगह में सँजोकर रखे जाते हैं। उनका सँकरा सिरा भीतर की ओर रहता है। दाहिनी ओर वे ही चार अण्डे इस प्रकार रखे गये हैं कि उनका चौड़ा सिरा भीतर की ओर है। चित्र से ही स्पष्ट है कि वे पहले की अपेक्षा अब ज़्यादा जगह घेर रहे हैं।

इन्द्रधनुष के विविध चटकीले रंगों से सुशोभित मोर के पंख को देखकर किसका चित्त लुभा नहीं जाता?

भारतीय तथा विदेशी पक्षी (१)

आकाश की दुनिया में स्वच्छन्दतापूर्वक विचरनेवाले पक्षीगण इस सृष्टि का केवल सौन्दर्य ही नहीं बढ़ाते, वरन् अनेक क्षेत्रों में मनुष्य के लिए वे परम उपयोगी भी साबित होते हैं—इस लेख में इसी प्रकार के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत तथा आगेवाले लेख में आप ऐसे कुतूहलपूर्ण प्राणी के बारे में पढ़ेंगे, जिसने वायु को अपना घर बना लिया है। इनमें से अनेक के साहचर्य्य से इतना उत्कृष्ट और ताजगी से भरा उल्लास प्राप्त होता है, जितना अन्य किसी साधन से मनुष्य को प्राप्त नहीं हो सकता। कौन-सा ऐसा कवि है जो पक्षियों के मधुर सगीत तथा उनके रग-बिरगे परिधान से प्रभावित न हुआ हो? कितने ही कलाकारों ने पक्षियों के जीवन के चित्रों का सोल्लास-हृदय से निर्माण किया है।

केवल वे ही व्यक्ति जो पक्षियों की मनोरमता के घनिष्ट सम्पर्क में आ चुके हैं, इस बात को अच्छी तरह समझ सकते हैं कि पक्षियों के बारे में जानकारी हासिल करने से हमारे जीवन की सरसता और उल्लास कितना बढ़ सकता है। इनके निरीक्षण तथा उनकी सगीत-सुधा के पान में हमे जो आनन्द प्राप्त होता है, वह आधुनिक युग के थियेटर, सिनेमावाले बासी और रूढ़िगत आमोद-प्रमोद की अपेक्षा कहीं अधिक शुद्ध और स्थायी है।

पक्षी-अनुराग से उत्पन्न हुआ आह्लाद तथा उनका सौन्दर्य ये दोनों ही वर्णनातीत हैं—

चक्रवाक बक खग समुदाई। देखत बनइ बरनि नहिं जाई॥
सुन्दर खगगन गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत बोलाई॥
—तुलसीदास

पक्षियों के सौन्दर्य का वर्णन कवि की प्रकृति के अनुसार भिन्न होगा ही।

ग्रन्थकार, कवि और लेखकों ने हर देश में और हर भाषा में अपने-अपने दृष्टिकोण से पक्षियों के बारे में लिखा है तथा कविताएँ बनाई हैं। "कई अवसरों पर पक्षियों के अवलोकन ने मेरे अन्दर एक सान्त्वनापूर्ण और प्रशान्त उत्साह की प्रेरणा की है।" भारतीय पक्षियों के सुप्रसिद्ध लेखक मि० डगलस डेवार एक स्थान पर कहते, "किन्तु परिन्दों से जो मुझे आनन्द प्राप्त होता है वह अपेक्षाकृत अधिक उल्लास-मय है, इसमें ताज़गी की पुट भी अधिक है जो प्राय परिहास और विनोद की भावना में परिणत हो जाती है। इसका श्रेय विशेषतया भारतीय पक्षियों को प्राप्त है। भारत के कौओं की चुहल-पहल को आध घण्टे तक देखने के उपरान्त भी यदि किसी व्यक्ति को विनोद न प्राप्त हो, अवश्य उसे ६ महीने के लिए पागलखाने में भरती हो जाना चाहिए।"

तुलसीदासजी रामायण में कहते हैं—

बिकसे सरसिज नाना रगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृङ्गा॥
बोलत जल कुक्कुट कलहंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रससा॥

फिर जनक की वाटिका में गौरीपूजन को जाती हुई सीता देखती हैं—

चातक कोकिल कीर-चकोरा। कूजत बिहग, नटत कल मोरा॥
मध्य बाग सरु सोह सुहावा। मनिसोपान विचित्र बनावा॥
विमल सलिलु, सरसिज बहुरगा। जलखग कूजत गूँजत भृङ्गा॥

साधारणतया पक्षी हमारे आस-पास के वातावरण और हमारी वाटिका का सौंदर्य बढ़ाते हैं। इनकी मन-मोहकता के पीछे इनकी चपलता, इनकी जागरूकता, इनका सौंदर्य तथा इनका लालित्य है। मिस्टर एफ़० डब्ल्यू० हेडले (F W. Headly) ने एक स्थान पर कहा था 'अन्य जीवों के मुक़ाबले में पक्षियों के अन्दर

सबसे अधिक जीवन भरा हुआ मालूम पड़ता है। एक लिहाज़ से पक्षियों को सृष्टि के समस्त जीवों में सर्वोपरि स्थान दिया जा सकता है। आकाशगामी होने के नाते स्थल जीवों के मुक़ाबले में पक्षियों को प्रधानता प्राप्त है। प्रकृति ने इन्हें दुहरी नियामत प्रदान कर रखी है।

पक्षियों की प्रमुख उपयोगिताएँ

सौन्दर्य और भावुकता के विचार से पक्षीगण अनुपम तो हैं ही, इनके अतिरिक्त आर्थिक दृष्टि से भी मनुष्य के लिए ये अत्यन्त उपयोगी हैं। अपने मधुर संगीत से वे हमारे हृदय को आह्लादित करते हैं और अपने चटकीले रंग और सौन्दर्य से हमारी इन्द्रियों को वे प्रफुल्लित करते हैं। कृषि में भी वे हमें सहायता पहुँचाते हैं तथा अन्य क्षेत्रों में भी वे हमारे लिए उपयोगी साबित होते हैं। अवश्य अनेक पक्षी ऐसे भी हैं जो अनाज और फल खाते हैं तथा उनसे हमें किसी प्रकार का लाभ नहीं पहुँचता। किन्तु इनमें से अनेक पक्षी ऐसे हैं जो अन्य तरीक़ों से हमें फायदा पहुँचाते हैं। सभी वैज्ञानिक इस बात से सहमत हैं कि समष्टि रूप से पक्षी की जाति मनुष्य के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

मनुष्य सोचता है कि वह सृष्टि का सर्वशक्तिमान प्राणी है, किन्तु सचमुच ऐसी बात है नहीं। सृष्टि का प्रभुत्व वास्तव में कीड़े-मकोड़े (insects) को प्राप्त है। मनुष्य ने सबसे ख़ूँख़ार स्तनपायी जीवों तथा सबसे घातक उरगमों (reptiles) को अपने क़ाबू में कर लिया है, किन्तु कीड़े-मकोड़ों के आक्रमण के सामने मनुष्य तथा उसकी कृतियाँ दोनों ही हार खा जाती हैं। किसे नहीं मालूम कि संसार के भिन्न-भिन्न देशों में टिड्डियों के उपद्रव अथवा पिस्सुओं द्वारा जनित प्लेग कितनी क्षति मनुष्य को पहुँचाता है? कीड़े-मकोड़ों की उत्पत्ति इतनी तीव्र गति से और प्रचुर मात्रा में होती है, और वे इतना अधिक खाते हैं कि यदि उन्हें तथा उनकी सन्तान को भक्षण करनेवाले पक्षी इस सृष्टि में न होते तो समस्त भूमिपटल के पेड़ पौधे कभी के साफ़ हो गये होते। अकेला एक उदाहरण पर्याप्त होगा—गणना करके देखा गया है कि आलू के कीड़े (potato bug) का एक जोड़ा यदि बिना किसी बाधा के सन्तानोत्पत्ति कर सका, तो अकेले एक ऋतु में उससे ६०,०००,००० कीड़े उत्पन्न हो जायँगे। इस गति से जिस कीड़े की संख्या बढ़ सकती हो, वे आलू की समूची फ़सल को ख़त्म करने में कितनी देर लगाएँगे? इसकी कल्पना आप स्वयं कर सकते हैं। एक केटरपिलर (caterpillar) दिन भर में अपनी तौल की तीन गुनी पत्तियाँ खा जाती है। केवल इस बात से ही आप इनकी सर्वभक्षी भूख की भीषणता का अन्दाज़ लगा सकते हैं। यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि इस हिसाब से यदि घोड़ा अपना रातिब खाने लगे, तो प्रति २४ घण्टे में उसे एक टन घास खानी पड़ेगी। रेशम का कीड़ा ५६ दिनों में जितनी पत्तियाँ खा जाता है, उसका वजन कीड़े के अण्डे में से निकलने के समय के वज़न का ८६००० गुना होता है। १०० अण्डों में से यदि एक में से भी कीड़ा निकलकर बड़ा हुआ तो भी ये कीड़े वनस्पति के लिए महाविनष्टकारी साबित होंगे।

फिर इन सर्वभक्षी कीड़ों को पृथ्वीतल पर अपरिमित संख्या में बढ़ने तथा अन्य जीवों की समग्र खाद्य-सामग्री को चट कर जाने से कौन बचाता है? यह मनुष्य के बस की बात नहीं है। उसने अनेक तरकीबों से अपने फार्म के खेत तथा बाग-बग़ीचों को इनके विनष्टकारी प्रभाव से बहुत कुछ अंशों में सुरक्षित बना रक्खा है, किन्तु बाहर के खुले खेतों और वनों में उसका कोई बस नहीं चलता—कीड़े-मकोड़ों के किसी भयानक आक्रमण के समय युद्ध के मैदान से भागे हुए भयभीत व्यक्ति की तरह उसे भी वहाँ से भागना ही पड़ता है। न कोई बीमारी, मौसम, अन्य कीड़े या न कोई जानवर ही हमें इस विपदा से त्राण दिला सकते हैं। सारांश यह कि कीड़ों के उपद्रव को रोकने में हम नितान्त असमर्थ हैं। फिर वह कौन-सी शक्ति है जो इस विपदा से हमारी रक्षा करती है? ये ही पक्षी—पक्षीगण जिनकी ख़ुराक के प्रधान अंश कीड़े-मकोड़े होते हैं, प्रकृति में कीड़े मकोड़ों की संख्या का समतुलन स्थिर रखते हैं। इस बात के अनेक उदाहरण मौजूद हैं कि पक्षियों के उन्मूलन के कारण कितनी भयकर व्याधियों का सामना अनेक देशों को करना पड़ा। स्थानाभाव के कारण उनका ज़िक्र करना यहाँ सम्भव नहीं है। किन्तु फल उगानेवाले ग़रीब कृषक यदि इन परिन्दे शुभचिन्तकों की सेवाओं से वंचित कर दिये जायँ तो उन पर क्या बीतेगी, इसका दृष्टांत हमें फ्रेडरिक दी-ग्रेट की घटना से मिलता है। उसकी चेरी (cherry) के कुछ फलों पर गौरैय्ये ने चोंच मार दिया था, बस आपे से बाहर होकर फ्रेडरिक ने फरमान निकाला कि जहाँ कहीं भी छोटी चिड़ियाँ मिलें, उन्हें मार डाला जाय। दो साल के भीतर चेरी के वृक्ष यद्यपि वे फलों से सर्वथा रहित थे, केटरपिलर (कोषकृमि) की बाढ़ से ढक गये। पक्षियों को यदि

नेस्तनाबूद कर दिया जाय तो निस्संदेह ठीक यही हाल हमारे अमरूद, आम तथा खट्टे रसवाले वृक्षों का होगा।

उपयोगी पक्षियों के विभिन्न समूह

ऊपर हमने उन पक्षियों का ज़िक्र किया जो कीड़े-मकोड़े खाते हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य कई श्रेणी ऐसी पक्षियों की हैं जो नन्हें-नन्हें घास के बीज या दंशक (rodent) को खाते हैं या वे शिकार के काम आते हैं अथवा गन्दगी और गलीज़ को साफ करते हैं। हम इनमें से प्रत्येक श्रेणी के पक्षी का तथा उनकी जीवनचर्य्या का अध्ययन करेंगे।

१. कीड़े-मकोड़े खाने वाले पक्षी—मिट्टी में रहनेवाले श्वेत कृमियों से लेकर जो पौधों की जड़ें काटते रहते हैं, वृक्ष के शिखर पर पाये जानेवाले पतिंगों तक, सहस्रों प्रकार के शत्रुवत् कीड़े-मकोड़े इस भूमण्डल पर पाये जाते हैं जो निरन्तर फसल, वृक्ष और बाग़-बग़ीचों को नष्ट करने का प्रयत्न करते रहते हैं। हर श्रेणी के कीड़े के लिए प्रकृति ने विशेष जाति के पक्षी बनाये हैं जो उनकी विनष्टकारी बाढ़ को रोकते हैं। दीर्घचंचु कठफोड़े फुलफुली मिट्टी में इन कीड़े-मकोड़ों की तलाश किया करते हैं, लवा तथा गौरैय्या सूखी पत्तियों और घास को कुरेदा करते हैं, रेन् (wren) और वार्बलर (warbler) झाड़-झंखाड़ की नित्य तलाशी लिया करते हैं, कठफोड़े की जाति का एक दूसरा पक्षी नटहैचर (nut hatcher) वृक्षों की छालों की जाँच करता रहता है, कठफोड़े वृक्ष की छालों में सूराख़ करने का प्रयत्न करते हैं और अबाबील और मक्खी-भक्षी पक्षी स्वय वायु को कीड़े-मकोड़ों से शुद्ध रखते हैं। कीड़े-मकोड़े-भक्षी पक्षियों की सख्या

कीड़े-मकोड़े-भक्षी चिड़ियों का समूह
कीड़े-मकड़ों के ख़िलाफ़ निरन्तर चलनेवाले जद्दोजहद में मनुष्य के सबसे बड़े सहायक इस श्रेणी के पक्षी हैं।

जहाँ अधिक होती है वहाँ विरले ही भाग्यशाली कीड़े की जान बच पाती है, किन्तु जहाँ चिड़ियों की कमी है वहाँ विरले ही पौधों के भाग्य इतने प्रबल होते हैं कि वे अपनी जीवनलीला निर्विघ्न समाप्त कर सकें। कनाडा और अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र ने बहुत दिनों पहले ही कीड़े-भक्षी पक्षियों को प्रोत्साहन देने की जरूरत महसूस कर ली थी, अतः उनकी पूर्ण रक्षा के लिए राज्य की ओर से कड़े क़ानून बन गये हैं। हमारे देश में शिकार की तथा अन्य चिड़ियों के मारने का केवल उनके सद्वासकाल में ही निषेध है।

२. घासपात के बीज खानेवाले पक्षी—इस द्वितीय श्रेणी में वे पक्षी आते हैं जिन्हें अपनी ख़ुराक का समूचा या आंशिक भाग घासपात के बीजों से प्राप्त होता है। विभिन्न जाति के गौरैय्ये, बटेर, और साधारणतः शिकार के सभी पक्षी इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं। कदाचित् शिकार के तमाम पक्षियों में बटेर घासपात को नष्ट करने में अग्रगण्य है। न्यूयार्क की रियासत में हर जाड़े की ऋतु में घास के बीज जो वृक्षोंवाले गौरैय्ये खा डालते हैं उसका मित तख़मीना ६०० टन से भी अधिक लगाया गया है। जब किसी कारण से बीज-भक्षी पक्षियों की एक बड़ी संख्या किसी छोटे प्रदेश पर अपनी खाद्य सामग्री के लिए आकर जुट जाती है, तो अवश्य वहाँ की कृषि पर अत्यन्त लाभदायक प्रभाव पड़ता है। किन्तु समूचे देश के खेतों को घासपात से मुक्त करने के लिए मौजूदा संख्या के पाँच गुने पक्षियों की आवश्यकता होगी।

३. वे पक्षी जो नन्हें दंशकों (rodents) का भक्षण करते हैं—चूहे, गिलहरी आदि दंशकों की विनष्टकारी प्रवृत्तियाँ संसार के विभिन्न देशों में सब कहीं लगभग एक-सी हैं। खेत की खड़ी फ़सल, या खलिहान के अनाज, आलू, शकरक़न्द की जाति के मूलक पौधों को जब कि वे उग रहे हों या ज़मीन पर इकट्ठे किये गये हों, फल के बग़ीचे और जंगल के वृक्ष, ज़मीन के अन्दर उपजनेवाले फल तथा फूल और तरकारी के बग़ीचों, सभी को ये अपरिमित क्षति पहुँचाते हैं। कुछ दंशक तो बीमारियों के फैलाने के प्रधान साधन हैं। ये नन्हीं जाति के दंशक साल में पाँच-सात बार बच्चे देते हैं, और हर बार ५ से लेकर १० बच्चे पैदा होते हैं। यदि तमाम बच्चे जिन्दा रहें, तो इस रफ़्तार से ३ वर्ष में अकेले एक जोड़े चूहे से ३० लाख से भी अधिक सन्तानें उत्पन्न हो जायँगी। इनकी संख्या को कम रखने का मानों उत्तरदायित्व कुछ पक्षियों को सिपुर्द है। इस क्षेत्र में बाज़ और उल्लू हमारे प्रमुख सहायक हैं। इन दोनों जाति के पक्षियों के बच्चों का घोंसले के अन्दर काफ़ी दिनों तक पालन पोषण करना होता है और इस दर्मियान उनके लिए प्रचुर मात्रा में खाद्य सामग्री जुटानी होती है। १८३० की ग्रीष्म ऋतु में एक खण्डहर में अकेले एक जोड़े उल्लू ने चूहों की ४५४ खोपड़ियाँ अपने घोंसले में रख छोड़ी थीं। उल्लू की कुछ जातियाँ समय-समय पर झुण्ड में उड़कर ऐसे स्थानों पर जाती हैं जहाँ चुहियों की संख्या विशेष रूप से बढ़ गयी होती है, और ये वहाँ पर उस वक़्त तक अपने शिकार का काम जारी रखते हैं जब तक कि चुहियों की संख्या पुनः औसत पर नहीं पहुँच आती। बड़े साइज का सींगदार उल्लू तथा दो या तीन जाति के बाज नियमित रूप से छोटी चिड़ियों और मुर्गी तथा कबूतर के बच्चों का शिकार करते हैं—इस लिहाज़ से ये हमें हानि भी पहुँचाते हैं। अतः इस श्रेणी के पक्षियों को नष्ट करने के पहले उनकी आदतों के बारे में हमें पूरी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये—क्योंकि दो-चार मुर्ग़ियों तथा कबूतरों का नष्ट होना उतना बुरा नहीं है जितना खेत में चूहों और गिलहरियों की अपरिमित बाढ़ का नियमित रूप से पैदा होते रहना। हेय की दृष्टि से देखा जानेवाला उल्लू भी उपयोगिता से खाली नहीं है।

चुहियों के भक्षक उल्लू

४—पक्षी जो शिकार के काम आते हैं—हमारे देश में लोग विभिन्न जाति की बत्तखों का जो जाड़े के दिनों में

यहाँ उतरती हैं, बन्दूक़ से शिकार कर उन्हें खाते हैं। किन्तु यहाँ शिकार के कुछ पक्षी बारहो महीने पाये जाते है—उदाहरणार्थ, जंगली कबूतर (fowl) कठफोड़े, लवा तथा पोरट्रिज (partridges)। यद्यपि पाश्चात्य देशों की तुलना में भारत में मांसाहारियों की संख्या कम है, किन्तु फिर भी प्रति वर्ष शिकार के पक्षियों की संख्या घटती जा रही है। अमेरिका में, जहाँ अकेले न्यूयार्क रियासत में प्रति वर्ष शिकारी बन्दूकों के ५ लाख लाइसेन्स पास किये जाते हैं, राज्य के अधिकारियों तथा जीव विज्ञानियों, दोनों ही के सामने भारी समस्या है कि शिकार के पक्षियों की संख्या को घटने से कैसे बचायें। संसार के अन्य कई भागों में शिकार के पक्षियों की भारी कमी अभी पैदा हो गयी है। शिकारियों, पेशेवर बहेलियों, तथा फर और पंख के फौजी एजेन्टों ने लाखों की संख्या में इन पक्षियों की जानें ली हैं, फलस्वरूप प्राक्-सभ्यता के वे दिन अब बाक़ी न रहे जब कि प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का इतमीनान रहता था कि उसे अपने बन्दूक़ के बल पर खाने के लिए शिकार के पक्षियों की कभी कमी नहीं हो सकती। इस प्रकार गत ५० वर्षों के बीच जंगली पक्षियों का महत्त्व खाद्य द्रव्य की दृष्टि से क्रमशः गिरता ही गया है। कहा जाता है कि ५० वर्ष पहले उत्तर अमेरिका में जंगली बत्तख़ों की संख्या अगणित थी, किन्तु अब हडसन खाड़ी के तट पर इनकी संख्या इतनी कम हो गयी है कि वहाँ के निवासियों को जाड़े में मुश्किल से खाने भर को बत्तखें मिल पाती हैं।

५—वे पक्षी जो भंगी-मेहतर का काम करते हैं—पाँचवीं श्रेणी उन पक्षियों की है जो हमारे आस-पास के कूड़ा-कर्कट और ग़लीज को साफ करते हैं। इस सिलसिले में गिद्ध तथा चील्ह की कुछ जातियाँ विशेष उपयोगी हैं। राजगिद्ध को सभी जानते हैं—बड़े गिद्ध तो जानवरों के मृत-शरीर को भी चट कर जाते हैं। मरे हुए साँप भी इनकी दृष्टि से बचने नहीं पाते। कहा जाता है कि अपनी तीव्र घ्राण-शक्ति की सहायता से ये दृष्टि से परे मृत शरीर का भी दूर से ही पता लगा लेते हैं। बगुले की जाति के पक्षी (Gulls) और जंगली कौए भी मृत शरीर की सड़न से वायु को मुक्त रखते हैं। मरी हुई मछलियों को, जो पानी में उतराती रहती हैं, बगुले खा जाते हैं, इस प्रकार समुद्र-तट, नदी और तालाब को ये गन्दगी से बचाते हैं।

ग्रीफन गिद्ध

दक्षिण युरूप में यह पक्षी बहुतायत से पाया जाता है। इसकी खाने की क्षमता अद्भुत है। कई दिनों तक यह भूखा रह सकता है, या फिर जब सामने सड़ा-गला मुर्दा दीखा तो यह बेहद ठूँस-ठूसकर खा सकता है। इस प्रकार आकस्मिक महामारी आदि में भी यह मेहतर का काम पूरी तौर पर अंजाम देता है।

६—वे पक्षी जो संदेशवाहक का काम करते हैं—उपर्युक्त कामों से सर्वथा भिन्न उपयोग—संदेशवाहक का काम भी कुछ पक्षियों से लिया जाता है। विशेषतया युद्धकाल में तो इस उपयोगिता को बहुत बड़ा महत्त्व मिला है। रेडियो और तार के इस युग में भी कबूतरों को एक स्थान से दूसरे स्थान को संदेश ले जाने की शिक्षा दी जाती है। ये 'संदेशवाहक कबूतर' (Carrier pigeons) के नाम से पुकारे जाते हैं। शत्रु-सेना से घिरे हुए नगर या फौजी दस्तों से या उन तक महत्त्वपूर्ण संदेश या आशा के समाचार ऐसी हालत में इन परिन्दे सेवकों ने पहुँचाए हैं जब कि अन्य किसी वसीले से ख़बरें आ-जा नहीं सकती थीं। और इस तरह लम्बे फासले को पार कर बिना किसी प्रकार की भूल किये हुए अपने विशेष दिशा-ज्ञान (जिसे हम छठी इन्द्रिय कह सकते हैं और जिससे
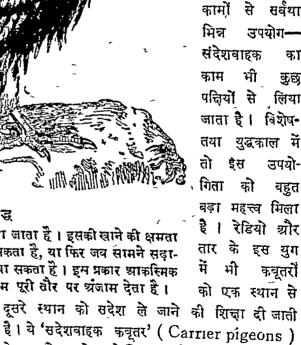
हम मानव-गण वञ्चित रखे गये हैं। की मदद से अपने शरीर से बँधे हुए समाचार को ठीक पते पर पहुँचा कर इन्हों ने महत्त्वपूर्ण सेवाएँ की हैं।

वानर-भक्षी गृद्ध

यह छोटी जाति के बन्दरों को खाकर अपना उदर पोषण करता है।

आइए अब हम पक्षियों के जीवन के अन्य पहलुओं पर दृष्टि डालें। आठवें अङ्क में हमने उनकी आश्चर्यजनक लम्बी यात्राओं का विवरण पढ़ा है, तथा चौदहवें अङ्क में हमने यह भी देखा कि घोंसला बनाने में स्थापत्यकला सम्बन्धी निपुणता का भी प्रचुर मात्रा में ये प्रदर्शन करते हैं।

पक्षी के घोंसले से अधिक मनमोहक अन्य कोई शिशु-गृह नहीं मिल सकता। आपने पक्षियों के घोंसले अवश्य देखे होंगे, साथ ही आपने उनमें अन्दर के स्थिर या झूलनेवाले पालने को, जिसमें वे अपने बहुमूल्य अण्डे रखते हैं, देखकर आश्चर्य भी किया होगा। ये घोंसले साफ़-सुथरे और सुन्दर होते हैं। अनेक घोंसले उन चीजों से तैयार किये जाते हैं जो पास पड़ोस में लभ्य होते हैं। कभी-कभी इसका विचित्र नतीजा निकलता है। सम्भवत आपने उस चिड़िये के बारे में सुना होगा जिसने एक गिर्जेघर के समीप, जिसमें थोड़े ही दिन हुए एक नव-दम्पति का विवाह हुआ था, अपने घोंसले का निर्माण किया था। नज़दीक ज़मीन पर पड़े हुए कागज़ के अनेक रंग-बिरंगे टुकड़ों को उठाकर उन्हीं से उसने अपना घोंसला बना लिया। वह बेचारी कभी समझ न सकी, कि उस साल लोगों ने जब उसके घोंसले को देखा तो क्यों वे देर तक उसे घूरते रहे थे।

पक्षियों के घोंसले इस बात को साबित करते हैं कि जानवरों की भाँति पक्षी भी अपनी सन्तान की हद दर्जे की परवा और रक्षा करते हैं। बिना किसी हथियार के, बिना हाथों की मदद के, केवल चोंच की सहायता से, पालनानुमा या झूलनेवाले बया का घोंसला ये तैयार कर लेते हैं। किन्तु सभी पक्षी अपने शिशुगृहों के निर्माण में समान मात्रा में परिश्रम नहीं करते और न एक-सी परवा ही दिखलाते हैं। समुद्र के पक्षी जो दुर्गम और निर्जन चट्टानों पर अण्डे देते हैं, घोंसले के निर्माण में अपनी शक्ति व्यर्थ नहीं खोते और न एक साथ वे ढेर से अण्डे ही देते हैं। पेन्गुइन, पफिन (puffin), ऑक (auk), पेट्रेल (petrel) तथा समुद्र-तट की चट्टानों पर रहनेवाले अन्य पक्षी एक बार में एक ही अण्डे देते हैं और उसे भी वे खुले हुए स्थान पर छोड़ देते हैं। ऐसा करना ठीक भी है क्योंकि शायद ही कभी इनके बच्चों को कोई हानि पहुँचती है। साथ के चित्र में दिखलाये गये जलपक्षी ग्रेब (grebe) का घोंसला सूखे हुए नरकुल का बना हुआ एक छोटा-सा बेड़ा होता है जो पानी पर तैरा करता है। इस बेड़े का मध्य भाग गहरा बना होता है, जिसमें अण्डे रखे जा सकते हैं।

ग्रेब का तैरता हुआ घोंसला

ग्रेब का घोंसला नरकुलों का बना हुआ बेड़ा होता है।

मनुष्य की कहानी

हम मानव-गण रक्षित रखे गये हैं। की मदद से अपने शरीर से बँधे हुए समाचार को ठीक पते पर पहुँचा कर इन्होंने महत्त्वपूर्ण सेवाएँ की हैं।

वानर-भक्षी गृद्ध
यह छोटी जाति के बन्दरों को खाकर अपना उदर पोषण करता है।

आइए अब हम पक्षियों के जीवन के अन्य पहलुओं पर दृष्टि डालें। आठवें अंक में हमने उनकी आश्चर्यजनक लम्बी यात्राओं का विवरण पढ़ा है, तथा चौदहवें अंक में हमने यह भी देखा कि घोंसला बनाने में स्थापत्यकला सम्बन्धी निपुणता का भी प्रचुर मात्रा में ये प्रदर्शन करते हैं।

पक्षी के घोंसले से अधिक मनमोहक अन्य कोई शिशु-गृह नहीं मिल सकता। आपने पक्षियों के घोंसले अवश्य देखे होंगे, साथ ही आपने उनमें अन्दर के स्थिर या झूलनेवाले पालने को, जिसमें वे अपने बहुमूल्य अण्डे रखते हैं, देखकर आश्चर्य भी किया होगा। ये घोंसले साफ़-सुथरे और सुन्दर होते हैं। अनेक घोंसले उन चीज़ों से तैयार किये जाते हैं जो पास पड़ोस में लभ्य होती हैं। कभी-कभी इसका विचित्र नतीजा निकलता है। सम्भवत आपने उस चिड़िये के बारे में सुना होगा जिसने एक गिर्जेघर के समीप, जिसमें थोड़े ही दिन हुए एक नव-दम्पति का विवाह हुआ था, अपने घोंसले का निर्माण किया था। नजदीक जमीन पर पड़े हुए कागज़ के अनेक रंग-बिरंगे टुकड़ों को उठाकर उन्हीं से उसने अपना घोंसला बना लिया। वह बेचारी कभी समझ न सकी, कि उस साल लोगों ने जब उसके घोंसले को देखा तो क्यों वे देर तक उसे घूरते रहे थे।

पक्षियों के घोंसले इस बात को साबित करते हैं कि जानवरों की भाँति पक्षी भी अपनी सन्तान की हद दर्जे की परवा और रक्षा करते हैं। बिना किसी हथियार के, बिना हाथों की मदद के, केवल चोंच की सहायता से, पालनानुमा या झूलनेवाले बया का घोंसला ये तैयार कर लेते हैं। किन्तु सभी पक्षी अपने शिशुगृहों के निर्माण में समान मात्रा में परिश्रम नहीं करते और न एक-सी परवा ही दिखलाते हैं। समुद्र के पक्षी जो दुर्गम और निर्जन चट्टानों पर अण्डे देते हैं, घोंसले के निर्माण में अपनी शक्ति व्यर्थ नहीं खोते और न एक साथ ये ढेर से अण्डे ही देते हैं। पेन्गुइन, पफिन (puffin), ऑक (auk), पेट्रेल (petrel) तथा समुद्र तट की चट्टानों पर रहनेवाले अन्य पक्षी एक बार में एक ही अण्डे देते हैं और उसे भी वे खुले हुए स्थान पर छोड़ देते हैं। ऐसा करना ठीक भी है क्योंकि शायद ही कभी इनके बच्चों को कोई हानि पहुँचती है। साथ के चित्र में दिखलाये गये जलपक्षी ग्रेब (grebe) का घोंसला सूखे हुए नरकुल का बना हुआ एक छोटा-सा बेड़ा होता है जो पानी पर तैरा करता है। इस बेड़े का मध्य भाग गहरा बना होता है, जिसमें अण्डे रखे जा सकते हैं।

ग्रेब का तैरता हुआ घोंसला
ग्रेब का घोंसला नरकुलों का बना हुआ बेड़ा होता है।

मनुष्य की कहानी

स्वर यंत्र (लेरिंक्स)

टेंटुआ (ट्रेकिया)

फुफ्फुस के भीतर
वायुनलिकाएँ

फुफ्फुस की
ऊपरी सतह

महाप्राचीर परदा (डायफ्राम)

श्वासयंत्र के मुख्य अंग

फेफड़े में वायुकोषों के गुच्छे

इनकी पतली दीवालों में से होकर रक्त की दूषित गैस कार्बन-डाइऑक्साइड भीतर चली आती है, तथा ऑक्सीजन इन पतली दीवालों को भेदकर बाहर के रक्त से जा मिलता है।

हम श्वास क्यों और कैसे लेते हैं ?

यह तो आप जानते ही होंगे कि साँस फेफड़ों से ली जाती है। शायद इसका भी अनुभव आपको हो कि श्वास के भीतर जाने या बाहर आने में रुकावट आते ही प्राण संकट में पड़ जाते हैं। यदि कोई एक-दो मिनट भी टेंटुआ दबाये रहे तो दम घुटने लगता है। हमारी शरीररूपी अत्युत्तम मशीन वायु के अभाव में दो-चार मिनट से अधिक नहीं चल सकती। यही कारण है कि डूबने, गला घोंटने, दम घुटने और फाँसी पर लटका देने से मनुष्य कुछ मिनटों में ही प्राण-विसर्जन कर देता है। इससे यह स्पष्ट है कि शरीररूपी यंत्र में इस कार्य—श्वास निकालने और लेने का कितना विशाल महत्त्व है! उसे नियमित रूप से चलाने और खतरे से बचाये रखने की आवश्यकता के मूल्य को ठीक-ठीक आँकने के लिए यह आवश्यक है कि आप यह समझ लें कि जीवन-क्रिया को चालू रखने में उसका क्या स्थान है।

श्वास की आवश्यकता

पहले लेखों में हम बतला चुके हैं कि शरीर के तन्तुओं और कोषों को अपना काम करने, थकान मिटाने, टूट-फूट की पूर्ति करने और बढ़ने के लिए बल और शक्ति की आवश्यकता होती है। यह शक्ति उन्हें नाना प्रकार के भोजनों के पचने से रक्त के रूप में प्राप्त होती है। तन्तुओं और कोषों के लिए भोजन से भी आवश्यक वस्तु ओषजन गैस (ऑक्सीजन) है। यह ओषजन उन्हें श्वास द्वारा भीतर गई हुई हवा से ही प्राप्त होती है। जिस तरह आँतों में पची हुई भोजन-सामग्री को रक्त अपने में जज्ब कर शरीर के भिन्न भिन्न भागों में पहुँचा देता है, उसी प्रकार फेफड़ों की महीन-महीन झिल्लियों में प्रवाहित रक्त श्वास द्वारा भीतर जानेवाली स्वच्छ हवा से ओषजन लेकर समस्त शरीर में पहुँचा देता है।

इतना ही नहीं, शरीर में जितनी भी गतियाँ होती हैं, उनके कारण बहुत से ऐसे पदार्थ बनते हैं जो हानिकारक होते हैं, जिनका शरीर के बाहर निकल जाना ही अच्छा है। इसके लिए कई प्रबन्ध हैं। कुछ विकार पसीने, कुछ मल, कुछ मूत्र और कुछ श्वास द्वारा बाहर निकलते हैं। कोषों के टूटने-फूटने से और तन्तुओं में होनेवाली रासायनिक क्रियाओं से कार्बन-डाइ-ऑक्साइड नाम का दूषित पदार्थ अधिक बनता है। इसे बाहर निकालने का प्रबन्ध भी रक्त और श्वास द्वारा होता है। केशिकाओं की महीन दीवालों से छन-छनकर जो रक्त भिन्न-भिन्न कोषों में पहुँचता है, उससे उन्हें फेफड़ों में सोखा हुआ ओषजन मिल जाता है और दूषित कार्बन डाइ-ऑक्साइड जो उनमें बनती है, इस ओषजनविहीन रक्त में मिल जाता है। जब यह खून शरीर में चक्कर लगाता हुआ फिर फेफड़े में पहुँचता है तो अपने साथ लायी हुई हानिकारक गैस फेफड़े की झिल्ली द्वारा बाहर निकाल देता है और उसकी जगह शुद्ध करनेवाला ओषजन अपने में खींच लेता है। इसलिए श्वास द्वारा फेफड़ों में ये दोनों क्रियाएँ होती रहती हैं और इन दोनों ही को श्वासोच्छ्वासन क्रिया का नाम दिया गया है।

रात-दिन, जन्म से मृत्यु पर्यन्त हम श्वास-क्रिया निरन्तर जारी रखते हैं। श्वास की क्रिया के लिए ज़रूरी सामग्री हवा है। इसीलिए हवा श्वास द्वारा फेफड़ों में आती-जाती रहती है कि हमको ज़रूरी ओषजन बराबर मिलता रहे और बेकार कार्बन डाइऑक्साइड शरीर के बाहर निकलती रहे।

जीवित कोषों की सब जरूरतें एक सी ही नहीं हैं; उन्हें भोजन तो अवश्य ही मिलना चाहिये किन्तु यह ज़रूरी नहीं कि वह उन्हें लगातार मिला ही करे। वह तो अपने में थोडी बहुत सामग्री शक्कर, वसा या प्रत्यामिन के रूप में एकत्रित कर सकते हैं और अवसर पड़ने पर इन छोटे-मोटे शक्ति के भण्डारों से कुछ समय तक अपना काम चलाते हैं। यही कारण है कि मनुष्य बिना खाये भी

कई दिनों तक जीवित रह सकता है। यह भी कोई आवश्यक बात नहीं कि शरीर में बनी हुई बेकार वस्तुयें फुर्ती से उसके बाहर निकल जायँ। वे धीरे-धीरे और थोड़ी मात्रा ही में बना करती हैं। यदि शरीर में ये थोड़ी देर रुकी भी रहें तो हमें विशेष हानि नहीं होती, जैसे—मल-मूत्र। किन्तु ओषजन की आवश्यकता ऐसी नहीं है जो क्षण भर भी टाली जा सके। वह तो कोषों को निरन्तर ही प्राप्त होना चाहिये क्योंकि उनके पास इस गैस को बटोर रखने का कोई साधन नहीं है। तीन मिनट भी ओषजन न मिले तो वे सदा के लिए बेकार हो जाते हैं। इसीलिए श्वास का सदा चलते रहना ही जीवन का चिह्न है। श्वास रुकी तो प्राण गये।

श्वास यंत्र के अवयव

यह तो आप जानते ही होंगे कि श्वास लेने के प्रधान अंग दो फेफड़े हैं जो सीने के अन्दर का अधिक हिस्सा घेरे हुए हैं और पसलियों के भीतर भली भाँति सुरक्षित हैं। जिन मार्गों से होकर बाहरी हवा फेफड़ों तक आती-जाती है वे सब श्वास-मार्गों में गिने जाते हैं और उन सब अवयवों तथा फेफड़ों को मिलाकर उन्हें **श्वासोच्छ्वास संस्थान** कहा जाता है। इसके मुख्य भाग हैं, नासिका, कंठ, टेंटुआ वायु-प्रणालियाँ और फेफड़े।

फेफड़ों की रक्षक—नाक

नाक के छिद्रों या नथुनों में होकर हवा श्वास-मार्ग में प्रवेश करती है। स्मरण रहना चाहिये कि श्वास को अन्दर खींचने का अवयव नाक है, मुँह नहीं। आगे के नाजुक रास्ते में जाने से पहले नाक के भीतर वायु गर्म होती है, उसमें तरी आ जाती है और उससे धूलि-कण तथा रोगाणु छन जाते हैं। अगर श्वास-मार्ग सीधा और खुला होता तो हवा धूल और कीटाणुओं सहित सीधी फेफड़े में जा पहुँचती। किन्तु ऐसा नहीं है। नाक के भीतर एक बड़ी अनोखी घूमघुमैया बनी हुई है। हवा को इसी घूमघुमैया के संकीर्ण मार्ग से गुजरना पड़ता है। इस घूमघुमैया की दीवालें महीन कागजी हड्डियों की बनी होती हैं। इनके ऊपर जो खाल मढ़ी होती है उस पर झाड़ की सींकों के समान अनेकों छोटे-छोटे बाल उगे रहते हैं और यह खाल सदा तर रहती है। इसी वजह से नथुनों में उँगली डालने से वह सदा भीगी निकलती है। जिस तरह मक्खी मारनेवाले कागज पर मक्खियाँ चिपक जाती हैं उसी तरह धूल के कण और रोगों के कीटाणु टेढ़ी-मेढ़ी राहों में निकलते हुए नाक की भीगी श्लैष्मिक कला और बालों में चिपक जाते हैं और धीरे-धीरे नाक के बहने पर या बालों के हिलने से बाहर आ जाते हैं। नाक के पेचीदा पर्दों के पीछे गर्म खून प्रवाहित होता रहता है जिसके स्पर्श से हवा भी गर्म होती है।

मुँह से श्वास लेने पर हवा परिष्कृत नहीं हो पाती। इसलिए मुँह से श्वास लेना ठीक नहीं। जिन लोगों को इसकी आदत पड़ जाती है वे निचले श्वास-मार्ग के शीत रोगों से प्रायः पीड़ित रहा करते हैं किन्तु नाक से श्वास लेने में यदि ३२° फा० की ठंडी हवा भी अन्दर चली जाय तो भी उसे इस बात का डर नहीं रहेगा कि वह हवा उसके भीतर फेफड़ों में ठंडक पहुँचायेगी क्योंकि वह फेफड़ों में पहुँचते-पहुँचते उतनी ठंडी नहीं रह जाती। जितनी ही अधिक ठंडी हवा में श्वास लेते हैं, उतनी ही तेजी से गर्म करनेवाला रक्त नाक के पर्दों में दौड़ता है। जाँच से पता चलता है कि पानी जमा देनेवाली (३२° फा०) ठंडी हवा भी फेफड़ों में पहुँचने से पहले हलकी गर्मी के ऋतु की हवा के बराबर गर्म (८१° फा०) हो जाती है।

मुखकंठ या हलक़

नाक के बाद हवा का मार्ग एकदम नीचे की ओर मुड़कर नर्म तालू में कौये के पीछे हलक़ से जा मिलता है। इस चौड़े मार्ग में मुँह का मार्ग भी मिलता है। इसके बगल की दीवालों में कान के पिछले सूराख खुलते हैं और इसी के पेंदे में से दो रास्ते गले के भीतर जाते हैं। चित्र के देखने से आपको पता चल जायगा कि किस प्रकार गला इन दो मार्गों में बँटा हुआ है। सामने की ओर वायु-प्रणाली है जिसमें होकर हवा भीतर जाती है तथा पीछे की ओर अन्न-प्रणाली है जिसमें होकर भोजन मुख से आमाशय में पहुँचता है। वायु-प्रणाली के द्वार पर एक ढकना या फाटक लगा हुआ है जो स्वरयन्त्रच्छद कहलाता है। जब भोजन अन्न-प्रणाली में जाने को होता है तो यह ढकना बन्द हो जाता है किन्तु और समय वायु प्रणाली में हवा जाने के लिए यह खुला रहता है। शरीर के मुख्य फाटकों में से एक यह भी है। जब कभी यह अपने कर्त्तव्य से चूक जाता है तब पता चलता है कि उसकी विशेषता क्या है। ग्रास निगलने या घूँट भरने पर एकाएक जब बोलने या हँसने की इच्छा होती है तो मस्तिष्क से इस फाटक को दो हुक्म मिलते हैं—एक बन्द रहने के लिए जिससे ग्रास या घूँट गले के नीचे उतर जाय और दूसरा खुला रहने के लिए जिससे हँसी या बोली बाहर आ सके। वह बेचारा दुविधे में पड़ जाता है कि

क्या करें। इतने ही में खाने या पानी का एक अंश वायु-प्रणाली के ऊपरी हिस्से में जा पहुँचता है और हमको ठसा लग जाता है।

स्वर-यंत्र

गले से हवा स्वर यंत्र में आती है। स्वर-यत्र हवा की नली का ऊपरी भाग है जो अन्न प्रणाली के ठीक सामने स्वरयत्रच्छद के नीचे स्थित रहता है। इसी की सहायता से हम बोलते-चालते हैं। यह चबनी (उपस्थि) का बना हुआ छोटा-सा बक्स है जो गर्दन में सामने ऊपर से बीच में टटोलने से कड़ा मालूम होता है। जब हम कुछ निगलते हैं तो यह ऊपर को उठता और फिर नीचे को गिरता दिखलाई देता है। स्वर-यत्र की भीतरी तह से पीछे को जाते हुए श्लैष्मिक झिल्ली के दो परत होते हैं जो स्वररज्जु कहलाते हैं। दोनों रज्जु स्वर-यत्र के पीछे लगे रहते हैं और उनके बीच में एक पतली-सी दरार होती है। रज्जु शब्द उत्पन्न करते हैं। उनमें छोटी-छोटी मांस-पेशियाँ होती हैं जिनसे वे इच्छानुसार ढीले और कड़े किये जा सकते हैं और उनके बीच की दरार घटाई या बढ़ाई जा सकती है। जब सीने से हवा बीच की दरार से होकर बाहर निकलती है तो इन रज्जुओं के पतले किनारे बिना रोक टोक के हिलने लगते हैं। तेज़ आवाज़ निकालने में वे तनकर एक दूसरे के पास आ जाते हैं और तेजी से कम्पित होने लगते हैं। जब हम धीरे से बोलते हैं वे ढीले होकर दूर हो जाते हैं और धीरे-धीरे कम्पन करते हैं। स्वाभाविक रूप से धीमी साँस लेने पर उनकी दशा बीच की रहती है अर्थात् न तो वे बहुत तने ही रहते हैं और न बिल्कुल ढीले ही। इस अवस्था में उन पर हवा के आने-जाने का कोई असर नहीं होता। स्वर-यत्र का श्वासोच्छ्वासन-क्रिया से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। इसे तो प्रकृति ने हवा के मार्ग में रोने, बोलने, गाने का एक साधन बना दिया है।

टेंटुआ और वायु-प्रणालियाँ

स्वर-यत्र से नीचे को लगी हुई नली, जो गर्दन में सामने टटोलने से मालूम पड़ती है टेंटुआ नामक हवा की नली है। हवा स्वर-यंत्र से इसी में आती है। यह नली लगभग ४½ इंच लम्बी और १ इंच से कुछ कम मोटी होती है। यह नली बिल्कुल गोल नहीं होती। इसके सामने का भाग तो जरूर गोल होता है परन्तु पीछे का हिस्सा जो भोजन की नली से सटा रहता है, चपटा होता है। टेंटुये की दीवाल में चबनी के १६—२० तक लचीले छल्ले होते हैं जो पीछे की ओर आपस में जुड़ते नहीं हैं। ये टेंटुए की दीवालों को चिपक जाने से रोकते हैं। टेंटुआ सीने की हड्डी के पीछे पहुँचकर दो नलियों में बँट जाता है। दाहिनी नली दाहिने फेफड़े में और बायीं बायें में प्रवेश करती है। फेफड़े में घुसते ही प्रत्येक नली कई शाखाओं में बँट जाती है और प्रत्येक शाखा से और भी छोटी छोटी अनगिनत महीन शाखाएँ फूटती हैं। अन्त में हरएक छोटी शाखा फूलकर नन्हें-नन्हें महीन झिल्लीवाले अंगूर के से गुच्छों का रूप धारण कर लेती है। इन शाखाओं को ही श्वास-प्रणालिकाएँ और इन गुच्छों को

स्वर-यंत्र
स्वररज्जु जब ढीले रहते हैं तो हवा इनके बीच से होकर आसानी से गुज़रती है (१) आवाज़ नहीं उत्पन्न होती। तीव्रस्वर निकालने के लिए स्वररज्जुओं को तानना पड़ता है; जिस समय हवा इनके बीच से होकर गुज़रती है इन रज्जुओं में तेज़ कम्पन होने लगता है (२) और तीव्रस्वर के कम्पन उत्पन्न होते हैं। नं० ३ में गहरी साँस लेते समय इन रज्जुओं की दशा दिखलायी गयी है।

फेफड़े के वायु कोष या वायु की थैलियाँ कहते हैं।

टेंटुये और समस्त श्वास-प्रणालिकाओं में भीतर की ओर श्लैष्मिक कला की एक तह होती है जिसके ऊपर इतने छोटे-छोटे बाल हैं जो बिना शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के देखे नहीं जा सकते। श्वास की राह को साफ रखने के निमित्त ये ही प्राकृतिक साधन हैं। हवा के साथ जो धूल या अन्य बाहरी चीजों के कण इन बालों तक पहुँच जाते हैं उन्हें ये ही अपनी लहरानेवाली गति द्वारा बाहर निकाल देते हैं। ये रोएँ यदि गीले न रहें तो अपना काम नहीं कर सकते। इसलिए सम्पूर्ण श्वास मार्ग की श्लैष्मिक कला में छोटी-छोटी गुत्थियों के छिद्र मिलते हैं। इन नन्हे यन्त्रों से एक स्वच्छ चिपचिपा पदार्थ—श्लैष्म—सदा निकलता रहता है जो बालों पर बहकर उन्हे केवल भीगा ही नहीं रखता बल्कि उनमें अटकी हुई धूल-गर्द को बहाकर बाहर भी कर देता है।

फेफड़े

दोनों फेफड़े सीने के गड्ढे में दो थैलियों के समान लटके हुए हैं, किन्तु इनकी दीवालें थैलियों की भाँति सादी नहीं होतीं। उनके भीतर खाली जगह नहीं होती बल्कि सारे फेफड़े में उसी प्रकार नन्हें नन्हें वायु कोष भरे हुये हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसीलिए दबाने से ये स्पंज की तरह मुलायम मालूम होते हैं। हर फेफड़े पर एक पतली झिल्ली का आवरण चढ़ा रहता है। इसी प्रकार का आवरण सीने की भीतरी दीवाल पर भी चढ़ा रहता है। इन दोनों आवरणों को फुफ्फुसावरण कहते हैं। ये चिकने और चमकदार आवरण एक स्वच्छ लाख में भीगे रहते हैं जिससे श्वासोच्छ्वास क्रिया में उनमें रगड़ न लगे। फेफड़ों में हवा भरी रहने के कारण दोनों फुफ्फुसावरण एक दूसरे से सटे रहते हैं; किन्तु फुफ्फुसावरण प्रदाह (प्लूरिसी) का रोग हो जाने पर वे एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। जन्म से पहले फेफड़ों का रंग गहरा लाल और तुरन्त पैदा हुए बच्चे के फेफड़ों का रंग हलका लाल होता है किन्तु उसके बाद इनका रंग भूरा गुलाबी या कुछ नीलापन लिये हुए रहता है। उनके ऊपर गहरे धब्बे भी पड़े होते हैं। दोनों फेफड़ों का वजन १ सेर या १। सेर होता है। स्वस्थ अवस्था में वे इतने हलके होते हैं कि वे पानी पर तैर सकते हैं किन्तु रोग-ग्रस्त हो जाने पर या अन्दर की हवा निकल जाने के कारण वे पानी में नीचे बैठ जाते हैं।

सारे फेफड़े में अत्यन्त महीन झिल्लीवाले असंख्य वायु-कोषों के गुच्छे भरे रहते हैं। प्रत्येक कोष १/१० इंच लम्बा और १/१० इंच चौड़ा होता है और कहा जाता है कि दोनों फेफड़ों में उनकी संख्या कुल ६०-७० लाख होती है। श्वास लेने पर ये छोटी कोठरियाँ हवा से भर जाती हैं और श्वास निकालने पर सिकुड़ जाती हैं। इनकी दीवालें अत्यन्त महीन ही नहीं वरन् लचीली भी होती हैं और ये कोषों से बनती हैं। वायु-कोषों के बीच बीच में बाहरी ओर खून की महीन-महीन अनगिनत केशिकाओं का जाल फैला रहता है और कहीं-कहीं पर स्नायुसूत्र भी रहते हैं। इन केशिकाओं की दीवालें भी बहुत ही महीन होती हैं। उनमें प्रवाहित होनेवाले रक्त और वायु-कोष में भरी हुई हवा के बीच केवल उनकी अत्यन्त सूक्ष्म दीवालें ही हैं। ये इतनी पतली होती हैं कि बड़ी आसानी से वायु-कोष की वायु से ओषजन उनमें से होकर केशिकाओं के रक्त में जा मिलता है और बेकार कार्बन-डाइ-ऑक्साइड उसके बदले में रक्त से निकलकर वायु कोष की हवा में आ मिलती है। इस प्रकार फेफड़ों में बाहर से आया हुआ ओषजन रक्त में पहुँच जाता है, जिससे वह शुद्ध और लाल होकर फेफड़ों की शिराओं से बहता हुआ हृदय में पहुँच जाता है और वहाँ से सम्पूर्ण शरीर में बँट जाता है। उधर खून से निकलकर हवा में पहुँचा हुआ कार्बन डाइ-ऑक्साइड साँस के साथ बाहर फेंक दिया जाता है। इस प्रकार फेफड़ों में रक्त गैसों की बदला-बदली करता है और यही श्वासोच्छ्वास-क्रिया का मुख्य उद्देश्य है।

फेफड़ों में १ गैलन हवा और १½ गैलन खून एक दूसरे से मिलते हैं

मोटे तौर से हमारे शरीर में लगभग १½ गैलन या ६ बोतल अथवा ५½ सेर रक्त होता है और हमारे फेफड़ों में १ गैलन के क़रीब हवा होती है। गहरी से गहरी साँस लेने पर भी हम इतनी ही हवा खींच पाते हैं। पसलियों और सीने के बीच की कम से-कम जगह में इतने सारे रक्त और हवा को मिलाने की समस्या को प्रकृति ने किस प्रकार हल किया है वह हमारे शरीररूपी कल के सबसे बड़े अचम्भों में से एक है। सम्पूर्ण शरीर के रक्त-कणों के ओषजन सोखने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उनके ऊपर से होकर ओषजन-युक्त वायु गुजरे। अतः प्रत्येक कण हर मिनट में दो बार फेफड़े में पहुँचता है और मामूली तौर से साँस लेते हुए प्रति मिनट १५-१८ बार फेफड़ों में हवा जाती है। तेज साँस लेने में तो और भी जल्दी।
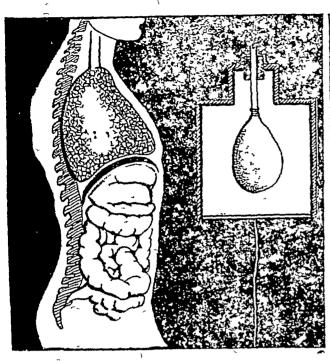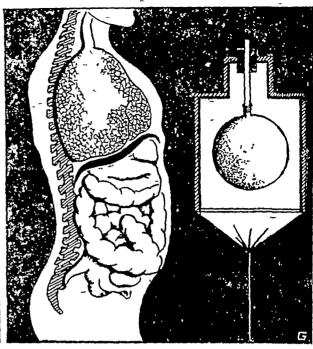
श्वास-प्रश्वास की क्रियाएँ

साधारण अवस्था में महाप्राचीर परदा मेहराव की तरह ऊपर उठा हुआ फेफड़ों को दवाए रखता है। श्वास खींचते समय मासपेशियों के सिकुड़ने से यह पर्दा नीचे को दवकर आँतों को ढकेलकर चिपटा हो जाता है, साथ ही पसलियाँ ऊपर सामने को उभरती हैं। सीना फैलने पर फेफड़ा भी फूल जाता है अतः वाहर से इसमें हवा प्रवेश कर जाती है (चित्र २)। श्वास निकलते समय इसी की ठीक विपरत क्रिया होती है।

बगल के चित्र में गुब्बारा दिखलाया गया है जो ठीक फेफड़े का अनुकरण करता है। नली में बँधा हुआ गुब्बारा एक बड़ी वोतल में रखा है जिसके पेंदे को हटाकर उसके स्थान पर रवड़ की झिल्ली लगा दी गयी है। झिल्ली को नीचे खींचने पर गुब्बारा फूलने लगता है, और उसे छोड़ देने पर झिल्ली को अपनी असली दशा पर पहुँचने के साथ ही गुब्बारा भी पिचक जाता है।

अतः प्रति मिनट सब रक्त पूरी तौर से एक या दो बार शुद्ध हो जाता है। इसी के लिए तो प्रकृति ने फेफड़ों में सहस्रों नन्हें-नन्हें वायु-कोषों में और टेढ़ी-मेढ़ी नलिकाओं में सैकड़ों गज लम्बी खाल भर दी है कि जिससे वहाँ पर भीतरी रक्त बाहरी हवा से थोड़ी ही सी जगह में मिल जाय।

फेफड़ों के क्षेत्रफल में लगभग ६० लाख वायु-कोष और हवा की महीन-महीन सहस्रों नलिकाएँ सम्मिलित हैं। हिसाव लगाया गया है कि यदि प्रत्येक वायु-कोष की झिल्ली फैला दी जाय और ये ६० लाख छोटे-छोटे टुकड़े वरावर-वरावर विछा दिये जायँ तो ३० फ़ीट लम्बे-चौड़े कमरे के फ़र्श को ढक लेंगे।

श्वास लेना और निकालना

अब हम साँस लेने और निकालने की क्रिया पर विचार करेंगे। श्वास की एक पूर्ण-क्रिया में एक बार हवा भीतर खींचना (उच्छ्वास) और एक बार हवा वाहर फेंकना (प्रश्वास) सम्मिलित हैं। जवान आदमी एक मिनट में १५-१६ वार साँस लेता है और औरत १८ वार किन्तु नवजात बालक ३० वार श्वास लेते हैं। यह तो आप जान ही गये हैं कि फेफड़ों की दीवालें नर्म झिल्ली की हैं। उनमें मासपेशियों की तरह स्वय सिकुड़ने और फैलने की शक्ति नहीं है तो फिर उनमें हवा कैसे जाती है! पसलियों के बीच के पुट्ठे और महाप्राचीर पेशी, जो मेहराव की तरह अपने बीच का हिस्सा ऊपर को उठाये हुए सीने को पेट के भाग से अलग करती है, इस काम में हमारी सहायता करती है। सीने की हड्डी और पसलियाँ मासपेशी द्वारा इस प्रकार एक दूसरे से जकड़ी हुई हैं कि वे एक दूसरे के ऊपर हरकत कर सकती

हैं और महाप्राचीर पेशी भी गति कर सकती हैं। जब हम भीतर साँस खींचना चाहते हैं तो पसलियों को बाहर की ओर फैलाते हैं जिससे छाती की समाई बढ़ जाती है। ज्यों-ज्यों पसलियाँ पेशियों के सिकुड़ने से ऊपर को उठती हैं छाती की हड्डी भी सामने की तरफ उठती है। इससे सीने की गहराई सामने से पीछे और दाहिने से बाएँ दोनों ओर बढ़ जाती है। महाप्राचीर पेशी का उठा हुआ हिस्सा उधर की ओर दबकर चपटा हो जाता है जिससे छाती के भीतर की जगह नीचे की ओर भी बढ़ जाती है। इन सब क्रियाओं से सीने की खाली जगह बढ़ जाती है और जैसे-जैसे वह फैलती है बाहर की हवा अपने दबाव से फेफड़ों में घुसती जाती है। हवा के थैले फैल जाते हैं और फेफड़े भी फूलकर कुछ बड़े हो जाते हैं। यही भीतर साँस लेने की रीति है। इसमें हमको कुछ प्रयत्न करना पड़ता है और मांसपेशियों से काम लेना पड़ता है।

श्वास बाहर निकालने अथवा प्रश्वास क्रिया में हमको कोई भी चेष्टा नहीं करना पड़ती क्योंकि सिकुड़ी हुई पेशियाँ जब साँस भीतर लेने के बाद ज्यों-की-त्यों होने लगती हैं तब फेफड़ों की लचीली दीवालें दबने लगती हैं उनके वायु-कोष छोटे हो जाते हैं और उनमें से कुछ हवा बाहर निकल जाती है, सीना और महाप्राचीर पेशी अपनी असली हालत में आ जाती हैं। पेट की दीवाल भी, जो साँस भीतर जाते समय ऊपर को उभरती है, साँस निकलने पर दब जाती है।

स्त्री, पुरुष और बालक एक ही प्रकार से साँस नहीं लेते

छोटे बच्चों में हवा सीने के अन्दर खासकर महाप्राचीर पेशी की गति द्वारा खिंचती है और इसीलिए उनका पेट ज्यादा उठता और दबता दिखलाई देता है। इस प्रकार साँस लेने को पेट से साँस लेना कहते हैं। स्त्रियों में ऊपरी पसलियों की चाल से अधिक काम लिया जाता है कि जिससे महाप्राचीर पेशी को बहुत सहायता मिलती है। इस रीति से साँस लेना सीने से साँस लेना कहलाता है। स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा वक्षस्थल की मांसपेशियों से अधिक काम लेती हैं और महाप्राचीर पेशी से कम। इसका भी कारण है। यदि बच्चों की तरह उनकी भी आदत पेट से ही साँस लेने की होती तो उन्हें अपने जीवन के एक नाजुक समय में महाप्राचीर पेशी का दबाव गर्भ पर पड़ने से अधिक कष्ट होता। पुरुषों में महाप्राचीर पेशी और नीचे की पसलियों का प्रयोग ही अधिक होता है। उनके साँस लेने का तरीका बच्चों और स्त्रियों के बीच का है।

हम कैसे खांसते, हँसते और रोते हैं?

जब हवा की नली के ऊपरी भाग या कंठ में किसी कारण खराश या खुजली पड़ती है तो हम गहरी साँस लेते हैं। ऐसा होने पर हवा की नली का सूराख बन्द हो जाता है और फिर हवा के तेज झोंकों द्वारा एकदम खुल जाता है तथा यह हवा झटके के साथ मुँह से होकर बाहर निकल जाती है। इसी को हम खाँसना कहते हैं। यह इसीलिए होता है कि खुजली या खराश पैदा करनेवाली वस्तु अलग होकर हवा की झपट में बाहर निकल जाय।

छींक और खाँसी में केवल भेद यही है कि छींक में सरसराहट या खराश गले की अपेक्षा नथुनों या आँखों में अधिक होती है और हवा भी नथुनों से ही निकलती है मुँह से नहीं। सिर में सर्दी लग जाने पर या जुकाम हो जाने से नाक की भीतरी झिल्ली सूज जाती है और उस पर ठंडी हवा लगने से ही बार-बार छींकें आती हैं। आँखें उठ आने पर या आँखों पर रोशनी पड़ने से भी छींकें आने लगती हैं। इस अवस्था में रोगी अपनी आँखें अधिकतर बन्द ही रखता है; किन्तु कभी-कभी जब वह उन्हें खोलने का प्रयत्न करता है, छींक आ जाती है।

जमुहाई लेने में हम बहुत गहरी साँस खींचते हैं और साथ-साथ नीचे के जबड़े को गिराते हैं जिससे मुँह खूब खुला रहे।

छोटी और जल्दी-जल्दी साँस निकालने से हँसी आने लगती है। जब हम हँसते हैं तो पहले लम्बी साँस लेते हैं और फिर जल्दी जल्दी झटके के साथ साँस बाहर फेंकते हैं। इससे स्वर-रज्जु कम्पित होकर हँसी की आवाज उत्पन्न करता है। हँसने पर चेहरे पर अपनी अनोखी गति होती है।

रोना भी इसी प्रकार की क्रिया है लेकिन उसमें चेहरे की गति भिन्न होती है।

सिसकने में हम छोटी-छोटी काँपनेवाली साँसें लगातार भीतर खींचते हैं।

हिचकी एक प्रकार का अचानक भीतर साँस लेना है जो हवा की नली के द्वार के बन्द हो जाने से एकदम रुक जाती है। हिचकी में जो आवाज़ सुनाई देती है वह भीतर जानेवाली हवा के बन्द द्वार पर टकराने से पैदा होती है। हिचकी उस नाड़ी की शाखाओं की उत्तेजना से आती है जो आमाशय में समाप्त होती है।

नल में पानी कहाँ से आता है ?

वायु की भाँति पानी भी मनुष्य की एक अनिवार्य आवश्यकता है। प्राचीन काल में जब मानव-समाज अपनी शैशवावस्था में से होकर गुज़र रहा था, लोग पहाड़ी झरनों, तालाबों तथा नदी के समीप अपने घर बनाया करते थे ताकि पानी उन्हें प्रचुर मात्रा में लभ्य हो सके। मध्य एशिया की अनेक अर्द्धसभ्य जातियाँ प्रति वर्ष एक स्थान से दूसरे स्थान को पानी की खोज में आज दिन भी अपना डेरा-डण्डा उठाकर जाया करती हैं।

किन्तु विज्ञान की सहायता से मनुष्य ने अपनी जल-सम्बन्धी समस्या को भी बख़ूबी हल कर लिया है। पानी की खोज में उसे अब एक जगह से उठकर दूसरी जगह जाना नहीं पड़ता। उसने सैकड़ों कोस की दूरी से अपने लिए पानी मँगाया है—कहीं-कहीं वह पाताल तोड़कर पम्प की सहायता से अपने लिए पानी खींच लेता है। प्राय बीच नदी में बाँध डालकर वह नदी के जल को रोककर झील बना लेता है और इसी कृत्रिम झील से समूचे नगर में बारहो महीने पानी पहुँचता रहता है।

देहात में हर दो-दो तीन-तीन घर पीछे एक कुआँ खोद लेते हैं और देहातवालों की पानी सम्बन्धी सभी आवश्यकताएँ इन्हीं कुओं से पूरी हो जाती हैं। किन्तु शहरों में घनी आबादी के कारण प्रति दो-दो तीन तीन घर पीछे कुएँ खोदे नहीं जा सकते। साथ ही शहर के भीतर यदि तीस-चालीस हज़ार कुएँ खोद भी लिये जायँ तो उनसे अधिक मात्रा में पानी मिल न सकेगा, क्योंकि पृथ्वी के भीतर सब ठौर आभ्यन्तरिक जल की मात्रा परिमित ही होती है। इसी कारण बड़े-बड़े नगरों में नगर-निवासियों की आवश्यकता पूरी करने के लिए जल का विशेष प्रबन्ध करना पड़ता है।

प्राचीन काल में बड़े शहरों के लिए जल का समुचित प्रबन्ध करना निस्सन्देह एक भारी समस्या थी, क्योंकि उन दिनों इञ्जीनियरिंग की कला का विकास आधुनिक इञ्जीनियरिंग कला की तुलना में एकदम नगण्य-सा था। रोम नगर के इञ्जीनियरों ने इस सम्बन्ध में प्रशसनीय उद्योग किये थे। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों में से सुरंग काटकर रोमन इञ्जीनियरों ने पहाड़ी झीलों और झरनों से रोम नगर में पानी लाने का प्रबंध किया था। रोम-निवासी जल का प्रयोग एक विशाल पैमाने पर किया करते थे। इनके सामाजिक जीवन में स्नानगृहों को विशेष महत्त्व प्राप्त था। मनरजन, विचारों के आदान-प्रदान तथा खेल कूद सभी चीज़ें स्नानगृह से सम्बद्ध थीं। आधुनिक क्लबों की तुलना हम रोमन स्नानगृहों के साथ कर सकते हैं। अत रोम नगर में पानी का ख़र्च अत्यन्त ही अधिक था। अनुमान लगाया गया है

आर्टीज़न कुआँ
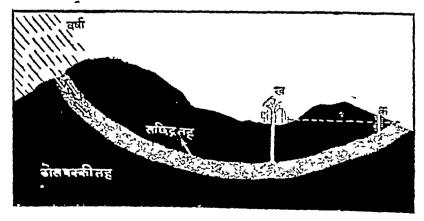
कि जितना पानी आजकल प्रतिदिन लन्दन में खर्च होता है, लगभग उसका एक तिहाई पानी उन दिनों रोम-निवासी खर्च करते थे। तत्कालीन इञ्जीनियरों ने रोम के लिए इतने विशाल पैमाने पर पानी का प्रबन्ध करने में निस्संदेह ऊँचे दर्जे के बुद्धि कौशल का परिचय दिया है। यूनान में भी पहाड़ी झरनों से नगरों में पानी ले जाने के लिए लम्बी-लम्बी सुरंगें पहाड़ों में खोदी गई थीं।

ईसा से २६६ वर्ष पूर्व रोमन इञ्जीनियरों ने ४३ मील लम्बी सुरग पानी लाने के लिए पहाड़ियों को काटकर बनायी थी। ये सुरगें एकदम सीधी और सही कटी थीं। जैसा कि हमने पिछले अध्यायों में देखा है, सुरग खोदने के लिए विज्ञान की भरपूर मदद आजकल ली जाती है। किन्तु उन दिनों सुरग का धरातल तथा उनकी दिशा ठीक रखने के लिए कोई यत्र लभ्य न थे, फिर भी रोमन सुरगों की दिशा या उनके धरातल में किसी प्रकार का दोष आने नहीं पाया था। यूनान और इटली में इन सुरगों के भग्नावशेष आज दिन भी देखे जा सकते हैं। जब हम सोचते हैं कि उन दिनों आजकल जैसी संकुचित वायु द्वारा परिचालित बर्मियाँ भी न थीं, तब इन सुरगों को देखकर हमें आश्चर्य से दाँतों तले अपनी उँगली दबानी पड़ती है।

रोमन इञ्जीनियर भी आजकल की तरह की सुरंगों आदि से पानी लाकर एक विशालकाय तालाब में उसे एकत्रित करते। फिर उसे अच्छी तरह निथार और छान कर नगर-निवासियों के घरों में पहुँचाते।

जल-सप्लाई की योजना को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—(१) पानी का इकट्ठा करना, (२) नगर के पास उसे पहुँचाना और (३) उसे शुद्ध करके नलों की सहायता से घरों में पहुँचाना।

शहर यदि किसी पहाड़ी झरने के पास बसा हुआ है, तो इसी झरने का पानी काम में ला सकते हैं। किन्तु बारहो महीने झरने या पहाड़ी सोते में पानी समान मात्रा में नहीं आता, इस कारण नगर-निवासियों को साल भर नियमित रूप से पानी देने के लिए झरने के ऊपर ही नदी में बाँध डालकर एक कृत्रिम तालाब बनाना पड़ता है। तालाब में पानी इतनी अधिक मात्रा में इकट्ठा हो जाता है कि सूखे के दिनों में, जब झरने में पानी नाममात्र को ही रह जाता है, तब भी शहर की सप्लाई पूर्ववत् बनी रहती है। मिर्ज़ापुर शहर के लिए लगभग १० मील की दूरी से टाँडा फाल्स (झरने) पर बने हुए तालाब से जल लाया जाता है। विन्ध्याचल पर्वत पर टाँडा झरने के ऊपर ही नदी को घेरकर एक लम्बा चौड़ा तालाब बना लिया गया है। इसी तालाब से वाल्व के ज़रिये चौड़े मुंह के पाइप में पानी मिर्ज़ापुर शहर को भेजते हैं। चूँकि यह तालाब काफ़ी ऊँचाई पर बना हुआ है, इस कारण शहर में दुमज़िले तिमज़िले मकानों में भी पानी आसानी से चढ़ जाता है।

इङ्गलैण्ड में भी बर्मिंघम, लिवरपूल और मैन्चेस्टर में पानी निकटवर्ती पर्वतों की घाटी से आता है। घाटी में पानी का कृत्रिम तालाब बनाने के पहले उस क्षेत्र की भली

टन्सा की पाइप लाइन

इस पाइप लाइन में से होकर ९१ मील की दूरी से बम्बई के लिए पानी आता है। प्रतिदिन ६ करोड़ गैलन पानी इसमें से होकर बहता है। पाइप का व्यास ६ फ़ीट है। समूचे पाइप का वज़न ९० हज़ार टन से भी ऊपर है।

भाँति पैमायश की जाती है कि साल के भिन्न-भिन्न महीनों में उस घाटी में कितनी वर्षा होती है? तथा घाटी की भूमि और तलछटी कैसी है? इन सब बातों की जानकारी हासिल कर लेने के उपरान्त ही इञ्जीनियर सही-सही तख़मीना लगा सकता है कि उस घाटी से शहर की आवश्यकतानुसार उसे पानी हर साल मिल सकेगा या
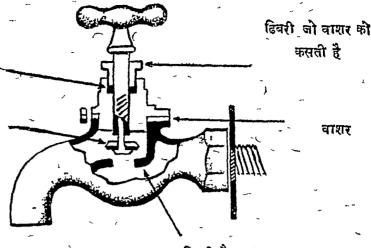
टोंटी का चित्र

पेंच घुमाने से पानी कम या अधिक मात्रा में कैसे प्राप्त करते हैं।

नहीं। बर्मिंघम में जल पहुँचाने के लिए ७५ मील की दूरी पर घाटियों में नदियों को घेरकर तीन कृत्रिम तालाब बनाये गए हैं। लोहे के बड़े साइज के पीपे इस कृत्रिम तालाब से शहर तक बिछाये गये हैं। इन्हीं में से होकर पानी शहर की टङ्की में पहुँचता है। कृत्रिम तालाब के निर्माण के लिए बहुत ही मज़बूत क़िस्म के बाँध बनाने पड़ते हैं, अन्यथा पानी का वेग बाँध को तोड़ सकता है। मार्च ११, १८६४ ई० को शेफ़ील्ड का बाँध अचानक टूट गया—जैसे एक बाढ़ सी आ गई। करोड़ों की सम्पत्ति की हानि हुई और २४४ व्यक्ति इस बाढ़ में डूबकर मर गये।

इस कृत्रिम तालाब से एक वाल्व-टावर द्वारा पानी पाइप में जाता है। यह टावर साधारणतया एक दुहरी दीवाल का सूखा कुआँ होता है। भीतरी और बाहरी दीवालों के बीचवाली जगह में भिन्न भिन्न गहराइयों पर वाल्व लगे होते हैं। इन्हीं वाल्व में होकर तालाब का पानी बाहर के पाइप में भेजा जाता है। इन तालाबों में से पानी न तो एकदम ऊपरी धरातल से लिया जाता और न एकदम पेंदे का। क्योंकि दोनों ही दशा में गंदा पानी पाइप में जा सकता है। अत सदैव बीच का पानी वाल्व द्वारा पाइप में भेजते हैं। तालाब में पानी की गहराई के घटने-बढ़ने के साथ वाल्व भी बदलते रहते हैं। इस तरह से वही वाल्व इस्तेमाल करते हैं जो न एकदम सतह पर हों और न एकदम पेंदे के पास।

ऐसे शहर जो किसी पहाड़ी के निकट नहीं बसे हैं अपने लिए पानी पास ही बहती हुई नदी से लेते हैं। यदि नदी में पर्याप्त जल नहीं हुआ तो गहरे कुओं से पानी खींचते हैं। कभी-कभी दोनों ही रीतियाँ साथ-साथ काम में लाई जाती हैं। लन्दन के लिए टेम्स और ली नदी से पानी लिया जाता है। किन्तु लन्दन की आवश्यकता के लिए यह पानी पूरा नहीं पड़ता। अत यहाँ कई एक गहरे कुएँ भी खोदे गये हैं। इन पातालतोड़ कुओं से जमीन के नीचे का आभ्यन्तरिक जल प्रचुर मात्रा में ऊपर को खींचा जा सकता है। यदि कुआँ ऐसे स्थान पर खोदा गया है जहाँ पर जमीन की सतह निकट के सछिद्र तह से नीची है, तो ऐसे पातालतोड़ कुएँ से जल अपने आप ऊपर को निकलता है, क्योंकि द्रव पदार्थ सदैव अपना तल ढूँढ़ते हैं। ऐसे कुएँ को आर्टीजन कुआँ कहते हैं। जिन पातालतोड़ कुओं की ऊपरी सतह निकट के सछिद्र तह से ऊँची होती है, उनमें से पानी स्वय बाहर नहीं निकलता। ऐसे कुएँ में से पम्प द्वारा पानी उलीचकर बाहर निकाला जाता है।

पातालतोड़ कुएँ प्राय. ००० फ़ीट से भी अधिक गहरे होते हैं। इन कुओं की खुदाई में विशेष परिश्रम करना पड़ता है। चीन निवासी आज से हज़ारों वर्ष पहले इस प्रकार के पातालतोड़ कुएँ बनाना जानते थे। नीचे की सख्त चट्टानों को तोड़ने के लिए बढ़िया क़िस्म की बर्मी का प्रयोग करना पड़ता है—कभी-कभी तो इन बर्मियों के सिरे पर हीरा जड़ देते हैं, ताकि बर्मी की नोक जल्दी घिस न जाय। इस बर्मी को हर बार गज़-दो गज़ ऊँचा उठाकर उस चट्टान पर नोक के बल गिराते हैं।
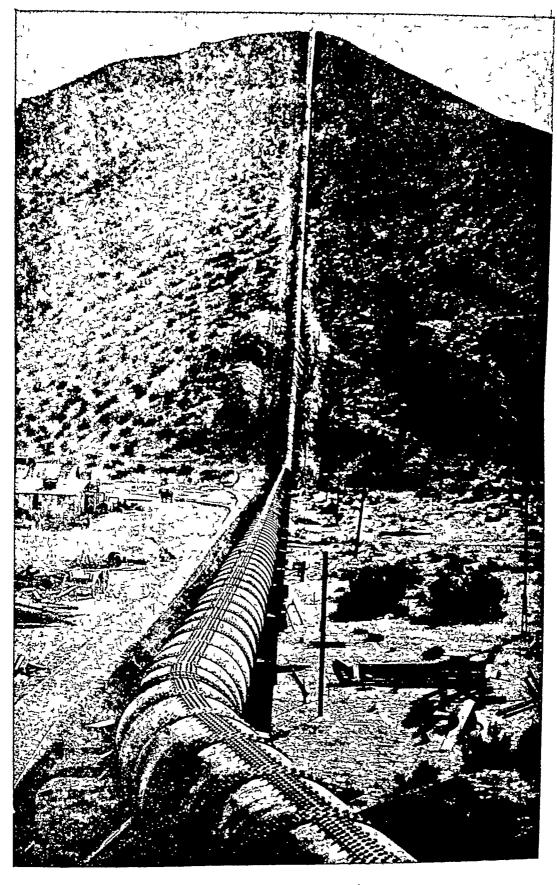
जॉ बोन (The Jaw Bone) साइफ़न

इस साइफ़न नल का व्यास ७ से १० फीट चौड़ा है। यह लगभग डेढ़ मील लम्बा है, तथा इसका वज़न ३,२४३ टन है।

बर्मी के आघात से चट्टान टूटकर बुकनी हो जाती है। इस प्रकार इंच-इंच करके कुआँ खोदने का काम आगे बढ़ता है।

आर्टीज़न कुओं के खोदने में ख़र्च बहुत बैठता है, अत: छोटे-छोटे शहरों में छिछले किन्तु पक्के कुएँ खोदे जाते हैं। इस्पात की चद्दरों के दो एक-केन्द्रक (Concentric) पीपे लम्बवत् एक के बीच दूसरे नरम ज़मीन में धँसा देते हैं। पेंदे में ये दोनों चौड़े मुँहवाले पीपे एक तिकोने किनारे पर जुड़े होते हैं, इस प्रकार इन युगल पीपों के पेंदे में एक तेज़ धार-सी बन जाती है। इस धार की सहायता से लोहे का यह कुआँ भी काफ़ी गहराई तक पहुँच जाता है। फिर दोनों पीपों की दीवालों के बीच की जगह में कन्क्रीट-सीमेन्ट भर देते हैं। अब कुएँ के अन्दर नीचे का शुद्ध जल ही छनकर पहुँचता है। ज़मीन की ऊपरी सतह का गन्दा पानी ऐसे कुएँ की दीवालों को भेदकर अन्दर नहीं पहुँच सकता। मथुरा यद्यपि जमुना नदी के किनारे बसा हुआ है, फिर भी वहाँ के वाटर-वर्क्स के लिए पानी जमुना नदी से नहीं लिया जाता है, क्योंकि गर्मी तथा जाड़े के दिनों में जमुना में यहाँ केवल नाममात्र को पानी रह जाता है। अतः मथुरा में भी साधारण ढंग के छिछले कुएँ खोदे गये हैं। यहाँ के अधिकारियों ने उपर्युक्त रीति से इस्पात के पीपे तो जमीन के अन्दर नहीं गलाये हैं किन्तु फिर भी कुओं की दीवालों को उन्होंने इतनी मज़बूत और पक्की बना दी है कि ऊपरी सतह का गन्दा पानी इन दीवालों को भेदकर अन्दर नहीं पहुँच सकता।

इस्पात के पीपे गलाने की अपेक्षा ट्यूब-वेल खोदने में ख़र्च कम बैठता है, साथ ही पानी भी गहराई पर से शुद्ध निकलता है। ट्यूब वेल केवल नरम मिट्टी में गलाये जा सकते हैं। इनकी गहराई प्राय ६०-७० फ़ीट से लेकर १०० फीट तक पहुँचती है।

कुएँ और पहाड़ी झीलों का पानी शुद्ध और निर्मल होता है, अतः इस पानी को शुद्ध करने या छानने की ज़रूरत नहीं पड़ती। सीधे पम्प द्वारा इसे टंकी में भेज
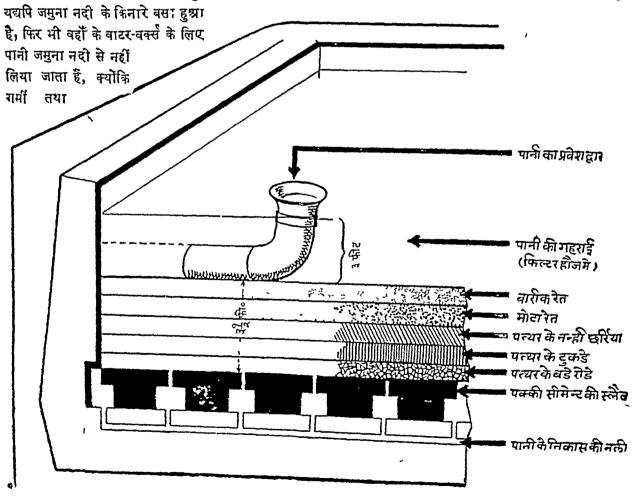
फिल्टर टैङ्क

देते हैं और फिर सारे शहर में पाइप की सहायता से इसका वितरण हो जाता है। लेकिन अधिकांश शहरों में नदियों से पानी लिया जाता है, और सदैव बहते रहने के कारण यह पानी अनिवार्य रूप से गन्दा रहता है। गर्द, मिट्टी और कूड़ा-कर्कट के अतिरिक्त भाँति भाँति के कीटाणु भी नदी के जल में प्रचुरता से पाए जाते हैं। अतएव ऐसे जल को सप्लाई टङ्की में भरने के पूर्व अच्छी तरह साफ कर लेना नितान्त आवश्यक होता है।

नदी या तालाब के जल को पहले वाटर वर्क्स के पिछले तालाबों में ले जाते हैं। पानी में तैरती हुई अनेक चीजें जैसे धूलिकण तथा वनस्पति पदार्थ और खनिज पदार्थ आदि थिराकर तालाब के पेंदे में बैठ जाती हैं। इस क्रिया में ये चीजें अपने साथ इस पानी के अनेक कीटाणुओं को भी लेकर बैठ जाती हैं। थिराने की क्रिया को सफल बनाने के लिए पानी मे (अल्यूमिना सल्फेट) फिटकरी या इसी जाति के अन्य रासायनिक यौगिक डाल दिये जाते हैं। पानी में इसे डालने से उसमें तैरती हुई चीज़ों का थक्का बँध जाता है और फिर ये समूची चीज़ें तह में बैठ जाती हैं।

इलाहाबाद में जमुना नदी से करेलाबाग में पानी पम्प द्वारा खींचकर उसे इस्पात के पाइप द्वारा खुसरोबाग़ के वाटर-वर्क्स में भेजते हैं—यहाँ पर तीन बड़े-बड़े तालाबों में पानी थिराता है। प्रत्येक तालाब ३०० फीट लम्बा, २०० फ़ीट चौड़ा और २० फीट गहरा है।

थिरानेवाले तालाब से पानी छननेवाले तालाब में जाता है—छनने वाले तालाब दो प्रकार के होते हैं। एक धीमी गति से छाननेवाला तालाब (slow filter-tank) और दूसरा तेज़ रफ़्तार से छाननेवाला यान्त्रिक (Rapid filter-tank) तालाब। कुछ दिनों पूर्व धीमी गति से छाननेवाले तालाब ही हरएक वाटरवर्क्स में इस्तेमाल किये जाते थे। धीमी गति से छाननेवाले तालाब में पानी छानने के लिए सबसे ऊपर ढाई-तीन फीट मोटी बारीक़ रेत की तह बिछाई जाती है। इस तह में सबसे ऊपर की रेत एकदम बारीक होती है, फिर ज्यों ज्यों नीचे आते हैं, त्यों त्यों रेत के कण भी मोटे होते जाते हैं। रेत की तह के नीचे पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़ों की एक तह जमाई जाती है। यह तह लगभग एक फ़ीट मोटी होती है, इसके नीचे छिद्रमय ईंटें रक्खी होती हैं। इनमें से छनकर एकदम शुद्ध और निखरा हुआ पानी तालाब के पेंदे में बनी हुई नालियों में से होकर बाहर निकलता है। पानी को धीरे-धीरे छनने के लिए यह जरूरी है कि बालू के ऊपर पानी की गहराई दो-तीन फीट से अधिक न पहुँचने पाए। इन तालाबो मे जिस नल से पानी आता है, उनके प्रवेश मुँह पर तैरनेवाले वाल्व लगे रहते हैं—पानी इस तालाब में ज्योंही नियत धरातल पर पहुँचा, ये वाल्व अपने आप बन्द हो जाते हैं।

बालू और पत्थर के टुकड़ों में से होकर पानी ज्यों-ज्यों नीचे को जाता है, वह रास्ते में अपनी गन्दगी को छोड़ता जाता है। बालू की तह निरी छलनी का ही काम नहीं करती है, वरन् पानी के अन्दर तैरते हुए कीटाणुओं को भी रेत की तह ऊपर ही रोक लेती है। क़िन्तु यह सोचना ग़लत है कि ये कीटाणु बालू के कणों के बगल में से होकर गुजर नहीं सकते। वास्तव में कीटाणुओं का साइज़ इतना छोटा होता है कि वे रेत के कणों के बगल में से होकर इतनी ही आसानी से गुजर सकते हैं जितनी आसानी से मक्खियाँ मछुए के जाल में से होकर निकल जाती हैं।

रेत की तह में से होकर पानी जब नीचे जाने लगता है तो तीन-चार दिनों में रेत की तह के ऊपर चिकनी-चिकनी एक झिल्ली-सी जम जाती है। पानी के कीटाणु इस झिल्ली को पार करने में सर्वथा असमर्थ होते हैं। झिल्ली की इस परत को एल्जीआ (Algea) कहते हैं। इस डर से कि एल्जीआ टूट न जाय, पानी छानने की क्रिया को धीमी रखते हैं। क्योंकि एल्जीआ टूट जाने पर छने हुए पानी में भी कीटाणु पहुँच जायँगे और ऐसा जल पीने के काम न आ सकेगा। जब कभी ताज़ी रेत की तह में से पानी छाना जाता है, तो पहले तीन-चार दिनों तक छने हुए पानी को टङ्की में नहीं ले जाते। क्योंकि तीन-चार दिनों के उपरान्त ही झिल्ली की परत ठीक तौर पर बन पाती है।

दो तीन-महीने के उपरान्त रेत की ऊपरी तह में गर्द आदि इतनी अधिक मात्रा में इकट्ठी हो जाती है तथा एल्जीआ की झिल्ली भी इतनी मोटी पड़ जाती है कि बहुत कम पानी छनकर नीचे जा पाता है। इस कारण हर दो महीने पर ऊपर की रेत खुरचकर बाहर निकाल ली जाती है। अब पुन: तीन-चार दिन तक पानी को टङ्की मे नहीं ले जाते क्योंकि उस वक़्त तक एल्जीआ की नई परत बन नहीं पायी होती। कई बार खुरच लेने पर जब लगभग एक फ़ुट रेत निकल जाती है, तो ताज़ी और साफ की हुई पक्की रेत की तह फिर बिछा देते हैं

ताकि रेत की मुटाई ढाई-तीन फ़ीट बनी रहे।

तीव्र गति से छाननेवाले हौज़ में बड़े साइज के रेत के कण इस्तेमाल किये जाते हैं। इस कारण कीटाणुओं को रोकने की शक्ति इस हौज़ में नहीं होती। अतः रैपिड फ़िल्टर (तीव्रगति के छनने) से छने हुए पानी में क्लोरीन-सरीखी गैसों का मिलाना आवश्यक हो जाता है ताकि रोग कीटाणु नष्ट हो जायँ। रैपिड फ़िल्टर में भेजने के पूर्व फिटकरी की जाति के रासायनिक यौगिक को पानी में डालकर उसमें घुले हुए विजातीय पदार्थ को थक्के के रूप में परिणत कर लेते हैं। ये पदार्थ पेंदे में बैठ जाते हैं। इस तालाब में से पहले नीचे की तह का जल रैपिड-फ़िल्टर के हौज में ले जाते हैं। इस हौज़ की दीवाल इस्पात की मज़बूत चद्दरों की बनी होती है, या कभी-कभी सीमेन्ट की भी बना लेते हैं। रेपिड-फ़िल्टर में भी एक झिल्ली-सी बालू की ऊपरी सतह पर बन जाती है किन्तु 'एल्जीआ' की भाँति यह कीटाणुओं को रोकने में समर्थ नहीं होती। हौज में पानी की ऊँचाई आठ फ़ीट के लगभग होती है। कुछ ही घण्टों में बालू की सतह पर इतनी मोटी झिल्ली जम जाती है कि पानी के छनने की रफ़्तार बिल्कुल मन्द पड़ जाती है। रेत को साफ करने के लिए अब पेंदे के पाइप में से पानी की तेज़ धार तथा सकुचित वायु हौज़ में प्रवेश कराते हैं।

बालू में फँसी हुई तमाम गन्दगी अब हवा के बुलबुलों के संग ऊपर तैरने लगती है। इसे अलग हटा देते हैं। सकुचित वायु और पानी की तेज़ धार की टोंटियाँ बन्द कर दी जाती हैं और पानी छानने की क्रिया पुनः आरम्भ कर दी जाती है। हर बारह घण्टे पर रैपिड फ़िल्टर की रेत को इस रीति से साफ़ करना पड़ता है। किन्तु धीमी गति से छननेवाले तालाब की रेत साफ करने में समय भी अधिक लगता है और तरद्दुद भी ज्यादा होती है।

पाश्चात्य देशों में छने हुए पानी की गन्ध दूर करने के लिए उसमें ताजी हवा भी प्रवेश कराते हैं। पानी में घुली हुई हवा की मात्रा बढ़ाने के लिए या तो पानी को फ़ौवारों में भेजते हैं या उन्हें कई सीढ़ियों से होकर नीचे गिरने देते हैं।

छना हुआ शुद्ध जल अब पम्प द्वारा एक ऊँची टङ्की में भरा जाता है। यह टंकी ऊपर से ढकी होती है, क्योंकि खुली टङ्की में साफ किया हुआ जल शीघ्र ही खराब हो जाता है—इसकी सतह पर काई-सी जम जाती है। वाटर-वर्क्स की टङ्की मजबूत और ऊँचे स्तम्भ पर रखी जाती है ताकि नगर के ऊँचे मकानों में भी पानी चढ़ सके। इलाहाबाद की टङ्की ज़मीन की सतह से ६० फ़ीट ऊँची है। टङ्की ऊँची रखने से फ़ायर-ब्रिगेड के लिए भी पानी की तेज धार मिल सकती है।

सप्लाई टङ्की में पानी चढ़ाने के लिए सेन्ट्रीफ़ूगल पम्प

टङ्की से पाइप द्वारा पानी पम्प में आता है और यही पम्प शहर को जानेवाले मुख्य पाइप में पानी भेजता है। लगभग सभी जगह पानी चढ़ाने के लिए सेन्ट्रीफ़ूगल पम्प इस्तेमाल किये जाते हैं। ये पम्प प्रायः विद्युत् इंजिन द्वारा परिचालित होते हैं। यह पम्प ढोल की तरह गोल होता है। इस खोखले ढोल के अन्दर तेजी के साथ एक चक्र चक्कर लगाता है। इस चक्र में हत्थे (blades) लगे रहते हैं। जिस पाइप से पानी इस तल में प्रवेश करता है उसका मुँह इस चक्र की धुरी पर फिट किया होता है तथा दूसरा पाइप जिसमें से होकर पानी चढ़ाया जाता है, इस ढोल की परिधि के पास फिट किया जाता है।
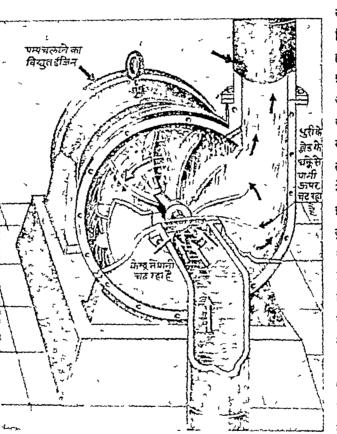
जिस समय चक्र तेजी के साथ घूमता है, चक्र की सभी वस्तुएँ बाहर की ओर तीव्र वेग के साथ खिंच उठती हैं—उन पर सेन्ट्रीफूगल शक्ति काम करती है। अतः पानी भी धुरी से परिधि की ओर खिंचता है। हत्थों के ज़ोर से यह पानी ऊपर पाइप में चढ़ जाता है। जब तक चक्र का घूमना जारी रहता है, सेन्ट्रीफूगल खिंचाव धुरी से परिधि की ओर निरन्तर काम करता रहता है—फलस्वरूप पानी भी खिंचकर धुरी से परिधि की ओर चढ़ता रहता है। वाटर वर्क्स में इस तरह के पम्प बहुतायत से इस्तेमाल किये जाते हैं, क्योंकि मटमैले पानी को भी यह पम्प बखूबी उलीच लेता है। ऐसे पम्प में किसी प्रकार का वाल्व नहीं लगा होता है, अत: वाल्व खराब होने का प्रश्न ही नहीं उठता। अन्य क़िस्म क पम्पों से यदि गन्दा मटमैला पानी उलीचा जाय तो शीघ्र उसके वाल्व खराब होजाते हैं, फलस्वरूप ऐसे पम्प देर तक काम नहीं कर सकते।

शहर के प्रधान पाइप में जाने के पहले पानी 'मीटर' में से होकर गुजरता है। मीटर में अपने आप इस बात का ब्योरा अंकित होता रहता है कि पानी की कितनी मात्रा वाटर-वर्क्स में से शहर को जा रही है। पानी नापने वाले ये मीटर भिन्न सिद्धान्तों पर बने होते हैं। इनमें से एकाध का उल्लेख हम यहाँ करेंगे। डेकन-मीटर में एक चकरी एक खोखले लम्बवत् बर्त्तन में ऊपर से एक पतली ज़ंजीर द्वारा लटकती रहती है। यह ज़ंजीर एक पुली (गिर्री) पर से होकर गुजरती है—जंजीर के दूसरे सिरे पर एक बॉट लटकता रहता है। यह खोखला वर्त्तन पेंदे पर सँकरा होता है, किन्तु ज्यों-ज्यों हम ऊपर को बढ़ते हैं, इस वर्त्तन का मुँह भी चौड़ा होता जाता है। बॉट का वजन चकरी के वजन से कम होता है। पानी जब पाइप में से होकर प्रवाहित होता है, तो पानी के वेग से इस चकरी को ऊपर की दिशा में धक्का पहुँचता है। यदि बॉट का खिंचाव और पानी का धक्का चकरी के वजन से ज़्यादा हुए तो चकरी ऊपर को हरकत करती है। किन्तु कुछ दूर ऊपर खिसकने पर चकरी पर पानी का धक्का भी कम हो जाता है क्योंकि यहाँ खोखले वर्त्तन का फैलाव ज्यादा है। अत: जब बॉट का वज़न और पानी का धक्का दोनों मिलकर चकरी के वजन के
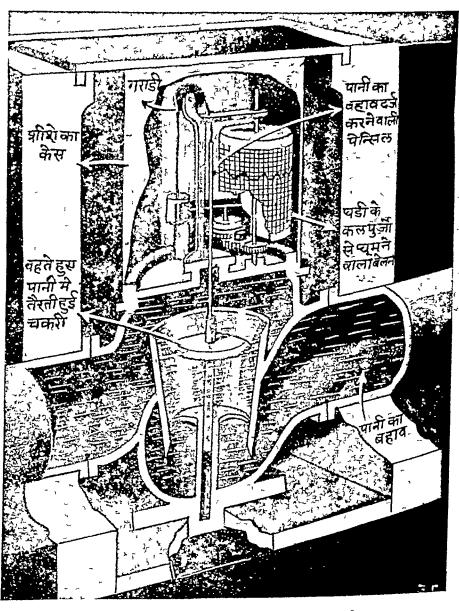
डेकन मीटर—नल में से होकर गुज़रनेवाले पानी की मात्रा नापने का यंत्र

बराबर हो जाते हैं तब चकरी अपनी समतुलित अवस्था में स्थिर हो जाती है। यदि पानी की धारा तेज हुई तो चकरी ऊपर को खिसकती है और यदि प्रवाह मन्द पड़ गया तो चकरी नीचे को खिसकती है। ऊपर ही लगे हुए एक समान गति से घूमते हुए बेलन पर इस चकरी की गति अंकित होती रहती है। इस लेखा को देखकर फौरन् पता लगा लेते हैं कि गत २४ घण्टे में पानी के प्रवाह की गति क्या थी। इस प्रकार आसानी से मालूम कर लेते हैं कि प्रतिदिन शहर में कितना पानी ख़र्च हो रहा है। इलाहाबाद के वाटर-वर्क्स के रेकार्ड देखने से पता चलता है कि इलाहाबाद में जाड़े की ऋतु में प्रतिदिन ५० लाख गैलन पानी ख़र्च होता है और गर्मी के दिनों में ८५ लाख गैलन पानी प्रतिदिन शहर में भेजना पड़ता है।

किसी-किसी वाटर-वर्क्स में वेञ्चुरी मीटर का प्रयोग करते हैं। इस मीटर का आविष्कार एक इटैलियन वैज्ञानिक वेञ्चुरी ने किया था। इस मीटर में एक पाइप फिट किया होता है जो बीच में डमरू की तरह सँकरा हो जाता है। पानी जब इस पाइप में से होकर गुज़रता है तो सँकरे स्थल पर पहुँचने पर इसकी रफ़्तार तेज़ हो जाती है, फलस्वरूप इस स्थल पर पाइप की दीवालों पर पानी का दबाव उतना नहीं पड़ता जितना पाइप के अन्य स्थलों पर। अत पतली नली और बैरोमीटर के सिद्धान्त पर बने हुए यन्त्रों की सहायता से पाइप की दीवाल पर पानी का दबाव दो जगहों पर नापते हैं—एक उस जगह जहाँ से पाइप सँकरा होना आरम्भ होता है और एक उस स्थान पर जहाँ पाइप सबसे अधिक सँकरा है। दोनों स्थान के दबाव के अन्तर को मालूम कर लेने पर गणित के कुछ सरल सिद्धान्तों की सहायता से जल के प्रवाह के वेग का पता लगा लेते हैं। पाइप में जिस स्थल पर दबाव नापना होता है, वहाँ पाइप की परिधि में चारों ओर नन्हें-नन्हें सूराख़ कर देते हैं। ये सूराख़ एक कालर से एयरटाइट ढके रहते हैं—इस कालर का सम्बन्ध दबाव नापनेवाली नली से रहता है। इस मीटर में भी दोनों जगह के दबाव घूमते हुए बेलनों पर अपने आप अंकित होते रहते हैं।

वाटर वर्क्स से शहर के अन्दर पानी ले जाने के लिए पाइप बिछाने में भी सावधानी रखनी पड़ती है। ज़मीन की सतह से ३ फीट की गहराई पर पाइप बिछाते हैं ताकि सड़क पर चलने वाली
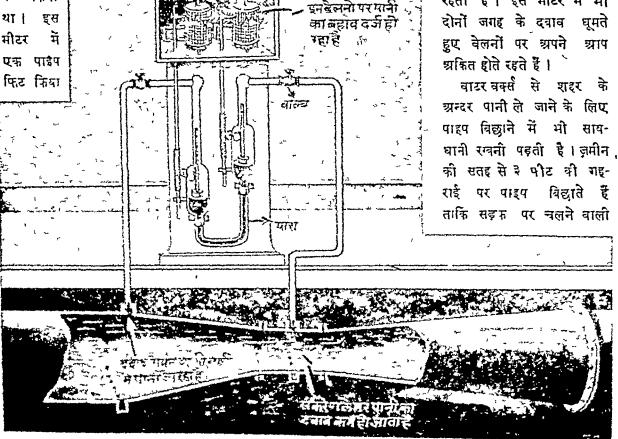
वेञ्चुरी मीटर
इस यंत्र से पानी का दबाव नापकर यह मालूम कर लेते हैं कि कितना पानी इसमें से होकर गुज़रा।

सवारियों, मोटर, ताँगा, लारी आदि के बोझ से पाइप को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। जाड़े के दिनों में ठण्डे देशों में पानी जमकर बर्फ़ बन जाती है। किन्तु ज़मीन के अन्दर गड़े हुए पाइप में ठण्ड का प्रभाव नहीं पड़ता अतः पाइप के अन्दर का पानी जमकर बर्फ़ नहीं बनने पाता। मोर्चा से बचाने के लिए पाइप को खनिज तैल और तारकोल के गर्म घोल में डुबा लेते हैं—तारकोल की एक हलकी सी परत पाइप की सतह पर चढ़ जाती है।

वाटर-वर्क्स की विशालकाय मशीनें

छोटे छोटे शहरों में आजकल भी बचत के लिए दिन में बँधे हुए समय पर ही पानी सप्लाई किया जाता है। अत लोग अपने घरों में छोटे-छोटे हौज़ से बना लेते हैं कि नल में जिस वक्त पानी न आता हो, उस समय वे हौज़ में इकट्ठे हुए पानी को काम में लाएँगे। किंतु इस प्रकार इकट्ठा किया गया पानी स्वास्थ्य की दृष्टि से शीघ्र ही दूषित हो जाता है—नियमित रूप से हौज़ को साफ़ करते रहने पर भी पानी के दूषित होने की सम्भावना दूर नहीं हो सकती। इस रीति से पानी सप्लाई करने में एक और दोष है। जिस समय नल में पानी नहीं रहता, बाहर की अनेक दूषित और विषैली गैसें पाइप के अन्दर प्रवेश कर जाती हैं। नल में पानी का आना जारी होने पर गैसें पानी में घुल जाती हैं! निस्सन्देह ऐसा जल स्वास्थ्यप्रद नहीं रह जाता। अत अब सभी स्थानों पर इञ्जीनियर इसी बात का प्रयत्न करता है कि वाटर-वर्क्स से शहर को जानेवाले पाइप में हर वक्त भरपूर जल भरा रहे। ऐसा करने से पाइप के अन्दर बाहर से दूषित गैसों के प्रवेश करने की आशंका नहीं रह जाती। २४ घण्टे की निरन्तर सप्लाई के कारण नगर-निवासियों को भी काफी सुविधा रहती है, तथा फायर ब्रिगेड सर्विस को भी आवश्यकता पड़ने पर किसी भी क्षण पानी की प्रबल धार प्रचुर मात्रा में मिल सकती है।
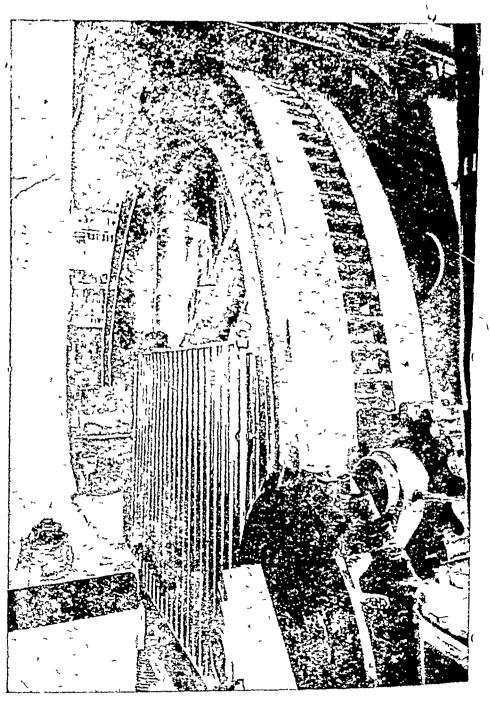
जापान की कला—वास्तु-कला तथा मूर्त्ति-निर्माण-कला (१)

पिछले अंकों मे हमने चीन की कला का परिचय प्राप्त किया है—अब हम उसके पड़ोसी राष्ट्र जापान पर आते हैं। प्रस्तुत लेख में जापानी कला के विकास की पृष्ठभूमि की विस्तृत व्याख्या की गयी है। साथ ही जापान की वास्तु-कला और मूर्ति-निर्माण-कला पर प्रकाश डालने का उद्योग किया गया है।

जापान हो आनेवाले प्रत्येक यात्री ने इस देश के उत्कृष्ट प्राकृतिक सौन्दर्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। यद्यपि नन्हे द्वीपसमूहों का यह देश साइज़ में छोटा है, किन्तु साथ ही यह अत्यन्त ही साफ सुथरा, सुघड़ और क़रीने से बसा हुआ मुल्क है। इसकी देख-रेख में भी सौन्दर्य और सुघड़ता का पूरा ध्यान रखा जाता है। सुविख्यात जापानी लेखक तथा कलाकार ओकाकुरा काकूजो ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दी आइडियल्स आव दी ईस्ट' (The Ideals of the East) में जापान के सौन्दर्य तथा जापानी कला पर उसके प्रभाव के बारे में भावावेश के साथ लिखा है.—

"धान के लहलहाते हुए खेतों के पानी, द्वीपसमूह का ऊँचा-नीचा धरातल जो मौलिकता के प्रतिपादन के लिए विशेष उपयुक्त है, इसकी रजत-वायु की कम्पन, हलकी कोमल ऋतुओं का नियमित चक्र, पर्वतों की सीढ़ीनुमा पृष्ठभूमि पर नीलम की सुरम्य चादर, चीड़ के वृक्षों से परिवेष्ठित तट पर लहराता हुआ महासागर इन सभी विभूतियों के अन्दर से उस कोमल सादगी तथा रोमान्टिक विशुद्धता का प्रादुर्भाव हुआ है जो जापान की कला की आत्मा को कोमलता का पुट देती हैं। ये ही विभूतियाँ जापान की कला को चाइनीज कला की एक-रसता से बचाती हैं, और कदाचित् इन्हीं विभूतियों के कारण भारतीय कला का चटकीलापन तथा भड़कीलापन जापान के कलाक्षेत्र को दूषित नहीं कर पाया है। सफ़ाई और सुघड़ता के प्रति जापानी कलाकारों का अभिन्न अनुराग जो कभी-कभी तड़क भड़क के बिल्कुल विपरीत बैठता है, किन्तु जिसने हमारे उद्योग व्यवसाय सम्बन्धी तथा ललित कला के सौन्दर्य को निखारने में सबसे अधिक सहयोग दिया है, कदाचित् अन्यत्र कहीं भी नहीं देखने को मिलता।"

जापान की प्रत्येक कलाकौशल के पीछे यदि अन्य कोई उच्चतर आदर्श नहीं हुआ तो कम-से-कम सुसंगठित सफाई, सुघड़ता तथा अनुपम प्रतिपादन तो उसमें निहित आपको मिलेंगे ही।

निश्चय रूप से किसी को नहीं मालूम कि यामाटो (जापान का जापानी भाषा का नाम) की जाति का कैसे जन्म हुआ। सैनिक सतर्कता तथा शौर्य्य, सृजनशक्ति, बाह्य गुणों की ग्राहकता तथा अपनी निज की मौलिकता का पुट देकर उनका संयोजन, राष्ट्रीय विकास के सम्पूर्ण काल में इस जाति की ये ही प्रमुख विशेषताएँ रही हैं। अपने इतिहास के लम्बे काल में अपनी इस गुण ग्राहकता तथा उनके संयोजन के बल पर जापान ने अपने पड़ोसी देशों से कला, धर्म तथा सभ्यता के क्षेत्र में अनेक उत्तम बातें लेकर उनसे बेहद लाभ उठाया है। इसके प्रतिकूल अनेक राष्ट्र ऐसे हैं जो अपनी सभ्यता को बाह्य प्रभावों से एकदम अछूता रखते हैं, अनेक ऐसे हैं जो अपनी बातों को दूसरों को दे सकते हैं किन्तु दूसरों के गुणों को ग्रहण करना नहीं जानते और कुछ ऐसे भी हैं जो अपनी सभ्यता को सर्व-श्रेष्ठ मानकर इस बात की जरूरत ही नहीं महसूस करते कि वे अन्य राष्ट्रों के गुणों को अपनाएँ। जापान ने सदैव मध्यम मार्ग का अनुसरण किया है। जिस वक़्त जापान को वास्तव में अपने पुनरुत्थान के लिए धार्मिक प्रोत्साहन की जरूरत थी उसने विनम्रता के साथ भारत और चीन की सांस्कृतिक विभूतियों को अपनाया। उसने इन सांस्कृतिक विभूतियों को क्रमग्न व्यक्तियों की तरह एक

दम जमा नहीं कर लिया है वरन् उसने इनसे पूरा लाभ उठाया है और अपनी राष्ट्रीय संस्कृति में इन विभूतियों को उसने पूर्णतया जज्ब भी कर लिया है, उनकी सांस्कृतिक विरासत का ये अंग बन गई हैं। कला, विज्ञान, और धर्म के क्षेत्र में जापान ने सदैव दूसरों से गुर हासिल किये हैं, किन्तु उसने इन्हें सर्वथा नवीन रूप देकर इन्हें अत्यधिक फलप्रद और कारामद बनाया है। जापान के अनेक कला तथा धर्म सम्बन्धी आन्दोलनों के विकास के पिछले पन्नों को पलटने पर हम देखते हैं कि इनके लिए अधिकांश प्रोत्साहन चीन और कोरिया में से होकर बुद्ध भारत से आये थे। जापानी कला के प्रारम्भिक इतिहास में अनेक बातें ऐसी मिलती हैं जो विषय तथा कला की प्रतिपादन रीति, दोनों ही में अजन्ता की कला के साथ घना सादृश्य रखती हैं। जापान की प्रारम्भिक हस्तकला तथा बर्त्तनों की चित्रकारी की अनेक विशेषताएँ भी चीन की कला से मेल खाती हैं। किन्तु इसके यह कदापि अर्थ नहीं लगाये जा सकते कि जापानी कला निरे अनुकरण का फल है—इससे तो केवल यह पता चलता है कि शुरू में पानी किधर से किधर को बहा।

कलाक्षेत्र के विज्ञ आलोचकों ने जापानी कला के इतिहास को निम्नलिखित तालिका के अनुसार विभिन्न कालों में विभाजित किया है.—

सुइको काल	५५२—६४५	ई० सन्
हाकुहो काल	६४५—७०६	ई० सन्
टेम्पयो काल	७०६—७६३	ई० सन्
जोगन काल	७६३—६००	ई० सन्
फूजिवारा काल	६००—११६०	ई० सन्
कामाकुरा काल	११६०—१३८१	ई० सन्
अशीकागा काल	१३८३—१६०३	ई० सन्
टोकुगावा काल	१६०३—१८६८	ई० सन्

चीन से जापान में बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव पहली बार सुइको काल में हुआ—इस समय इसका रूप, रहस्य और आध्यात्मिकता के घने आवरण से ढका था—यथार्थवाद से यह कहीं दूर था। बौद्ध धर्म की द्वितीय लहर तॉंग काल में चीन से जापान में पहुँची और यह अपने साथ शानशौकत और तड़क-भड़क भी ले आयी, जिसका आभास हमें ध्यानावस्थित बुद्ध तथा सौम्य और सानुकप बोधिसत्व में मिलता है। इस कला का उच्च आदर्शवाद तॉंग काल के अन्तिम दिनों में फीका पड़ने लगा, और इसका स्थान मानवसमाज की यथार्थवादिता ने लिया। तीसरी लहर सुंग काल के चीन से कमाकुरा और आशिकागा के दिनों में ज़िय बौद्ध धर्म के रूप में आई। इस लहर के अन्दर संस्कार और अनुष्ठान (ritual) के प्रति घोर विद्रोह की भावना कूट-कूटकर भरी थी—इसमें अखिल ब्रह्माण्ड की प्रेरक शक्ति का ध्यान और मनन द्वारा ज्ञानप्राप्ति की भावना निहित थी। इसे हम जापानी कला का स्वर्णयुग कह सकते हैं। विशेषतया चित्रकला तथा ललित कलायें तो इन दिनों विकास की चरम सीमा पर पहुँच गई थीं।

जिस प्रकार मध्यकालीन युरुप और भारत में चर्च और मठों में कला के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण उपस्थित रहता था, ठीक उसी प्रकार इस काल के जापान में भी कलाप्रेमी मठाधीशों की नई जाति उत्पन्न हो गई थी। आरम्भ में उनके कला सम्बन्धी सभी कार्य धार्मिक दृष्टिकोण से परिवेष्ठित होते थे, किन्तु शनैः शनैः मानव संस्कृति के क्षेत्र के विस्तार के संग भौतिक विषयों का भी समावेश जापानी कला की दुनिया में होने लगा।

बारहवीं और सोलहवीं शताब्दी के दर्मियान जापान आन्तरिक कलह से उत्पीडित रहा। विशेषतया तैरा और मिनामोटो वंशजों के बीच खूब गुत्थमगुत्था रही। इनमें से प्रत्येक अपने ही पदाधिकारी को राजसिंहासन पर बिठाना चाहता था। इस गृहयुद्ध ने जापानी साहित्य की कथाओं को योस्तितसुने नाम का वीर नायक प्रदान किया। जापानी साहित्य में योस्तितसुने को वही स्थान प्राप्त है जो अंग्रेजी साहित्य में बेअर्ड को प्राप्त है।

१३ वीं शताब्दी में जापान पर तातारी नाविक बेड़े ने आक्रमण किया किन्तु दैवी ने जापान की रक्षा की। आकस्मिक तूफान के चपेट में आकर समूचा नाविक बेड़ा जलमग्न हो गया। इस भयानक काण्ड की कहानी सुनानेवाले केवल तीन तातारी बचे थे। १४वीं शताब्दी में आशिकागा काल के युद्ध ने जापान में रक्त की नदियाँ फिर बहायीं। लम्बे काल की इस युद्धाग्नि ने जापानी राष्ट्र को तपाकर खरा कर दिया; फलस्वरूप जापानी राष्ट्र के दृढ़तर और परुष गुणों के विकास के लिए इसने उपयुक्त अवसर प्रदान किया। जापान में सुमाराई नाम की एक योद्धा-जाति का निर्माण हुआ जिसके पृष्ठपोषक जापान के राजेमहराजे थे। ये योद्धागण इन्हीं के प्रति वफादारी का दम भरते। योद्धाओं का कौल "बुशीडो"—कर्तव्य और शौर्य्य का प्रतीक—समूचे राष्ट्र का आदर्श मापदण्ड बन गया। क्योंकि जापान के

योद्धाओं की वीर गाथाएँ शौर्य और साहस की कहानियों से भरी पड़ी हैं। जापानी गाँवों की प्रत्येक झोपड़ियों में आज दिन भी ये गाथाएँ आपको सुनने को मिलेंगी और जापान के साहित्य और कला की दुनिया में तो ये गाथाएँ सैकड़ों बार दुहराई जा चुकी हैं।

उपद्रव के इन दिनों में भी मरुस्थल के नख़लिस्तानों की तरह बौद्ध मठों के वातावरण शान्त और अछूते बने रहे। इन मठों की ऊँची चहारदीवारियों के अन्दर जापान की ललित कलाओं की विकासगति में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ी किन्तु इन चहारदीवारियों के बाहर युद्ध-सम्बन्धी कलाएँ बाह्य जगत् की उथल-पुथल से खूब प्रभावित हुईं। कृपाण और तलवार निर्माण करनेवाले कारीगरों की गणना अग्रगण्य कलाकारों में इन दिनों होने लगी थी।

१६वीं शताब्दी में शनैः-शनैः शासन-पद्धति का केन्द्रीकरण होने लग गया। मिकैडे ने जो अभी तक शोगन्स के हाथ की कठपुतली बना हुआ था, अब स्वयं अपने हाथ में धीरे-धीरे शासन-सूत्र की डोरियाँ एकत्रित करनी शुरू कीं। अभी तक राज्य की वास्तविक शक्ति शोगन्स के हाथों में थी जो राज्य की हुकूमत पर अपना पूरा अधिकार रखता था। स्थानीय डेमियो भी अपने-अपने प्रान्तों में एक प्रकार से पूर्ण रूप से स्वतन्त्र थे। तोकुगवा शोगन्स ख़ान्दान के सर्वप्रथम व्यक्ति आयेयासु के हाथ में १६०३ में राज्यशक्ति आयी। अपनी अदम्य योग्यता के बल पर इसने अपने पूर्वगामी नोबूनागा तथा हिदे-योशी द्वारा आरम्भ किये हुए सामन्तों के दमन का कार्य्य पूरा कर दिखाया। उद्दण्ड सामन्तों के दाँत तोड़कर उसने उन्हें मजबूर किया कि वे मिकाडो का आधिपत्य स्वीकार करें। उसकी विवेकपूर्ण और सतर्क शासन-नीति के फलस्वरूप एक लम्बी अवधि तक जापान में अमन और शान्ति विराजती रही। अगले ढाई सौ वर्षों में युद्ध और कलह से मुक्त जापान में कला और उद्योगधन्धों का खूब विकास हुआ।

तोकुगवा काल जापान की कला के इतिहास में विशिष्ट स्थान रखता है। इस काल में जापान के अनेक कलाकौशल अचानक विकसित हुए। विकास की इस चरम सीमा को न कभी पहले जापानी कला पहुँच पायी थी, और न बाद में कभी पहुँची। देश का अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण वातावरण तथा सुदृढ़ केन्द्रीय गवर्नमेंट का प्रोत्साहन, इन दोनों ही अनुकूल परिस्थितियों ने कलाकारों तथा कारीगरों को उन्नत करने के लिए प्रचुर अवसर प्रदान किया। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार भारतीय इतिहास की १६वीं और १७वीं शताब्दी में अकबर और जहाँगीर के समय में भारतीय कलाकारों और कारीगरों को समुचित मात्रा में प्रोत्साहन मिला था।

राष्ट्र की शक्तियाँ जो अभी तक विनाशकारी प्रवृत्तियों में लगी हुई थीं, अब रचनात्मक क्षेत्र की ओर प्रेरित की गईं। प्रान्तों के सामन्त-डेमियो स्थानीय कला के विकास के लिए मनोयोगपूर्वक साधन जुटाते और प्रति वर्ष अपने यहाँ की सर्वश्रेष्ठ कलात्मक कृतियों के नमूने शोगन्स और मिकैडो के दरबार में भेजते। राजदरबार में कला की सर्वोत्तम कृतियों के नमूने भेजने में विभिन्न प्रान्तों में होड़-सी लगती कि किस प्रान्त की कला उत्कृष्टतम है। स्थानीय डेमियो ने अपने

नारा के धूरूजी मन्दिर में मैत्रेय की काष्ठ प्रतिमा

प्रान्तों में प्राय: मिट्टी के बर्त्तन बनाने के कारखाने और वर्कशाप निरे अपने इस्तेमाल के लिए स्थापित किये थे। इन कारखानों में पोर्सलीन (चीनी मिट्टी) के अत्यन्त सुरुचिपूर्ण बर्त्तन तैयार किये जाते थे। डेमियो के उदारतापूर्ण सरक्षण में धातु की खुदाई, पच्चीकारी, लकड़ी की खुदाई आदि में संलग्न कारीगरों ने भी जीविका के प्रश्न की ओर से निश्चिन्त होकर स्वतन्त्रतापूर्वक अपने पेशे की उन्नति की। इन कलाकारों के सामने जल्दबाजी की कोई समस्या न थी; न सामूहिक उत्पादन की फिक्र और न फ़ैशन या जनता की रुचि का प्रतिबन्ध। कलाकार अपनी निज की क्रियात्मक प्रवृत्तियों की प्रेरणा से प्रेरित होकर अपनी ही स्वतंत्र गति से अपनी कृतियों का सृजन करते। इन कृतियों में इनकी सर्वश्रेष्ठ विभूतियाँ निहित होतीं, इनमें वे अपनी आत्मा पिरो दिया करते। कभी-कभी अकेली एक चीज के निर्माण में उन्हें बरसों लग जाते।

कालान्तर में प्राचीन कला की सादगी, मौलिकता और ताज़गी का बहुत कुछ अंश विलुप्त हो गया। प्रत्येक राष्ट्र की कला के इतिहास में क्रियात्मक प्रवृत्तियों के विकास के ज्वारभाटे आया करते हैं और इन्हीं के साथ युग की रवानी के अनुसार कला का उत्थान तथा पतन भी हुआ करता है।

राष्ट्रीय प्रोत्साहन के हट जाने पर भी कला के सृजन का कार्य बहुत-कुछ पूर्व-सञ्चित शक्ति के आधार पर कुछ दिनों तक चलता रहता है—किन्तु ऐसी कला में ज़िन्दादिली नहीं रहती—इसमें पूर्व अर्जित विभूतियाँ ही बनाव-शृंगार के साथ नवीन रूप में बार-बार प्रकट होती रहती हैं। ऐसी कला में वास्तविक क्रियात्मक अनुभूति की जगह बहुत कुछ पुरानी बातों के ही रग बाजीगिरी खेली जाती है।

शनै-शनै शक्तिशाली केन्द्रीय गवर्नमेण्ट के अवसान का आरम्भ हुआ। फलस्वरूप जनतन्त्रवाद के उत्थान के इस ज़माने में वैयक्तिक निजी प्रवृत्तियों के प्रभाव से ओत-प्रोत कृतियाँ हेय की दृष्टि से देखी जाने लगीं। जापान की कला चरमसीमा पर पहुँच चुकी थी, अब जनसाधारण के बीच उसे पहुँचाना था। जापानी कला में इस जनतंत्रवाद के समावेश का आभास हमें चित्रकारी के क्षेत्र में विशेष रूप से देखने को मिलता है। जापानी कला सभ्यता के दम भरनेवाले मुट्ठी भर धनिकों की दुनिया के सातवें आसमान से उतरकर ज़मीन पर आई ताकि जनसाधारण को अपनी कलात्मक तृष्णा को शान्त करने का अवसर मिले। यह सच है कि स्वयं जापानी लोग चित्रकारी की गणना कला मे नहीं करते, किन्तु यह भी तथ्यपूर्ण है कि चित्रकारी के बहाने ही जापानी कला ने ससार के अन्य देशों में प्रवेश पाया है।

दुर्भाग्यवश पाश्चात्य प्रतिपादन-रीति और आदर्श के संसर्ग, ऐसा प्रतीत होता है, जापानी कला के लिए घातक साबित हुए। युरुपीय आदर्शधारा के ससर्ग ने प्राचीन जापानी कला के सौन्दर्य और लालित्य का सत्यानास कर दिया। अनीलीन (aniline) के रासायनिक रंग ने जापान के चित्रों के रंग के कोमल शेड को चौपट कर दिया है। धातुओं की नक़्क़ाशी लकड़ी के काम और वार्निश की चित्रकारी के क्षेत्र में नई जापानी कला प्राचीन कला के मुक़ाबले में कहीं निकृष्ट उतरती है। दुनिया के बाजार में गुण की नहीं, वरन् सस्ते माल की माँग थी। जापानी तो अपने को हर क़िस्म की परिस्थितियों के अनुकूल बना लेने में सिद्धहस्त होते ही हैं, बस इन्होंने प्राचीन कला की सुन्दर कृतियों की सस्ती नक़लें सैकड़ों की सख्या में तैयार करनी शुरू कर दिया।

आधुनिक व्यवसायिक दुनिया को कला से वास्ता ही क्या? और इस सम्बन्ध में तो ऐसा लगता है कि उसने कलाकारों को भी पेशेवर व्यापारी के रूप में परिणत कर दिया।

"जापान अब एक अप-टू डेट राष्ट्र है, सभ्यता में, तौर तरीक़े में, और आदर्श में, पूर्ण रूप से पाश्चात्य। निकट भविष्य में जापान एक प्रथमवर्ग का व्यवसायिक राष्ट्र बनने जा रहा है। सम्भव है कि जैसा इसने पहले भी किया है, यह इन नवीन संसर्गों को, अपनी मौलिकता पर लेशमात्र भी आँच न आने देकर अपने अन्दर पूर्ण रूप से जज्ब कर ले। और यह भी सम्भव है कि फ़ोनिक्स की तरह प्राचीन कला के अस्थि-अवशेष से उतनी ही उज्ज्वल एक नूतन कला की उत्पत्ति फिर हो जाय। किन्तु इसके प्रतिकूल कुछ लोगों का कहना है कि कला, संसार के यौवनपूर्ण जमाने की चीज़ है और विज्ञान के इस युग का कलाकार कभी भी प्राचीन युग के सस्कारों में अपने को आवेष्टित नहीं रख सकता। यौवन की जिन्दादिली जो औरों में मुर्झाकर विनष्टप्राय हो गयी है, उसे अपने अन्दर हरी-भरी और जागरित रखना ही पड़ेगा।"

किसी देश की कला और संस्कृति को ठीक-ठीक समझने के लिए ही वहाँ की जलवायु, प्राकृतिक साधना,
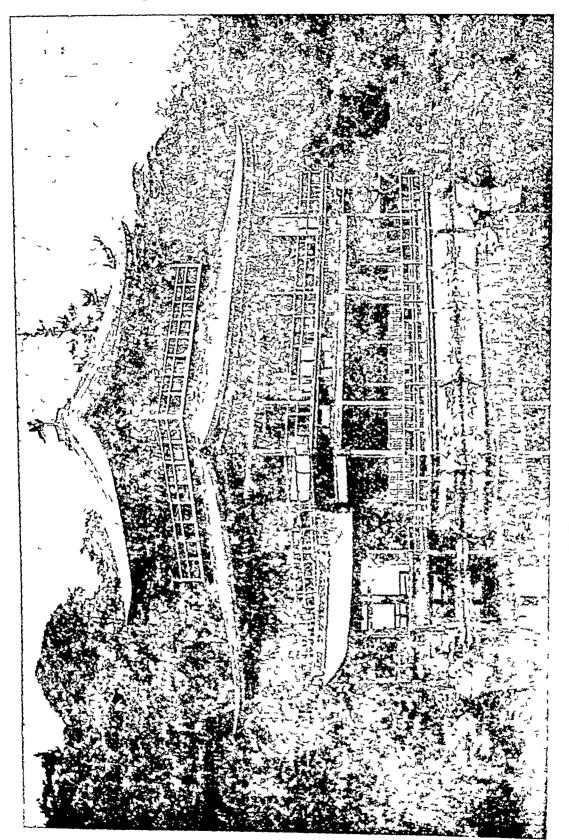
कियूतो के समीप रोक्यूजी मन्दिर का स्वर्ण मंडप

कियूतो के समीप दैगोजी मन्दिर का प्रार्थना भवन

रहन सहन के तरीक़े और वहाँ के निवासियों के स्वभाव का अध्ययन करना आवश्यक है क्योंकि दूसरे के मापदण्ड से किसी देश की कला का वास्तविक मूल्य कभी आँका नहीं जा सकता। जापान, सभी जानते हैं, एक छोटा सा मुल्क है जहाँ आये दिन भूचाल आया करते हैं। छोटा मुल्क होने के कारण इसके प्राकृतिक साधन भी सीमित हैं अत थोड़े से ही बहुत काम निकालना जापानियों का विशेष गुण है। सूक्ष्म से बृहत्तर की अनुभूति की भावना जापानी कला का विशेष अंग है। जापानी चित्र देखने में छोटे होते हैं, किन्तु उनके अन्दर प्रेरणा और महानता अनिवार्यत निहित होती है, कविताएँ छोटी, किन्तु प्रेरणा और महानता से भरपूर, नक़्क़ाशी और पच्चीकारी भी साइज में छोटी किन्तु प्रेरणा और महानता से भरी हुई। यहाँ तक कि इमारतें भी छोटी किन्तु पूर्णतया साफ सुथरी और चित्ताकर्षक होती हैं। यहाँ इस बात का कभी प्रयत्न नहीं किया जाता कि गगनचुम्बी गिर्जे खड़े किये जायँ, जो माइकेल एन्जेलो की भाँति बृहत्काय भित्तिचित्रों से, या वेरोनिसो के अश्वारोही वीर योद्धाओं के चित्र अथवा रुबेन्स या गस्ताव डाट के लम्बे-चौड़े या पर्देवाले चित्रों से सजाए गए हों।

नारा के होरियूजी मन्दिर में बोधिसत्व की काष्ठ प्रतिमाएँ

एक ऐसे देश में जिसे आये दिन भूचालों का सामना करना पड़ता हो, इमारतें हलकी ही बनायी जा सकती हैं। न तो विशालकाय भवनों की यहाँ गुंजाइश है, और न बड़े पैमाने पर उसके बनाव शृंगार की। जापान के इन तमाम प्राकृतिक प्रतिबन्धों ने जापानी कला को बहुत-कुछ प्रभावित किया है। यह सभी को मालूम है कि जापानी कला ने किस प्रकार इन प्रतिबन्धों पर विजय प्राप्त किया है। हलकी और छोटी इमारतों में रहने के अर्थ होते हैं प्रकृति के सौन्दर्य्य के सम्पर्क में रहना। जापानियों की यह एक प्रधान विशेषता है कि वे प्रकृति और कला के सौन्दर्य्य के पारखी होते हैं। सड़कों पर यात्रियों के लिए नोटिसें इस आशय की लगी रहती हैं कि अमुक स्थान से प्रकृति के सौन्दर्य्य का निरीक्षण बख़ूबी किया जा सकता है। कला की अनुभूति रखनेवाली माताएँ चेरी फूलोत्सव के अवसर पर अपने बच्चों को शहर के पार्क में ले जाती हैं ताकि बच्चे के मस्तिष्क में फूलों के सौन्दर्य्य और उनकी मनोहरता अभी से बैठ जायँ।

सौन्दर्योपासना के अतिरिक्त वे अपनी कृतियों में सौंदर्य की अभिव्यक्ति करना भी जानते हैं। क्योंकि जापान में लिखना सीखने में भी चित्रकारी की ट्रेनिंग मिल जाती है। युरुप के कलाकार की यह कोशिश होती है कि उसकी कृतियों में पूरे ज़ोर के साथ यथार्थ (realism) की अभिव्यक्ति की जाय, बिना इस विस्तृत अभिव्यक्ति के अपनी कृति को वह अधूरी समझता है, किन्तु संस्कृति की

मंज़िल मे आगे बढ़ते हुए जापानी कलाकार के लिए इतना ही पर्याप्त है कि वह अपनी कृतियों मे यथार्थ की ओर संकेत कर दे या एकाध सुझाव दे दे। कदाचित् जापानी कला का यह विशेष गुण है कि इसमें अनेक बातें बिना व्यक्त किये ही छोड़ दी जाती हैं, क्योंकि पूर्ण ब्योरे की अभिव्यक्ति वाली यह निकृष्टतर कला जिसका पाश्चात्य देशों में पग पग पर लिहाज रखना पड़ता है, जापान में कहीं नहीं देखने को मिलती।

"अवश्य, पाश्चात्य कला के तौर-तरीके सुदूरपूर्व की कला के अनेक तौर-तरीक़ों से भिन्न हैं, किन्तु ये विभिन्नताएँ इतनी गहरी नहीं हैं। प्रत्येक कला की नींव परम्परा पर खड़ी होती है, इसी की अभिव्यक्ति कलात्मक कृतियों के अन्दर की जाती है। अत: जापानी कला की आत्मा को समझने के लिए हमे जापानी परम्परा को स्वीकार करना होगा। हमें जापानी कला की भाषा समझनी होगी। हमे उन्हीं की आँखों से उनकी कृतियों को देखना होगा।

जापानी कला के अनेक समालोचकों ने यही गलती की है, उनके दृष्टिकोण में सहानुभूति और मैत्रीभाव की कमी होने के कारण वे अपनी कला को ठीक ठीक समझ न पाये। उन्होंने उसके उलटे अर्थ लगाये। लालित्यपूर्ण सुन्दर बौद्ध मूर्तियों को शरीरविज्ञान के दृष्टिकोण से परखने की कोशिश की जाती है, और स्वप्निल आभा से आच्छादित जापानी प्राकृतिक दृश्य के चित्रों के गुण-दोष की परख पर्सपेक्टिव (Perspective) के दृष्टिकोण से की जाती है। भौतिकवादी आदर्शवाद को अपनी भौतिक तराजू पर तौलता है और उसे निकृष्ट ठहराता है।"

—(स्टीवर्टडिक)

जापान के घरों में दीवालें महज काग़ज़ के पर्दे होते हैं। छत का सारा बोझ किनारे की चार बल्लियों पर टिका होता है, जो स्वयं भूमि के अन्दर नहीं गड़ी होती हैं—वे पत्थर के बड़े बड़े टुकड़ों पर खड़ी रहती हैं। भवन-निर्माण की इस सादगी और हलकेपन ने जापान की कला को एक विशिष्ट मार्ग में प्रवाहित कराया है। जापानी तसवीरों में भारी भरकम चौकठ की जगह रेशमी फ़ीते लगे रहते हैं, ताकि जब तसवीर टँगी न हो तो नक़्शे की भाँति इसे लपेटकर अलग रखा जा सके। व्यवहारिक कला-कौशल का क्षेत्र भी इसी कारण सीमित है, बृहत्‌काय और महत्वपूर्ण कृतियाँ मन्दिरों और मठों के अन्दर रखी जाती हैं। घर के अन्दर इनके लिये स्थान नहीं है। घर के अन्दर फर्निचर की मात्रा भी न्यूनतम रक्खी जाती है। बैठने के लिए एकाध चटाइयाँ, क्योंकि जापानी लोग कुर्सियों का प्रयोग नहीं करते, एक या दो काग़ज़ के पर्दे, ताकि इच्छानुसार घर को अलग-अलग कमरों में विभाजित कर सकें, लकड़ी के कोयले की एक अँगीठी, भोजन तैयार करने के लिए कुछ बर्तन, कुछ नक़्क़ाशी और पच्चीकारी किये हुये बर्तन, पखे, दर्पण और अन्य सजावट की छोटी छोटी चीजें, पहनने के कपड़े, अस्त्र और कुछ निजी इस्तेमाल की चीजें, बस जापानी घरों में ये ही चीजें मिलती हैं। अत जापानी कारीगरों का क्षेत्र इन्हीं तक सीमित रहता है। जापान की इमारतों मे वर्साई या फतेहपुर सीकरी की इमारतों की भाँति गहरी और भारीभरकम सजावट की भरमार न मिलेगी। सूक्ष्मता और सादगी इनका आदर्श है, किन्तु जो कुछ थोड़ी बहुत सजावट वहाँ होगी वह लालित्य और सौंदर्य की दृष्टि से अनुपम।

वास्तु-निर्माण कला (भवन-निर्माण) के विकास का सर्वप्रथम आभास हमें जापान के धर्म-मन्दिरों में मिलता है। बौद्ध धर्म के अवतरण के पहले जापान के लोग एक रहस्यमय धर्म 'शिन्टोइज्म' में विश्वास करते थे। यद्यपि जापान मे आज दिन भी कई एक शिन्टो मन्दिर मौजूद हैं, ख़ासकर इदज़ूमो और इजे के मन्दिर, किन्तु उनका काल निर्धारित करना सम्भव नहीं है। जापान में बौद्ध धर्म का आविर्भाव सबसे पहले ५२२ ई० में सम्राट् केताई के जमाने में हुआ। चीन के हियाग वंश के शिव-तत्-सुन नामक राजा के ज़रिये बौद्ध धर्म का जापान में प्रवेश हुआ था (ध्यान दीजिए चीन के इस राजा का एकदम हिन्दू नाम है)। बौद्ध धर्म के साथ बौद्ध कला का भी जापान के अन्दर प्रवेश हुआ। अपने जन्मस्थान भारत से कारवानों के रास्ते से यह कला चीनी तुर्किस्तान, चीन, कोरिया और जापान में पहुँची। नारा के सुप्रसिद्ध होरियूजी मन्दिर के भित्तिचित्रों में अजन्ता-कला की स्पष्ट छाप देखने को मिलती है। चित्र की देव-मूर्तियों में अधिकांश बुद्ध भगवान् और बोधिसत्व की हैं, उदाहरणस्वरूप अमिताभा, रत्नसम्भव, भैषगागुरु मैत्रेय, अक्षम्य, अवालोकितस्वर आदि के चित्र प्रचुर संख्या में वहाँ बने हुए हैं। इस चित्रकारी की स्टाइल अजन्ता की स्टाइल से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है, जिसमें मथुरा, भरुत, साँची, गान्धार और फारस के कला का भी पुट नज़र आता है। अवश्य फारस की कला की छाप

नारा के होरियूजी मन्दिर का पेगोडा तथा उसका कोन्दो (स्वर्ण हॉल)।

नारा के होरियूजी मन्दिर में शाक्य मुनि तथा उनके शिष्यों की काँसे की मूर्ति

अत्यन्त हलकी है, नगण्य मात्र; इसका असर केवल सजावट और हाशिये के फूल पत्तों में नज़र आता है, चित्रों के मुख्य विषय में नहीं।

जापानी कला के सुविख्यात आलोचक मिस्टर सेची-ताकी ने जापानी कला पर बौद्ध धर्म के प्रभाव की सुन्दर व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की है—

"यह स्वीकार करना ही होगा कि जापानी कला को प्राणशक्ति और दक्षता बौद्ध धर्म से प्राप्त हुई है। सभी देशों में भवन-निर्माण-कला को धार्मिक भावनाओं से प्रेरणा मिली। जापान भी इस नियम का अपवाद न बन सका। बिल्कुल प्रारम्भ में भवन निर्माण की सुरुचिपूर्ण कला का प्रदर्शन यहाँ बौद्ध पैगोडा और मठों की इमारतों में हुआ था। बौद्ध धर्म की प्रेरणा की अनुपस्थिति में कदाचित् इस देश में कलापूर्ण मन्दिर और राजभवनों—खासकर उनकी सजावट और शान

कियूतो जोरूरजी मन्दिर में श्रीदेवी की काष्ठ प्रतिमा

का निर्माण कभी भी न हो पाता, यद्यपि बौद्ध धर्म के आने के पहले विशालकाय इमारतों का निर्माण भी इस देश में हुआ था जो केवल अपने साइज की दृष्टि से बेजोड़ थीं। मूर्त्ति निर्माण-कला तथा चित्रकारी पर भी ठीक इसी प्रकार बौद्ध धर्म का कल्याणप्रद प्रभाव पड़ा है। प्राचीन काल की बची हुई कला-कौशल की विरली ही कोई ऐसी कृति होगी जो बौद्ध धर्म के संसर्ग में न आयी हो। यदि हमारी कला के उत्थान का पथप्रदर्शन हमारी एकाकी राष्ट्रीय रुचि ने ही किया होता तो शायद यह पूर्णतया व्यवहारिक कला-कौशल में ही परिणत हो गयी होती। बाह्य प्रभावों का सम्पर्क यदि जापानी कला को न मिलता, तो यह कभी भी उत्थान के इस चरम शिखर पर न पहुँच पाती। बौद्ध धर्म के आविर्भाव ने वास्तव में हमारी कला को परिपक्व बनाने में महत्त्वपूर्ण सहायता दी, वरना हमारी कला अर्द्ध-

परिपक्व ही रह जाती। सच तो यह है कि जापान बौद्ध धर्म का चिरऋणी रहेगा विशेषत अपनी ललित कलाओं के विकास के लिए।"

होरियूजी मन्दिर की वाह्य स्टाइल में चीनी प्रभाव की स्पष्ट झलक मिलती है। मन्दिर का भवन मुख्यत लकड़ी का बना हुआ है। लगभग दो तीन फ़ीट व्यास के काष्ठस्तम्भ भारी शहतीरों को टेके हुए हैं। संधिकोण को सँभालने के लिए उनमें सादे ब्रैकेट लगे हुए हैं। ये शहतीरें काठ की छत को सँभालती हैं, जिन पर खपरैल बिछी हुई है। दीवालें या तो प्लैस्टिक की बनी हैं या पर्दों की। इस ढंग की हलकी किन्तु सुदृढ़ इमारतें वहाँ नित्यप्रति आनेवाले भूकम्प के धक्के को अच्छी तरह सह सकती हैं।

इन मठों के भीतर का भाग अत्यंत शानदार होता है। प्लैटफार्म पर बुद्धजी की एक स्वर्णिल प्रतिमा रहती है, जिसके इर्द-गिर्द बोधिसत्वों की मूर्त्तियाँ होती हैं। इनके ऊपर एक विशाल छत्र है, जिस पर वाद्ययंत्र लिए हुए देवदूतों के चित्र खुदे हुए हैं। लकड़ी के स्तभं को सिंदुरिये, आसमानी, और हरे रंग तथा स्वर्णिल चमक और विभिन्न पालिशों से विभूषित किया गया है। दीवालें बौद्ध अमिताभ के स्वर्गसम्बन्धी भित्तिचित्रों से सजाई गई हैं।

नारा के होरियूजी मन्दिर के अतिरिक्त उसी के समकक्षी जापान में अन्य कई स्थानों पर भी कई एक मन्दिर और पवित्र इमारतें हैं। इनमें यूजी का बियोडिन मठ विशेष उल्लेखनीय है। चीन की भारीभरकम और गम्भीर तथा निरुल्लास इमारतों ने यहाँ अल्पकाय किन्तु लालित्यपूर्ण रूप धारण कर लिया है। छतें गगनचुम्बी न होकर नीची हो गई हैं। इनके सर्वांग में एक प्रशांत लालित्य-निहित हो गई है। वाह्य रेखाएँ भी अतीव उत्कृष्ट हैं। वाह्य सजावट में भी सादगी का स्थान सर्वोपरि है, व्यर्थ की तड़क-भड़क नहीं है। किन्तु भीतर होरियूजी के मन्दिर की भाँति ही इस मन्दिर को भी पूर्ण सजधज के साथ अलंकृत किया गया है। छत में खुदे हुए मनोरम चित्र, काली पालिश के बेल-बूटे, जिनमें हाथी दाँत, सीप तथा चाँदी जुड़ी हुई हैं, उसकी छटा को सुरम्यतर बनाते हैं, और नीचे फर्श पर तरह-तरह के रंगों से विभूषित सुनहली कारीगरी उसे और भी मनोरम बनाती है। फलस्वरूप मन्द प्रकाश में एक गहरी, किन्तु गांभीर्य्यपूर्ण आभा का अनुभव यहाँ होता है।

निक्कू के समाधि मन्दिर तथा धार्मिक इमारतें बाद के तोकूगावा काल की कृतियाँ हैं। इनके अन्दर सजधज की पराकाष्ठा पहुँच चुकी है। यूजी के वियूडोइन काल की चित्रकला की सादगी और शिष्टता इन इमारतों के अन्दर नहीं मिलती। इनकी सजावट और चित्रकारी में अतिक्रमणता यहाँ तक आ गई है कि मन्दिर की स्थापत्य-कला की खूबियाँ भी इनके अन्दर छिप जाती हैं। अवश्य ही इन मन्दिरों का एक शक्तिशाली और पुर-असर प्रभाव दर्शक पर पड़ता है किन्तु कला की सुरुचि का अपकर्ष भी इनसे साफ प्रकट होता है।

यह कहा जाता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का पता जितनी अच्छी तरह उसके मकान से लग सकता है, उतना अन्य किसी वस्तु से नहीं। एक अंग्रेज का मकान उसका दुर्ग है। उसे सुरक्षणता और एकांतता की आवश्यकता होती है, अतः अपने मकान के निर्माण में वह इस बात का ध्यान रखता है कि मकान मजबूत और अन्य जनों के सम्पर्क से अलग हो। किन्तु जापानियों के प्रकृति-प्रेम ने उन्हें इसके लिए प्रेरित किया है कि वे अपने दैनिक जीवन में प्राकृतिक सौंदर्य का समावेश वाटिका द्वारा प्रचुर मात्रा में कर सकें। इसी उद्देश्य से जापानियों के घरों में वाटिका का एक प्रमुख स्थान होता है। दोनों इस तरह एक दूसरे से मिले होते हैं कि उनके बीच एक असाधारण सामञ्जस्य स्थापित हो जाय। साथ ही कलात्मक रुचि के प्रदर्शन की विभिन्नता तथा रचनात्मक प्रवृत्तियों के विकास के लिए भी उसमें काफी गुंजाइश रहती है, चाहे यह एक छोटे पैमाने पर ही क्यों न हो। यह बतलाना मुश्किल हो जाता है कि कहाँ पर वाटिका खतम होकर मकान शुरू हो जाता है। विशेषतया जब वे परदे जो दीवाल का काम देते हैं, हटा लिये गये होते हैं। शानदार उच्च महलों में या छोटे साधारण हैसियत के घरों में, हर कहीं अन्दर अक्षुब्ध शान्ति विराजती है। जापानी जिन पदार्थों का प्रयोग अपने गृह-निर्माण के लिए करता है, उसके सारभूत गुणों के परखने की क्षमता उसके अन्दर अत्यन्त सजीव होती—और बहुत कुछ अंशों में यही सजीवता उनके घरों की सन्तोषप्रद साज-सज्जा के पीछे निहित होती है। लकड़ी की नक्काशी में उसकी असलियत को भाँति भाँति के रंग और पालिश से छिपाने की जगह उच्च कोटि के कलाकार भरपूर यह प्रयत्न करते हैं कि प्रत्येक टुकड़े के आभ्यन्तरिक गुण, रंग, रेशे और तन्तुजाल पूर्णतया निखर आएँ। ठीक इसी तरह अन्य पदार्थों के गुणों का भी निदर्शन कराया जाता है, ताकि इनके संयोग और सम्मिश्रण में सामञ्जस्य के साथ मौलिकता का भी पुट प्रचुर मात्रा में हो।

लिओ टॉल्स्टॉय : एक व्यक्तित्व

मेरे घर में नित्य ही फूल खिलते हैं। उनका रंग, उनकी सुवास उनका विकास, बरबस मुझे मुग्ध कर देते हैं। जब तक मैं उनकी ओर देखता रहता हूँ, अपने को भूला हुआ पाता हूँ। मेरे लिए संसार भर में उन फूलों के आनन्दानुभव के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रह जाता। मैं क्या हूँ, कौन हूँ, आदि कोई भी प्रश्न मेरे दिमाग में नहीं आते। जब कोई मुझे बुलाता है अथवा अन्य कोई विघ्न उपस्थित हो जाता है, तभी मेरा ध्यान मुझ तक पहुँचता है।

प्रत्येक श्रेष्ठ जीवन फूल की तरह विकसित होता है। टॉल्स्टॉय की सदा यही साध रही कि वे प्रकृति के निकटतम रहें। प्रकृति जैसा उनका स्वभाव, उनका जीवन हो जाय—सरल, प्रसन्नतापूर्ण। काउन्टैस् एलेक्जेन्ड्रा टॉल्स्टॉय को १ मई १८५८ को लिखे गये पत्र में उन्होंने अपने आनन्दानुभव को व्यक्त करते हुए लिखा है—"वसन्त का आगमन हो गया है। सब ओर आश्चर्य ही दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक दिन आश्चर्यपूर्ण है। एक नग्न वृन्त पर सहसा ही अनेक पत्तियाँ निकल आई हैं। हरी, नीली, पीली अनेक रंगों की चीजें भगवान् जाने कहाँ से इस पृथ्वी में से निकल आई हैं। छोटे-छोटे पक्षी आनन्दोन्मत्त हो एक झाड़ी से दूसरी झाड़ी की ओर खूब शोर मचाते हुए उड़ते फिर रहे हैं—न जाने क्यों? और वे कितने सुन्दर लगते हैं! अभी-अभी इसी क्षण दो बुलबुलें मेरी खिड़की के नीचे केलि कर रही हैं। ×××× मैं तीन घंटे तक उनके साथ खेलता रहा। गवाक्ष खुले हुए हैं। रात्रि में उष्णता है। मेंढक और चौकीदार अपने-अपने कार्य में व्यस्त हैं। सभी ओर सौन्दर्य है। मै विचार करता हूँ वसन्त ऋतु ने थोड़ी देर के लिए मेरे एकाकीपन में प्रवेश कर मुझे बेचैन कर दिया है। मैं चाहता हूँ कि यह बेचैनी तुम्हें भी हो। सम्भव है इनसे भी अधिक आनन्द के क्षण हो सकते हैं, परन्तु इतने पूर्ण अथवा सामञ्जस्य लिये हुए कदापि नहीं। जाड़ों में मैं तुतशेव की कविता 'वसन्त' को विस्मरण कर देता हूँ, और वसन्त आगमन पर उसका प्रत्येक चरण गुनगुनाया करता हूँ। कल मैं अपने खरीदे हुए जंगल में गया। उसे मैं काट रहा हूँ। बर्च (वृक्ष विशेष) में पत्तियाँ निकल रही हैं, और वृक्षों पर बुलबुलों का वास है। इन्हें कुछ नहीं मालूम कि वे सरकारी थे, अब मेरे हैं, काटे जा रहे हैं—मालूम करना भी नहीं चाहते। वे काट डाले जायँगे और फिर बढ़ जायँगे, और हमारे बारे में कदापि कुछ भी न जान पावेंगे। समझ मे नहीं आता, तुम्हें मैं यह अनुभव कैसे समझाऊँ। ×××× सबमें पग-पग पर भगवान् की ही सत्ता विद्यमान है।"

टॉल्स्टॉय का यह प्रकृति प्रेम असाधारण था। यही प्रकृति-प्रेम आगे चलकर जब वे वृद्ध हो गये थे मानव-प्रेम में परिणत हो गया था। जिस सौन्दर्य, सरलता, स्वच्छन्दता के निकटतम दर्शन उन्होंने प्रकृति के साथ रहकर किए उनका पूर्ण अभाव उनको मानव में खटकता था और वे दुःख से अभिभूत हो जाते थे। मानव-जीवन क्यों दुःखी है? प्रकृति कितनी सुखी है, सुन्दर है! मनुष्य वैसा क्यों नहीं? क्या मानव जीवन का अन्त मरण है? फिर क्यों जीवित रहा जाय? बहुत दिनों तक जीने मे लाभ? महात्मा बुद्ध की तरह वे जीवन की पहेली को सुलझाने में लग गए। उन्होंने समाज में प्रचलित धर्म को देखा, सामाजिक जीवन को देखा, निकटस्थ और दूरस्थ समाज को देखा, उन्हें केवल घृणा और लज्जा ही हुई।

जीवन के प्रारम्भ में ही माता-पिता के स्नेह से वंचित रहने के कारण परिस्थिति ने उन्हें चिन्ताशील बना दिया था। वे अकेले बैठे-बैठे जीवन के विविध दृश्यों को

देखते रहते और शङ्कायें उपस्थित करते रहते। पर शङ्काओं की निवृत्ति उन्हें सरल न मालूम पड़ती। पूर्ण सामञ्जस्ययुक्त जीवन सदैव उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करता पर वे उसको वरण न कर पाते। जब उनको स्कूल में भेजा गया वहाँ का वातावरण उन्हें तनिक भी अनुकूल न जँचा। जो भी विषय पढ़ाये जाते थे उनमें से किसी में भी उनकी रुचि न थी। अपनी रुचि के विषय पढ़ने की वहाँ आज्ञा न थी। फल यह हुआ कि उनका प्राथमिक स्कूल का अनुभव बहुत ही कटु रहा। विश्व विद्यालय में जब उनका प्रवेश हुआ वहाँ के राजसी जीवन में पहले तो उन्होंने अपने स्वभावानुसार असाधारणरीत्या खूब भाग लिया, वहाँ के प्रत्येक कार्य में खूब दिलचस्पी दिखाई। नाचने, गाने, शिकार आदि में अपने को भुला दिया। उन्होंने हर तरह से अपने को 'बिगड़ने' दिया। वे स्वय भी लिखते हैं, "कज़न में मेरा जीवन मेरे लिए किसी प्रकार गौरवपूर्ण न था।" बिरूकोव और जागोस्की सहमत हैं कि टॉल्स्टॉय का जीवन सदाचरण-शून्य था और टॉल्स्टॉय अवश्य ही उससे घृणा करता रहा होगा। इन दोनों का विरोध करते हुए टॉल्स्टॉय ने लिखा है—"मुझे लेशमात्र भी घृणा मालूम न होती थी, प्रत्युत् कज़न समाज में भोग-विलास का सुअवसर देख मुझे प्रसन्नता थी वह बहुत ही सुन्दर समाज था। मैं अपने भाग्य को सराहता हूँ कि मेरी युवावस्था ऐसी परिस्थितियों में बीती जहाँ एक नवयुवक नवयुवक रह सकता था बिना उन समस्याओं में उलझे हुए जो उस अवस्था में उसकी समझ से बाहर होती हैं, और मैं ऐसा जीवन व्यतीत कर सका जो आलस्य और विलासिता से युक्त होने पर भी पापपूर्ण न था।"

टॉल्स्टॉय का विश्वविद्यालय का जीवन विलासिता से भरा हुआ था और कदाचित् इसी कारण अपने प्रथम वर्ष में वह परीक्षा में असफल रहे। इस समय के जीवन का नजारयेव, उनके एक सहपाठी, ने एक चित्र अङ्कित किया है—"मैं काउन्ट से दूर ही रहता था, जो हमारे प्रथम परिचय से ही अपनी तटस्थता, अपने खड़े रहनेवाले बालों और अपनी अर्ध निमीलित आँखों के चुभते हुए भाव से मुझे अपने पास तक न फटकने देते थे। मैंने कदापि ऐसे किसी भी नवयुवक से पहले साक्षात्कार नहीं किया था जिसके अन्दर अपने प्रति बेहद महानता और आत्म-संतोष के भाव भरे हों।"

'पहले तो मैं काउन्ट से मिलता ही न था जिन्होंने अपने बेढंगेपन और लज्जा के होने पर भी 'अमीरजादों' की एक टोली की सदस्यता स्वीकार कर ली थी। उन्होंने मेरे अभिवादन का उत्तर भी नहीं दिया मानों वे यह जतलाना चाहते हों कि यहाँ भी हम एक दूसरे के बराबर नहीं हो सकते।"

विश्वविद्यालय में टॉल्स्टॉय बड़े ठाट-बाट से रहते थे। अपने पद के अनुकूल वस्त्र धारण करते थे। जो बातचीत टॉल्स्टॉय सन् १८४६ में १८ वर्ष की अवस्था में करते थे वही वे १८८६ में भी करते थे और उतने ही आत्म-विश्वास के साथ।

टॉल्स्टॉय को इतिहास के पढ़ने से बेहद चिढ़ थी। उसको वह एकदम बेकार का विषय समझते थे। "यह कौन जानना चाहता है कि भयङ्कर जौन का दूसरा विवाह तेम्रुक की कन्या से २१ अगस्त १५६२ में हुआ था और उसका चौथा विवाह अन्ना अलक्सेयेव्ना कोल्टौस्की से १५७२ में?"

टॉल्स्टॉय के माता-पिता के देवलोकगत होने पर उनके अभिभावक बने उनके चाचा-चाची जो विलासिता के परम भक्त थे। इन्हीं से टॉल्स्टॉय के जीवन में भी बड़ी अकड़ और गर्व और शान का आगमन हुआ। जो भी बुराइयाँ बड़े आदमियों के लड़कों में हो सकती हैं, सभी टॉल्स्टॉय में विद्यमान थीं। परन्तु प्रत्येक अवसर पर अनेक बड़ी बड़ी भूलें होने पर भी टॉल्स्टॉय की विचारशीलता और मननशीलता ने उन्हें कभी नहीं छोड़ा। जब कभी अवकाश मिल जाता वे समाज का और अपने जीवन का पूर्ण विश्लेषण कर डालते। औचित्य अथवा अनौचित्य पर खूब सोचते और जीवन को सामञ्जस्यपूर्ण बनानेवाले तथ्यों को खोजते।

कज़न विश्वविद्यालय के आमोद-प्रमोदपूर्ण जीवन में ओतप्रोत टॉल्स्टॉय एक दिन अमीरों के शत्रु हो सके। इसका एकमात्र कारण उनका बाल्यावस्था से ही विचारशील और एकान्तसेवी होना था। 'बढ़त-बढ़त अभ्यास के जड़मति होत सुजान।' जीवन भर विचार करते-करते टॉल्स्टॉय ने जीवन से अनेक सार ग्रहण किये और सबसे महत्वपूर्ण सार यह ग्रहण किया कि सरल जीवन ही, आडम्बरहीन, परिश्रमशील जीवन ही, सुखी हो सकता है। सरलता में ही आत्मसुख निहित है।

खूब सोच समझकर ही टॉल्स्टॉय ने कृषकों के-से वस्त्र पहने और हाथ में कुदाली और फावड़ा ग्रहण किया

टॉल्स्टॉय—(१८७२)

अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'अन्ना करेनिना" लिखना आरम्भ करते समय

चित्रकार—क्राम्सकॉय

था। सरलता के ही प्रवाह में वहकर उन्होंने अपने हाथों से जूते गाँठे थे। मानव का जीवन सबल क्या है? (What men live by? कथा मे टॉल्स्टॉय की सर्वोच्च आकांक्षाओं के दर्शन करने को मिलते हैं। कथा क्या है, उनकी अन्तरात्मा की खोज का एक सफल प्रयास है। मानव किस प्रकार सुखी हो सकता है, इस पहेली को सुलझाने और समझाने का उनके जीवन भर की मनन-शीलता का वह सुखद परिणाम है।

कॉलेज-जीवन में ही टॉल्स्टॉय के हृदय में भावनायें उठा करती थीं कि वे एक महान् पुरुष होंगे, वे ससार के दुःखी प्राणियों को सुख के मार्ग पर ले जाकर उन्हें मुक्ति दिलायेंगे, एक महान् नेता बन कर पीड़ित मानव समाज को सच्चे सुख का भागी बनायेंगे। बाल्यावस्था में जो उनमें ईसा के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति पदा की गई थी, वही श्रद्धा तथा भक्ति शनैः-शनैः एक चेतना में परिणत होने लगी जिसका अनुभव उन्हें ईश्वर की रची हुई प्रत्येक वस्तु में होने लगा। और कभी-कभी उनको ऐसा भासित होने लगता था मानों ईसा और किसी भी पीड़ित पुरुष में कोई अन्तर नहीं है। पीड़ित मनुष्य की सेवा ही उन्हें सची ईश्वर-सेवा जान पड़ती थी। भोगविलास से उनका मन एकदम पूर्ण वैराग्य की ओर खिंच जाता था। इतना ही नहीं, वे अपने को एक परम प्रेमी पुरुष के रूप में देखने को तड़प जाते थे।

टॉल्स्टॉय विश्वविद्यालय से निकलने के उपरान्त। (१८४८)

इसी उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु उन्होंने अरबी और तुर्की का अध्ययन प्रारम्भ किया था परन्तु इनमें विशेष गति न देखकर उन्हें छोड़ दिया। कॉलेज में क़ानून पढ़ना प्रारम्भ किया पर यह भी छोड़ दिया। समस्त विद्यार्थी जीवन इनका केवल एक मज़ाक़ रहा। परन्तु इनकी छाप अनेक नवयुवकों पर रही जो इनके संसर्ग में आते थे। सभी इनसे प्रेम करते थे। कॉलेज-जीवन इन्हें मोह नहीं सका। इन्हें उसमें कोई विशेष तत्त्व नहीं दिखाई दिया। एक बात ज़रूर इन्होंने अनुभव की। वह थी अपनी मानसिक शक्तियों में दुर्बलता। यह अपनी मानसिक शक्तियों को पूर्णता प्राप्त कराना चाहते थे। बहुत हद तक यह अपने प्रयत्न में सफल हुए। उसी प्रकार यह शारीरिक शक्ति के भी इच्छुक थे और निरन्तर व्यायाम और परिश्रम से इन्होंने अपने को बलिष्ठ बना लिया था। स्फूर्ति इनमें ख़ूब थी। एक बार कई मील तक घोड़ागाड़ी के आगे-आगे तेज़ दौड़ते रहे केवल यह दिखाने को कि उनमें शारीरिक शक्ति की कमी नहीं। इन दोनों शक्तियों के प्राप्त कर लेने पर इनका मस्तिष्क नैतिक शक्तियों के संकलन की ओर आ-कृष्ट हुआ। भलाई क्या है? बुराई क्या है? इसी अन्वेषण में इन्होंने बहुत समय लगाया। यदि यों कहा जाय कि इनका समस्त जीवन अपनी नैतिक उन्नति करने के प्रयास में बीता तो झूठ न होगा।

टॉल्स्टॉय को अपने जीवन में सबसे अधिक खटकने-वाली बात जो लगी वह यह थी कि वे जितना भी बुरा, पतित, पापी, व्यभिचारी, अपने को समझा करें, समाज उनको सदाचारी और साधु ही समझता था। "जुआ, झूठ, हत्या, डाका, यह सब कर्म मैंने किये, और लोगों ने भी किये, पर संसार ने, समाज ने इनमें कोई बुराई नहीं देखी, प्रत्युत् इन कर्मों में जो जितना निष्णात होता था,

उसका उतना ही अधिक आदर और मान था।"

टॉल्स्टॉय के समय में कृषकों की बड़ी ही दीन दशा थी। अकाल आये दिन पड़ा करते थे और सरकारी आदमी लगान वसूल करते समय लेशमात्र भी मनुष्यता का व्यवहार न करते थे। टॉल्स्टॉय ने अपनी आँखों से किसानों की दुर्दशा देखी और उन्होंने अपने अदम्य उत्साह से उनके कष्ट निवारण करने की ठान ली। किसानों को विश्वास न होता था कि कोई अमीर आदमी उनकी मदद के लिए अपना समय और धन दे सकता है। अमीरों के प्रति इन दीनों के हृदयों में घृणा के अतिरिक्त और कुछ न रह गया था। उनके प्रति अविश्वास की जड़ें जम गई थीं। टॉल्स्टॉय को अपने सेवाव्रत में असफलता रही। वे किसानों के दिलों में विश्वास न पैदा कर सके और अन्त में निराश होकर वे फिर विद्याध्ययन में लग गये। विफल-प्रयास होने पर भी टॉल्स्टॉय ने साहस नहीं छोड़ा। जीवन की पूर्णता की प्राप्ति के लिए वे अनवरत परिश्रम करते रहे। जब इनको अपना जीवन शून्य दिखाई पड़ता तो एकदम आमोद-प्रमोद में अपना समय गँवाने की ठान लेते और जी भर-भर खूब नाच, गाना, शिकार, ताश आदि के लिए अपने को बलि चढ़ा देते। परन्तु यह जीवन भी बहुत दिन नहीं चलता। इनका जीवनस्वप्न फिर इनकी आँखों के सामने नाचने लगता। सुख की खोज में, सामञ्जस्यपूर्ण जीवन के लिए, इनकी उत्कंठा इतनी प्रबल हो उठती कि यह बेचैन हो जाते और त्यागमय जीवन की ओर झुक जाते। काकेशश में जाकर इन्होंने एक झोपड़ी में 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' के आदर्श को अपने जीवन में प्राद्दत देखना चाहा। परन्तु इनके परिवार-वालों ने इनको ऐसा करने से रोका और इन्हें विवश किया कि ये सेना में सम्मिलित हो जायँ। १८५१ में इन्होंने सेना में प्रवेश किया। सरकासियन लोगों से टॉल्स्टाय ने युद्ध ठाना और मारकाट का पहला अनुभव प्राप्त किया। तुरन्त ही क्रीमिया का युद्ध प्रारम्भ हो गया और टॉल्स्टॉय ने इसमें पूरा भाग लिया। नर-संहार के दृश्यों ने टॉल्स्टॉय की आत्मा को कँपा दिया। रूसी सिपाहियों की वीरता ने टॉल्स्टॉय के हृदय में घर कर लिया। इस युद्ध में जो भी विचार टॉल्स्टॉय के मस्तिष्क में चक्कर काट रहे थे उनको इन्होंने लिख डाला। विचारों का तांता बँध गया। उनके प्रवाह में यह बह गये। इनको किसी भी प्रकार रोक न सके। फलस्वरूप इनकी रचनाएँ हृदयग्राही हुईं। इनकी प्रतिभा से रूसी पाठक और लेखक प्रभावान्वित हुए। 'सिवास्टोपोल की कहानियाँ' लिख कर टॉल्स्टॉय ने अपनी ख्याति का सूत्रपात किया जो दिन प्रतिदिन अधिक होती गई।

'सिवास्टोपोल की कहानियों' के प्रकाशन से टॉल्स्टॉय की इतनी प्रख्याति हुई कि ज़ार ने इनको लड़ाई से दूर किसी सुरक्षित स्थान पर भेजे जाने का आज्ञापत्र निकाला और साथ ही इन्हें सिवास्टोपोल का पूर्ण विवरण लिखने का काम सौंपा गया। जब यह सेण्ट पीटर्सबर्ग में आये इनका धूमधाम से स्वागत किया गया। अमीरों को खुशी थी कि उन्हीं में से एक ऐसा योग्य व्यक्ति निकला जिसने उन सब की नाक रख ली, उनके वर्ग का नाम रूस के कोने-कोने में कर दिया। साहित्यिकों ने इन्हें एक अत्यन्त प्रतिभावान् लेखक के रूप में देखा। तुर्गनेव ने इनसे मिलकर अपने को धन्य माना। नगर भर ने इनके स्वागत के लिए अपना हृदयासन बिछा दिया। जनता पर भी इनकी कहानियों का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। अपने आनन्द को देखकर टॉल्स्टॉय को बहुत प्रसन्नता हुई। परन्तु यह अपने लिखने से सन्तुष्ट न थे। इनको अपनी लेखन-शक्ति में एक भारी त्रुटि दिखाई पड़ती थी। विचार करने पर मालूम हुआ कि उनका गर्व उनकी उन्नति में सबसे बड़ा बाधक है और औरों को प्रसन्न करने के लिए लिखना मूर्खता है। सत्य को ज्यों-का-त्यों लिख देना ही सत्य की आत्मा की रक्षा का एकमात्र उपाय है। परन्तु यह जितना सरल दिखाई पड़ता है, उतना है नहीं।

नेक्रासोव, क्रोपोटकिन, पुशकिन आदि सभी प्रमुख लेखकों ने सिवास्टोपोल की कहानियों की सच्चे हृदय से प्रशंसा की है। नेक्रासोव ने लिखा है—"जिस सत्य के तुमने दर्शन कराये हैं, वह तो हमारे देश के लिए नितान्त ही नई चीज़ है। गोगोल की मृत्यु के बाद से तो उसके दर्शन ही रूसी साहित्य में दुर्लभ हो गये थे।" पचास वर्ष बाद क्रोपोटकिन ने लिखा—'युद्ध और शान्ति' (War and peace) में जिस सौन्दर्य और सत्य के दर्शन टॉल्स्टॉय ने कराये हैं, उनका सूत्रपात तो सिवास्टोपोल की कहानियों में हो गया था। वास्तव में विश्व भर के युद्ध-साहित्य में यह एक नवीन बात है।"

टॉल्स्टॉय में सत्य के दर्शन करने की अद्भुत शक्ति थी। हैन्स ऐन्डर्सन की एक कहानी है, जिसमें एक राजा कोई भी वस्त्र नहीं पहने हुए है और तब भी जनता

उसकी शाही पोशाक को देख-देखकर आनन्द से विह्वल हो जाती है। केवल एक बालक वहाँ ऐसा है जो स्पष्ट देख रहा है कि राजा कुछ भी नहीं पहने है। ठीक उसी बालक की तरह टॉल्स्टॉय भी सत्य के दर्शन करने की क्षमता से सुसज्जित थे। इसी क्षमता के कारण वह आगे चलकर एक साहित्य-महारथी बन सके।

टॉल्स्टॉय की अपने सहयोगियों से जरा भी न बनती थी। उनके दृष्टिकोण में अन्तर था। जहाँ अन्य लेखक जीवन से दूर भागकर अपने को जनता का शिक्षक समझते थे और अपने लेखन-कार्य को बहुत भारी श्रेय देते थे, टॉल्स्टॉय जीवन का अनुभव प्राप्त करना जीवन का प्रमुख अङ्ग समझते थे जिसके बिना लेखक लेखक हो ही नहीं सकता। फिर टॉल्स्टॉय को उन सबके आचरण से भी घृणा थी। वे सब भी टॉल्स्टॉय को पागल समझते थे। तुर्गनेव से टॉल्स्टॉय की जरा भी न पटती थी। परन्तु ड्रूशीनाइन, ग्रिगारोविच, नेक्रासोव आदि इनके परम मित्र थे। कवि फेट इनका अभिन्न-हृदय मित्र था और जीवन भर उसने इनका साथ दिया। झूठ और पाखण्ड और बदचलनी से इन्हें घृणा हो गई और वास्तविक जीवन की खोज के लिए इनका मन चञ्चल हो उठा।

इधर रूस में टॉल्स्टॉय ने अपनी कहानियों से एक आन्दोलन का सूत्रपात किया था उधर जर्मनी में भी नए-नए लेखक पैदा हो गए थे जिन्होंने भोगविलास में डूबे हुए अमीरों की काली करतूतों को जनता के सामने रखा और उनके प्रति घृणा के भावों को प्रादुर्भूत करने में विशेष सहायता पहुँचाई। इन लेखकों में गोदेल्फ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन जर्मन लेखकों का रूस में बहुत आदर हुआ। इन्होंने भी नए विचारों के फैलाने में कम सहायता नहीं की। दासता की प्रथा का अन्त करने के लिए और कृषक-वर्ग में अधिक स्वाधीनता का प्रसार करने के लिए सब ओर से एक भीषण प्रयास प्रारम्भ हुआ। टॉल्स्टॉय की पोलीकशका कहानी को पढ़कर पत्थर के भी दिल दहल गए और शताब्दियों की दासता प्रथा (serfdom) को अन्त करने के लिए रूस के एक कोने से दूसरे कोने तक एक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। टॉल्स्टॉय के हृदय में उल्लास था, उत्साह था। आन्दोलन को उनसे पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। जनता की सेवा की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने अन्य देशों की जनता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए रूस से बाहर जाने की ठानी। टॉल्स्टॉय भली भाँति समझ गए थे कि जब तक रूसी जनता शिक्षित न होगी कोई भी सुधार सफल न होगा। ७६ वर्ष की आयु में वे जर्मनी को चल दिये। पाँच वर्ष में तीन बार वह रूस से बाहर गए और अन्य देशों की जनता और उनकी सामाजिक स्थिति का सुचारु रूप से ज्ञान प्राप्त किया। जर्मन शिक्षावादी फ्रोबेल से मिलकर इन्होंने अपने को धन्य माना और उनकी शिक्षाप्रणाली से व्यावहारिक लाभ उठाने के लिए इन्होंने अपने ग्राम यास्नाया पोलयाना में स्कूल खोला और अपने यहाँ के समस्त दासों को स्वाधीनता दे दी। यह अन्तिम कार्य करके टॉल्स्टॉय ने अपनी दूरदर्शिता और बुद्धिमानी का परिचय दिया। क्योंकि इनके ऐसा करने के पश्चात् ही रूस में कानून बन गया कि दासों को मुक्त कर दिया जाय। अपनी विदेशी यात्राओं से लौटने पर टॉल्स्टॉय अनेक महान

टॉल्स्टॉय (१८६२): इसी वर्ष इनका विवाह हुआ था।

यूरोपीय लेखकों के समस्त ग्रन्थ अपने साथ लाये थे। परन्तु इन किताबों को चुङ्गीवालों ने सेन्सर को दिखाने के लिए रोक रक्खा। ५० वर्ष बाद टॉल्स्टॉय ने लिखा "सेन्सर महोदय अभी तक कदाचित् उन ग्रन्थों का पारायण कर रहे हैं।"

यास्नाया पोलयाना में स्कूल में पढ़ाते समय के अनुभवों में से टॉल्स्टॉय का एक अनुभव उल्लेखनीय है क्यों कि वैसा अनुभव विरले ही शिक्षक को हुआ करता है। बड़ी ही सरलता के साथ टॉल्स्टॉय का कथन है—"अपनी अन्तरात्मा में मैं भली भाँति समझ गया था कि मैं कुछ भी आवश्यक बात सिखाने के पूर्ण अयोग्य था क्योंकि मुझे स्वयं ही नहीं मालूम था कि आवश्यक है क्या।"

पञ्चायत का कार्य, स्कूल में अध्यापन कार्य और पत्र का सम्पादन इन्हीं में बस टॉल्स्टॉय का समय कट जाता था। इनको सन्तोष इनमें से किसी भी कार्य से न होता था। हृदय में इनको ऐसा लगता था मानों जो कुछ वह कर रहे हैं सब झूठ है। इनका मस्तिष्क इस झूठ के बोझ को न उठा सका और यह रोगी रहने लगे। फिर विचार कर यह बशकीर लोगों के मध्य में डेरा डालने के लिए और उनके देश की खुली हवा सेवन करने, कूमिस पान करने, और एक पशु का प्राकृतिक जीवन बिताने चल दिये।

स्वास्थ्य-लाभ करके जब यह लौटे तो इन्होंने विवाह करने की सोची और कुछ कठिनाइयों के बाद डाक्टर बेह्र (Dr Behr) की मझली कन्या से इन्होंने प्रस्ताव किया जो स्वीकृत हुआ। विवाह के समय इनकी अवस्था ३४ वर्ष की और वधू की १८ वर्ष की थी। विवाह करने के पूर्व इन्होंने अपनी भावी पत्नी को अपनी डायरी पढ़ने को दे दी थी जिससे कि वह समझ जाय कि उसे कैसे पुरुष के साथ रहना होगा। डायरी में टॉल्स्टॉय ने ईमानदारी के साथ अपनी युवावस्था की सभी आवारगी की बातें स्पष्ट लिख दी थीं। इनकी भावी पत्नी जो इन्हें सद्गुणों की खान और एक देवता पुरुष समझे हुए थी, डायरी को पढ़कर शङ्कित हुई। उसने रो रो कर रात्रि बिताई, डायरी लौटा दी, और टॉल्स्टॉय के गत जीवन को क्षमा प्रदान की। विवाह पर टॉल्स्टॉय बहुत प्रसन्न हुए और इनका समय आनन्द में कटा। यह अपने को भूल गए। अपने मित्र फेट को एक पत्र में इन्होंने लिखा—"यह पत्र मैं ग्राम से लिख रहा हूँ और लिखते समय ऊपर के कमरे में वह मेरे भाई से बातें कर रही है। मैं अपनी पत्नी की बोली सुन रहा हूँ, वह पत्नी जिसको मैं विश्व भर से अधिक प्रेम करता हूँ। मैं ३४ वर्ष तक जीवित रहा बिना यह जाने कि मेरे लिए प्रेम करना सम्भव था, और फिर इतना प्रसन्न होना भी! जब मुझे अधिक शांति होगी मैं तुम्हें लम्बा पत्र लिखूँगा। ×××××

इस समय मुझे यही सतत विचार रहता है कि इस आनन्द के मैं कदापि योग्य नहीं हूँ। वह देखो ' " " वह आ रही है। मैं उसकी पद-ध्वनि सुन रहा हूँ, और वह कितनी प्रिय मलूम होती है! तुम जैसे भले आदमी और महान् आश्चर्य तो इस बात का है कि ऐसा प्राणी जैसी मेरी पत्नी, मुझे क्यों प्रेम करते हैं?"

सोलह वर्ष तक टॉल्स्टॉय ने विवाहित जीवन का पूर्ण आनन्द लिया। टॉल्स्टॉय को बालकों से बहुत प्रेम था और वे सदा उन्हें घेरे रहते थे। वे सब उनका भरोसा करते थे। एक प्रश्न में ही वह बच्चों का मन मोह लेते थे और बच्चे उनसे सारी बातें बड़ी ही बे तकल्लुफी के साथ कह डालते थे। इतना ही नहीं। वह बच्चों के मनकी बात को भी तुरन्त ताड़ लिया करते थे। बच्चे उनके पास दौड़े-दौड़े आते थे और कहते थे कि उनके पास एक बड़ा रहस्य है और उसका उद्घाटन करने से इन्कार करते थे। तब टॉल्स्टॉय चुपके से उनके कान में उनके महान् रहस्य की बात बतला देते थे। उस पर उनके बच्चे खुशी से फूले न समाते थे, और आश्चर्य्य से कहते थे—"हमारे पापा कैसे अद्भुत हैं! उन्हें हमारा रहस्य मालूम कैसे हो गया?"

यास्नाया पोलयाना का जीवन बहुत शान्तिपूर्ण था। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि टॉल्स्टॉय को परम सुख मिल गया था। मानसिक कष्ट उनको अब भी थे और उतने ही तीव्र जैसे उनके भाई निकोलस की मृत्यु के पश्चात् (१८६०) उन्हें झेलने पड़े थे। वैवाहिक जीवन के साथ-साथ साहित्य सृजन का भी काम चल रहा था। जमींदारी की देख-भाल और पारिवारिक सुख की रक्षा में भी यह उत्तरदायित्व अनुभव कर रहे थे। परिवार में बच्चों की वृद्धि के साथ धन की भी प्रचुरता हो चली थी। अधिक भूमि भी खरीद ली गई थी। पैदावार खूब बढ़ गई थी।

अपने स्कूल के बच्चों को पढ़ाने के लिए उन्होंने एक पोथी भी लिखी जो उनके शिक्षा-कार्य के प्रेम की परिचायिका है। तुर्गनेव ने इस पुस्तक की एक कहानी

'कारेशश का कैदी' छोड़कर कुछ भी अच्छा न लगा। और उनकी यह भी शिकायत रही कि उसका मूल्य बहुत ही अधिक रक्खा गया है। टॉल्स्टॉय ने अन्ना करेनिना का भी लिखना प्रारम्भ कर दिया था। तुर्गनेव ने जब अन्ना करेनिना को पढ़ा तो जरा भी पसन्द न किया। कवि पोलोन्सकी को उन्होंने लिखा—"अन्ना करेनिना मुझे लेशमात्र भी पसन्द नहीं यद्यपि उसमें शिकार सम्बन्धी कुछ पठनीय पृष्ठ हैं। उसमें मौस्को की, स्लावजाति के प्रेम की, और अमीरी की बू आती है।"

जब अन्ना करेनिना पुस्तकाकार निकली, रूस में उसका बड़ा आदर हुआ और अन्य देशों मे भी टॉल्स्टॉय की प्रतिभा से लेखक प्रभावान्वित हुए। १८६९ म युद्ध और शांति और उसके आठ वर्ष पश्चात् अन्ना करेनिना प्रकाशित हुए और १८७८ में उनका तुर्गनेव से मेल हो गया।

टॉल्स्टॉय अब बहुत वृद्ध हो गए थे और अब तक का उनका जीवन निरन्तर मानसिक संघर्ष में बीता था। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में ही उन्होंने जीवन की वह झाँकी की, जिससे उनको संतोष प्राप्त हुआ और समस्त युद्ध को, हिंसा को, उन्होंने पापाचरण बताया, जिससे मोहनदास कर्मचन्द गांधी प्रभावित हुए।

बेह ने अपने संस्मरणों में टॉल्स्टॉय के नित्यप्रति के जीवन की और उनके घरेलू जीवन की अनेक बातें लिखी हैं, जिससे पता चल जाता है कि टॉल्स्टॉय के संसर्ग में आनेवाले परिचित-अपरिचित सभी उनसे कितने प्रभावित होते थे। "यास्याना पोलयाना में सदैव आनन्द लहरें लिया करता था और इसके आदिस्रोत थे टॉल्स्टॉय। दर्शनिक प्रश्नों बच्चों की शिक्षा और अन्य विषयों पर बातचीत करना और उन पर अपनी सम्मति देना आदि टॉल्स्टॉय को बहुत प्रिय होता था और वह औरों में भी उन विषयों के प्रति अनुराग पैदा कर देते थे। खेल-कूद और सैर-सपाटों में उनको बहुत आनन्द आता था। मेरे साथ उन्हें खेत काटना और कुदाली चलाना पसन्द था। वे मेरे साथ व्यायाम करते, दौड़ते एक पाँव उठाकर कूदने, और गोरोदकी (लकड़ी का एक खेल) खेलते। यद्यपि मैं उनसे बल में कम था, क्योंकि वे १८० पौण्ड का बोझ एक ही हाथ से उठा लेते थे, मैं उनसे दौड़ में बाजी ले जाता था, लेकिन उनसे आगे बढ़ नहीं पाता था, क्योंकि मैं सदैव हँसता रहता था। हम सब खेल में हँसते ही रहते थे। जब कभी हम कार्य में व्यस्त खेतिहरों के खेतों में से निकलते तो टॉल्स्टॉय किसी थके हुए कृषक के पास से उसका हँसिया ले लेते और उसका काम कर डालते। मुझे भी उनका साथ निभाना पड़ता। वह मुझसे पूछते "हम इतने बलिष्ठ होने पर भी लगातार छः दिन क्यों नहीं खेत काट सकते, जब कि किसान केवल रोटियाँ खाकर और गीली धरती पर सोकर काट सकता है?" अन्त में वे कहते—"उनकी-सी परिस्थिति में रहकर थोड़ा करके देखो तो। खेत छोड़ते समय वह थोड़ी सी घास हाथ में लेते और उसे सूँघते और उसकी सुवास को सराहते।"

उचित अवसर पर कहा गया टॉल्स्टॉय का एक शब्दमात्र ही सुननेवालों को प्रभावित कर देता था। टॉल्स्टॉय

रूस के प्रमुख लेखकगण—(१८५६) तुर्गनेव, सोलोगूब, टॉल्स्टॉय, नेक्रासोव, ग्रिगोरोफ़ और पानेफ़

में सचाई बेहद थी और वे अपने मन की बात स्पष्ट कह डालते थे। यदि स्टेशन पर पहुँचकर उन्हें गाड़ी न मिलती तो वह इस ढंग से 'अरे! हमसे वह छूट गई!' कहते कि जैसे कोई बड़ी भारी आपत्ति आ गई हो और फिर स्वयं ही जोर से हँस पड़ते और सबको हँसा देते। जब वे किसी से नियत समय पर न मिल पाते, तब भी वह ऐसा ही आचरण करते। यदि उनकी बात से उनकी पत्नी आशङ्कित हो जाती तो हँसी में झिड़की खाये हुए बालक की तरह कहते, 'अच्छा अब ऐसे हम कभी नहीं करेंगे।"

उनकी हँसी बड़ी जोर की होती थी और सबको हँसा देती थी। हँसते समय उनका सिर एक ओर को झुक जाता और उनका समस्त शरीर हिल जाता था।

१८७६ में उन्होंने प्रसिद्ध कम्पोजर चैकोस्की से परिचय किया। चैकोस्की टॉल्स्टॉय के भक्त थे और उसने एक दिन केवल उनको प्रसन्न करने के लिए रूस के प्रसिद्ध गायनाचार्यों को एकत्रित कर कन्सर्ट का आयोजन किया। चैकोस्की ने लिखा है—"मेरे जीवन में मुझे कभी इतनी प्रसन्नता नहीं हुई, न गर्व ही हुआ, जैसा कि लियो निकोलेइविच टॉल्स्टॉय को अपने पार्श्व में गाने को सुनकर अश्रु बहाते हुए देखकर।"

विवाह के पश्चात् टॉल्स्टॉय का सम्पूर्ण जीवन केवल भगवान् की सेवा के निमित्त ही रह गया। और इस जीवन के लिए टॉल्स्टॉय आजीवन तैयारी करते रहे थे। केवल कृषकों के निश्छल जीवन में उन्होंने जीवन के अर्थ स्पष्ट रूप से पढ़े। इन्होंने कृषक के-से कपड़े पहने, उसका सा भोजन किया और अपना समस्त आचरण कृषक का-सा बना लिया। अपने एक निबन्ध में इन्होंने लिखा है "जो उपवास नहीं कर सकता, भलामानुस नहीं बन सकता।" इस कथन की सच्चाई को गांधीजी ने व्यवहार-रूप में परखा और अपने असहयोग आन्दोलन में उसकी सफलता दिखाई। इन्होंने आखेट करना, मद्य पीना, तम्बाकू पीना—सब बन्द कर दिया। रूबिल देखकर इनको कष्ट होता था। रेल की यात्रा से इन्हें भय होता था। इनसे जितना भी त्याग बन पड़ा उसका पालन किया और अपने जीवन को एकदम सरल बना लिया। रूस में अकाल पड़ने पर इन्होंने तन, मन, धन, जन से पीड़ितों का कष्ट निवारण किया। अधिकारीगण उनके साम्यवादी विचारों से घबरा गये थे और उनको रोकना भी चाहते थे पर प्रजा उनसे इतना प्रभावित था कि उन्हें लेशमात्र भी कष्ट न होने देता था। सन् १८९१ में इन्होंने दुखोबोर्स की सहायतार्थ आन्दोलन प्रारम्भ किया और उनके प्रति किये गये अत्याचारों को बन्द कराया। इसी जाति की सहायतार्थ इन्होंने 'Resurrection' नामक उपन्यास लिखा और ईसाई धर्म के विरोध में सब कुछ कह डाला। इस कारण इनको ईसाई धर्म से निकाल दिया गया।

वृद्ध होने पर इनके परिवार, विशेषकर इनकी धर्मपत्नी, ने इन्हें बहुत दुःख दिया। जिस बात को इनका दिल गवाही न देता था, उसे यह कदापि न करते थे। धन से इन्हें घृणा थी। इनकी स्त्री को धन से प्रगाढ़ प्रेम। इसी से दोनों में अनबन रहती थी। एक दिन निमोनिया की बीमारी में ग्रस्त होने पर भी यह घर छोड़कर चल दिये। और फिर जीवित घर लौटकर नहीं आये।

उपसंहार

टॉल्स्टॉय की रचनाएँ पढ़ते समय मुझे ठीक वैसा ही लगता है जैसे मैं खिले हुए फूलों को देख रहा हूँ। परन्तु मानव जीवन और फूल में एक बहुत बड़ा अन्तर है। यदि हम फूल को विकसित पाते हैं तो मानव जीवन को कुचला हुआ, जर्जरित, दुर्गन्धयुक्त। अकस्मात् ही कभी उसमें दिव्यता की झलक दिखाई पड़ जाती है।

टॉल्स्टॉय की कृतियों और टॉल्स्टॉय के जीवन में आकाश-पाताल का अन्तर है। जिस विवेक, विचारशीलता, गम्भीरता का परिचय लेखक-टॉल्स्टॉय में पाठक को मिलता है जिनके द्वारा उनकी आत्मा निखरी हुई दृष्टिगोचर होती है, वही जीवन व्यापार में संलग्न टॉल्स्टॉय में कहीं ढूँढे नहीं मिलती। टॉल्स्टॉय जीवन पर्यन्त भले बनने की कामना करते रहे परन्तु भले बन न सके। उन्होंने युद्ध में भाग लिया, खूब शराब पी, खूब व्यभिचार किया, खूब क्रोध किया, परन्तु लेखों में, कहानियों में सदैव प्रायश्चित्त रूप से अपने आचरण को बुरा कहा और उसके विरुद्ध आवाज उठाई।

टॉल्स्टॉय में एक देव की शक्ति और स्फूर्ति थी। वे जिस काम को करते उसमें जुट जाते। उनका मस्तिष्क उनके हृदय से अधिक बलवान् था। इसका प्रमाण उनकी समस्त कृतियाँ हैं। उनके बचपन के स्केचों को पढ़िये अथवा सैनिक जीवन के चित्रण को, सबमें आपको एक अद्भुत विलक्षण चमत्कार के दर्शन मिलेंगे। दृष्टि की तीक्ष्णता गुणग्राहकता और अनेक भाँति के मनुष्यों के हृदयों और मस्तिष्कों और उनकी परिस्थितियों का विश्लेषण आपको मुग्ध कर देगा। सर्वाङ्गीण जीवन

से उनको कितनी दिलचस्पी थी, उसको वह कितना महत्वपूर्ण समझते थे, यह उनकी प्रत्येक कृति में प्रत्येक स्थल पर स्पष्ट होती है। आवश्यक नहीं कि टॉल्स्टॉय अपनी कहानियों और उपन्यासों के लम्बे चौड़े प्लाट रचे और तभी पाठक का मनहरण किया जा सके। मानव-जीवन का विवेचन वह इस प्रकार करेंगे कि पाठक को बरबस ही उनका साथ देना पड़ेगा। उनकी कहानियाँ मानव-जीवन की भाँति एकदम हृदय पर चोट करनेवाली और सीधी-सच्ची हैं। और जो बात उनकी कहानियों में है वही उनके उपन्यासों पर भी घटित होती है। जो कुछ भी टॉल्स्टॉय ने लिखा है जीवन से लेकर। और यही उनके व्यक्तित्व को अधिक निखारने में सफल हुआ है। उनके पूर्व रूस में जो भी लेखक हो गए हैं, पुश्किन से लेकर तुर्गनेव तक, उन सबके कार्य में टॉल्स्टॉय ने न केवल हाथ ही बँटाया है परन्तु उसको पूर्णता के शिखर तक पहुँचाने में वे ही समस्त श्रेय के अधिकारी हैं।

टॉल्स्टॉय में तीन गुण हैं जिनके लिए वे अन्य रूसी लेखकों की अपेक्षा विश्व भर में मान्य रहे हैं—अत्यधिक भावुकता, सत्याङ्कन क्षमता और गम्भीर विचारशीलता। उनकी दृष्टि अत्यन्त तीक्ष्ण थी और जीवन के प्रति उनमें बेहद प्रेम था। वे सदैव जीवन भर भलाई और बुराई के विश्लेषण में लगे रहे—भलाई के क्षेत्र को अधिक विस्तृत करते रहे और बुराई का डटकर सामना। जीवन में उन्होंने संघर्ष बहुत पाया और उनका ध्येय यही रहा कि जीवन में सामञ्जस्य स्थापित किया जाय। इसीलिए उनकी पुस्तकों का हमारे लिए महत्व है और वे आहत रहेंगी।

टॉल्स्टॉय की लायब्रेरी

पहले इसी कमरे में टॉल्स्टॉय अध्ययन किया करते तथा उठते-बैठते थे। फ़ोटो में लकड़ी का चौखट भी दीख रहा है, जिससे लटककर टॉल्स्टॉय ने आत्महत्या करने की सोची थी।

अनेक कहानियों में जो टॉल्स्टॉय ने लिखी हैं वे बारम्बार इसी उधेड़ बुन में रहे हैं कि समाज की कृत्रिम जटिलताओं से किसी भाँति पिंड छुटे और जीवन व्यवहार सरल हो जाय। ऐसा करने में उन्होंने किसी भी सफलता अथवा असफलता की ओर ले जानेवाली बात को नहीं छिपाया है। जीवन का नग्नरूप एकदम स्पष्ट करके रख दिया है।

टॉल्स्टॉय का जीवन ईसा का जीवन था। उनका उस मानव का जीवन था जिसका रूप आज हम गांधी जी में देख रहे हैं और देख रहे हैं भारत के सत्याग्रहियों में जो सत्य के लिए यम-यातनायें तक सह लेते हैं परन्तु अपने कष्ट देनेवालों के प्रति भावना रखते हैं—"ईश्वर ये अज्ञानी हैं, इन्हें क्षमा कर।"

इसी भावना से प्रेरित होकर टॉल्स्टॉय ने अपने को पहचाना, और स्वयं को पहचान लेने के पश्चात् उन्हें और कुछ जानना शेष न रह गया।

अपने में उन्हें जितनी बुराइयाँ मिलीं, उनका उन्होंने त्याग किया और फिर उन्हीं बुराइयों के समाज द्वारा तिरस्कार और बहिष्कार में उन्होंने अपने को बलि चढ़ा दिया। पूर्ण विचार के पश्चात् वह पूर्ण वेग के साथ कर्म क्षेत्र में उतर पड़ते थे। इसीलिए वे महात्मा कहलाने के अधिकारी हुए। यही रहस्य गांधीजी के भी महात्मा होने का है।

विश्व की कहानी
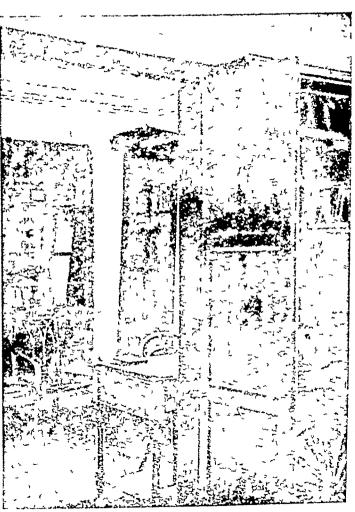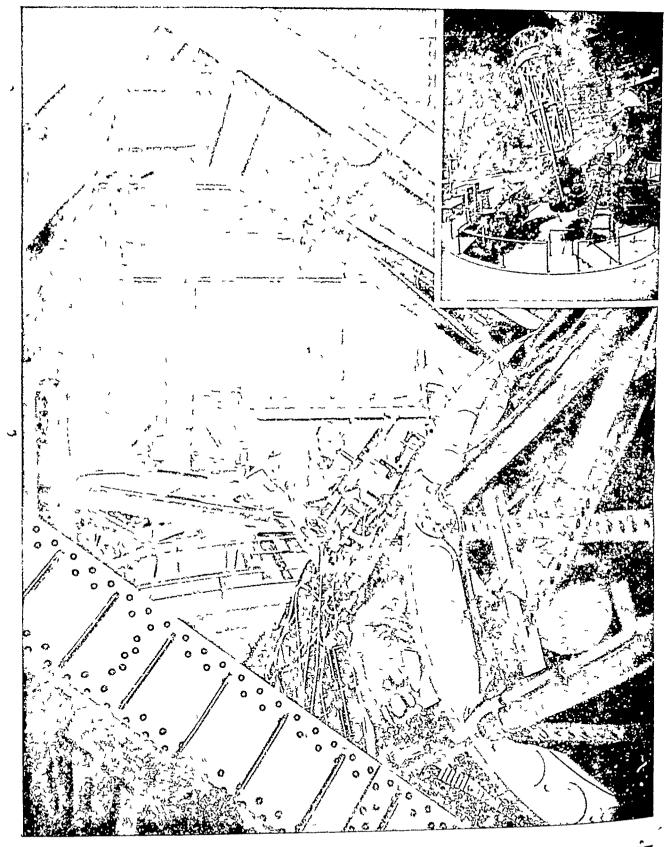
संसार का वर्तमान सबसे महान् दूरवीक्षण-यंत्र—माउण्ट विल्सन वेधशाला का १०० इंच व्यास का दूरदर्शक
जो २०० इच व्यास के प्रस्तावित दूरदर्शक के बनकर तैयार न होने तक दुनिया का सबसे तीक्ष्ण गगनभेदी नेत्र माना जाता रहेगा। इस भीमकाय यत्र के प्रधान दर्पण का व्यास १०० इच, मुटाई १३ इच और तौल सवासौ मन है। तीन वर्ष में यह दर्पण ढाला जा सका, और सात वर्ष उसकी पालिश करने में लगे। ऊपर के कोने में इस यत्र का सपूर्ण चित्र दिया गया है। निचले भाग में उसके निम्न सिरे का समीप से दिखाई पडनेवाला दृश्य है। देखिए, एक ज्योतिषी उसकी सहायता से वेध कर रहा है।

दूरदर्शक के आविष्कार और विकास की कहानी

एवं कुछ प्रसिद्ध दूरदर्शक

पिछले प्रकरण में उस अद्भुत ज्योतिषीय यंत्र की रचना, कार्य-विधि और उपयोगिता का कुछ परिचय आप पा चुके हैं, जिसने हमारी ज्ञान-परिधि की सीमा को इस दृश्य जगत् के अनजान कोनों तक पहुँचा दिया है। किन्तु जटायु के समान दूर दृष्टिवाले इस चमत्कारिक यंत्र के बारे में हमने अभी आपको बताया ही क्या! अभी तो उसकी लंबी कहानी का कितना ही अंश सुनने सुनाने को बाकी है। तो फिर आइए, पहले उसके आविष्कार और विकास की ही कथा आपको सुनाएँ।

आज दिन अमेरिका में दो सौ इंच व्यास का संसार का सबसे महान् दूरदर्शक बन रहा है, जो आकाशीय पिंडों को करीब १०,००० गुना बड़ा करके दिखलाएगा परंतु वैज्ञानिक यंत्र-निर्माण के इस विजय-शिखर तक चढ़ पाने में मनुष्य को सैकड़ों वर्ष लग गए हैं। दूरदर्शक-निर्माण के इतिहास का आरंभ आज भी अंधकार में छिपा हुआ है। कोई ठीक-ठीक नहीं जानता कि पहले-पहल सरल दूरदर्शक किसने बनाया, परंतु इसमें संदेह नहीं कि प्रसिद्ध गैलीलियो ने ही दूरदर्शक से पहले-पहल ज्योतिषीय आविष्कार किए। जब गैलीलियो सन् १६०९ ई० में संयोगवश वेनिस गया तो उसने सुना कि बेल्जियम के किसी व्यक्ति ने ऐसा यंत्र बनाया है जिससे दूरस्थ वस्तुएँ निकट और बड़ी दिखलाई पड़ती हैं। गैलीलियो पेडुआ नगर में प्रोफेसर था। उपर्युक्त समाचार पाते ही उसने विषय की अपनी जानकारी के आधार पर अनुमान लगा लिया कि ऐसा यंत्र कैसे बना होगा। पेडुआ लौटते ही उसने अपना पहला दूरदर्शक बनाया। इसके लिए उसने सीसे धातु की नली के एक सिरे पर उन्नतोदर ताल लगाया और दूसरे पर नतोदर ताल। कुछ ही दिनों में उसने इससे भी अच्छा दूरदर्शक बना लिया और उसे लेकर वह वेनिस पहुँचा। वहाँ उसने इसे जनता में प्रदर्शित किया और अंत में उसे वेनिस के शासक को अर्पित कर दिया। उसी समय वहाँ की शासन-सभा की बैठक हो रही थी। गैलीलियो के इस आविष्कार के लिए सभा ने उसकी प्रोफेसरी जन्म भर के लिए पक्की कर दी और वेतन दुगुना कर दिया। गैलीलियो पहले भी अन्य प्रोफेसरों से ड्योढ़ा वेतन पा रहा था। इसलिए अब उसका वेतन दूसरों से तिगुना हो गया। गैलीलियो के प्रथम दूरदर्शक से कुल ३ गुना ही बड़ा दिखलाई पड़ता था, परंतु पीछे उसने ऐसे दूरदर्शक भी बनाए, जिनसे ३३ गुना बड़ा दिखलाई पड़ता था। अपने दूरदर्शकों से उसने चंद्रमा के पहाड़, सूर्य के कलंक, बृहस्पति के उपग्रह, शनि के वलय इत्यादि का पता चलाया। उसके इन तथा अन्य महत्त्वपूर्ण आविष्कारों के कारण लोग इस यंत्र को आदर

गैलीलियो जिसे दूरदर्शक को जन्म देने का श्रेय दिया जाता है, यद्यपि वास्तविक आविष्कारक एक डच था। बाईं ओर इस ज्योतिषी के दो दूरदर्शक प्रदर्शित हैं।

भूल ही गए, जिसने वस्तुतः दूरदर्शक का आविष्कार किया था। परतु अत मे अपने आविष्कारो के कारण गैलीलियो को मिला कारावास का दड। मृत्यु दड मिलते-मिलते बच गया !! बातें यह हुई कि बृहस्पति के उपग्रहो को बृहस्पति के चारो ओर चक्कर लगाते देख गैलीलियो को दृढ विश्वास हो गया कि कोपरनिकस का ही सिद्धात ठीक है, जिसके अनुसार सूर्य स्थिर है और पृथ्वी उसके चारो ओर चक्कर लगाती है। अत मे उसने एक पुस्तक लिखी जिसमे उसने बड़ी निर्भीकता से और अत्यत प्रभावशाली भाषा मे अपने विचारो को प्रकट किया। वैज्ञानिको के बीच इस पुस्तक का बहुत आदर हुआ, परतु उस समय के पोप (धर्म-गुरु) ने गैलीलियो के सिद्धातों को ईसाई धर्म के विरुद्ध ठहराया और उसको दड देने के लिए उसे अपने दरबार मे बुलाया। केवल मित्रों के विशेष आग्रह से ही बूढे गैलीलियो ने—जिसकी आयु उस समय लगभग ७० वर्ष की थी—अपने वैज्ञानिक आविष्कारों को पोप के सामने झूठा मान लिया और इस प्रकार उसकी जान बच गई।

न्यूटन द्वारा निर्मित एक दर्पणयुक्त दूरदर्शक जिसे हम आज के भीमकाय दर्पणयुक्त दूरदर्शको का पुरखा कह सकते हैं।

गैलीलियो के दूरदर्शक में प्रधान ताल उन्नतोदर (बीच मे मोटा, किनारे पर पतला) अवश्य था, जैसा सभी तालयुक्त दूरदर्शकों में रहता है, परतु चक्षु-ताल नतोदर था। इस सिद्धात पर अब भी सस्ते मेल के छोटे दूरदर्शक बनते हैं, परतु अब साधारणतः उस चक्षु ताल का उपयोग होता है जिसका आविष्कार हॉयगेन्स ने लगभग ७० वर्ष पीछे किया। गैलीलियो और हॉयगेन्स दोनों के दूरदर्शकों में विशेष त्रुटि यह थी कि उनमे रग-दोष था—किसी श्वेत तारे को देखने पर वह श्वेत न दिखलाई पड़ता था, उसके चारो ओर रंगीन झालर-सी दिखलाई पडती थी। इसके प्रतिकार के लिए लबे दूरदर्शकों का उपयोग किया जाने लगा—हॉयगेन्स का एक दूरदर्शक तो १२५ फीट लबा था—परतु ये लबे दूरदर्शक काम मे लाते समय अत्यत असुविधाजनक साबित हुए।

दर्पणयुक्त दूरदर्शक

रग-दोष के कारण लोगों का ध्यान दर्पणयुक्त दूरदर्शकों के बनाने की ओर आकर्षित हुआ। प्रसिद्ध न्यूटन ने सन् १६६७ में एक छोटा-सा दर्पणयुक्त दूरदर्शक बनाया था। तब दूसरों ने भी ऐसे दूरदर्शक बनाए और वे इन्हे न्यूटन के दूरदर्शक से कही अधिक बडा बना सके। चक्षुताल की स्थिति में और चक्षुताल तक प्रकाश पहुँचाने की रीति में भी परिवर्तन किया गया, परतु विशेष अच्छा दूरदर्शक इन दिनों नहीं बन पाया। कारण यह था कि प्रधान दर्पण को लोग शुद्ध परवलयाकार आकृति का नहीं बना पाते थे। इस कार्य में वास्तविक उन्नति तब हुई जब प्रसिद्ध ज्योतिषी विलियम हरशेल ने अपने बडे-बडे दूरदर्शक बनाए। किस प्रकार हरशेल ने अपने हाथ के बने दूरदर्शक से नवीन ग्रह यूरेनस का पता लगाया था, यह पहले बतलाया जा चुका है। इस आविष्कार के कारण ही वह राज-ज्योतिषी बना दिया गया था। अत मे उसने
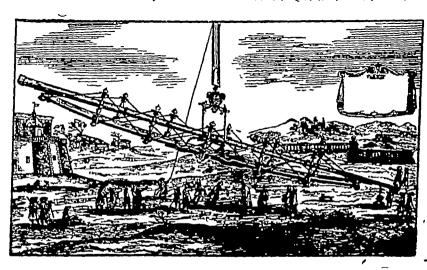
मध्ययुग के एक विशाल लंबे दूरदर्शक का चित्र

चार फीट व्यास का एक दूरदर्शक बनाया, जिससे उसने शनि के दो नए उपग्रहों की खोज की। परन्तु इतने भारी दूरदर्शक के आरोपण का वह अच्छा प्रबंध न कर सका और तापक्रम के घटने-बढ़ने के कारण भी बहुधा इसमें आकाशीय पिंड अतीक्ष्ण दिखलाई पड़ते थे। इसलिए इसका अधिक उपयोग नहीं किया जा सका। हरशेल की रीतियों से रॉस के नवाब (Earl of Rosse) ने सन् १८४५ में ६ फीट व्यास का एक दर्पणयुक्त दूरदर्शक बनाया, जिसमें कई-एक सुधार किए गए थे। इस दूरदर्शक से ही सर्पिल नीहारिकाएँ पहले-पहल देखी गई थीं।

हरशेल और रॉस के दूरदर्शकों के दर्पण फूल धातु के बने थे। इस धातु को हरशेल तीन भाग ताँबा और एक भाग राँगा तथा बहुत थोड़ा सा संखिया इन तीनों को गला-कर बनाया करता था। संखिया के डालने से फूल ज्यादा श्वेत बनता है। पर धातु के बने दर्पणों में विशेष दोष यह होता है कि वे कुछ समय में विवर्ण हो जाते हैं। तब उन पर फिर पालिश करने की आवश्यकता होती है। परन्तु इस तरह प्रत्येक पालिश करने से उनकी शुद्ध आकृति बदल जाती है और उन्हें फिर सही परवलयाकार आकृति का करने में प्रायः उतना ही समय लगता है जितना पहली बार। अब दर्पण शीशे के बनते हैं और उन पर चाँदी या अल्यूमिनियम की कलई कर दी जाती है। जब ये विवर्ण हो जाते हैं तो [illegible] कलई को [illegible] दिया जाता है और [illegible] पुनः कलई कर दी जाती है। इस प्रकार [illegible]
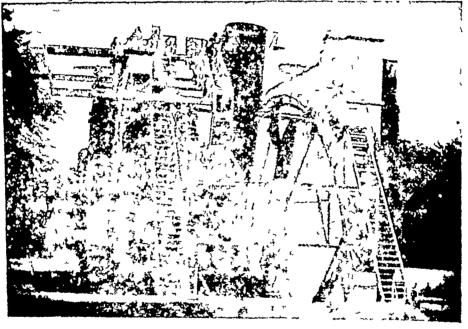
रॉस के नवाब द्वारा प्रस्थापित छः फीट व्यास का महान दर्पणयुक्त दूरदर्शक जिससे पहलेपहल सर्पिल नीहारिकाएँ देखी गई थीं। यह दूरदर्शक आयर्लैण्ड के बर नामक स्थान में १८४५ ई० में स्थापित किया गया था और इससे कई महत्वपूर्ण अनुसंधान हुए।

आकृति को एक बार ठीक कर देने पर बार-बार आकृति ठीक करने की असुविधा नहीं रहती। परन्तु हरशेल के समय में शीशे का दर्पण बनाना किसी को सूझा ही न था और सूझता भी कैसे—उस समय बड़े व्यास की शीशे की सिल्लियाँ बनाना कोई जानता भी तो न था!

तालयुक्त दूरदर्शक

इधर एक ओर तो दर्पणयुक्त दूरदर्शक ने इतनी उन्नति कर ली थी, दूसरी ओर तालयुक्त दूरदर्शक का भी विकास धीरे-धीरे हो रहा था। १७३२ में इँगलेंड के एक व्यक्ति चेस्टर मूर हॉल ने रंग-दोष-रहित ताल बनाने में सफलता पाई। उसने सोचा कि मनुष्य की आँख में जो प्रतिबिम्ब बनता है वह रंग-दोष-रहित होता है और संभवतः इसका कारण यही है कि आँख में ताल के साथ द्रव-पूर्ण कोष्ठ भी रहते हैं। इससे वह इस परिणामपर पहुँचा कि संभवतः विभिन्न बनावट के तालों के मेल से रंग-दोष-रहित ताल बन सकेगा। प्रयोग करके उसने देखा कि वस्तुतः विभिन्न रासायनिक बनावटों के उन्नतोदर और नतोदर तालों को सटा-कर रखने से रंग-दोष-रहित ताल बन जाता है। २५ वर्ष बाद इसी बात का आविष्कार डॉलंड ने स्वतंत्र रूप से किया। परन्तु तब भी इन तालयुक्त दूरदर्शकों का इतना [illegible] नहीं था कि इस समय [illegible] नहीं पाते थे। [illegible] हरशेल अपना प्रथम दूरदर्शक बना रहा था उसी समय से [illegible] के [illegible] सुंदर

ने चश्मा बनाने का कारखाना खोला। वह पीछे दूरदर्शक भी बनाने लगा, परतु अच्छे शीशे न मिलने से उसे ऐसी असुविधा होने लगी कि वह स्वय शीशा बनाने का काम करने लगा। ७ वर्ष तक लगातार परिश्रम करने पर भी वह इसमें विशेष सफल नहीं हुआ। तो भी हिम्मत न हारकर वह तत्परता से इसमें जुटा रहा, यहाँ तक कि शहर छोड़कर वह इस काम के लिए देहात चला गया। वहाँ उसने एक खूब बड़ी भट्ठी बनाई। वह घटा ढालकर जीविका-निर्वाह करता तथा अनुसधानों के लिए धनोपार्जन करता था और बड़ी मितव्ययता से रहकर अनेक प्रकार का कष्ट सहते हुए अपनी लगभग सारी आय शीशा बनाने मे लगाता था। अत मे उसको अपनी कठिन तपस्या का फल मिल गया। वह ६ इ च का शीशा बनाने मे सफल हुआ और मरते समय तक तो (१८२३ ई० मे) उसने १८ इञ्च का शीशा बना डाला। गुनैंड के बनाये शीशो से १२ और १४ इञ्च के तालयुक्त दूरदर्शक बने और उनसे कई एक आविष्कार किए गए। गुनैंड के लड़के से अच्छा शीशा बनाने का भेद इङ्गलैंड के एक कारखाने ने सीखा और तब कुछ समय पश्चात् अन्यत्र भी बड़े आकार के शीशे ढलने लगे।

दूरदर्शकों का महान् निर्माता—ऐलवन क्लार्क जिसे अमेरिका के कई विशाल तालयुक्त दूरदर्शक बनाने का श्रेय प्राप्त है।

फ्राउनहोफर

जिन दिनों गुनैंड शीशा बनाने में व्यस्त था, उन्हीं दिनों जगत् प्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक फ्राउनहोफ़र चश्मा बनाने का व्यवसाय करता था। जोजेफ फ्राउनहोफर को तरुणावस्था में ही एक अति भयकर दुर्घटना का शिकार होना पड़ा था। वह चौदह वर्ष की अवस्था मे गरीबी के कारण म्युनिख शहर की एक गली के एक टूटे-फूटे मकान में रहता था। एक दिन मकान गिर पड़ा और उसके अन्दर रहनेवाले सब लोग दब गए। इस दुर्घटना में दूसरे सब तो मर गए परतु जब फ्राउनहोफर ईंट-पत्थर के नीचे से निकाला गया तो उसमें थोड़ा-सा जीवन शेष रह गया था। उसे चोट बड़ी गहरी लगी थी। तरस खाकर वहाँ के शासनकर्त्ता ने फ्राउनहोफर को १८ डूकाट (लगभग सवा सौ रुपए) दिए। इस रक़म में से कुछ रुपयों से तो उसने पुस्तकें और शीशे पर शान चढाने की एक चक्की खरीदी, और शेष सारी रक़म उसे दासत्व से मुक्ति पाने के लिए अपने मालिक को दे देना पड़ी। उसका स्वामी बड़ा ही निष्ठुर था। फ्राउनहोफर के माँ-बाप के मर जाने पर उसने उसे अपने यहाँ दर्पण बनाने के कारखाने मे नौकर रख लिया था और उसके साथ बड़ी बुरी तरह का बर्ताव करता था। इस हत्यारे से पिड छुड़ाने पर बहुत समय तक फ्राउनहोफर को जगह-जगह ठोकरें खानी पड़ीं। इस बीच वह बराबर पुस्तकों के अध्ययन से अपना ज्ञान भी बढाता रहा। ५ वर्ष बाद उसे चश्मा, दूरदर्शक आदि बनाने के एक कारखाने मे जगह मिल गई। अब वह रग-दोष-रहित दूरदर्शक बनाने मे जी-जान से भिड़ गया। ११ वर्ष के परिश्रम के बाद वह ९॥ इञ्च व्यास का दूरदर्शक बना सका, जो उस समय के लिए एक अत्यंत अद्भुत वस्तु थी और जिससे उसका नाम सारे वैज्ञानिक ससार में फैल गया। पीछे फ्राउनहोफर ने अन्य कई वैज्ञानिक तथ्यों का आविष्कार किया। सूर्य के वर्ण-पट की काली रेखाएँ आज भी उसके नाम पर 'फ्राउनहोफर रेखाएँ' कहलाती हैं।

फ्राउनहोफर के मरने के पश्चात् उसके कारखाने में दो १५ इञ्च व्यास के दूरदर्शक बने, जो उस समय अत्यत आश्चर्य की दृष्टि से देखे जाते थे। इनमें से एक को रूस की पुलकोवा-वेधशाला ने खरीद लिया और दूसरे को बोस्टन (अमेरिका) के नगर-निवासियों ने खरीदकर हारवार्ड-विश्वविद्यालय को दे दिया।

अमेरिका में उन्नति

इसके लगभग ३० वर्ष बाद अमेरिका में ऐलवन क्लार्क ने त्रुटि-रहित दूरदर्शकों के बनाने में बड़ा नाम पैदा किया। सन् १८६० ईस्वी मे क्लार्क को मिसिसिपि-विश्वविद्यालय से एक १८ इञ्च का दूरदर्शक बनाने का काम मिला। यह दूरदर्शक कारखाने से बाहर निकलने के पहले ही प्रसिद्ध हो गया, क्योंकि इसीसे पता चला कि आकाश का सबसे अधिक चमकीला तारा सिरियस (Sirius) इकहरा नहीं बल्कि युग्म-तारा है।

रूस की पुलकोवा-वेधशाला का ३० इन्ची दूरदर्शक

इस घटना के दस वर्ष के अन्दर ही इङ्गलेंड मे टॉमस कुक ने २५ इच व्यास का दूरदर्शक बनाया। कुक मोची का लडका था और उसने दूरदर्शक बनाने का काम स्वय ही, बिना उस्ताद के, सीखा था। यह दूरदर्शक आज भी केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में काम कर रहा है। इसके थोडे ही दिनो के भीतर ऐलवन क्लार्क ने २६ इ च व्यास का दूरदर्शक बनाया, जिससे मगल के दोनो उपग्रह पहले-पहल देखे गए। क्लार्क को इस दूरदर्शक के लिए लगभग साठ हजार रुपया दाम मिला था। तब १८८६ में लिक-वेधशाला के लिए ३६ इ च का दूरदर्शक भी ऐलवन क्लार्क ने ही बनाया। उस समय यह ससार का सबसे बडा दूरदर्शक था। यह एक झक्की करोडपति मिस्टर लिक के दान का फल था। लिक की लालसा थी कि मेरी कब्र ऐसी शानदार बने कि सब कोई उसे याद करें। सयोगवश उसके मित्रों में से एक ज्योतिषी भी था। उसने सुझाया कि सबसे अपूर्व स्मारक यही होगा कि वह अपने नाम पर एक वेधशाला बनवा दे और वहाँ इतना बडा दूरदर्शक रख दे, जितना बड़ा ससार में अन्यत्र कहीं न हो। लिक ने ऐसा ही किया और उस बडे दूरदर्शक के नीचे ही उसकी हड्डियाँ गडी हैं। लिक के वसीयतनामे के अनुसार यह वेधशाला प्रति शनिवार को जनता के लिए खुली रहती है। इस वेधशाला के लिए कुल मिलाकर ६,१०,००० डॉलर (लगभग १८ लाख रुपया) लिक ने दिया, जिसमें से ६०,००० डॉलर स्थायी कोष के रूप मे जमा हैं।

परन्तु ससार मे सबसे बडा होने का गौरव लिक-दूरदर्शक के पास बहुत समयत क न रह सका। १८९२ मे शिकागो के एक करोडपति यरकिज ने कहा कि चाहे जितना खर्च लगे, हमारे शहर के विश्वविद्यालय के लिए जितना भी बडा दूरदर्शक बन सकता हो, बनाओ। परिणामस्वरूप ऐलवन क्लार्क के स्थापित किए हुए कारखाने ने ४० इच व्यास का दूरदर्शक बनाया। यह ससार के तालयुक्त दूरदर्शकों में आज भी सबसे बडा है और इधर कोई विशेष उम्मीद भी नहीं दिखलाई देती कि निकट भविष्य में इससे बडा दूसरा तालयुक्त दूरदर्शक कहीं बन सकेगा। इस दूरदर्शक से ज्योतिष का ज्ञान बहुत-कुछ बढ गया।

आधुनिक दर्पणयुक्त दूरदर्शक

हरशेल ने ४ फीट व्यास का जो दूरदर्शक बनाया था उसमे एक दोष यह भी था कि वह अपने ही बोझ के कारण लच जाता था और इस कारण उसकी आकृति मे अतर पड जाता था। निस्सदेह यह अतर अत्यत सूक्ष्म था, तो भी यह इतना अवश्य था कि दूरदर्शक से आकाशीय पिंड वाछित रीति से तीक्ष्ण नहीं दिखलाई पडते थे। हरशेल के मरने के कुछ ही वर्षों के भीतर इसका उपाय एक कारखाने ने निकाला। उपाय यह है कि दर्पण की पीठ की ओर बहुत-से छोटे-छोटे उत्तोलक (छड) लगा दिए जाते हैं। प्रत्येक उत्तोलक अपने एक बिंदु के बल घूम सकता है। उत्तोलक के एक सिरे पर बोझ लगा रहता है। दूसरा सिरा दर्पण को इस बोझ के बराबर (या इसके किसी नियत अनुपात में) सहारा देता है। इस प्रबध से दर्पण को बहुत-से स्थानो में थोडा-थोडा सहारा मिल जाता है। दर्पण उसी प्रकार उठा रहता है जैसे बहुत-से व्यक्ति दर्पण को अनेक स्थानो पर एक-एक अँगुली लगाकर उठाये रहें। इस प्रकार दर्पण का बोझ कई स्थानों में बँट जाता है और वह लच नहीं पाता।

रॉस के ६ फीट व्यासवाले दर्पण मे उपर्युक्त प्रबंध किया गया था। इसलिए, और अधिक सच्चा बने रहने के कारण भी, रॉस का दूरदर्शक अपने समय मे बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। इस दूरदर्शक के बनने के ७० वर्ष बाद तक लोगों का ध्यान, जैसा ऊपर बतलाया गया है, अधिकतर ताल-युक्त दूरदर्शकों की ओर ही लगा रहा। परन्तु यह देखकर कि तालयुक्त दूरदर्शक ४० इञ्च से बड़े सम्भवतः नहीं बन पाएँगे, वैज्ञानिकों का ध्यान एक बार पुनः दर्पणयुक्त दूर-दर्शकों की ओर गया। फलतः १९१८ मे कैनाडा की डोमिनियन ऐस्ट्रोफिजिकल वेधशाला मे ७२ इञ्च का दर्पणयुक्त दूरदर्शक स्थापित हुआ। इसका दर्पण कलईदार शीशे का है। इसके अतिरिक्त एक और दर्पणयुक्त दूरदर्शक, जो संसार मे इस समय सबसे बड़ा है, माउण्ट विल्सन की वेधशाला मे लगा है। इसके दर्पण का व्यास वस्तुतः १००.८ इञ्च है। इस दूरदर्शक के चलभाग का तोल लगभग १०० टन (२,७०० मन) है। केवल दर्पण ही ४ टन का है और जिस शीशे से यह बनाया गया था वह १०१ इञ्च व्यास का, १३ इञ्च मोटा और तोल में ४॥ टन का था। यह दूरदर्शक इतना भारी होते हुए भी बड़ी सचाई और सुगमता से अपने अक्ष पर घूमता है। कारण यह है कि चलभाग का अधिकांश बोझ दो ढोलों पर पड़ता है जो खोखले हैं और पारे पर तैरा करते हैं। इन ढोलों में से एक तो धुरी के निचले सिरे के पास है, दूसरा उपरवाले सिरे के पास। इस दूरदर्शक के सिरे से वे उत्तर [illegible] पारा [illegible] और [illegible] [illegible] हैं [illegible] दिखाई पड़ते हैं। परन्तु [illegible] [illegible] इन ढोलों की [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] घूमते हैं और इन छेदों की अचल स्थिति से अक्ष की वास्तविक दिशा निर्धारित होती है।

इस दूरदर्शक को शीघ्रता और सूक्ष्मता से चलाने के लिए अलग-अलग विद्युत् मोटरें लगी हैं। वस्तुतः छत, दूरदर्शक और इसके विविध अवयवों को चलाने के लिए कुल मिलाकर चालीस मोटरें लगी हैं, जो सब या तो वेधकर्त्ता के नियन्त्रण मे रहती हैं और चक्षुताल के पास से सचालित की जा सकती हैं, या सहायक के नियन्त्रण मे रहती हैं जो पास ही बैठा रहता है। इस दूरदर्शक मे बन्द नलिका के बदले लोहे की धरनों का ढाँचा लगा है जिसकी मजबूती उसी प्रकार की गई है जिस प्रकार पुलों की की जाती है। दूरदर्शक के सब अंग इतने दृढ़
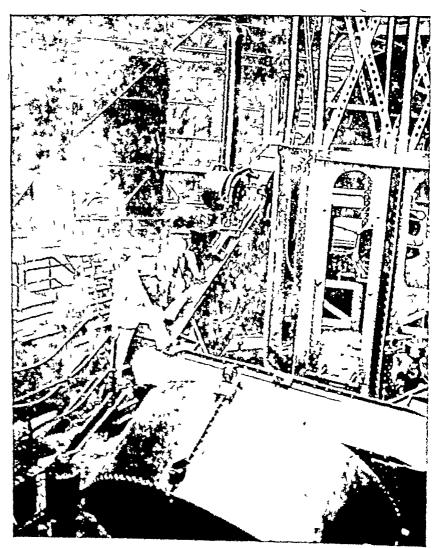
माउण्ट विल्सन वेधशाला के १०० इञ्च के दर्पणयुक्त दूरदर्शक का निम्न भाग।
[illegible] वेधशाला के [illegible] के साथ [illegible] ज्योतिषिद [illegible]

है कि इसके सिरे पर आदमी भी चढ़ जाय तो लेश-मात्र भी लचक न आएगी। वस्तुतः यह यंत्र इतना सच्चा चलता है कि इच्छा हो तो यह एक अंश (डिग्री) के १०,००० वें भाग तक घुमाया जा सकता है। जिस चौकी पर ज्योतिषी खड़ा होता है वह भी बिजली की मोटर से ऊँची-नीची की जा सकती है। यरकिज के ४० इंचवाले ताल-युक्त दूरदर्शक के लिए इससे भी अच्छा प्रबन्ध है। वहाँ तो समूची फ़र्श ही ऊपर-नीचे खिसकती है और इस प्रकार ज्योतिषी सदा बड़ी निश्चितता के साथ अपने वेध कर सकता है। माउण्ट विल्सन के १०० इंचवाले दूरदर्शक की गोलाकार छत १०० फीट व्यास की है। इस दूरदर्शक तथा इसके आरोपण, गृह आदि के निर्माण में लगभग १६ लाख रुपये खर्च हुए थे।

(ऊपर) कनाडा का ७२ इंचवाला दर्पणयुक्त दूरदर्शक। (नीचे) २०० इंचवाला प्रस्तावित महान् दूरदर्शक।

१०० इंचवाले दूरदर्शक में पारा में तैरते हुए ढोलों का जैसा प्रबन्ध है, वैसा अन्य किसी दूरदर्शक में नहीं है। कनाडा के ७२ इंचवाले दूरदर्शक में धुरी के नाचने के लिए छर्रे लगे हैं, जैसे कि साइकिल या मोटर के पहियों में होते हैं। साधारणतः ज्योतिषियों को इस प्रकार के बॉलबेयरिंग में विश्वास नहीं होता, क्योंकि यद्यपि ऐसा प्रबन्ध बहुत टिकाऊ होता है और इससे दूरदर्शक भी बहुत हलका चलता है, तो भी ज्योतिषी को खटका लगा रहता है कि वह कल्पनातीत सूक्ष्म रेखा जो दूरदर्शक के घुमाने पर निश्चल रह जाती है और जो ही वस्तुतः यंत्र की धुरी है, कहीं छर्रों की सूक्ष्म असमानता के कारण थोड़ी-बहुत विचलित न हो जाय। यही कारण है कि ज्योतिषी छर्रों का प्रयोग न करके साधारण छेदों में पड़ी बेलनाकार धुरी को अधिक पसंद करते हैं। हाँ, यदि बोझ इतना अधिक हो कि दूरदर्शक के भारी चलने का या धुरी के शीघ्र घिस जाने का डर हो तो वे बोझ को किसी प्रकार का सहारा अवश्य दे देंगे।

अब तो कोई पन्द्रह वर्ष से २०० इंचवाला दूरदर्शक बन रहा है और उसका अब (१९४२ में) बहुत थोड़ा-सा ही काम शेष रह गया है। यह तैयार हो जाने पर संसार का सबसे बड़ा दूरदर्शक होगा। इस अद्भुत यंत्र के संबंध में हम अगले अंक में लिखेंगे।
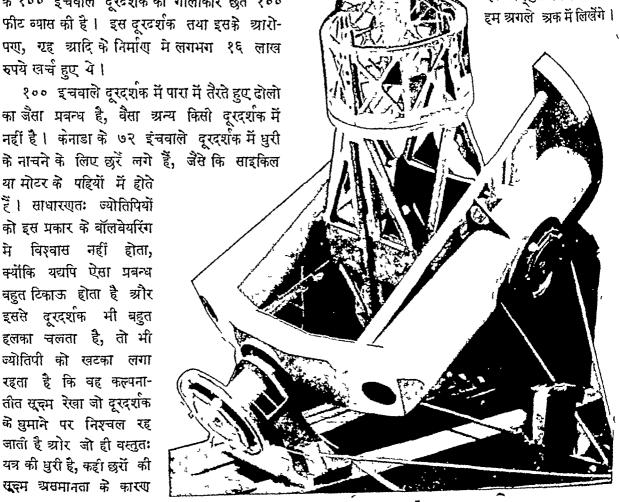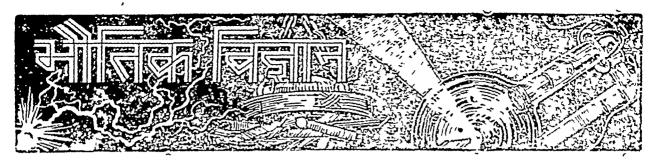
आलोक-तरंगों का रहस्य

आलोक के विश्लेषण के फलस्वरूप जो सतरंगी पट्टी हमें दिखाई पड़ती है, वह केवल एक अंश तक ही उक्त रश्मि के अवयवों की एक झलक हमें दिखा पाती है। वस्तुतः उसके गर्भालय में और भी कई ऐसी रहस्यपूर्ण किरणें छिपी हैं जो हमें अपने चर्म-चक्षुओं से तो नहीं दिखाई देतीं पर वैज्ञानिक की आँखों ने निश्चित् रूप से जिनका पता पा लिया है। वे क्या हैं, आइए, इस लेख में समझने का प्रयत्न करें। साथ ही यह भी देखें कि 'आलोक की तरंगें' कहने से वैज्ञानिकों का क्या तात्पर्य है और किस प्रकार हम जान सकते हैं कि दूरी तय करने में आलोक को भी समय लगता है!

पिछले लेख में हमने देखा कि श्वेत रश्मि काँच के त्रिपार्श्व में से होकर निकलने पर इन्द्रधनुष के सात रंगों में विभाजित हो जाती है। पर सूर्य से आई हुई रश्मि का विस्तरण इस सतरंगी पट्टी के दोनों छोर तक ही सीमित हो, सो ही नहीं। अवश्य रश्मि के इस विस्तरण-चित्र में इन सात रंगों के अतिरिक्त अन्य कुछ हमारी आँखों को नहीं दिखलाई देता। हाँ, कासनी रंगवाले पट के छोर के आगे ही उपर्युक्त रश्मिचित्र के बाहर यदि हम एक फोटोग्राफी की प्लेट रखें तो इस प्लेट के मसाले में ठीक उसी प्रकार के परिवर्तन हो जाते हैं, जिस प्रकार उस पर दृश्य रश्मियों के पड़ने पर होते हैं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अवश्य रश्मि का विस्तरण इस सतरंगी पट्टी के कासनी छोर के आगे तक फैला हुआ है। इन अदृश्य किरणों को परा-कासनी (Ultra-violet Rays) का नाम दिया गया है। अवश्य पराकासनी रश्मियाँ भी आलोक-रश्मियों की ही जाति की हैं, केवल इनके गुण में अन्तर है। साधारण आलोक-रश्मियाँ हमारे दृष्टि-पटल को प्रभावित करती हैं, किन्तु पराकासनी किरणों की अनुभूति हमारी आँखें नहीं कर पातीं। हाँ, फोटो की प्लेट इन किरणों से प्रभावित होती है और कुछ अधिक तीव्र रूप में।

कासनी रंगवाले सिरे की भाँति दृश्य रश्मिचित्र के लाल सिरे के परे की पट्टी की ओर भी अन्वेषकों का ध्यान गया। सन् १८०० में विलियम हर्शल ने एक थर्मामीटर की घुण्डी को काले रंग से रंग दिया, ताकि उस पर पड़नेवाली रश्मियों को थर्मामीटर भली भाँति अपने में सोख सके। इस थर्मामीटर को उसने जब रश्मि-चित्र के लालवाले सिरे से कुछ दूर आगे रखा तो

(ऊपर) आलोक का सम्पूर्ण वर्णपट।

अपनी कक्षा पर पृथ्वी की दो भिन्न-भिन्न स्थितियों के समय वृहस्पति के उपग्रह से आलोक के पहुँचने में जो न्यूनाधिक समय लगता है, उसका अंतर देखकर ही रोमर ने यह निश्चय किया था कि आलोक-रश्मि को दूरी तय करने में कुछ न कुछ समय लगता है और वह समय है प्रति १,८६,००० मील के लिए एक सैकंड (दे० पृ० २०८२ का मैटर) ।

थर्मामीटर में पारा ऊपर चढ़ता हुआ दिखलाई दिया। स्पष्ट था कि इस छोर पर भी रश्मि का विस्तरण दृश्य पट्टी से आगे तक पहुँचता है। इन किरणों को 'इन्फ्रारेड' रश्मियों के नाम से पुकारते हैं। रश्मिचित्र के इन्फ्रारेड प्रदेश के तापक्रम की जाँच के लिए रेडियो-माइक्रोमीटर-सरीखे सूक्ष्म थर्मामीटर काम में लाये जाते हैं।

पराकासनी तथा इन्फ्रारेड प्रदेश की रश्मियों की जाँच करते समय साधारण काँच के त्रिपार्श्वों का प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये रश्मियाँ काँच के माध्यम को मुश्किल से पार कर पाती हैं। वे प्रायः इनके अन्दर ही विलीन हो जाती हैं। अतः पराकासनी रश्मियों की जाँच के लिए स्फटिक काँच के त्रिपार्श्व तथा लेन्स और इन्फ्रारेड के लिए स्वच्छ पर्वतीय नमक (Rock salt) के त्रिपार्श्व तथा लेन्स काम में लाये जाते हैं। वायु भी पराकासनी किरणों को आसानी से सोख लेती है, अतः पराकासनी रश्मियों का चित्र प्राप्त करने के लिये रश्मि-विस्तरण का प्रयोग वायुरहित शून्य में करना होता है।

इन अदृश्य रश्मियों के बारे में एक मनोरंजक बात यह मालूम हुई कि वर्णपट पर जितनी दूर तक दृश्य-रश्मियों का फैलाव है, उनसे कहीं अधिक फैलाव पराकासनी तथा इन्फ्रारेड रश्मियों का है। फिर तो बरबस हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विभिन्न रश्मियों में से कुछ थोड़ी-सी ही रश्मियाँ हमें दृष्टिगोचर हो पाती हैं—शेष हमारे दृष्टिपटल पर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकतीं।

रश्मि-जगत् की इस अनोखी बात का महत्व समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम आलोक की वास्तविकता को पहचानने का प्रयत्न करें। सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ गणितज्ञ तथा वैज्ञानिक न्यूटन ने इस प्रश्न के उत्तर में अपने निज का एक सिद्धान्त वैज्ञानिकों के सामने रक्खा था। न्यूटन का कहना था कि प्रकाशोत्पादक से निकल कर पदार्थ के अत्यन्त ही नन्हे-नन्हे अदृश्य कण तीव्रतम गति से चारों ओर को विकीरित होते हैं—ये ही कण हमारी आँखों में प्रवेश कर हमें आलोक का अनुभव कराते हैं। ठीक इन्हीं दिनों न्यूटन के समकालीन डच वैज्ञानिक हॉयगेन्स ने आलोक के प्रसार का एक प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्त विज्ञान-जगत् के सामने रक्खा। उसके मत के अनुसार प्रकाशोत्पादक के कणों के कम्पन द्वारा एक विशेष प्रकार की तरंगें उत्पन्न होती हैं। इन्हीं तरंगों के रूप में प्रकाश अपने उद्गम से चारों ओर फैलता है। इन दोनों ही सिद्धान्तों को लेकर तत्कालीन वैज्ञानिकों में काफी वादविवाद चला। न्यूटन के समर्थकों ने हॉयगेन्स से पूछा—"नई तरंगों के आगे बढ़ने के लिए माध्यम अवश्य होना चाहिए। पृथ्वी के वायुमण्डल से बाहर सुदूर आकाश में एकदम वैकुअम (रिक्त प्रदेश) करोड़ों मील तक फैला हुआ है। फिर भी सूर्य तथा अन्य नक्षत्रों से हमें प्रकाश प्राप्त हो जाता है, यह कैसे सम्भव है ?"

हॉयगेन्स ने फौरन् ही उत्तर दिया—"माध्यम है कैसे नहीं। ईथर नाम का माध्यम अंतरिक्ष (space) मात्र में फैला हुआ है। यह माध्यम विचित्र गुण रखता है। इसके अन्दर हद दर्जे का लचीलापन (elasticity) मौजूद है, साथ ही यह इतना विरल है कि ठोस वस्तुओं के अणुओं के बीच में से भी होकर अत्यन्त आसानी के साथ यह निकल जाता है।"

फिर इस वाद-विवाद में कुछ गणितज्ञों ने गणित के नियमों के आधार पर यह बात साबित की कि न्यूटन का सिद्धान्त यदि सही मान लिया जाय तो प्रकाश

फिजो का प्रयोग—प्रकाशोत्पादक 'प' से प्रकाश लेन्स में से होकर दर्पण 'द' पर पड़ता और परावर्तित हो विन्दु 'फ' पर केन्द्रित होता है। तब एक लेन्स द्वारा समानान्तर रश्मियों के पुंज के रूप में आगे वह लम्बा फासला तय करके अन्य एक लेन्स द्वारा पुन. एक नतोदर दर्पण पर केन्द्रित हो जाता है। यहां से परावर्तित हो उसी पुराने मार्ग से पुन उद्गम-स्थान 'प' पर पहुंच जाता है। दर्पण 'द' में एक सूराख है जिसके रास्ते उस पार की रोशनी दिखाई पड़ती है। साथ ही जहां पर 'द' से परावर्तित हो रश्मियां एक विन्दु पर केन्द्रित होती हैं वहां एक दांतदार घूमनेवाला पहिया है। अब यदि पहिया इस रफ्तार से घुमाया जाय कि दो दांतों के बीच की खाली जगह से जो आलोक-रश्मियां नतोदर दर्पण की ओर गई हैं, वे परावर्तित होकर जब तक लौटें तब तक उस खाली जगह पर पहिये का एक दांत पहुंच जाय, तो ऐसी हालत में 'द' के सूराख में से रोशनी बिल्कुल नहीं दिखलाई पड़ेगी। यदि पहिए के दांतों की संख्या मालूम हो तो इसके घूमने की रफ्तार मालूम करके हम हिसाब लगा सकते हैं कि कितनी देर में पहिए का दांत खिसक-कर बगलवाले खाली भाग के स्थान पर आ जाता है। अवश्य इतनी ही देर में आलोक ने पहिए और नतोदर दर्पण के बीच की दूरी का दूना फासला तय किया। (विशेष विवरण के लिए दे० पृ० २०८३-८४ का मैटर)।

आलोक की गति जानने के लिए माइकेल्सन का प्रयोग (विवरण के लिए दे० पृ० २०८४)

ग्रहण अब आगे कब-कब लगेंगे। फिर उसने दूरदर्शक से देखा कि वास्तव में गणना के अनुसार ठीक उन्हीं समयों पर ग्रहण लगते हैं या नहीं। उसने देखा कि आरम्भ में तो गणना द्वारा निर्धारित समय पर ही इन ग्रहणों की पुनरावृत्ति होती है। किन्तु ६ महीने बाद जब पृथ्वी अपनी कक्षा पर दूसरी ओर चली जाती है, तब ये ग्रहण गणना द्वारा नियुक्त समय पर नहीं लगते—वरन् अपने नियुक्त समय से १६ मिनट ४० सेकण्ड बाद में लगते दिखलाई पड़ते हैं। रोमर पहले तो बहुत घबराया,

की आगे बढ़ने की गति घने माध्यम—अर्थात् जल या कॉच—में हवा की अपेक्षा अधिक होनी चाहिए। इसके प्रतिकूल यदि हॉयगेन्स का सिद्धान्त सही माना जाय तो प्रकाश की गति हवा में अधिक होनी चाहिए और जल या कॉच में कम। किन्तु इस चोखी कसौटी पर न्यूटन तथा हॉयगेन्स के सिद्धान्त उनके जीवन काल में न कसे जा सके। तत्कालीन वैज्ञानिकों को प्रकाश की गति नापने के तरीके ही नहीं मालूम थे। यह बात सत्रहवीं शताब्दी की है। और सच तो यह है कि उस जमाने के लोगों की धारणा थी कि प्रकाश को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने में समय लगता ही नहीं। इसकी गति अपरिमित समझी जाती थी।

तब १६७५ में डेनमार्क के एक ज्योतिषी रोमर ने बृहस्पति के उपग्रहों के ग्रहण-काल का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करके पहली बार यह साबित किया कि प्रकाश को भी दूरी तय करने में समय लगता है। गणना के आधार पर उसने पहले ही मालूम कर लिया कि बृहस्पति के उपग्रहों के

फिर उसने इस प्रयोग पर सोचा-विचारा। अन्त में उसने यह गुत्थी सुलझा ही ली। उसने देखा कि जिन दिनों पृथ्वी अपनी कक्षा के उस छोर पर रहती है जो बृहस्पति के निकट है, उन दिनों बृहस्पति के उपग्रहों के ग्रहण ठीक समय पर लगते दिखलाई पड़ते हैं, और जब पृथ्वी दूसरे छोर पर बृहस्पति से बहुत दूर पहुँच जाती है, तब इन दिनों ग्रहण अपने नियत समय से १६ मिनट ४० सेकण्ड देर में लगते दिखलाई पड़ते हैं। उसने सोचा कि इन उपग्रहों में ग्रहण तो नियत समय पर ही लगता होगा, अवश्य समय की गड़बड़ी इस कारण है कि पृथ्वी अपनी कक्षा के दूसरे छोर पर अब आ गई है—जिन दिनों यह कक्षा के उस छोर पर थी जो बृहस्पति के निकट है, उन दिनों की अपेक्षा अब वह लगभग ६ करोड़ २० लाख मील दूर हट आई है। स्पष्ट है कि ग्रहण का विलम्ब में होना केवल इसी कारण से है कि आलोक को इस ६ करोड़ २० लाख मील की लम्बी दूरी को तय करने में १६ मिनट ४० सेकण्ड लगते हैं। इस हिसाब से आलोक की

गति प्रति सेकण्ड १,८६,००० मील निश्चित् हो गई। तदुपरान्त प्रयोगशाला में भी आलोक की गति मालूम करने के निमित्त अनेक प्रयोग किए गए। इन सभी प्रयोगों में वह प्रति सेकण्ड १,८६,००० मील ही निकली। इस ढंग का सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय फिजो को प्राप्त है। फिजो के प्रयोग में (दे० पृ० २०८१ का चित्र) प्रभाशोत्पादक 'प' से तीव्र प्रकाश लेन्स में से होकर एक तिरछे रखे हुए दर्पण 'द' पर पड़ता है। इस दर्पण से आलोक-रश्मियाँ परावर्तित होकर बिन्दु 'फ' पर केन्द्रित होती हैं, फिर इसके आगे एक लेन्स द्वारा ये समानान्तर रश्मियों के पुञ्ज के रूप में परिवर्तित होकर आगे बढ़ती हैं। एक लम्बे फासले को तय कर लेने के बाद एक दूसरे लेन्स द्वारा ये समानान्तर रश्मियाँ पुनः एक नतोदर दर्पण के धरातल पर केन्द्रित की जाती हैं। यह नतोदर दर्पण इन रश्मियों को परावर्तित करके उन्हें ठीक उसी पुराने मार्ग से वापस भेजता है। अतः परावर्तित रश्मियाँ फिर अपने उद्गम-स्थान 'प' पर पहुँच जाती हैं। इस प्रयोग में दर्पण 'द' के बीचोबीच एक सूराख रहता है—ताकि उस पार की रोशनी दिखलाई दे। एक दाँतदार पहिया इन रश्मियों के मार्ग में उस स्थान पर रक्खा जाता है, जहाँ 'द' से परावर्तित हो ये एक बिन्दु पर केन्द्रित होती हैं। यदि यह पहिया इस रफ्तार से घुमाया जाय कि दो दाँतों के बीच की खाली जगह से जो आलोक-रश्मियाँ उस नतोदर दर्पण की ओर गई हैं, वे परावर्तित होकर जब तक लौटें, तब तक उस खाली जगह पर पहिए का एक दाँत पहुँच जाय, तो ऐसी हालत में 'द' के सूराख में से रोशनी बिल्कुल नहीं दिखलाई पड़ेगी। स्पष्टतः इस समय पहिया ऐसी रफ्तार से घूम रहा है कि जितनी देर में पहिए के खाली भाग की जगह पर बगलवाला दाँत घूमकर आ जाता है, उतनी देर में आलोक-रश्मियाँ उस पहिए से चलकर नतोदर दर्पण तक जाकर वापस उसी जगह तक लौट आती हैं। यदि पहिए के दाँतों की संख्या मालूम हो तो इसके घूमने की रफ्तार मालूम करके हम हिसाब लगा सकते हैं कि कितनी देर में पहिए का दाँत खिसक-

आलोक रश्मि एक टूर्मलीन नामक पदार्थ के रवों (crystal) में से होकर गुजरती है तो जिस समय रवे समानान्तर स्थिति में रहते हैं तब तो आलोक रश्मि दूसरी ओर पहुँचती है किन्तु दूसरा रवा एक पहले रवे से ९० अंश का कोण बनाता है तो वह दूसरे रवे को पार नहीं कर पाती। इस प्रयोग से 'पोलराइजेशन' का सिद्धान्त समझ में आता है।
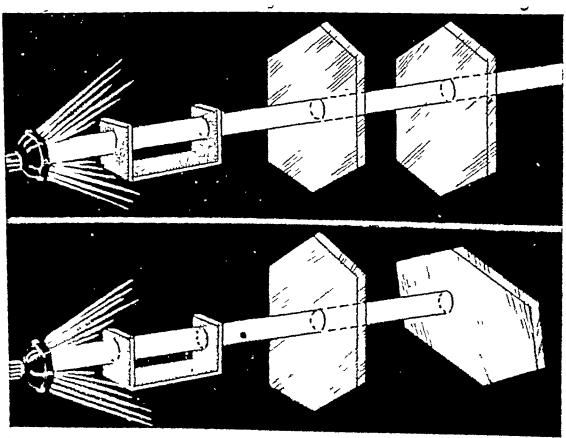
कर बगलवाले खाली भाग के स्थान पर आ जाता है। अवश्य इतनी ही देर में आलोक ने पहिए और नतोदर दर्पण के बीच की दूरी का दूना फासला तय किया। अत: आसानी से इस रीति से आलोक की गति आँकी जा सकती है।

फिज़ो के पहिए में ७२० दाँत थे। उसने देखा कि पहिए को उसे प्रति सेकेण्ड १२.६ बार घुमाना पड़ता था, तब दर्पण के सूराख में पहली बार अँधेरा दिखाई देता था। इस समय पहिए और नतोदर दर्पण के बीच की दूरी लगभग ५ मील थी। इस रीति से भी आलोक की गति १,८६,००० मील प्रति सेकेण्ड ही निकली।

१८८० के लगभग अमेरिका के नौसेना-विभाग के एक अफसर एल्बर्ट माइकेल्सन ने भी आलोक की गति नापने के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयोग किए। माइकेल्सन के प्रयोग में आलोक-रश्मि को जाते समय २२ मील की दूरी तय करनी पड़ती थी और उतनी ही दूरी लौटते समय। जैसा कि पृष्ठ २०८२ के चित्र से प्रकट है, प्रकाशोत्पादक 'प' से केन्द्रित होकर आलोक-रश्मियाँ एक पतली झिरी पर पड़ती हैं, यहाँ से ये रश्मियाँ एक घूमते हुए अठपहल दर्पण 'अ' पर पड़ती हैं। इस अठपहल दर्पण के एक दर्पण से परावर्त्तित होकर आलोक-रश्मि दो और समतल दर्पणों से परावर्त्तित होती है। तदुपरान्त नतोदर दर्पण 'न' से परावर्त्तित होकर खिड़की के रास्ते २२ मील की दूरी तय करने के लिए ये किरणें निकल जाती हैं। उस सिरे पर स्थित नतोदर दर्पण तथा समतल दर्पण 'स' से पुन परावर्त्तित होकर ये किरणें प्रयोगशाला की मेज पर लौट आती हैं। पुन ये नतोदर दर्पण 'न' तथा समतल दर्पण 'इ' और 'ज' से परावर्त्तित होकर अठपहल के एक दर्पण में परावर्त्तित हो 'ट' पर पड़ती हैं। यहाँ से ये निरीक्षक की दूरबीन में प्रवेश करती हैं।

'पोलराइज़ेशन' संबंधी रस्सी और छड़ों का प्रयोग
(विवरण के लिए देखिए २०८८ पृ० का मैटर)

इस प्रयोग का सिद्धान्त समझना कुछ विशेष कठिन नहीं है। प्रयोग आरम्भ करते समय विभिन्न दर्पण तथा दूरदर्शक इस प्रकार रक्खे जाते हैं कि आलोक-रश्मि अठपहल के दर्पण न० १ से परावर्त्तित होकर अन्य समतल तथा नतोदर दर्पणों द्वारा परावर्त्तित होती है। फिर अठपहल के दर्पण नं० ५ से परावर्त्तित होकर वह दूरबीन में पहुँचती है। इस समय अठपहल स्थिर रहता है। अब अठपहल को लम्बवत् कीली के बल पर घुमाते हैं। इस दशा में दूरस्थ दर्पण से लौटकर आने पर रश्मि को अठपहल के दर्पण अपने पूर्ववत् स्थान पर नहीं मिलेंगे। जिस समय रश्मि ने अठपहल के दर्पण न० १ को छेड़ा था, उस समय की स्थिति के मुकाबले में अठपहल के दर्पण अब कुछ आगे घूम गए होंगे। अतः न० ५ से परावर्त्तन होने पर रश्मि अब अपने पूर्व-मार्ग से थोड़ी विचलित हो जायगी। फलस्वरूप दूरबीन में अब यह आलोक-रश्मि न पहुँच पाएगी, क्योंकि अब 'द' से परावर्तन होने के बाद रश्मि दूरबीन की झिरी पर ठीक नहीं पड़ेगी। यह एक ओर हट कर पड़ेगी। किन्तु इस प्रयोग में एक बात ध्यान देने योग्य है। यदि अठपहल की रफ्तार इतनी तेज कर दी जाय कि जितनी देर में आलोक-रश्मि उस दूरस्थ दर्पण तक जाकर लौटे तब तक अठपहल का दर्पण न० ४ आगे बढ़कर ठीक उसी स्थिति में आ जाय जिस स्थिति में न० ५ पहले था तो ऐसी दशा में

न० ४ से परावर्त्तित होने पर रश्मि पुनः अपने पूर्व-मार्ग का ही अनुसरण करेगी और दूरबीन के अन्दर प्रवेश करने में वह समर्थ हो सकेगी।

स्पष्ट ही है कि अठपहल को पूरा एक चक्कर लगाने में जितना समय लगता है, उसका ठीक आठवाँ भाग न० ४ दर्पण को न० ५ की स्थिति में आने में लगा। यह समय आसानी से मालूम किया जा सकता है। इतने ही समय में आलोक ने भी २२×२ मील का लम्बा फासला तय कर लिया। अतः आलोक की गति आसानी से आँकी जा सकती है। इस प्रयोग से आलोक की गति १,८६,३२५ मील प्रति सेकण्ड निकली।

इन सूक्ष्म प्रयोगों द्वारा यह भी प्रमाणित हो गया कि पानी तथा काँच अथवा अन्य किसी भी घने माध्यम में आलोक की गति हवा के अन्दर की इसकी गति से कम ही है। अतः न्यूटन तथा हॉयगेन्स दोनों के सिद्धान्त कसौटी पर कसे गए। इसके परिणामस्वरूप हॉयगेन्स का तरंगवाद खरा उतरा।

उपर्युक्त प्रमाण के अतिरिक्त अन्य प्रयोगों से भी आलोक के तरंगवाद का ही समर्थन किया है। यदि समान लहर-लम्बाई की दो तरंगें एक ही दिशा में गमन कर रही हैं, तो किसी एक तरंग का शिखर दूसरी के शिखर पर पड़ सकता है—अतः इस ठौर माध्यम में बहुत तेज हरकत होगी, और यदि ये आलोक जाति की तरंगें हुई तो इस ठौर आलोक की मात्रा भी बढ़ जायगी। या सम्भव है कि किसी स्थान पर एक तरंग का शिखर (crest) पड़े और दूसरी का कूट या गड्ढा (trough)। ऐसी दशा में [illegible] उस स्थान पर दो [illegible]

[illegible] शक्ति की पराबैंगनी-रश्मियों की स्वास्थ्य-प्रदायिनी उपयोगिता के कारण ही [illegible] द्वारा [illegible] में कृत्रिम धूप उत्पन्न कर [illegible] का सेवन [illegible] जाता है। जिससे [illegible] इसी विधि से कृत्रिम [illegible] हैं।

होगी जो एक दूसरे के प्रभाव को नष्ट कर देंगी—उस स्थान पर माध्यम पूर्ववत् निश्चल बना रहेगा, दोनों तरंगों का सम्मिलित प्रभाव शून्य हो जायगा। किन्तु एक ही दिशा में गमन करनेवाले दो कण किसी भी स्थान पर शून्य प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकते। आलोक-रश्मियाँ यदि तरंगें हैं तो अवश्य उपर्युक्त ढंग पर प्रयोग करने पर दो समान शक्ति की आलोक-तरंगों का प्रभाव किसी-किसी स्थान पर शून्य हो सकता है, अर्थात आलोक की दो तरंगे विशेष परिस्थितियों में पूर्ण अन्धकार उत्पन्न करेंगी। एक का शिखर ठीक उसी ठौर पड़ेगा, जहाँ दूसरे का कूट। किन्तु इसके प्रतिकूल आलोक-रश्मियाँ यदि आलोक-कणों की बनी हैं तो ये आलोक-रश्मियाँ मिलकर कभी अन्धकार उत्पन्न नहीं कर सकती।

प्रयोगशाला में इस ढंग के प्रयोग जब किए गए तो वास्तव में यही बात देखी गई कि पर्दे पर अकेली एक आलोक-रश्मि से सब जगह आलोक पहुँचता था, किन्तु जब दूसरी आलोक-रश्मि भी पर्दे पर भेजी गई तो पर्दे पर जहाँ-जहाँ दोनों आलोक-रश्मि की तरंगों के शिखर साथ पहुँचे वहाँ तो आलोक तेज हो गया, और जहाँ एक का शिखर एवं दूसरे का गड्ढा पहुँचा वहाँ पर अन्धकार हो गया। अतः उस प्रयोग ने भी आलोक को तरंगों की जाति का ही ठहराया। १८७३ में प्रो० क्लार्क मैक्सवेल ने विधिवत् सिद्धान्तों द्वारा यह साबित किया कि आलोक वास्तव में विद्युत् तथा चुम्बकीय क्षेत्रों के कम्पन से उत्पन्न हुई तरंग है। ये विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें (Electro-magnetic Waves) [illegible] हैं। [illegible] हुए [illegible] के प्रयोग द्वारा [illegible] के इस [illegible] अनुमान

की पुष्टि की। ये विद्युत्-चुम्बकीय तरगें 'ईथर' के माध्यम में उत्पन्न होती हैं।

इन तरगों की लहर-लम्बाई नापने के लिए भी वैज्ञानिकों ने सूक्ष्म ढग के प्रयोगों से काम लिया, जिनसे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आलोक-रश्मियों में रग-भेद उनकी लहर-लम्बाई की भिन्नता के कारण है। कासनी रग से आरम्भ मानी, फिर हरे तथा सतरगी पट्टी के दूसरे छोर की ओर ज्यो ज्यो हम बढते हैं, आलोक-रश्मियों की लहर-लम्बाई त्यो-ही-त्यो बढती जाती है। लाल रग से आगे बढने पर इन्फ्रारेड प्रदेश में जाने पर हम देखते हैं कि इन्फ्रारेड रश्मियों की लहर-लम्बाई लाल रश्मियों की लहर-लम्बाई से अधिक है। उधर दूसरे छोर पर पराकासनी प्रदेश मे पराकासनी-रश्मियों की लहर-लम्बाई कासनी रश्मियों की लहर-लम्बाई से कम उतरती है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सतरंगी पट्टी के दोनो छोर के इधर-उधर पाई जानेवाली अदृश्य रश्मियाँ भी आलोक की जाति की ही तरगें हैं।

इन्फ्रारेड की अदृश्य रश्मियों को हम उष्णता की तरगें भी कह सकते हैं। ये रश्मियाँ भी दृश्य आलोक-रश्मियों की भाँति वक्र और समतल धरातल से परावर्त्तित तथा आवर्त्तित होती हैं। भट्ठी मे तपा हुआ गर्म लोहे का एक गोला लीजिए। इसे एक नतोदर दर्पण के नाभि-विन्दु पर रखिए। उष्णता की रश्मियाँ परावर्त्तन के उपरान्त समानान्तर रश्मिपुंज के रूप में इस दर्पण से आगे को चलेंगी। सामने यदि दूसरा नतोदर दर्पण रखा जाय तो ये समानान्तर रश्मियाँ पुन: इस द्वितीय दर्पण के नाभिविन्दु पर केन्द्रित हो जायँगी। इस विन्दु पर रुई या तिनका रखिए तो वह तुरन्त जल उठेगा।

(ऊपर) साधारण रश्मियो द्वारा लिया गया फोटो। (नीचे) उसी दृश्य का इन्फ्रारेड रश्मियो द्वारा लिया गया फोटो। अन्तर पर ध्यान दीजिये।

पराकासनी-रश्मियों के गुणों का उपयोग आधुनिक विज्ञान ने एक बडे पैमाने पर किया है। डॉक्टर बतलाते हैं कि पराकासनी-रश्मियों का प्रभाव हमारे शरीर पर अत्यन्त स्वास्थ्यकर होता है। अतः ऐसे रोगी जिनका स्वास्थ्य गिर गया होता है, पराकासनी-रश्मियों का सेवन करते हैं। किन्तु साधारण धूप मे बैठने पर आपके शरीर तक पराकासनी-रश्मियाँ अधिक मात्रा मे नहीं पहुँच पाएँगी। कारण यह है कि ये रश्मियाँ आकाश के धूलि-कणों तथा जलवाष्प और बादलों में ही अधिकाश विलीन हो जाती हैं। अतः पर्वत के शिखर या समुद्र-तट पर, जहाँ आकाश बिलकुल निर्मल हो, लोग पराकासनी-रश्मियों का सेवन करने के लिए जाते हैं। तले से पतला कपडा भी इन रश्मियों को आपकी त्वचा तक नहीं पहुँचने देता, इसीलिए नगे बदन सूर्य की धूप में बैठने पर ही पराकासनी-रश्मियों से आप लाभ उठा सकते हैं। शरीर पर तेल आदि की चिकनाहट यदि मौजूद हुई तो भी इन रश्मियों के सेवन मे आपको बाधा पहुँचेगी, अत: पराकासनी रश्मियों का सेवन करने के पूर्व अच्छी तरह नहा-धो लेना चाहिए। पराकासनी-रश्मियों की स्वास्थ्य-दायिनी उपयोगिता के कारण पारे के आर्क-लैम्प (Mercury Arc Lamp) बनाये गए हैं, जिनके आलोक में पराकासनी-रश्मियों की मात्रा प्रतिशत अत्यधिक रहती है। रात के अँधेरे में या जिस समय आसमान मे बादल घिरे हों, अस्पताल के अन्दर ही रोगी को प्रचुर मात्रा मे ऐसे लैम्प से पराकासनी-रश्मियाँ मिल सकती हैं। पाश्चात्य देशों के लगभग सभी अस्पतालों मे पारे के ये आर्क लैम्प लगे हुए हैं।
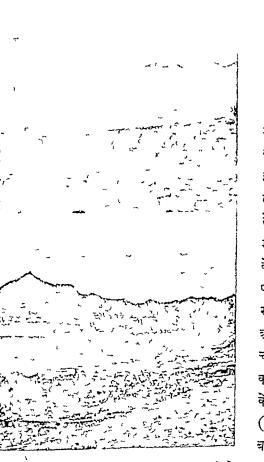
कुछ कीटाणु आकार मे इतने छोटे होते हैं कि वे बढिया से बढिया सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से भी नहीं देखे जा सकते। भौतिक विज्ञान के नियमों के अनुसार अत्यन्त

शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शकों से भी हम उन पदार्थों को नहीं देख सकते जिनका आकार आलोक-तरंगों की लहर-लम्बाई से कम हो। उपर्युक्त कीटाणु दृश्य आलोक की लहर-लम्बाई से भी छोटे होते हैं। हाँ, यदि दृश्य आलोक के स्थान पर पराकासनी-रश्मियाँ उन कीटाणुओं पर डाली जायँ और तब हम उन्हें सूक्ष्मदर्शक के तले ले आएँ तो अवश्य वे हम दृष्टि-गोचर हो जायँगे, क्योंकि पराकासनी रश्मियों की लहर-लम्बाई इन कीटाणुओं के आकार से भी छोटी होती है। अत आजकल सभी जीव-विज्ञानी कीटाणु-सम्बन्धी प्रयोगों में पराकासनी रश्मिवाले सूक्ष्मदर्शकों का ही प्रयोग करते हैं। अवश्य ही ऐसे सूक्ष्मदर्शक में हमारी आँखों को ये कीटाणु न दिखाई देंगे, क्योंकि पराकासनी-रश्मियाँ हमारी आँखों को प्रभावित कर ही नहीं सकतीं। आँख के स्थान पर ऐसे सूक्ष्मदर्शक में फोटो की प्लेट लगाते हैं। इसी प्लेट पर कीटाणु का परिवर्धित चित्र अंकित हो जाता है जिसका [illegible] [illegible] सूक्ष्म रूप से [illegible] सकता है। पराकासनी रश्मियों सूक्ष्म-

जाते हैं। पराकासनी-रश्मियों से पुराने रंगीन अथवा सादे चित्रों को आलोकित करके इन्हीं यंत्रों से उनका फोटो लिया जाता है। पराकासनी रश्मियों की सहायता से लिया गया फोटो साधारण फोटो से प्राय भिन्न होता है। चित्र की अनेक बातें जो दृश्य आलोक में दृष्टिगोचर नहीं होतीं, वे पराकासनी रश्मि के फोटो में साफ उभर आती हैं। इस विधि से कितने ही प्राचीन चित्रों के नकल की जालसाजियाँ पकड़ी गई हैं। पासपोर्ट और चेक की अनेक जालसाजियाँ भी पराकासनी-रश्मियोंवाले फोटो से पकड़ी जा चुकी हैं।

इन्फ्रारेड रश्मियों में पराकासनी रश्मियों का विपरीत गुण मौजूद है। धूलिकणों या जलवाष्पकणों में इन्फ्रारेड किरणें विलीन नहीं होतीं, इन्हें भेदकर ये आसानी से आर-पार चली जाती हैं। बीसियों मील की दूरी पर स्थित पहाड़ की चोटियाँ कुहरे और गर्द-गुबार के कारण दिन के समय भी हमें दिखलाई नहीं देतीं क्योंकि दृश्य आलोक उन धूलि-कणों से टकराकर इधर-उधर बिखर जाता है और हमारी आँखों तक पहुँच नहीं पाता। पर्वत-चोटी से [illegible]
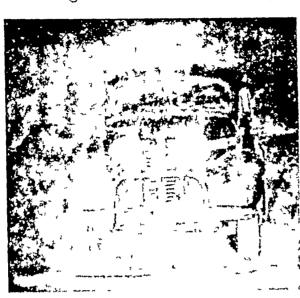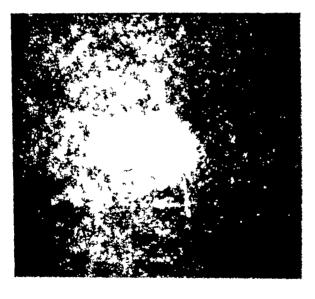
केमरे में भी साधारण कॉच के लेन्स नहीं लगाते, इनके स्थान पर खनिज नमक (rock salt) के बने लेन्स का प्रयोग किया जाता है। खनिज नमक के लेन्स इन्फ्रारेट रश्मियो के लिए पारदर्शक होते हैं। दूरस्थ वस्तुओ का फोटो लेते समय केमरे मे दूरदर्शक यत्र सरीखा एक साधन लगाना पड़ता है। इसे टेलीफोटो लेन्स कहते हैं। ऐसा करने से दूरदर्शक यत्र की तरह दूर की वस्तुएँ निकट प्रतीत होने लगती हैं।

आलोक-रश्मियो का एक और गुण उल्लेखनीय है। आलोक की तरगें ईथर के अन्दर उसके कणों मे कम्पन उत्पन्न करती हैं। तरग जिस दिशा मे अग्रसर होती है, उसकी आड़ी दिशा मे कणों का कम्पन होता है। किन्तु तरग जिस ओर को बढती है, उसमे समकोण बनाती हुई अनगिनत दिशाएँ हो सकती हैं, अतः ईथर के कण इनमें से किसी भी दिशा मे कम्पन कर सकते हैं। ऐसी तरगें, जिनमे माध्यम के कणों का कम्पन तरङ्ग के विस्तार की दिशा के समकोण पर होता है, अनुप्रस्थ (Transverse) तरगें कहलाती हैं। प्रयोगों द्वारा आलोक तरगों के कम्पन को हम किसी भी एक धरातल में सीमित कर सकते हैं। इस क्रिया को 'पोलराइजेशन' (Polarization) कहते हैं।

समझने के लिए एक मनोरजक प्रयोग का वर्णन करना अनुचित न होगा। दीवाल की कील मे रस्सी का एक छोर बॉध दीजिए और दूसरा छोर अपने हाथ में रखिए। कुछ दूरी पर खडे होकर आप रस्सी को ऊपर-नीचे एकाध बार झटका दीजिए, रस्सी में अनुप्रस्थ तरगें उत्पन्न हो जायँगी। रस्सी के कणों का कम्पन ऊपर-नीचे हो रहा है। इसके प्रतिकूल यदि रस्सी मे आप दाहिने-बायें झटका दें तो इस दशा में भी रस्सी में अनुप्रस्थ तरगें उत्पन्न होंगी किन्तु इस बार कम्पन ऊपर-नीचे न होकर दाहिने-बायें पृथ्वी के समानान्तर धरातल में होगा। इस रस्सी को यदि एक खिड़की में से होकर गुजरना हो तो खिडकी में लगे हुए छड़ों की स्थिति के अनुसार रस्सी के कम्पन की तरङ्ग भी उनके बीच में होकर गुजर सकेगी। मान लीजिए कि खिडकी के छड़ ऊपर से नीचे को सीधे खडे हैं। ऐसी दशा में रस्सी मे जब कम्पन ऊपर से नीचे को हो रहा है तभी यह कम्पन खिड़की को पारकर आगे बढ सकेगा। इस खिड़की के बाद यदि दूसरी खिडकी रास्ते में रख दी जाय तो रस्सी की तरगें इस खिडकी को भी पारकर आगे उस दशा में ही बढ सकेगी जबकि इस खिडकी के छड भी ऊपर से नीचे को खडे हो। यदि दूसरी खिडकी को ९० अंश के कोण मे घुमा दिया जाय तो इसके छड आडे अर्थात् पृथ्वी के समानान्तर हो जायँगे। ऐसी दशा मे रस्सी की कम्पन अब इस द्वितीय खिडकी में से होकर आगे जरा भी नहीं बढ सकती। (दे० पृ० २०८४ का चित्र)।

आलोक-तरङ्गों के लिए टूर्मलीन (tourmaline) के रवे ठीक इन्हीं खिडकियो-जैसा काम करते हैं। टूर्मलीन के एक रवे में से गुजरने पर आलोक-तरङ्गों का कम्पन एक विशिष्ट धरातल मे ही सीमित हो जाता है, क्योंकि टूर्मलीन के रवे मे से होकर केवल एक धरातल के कम्पन गुजरने पाते हैं, अन्य दिशाओ में होनेवाले कम्पन रवे में ही विलीन हो जाते हैं। इस पोलराइज्ड (polarized) आलोक को जब हम द्वितीय टूर्मलीन के रवे में से गुजरने देते हैं तब हम देखते हैं कि जिस समय दोनो रवे समानान्तर स्थिति मे रहते हैं उस समय तो आलोक-रश्मि दूसरी तरफ पहुँच पाती है, किंतु दूसरा रवा पहले रवे से जब ९० अश का कोण बनाता है, तब आलोक-रश्मि दूसरी तरफ बिल्कुल नहीं पहुँच पाती (दे० पृ० २०८३ का चित्र)।

पराकासनी तथा इन्फ्रारेड की अदृश्य रश्मियों में भी दृश्य आलोक की ही भॉति पोलराइज़ेशन(Polarization) के गुण मौजूद हैं। प्रथम टूर्मलीन से गुजरने पर इन्फ्रारेड रश्मियॉ थर्मामीटर को कम गर्म कर पाती हैं, क्योंकि टूर्मलीन से गुजरने पर इस रश्मि के अन्य कम्पन मिट जाते हैं, केवल एक दिशा में होनेवाले कम्पन टूर्मलीन को पार कर पाते हैं। द्वितीय टूर्मलीन को पहले के ९० डिग्री पर रखने पर इन्फ्रारेड इस टूर्मलीन में एकदम विलीन हो जाती है और अब थर्मामीटर पर कुछ भी असर नहीं पडता। द्वितीय टूर्मलीन को पुन. प्रथम टूर्मलीन के समानान्तर कर देने पर इन्फ्रारेड-रश्मि दोनो टूर्मलीनों को पारकर फिर थर्मामीटर को प्रभावित कर देती है।

पोलराइज्ड आलोक का प्रयोग अब हमारे दैनिक जीवन में भी किया जाने लगा है। सेलूलायड की जाति का एक पदार्थ तैयार किया गया है जो सेलूलायड की तरह ही पारदर्शक होता है, किन्तु जिसका रग अपेक्षाकृत गहरा होता है। इसे 'पोलरायड' के नाम से पुकारते हैं। पोलरायड के अन्दर आलोक-रश्मि को 'पोलराइज' करने की क्षमता होती है। केवल विशेष दिशा मे कम्पन करने-वाली आलोक-तरगे इसमें से होकर गुजर सकती हैं। नए ढग के होटल के कमरों में खिडकियो और रोशनदानो में कॉच की जगह पोलरायड के दुहरे पर्दे लगे रहते हैं। इन पर्दों को एक दूसरे के लिहाज से घुमाने पर कमरे के

अन्दर बाहर से आलोक कम या अधिक मात्रा में पहुँचाया जा सकता है। जिस समय दोनों पर्दों के अणुओं की दिशा एक दूसरे के समानान्तर रहती है, दोनों से पार कर कमरे के अन्दर काफी रोशनी पहुँचती है। किन्तु इनमें से एक पर्दे को यदि घुमाया जाय तो इनमें से होकर गुजरनेवाले आलोक की मात्रा भी घटती जाती है, यहां तक कि जब दोनों पर्दे एक दूसरे के साथ ९० अंश का कोण बनाते हैं, उस समय कमरे के अन्दर उनमें से छनकर जरा भी रोशनी नहीं पहुँचने पाती।

मोटरकार के लेम्प की चकाचौंध कम करने के लिए उसके आगे लेम्प में शीशे की जगह पोलरायड का प्रयोग करते हैं, साथ ही गाड़ी में ड्राइवर के सामने लगे हुए काँच के पर्दे की जगह भी पोलरायड ही लगाते हैं। ऐसा करने से सड़क पर चकाचौंध के कारण दुर्घटना नहीं होने पाती, क्योंकि पोलरायड में से होकर इधर-उधर की आलोक-रश्मियाँ गुजर नहीं पातीं (दे० पृ० २०८७ का चित्र)। पोलरायज्ड रश्मियों की मदद से कांच के बर्तन की परीक्षा की जा सकती है कि क्या उसके सभी भाग समान रूप से ठंडे हुए या नहीं। यदि बर्तन की दीवालों में अन्दर ही अन्दर कुछ बल हुआ तो वह हमें साधारण तौर से देखने पर न दिखलाई देगा। किन्तु [illegible] पोलरायड [illegible] बर्तन की [illegible]

एक्सरे द्वारा लिया गया मनुष्य के हाथ का एक चित्र
यह किरणें हमें चर्म चक्षुओं से तो नहीं दिखलाई देतीं पर उनका पता फोटो-प्लेट पर उनके प्रभाव से निश्चित रूप से लग जाता है। देखिए, हाथ के मांस-रुधिर और ऊपरी आवरण को भेद-कर केवल हड्डियों का ही चित्र उभर आया है।

आँखों की भाँति ये दोनों लेन्स उसी दृश्य के दो विभिन्न फोटो एक ही साथ लेते हैं। इस प्रकार दो फिल्म उसी दृश्य की तैयार कर ली जाती हैं, जो विभिन्न दृष्टिकोण से ली गई होती हैं।

सिनेमा-हाल में दो प्रोजेक्टर मशीनों में इन दोनों फिल्मों को लगाकर पर्दे पर चित्र इस प्रकार फेंकते हैं कि दोनों ठीक एक दूसरे के ऊपर पड़े। दोनों प्रोजेक्टर के लेन्सों के सामने एक-एक पोलरायड रख देते हैं। इन पोलरायडों की दिशा एक-दूसरे के साथ समकोण बनाती है। अतः बायें प्रोजेक्टर के दृश्य में आलोक का कम्पन जिस दिशा में होता है दाहिने प्रोजेक्टर के चित्र में उस दिशा के साथ ९० अंश का कोण बनानेवाली दिशा में कम्पन होता है। दर्शकगण पोलरायड के बने चश्मे आँखों पर चढ़ाकर पर्दे की ओर देखते हैं। बाईं आँख के पोलरायड का झुकाव बायें प्रोजेक्टर के पोलरायड के झुकाव के समानान्तर होता है, और इसी प्रकार दाहिनी आँख के पोलरायड का झुकाव दाहिने प्रोजेक्टर के पोलरायड के झुकाव के समानान्तर होता है। अतः दर्शक की प्रत्येक आँख उन दो चित्रों में से केवल एक चित्र देखती है और उस दृश्य के लम्बाई-चौड़ाई के साथ ही गहराई का भी भान हो जाता है।

विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें (Electro-magnetic waves) [illegible]

हैं। उनकी लहर-लम्बाई दृश्य आलोक की लहर-लम्बाई की १०००० होती है।

किन्तु इन विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों की सूक्ष्मता यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। एक्स-रे से भी और आगे बढ़ने पर रेडियम से निकलनेवाली तीव्रतर 'गामा-किरणें' मिलती हैं। इनकी भेदनशक्ति एक्स-रे के मुक़ाबले में कहीं अधिक होती है। थोड़ी देर तक भी यदि गामा-किरणें त्वचा पर पड़े तो फौरन् गहरे घाव पड़ जाते हैं। एक्स रे की भाँति गामा-किरणों का भी प्रयोग चिकित्सा-विज्ञान में अब प्रचुरता से किया जाने लगा है। शब्द-तरंगों की भाँति आलोक-तरंगों को भी उनकी लहर-लम्बाई के अनुसार सप्तकों में बाँटते हैं। किसी विशेष लहर-लम्बाई से लेकर उसकी दूनी लहर-लम्बाई तक की तरंग एक सप्तक में आती हैं। इस हिसाब से हम देखते हैं कि दृश्य आलोक केवल एक सप्तक तक फैला है। इन्फ्रारेड आलोक का क्षेत्र लगभग ६ सप्तकों तक है, हर्ट्ज़ियन तरंगों का २८ सप्तक तक, रेडियो-तरंगों का ११ सप्तक तक, पराकासनी का ५ सप्तक तक और एक्स-रे का १४ सप्तक तक है।

हज़ारों मील की दूरी से बेतार के संवाद भेजने के कार्य में विद्युत् चुम्बकीय तरंगों का प्रयोग। एक जहाज़ का वायरलेस ऑपरेटर अपनी बेतार की बर्की खटखटा रहा है।

आलोक की जाति की रश्मियों की विभिन्नता देखकर एक वैज्ञानिक ने एक बार कहा था कि "प्रकाश के अथाह सागर में हम अन्धे के सदृश हैं"। उसकी इस धारणा में सत्य का अंश कम नहीं है। गामा-किरणों से लेकर दूसरे छोर की रेडियो-तरंगों तक विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों की लम्बी शृंखला मौजूद है, किन्तु हमारी आँखों को इस शृंखला की एक नन्हीं-सी कड़ी भर दिखलाई पड़ती है। अन्य किरणें हमारे दृष्टिपटल पर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल पाती।

विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों की विभिन्नता उनकी लहर-लम्बाई के अन्तर के कारण है। इसी कारण रेडियो-तरंगों को हम अपनी आँखों के दृष्टि-ज्ञान की सहायता से मालूम नहीं कर सकते हैं, इसका पता लगाने के लिए हमें विद्युत-डिटेक्टर (detector) यंत्र का प्रयोग करना पड़ता है। पराकासनी किरणें हमें दिखलाई नहीं देतीं किन्तु फोटोग्राफी की प्लेट को वे प्रभावित कर सकती हैं। इन्फ्रारेड रश्मियाँ केवल थर्मामीटर को प्रभावित कर सकती हैं। एक्स-रे वैसे हमें नहीं दीखती, किन्तु काँच तथा अन्य पदार्थ उसके स्पर्श से चमकने लगते हैं। गामा-किरणें भी अदृश्य होती हैं, किन्तु हमारी त्वचा को ये क्षण भर में ही जला डालती हैं। फिर विभिन्न गुणोंवाली ये तरंगें क्यों एक ही जाति (विद्युत् चुम्बकीय) में रखी गई हैं? इसका कारण यह है कि कतिपय बाह्य गुणों की विभिन्नता को छोड़ उनके अनेक आभ्यन्तरिक गुण बिल्कुल एक सरीखे हैं, जैसे, सभी विद्युत्-कणों की गति से उत्पन्न होती हैं, सभी बिना किसी भौतिक माध्यम के वैकुअम में भी गमन कर सकती हैं, और उन सब की गति प्रति सेकण्ड १,८६,३०० है।

विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की एक और विशेषता की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। विभिन्न लहर लम्बाई की तरंगें विभिन्न आकार के पैकेट या 'क्वान्टम' (Quantum) के रूप में गमन करती हैं। सुप्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक मैक्स प्लैङ्क ने विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण अनुसन्धान कर आलोक के 'क्वान्टम-वाद' का निर्माण किया है, जिसने अनेक गूढ़तम गुत्थियाँ सुलझ गई हैं, जो न तो न्यूटन के सिद्धान्त से समझ में आती थीं, और न तरंगवाद से ही। इस महत्त्वपूर्ण अनुसंधान के विषय में विशेष रूप से आप आगे चलकर जानकारी पा सकेंगे।

का मूलतत्त्व होना लवायशिये ने १७७७ ई० मे सिद्ध किया था। यह महत्त्वपूर्ण तत्त्व हमें कहाँ से और किस प्रकार मिलता है और उसमे क्या-क्या गुण होते हैं, इन सब बातों की जानकारी हमारे लिए अवश्य ही मनोरंजन की सामग्री होगी।

प्राप्ति-स्थान

प्रकृति मे गन्धक मुक्त और संयुक्त दोनो अवस्थाओं मे मिलता है। मुक्तावस्था मे वह सिसिली और जापान के ज्वालामुखी प्रदेशों मे, तथा अमेरिका में लुइसिआना और टेक्साज के भौगर्भिक निक्षेपो मे पाया जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक लगभग सभी गन्धक सिसिली और जापान से आता था। सन् १६०३ में अमेरिकन इञ्जीनियर हेनरी फ्रैश ने भौगर्भिक निक्षेपो से गन्धक निकालने की एक बडी ही चतुर विधि का आविष्कार कर डाला। यह विधि इतनी सस्ती प्रमाणित हुई कि बाद मे अमेरिका संसार के गन्धक की आवश्यकता की ८० प्रतिशत पूर्त्ति करने लगा। ऐसा अनुमान किया जाता है कि केवल लुइसिआना के निक्षेपो मे ही लगभग चार करोड टन गन्धक भरा हुआ है, अतएव कम-से-कम एक सौ वर्ष तक उसके समाप्त होने की कोई संभावना नहीं। कुछ वर्ष हुए अमेरिका के अलास्का देश में भी गन्धक के बहुत बडे निक्षेपों का पता लगा है, परन्तु उनसे अभी गन्धक निकाला नहीं जाता।

संयुक्तावस्था में वह मुख्यतः सल्फाइडो के रूप मे खानो मे मिलता है। इन सल्फाइडो मे आयरन पाइराइट्स (लोहे की सल्फाइड), कापर पाइराइट्स (ताँबे व लोहे की सल्फाइड), गैलना (सीसे की सल्फाइड), ज़िङ्क ब्लेण्ड (जस्ते की सल्फाइड), मसिल और हरताल (आर्सनिक की सल्फाइडें), और रक्तहिंगुल (पारा की सल्फाइड) मुख्य हैं। सल्फेटों के रूप में गंधक जिप्सम (सिलखडी, कैल्शियम सल्फेट), हेवी स्पार (बेरियम सल्फेट), और कीसराइट (मैग्नेशियम सल्फेट) नामक खनिजों में मुख्यतः मिलता है। इसके अतिरिक्त वह प्याज, लहसुन, सरसों, गाजर, बाल, अंडा, अनेक तेलो तथा प्रोटीडों आदि जीव-पदार्थो में भी रहता है। अंडों के साथ प्रयुक्त होनेवाली चम्मचो को काली पड जाते हुए हमारे कुछ पाठकों ने देखा होगा। यह गन्धक के ही कारण होता है, जिसके संयोग से चाँदी सिल्वर सल्फाइड नामक एक काले यौगिक में परिणत हो जाती है। रबड़ के संसर्ग में चाँदी के सिक्के भी इसी कारण काले पड़ जाते हैं।

भारतवर्ष मे भी गन्धक बलूचिस्तान के कलात राज्य, काँगड़ा, पंजाब के ज्वालामुखी और बंगाल की खाडी के ऊसर द्वीप मे मिलता है। आसाम, बिहार और उडीसा मे लोहे की पाइराट्स मिलती हैं। पत्थर के कोयले मे भी कुछ-न-कुछ गन्धक प्रायः लोहे की पाइराइट्स के रूप मे अवश्य मिला रहता है। जब यह कोयला जलता है तो उसमें से गंधक हाइड्रोजन सल्फाइड के रूप मे निकलता है। अँगीठियों में जब पत्थर का कोयला जलता है तो कभी-कभी हमें हाइड्रोजन सल्फाइड गैस की गंध मिलती है। अशुद्ध कोल-गैस और कोयले की खानों की गैसों में भी हाइड्रोजन सल्फाइड इसीलिए रहती है। कोयले की खानो मे इस गैस को 'स्टिङ्कडैम्प' कहते हैं। यदि कोयले मे गंधक अधिक मिला रहता है तो वह बॉयलर और उसकी भट्टी की छडों को नष्ट कर डालता है। इसी कारण खानो में जो आयरन पाइराइट्स के टुकडे बहुधा मिले हुए मिलते हैं और पीतल सरीखे दिखाई देते हैं, वे कोयले से अलग कर दिए जाते हैं।

निकालने की विधियाँ

(१) फ्रैश की विधि—लुइसियाना और टेक्साज में गंधक का स्तर मिट्टी, बालू और पत्थर के स्तरों के नीचे धरातल से लगभग १००० फीट की गहराई में रहता है। बालू के कारण गंधक निकालने के लिए साधारण उपाय काम मे नही लाये जा सकते। फ्रैश की विधि में ऊपर से गंधक की तह तक लगभग एक फुट व्यास की बोरिंग कर दी जाती है, और उसमें चार एककेन्द्रिक नल लगा दिए जाते हैं। बाहरी दो नलों के वलयाकार मार्गो से १७०°C तक गर्म किया हुआ बेहद गरम पानी पम्प द्वारा नीचे भेजा जाता है। इसके द्वारा गन्धक पिघलता रहता है और तरल गन्धक और पानी कुंड रूप में नीचे इकट्ठा होता रहता है। सबसे भीतरी नल से होकर संकुचित हवा नीचे भेजी जाती है। इस हवा के दबाव के कारण तीसरे नल से गन्धक, पानी और हवा का मिश्रण ऊपर चढकर बाहर निकलने लगता है। यह गन्धक लकड़ी की दीवाल से घिरे हुए बडे-बडे बाड़ों में भरकर इकट्ठा कर लिया जाता है। प्रत्येक बाड़ा लगभग २५० फीट लंबा, १५० फीट चौडा और ६० फीट ऊँचा होता है। ठंडा होने पर यह गन्धक ठोस हो जाता है, और इस प्रकार गन्धक की एक पहाडी-सी खडी हो जाती है। अंत में लकड़ी की दीवालें तोड़ दी जाती हैं, और गन्धक तोड-तोडकर बाहर भेज दिया जाता है। यह गन्धक ६६.५ प्रतिशत शुद्ध

गंधक का भट्ठा

ज्वालामुखी प्रदेशों में गंधक इसी प्रकार निकाला जाता है।

शत गन्धक की ही हानि होती है। ज्वालामुखी प्रदेशों से इस प्रकार निकाला हुआ गंधक अशुद्ध होता है, अतएव उसका शोधन आवश्यक है। सिसिली के गंधक का शोधन प्रायः मार्सेलीज में होता है, कारण निकट होने के अलावा इस नगर में कोयला भी कहीं अधिक सस्ता मिलता है। इस शोधन-विधि मे अशुद्ध गंधक को एक लोहे के पात्र में पिघलाकर नली द्वारा एक लोहे के रिटॉर्ट में ले जाया जाता है। इस रिटॉर्ट में वह उबाला जाता है, और उसका वाष्प ईंटों के बने हुए एक बड़े कोठे में पहुँचता है। यहाँ वह पहले ठंडी दीवालों पर एक हलकी पीली धूलि के रूप में घनीभूत हो जाता है। इसे दीवालों से खुरचकर अलग करके इसी रूप में काम में लाया जाता है। इस धूलि को गंधक-रज और अँगरेजी में "फ्लावर्स आफ सल्फर" (Flowers of Sulphur) कहते हैं। यदि इसकी आवश्यकता नहीं होती तो उसे दीवालों पर ही रहने दिया जाता है। जब कोठे का तापक्रम गंधक के द्रवणांक के ऊपर पहुँचता है तो गंधक-रज पिघलकर नीचे बह जाता है, और गंधक-वाष्प भी तरल रूप में घनीभूत होकर कोठे की फर्श पर इकट्ठा होने लगता है। इस तरल गंधक को निकालकर पतले बेलनाकार साँचों में भर लिया जाता है। इस प्रकार का ढला हुआ बेलनाकार गंधक (Roll Sulphur) आपने अवश्य देखा होगा।

इसके अतिरिक्त, कोल-गैस और लाब्लाङ्क विधि से क्षार बनानेवाले कारखानों में उपलब्ध कतिपय उप-पदार्थों से भी कुछ-न-कुछ गंधक निकाल लिया जाता है।

गंधक के अनेक रूपांतर

गंधक का अस्तित्व अनेक रूपों में संभव है। हम देख चुके हैं कि ऑक्सिजन तत्त्व दो रूपांतरों में रहता है। हम आगे कभी यह भी देखेंगे कि कार्बन और फास्फरस भी कई रूपों में रह सकते हैं। किन्तु गंधक के रूपांतरों की संख्या इन सभी तत्त्वों के रूपांतरों की संख्या से अधिक होती है। साधारण अथवा प्राकृतिक गंधक इस तत्त्व का सबसे स्थायी रूप होता है। यह एक हलका पीला, मणिभीय, अपारदर्शक, भंगुर, पानी से दुगुना भारी और उसमें अघुलनशील तथा ताप और बिजली का कुचालक ठोस पदार्थ होता है। कार्बन डाइसल्फाइड नामक द्रव में वह सरलता से घुल जाता है। इस घोल को धीरे-धीरे वाष्पीभूत होने देने से साधारण गंधक के मणिभ तैयार किए जा सकते हैं। इन मणिभों के आकार के आधार पर इस गंधक को समचतुर्भुजीय अथवा अष्टफलकीय गंधक कहते हैं। गर्म तारपीन के तेल में भी वह सरलता से घुल जाता है। यह गंधक गर्म करने पर ११४°C तापक्रम पर पिघलकर तृणमणि (amber) के रंग का द्रव हो जाता है। एक बड़ी घरिया में गंधक के छोटे-छोटे टुकड़े इतने ले लीजिए कि उनके पिघलने से वह लगभग आधी भर जाय। इन टुकड़ों को धीरे-धीरे तब तक गर्म कीजिए जब तक सब टुकड़े न पिघल जायें। इस तरल गंधक को फिर इतना ठंडा कर लीजिए कि उसके तल पर एक पपड़ी जम जाय। एक छड़ द्वारा इस पपड़ी में दो छेद कर लीजिए। एक छेद अंदर हवा जाने के लिए रहने दीजिए, और दूसरे से शेष तरल गंधक उँडेलकर निकाल डालिए। अब सावधानी के साथ पपड़ी को तोड़कर हटा दीजिए। आप देखेंगे कि घरिया के पृष्ठ पर लम्बे-लम्बे सुई-सरीखे पीले रंग के पारदर्शक मणिभ लगे हुए हैं। गंधक का यह एक दूसरा रूपांतर है, जो मणिभों के आकार के आधार पर समपार्श्वीय गन्धक कहलाता है। साधारण दशाओं में यह रूप स्थायी नहीं होता, और कुछ दिन रख छोड़ने पर समचतुर्भुजीय रूप में परिवर्तित हो जाता है। ९६°C के नीचे साधारण गन्धक और ९६°C से ११९°C तक समपार्श्वीय गन्धक स्थायी होता है।

द्रवणांक के ऊपर गर्म करने पर तरल गन्धक का रंग

और भी गहरा होने लगता है, और उसकी चञ्चलता घटने लगती है। १८० C पर वह प्रायः काला होकर इतना गाढ़ा हो जाता है कि परीक्षा-नली के उलट देने पर भी नहीं गिरता। और अधिक गर्म करने पर उसकी चञ्चलता फिर घटने लगती है, और लगभग ४४५°C पर वह गहरी नारंगी वाष्प देते हुए उबलने लगता है। यदि क्वथनांक तक गर्म करने के बाद गन्धक शीघ्रता-पूर्वक ठंडे पानी में छोड़ दिया जाता है, तो वह एक गहरे भूरे-लाल रंग के अल्पपारदर्शक, अमणिभीय नम्य, ठोस पदार्थ में परिणत हो जाता है। यह गन्धक का एक अन्य रूपांतर होता है जिसे 'नम्य गन्धक' कहते हैं। रबर की भाँति यह स्थितिस्थापक (बढ़ने घटनेवाला) भी होता है। प्रथम दो प्रकार के विपरीत यह गन्धक कार्बन डाइसल्फ़ाइड में नहीं घुलता। उबलते हुए गन्धक की वाष्प जब ठंडे पृष्ठ पर घनीभूत की जाती है, तो 'गन्धक-रज' प्राप्त होता है। इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। गन्धक-रज में मुख्यतः साधारण रूपान्तर के कण किन्तु अल्पांश में एक अमणिभीय रूपान्तर के कण मिले होते हैं। इस रूप को 'श्वेत अमणिभीय गन्धक' कहते हैं। इसके भी गौण रूप भी ज्ञात हैं, यथा नेक्रिश्चन गन्धक, टेबुलर गन्धक, आदि। उपयोगिता की दृष्टि से ये रूप महत्वपूर्ण नहीं होते।

गन्धक के रासायनिक गुण

विभिन्न दशाओं में, गन्धक कई अधातुओं से संयुक्त होता है। हवा अथवा ऑक्सिजन में गर्म करने पर वह पहले पिघलता है, फिर एक आसमानी लौ के साथ सल्फ़र डाइऑक्साइड गैस में परिणत होते हुए जलने लगता है। गन्धक जलाने पर इसी गैस की गंध आपको मिलती है। गन्धक की वाष्प को रक्त-तप्त कोयले पर प्रवाहित करने से कार्बन डाइसल्फ़ाइड (CS_2) द्रव प्राप्त होता है। हाइड्रोजन और क्लोरीन जब उबलते हुए गन्धक में प्रवाहित किए जाते हैं, तो हाइड्रोजन सल्फ़ाइड (H_2S) गैस, और डाइ सल्फ़र डाइ-क्लोराइड (S_2Cl_2) नामक द्रव प्राप्त होते हैं। इसी सल्फ़र क्लोराइड का उपयोग मस्टर्ड गैस बनाने में होता है।

सुवर्ण और प्लैटिनम को छोड़कर अन्य सभी धातुएँ गन्धक से संयुक्त होकर धातु सल्फ़ाइडों में बदल जाती हैं। लोहे के टुकड़े के साथ जब गन्धक गर्म किया जाता

गन्धक के शोधन की विधि

है तो फेरस सल्फ़ाइड (FeS) तैयार हो जाता है। इसी फेरस सल्फाइड का उपयोग प्रयोगशाला मे हाइड्रोजन सल्फाइड गैस के तैयार करने मे होता है। ताँबे का पत्तर तो उबलते हुए गधक के वाष्प मे रखने से जल तक उठता है और ताम्रस सल्फाइड (Cu_2S) मे परिवर्तित हो जाता है। सोडियम और पोटैशियम को गधक के साथ गर्म करने पर वे भभककर जल उठते हैं, और सोडियम सल्फाइड (Na_2S) और पोटैशियम सल्फाइड (K_2S) बन जाते हैं। चाँदी, जस्ता, आदि धातु भी, गधक के साथ गर्म करने पर, सिल्वर सल्फाइड (Ag_2S), जिङ्क सल्फाइड (ZnS) आदि सल्फाइडो मे बदल जाते हैं। पारे को तो गधक के साथ खरल मे रगडने से ही वह काली पारदिक सल्फाइड मे बदल जाता है।

सल्फर डाइऑक्साइड

सल्फर डाइऑक्साइड गन्धक की सबसे महत्वपूर्ण ऑक्साइड है। यह एक अम्लीय ऑक्साइड होती है और पानी मे घुलकर सल्फ्यूरस ऐसिड का उत्पादन करती है ($SO_2+H_2O=H_2SO_3$)। इस अम्ल का अस्तित्व ठडे घोल के रूप मे ही ज्ञात है। गर्म करने से सल्फर डाइऑक्साइड गैस घोल मे से निकलने लगती है, यहाँ तक कि उबलने के तापक्रम पर पहुँचने तक सारी गैस निकल जाती है और केवल पानी ही रह जाता है। सल्फर डाइऑक्साइड से ही महत्वपूर्ण पदार्थ सल्फ्यूरिक ऐसिड का बृहद् परिमाणो में निर्माण होता है। इसके लिए सल्फर डाइऑक्साइड को उत्प्रेरक पदार्थों की उपस्थिति में हवा की ऑक्सिजन के सयोग से, अथवा नाइट्रोजन पराक्साइड की ऑक्सीकारी क्रिया द्वारा सल्फर ट्राइऑक्साइड (SO_3) में परिणत कर देते हैं। यह सल्फर ट्राइऑक्साइड पानी की उपस्थिति मे तुरन्त गधकाम्ल में परिवर्तित हो जाती है ($SO_3+H_2O=H_2SO_4$)। अम्लीय ऑक्साइड होने के कारण सल्फर डाइऑक्साइड क्षारों को उदासीन करके सल्फाइट लवणों का उत्पादन करती है। यथा कास्टिक सोडा के घोल मे सल्फर डाइऑक्साइड प्रवाहित करके सोडियम सल्फाइड (Na_2SO_3) तैयार किया जाता है। जैसा अभी बताया जा चुका है, सल्फर डाइऑक्साइड में एक और ऑक्सिजन के परमाणु से सयुक्त होने की क्षमता होती है। इस ऑक्सिजन के परमाणु को वह कई यौगिकों से ले सकती है, अतएव सल्फर डाइऑक्साइड अवकारक (ऑक्सिजन निकाल लेने का) गुण प्रदर्शित करती है। एक दीपचमची में थोड़ा-सा गन्धक रखकर उसे गर्म करके जला लीजिए, और फिर उसे एक जार में डालकर गन्धक को जितना जल सके जल जाने दीजिए। इस जार मे गन्धकाम्ल मिला हुआ थोड़ा-सा पोटैशियम परमैङ्गनेट का घोल छोड़ दीजिए और उसे फिर से बद करके हिलाइए। घोल का लाल रंग तुरत उड जायगा। यह रगविनाश परमैङ्गनेट के अवकरण से ही होता है। इसी प्रकार गधकाम्ल मिला हुआ पोटैशियम डाइक्रोमेट का घोल नारगी रग से हरा हो जाता है। क्लोरीन वाटर में सल्फर डाइऑक्साइड मिलाने से घोल मे हाइड्रोक्लोरिक और सल्फ्यूरिक ऐसिडें बनकर रह जाती हैं। इसीलिए 'ऐंटी-क्लोर' (anti-chlor) के नाम से सल्फर डाइऑक्साइड का व्यवहार क्लोरीन द्वारा विरजित पदार्थों से बची हुई क्लोरीन को निकाल डालने में होता है। सल्फर डाइऑक्साइड स्वय एक रगनाशक पदार्थ है। क्लोरीन के और सल्फर डाइऑक्साइड के इस गुण में यह अन्तर होता है कि क्लोरीन द्वारा रगविनाश ऑक्सीकरण से और सल्फर डाइऑक्साइड द्वारा अवकरण-से होता है। सल्फर डाइऑक्साइड से रंग का विनाश स्थायी नहीं होता, कारण हवा के ऑक्सीकारक प्रभाव द्वारा कुछ-न-कुछ रंग फिर लौट आता है। ऊन, रेशम, तिनकों, शकर आदि को विरजित करने में सल्फर डाइऑक्साइड का बहुत उपयोग होता है। भारतीय शकर के कारखानो मे शायद ही कोई ऐसा हो जिसमें सल्फर डाइऑक्साइड की गध आपको न मिले। यहाँ के कारखानों मे इसका महत्व इसलिए और भी है कि हड्डी के कोयले का व्यवहार अधिकतर भारतीय पसद नहीं करते। यह गैस कीटाणुनाशक भी होती है। इसीलिए अस्पतालो तथा अन्य स्थानों में निःसक्रामक के रूप में, और शराब, मास, खालें, आदि को सुरक्षित रखने के लिए उसका व्यवहार होता है। अमोनिया की भाँति सल्फर डाइऑक्साइड सरलतापूर्वक द्रवीभूत हो जानेवाली गैस होती है, अतएव रेफ्रिजरेटरो मे उसका व्यवहार बहुत होता है। यदि आपको सल्फर डाइऑक्साइड में गधक और ऑक्सिजन की उपस्थिति को सिद्ध करना हो, तो उससे भरे हुए एक जार में चिमटे से पकडकर एक जलता हुआ मैग्नेशियम के फीते का टुकड़ा लटका दीजिए। वह चिट-चिट की आवाज़ करता हुआ जलेगा और मैग्नेशियम ऑक्साइड मे बदल जायगा, और गधक के कुछ टुकडे आपको जार के पृष्ठ पर लगे हुए दिखाई देंगे।

इस प्रतिक्रिया में सल्फर डाइऑक्साइड ऑक्सीकारक गुण प्रदर्शित करती है।

प्रयोगशाला में सल्फर डाइऑक्साइड गैस प्रायः सान्द्र गंधकाम्ल को ताँबे के छीलनों के साथ गर्म करके तैयार की जाती है। एक फ्लास्क में कुछ ताँबे के छीलन लेकर उसमें इतना सल्फ्यूरिक ऐसिड डाला जाता है कि छीलन ढक जायँ। फ्लास्क में एक थिसिल-कीप और समकोण पर दो बार झुकी हुई निकास-नली लगी होती है। फ्लास्क सामान्य विधि से गर्म किया जाता है, और हवा को ऊपर हटाकर गैस जारों में भर ली जाती है।

इसके तैयार करने की एक सरलतर विधि में सल्फाइटों पर अम्लों की क्रिया का उपयोग होता है। इसके लिए पृष्ठ १६५० के चित्र में दिखाए हुए उपकरण का प्रबन्ध करना होता है। फ्लास्क में सोडियम सल्फाइट अथवा और भी अच्छा यह है कि सोडियम बाइसल्फाइट का कुछ सपृक्त घोल ले लीजिए। कीप में कुछ गाढ़ गंधकाम्ल ले लीजिए और बूँद-बूँद करके फ्लास्क में छोड़ते रहिए। गैस की एक तेज़ धार निकलने लगेगी।

बड़े परिमाणों में सल्फर डाइऑक्साइड प्रायः या तो प्राकृतिक गंधक को जलाकर अथवा लोहे की पाइराइटों को हवा की धारा में गर्म करके तैयार की जाती है। जस्ता, पारा आदि धातुओं के निर्माण में भी इसका उत्पादन होता है, कारण इनकी प्राकृतिक सल्फाइटों को जलाकर ही ये धातु निकाले जाते हैं। अगले अध्याय में हम देखेंगे कि लोहे की पाइराइटों से सल्फर डाइऑक्साइड और फिर सल्फर डाइऑक्साइड से सल्फ्यूरिक ऐसिड किस प्रकार बृहद् परिमाणों में तैयार किए जाते हैं।

हाइड्रोजन सल्फाइड

रासायनिक प्रयोगशालाओं में अथवा उनके पास से निकलने पर आपको कदाचित् एक दुर्गंधयुक्त गैस का अनुभव हुआ होगा। इस गैस का नाम हाइड्रोजन सल्फाइड या सल्फ्युरेटेड हाइड्रोजन है। रसायन के विश्लेषणात्मक प्रयोगों के लिए यह गैस बड़ी ही महत्वपूर्ण और आवश्यक है। गंधकयुक्त जीव-पदार्थों के सड़ने से भी यह गैस निकलती है। सड़े अंडों में इसकी दुर्गंध इसीलिए मिलती है। कुछ खनिज सोतों के पानी में भी यह गैस घुली हुई पाई जाती है।

यह गैस सल्फाइडों पर नमक अथवा गंधक के तेज़ाब की क्रिया से सरलता से बनाई जा सकती है। इसे तैयार करने के लिए लोहे की सल्फाइड पर हल्की व्यापारिक हाइड्रोक्लोरिक अथवा सल्फ्यूरिक ऐसिड (एक भाग ऐसिड और दो भाग पानी) की क्रिया का उपयोग होता है। रसायनशाला के बाहर रक्खे हुए किप उपकरण (दे० पृ० २८३) में होती हुई इस प्रतिक्रिया को शायद आपने देखा हो। बीचवाले गोले में फेरस सल्फाइड के मोटे टुकड़े रक्खे रहते हैं, और ऊपर और नीचेवाले गोलों से हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड बहता-टपकता है। इसी ऐसिड का उपयोग बहुधा होता है, [illegible] ऐसिड की क्रिया से फेरस [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है।

[illegible]

फ्रैश की विधि से निकाले हुए गंधक का ढेर

की बोतल को काम मे लाया जा सकता है (दे० चित्र पृ० २७२)। यह गैस ठडे पानी मे बहुत-कुछ घुलनशील होती है और वह हवा से लगभग १।। गुनी भारी होती है, अतएव वह या तो गुनगुने पानी को नीचे अथवा हवा को ऊपर हटाकर इकट्ठी की जा सकती है। फेरस सल्फाइड मे कुछ-न-कुछ लोह के कण भी मिले रहते हैं, अतएव उससे बनाई हुई हाइड्रोजन सल्फाइड मे कुछ हाइड्रोजन गैस भी मिली रहती है।

रसायनशाला मे प्रयुक्त होती हुई हाइड्रोजन सल्फाइड के किप के पास यदि आप थोडी देर खडे हो तो आपको बडी मनोरजक रासायनिक क्रियाओं को देखने का अवसर मिलेगा। लवणों के घोलों मे उसके प्रवाहित किये जाने पर आपको बहुधा रङ्ग-बिरगे अवक्षेप पृथक् होते हुए दिखाई देगे; यदि आपको इस गैस का किप सुलभ हो सके, तो आप तूतिया के थोडे से घोल को एक परीक्षा-नली मे लेकर उसमे इसको धीरे-धीरे बुलबुलाएँ। आप उस घोल से एक काला पदार्थ अवक्षित होते देखेंगे। यदि आपको थोडी-सी सफेद सखिया (आर्सीनियस ऑक्साइड) मिल सके तो उसे परीक्षा-नली मे रखकर उसमे हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड छोडें और फिर उसे उबालकर छन्ना-कागज द्वारा छान लें। यह घोल आर्सीनियस क्लोराइड का होगा। इसमे हाइड्रोजन सल्फाइड उसी प्रकार प्रवाहित करने पर आपको एक पीला अवक्षेप पृथक् होता हुआ मिलेगा। इसी प्रकार हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड मे ऐण्टिमनी के किसी लवण के घोल मे इस गैस को प्रवाहित करने पर एक नारङ्गी रङ्ग का पदार्थ पृथक् होता है। ये अवक्षित होते हुए पदार्थ धातुओं के सल्फाइड होते हैं। तूतिया (कॉपर सल्फेट) से कॉपर सल्फाइड, आर्सीनियस क्लोराइड से आर्सीनियस सल्फाइड और ऐण्टिमनी क्लोराइड से ऐण्टिमनी सल्फाइड पृथक् होते हैं। इसी प्रकार अनेक अन्य धातुओं के लवणों के घोलो से इन धातुओं के सल्फाइड पृथक् होते हैं। रासायनिक विश्लेषण में इस गैस का महत्व यही है कि वह लवणों के घोलों से धातुओं को सल्फाइड के रूप में पृथक् कर देती है। धातव सल्फाइडों को तैयार करने में भी वह बहुत काम में लाई जाती है।

हाइड्रोजन सल्फाइड एक विषाक्त गैस होती है। थोडे परिमाणों में ही इसे सूँघने से जी घूमने और शिर में दर्द होने लगता है। यदि हवा के १०० भागों मे उसका आधा भाग भी मिला हो तो कुछ समय में वह प्राणघातक सिद्ध हो सकती है। इसीलिए किप का अपरेटस प्रयोगशाला के बाहर अथवा धूम-कोष्ठ मे रक्खा जाता है। अधिकतर धातुओं की चमक उसके ससर्ग मे आते ही नष्ट हो जाती है। यह इसलिए होता है कि धातु का पृष्ठ उसके सल्फाइड से ढक जाता है। इस गैस के अपरेटस को रसायनशाला के बाहर रखने का यह दूसरा कारण है। रसायनशाला मे रासायनिक तुलाओं को अलग कमरे मे इसीलिए ढककर रक्खा जाता है कि वे हाइड्रोजन सल्फाइड, अम्लों आदि के धूमों के कारण खराब न हो सके।

हाइड्रोजन सल्फाइड दो मूलतत्वों अर्थात् हाइड्रोजन और सल्फर (गन्धक) का यौगिक होता है और उसके एक अणु मे हाइड्रोजन के दो परमाणु और गन्धक का एक परमाणु रहता है। इसीलिए उसका अणु-सूत्र H_2S लिखा जाता है। इसके दोनो तत्त्व प्रज्वलनशील होते हैं, अतएव वह भी जलनेवाली होती है और हवा के साथ उसका मिश्रण विस्फोटक हो जाता है। हाइड्रोजन सल्फाइड के किप की टोंटी में रबर की नली के टुकडे द्वारा एक जेट जोड दीजिए, और हवा को पूर्णतः निकाल देने के लिए कुछ समय तक टोंटी को खोल दीजिए। अब दियासलाई जलाकर जेट के पास ले जाइए। निकलती हुई गैस जेट के सिरे पर जलने लगेगी। जलने से हाइड्रोजन सल्फाइड की हाइड्रोजन पानी में और गन्धक सल्फर डाइऑक्साइड में परिवर्तित हो जाता है। विशेषतः हाइड्रोजन सल्फाइड की हाइड्रोजन मे और कभी-कभी उसके गन्धक में भी सरलता से ऑक्सिजन से सयुक्त हो जाने अथवा दूसरे पदार्थों से ऑक्सिजन को निकाल लेने की क्षमता होती है। अतएव, हाइड्रोजन सल्फाइड में प्रायः अवकारक गुण मिलते हैं। सल्फर डाइऑक्साइड की भाँति वह पोटैशियम परमैङ्गनेट और पोटैशियम डाइक्रोमेट के घोलों को क्रमशः रङ्गहीन और हरा कर देती है। गन्धकाम्ल को वह सल्फर डाइऑक्साइड मे अवकृत कर देती है, इसीलिए उसके द्वारा वह सुखाई नहीं जा सकती। हाइड्रोजन सल्फाइड के जलीय घोल मे अम्लीय गुण होते हैं। क्षारों में प्रवाहित करने पर इसीलिए उसके लवण अर्थात् सल्फाइड बन जाते हैं, यथा कास्टिक सोडा के घोल से सोडियम सल्फाइड और अमोनिया के घोल मे बुलबुलाने से अमोनियम सल्फाइड बन जाता है।

पृथ्वी
की कहानी

दुनिया का एक मशहूर गाइसर—'ओल्ड फेथफुल गाइसर', यलोस्टोन पार्क (अमेरिका)

तप्त जल का यह महान् प्राकृतिक फव्वारा अपने नियमित उद्‌गारों के कारण ही उपर्युक्त नाम से पुकारा जाता है। बरसों से यह प्रति पैंसठ मिनिट के बाद १२० से १७० फीट ऊँचाई तक अपनी गर्म जलधारा की फुहार छोड़ता चला आ रहा है। प्रस्तुत चित्र की पृष्ठभूमि में ऊपर की ओर उठता हुआ-सा जो श्वेत बादल-जैसा दिखाई दे रहा है, वही इस महान् गाइसर का तप्त जल और वाष्प-मिश्रित फुहार है। समीप खड़े मनुष्य की आकृति से तुलना करके आप इस फुहार की विशालता का अनुमान लगा सकते हैं।

अमेरिका के सुप्रसिद्ध यलोस्टोन नेशनल पार्क का एक तप्त जल का प्राकृतिक फव्वारा—'केसल गाइसर'
ज्वालामुखी के समान गाइसर के शकु की रचना स्पष्ट दिखाई दे रही है।

तापक्रम लगभग ७५° से ९०° तक रहता है। परन्तु ७० फीट की गहराई पर जल का तापक्रम १३०° से अधिक हो जाता है। लगभग प्रति २४ घटे के उपरान्त गढे का जल उफनने लगता है और उफनकर १०० फीट ऊँचे जलस्तभ के रूप में वायु मे उठ जाता तथा फव्वारे के समान चारो ओर बरसने लगता है।

यलोस्टोन पार्क मे एक पुराना गाइसर है, जिसका नाम 'ओल्ड फेथफुल गाइसर' रखा गया है। इसमें प्रति ६५ मिनटो के पश्चात् उफान आता है और प्रत्येक उद्गार ४ मिनट तक चालू रहता है। रात-दिन प्रत्येक ऋतु और मौसम मे इस गाइसर का यह क्रम नियम-पूर्वक युगो से चला आता है। इसीलिए लोगों ने इसका नाम 'Eternity's Timepiece' (अनत की घडी) रख छोडा है। इसका टीला १४५ फीट लम्बा तथा २१५ फीट चौडा है और चोटी २०×५४ फीट आकार की है। चोटी की ऊँचाई १२ फीट है। नली की चौडाई २॥ फीट है। मुख के पास ८ फीट ऊँची भीत बनी है, जो ६ इच से लेकर ३ फीट व्यास की गोल पत्थरो की गुठलियों से बनी हुई है। पाषाण की ये गुठलियाँ 'सिलिका' (Silica) नामक खनिज पदार्थ के सूक्ष्म गोल कणों से मढी होती हैं। पास से देखने पर भी ये गोल पाषाण धातु के गोले जैसे लगते हैं। दूर से इनमें गुलाबी रग की झलक दिखाई पडती है। जल से भीगे रहने से रगों की एक विचित्र आभा इनमें उत्पन्न हो जाती है। कठोर पाषाण के बने होने पर भी इनकी रग-बिरगी अनोखी आभा से ऐसा प्रतीत होता है मानों तितलियों के कोमल परों का एक ढेर लगा दिया गया हो। उद्गार के समय इस गाइसर के निकट पहले गडगडाहट का भारी शब्द सुनाई पड़ता है और फिर क्षण भर मे ही जादूगर की रस्सी की भॉति

गाइसर है। इसका शकु १२० फीट व्यास के वृत्त में है और ऊँचाई में वह १३ फीट है। शंकु की चोटी पर जो मुखगर्त्त है उसका व्यास ६० फीट के लगभग है और गहराई पॉच फीट। गाइसर की नली भी १० फीट व्यास की है। नली और मुखगर्त्त में भरे खौलते जल का

२ गज व्यास का भव्य जलस्तम्भ वेग से ऊपर की ओर उठने लगता है, जिसके साथ साथ भाप के बादल, महीन-महीन बूँदो के फुहारे तथा मोटी धारा का उछलता हुआ जल चारो ओर बरसने लगता है। मोटी जलधारावाला फव्वार १५० फीट की ऊँचाई तक चला जाता है, मानो कोई

अदृश्य शक्ति उसकी धारा को ऊपर नीचे लिये जा रही हो। यह फुहारा कई मिनट तक छूटता रहता है। चारों ओर वेग से जल गिरता है जो टीले के ढाल से होकर आस-पास की निचली भूमि पर बह जाता है। पवन के वेग से कभी-कभी ऊपर उठी हुई जलधारा फहराती हुई विशाल धवल पताका का रूप धारण कर लेती है। सूर्य-प्रकाश में फुहारे से गिरती हुई जल की असंख्य नन्हीं बूँदें और भाप के कण मणि-मुक्ताओं की सी आभा उत्पन्न करते हैं। इसकी शोभा चन्द्रमा के प्रकाश में विशेष दर्शनीय होती है। (दे० पृ० २१०० का चित्र)

इस गाइसर के समीप ही एक दूसरा गाइसर और है जिसे 'दानव' (Giant Geyser) का नाम दिया गया है। इसका उद्गार अनिश्चित रूप से और यदा-कदा ही होता है। इसके मुख की चौड़ाई १८ फीट है। उद्गार के समय इसमें विचित्र गड़गड़ाहट सुनाई देती है और मुख में खौलता जल उफनने लगता है। थोड़ी सी देर में विचित्र शब्द करता हुआ तप्त जल उछलने लगता है और चारों ओर भाप के बादल छा जाते हैं। मोटी जलधारा का फुहारा ५०-६० फीट की ऊँचाई तक उठ जाता है और तब इस फुहारे की धारा के सिरे से पाँच-छः छोटी-छोटी और धाराएँ (६ इंच से १५ इञ्च व्यास की मोटाईवाली) निकलकर २००-२५० फीट ऊँची चली जाती हैं। उद्गार का समय लगभग २०-२५ मिनट तक रहता है। फिर जल नीचे बैठने लगता है और गड़गड़ाहट की ध्वनि भी बन्द हो जाती है।

गाइसरों का रुक-रुककर उद्गार करना बड़ा मनोरञ्जक है। बुन्सन नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने गाइसर के उद्गार का कारण जानने के लिए आइसलैंड के महान् गाइसर के उद्गार और उसकी रचना का अध्ययन करके यह निश्चित किया है कि गाइसर का रुक-रुककर उद्गार होना जल के वाष्पीकरण के ताप और दबाव के पारस्परिक संबंध के कारण है। साधारणत वायु-

न्यूज़ीलैण्ड के गाइसर-प्रदेश में पाए जाने वाले एक पंक-ज्वालामुखी के विवर का भीतरी दृश्य
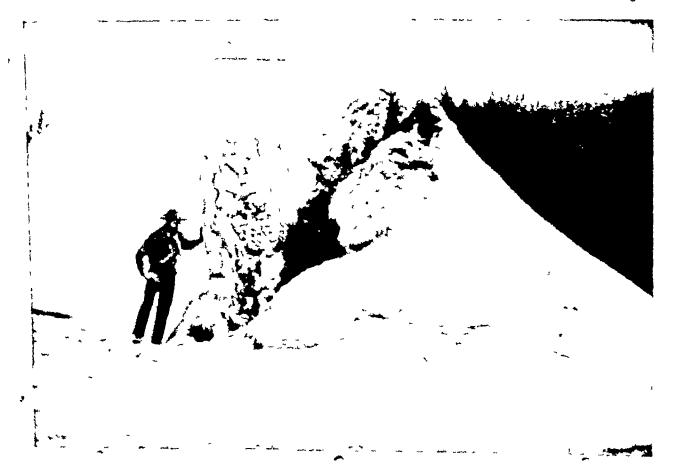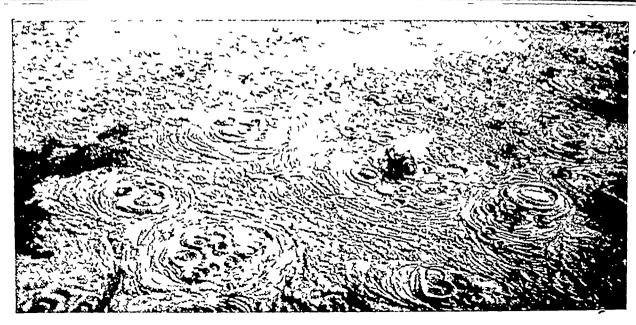
इन गढों और उनके शंकुओं की उत्पत्ति वास्तव में खौलते पानी के सोतों में अपर्याप्त जल के कारण होती है। इनमें जल के बदले उबलते हुए कीचड का उद्गार निकलता रहता है।

मण्डल के दबाव में समुद्र-तल पर जल २१२° फ० पर भाप मे परिणत होने लगता है। यदि दबाव बढा दिया जाय तो तापाश भी बढ जाता है और इसी तरह दबाव घटने पर पुन. तापाश घट जाता है। गाइसर की नली मे भरे हुए जल के नीचे के भाग में ज्यों-ज्यो हम अधिक नीचे की ओर चलते जाएँगे, त्यो-त्यो जल के वाष्पीकरण का तापाश अधिक होता जायगा, क्योकि अधिक नीचे के जल को ऊपर के जल के दबाव के कारण अधिक तापक्रम पर भाप बनने का अवसर मिलता है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों हम गाइसर की नली में नीचे उतरते जाएँगे, त्यों-त्यों जल का तापक्रम अधिक होता जायगा। अधिक तापक्रम के कारण नीचे का जल ऊपर की ओर उठता है और यदि गाइसर की नली चौडी और सीधी होती है तो सवाहन की क्रिया से समस्त नली का जल लगभग एक ही तापाश पर पहुँच जाता है और मुख पर जल का फुहारा उठने के स्थान पर खौलता हुआ पानी का कुण्ड बन जाता है, जिससे जल चारो ओर उफन-उफनकर बहता रहता है, परन्तु यदि नली सकडी और टेढी-मेढ़ी होती है तो सवाहन की क्रिया में रुकावट पड जाती है और नली के किसी भी भाग में क्षण भर मे तापाश वाष्पीकरण के तापाश के लगभग निकट पहुँच जाता है और इससे जो भाप बनती है वह ऊपर के जलस्तम्भ को ऊपर ढकेल देती है। ऊपर उठने से जल गाइसर के मुख से बाहर उछलकर बहने लगता है, जिससे नीचे के उस स्थान पर दबाव में कमी पडती है और दबाव में कमी होते ही उस स्थान पर जल एकदम भाप में परिणत हो जाता है तथा इस भाप के जोर से ऊपर का जल और भाप फुहारे के रूप मे ऊँचे उछलने लगते हैं। जब जल का उद्गार समाप्त हो जाता है तब आभ्यन्तरिक जल से गाइसर की नली फिर भर जाती है और फिर कुछ काल-पर्यन्त वही दशा उत्पन्न हो जाती है जो जल को ऊपर उछाल देती है।

गाइसर के मुख मे सोडा, साबुन, लाई (lye) आदि पदार्थ पड़ जाने से भी कभी-कभी गाइसर में उबाल आ जाता है। इस सम्बन्ध में एक मनोरजक दन्तकथा प्रसिद्ध है। यलोस्टोन नेशनल पार्क के एक गाइसर का नाम 'चाइनामैन्स लाण्ड्री टब' (Chinaman's Laundry Tub) है। यह कहा जाता है कि एक चीनी ने इस झरने का पता लगाया और उसने यहाँ कपडे धोने का व्यापार आरम्भ कर दिया। सोते के ऊपर अपना तम्बू तानकर वह धुलाई का धधा चलाने लगा। काम जोरो पर था और खूब आमदनी होती थी। दुर्भाग्य से एक दिन उसकी साबुन की बट्टी सोते के जल में गिर पडी। बस, वैसे ही उसमें तूफान आ गया! कहते हैं, सोते के जल मे बडे वेग की बाढ आई और वह जल फुहारे के रूप मे जो उछला तो वह चीनी धोबी और उसका तम्बू-डेरा, मय उसके कपडे-लत्ते के पता नहीं कहाँ गायब हो गया!

यद्यपि यह कोरी एक दंतकथा है तथापि यह सत्य है कि गाइसर के मुख मे मिट्टी का एक ढेला भी गिर

उगलनेवाली चिमनियों का पाया जाना आश्चर्यजनक नहीं है। परन्तु इस प्रकार के धुआँरे ऐसे क्षेत्रों में भी पाए जाते हैं जहाँ ज्वालामुखी के उद्गार के कोई भी चिह्न देखने में नहीं आते। इन धुआँरों में भाप के बादल कभी तो वेग से और कभी धीरे-धीरे निकलते रहते हैं। इनको फ्युमरोल (Fumaroles) के नाम से पुकारा जाता है, पर हम इनको धुआँरा ही कहेंगे। इनमें से निकलनेवाले धुएँ का ८० प्रतिशत अंश बहुधा भाप होता है। शेष १० प्रतिशत में कार्बन डाइआक्साइड, हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड, हाइड्रोजन सल्फाइड, और मीथेन, आदि गैसों का मिश्रण रहता है। कुछ धुआँरों से विशेष रूप से गन्धक का ही धुआँ निकलता है। ये धुआँरे 'गन्धकीय'(Solfatara) कहलाते हैं।

उपरोक्त गैसों के अतिरिक्त कुछ धुआँरों से निकलनेवाले धुएँ के साथ-साथ लोहा, ताँबा, सीसा आदि धातुओं के खनिज और रासायनिक यौगिक भी पाए जाते हैं, जो बहुधा धुआँरों की दरारों और उनके मुख के चारों ओर जमा हो जाते हैं। हिमेटाइट (Hematite) नामक लोहे और ऑक्सीजन का यौगिक खनिज इस प्रकार के एकत्रित हुए पदार्थों में सबसे अधिक सुलभ है। विसुवियस के एक उद्गार के समय एक तीन फीट चौड़े मुखवाले धुआँरे की दरार थोड़े ही समय में इस खनिज के जमा हो जाने से पूर्णतया भर गई थी। सीसे का प्रमुख खनिज गैलिना (Galena) भी बहुधा विसुवियस के क्षेत्र के धुआँरों में 'लेड-क्लोराइड' और 'हाइड्रोजन-सल्फाइड' की रासायनिक प्रक्रिया से उत्पन्न होकर पाया जाता है।

कुछ धुआँरों से निकलने वाली भाप और धुआँ अत्यधिक तप्त होते हैं। एलास्का के काटमाई नामक ज्वालामुखी के १९१२ के उद्गार के पश्चात् जो 'दस सहस्र लौ वाली घाटी' उत्पन्न हो गई है (देखिए अंक १७), उसमें से निकलनेवाली गैसों का तापक्रम ६४५० शतांश तक पाया जाता है। यह धुआँराक्षेत्र काटमाई के प्रसिद्ध मुखगर्त में है।

यलोस्टोन पार्क में भी असंख्य धुआँरे हैं और उनमें से भी गन्धक का धुआँ और भाप निरन्तर निकलती रहती है। यहाँ गाइसरों की अपेक्षा धुआँरों की संख्या अधिक है। गाइसरों के प्रदेशों के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी जहाँ ज्वालामुखी हैं अथवा कभी रह चुके हैं, धुआँरे पाए जाते हैं।

कुछ धुआँरों से, जो शान्त ज्वालामुखी के मुखगर्त में अथवा उसके क्षेत्र के आसपास होते हैं, कार्बन डाइऑक्साइड गैस का उद्गार विशेष रूप से होता है। यह गैस वायु से अधिक भारी होने के कारण शान्त वातावरण के समय धुआँरों से निकलकर धरती पर फैल जाती है और पास के नीचे स्थलों में भर जाती है। निःस्वाद, गन्धहीन और अदृश्य होने के कारण यह पता नहीं चल पाता कि किन गड्ढों में यह गैस भर गई है। जिन गड्ढों में यह भर जाती है वे पशुओं के लिए, जो भूले-भटके इनमें आ फँसते हैं, 'मृत्यु-कुण्ड' बन जाते हैं। इनके भीतर फँसे हुए पशु जिस प्रकार छटपटाकर मरते हैं उससे प्रकृति की एक विचित्र दानवी लीला का बोध होता है।

आइसलैण्ड के निवासियों ने अपने यहाँ गरम जल के सोतों पर इसी प्रकार धोबी-घाट बना रक्खे हैं। सोते के मुख गर्त्त पर लोहे का जँगला इसलिए लगा दिया जाता है ताकि कोई गड्ढे में गिरकर जिंदा ही उबलते पानी में पक न जाय।

धुआँरों के क्षेत्रों में खौलते पानी के सोते भी बहुधा पाए जाते हैं। बहुत-से क्षेत्रों में तो धुआँरों और खौलते पानी के सोतों में ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि ग्रीष्म-ऋतु में खौलते पानी के सोतों में पानी के स्थान पर भाप और गैसों का उद्गार होने लगता है, और गरम पानी का सोता धुआँरा बन जाता है। शरद् ऋतु के आते ही यही धुआँरा फिर खौलता पानी बहाने लग जाता है। गाइसर वास्तव में खौलते पानी के सोतों और धुआँरों का विचित्र मिश्रित रूप है, जिससे भाप और खौलते पानी दोनों ही का उद्गार होता है और दोनों की मिश्रित शक्ति से फुहारा

संयुक्त-राष्ट्र के इदाहो प्रान्त के एक गरम जल के सोतोंवाले प्रदेश में धुआँरों (फ्यूमरोल) का दृश्य
धरती में से निरंतर निकलते रहनेवाले इन धुएँ के बादलों के विस्तार का कुछ अंदाज आप सामने एक कगार पर खड़ी दो मानव-मूर्तियों से लगा सकते हैं।

छूटता है—उसी प्रकार जिस प्रकार कि कुछ ज्वालामुखियों से कभी तो विस्फोटक-उद्गार, कभी लावा का शान्त प्रवाह और कभी दोनों प्रकार के उद्गार होने लगते हैं।

आधुनिक काल में धुआँरों से निकलनेवाली भाप को औद्योगिक कार्यों के लिए उपयोग में लाने की कई योजनाएँ की गई हैं। रोम के उत्तर में टस्केनी के धुआँराक्षेत्र की भाप से बिजली उत्पन्न करने की योजना सबसे पहले की गई। ६०० फीट गहरे कुएँ खोदकर अधिक तापक्रमवाली भाप का अधिक मात्रा में सचय किया गया है। इससे १६००० हार्स पावर की शक्ति उत्पन्न की गई है और यह बिजली ६० मील दूर फ्लोरेंस, पिसा तथा दूसरे नगरों को ले जाई जाती है।

केलिफोर्निया के कोस्टरेंज में 'गाइसर्स' (Geysers) नामक स्थान पर, जो सेन फ्रेंसिस्को से ४० मील दूर है, ३५ एकड़ भूमि में कुछ क्षीण धुआँरे और कुछ छोटे, परन्तु अत्यधिक तापवाले, पानी के सोते (कुण्डों के रूप में) पाए जाते हैं। इस क्षेत्र का नाम गाइसर्स सर्वथा अनुपयुक्त है, क्योंकि यहाँ एक भी गाइसर नहीं है और न इन कुण्डों में से किसी में कभी उद्गार होता देखा गया है। १६२१ में इस क्षेत्र में शक्ति उत्पन्न करने के लिए गहरे कुएँ खोदने की योजना बनाई गई। इन कुओं में भाप एकत्रित करने का विचार था, जिससे उसकी शक्ति, मात्रा और ताप अधिक-से-अधिक मिल सके। यह योजना बहुत अधिक सफल हुई है। अब तक आठ कुएँ खोदे जा चुके हैं, जिनमें से एक की गहराई ६५० फीट है। यही सबसे गहरा है। इससे अत्यधिक भाप निकलती है।

जावा के धुआँरों के क्षेत्रों में भी शक्ति उत्पन्न करने के लिए अच्छी सामग्री है। १६२६ में यहाँ एक प्रयोगात्मक कुआँ खोदा गया था। इसकी गहराई २२० फीट थी। इसी ने इतनी भाप निकली कि १२०० हार्स-पावर शक्ति उसने उत्पादित की जा सकती थी।

पंक-ज्वालामुखी

खौलते पानी के सोतों के प्रदेश में सूक्ष्म आकार के कुछ ऐसे शंकु भी देखने में आते हैं; जिनके मुखगर्त से यदा-कदा भाप और पानी के उद्गार के स्थान पर कीचड़ का उद्गार होता है, साथ ही थोड़ी भाप और कुछ जल भी निकलता रहता है। इन शंकुओं का निर्माण इसी कीचड़ और मिट्टी द्वारा होता है। विभिन्न खनिजों और रासाय-

धरातल के प्रधान प्राकृतिक खण्ड

प्रस्तुत मानचित्र में जलवायु तथा अन्य विशेषताओं में समानता रखनेवाले धरातल के चार प्रकार के मुख्य प्रदेश अलग-अलग चार प्रकार के निर्देशक चिन्हों द्वारा दिखाए गए हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रदेश के उपखण्ड भी क१, क२, क३, जैसे वर्ग-चिन्हों द्वारा प्रदर्शित किए गए हैं।

अ—उष्ण प्रदेश

(१) विषुवत् तथा मानसूनी वनखण्ड—इसका विस्तार विषुवत् रेखा के आस-पास उत्तर और दक्षिण दोनो ओर है। इस खण्ड के प्रधान क्षेत्र अमेजन और कांगो नदियो की तलहटियाँ, मलाया और पूर्वीय द्वीप-समूह, दक्षिणी अमेरिका का उत्तरी-पूर्वीय तट, दक्षिणी अफ्रीका का पूर्वीय तट तथा मेडागास्कर द्वीप का पूर्वीय तट है। अत्यधिक धूप और बारहो महीने वर्षा की झड़ी लगी रहना यहाँ की जलवायु की विशेषता है। यहाँ की भूमि घने वनो से ढकी है। मलाया और पूर्वीय द्वीप-समूह के वन अमेजन और कांगो के वनो की अपेक्षा कम घने हैं।

(२) ग्रीष्म वर्षा खण्ड अथवा 'सवाना' प्रदेश—विषुवत् मानसूनी वनखण्ड के उत्तर और दक्षिण की भूमि हरे-भरे घास के मैदानो से भरी है। ये मैदान 'सवाना' (Savanna) या तृणकीया कहलाते हैं। इनका विस्तार दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया महाद्वीपों मे है। अफ्रीका के इस खण्ड को सूदान खण्ड कहते हैं। भारतवर्ष, पूर्वीय द्वीपसमूह के ऊँचे स्थल तथा ऑस्ट्रेलिया के उत्तरी-पूर्वीय भागों मे भी इस खण्ड की विशेषताएँ पाई जाती हैं। इस खण्ड में केवल ग्रीष्म ऋतु में वर्षा होती है। शरद् ऋतु यहाँ सूखी होती है।

(३) मानसूनी खण्ड—यह खण्ड भारत, इण्डोचीन दक्षिणी चीन तथा ऑस्ट्रेलिया के उत्तरी भाग मे फैला है। इस खण्ड में मानसून हवाओं से नियत ऋतु में वर्षा होती है। इस खण्ड के कुछ भागों मे, जहाँ वर्षा की मात्रा ८० इञ्च से अधिक होती है, विषुवत् मानसूनी खण्ड के वनों के सदृश वन पाए जाते हैं। जहाँ वर्षा का औसत ४०-८० इञ्च वार्षिक रहता है, वहाँ की भूमि भी वनों से ढकी है, परन्तु ये वन इतने घने नहीं होते जितने विषुवत् वनखण्ड के। इस खण्ड के शेष भागों में खेती ही लोगों का प्रमुख व्यवसाय है। खेती का तार बारहो महीने बँधा रहता है। यह खण्ड ससार के सबसे अधिक घने बसे हुए खण्डों में से प्रधान है।

(४) उच्च पठार खण्ड—यह खण्ड दक्षिणी अमेरिका के इक्वेडर और कोलम्बिया नामक प्रदेशों के ऊँचे पठारो में ही मुख्यतः फैला है। इसकी स्थिति विषुवत् रेखा पर होते हुए भी, ऊँचाई के कारण यहाँ पर विषुवत् वनखण्ड की अपेक्षा कम गर्मी पड़ती है। ताप बहुधा बारहो महीने समान रहता है। वर्षा कम होता है और केवल निश्चित ऋतुओं मे। कहा जाता है कि यहाँ पर सदैव वसन्त-बहार रहती है। खेती कम होती है और जहाँ होती है वहाँ केवल गेहूँ और जौ की, जिनका भी पकना कठिन हो जाता है। भेड़-बकरियो का पालन ही यहाँ की जीविका का मुख्य साधन है।

(५) मरुस्थलीय खण्ड और प्रदेश—३०° उत्तरी और दक्षिणी अक्षाशो के उच्चभार प्रदेशो से विषुवत् रेखा के निम्नभार प्रदेश की ओर चलनेवाली हवाएँ जैसे-जैसे आगे बढती है वैसे-वैसे गरम और सूखी होती जाती हैं, क्योंकि ये ठण्डे प्रदेश से उष्ण प्रदेश की ओर चलती है। सूखी होने के कारण ये अपने मार्ग मे वर्षा नहीं करती वरन् उसको सुखाती जाती हैं। इस कारण महाद्वीपो के पश्चिमी भागों मे, उष्ण-कटिबन्ध के उत्तर और दक्षिण दोनों ओर, मरुस्थल पाए जाते हैं। उत्तरी अफ्रीका के पूर्व मे विशाल स्थल-प्रदेश होने के कारण यह मरुस्थल (सहारा) महाद्वीप के एक ओर से दूसरी ओर तक चला गया है और अरब तक फैला है। मध्य एशिया में भी इसी का सिलसिला चला गया है। उत्तरी अमेरिका के पश्चिम में कोलोरैडो, मोहेव और गिला मरुस्थल इसी सहारा-खण्ड के क्षेत्र है। दक्षिणी अमेरिका का अटाकामा मरुस्थल, दक्षिणी अफ्रीका का कालाहारी मरुस्थल तथा ऑस्ट्रेलिया का विशाल मरुस्थल भी इसी खण्ड के अन्तर्गत हैं।

मरुस्थल की भूमि उपजाऊ होती है, परन्तु जल के अभाव में वहाँ खेती कहीं-कहीं ही हो पाती है—सो भी वहाँ ही जहाँ जल का कुछ-न-कुछ प्रबन्ध है। जाड़ा अधिक न होने से यहाँ खेती बारहों महीने हो सकती है यदि सिंचाई के लिए पर्याप्त जल मिल सके। नील, सिन्धु तथा कोलोरैडो नदियों के आस-पास की भूमि इसी कारण मरुस्थल होते हुए भी अति उपजाऊ है। मरुस्थलों में खनिज पदार्थों की भी अधिकता पाई जाती है। इसी लालच में लोग मरुस्थलों को आबाद करते हैं। यातायात के साधनों की यहाँ सबसे बड़ी कठिनाई पड़ती है। ऊँट ही इस खण्ड की मुख्य सवारी के काम में आता है।

ब—शीतोष्ण कटिबन्ध के उष्ण प्रदेश

—पूर्वीय तटस्थ खण्ड—इस खण्ड की जलवायु की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ पर गरम ऋतु में वर्षा होती है तथा यहाँ का जाड़ा सूखा और विशेष ठंडा होता है। मध्य चीन और उत्तरी चीन इस खण्ड के विशेष क्षेत्र हैं। जापान एव सयुक्त राष्ट्र

अ—उष्ण प्रदेश

(१) विषुवत् तथा मानसूनी वनखण्ड—इसका विस्तार विषुवत् रेखा के आस-पास उत्तर और दक्षिण दोनों ओर है। इस खण्ड के प्रधान क्षेत्र अमेजन और कांगो नदियों की तलहटियाँ, मलाया और पूर्वीय द्वीप-समूह, दक्षिणी अमेरिका का उत्तरी-पूर्वीय तट, दक्षिणी अफ्रीका का पूर्वीय तट तथा मेडागास्कर द्वीप का पूर्वीय तट है। अत्यधिक धूप और बारहों महीने वर्षा की झड़ी लगी रहना यहाँ की जलवायु की विशेषता है। यहाँ की भूमि घने वनों से ढकी है। मलाया और पूर्वीय द्वीप-समूह के वन अमेजन और कांगो के वनों की अपेक्षा कम घने हैं।

(२) ग्रीष्म वर्षा खण्ड अथवा 'सवाना' प्रदेश—विषुवत् मानसूनी वनखण्ड के उत्तर और दक्षिण की भूमि हरे-भरे घास के मैदानों से भरी है। ये मैदान 'सवाना' (Savanna) या तृणकीया कहलाते हैं। इनका विस्तार दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया महाद्वीपों में है। अफ्रीका के इस खण्ड को सूडान खण्ड कहते हैं। भारतवर्ष, पूर्वीय द्वीपसमूह के ऊँचे स्थल तथा ऑस्ट्रेलिया के उत्तरी-पूर्वीय भागों में भी इस खण्ड की विशेषताएँ पाई जाती हैं। इस खण्ड में केवल ग्रीष्म ऋतु में वर्षा होती है। शरद् ऋतु यहाँ सूखी होती है।

(३) मानसूनी खण्ड—यह खण्ड भारत, इण्डोचीन दक्षिणी चीन तथा ऑस्ट्रेलिया के उत्तरी भाग में फैला है। इस खण्ड में मानसून हवाओं से नियत ऋतु में वर्षा होती है। इस खण्ड के कुछ भागों में, जहाँ वर्षा की मात्रा ८० इञ्च से अधिक होती है, विषुवत् मानसूनी खण्ड के वनों के सदृश वन पाए जाते हैं। जहाँ वर्षा का औसत ४०-८० इञ्च वार्षिक रहता है, वहाँ की भूमि भी वनों से ढकी है, परन्तु ये वन इतने घने नहीं होते जितने विषुवत् वनखण्ड के। इस खण्ड के शेष भागों में खेती ही लोगों का प्रमुख व्यवसाय है। खेती का तार बारहों महीने बँधा रहता है। यह खण्ड संसार के सबसे अधिक घने बसे हुए खण्डों में से प्रधान है।

(४) उच्च पठार खण्ड—यह खण्ड दक्षिणी अमेरिका के इक्वेडर और कोलम्बिया नामक प्रदेशों के ऊँचे पठारों में ही मुख्यतः फैला है। इसकी स्थिति विषुवत् रेखा पर होते हुए भी, ऊँचाई के कारण यहाँ पर विषुवत् वनखण्ड की अपेक्षा कम गर्मी पड़ती है। ताप बहुधा बारहों महीने समान रहता है। वर्षा कम होती है और केवल निश्चित ऋतुओं में। कहा जाता है कि यहाँ पर सदैव वसन्त-बहार रहती है। खेती कम होती है और जहाँ होती है वहाँ केवल गेहूँ और जौ की, जिनका भी पकना कठिन हो जाता है। भेड़-बकरियों का पालन ही यहाँ की जीविका का मुख्य साधन है।

(५) मरुस्थलीय खण्ड और स्टेप—३०° उत्तरी और दक्षिणी अक्षांशों के उच्चभार प्रदेशों से विषुवत् रेखा के निम्नभार प्रदेश की ओर चलनेवाली हवाएँ जैसे-जैसे आगे बढ़ती हैं वैसे-वैसे गरम और सूखी होती जाती हैं, क्योंकि ये ठण्डे प्रदेश से उष्ण प्रदेश की ओर चलती हैं। सूखी होने के कारण ये अपने मार्ग में वर्षा नहीं करतीं वरन् उसको सुखाती जाती हैं। इस कारण महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में, उष्ण-कटिबन्ध के उत्तर और दक्षिण दोनों ओर, मरुस्थल पाए जाते हैं। उत्तरी अफ्रीका के पूर्व में विशाल स्थल-प्रदेश होने के कारण यह मरुस्थल (सहारा) महाद्वीप के एक ओर से दूसरी ओर तक चला गया है और अरब तक फैला है। मध्य एशिया में भी इसी का सिलसिला चला गया है। उत्तरी अमेरिका के पश्चिम में कोलोरैडो, मोहेव और गिला मरुस्थल इसी सहारा-खण्ड के क्षेत्र हैं। दक्षिणी अमेरिका का अटाकामा मरुस्थल, दक्षिणी अफ्रीका का कालाहारी मरुस्थल तथा ऑस्ट्रेलिया का विशाल मरुस्थल भी इसी खण्ड के अन्तर्गत हैं।

मरुस्थल की भूमि उपजाऊ होती है, परन्तु जल के अभाव में वहाँ खेती कहीं-कहीं ही हो पाती है—सो भी वहाँ ही जहाँ जल का कुछ न-कुछ प्रबन्ध है। जाड़ा अधिक न होने से यहाँ खेती बारहों महीने हो सकती है यदि सिंचाई के लिए पर्याप्त जल मिल सके। नील, सिन्धु तथा कोलोरैडो नदियों के आस-पास की भूमि इसी कारण मरुस्थल होते हुए भी अति उपजाऊ है। मरुस्थलों में खनिज पदार्थों की भी अधिकता पाई जाती है। इसी लालच में लोग मरुस्थलों को आबाद करते हैं। यातायात के साधनों की यहाँ सबसे बड़ी कठिनाई पड़ती है। ऊँट ही इस खण्ड की मुख्य सवारी के काम में आता है।

ब—शीतोष्ण कटिबन्ध के उष्ण प्रदेश

—पूर्वीय तटस्थ खण्ड—इस खण्ड की जलवायु की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ पर गरम ऋतु में वर्षा होती है तथा यहाँ का जाड़ा सूखा और विशेष ठंडा होता है। मध्य चीन और उत्तरी चीन इस खण्ड के विशेष क्षेत्र हैं। जापान एवं संयुक्त राष्ट्र

(अमेरिका) का दक्षिण-पूर्वीय भाग भी इसी खण्ड के अन्तर्गत है। दक्षिणी गोलार्द्ध में अफ्रीका के नैटाल तथा केप प्रान्त का पूर्वीय तट, न्यू साउथ वेल्स तथा क्वीन्सलैण्ड का दक्षिणी प्रान्त और ब्रेजिल का दक्षिण-पूर्वीय प्रान्त भी इसी खण्ड के क्षेत्र हैं।

इस खण्ड के उत्तरी गोलार्द्ध के क्षेत्रों की अपेक्षा दक्षिणी गोलार्द्ध के क्षेत्रों में कम गरमी पड़ती है और सरदी भी कम। दक्षिणी गोलार्द्ध के खण्ड में 'सदाबहार' वन विशेष रूप से पाए जाते हैं। यहाँ चावल, गन्ना, कपास, तम्बाकू और चाय की खेती विशेष रूप से होती है। उत्तरी गोलार्द्ध के खण्ड में घनी आबादीवाले प्रदेश पाए जाते हैं और खेती के अतिरिक्त लोग अन्य उद्योग-धन्धों में भी व्यस्त रहते हैं।

२—भूमध्यसागर की आबोहवावाला खण्ड—इसका विस्तार मुख्यतः भूमध्यसागर के चारों ओर है। इसके अतिरिक्त ३५°--३८° अक्षांश के पश्चिम तटीय प्रदेशों मे भी, जैसे मध्य कैलिफोर्निया, मध्य चिली, दक्षिण अफ्रीका के दक्षिणी-पश्चिमी तट तथा ऑस्ट्रेलिया के दक्षिण-पश्चिमी भाग में, इसका प्रसार है।

इस खण्ड की विशेषता यह है कि यहा फलवाले पेड़ों की फसल ही अधिक उपजती है। नींबू, नारङ्गी और शहतूत यहाँ के प्रमुख फल हैं। इस खण्ड की भूमि प्रायः पहाड़ी है, जिसमे उपजाऊ भूमि की कमी रहती है। खनिज पदार्थों का अभाव यहाँ विशेष रूप से पाया जाता है। यहाँ की नदियों में झरने बहुत पाए जाते हैं और इन झरनों से विद्युतोत्पादन की जाती है, जिसकी सहायता से उद्योग-व्यवसाय चलता है।

३—भीतरी निचले प्रदेशों का खण्ड—इस खण्ड का विस्तार मुख्यतः तूरान के मैदान मे है। आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अमेरिका तथा दक्षिणी सयुक्त राष्ट्र के दक्षिणी भागों के भीतरी प्रदेश भी इस खण्ड के अन्तर्गत हैं। इस खण्ड की भूमि नीची है। यहाँ कड़ी गरमी पड़ती है और सरदी भी कड़ी होती है। वर्षा की मात्रा यहाँ कम रहती है। इस कारण वृक्षों का पनपना कठिन हो जाता है। परन्तु इतनी वर्षा में घास खूब उगती है। इसीलिए यह प्रदेश चरवाहो के लिए अत्यन्त उपयोगी है। जहाँ वर्षा का औसत १२ इंच वार्षिक से अधिक रहता है वहाँ गेहूँ आदि अनाज पैदा होते हैं, जैसे दक्षिणी अमेरिका के पम्पा नामक मैदानों में और आस्ट्रेलिया की मरे नदी के मैदान में। तूरान फल और कपास के लिए प्रसिद्ध है।

४—ईरान पठार के ढग का खण्ड—यह खण्ड निचले पठार-प्रदेशों से मिलकर बना है, जैसे ईरान का पठार, एशिया माइनर और तारिम की तलहटी। यहाँ की जलवायु भीतरी निचले प्रदेशों के खण्ड से मिलती-जुलती है। परन्तु यहाँ गरमी उतनी नहीं पड़ती और सरदी भी कुछ अधिक पड़ती है। एशिया के अतिरिक्त इस खण्ड का विस्तार रॉकी और सियरा निवेदा पर्वतों के बीच के पठार-खण्ड, मैक्सिको के पठार के कुछ अश तथा दक्षिणी अफ्रीका, के वेल्ड (Veld) प्रदेशों में भी है। यहाँ भी घास के मैदान विशेष रूप से पाए जाते हैं और लोगों का मुख्य पेशा पशु-पालन है।

५—उच्च पठार या तिब्बत के ढग का खण्ड—बहुत अधिक ऊँचाई (१२०००--१४००० फीट) और जाडे की अधिकता इस खण्ड की विशेषताएँ हैं। यहाँ खेती बहुत कम हो सकती है। चराई ही यहाँ का मुख्य व्यवसाय है। लोग भेड़-बकरी आदि के पालन का काम करते है। इनका मास खाने के काम में आता है। खाल और ऊन के कपडे बनते हैं। तिब्बत का याक और बोलीविया पठार का लामा नामक पशु इस खण्ड में बोझा ढोने के लिए ऊँट, टट्टू या बैल का-सा काम देते है। तिब्बत के अतिरिक्त इसका विस्तार दक्षिणी अमेरिका में भी है। परन्तु बोलीविया के पठार में तिब्बत की अपेक्षा सरदी कम पड़ती है और अनाज की भी उपज कुछ हो जाती है। यहाँ आलू विशेष रूप से पैदा होता है।

स—शीतोष्ण कटिबन्ध के शीत प्रदेश

१—पूर्वीय तटस्थ खण्ड—उत्तरी गोलार्द्ध में इसका विस्तार पूर्वी कनाडा, मचूरिया, उत्तरी चीन, उत्तरी जापान, और कोरिया देशों में है। दक्षिणी गोलार्द्ध मे इसका विस्तार पैटागोनिया (दक्षिणी अमेरिका) प्रदेश में है। इस खण्ड में जाड़ा अधिक पड़ता है और गरमी भी अधिक होती है। वर्षा साधारण होती है और बहुधा आँधी और तूफान चला करते हैं, जिनके साथ वर्षा के झोंके भी आते हैं। जाडों में नदियों पर बर्फ जम जाती है। घास की प्रधानता और शीतलता के कारण यहाँ दूध का व्यवसाय अधिक होता है। यहाँ आबादी घनी नहीं है। इसीलिए यहाँ से दूध बाहर भेजा जाता है। दूध का पनीर भी बहुत बनता है। साथ ही सेब आदि फल भी यहाँ पैदा होते हैं।

२—भीतरी निचले प्रदेशों का शीतल वनखण्ड—इनको दो विशाल खण्डों में विभाजित किया जाता है। ये खण्ड

शीतल वनखण्ड और शीतल शाद्वल भूमिखण्ड कहलाते हैं तथा उत्तरी गोलार्द्ध के महाद्वीपों के उत्तरी भाग में फैले हैं। शीतल वनखण्ड उत्तरीय गोलार्द्ध के स्थलखण्ड के उत्तरी भाग को एक विस्तृत खण्ड के रूप में घेरे हुए है। साइबेरिया, उत्तरी रूस, स्वीडन तथा कनाडा का अधिकांश इसी खण्ड के क्षेत्र में हैं। यहाँ वर्षा अधिक नहीं होती, परन्तु गरमी भी कम पड़ती है। गरमी की कमी से इस वर्षा का प्रभाव अधिक होता है, जिसमें वृक्ष खूब उगते और पनपते हैं। यहाँ चीड़ के वन बहुतायत से पाए जाते हैं और जंगलों की लकड़ी काटना यहाँ का प्रमुख व्यवसाय है।

३—भीतरी निचले प्रदेशों का चारागाह खण्ड—यूरेशिया के स्टैप नामक मैदान और कनाडा के प्रेरी नामक मैदान इस खण्ड के विस्तृत क्षेत्र हैं। यहाँ पर खेती की उपज और घास की बाढ़ के लिए पर्याप्त वर्षा हो जाती है। जहाँ वर्षा की अधिकता है वहाँ खेती की उपज भी अधिक होती है। रुई, जौ, ओट्स तथा गेहूँ इस खण्ड के प्रधान धान्य हैं।

४—पश्चिमी तटस्थ खण्ड—इसका विस्तार ब्रिटिश कोलम्बिया, उत्तरी पश्चिमी योरप, दक्षिणी चिली, तस्मानिया और न्यूज़ीलैण्ड के अधिकांश भागों में है। यहाँ की जलवायु ही इस खण्ड की मुख्य विशेषता है। यह जलवायु मनुष्य को उत्साही बनाती है और उसके लिए अतीव स्वास्थ्यप्रद है। इसी कारण यह खण्ड संसार के सबसे अधिक उन्नत खण्डों में गिना जाता है। गरमी के दिनों में यहाँ बहुत कम गरमी पड़ती है और सरदी के दिनों में जाड़ा भी कम पड़ता है। यहाँ वर्षा बारहों महीने होती रहती है।

५—उच्च पर्वतीय खण्ड—यह खण्ड एशिया की अधिक ऊँची पर्वत-श्रेणियों तथा उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी भाग के पर्वतों के उत्तरी भाग में फैला हुआ है। अधिक ऊँची और पथरीली भूमि इसकी विशेषता है। इस प्रदेश में खनिज पदार्थ अधिक पाए जाते हैं और उनकी खुदाई ही यहाँ का प्रमुख व्यवसाय है। इस खण्ड में साइबेरिया के उत्तरी ढालों पर बहुत अधिक पानी बरसता है और कनाडा के पश्चिमी ढालों पर भी अधिक वर्षा होती है। इनके विपरीत दिशाओं के ढाल सूखे रहते हैं।

द—शीत प्रदेश

१—टुण्ड्रा—उस खण्ड को कहते हैं जो यूरेशिया और उत्तरी अमेरिका के एकदम उत्तर में, ध्रुव-प्रदेशों के निकट, बर्फ की टोपी की भाँति धरातल पर फैला है। यह लम्बा मैदान वर्ष के अधिक भाग में बर्फ से ढका रहता है। बर्फ और शीत की अधिकता के कारण यहाँ खेती होना असम्भव-सा है। इस खण्ड की भूमि वर्ष के आठ महीने बर्फ से ढकी रहती है। नदियों का जल भी बर्फ के रूप में जम जाता है। मई महीने से बर्फ पिघलना आरम्भ होती है और सूर्य निकलकर कई मास तक क्षितिज के नीचे नहीं जाता। बर्फ पिघलने पर धरती एक प्रकार की काई-जैसी घास तथा छोटी झाड़ियों से ढक जाती है और फूलों की बहार आरम्भ हो जाती है। इन्हीं दिनों पक्षियों के झुण्ड-के-झुण्ड उत्तर दिशा की ओर उड़ते पाए जाते हैं। अगस्त मास से फिर ठण्ड बढ़ने लगती है। इस खण्ड में सील मछली तथा मुलायम बालोंवाली लोमड़ी का शिकार अधिक किया जाता है। बर्फ पर रहनेवाली मछलियाँ ही यहाँ का प्रमुख खाद्य हैं। लैपलैण्ड के लैप, उत्तरी साइबेरिया के समूदी, अलास्का और ग्रीनलैण्ड के एस्किमो जैसे लोग इस प्रदेश को बसाए हुए हैं। इस खण्ड में खनिज भी पाए जाते हैं। जहाँ मार्ग की सुविधा है, जैसे यूकान और नारवे में, वहाँ इनकी खुदाई होती है। बारहसिंहा यहाँ का विशेष उपयोगी पशु है। यही बोझा ढोने के काम में भी आता है।

२—शीतल मरुप्रदेश—उस खण्ड को कहते हैं, जो ध्रुव-प्रान्तों को घेरे हुए है और सदा बर्फ से ढका रहता है। ग्रीनलैण्ड और अण्टार्क्टिका महाद्वीप तथा ध्रुव-प्रदेशीय द्वीपपुञ्ज इस खण्ड के क्षेत्र हैं। यहाँ उपज कुछ नहीं होती। इस खण्ड का अधिकांश तो अभी मनुष्य की पहुँच के बाहर ही है। हाँ, पिछले कुछ वर्षों से पृथ्वी के इस दुर्गम प्रदेश पर विजय पाने के लिए अथक प्रयास हो रहे हैं और अचरज नहीं कि निकट भविष्य ही में यहाँ भी मानव उपनिवेश बस जायँ। इस ग्रन्थ के विगत कुछ अंकों में साहसी पेरी द्वारा उत्तरी ध्रुव की खोज तथा एमण्डसन, बर्ड आदि द्वारा दक्षिणी ध्रुव के अनुसंधान की वीरतापूर्ण कथाएँ आप पढ़ ही चुके हैं।

उपर्युक्त प्राकृतिक खण्डों का वर्गीकरण मुख्यतः भिन्न प्रदेशों की जलवायु, उपज आदि सम्बन्धी प्राकृतिक विशेषताओं की समानता के आधार पर ही किया गया है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस प्रकार के किसी एक वर्ग विशेष के निवासियों के जीवन या संस्कृति में भी उसी प्रकार समानता पाया जाना अनिवार्य नहीं है, कहीं कोई उन्नत हैं तो कहीं बिल्कुल पिछड़े हुए।

भारतीय तथा विदेशी पक्षी—(२)

पक्षियो सबधी प्रस्तुत लेखमाला पिछले अक से इस स्तभ के अतर्गत धारावाहिक रूप में प्रकाशित हो रही है और अगले दो अको में वह समाप्त होगी। अतएव पाठको से निवेदन है कि प्रस्तुत लेख को पिछले अक के सिलसिले में ही पढ़ें। इस लेख में अडो की विशिष्ट आकृति और वर्ण योजना एव चिडियो के बच्चों की प्राथमिक शिक्षा-दीक्षा के अतिरिक्त पक्षी-जगत् के उन अद्‌भुत प्राणियों का परिचय दिया गया है, जो पखयुक्त होकर भी उडने में असमर्थ हैं।

जब आप किसी घोंसले मे झाँककर उसमें रखे हुए अडो को देखते हैं तो क्या उन्हे देखकर आपको इस बात से आश्चर्य नहीं होता कि वे इस प्रकार रग-विरगे और चित्रित क्यों हैं, एव क्यों वे एक सिरे पर ज्यादा तथा दूसरे सिरे पर कम चौडे होते हैं? अडे की ही शक्ल पर 'अडाकार' शब्द बन गया है और उसके इस तरह रग-बिरगा होने तथा उसकी विशेष आकृति का भी विशिष्ट कारण है।

अंडों की विशिष्ट आकृति और रङ्ग का रहस्य

पक्षियों के अडे यदि पूर्णतया गोल होते तो वे घोंसले के अन्दर उतनी अच्छी तरह नहीं समा सकते ये जितने अडाकार होने पर, और उस हालत मे वे जगह भी अधिक घेरते। यदि किसी घोंसले को आप देखें, जिसमें बहुत-से अडे हों तो आप देखेंगे कि मादा पक्षी उन्हें इस प्रकार सँजोकर रखती है कि उन सबका सँकरा सिरा बीच के केन्द्र की ओर अभिमुख रहता है। इस तरह वे न्यूनतम जगह घेरते हे और मादा उन पर बैठकर सबको एक साथ ही से सकती है। ऊँची चट्टानों पर पाए जानेवाले क्विलीमोर (Quillimor) नामक कबूतर जसे पक्षियों के अडे एक सिरे पर दूसरे सिरे की अपेक्षा बहुत सँकरे होते ह। ऐसा क्यो? जैसा कि बताया जा चुका है, इन पक्षियों को अपने अडे खुली चट्टानों की कोर पर नितान्त अरक्षित अवस्था मे रखना पडता है। यदि तेज हवा के झोंके आएँ तो गोल अडे अवश्य लुढ़ककर दूर जा, गिरेंगे किन्तु इस विशेष आकृति के होने के कारण ये अडे हवा के

देखिए, घोसले में अण्डे किस प्रकार न्यूनतम जगह में विशेष प्रकार से सँजोकर रखखे गए हैं साथही शत्रुओ की कुदृष्टि से बचाने के लिए प्रकृति ने उन्हें चित कबरा बनाकर किस प्रकार आसपास के घास-पात में मानों छिपा-सा दिया है।
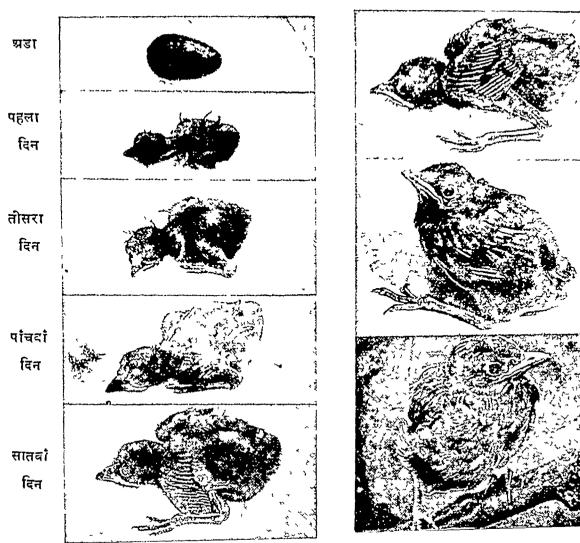
अंडे से निकलकर पक्षी किस प्रकार और कितनी जल्दी बढकर उड़ने लायक होता है !

प्रस्तुत चित्रावली में 'ब्लेकबर्ड' नामक चिडिया के बच्चे के विकासक्रम का दिग्दर्शन कराया गया है। अडे को फोड़कर बाहर निकलने के १४ दिन बाद ही असमर्थ शिशु पख पाकर वृक्ष की डाल पर फुदकने और उडने लगता है !

झोके में उसी स्थान पर वृत्ताकार परिधि में पतले सिरे के बल लुढककर घूम जाते हैं और इस तरह चट्टान पर से नीचे गिरने से बच जाते हैं।

किन्तु कौडिल्ला (Kingfisher) जैसे कुछ पक्षियों के अडे गेंद की भाँति पूर्णतया गोल आकृति के भी होते हैं। ऐसा क्यों? मशहूर है कि कौडिल्ला अपने अडे एक सुरग या खोह के अन्दर सुरक्षित रूप से रखता है, जहाँ न हवा-तूफान के मारे लुढक जाने का डर और न जगह की कमी का ही प्रश्न रहता है। अत: ऐसे पक्षियों के अडे, जिन्हें वे जमीन के भीतर खोह या कन्दराओं में या ऐसी चौरस जमीन पर रखते हैं जहाँ इनके लुढककर नीचे गिरने का डर नहीं, गेंद के सदृश गोल होते हैं।

अडों के रग की योजना भी उनकी रक्षा के ही निमित्त होती है। युद्ध के इन दिनों मे हम प्रायः "कैमूफ्लेज" (Camouflage) अर्थात् विशेष चित्रण द्वारा किसी अस्त्र-शस्त्र आदि को छिपाने की कला के बारे में सुनते है। प्राय. जहाज, टैङ्क और लारियों पर इस प्रकार धब्बेदार रग चढाये जाते और चित्र बना दिए जाते हैं कि दूर से देखने पर वे आस-पास की चीजो के रग से मेल खा जायँ और उन्हें कोई पहचान न सके। ठीक इसी प्रकार प्रकृति भी पखेरुओं के अडों को शत्रुओं की निगाह से छिपाने के लिए उन पर भिन्न-भिन्न रग और धब्बे चित्रित कर उनकी रक्षा का प्रबंध करती है। उन पक्षिया के अडे, जिन्हें वे खोह कन्दराओं या सुरक्षित घोंसलों में रखते है (जैसे

उल्लू और कौडिल्ला आदि) प्रायः सफेद रग के होते हैं, क्योंकि इन पर शत्रु की नजर नहीं पड सकती। यही हाल उन पक्षियों का भी है जो अपने अडे दुर्गम तथा निर्जन स्थानो में रखते हैं अथवा बगुलों की तरह उनकी रक्षा का सामर्थ्य रखते हैं।

ऐसे पक्षियों के अडे, जो जमीन पर अपने घोंसले बनाते हैं, रग में पास-पड़ोस की चीजों से मेल खाते हुए होते हैं। छल्लेदार प्लोवर (Plover) नामक पक्षी तथा समुद्र-तट पर पाये जानेवाले ऐसे ही अन्य पक्षी ऐसे अडे देते हैं जिनका रग समुद्र तट की भूमि के रग से मेल खाता है। समुद्र-तट के ककड या बालू के कणों की भाँति इनके अडे पर भी चितकबरे रग चढे रहते हैं। इनको देख सकना इतना मुश्किल है कि अक्सर तो पैरों से रौंदे जाने पर ही इनका पता लगता है। जिन पक्षियों के घोंसले वृक्षों की टहनियों पर होते हैं (जहाँ कि धूप-छाँह झिलमिलाया करती है) उनके अडों पर काले और बीच-बीच में सफेद धब्बे बने होते हैं ताकि वे आसानी से देखे न जा सकें। ये धब्बे परिस्थिति के अनुसार बादामी, भूरे, हरे या आसमानी किसी भी रग के हो सकते हैं।

पेलिकन नामक पक्षी की मादा अपनी दीर्घ चोच में बच्चे की चोंच भरकर इसी प्रकार उसे खाना खिलाया करती हैं।

चिड़ियों के बच्चे तथा उनकी प्राथमिक शिक्षा-दीक्षा

अडों से बच्चों के बाहर निकलने पर उनके माता-पिता को उनका भोजन जुटाने और उन्हें खिलाने-पिलाने में अत्यधिक व्यस्त रहना पड़ता है। दिन प्रतिदिन उन्हें दूर-दूर तक उडकर सैकड़ों यात्राएँ केवल इसीलिए करना पडती हैं कि वे अपने भूखे बच्चों के लिए अनाज के दाने, बीज, मक्खियाँ, इल्लियाँ तथा हर जाति के कीडे-मकोडे जुटा सकें। हजारों की सख्या मे ये कीडे-मकोडे इन बच्चो की क्षुधा-निवृत्ति के लिए पकडकर लाये जाते हैं। नन्हें-नन्हें बच्चों की चोंच का चटकीला लाल या पीला रग मादा को शीघ्रता से बच्चे के मुँह मे यथास्थान खाद्य रस देने में बडी सहायता देता है। वह उसे चुगाकर तुरत पुनः भोजन-सामग्री की खोज में उड़ जाती है—उसके पास इतना समय नहीं होता कि वह अपने बच्चों को खिलाने में आवश्यकता से अधिक समय व्यय करे।

किसी भी पक्षी के बच्चो की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा का अवलोकन निस्सन्देह अत्यन्त चित्ताकर्षक होता है। तमाम जीवधारियों में मनुष्य की ही बाल्यावस्था सबसे लम्बी होती है। कहते हैं कि जिराफ का बच्चा जन्म लेने के बीस ही मिनट उपरान्त अपने पाँवों पर खड़ा हो जाता है, और २४ घटे के अन्दर तो वह दौड लगाने लगता है तथा तीन हफ्ते के भीतर नन्ही-नन्हीं दूब कुतरने लग जाता है। हाथी के बच्चे तो जनमते ही अपनी माँ के सग घूमने-फिरने लग जाते हैं। किन्तु चिड़ियों को समस्त ग्रीष्म-ऋतु भर अपने बच्चों का पालन-पोषण तथा उन्हें स्वतत्र बनने की शिक्षा देनी पडती है ताकि ग्रीष्म बीत जाने पर वे जाडे का सफलतापूर्वक सामना कर सकें एवं आवश्यकतानुसार लम्बी यात्राओं पर भी जा सकें। ज्योंही बच्चों ने अपने प्रारम्भिक दिनों को पार कर लिया और उनके पख उग आए, जिससे कि वे उन्हें फड़फड़ा सकें, त्योंही उनकी शिक्षा-दीक्षा का कार्य आरम्भ हो जाता है। अब उन्हें अपने घोंसले से, जहाँ वे अब तक पूर्ण रूप से सुरक्षित थे तथा भरपेट भोजन पाते थे, बाहर की दुनिया में आना पड़ता है और अपनी देख-रेख स्वय करना सीखना पडता है। सबसे पहले उन्हें उडना सीखना होता है। गौरय्या जैसे कुछ पक्षी अपने बच्चों को उड़ना सिखाने मे व्यर्थ समय नष्ट नहीं करते। वे तो मानों अपने बच्चों को घोंसले के अन्दर से जबरन बाहर धकेल देते हैं, और वे बच्चे इस डर से कि नीचे जमीन पर न गिर जायँ, अपनी सहज नैसर्गिक प्रवृत्ति (instinct) के अनुसार पख फैलाकर उन्हें फडफडाने लगते हैं। प्राय: मादा पक्षी उन्हें किसी ऊँचे ठौर पर ले जाती है, और

मनुष्य के अविचार और अदूरदर्शिता के शिकार का एक नमूना—उत्तरी ध्रुव-प्रदेशों का विलुप्त 'ऑक' नामक पक्षी

छोटे-से डैनोवाला यह बडा-सा पक्षी, जो उडने में असमर्थ था, केवल सौ साल पहले उत्तरी ध्रुव-प्रदेश में बहुतायत से पाया जाता था। किन्तु इसी अवधि में मास तथा परो के लोभ में मनुष्य द्वारा इसका बेतरह शिकार किया गया—यहाँ तक कि लोगो ने उसके अडे तक चुरा लिये। फलस्वरूप पृथ्वी से इसका वश ही मिट गया और आज दिन अजायबघरो के लिए उसका शव हजारो रुपयों में बिकता तथा उसके एक दर्जन अडो का मूल्य एक ताज की कीमत के बराबर आँका जाता है।

जान खो बैठता है। वस्तुतः केवल सतर्क, हृष्ट-पुष्ट तथा आज्ञाकारी बच्चे ही जीवन-यात्रा-पथ पर आगे बढ पाते हैं।

नन्हे बच्चो को उडने के अतिरिक्त और भी कितनी ही बातें सिखलाई जाती हैं। कौडिल्ला (Kingfisher) अपने बच्चों को पानी में डुबकी लगाकर मछलियाँ पकड़ना सिखाता है। जलपक्षी अपने बच्चों को पानी पर तैरना सिखाते हैं। आइडर डक (Eider duck) नामक एक प्रकार की बत्तख तो अपने बच्चों को तैरना सिखलाने के लिए बडे ही विचित्र तरीके से काम लेती है। वह बच्चे को पीठ पर लिये हुए तैरते-तैरते पानी की सतह के बीच अकस्मात् डुबकी लगाती है और इस प्रकार तमाम बच्चे जब पानी की सतह पर छूट जाते हैं तब विवश हो उन्हें तैरना ही पड़ता है। बेचारे टाँगों को डाँड़ों की तरह डुलाते हुए अपने को किसी-न-किसी तरह डूबने से बचाते हैं, साथ ही यह देखकर उन्हें प्रसन्नता भी होती है कि माँ की तरह वे भी अब तैरने लगे।

उनसे वही क्रिया फिर से दुहरवाती है। बच्चे जमीन पर से अपने घोंसले तक कई बार छोटी उडान भरकर अपने मन में आत्मविश्वास पैदा कर लेते हैं और यह जानकर कि हमें उड़ना आ गया बडे खुश होते हैं।

कुछ पक्षियों के बच्चों को इस प्रकार सीख देने में अधिक परिश्रम की आवश्यकता होती है। मादा प्रायः बच्चे के सामने अपने पखों को फड़फडाकर एक टहनी से दूसरी टहनी पर उडकर जाती है तब वह फिर वापस लौटती है, और अपने बच्चों को वैसा ही करने के लिए उत्साहित करती है। पहले एक बच्चा कोशिश करता है, फिर दूसरा, इसी प्रकार सभी आसानी के साथ माँ की तरह उडने लग जाते हैं। वे उसके साथ सटे-सटे फुदककर इधर-उधर उडने लगते हैं। उसकी आवाज सुनकर, जब वह उन्हें बुलाती है या खाना खाने के लिए पुकारती है अथवा किसी खतरे से उन्हें आगाह करती है, वे फौरन उडकर उसके पास पहुँच जाते हैं। यदि कोई बच्चा औसत से अधिक मूर्ख या हठी होता है तो वह शीघ्र ही अपनी

उड़ने में असमर्थ पक्षी

सामान्यतः पक्षी एक अद्भुत उड़नेवाला यत्र होता है, किन्तु कुछ पक्षी ऐसे भी हैं जो उड़ने मे सर्वथा असमर्थ हैं। इनमें से कुछ—जैसे अन्टार्क्टिका के सुप्रसिद्ध पेंगुइन पक्षी तथा आर्कटिक प्रदेशों के ऑक (Auk), जो अभी १०० वर्ष पहले तक वहाँ बहुतायत से पाए जाते थे—पानी के अन्दर उड़ते हैं, तथा कुछ स्थल पक्षी हैं जिनके पखो का विकास भली तरह नहीं हो पाया है और फलतः जो जमीन पर केवल दौड लगा सकते हैं।

दौड़ लगानेवाले इन पक्षियों में अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका के पाँच-छः जाति के शुतुर्मुर्ग, एव आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड के ऐमू (Emu), कैसोवरी (Cassowary) और किवी (Kiwi) आदि ही आज दिन जीवित हैं। इन्हीं के वर्ग मे मोआ और डोडो नामक कबूतरों का भी उल्लेख

किया जा सकता है, जो अब पृथ्वीतल से बिल्कुल विलुप्त हो गए हैं।

उड़ने में असमर्थ पक्षियों की उत्पत्ति का क्या कारण हो सकता है? हमें स्मरण रखना चाहिए कि जानवर सदैव खुराक की तलाश में लगे रहते हैं, और इनमें से अधिकांश को मांसाहारी जानवरों के आक्रमण का खतरा रहता है। इनसे बचने के लिए उन्हें अपने फुर्तीलेपन, लड़ने की शक्ति या भागने की शक्ति पर ही भरोसा रखना पड़ता है। इसके अतिरिक्त जानवरों के आसपास का वातावरण निरन्तर बदलता रहता है, अतः वे प्राणी, जो परिवर्त्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल अपने को नहीं बना पाते हैं, देर में या जल्दी ही इस भूमण्डल से विलुप्त हो जाते हैं। पक्षियों द्वारा उड़ने की शक्ति प्राप्त करने के पीछे भी उपर्युक्त दोनों आदिम आवश्यकताएँ ही रही हैं। इस शक्ति ने पक्षियों को इस योग्य बनाया कि वे स्थलचर मांसाहारी जानवरों से अपनी रक्षा करने में समर्थ हो गए, साथ ही उनके लिए यह भी सम्भव हो सका कि हवा में प्रचुरता से पाये जानेवाले उड़ाकू कीड़े-पतिंगों का भी शिकार कर सकें। अतः आदि उड़नशील उरगमों (reptile) से सर्वप्रथम उड़नेवाले पक्षियों का विकास हुआ, जिसका कि प्रमाण आदि काल के प्रस्तर-चिह्नों में हमें मिलता है, और प्राथमिक दिनों के इन उड़नशील प्राणियों में विकास हुआ बाद के सभी पक्षियों का, जिनमें से कुछ की उड़ने की क्षमता बढ़ी-चढ़ी थी तो कुछ की बहुत कम। किन्तु सभी प्राणी अपने लिए खाद्य पदार्थ प्रायः सबसे सहल तरीके द्वारा प्राप्त करने के आदी हैं। अतः संसार के कुछ प्रदेशों में कतिपय पक्षियों ने सहूलियत के विचार से उड़ना छोड़कर जलचर या स्थलचर प्राणी की आदतें ग्रहण कर लीं, यद्यपि वे सब हैं उड़नेवाले पक्षियों की संतान।

दक्षिणी ध्रुव-प्रदेश के मनोरंजक निवासी—पेन्गुइन

क्या पहली निगाह में देखने पर आप को यह भ्रम नहीं होता कि यह झुंड पक्षियों का नहीं वरन् सफेद कुर्तों पर काले कोट पहने हुए मनुष्यों का एक मेला है। ये अद्भुत प्राणी मनुष्यों की तरह ही पैरों पर सीधे खड़े रहते और उनके अजीब डैने दोनों ओर हाथों की तरह लटकते रहते हैं। ये उड़ने में तो नितान्त असमर्थ हैं, किंतु परों को कुछ फैलाकर तथा गर्दन आगे निकालकर एक अजीब ढंग से वे एक चट्टान से दूसरी को दो-तीन फीट तक फुदक सकते हैं। मनुष्य से ये बिल्कुल नहीं डरते और कभी-कभी उत्सुकता-पूर्वक एकदम समीप चले आते हैं। दाहिनी ओर ऊपर के कोने में इस अद्भुत जीव का बड़ा-सा चित्र दिया गया है।

न्यूज़ीलैण्ड का एक अद्भुत प्राणी—किवी

सेही जैसा दिखाई देनेवाला यह जन्तु वस्तुतः एक पक्षी है, यद्यपि न तो इसकी सूरत-शक्ल ही पक्षियो-जैसी है न यह उड ही पाता है। इसकी लम्बी चोंच पर ध्यान दीजिये, जिसके सिरे पर इसके नथुने होते हैं। ये नथुने इसे केंचुए आदि पकडने में खास मदद पहुँचाते हैं। इस प्राणी की आवाज सीटी जैसी होती है, इसीलिए इसका नाम 'किवी' पड गया है। सेही की तरह यह भी निशाचरी जीवन बिताता है।

अनेक पक्षियो ने, जिन्होने मछुओं का पेशा अपना लिया, डुबकी लगाने के साथ-साथ अपने अन्दर उड़ने की क्षमता भी बनाए रक्खी—जैसे गोताखोर गल (Gulls) और अल्बैट्रास (Albatross) नामक पक्षियों ने। किन्तु कुछ ने उड़ने की शक्ति पूर्णतया खो दी। ऑक (Auk) इसी श्रेणी का पक्षी है (दे० पृ० २११८ का चित्र)। आइसलैण्ड, स्कैन्डैनेविया, ब्रिटेन, न्यूफाउँडलेंड और आर्कटिक समुद्र के तटवर्त्ती प्रदेशों में कभी ऑक प्रचुरता से पाया जाता था, किन्तु विगत सौ साल के अन्दर ही मनुष्य जाति ने इसका पूरा नामोनिशान मिटा दिया। मनुष्य की अज्ञानता तथा अदूरदर्शिता ने भूमंडल के इस प्रदेश विशेष को एक रोचक पक्षी से ही वञ्चित नहीं कर दिया, वरन् वहाँ के निवासियों को सकट के समय काम में आ सकनेवाली एक मूल्यवान् खाद्य सामग्री से भी सदा के लिए वञ्चित कर दिया। इस प्राणिवर्ग के अन्तिम दो जीवित सदस्य १८४४ ई० में पकड़े गए थे। उनके शव तथा अडे कुछ सग्रहालयों में बहुमूल्य प्रदर्शन की वस्तुओं के रूप में सुरक्षित हैं।

मानवाकृतिवाले पेन्गुइन पक्षी

अब हम भूमडल के दूसरे छोर के एक ऐसे पक्षी का हाल आपको सुनाने जा रहे हैं, जिसने आकाश में विचरना छोड़कर स्थल और जल के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया है। हमारा अभिप्राय दक्षिण महासागर के पेन्गुइन पक्षी से है। इसकी खूबी यह है कि सूखी भूमि या पानी की सतह की अपेक्षा पानी के अन्दर रहना ही इसे अधिक सुहाता है। पेन्गुइन बढिया तैराक होते हैं, बल्कि यह कहना गलत न होगा कि ये पानी के अन्दर उड़ते हैं। ये अपने चपटे डैनों का प्रयोग बढिया डाँड की तरह करते हैं और इन डैनो को तेजी के साथ डुलाते हुए ये तीर की भाँति ठीक एक तेज़ मछली की तरह पानी के अन्दर भागते चले जाते हैं। अपने डैनों की मदद से पानी के अन्दर ये इधर-उधर इतनी फुर्ती के साथ मुड सकते हैं, जितनी तेजी से आकाश में विचरनेवाले पक्षी भी नहीं मुड़ पाते। तैरते समय इनकी टाँगें एकदम ढीली होकर इनके शरीर के साथ एक ही सीध में सध जाती हैं तथा अधिक गहराई तक नीचे उतरने के लिए वे रह-रहकर ऊपर को झटका देती रहती हैं। इनके डैनो के छोटे-छोटे पख सिमटकर मछलियों के बदन पर के स्केलो (scales) जैसे बन गए हैं और उनमें पतली डॉड़ियाँ (quills) तो बिलकुल ही नहीं होतीं। इस प्रकार इनके डैने सील या ह्वेल मछली के डैनो की भाँति दिखाई पड़ते हैं।

भूमि पर पेन्गुइन पक्षी एक दम सीधा मनुष्य की तरह खड़ा हो जाता है। उसके सामनेवाले डैने मनुष्य की भुजाओं की तरह शरीर से सटे हुए बाजू में लटकते रहते हैं। जैसा कि चित्र से प्रकट है, इन विचित्र प्राणियों का झुण्ड (जिनमें से कई जातियाँ क़द में ३-३॥ फीट ऊँची होती हैं) जब समुद्र-तट पर खड़ा होता है तो दूर से ऐसा प्रतीत होता है मानों आदमियों की भीड जमा हो। किन्तु जब वे अपने भारी शरीर का बोझ छोटी-छोटी टाँगों के बल पर सँभाले हुए जमीन पर चलने का प्रयत्न करते हैं तो ऐसे डगमगाने लगते हैं जैसे अब गिरे, तब गिरे! उनका यह प्रयास नितान्त

हास्यजनक प्रतीत होता है। वस्तुतः ज़मीन पर उनके लिए तेज चल सकना सम्भव नहीं है।

उनकी कुछ आदतें और भी अधिक दिलचस्प हैं। कहा जाता है कि ये किसी से भी डरना जानते ही नहीं। अक्सर ये यात्रियों के कुत्तों के इतने निकट तक चले आए कि अनायास उनके कलेवा का सामान बन गए। इन रोचक पक्षियों का झुण्ड बर्फ-शिलाओं पर खड़ा होकर शत्रु की टोह पाने के लिए पानी में घूरता रहता है। इतने में यदि इनमें से कोई पानी के बहुत ही निकट पहुँच गया तो उसे उसके साथी अचानक पानी में ढकेल देते हैं। यदि वह बिना किसी बाधा या खतरे के कुछ देर तक सकुशल तैरता रह गया तब तो उसके अन्य साथी भी पानी में उतरते हैं, किन्तु यदि किसी ह्वेल या सील ने उसे पानी में जाते ही चट कर डाला तो भीड़ के अन्य सदस्य पानी में प्रवेश करने का विचार त्याग देते हैं। अन्टार्कटिक प्रदेश की नितान्त ठंडी जलवायु में ये अपने अंडे से लेते हैं, यह भी कम आश्चर्यजनक बात नहीं है। इनके घोंसलों में पंख या इस तरह की अन्य मुलायम चीज़ नहीं लगी रहती, वरन् अपने अंडे को पेन्गुइन मादाएँ अपने पेट की खाल की शिकन के बीच दबाकर गर्म रखती और अपने पैर तथा चोंच से उन्हें फेरती रहती हैं ताकि उनके हर भाग में शरीर की गर्मी पहुँचे। एम्परर पेंगुइन (Emperor Penguin) किसी प्रकार के घोंसले नहीं बनाते, बल्कि बर्फशिलाओं पर ही वे अपने अंडे से लेते हैं। सर्दी में अपने एकमात्र अंडे को ठंड से बचाने के लिए वे उसे अपने पैरों पर लिये रहते हैं।

इस रोचक तथा विचित्र पक्षी की कई एक जातियाँ दक्षिण महासागर के अन्टार्कटिक प्रदेश में पाई जाती हैं। विशेषतया न्यूज़ीलैण्ड में इनकी विविध जातियाँ पाई जाती हैं, और कुछ-एक वर्ग हिन्द महासागर के इक्के-दुक्के द्वीपों तथा दक्षिणी अफ्रीका के तट पर भी मिलते हैं। अवश्य ही इनके पूर्वज उड़कर कभी इन दूरस्थ द्वीपों में पहुँचे होंगे। जब किसी शक्तिशाली शत्रु की अनुपस्थिति में यहाँ उन्होंने उड़ने की ज़रूरत महसूस न की होगी तब कालान्तर में वे उड़ने की शक्ति पूर्णतया खो बैठे होंगे, साथ ही समुद्र से प्रचुर मात्रा में खाद्य सामग्री लभ्य होने के कारण वे धीरे-धीरे आज की तरह जलप्रधान प्राणी बन गए होंगे।
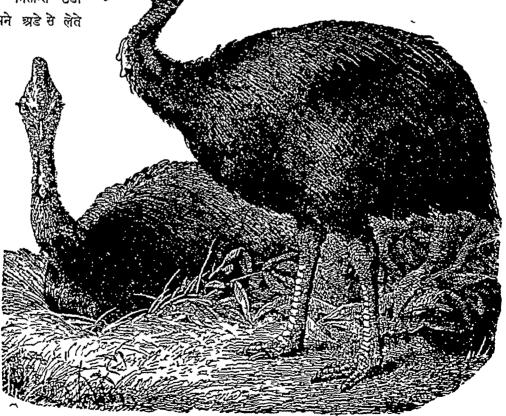
ज़मीन पर दौड़नेवाले पक्षियों में सबसे सुन्दर—कैसोवरी

यह आस्ट्रेलिया के समीप के न्यूगिनी आदि द्वीपों में पाया जाता है। दौड़ने में यह बड़ा ही फुर्तीला तथा मजबूत पाँव का जानवर होता है। इसके सिर पर एक विचित्र कलगी लगी रहती है और गरदन निर्लोम तथा चटकीले रंग की होती है। निश्चय ही पक्षियों की सौंदर्य-प्रतियोगिता में कैसोवरी पुरस्कार पाने योग्य है।
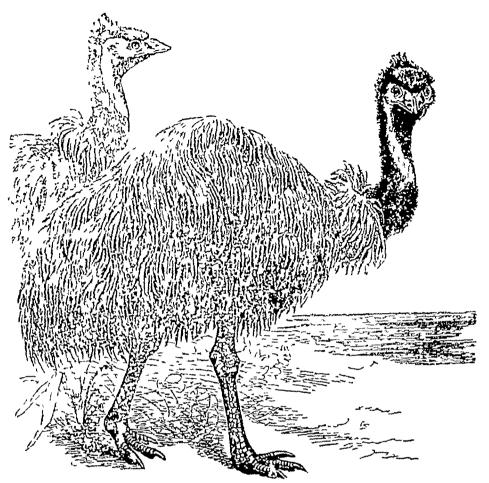
आस्ट्रेलिया का पक्षिराज—ऐमू

यह क़द में लगभग ५ फीट तक ऊँचा होता है और शुतुर्मुर्ग को छोड़कर सबसे बड़ा पक्षी कहा जा सकता है। शुतुर्मुर्ग की तरह यह भी खुले मैदानों में रहता, तीव्र गति से दौड़ लगाता और शत्रु से घिर जाने पर टाँगो से आगे-पीछे ठोकर मारकर अपनी रक्षा कर लेता है।

ज़मीन पर दौड़नेवाले पक्षी

आइए, दौड़नेवाले पक्षियों के वर्ग का परिचय आपको दें, जिसके एक सदस्य शुतुर्मुर्ग को हम सभी भली भाँति जानते हैं। ये प्राणी दक्षिणी गोलार्द्ध में विशेष तौर से पाये जाते हैं, यद्यपि सच्चे शुतुर्मुर्ग विषुवत् रेखा के उत्तर मे ही मिलते हैं। इन सभी पक्षियों के डैने या तो अत्यन्त छोटे होते हैं, या बिलकुल ही नहीं होते। इनके पख बहुत ही मुलायम बाल की तरह होते हैं। डैने की डॉडियाँ (quills) उड़नेवाली चिड़ियो की डॉडियों से एक बात मे खास तौर से भिन्न होती हैं। वह यह कि इन दौड़नेवाले पक्षियो के डैने के पर एक दूसरे से गुँथे नहीं होते। इसी वर्ग का एक पक्षी था मोआ (Moa), जिसकी लगभग २० जातियाँ किसी ज़माने मे न्यूज़ीलैंड में प्रचुरता से पाई जाती थीं। तीन-चार सौ वर्ष हुए मावरी लोगों ने इसके वंश का बिलकुल उन्मूलन कर डाला। अतएव इसका जिक्र छोड़कर अब हम किवी (Kiwi) नामक पक्षी का वर्णन करेंगे, जिसकी कई एक जातियाँ न्यूज़ीलैंड के टापू में इन दिनों भी पाई जाती हैं। इनके पैरों में केवल चार उँगलियाँ होती हैं। इनके डैने और दुम इतने छोटे होते हैं कि वे इनके बाल-सदृश पख के अन्दर ही छिपे रहते है। चित्र में देखिए, ये पक्षी मालूम ही नहीं होते। इनके नथुने भी अजीब जगह पर होते हैं। वे चोंच के सिरे पर स्थित होते हैं, जिससे इन्हें केंचुए आदि कीड़े (जो इनका मुख्य भोजन हैं) तलाश करने में बड़ी सहायता मिलती है। ये हरी-भरी जगहों में रहते और रात को डोलते फिरते हैं तथा खतरे के समय तीव्र गति से दौड़ लगाकर भाग सकते हैं। इनकी आवाज सीटी के शब्द सरीखी होती है और इसी कारण इनका नाम 'किवी' पड़ा है। इनके अण्डे ५ इंच लम्बे और ३ इंच चौड़े होते हैं जो इनके क़द के लिहाज से निस्सदेह काफी बड़े होते हैं। किवी साधारणत. एक बड़ी मुर्गी के आकार का पक्षी होता है।

कैसोवरी (Cassowary) और ऐमू (Emu)

उड़ने मे असमर्थ पक्षियों के वर्ग में ऑस्ट्रेलिया तथा उसके आसपास के द्वीपों के निवासी कैसोवरी और ऐमू नामक जमीन पर दौड़ लगानेवाले पक्षी शुतुर्मुर्ग को छोड़कर सभवत. सबसे बड़े पखेरू हैं। इनकी गर्दन लम्बी होती है और इनके पैरों में केवल तीन ही उँगलियाँ होती हैं। दुम नहीं के बराबर होती तथा डैने भी अत्यन्त छोटे होते हैं। पख एकदम बालों जैसे मुलायम और डैने दुहरे

मालूम पड़ते हैं। इनके छोटे डैने, जिनमें पख की डॉडियॉ पतली तीलियों की तरह लगी होती हैं, तेजी से भागने में इनको काफी सहायता पहुँचाते हैं।

कैसोवरी की लगभग १० जातियॉ होती हैं। इनमें उत्तर-पूर्व आस्ट्रेलिया में पाये जानेवाले कैसोवरी आकार में सबसे बडे अर्थात् लगभग ५ फीट ऊँचे होते हैं। अन्य जातियॉ न्यूगिनी तथा आस्ट्रेलिया के उत्तर के अन्य कुछ द्वीपों में पायी जाती हैं। ये पक्षी अत्यन्त फुर्तीले तथा शीघ्रगामी होते हैं। अपनी मज़बूत टॉगों से शत्रु को ठोकर मारकर ये अपनी रक्षा करते हैं। इनके शिर पर शिरस्त्राण जैसी एक विचित्र कलगी-सी लगी रहती है तथा सिर और गरदन दोनों ही निर्लोम एवं चटकीले रग के होते हैं। दौड़नेवाले पक्षियों की सौन्दर्य - प्रतियोगिता में कैसोवरी को निस्सन्देह प्रथम पुरस्कार मिलेगा, क्योंकि उसकी आसमानी, लाल एव हरे रग की चिकनी सपाट गर्दन और सिर की शोभा निर्लोहे काले चमकदार पखों के सयोग से एक विचित्र सौंदर्य की छटा बॉध देती है। ये प्राणी साधारणतया सघन वनों में रहते हैं।

कैसोवरी की भॉति ऑस्ट्रेलिया का सुप्रसिद्ध पक्षिराज ऐमू भी अत्यत शीघ्रगामी और बड़ी मज़बूत टॉगोंवाला प्राणी होता है। किन्तु उसके सिर पर कैसोवरी जैसी कलगी नहीं होती, न उसका रूप-रग ही उतना सुन्दर होता है। ऐमू की दो जातियॉ पाई जाती हैं, जिनमे से एक आस्ट्रेलिया महाद्वीप के पूर्वीय और दूसरी पश्चिमीय प्रदेश में मिलती है। दोनों का क़द पॉच फीट से अधिक होता है। ये प्राणी खुले मैदानो मे रहते और बड़ी तेज़ दौड लगाते हैं। किसी शत्रु से पाला पडने पर ये भी कैसोवरी या शुतुर्मुर्ग की तरह टॉगों से ठोकर मारकर अपनी रक्षा करने का प्रयास करते हैं। इनके सबध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि इनमें नर से मादा आकार में बड़ी होती है और नर बहुभोगी न होकर केवल एक ही मादा के प्रति अनुरक्त रहता है। शिकारियों के चगुल से बचने के लिए अब यह भीतरी जगलों की शरण लेने लगा है।

संसार का सबसे बड़ा पक्षी—अफ्रीका का शुतुर्मुर्ग

इसकी ऊँचाई कभी-कभी आठ फीट तक पहुँचती है, अफ्रीका के सभी जानवरो में इससे अधिक तीव्र गति से दौडनेवाला दूसरा प्राणी नहीं है। वह पचीस-पचीस फीट तक छलांगें भर सकता है।

अफ्रीका और अमेरिका के शुतुर्मुर्ग
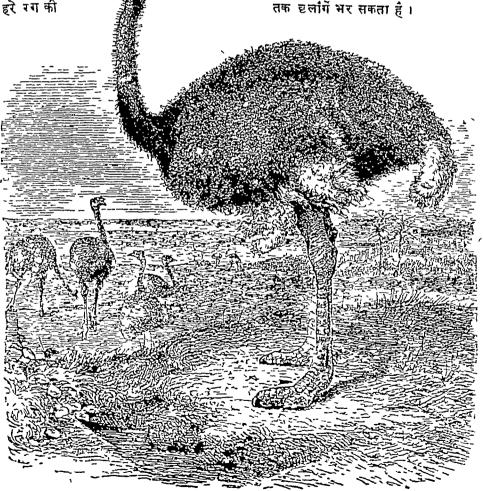
अमेरिकन शुतुर्मुर्गों की तीन प्रमुख जातियाँ हैं। इनके पैर में केवल तीन उँगलियाँ होती हैं और ये दक्षिण अमेरिका के घास के मैदानों में अधिकांश पाये जाते हैं। इनके डैने काफी बड़े होते हैं। यद्यपि उड़ने के मतलब के ये नहीं होते, फिर भी हवा में आगे बढ़ने के लिए ये पाल का काम देते हैं। ये पक्षी अफ्रीकन शुतुर्मुर्गों से आकार में बहुत छोटे होते हैं और इनके पंख भी उतने सुन्दर नहीं होते। री (Rhea) इस जाति का प्रमुख शुतुर्मुर्ग है, जिसका चित्र इसी पृष्ठ पर प्रदर्शित है।

प्राचीन काल में दक्षिण अमेरिका एक विशाल टापूनुमा महाद्वीप था, और उन दिनों मांसाहारी स्तनपायी प्राणियों का विकास उत्तरी गोलार्द्ध के भूमिखंड पर हो रहा था। इसी कारण दक्षिण अमेरिका में मांसाहारी स्तनपायी जीव कम पाए जाते हैं। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड की भाँति दक्षिण अमेरिका में भी परिस्थितियाँ इस ढंग की मिलीं कि पक्षियों ने उड़ना छोड़कर स्थलजीवन ही अपनाया। प्रस्तर-चिह्नों से पता चलता है कि पूर्वकाल में इस महाद्वीप के धुर दक्षिण भाग पेटेगोनिया में न उड़नेवाले पक्षियों की अनेक जातियाँ मौजूद थीं। इनमें से एक की खोपड़ी तो दो फीट चौड़ी मिली है।

अफ्रीका के शुतुर्मुर्ग की भी तीन जातियाँ हैं—एक दक्षिण अफ्रीका में पायी जाती है, दूसरी पूर्व अफ्रीका में और तीसरी (साधारण शुतुर्मुर्ग) उत्तर की ओर अरब, सीरिया और मेसोपोटामिया में। किसी जमाने में मध्य एशिया में भी यह पक्षी पाया जाता था। यह सभी पक्षियों से क़द में ऊँचा होता है—कभी-कभी इसकी ऊँचाई आठ फीट तक पहुँचती है। अफ्रीका का अन्य कोई भी जानवर इसके बराबर तेज दौड़ नहीं लगा सकता। दौड़ते समय यह अपने डैनों का प्रयोग पाल की तरह करता और एक छलाँग में २५ फीट का फासला पार कर लेता है। अन्य दौड़नेवाले पक्षियों के मुकाबले में इसके पैर विशेष रूप से विकसित होते हैं। इसके पैरों में केवल दो ही उँगलियाँ होती हैं, जिनमें से एक दूसरे की अपेक्षा बहुत बड़ी होती है। मरुभूमि या खुले मैदान में अपनी रक्षा के निमित्त अपनी सामाजिक सहज वृत्ति के अनुसार ये पक्षी छोटी-छोटी टोलियों में रहते हैं। इनकी तीव्र घ्राण-शक्ति तथा तीक्ष्ण दृष्टि भी शत्रुओं से सचेत करने में इन्हें काफी सहायता पहुँचाती है। दुश्मनों से घिर जाने पर जब इनके लिए अन्य कोई चारा बाक़ी नहीं रहता तो ये अपनी चोंच और टाँगों से ही अपनी रक्षा करते हैं। ऐसी अवस्था में ये अपनी टाँगों से दाहिने-बायें बल पूर्वक ठोकर लगा सकते हैं। शुतुर्मुर्ग के पर बड़े क़ीमती होते हैं और वे धनाढ्य लोगों द्वारा तकिए, गद्दी आदि में भरने तथा सजावट के लिए काम में लाये जाते हैं। इन्हीं परों के लिए अफ्रीका के चरागाहों में शुतुर्मुर्ग काफी बड़ी संख्या में पाले जाते हैं—वे प्रायः बड़े-बड़े घेरों या अहातों में घेरकर रक्खे जाते हैं।

अमेरिकन शुतुर्मुर्ग—री

यह अफ्रीका के शुतुर्मुर्गों से आकार में छोटा होता है और इसके पंजों में तीन उँगलियाँ होती हैं जब कि अफ्रीका के शुतुर्मुर्ग में सिर्फ दो ही होती हैं।

मनुष की कहानी

धमनी

ऑक्सिजन

ऑक्सिजन

हृदय

फुफ्फुस

फुफ्फुस

यकृत

फुफ्फुस को

शिरा से

धमनियों को

आंत

फुफ्फुस से

शिरा

धमनी

शिरा
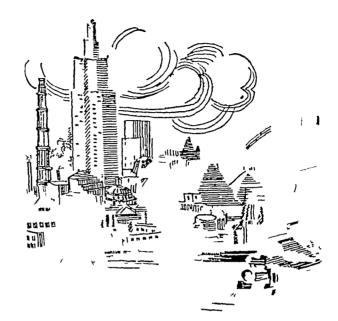
हमारे जीवन की प्राणवाहिनी स्रोतस्विनी—रुधिर धारा

श्रॉक्सिजन तथा पौष्टिक तत्वों से भरपूर शुद्ध रक्त हृदयरूपी पप द्वारा परिचालित हो धमनियोके रास्ते सारे शरीर में पहुँचता श्रौर विभिन्न श्रगो को रसद पहुँचाकर कूडा-कर्कट वटोरते हुए श्याम रग को शिराश्रों के रास्ते जव वापस हृदय के पपिग स्टेशन में श्राता है तो पप करके फुफ्फुस के कारखाने में भेज दिया जाता है, जहां सांस द्वारा श्रॉक्सिजन से सयुक्त होकर पुन शुद्ध वन जाता श्रौर हृदय द्वारा पुन धमनियों में प्रवाहित कर दिया जाता है। प्रस्तुत चित्र में प्रतीको द्वारा इसी क्रम का दिग्दर्शन किया गया है। देखिए, धमनी में प्रवाहित शुद्ध रक्त की नदी में लाल कण रूपी नौकाएँ किस प्रकार श्रॉक्सिजन तथा पौष्टिक तत्वों से लदी चली जा रही है श्रौर शिरा के रास्ते वही श्रपना माल ढोकर कूडे-कर्कट से लदी हुई वापस लौट रही है। इस धारा का रग धमनियों में तो लाल रहता श्रौर शिराश्रो में श्राने पर श्यामल हो जाता है।
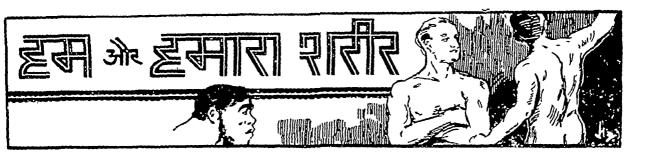
रक्त-संचालन-प्रणाली—(१)

जीवन की रक्तिम स्रोतस्विनी—रुधिर-स्रोत

"लाल, गहरे रक्त वर्ण की जीवन की यह उष्ण सरिता, अपनी सहस्र-सहस्र नलिकाओं द्वारा हमारे शरीर में हितकर तथा अहितकर सभी प्रकार के द्रव्यों को प्रवाहित करनेवाली, द्रवों में सबसे अद्भुत, सबसे अमूल्य तथा सबसे चटकीले द्रव की यह स्रोतस्विनी खारे महासागर की कन्या जैसी, किन्तु उस महोदधि से भी अधिक वन्दनीय — ———ऐसी ही है हमारी यह रुधिर-धारा।" विश्वविख्यात ब्रिटिश जीव वैज्ञानिक सर रे लैन्केस्टर की ये रुधिर के प्रति उद्गार की पंक्तियाँ कितनी मार्मिक और उपयुक्त हैं! आइए, इस लेख में इसी आश्चर्यजनक द्रव के बारे में कुछ हाल जानने का प्रयास करें।

रुधिर वायु तथा भोजन

हम अपने शरीर-रूपी यंत्र और उसकी कार्यप्रणाली के अध्ययन के सिलसिले में पहले देख चुके हैं कि शरीर की बाढ़ की आवश्यकताएँ पूरी करने तथा हड्डी और मांस-पेशियों के छीजने पर उनकी मरम्मत तथा उनके पुनर्निर्माण के लिए हम भोजन करते हैं। हमारी पाचन प्रणाली इस भोजन को परिवर्तित करके उस योग्य बना देती है कि वह बृहत् आँतों की दीवालों के रुधिर में जज़्ब हो सके। हमने यह भी देखा है कि हमारे शरीर के कोषों को आक्सिजन के एक नियत आयतन की नियमित रूप से आवश्यकता होती है। जिस प्रकार अग्नि बिना वायु के जल नहीं सकती, उसी प्रकार कोष भी आक्सिजन के बिना जीवित नहीं रह सकते। यह गैस फेफड़ों की पतली झिल्लियों में से साँस लेते समय गुजर-गुज़र कर भीतर रक्त में पहुँचती है। दूसरे शब्दों में हम जानते हैं कि हमारी पाचन-प्रणाली रक्त की कमी पूरी करती एवं हमारे फेफड़े उसे ताजा आक्सिजन पहुँचाते हैं। सारांश यह कि हमारी पाचन-प्रणाली, श्वसन-प्रणाली तथा रक्त-संचालन प्रणाली एक दूसरे पर अभिन्न रूप से निर्भर हैं और वे मिलकर अद्भुत रूप से एक युक्त योजना द्वारा काम करती हैं, जिससे शरीर-रूपी यंत्र अपना काम सुचारु रूप से करता रहता है।

आँतों में पचाई हुई खाद्य सामग्री के पौष्टिक तत्त्वों से भरपूर रक्त पहले शरीर के 'शुद्धीकरण के महान् कारखाने'—यकृत—में पहुँचता है, जो तीनों श्रेणी के खाद्य-पदार्थों के बीच (जिनका उल्लेख हम विश्व भारती के पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं) समतुलन क़ायम रखता है। यकृत खाद्य पदार्थ से जज़्ब की गई साधारण चीनी को एक विशेष जैव स्टार्च 'ग्लिकोजेन' के रूप में परिणत करके सञ्चित रखता है। बाद में इसी सञ्चित राशि से आवश्यकता पड़ने पर उचित मात्रा में वह शरीर को चीनी देता रहता है। इस प्रकार रुधिर में चीनी की मात्रा लगभग सदैव ही एक-सी बनी रहती है। मांसपेशियों में भी ग्लिकोजेन सञ्चित रहती है और इसी प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों में चर्बी भी सञ्चित रहती है, किन्तु प्रोटीन का सञ्चय जैव तन्तुओं के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं होता।

अतः हम देखते हैं कि रुधिर आँतों में से शरीर के कोषों को तन्तु-निर्माण करनेवाले पदार्थ तथा उपर्युक्त ईंधन पहुँचाता है, जो फेफड़ों द्वारा ग्रहण की गई आक्सिजन के साथ संयुक्त हो हमारे शरीर की अग्नि को प्रज्वलित रखता है। इस प्रज्वलन-क्रिया के अंत में जल तथा कार्बन-डाइआक्साइड गैस बनती है। ये दोनों ही पदार्थ तन्तुओं से रुधिर में चले जाते हैं। जल रुधिर में से त्वचा के रास्ते स्वेद अथवा वाष्प के रूप में बाहर निकलकर उड़ जाता है, साथ ही फेफड़ों की दीवालों तथा गुर्दों के द्वारा भी उसका अधिकांश हमारे शरीर से बाहर निकल जाता है। और कार्बन डाइआक्साइड

समूची की समूची ही पुनः फेफड़ों में पहुँच कर हमारे प्रश्वास के साथ बाहर निकल जाती है। अतएव रुधिर का यही मुख्य कार्य्य प्रतीत होता है कि वही शरीर के अन्दर प्रधान पौष्टिक द्रव्यों तथा अहितकर कूडे-कचरे का वाहक है। शरीर के अन्दर जहाँ-कहीं भी कोष मौजूद हों वाह्य जगत् मे उनका कुछ-न-कुछ सम्बन्ध बना रहना आवश्यक है—अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए उन्हे अन्य पदार्थ ग्रहण करने ही होंगे तथा जो वस्तु उनके काम की न होगी उसे त्याज्य रूप मे बाहर निकाल फेंकना भी होगा। यह महत्त्वपूर्ण कार्य्य रुधिर द्वारा ही सम्पादित होता है, जो शरीर के लगभग सभी भागो मे प्रवाहित होकर पहुँचता है।

रुधिर की धारा

रुधिर की तुलना हम उस नदी से कर सकते हैं जो किसी प्रदेश मे सहस्रों धाराओं मे होकर बहती है और इस प्रकार उस प्रदेश के प्रत्येक भाग को सींचने मे समर्थ होती है। रुधिर की धारा जब शरीर के विभिन्न तन्तुओं से होकर गुजरती है तो प्रत्येक श्रेणी के कोष अपनी आवश्यकता के पदार्थ रुधिर मे से ले लेते ह, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नदी के किनारे के विभिन्न पौधे नदी से अपनी निज की जरूरत के पौष्टिक पदार्थ ग्रहण कर लेते है। रुधिर एक स्वतत्र बहनेवाला तरल पदार्थ है। वह धारा के रूप में बहता है, जैसा कि हम प्रायः अनुभव करते हैं जब दुर्घटनावश सुई या चाकू के लग जाने पर हमारे शरीर या उँगली से रक्त का प्रवाह होने लगता है। किन्तु इस रुधिर रूपी नदी की धारा बहुत बडी या लबी-चौडी नही है। तीव्र गति से दिन प्रति दिन वर्षों तक अपने उसी मार्ग में बँधी हुई यह बार-बार चक्कर लगाया करती है। अनुमान लगाया गया है कि एक वयस्क व्यक्ति के अन्दर उसके शरीर के वजन का १३ वॉ भाग रुधिर का होता है—अतः डेढ मन के मनुष्य के शरीर में लगभग ५ सेर रुधिर मौजूद होता है। किन्तु रुधिर की मात्रा का पूर्णतया सही अन्दाज हम नहीं लगा सकते, क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों के शरीर में रुधिर की मात्रा का अनुपात घटता-बढता रहता है। आयतन के विचार से औसत क़द के मनुष्य के शरीर में लगभग पॉच-छः क्वार्ट या १० पाइन्ट रुधिर रहता है। इसमें से लगभग एक चौथाई तो हृदय, फेफड़ों तथा बडे रुधिर-सस्थानों में पाया जाता है, पुनः एक चौथाई यकृत में, तीसरा चतुर्थांश शरीर की ठठरी की मासपेशियों में तथा बचा हुआ एक चौथाई अश शरीर के अन्य अगों में। यह चुल्लूभर रक्त वर्ण का द्रव आश्चर्य्यजनक तीव्र गति से हमारे शरीर मे दौड़ लगाता है। रुधिर के प्रवाह की गति दिन के विभिन्न पहरों में बदलती रहती है। तीव्र गति से प्रवाहित होते समय तो समूचे शरीर का दौरा लगाने मे इसे केवल १५ सेकड ही लगते हैं—अर्थात् प्रति मिनिट वह हमारे हृदय मे से चार बार होकर गुजरता है! इस हिसाब से रुधिर-प्रवाह की गति प्रति घटे सात मील ठहरती है। किन्तु जब सामान्य गति से प्रवाह होता है तो उस समय इसे शरीर का पूरा चक्कर करने में ३० सेकड लगते हैं। एक वैज्ञानिक ने हिसाब लगाया है कि ७० वर्ष के जीवन मे एक साधारण मनुष्य की शिराओं से ४०००००० मील लम्बी रुधिर की धारा प्रवाहित होती है। और डा० रोनाल्ड मैफी के अनुसार साल भर में हृदय को ३६५ मील की दूरी तक रुधिर पम्प करके भेजना पड़ता है—अर्थात् एक दिन में एक मील।

अतः स्पष्ट है कि रुधिर एक अत्यन्त ही तीव्र वेग से प्रवाहित होनेवाली नन्ही-सी सरिता है, जो हम सभी के लिए ससार की सबसे महत्त्वपूर्ण तथा पवित्रतम धारा है। यदि हमारे शरीर के अन्दर इसका प्रवाह रुक जाय तो हमारी जीवनलीला ही समाप्त हो जायगी। तो फिर आइए, हम इसके बारे म और जानकारी प्राप्त करें और देखें कि यह अमूल्य द्रव—रुधिर—किन-किन पदार्थों से बना है।

रुधिर किन पदार्थों से बना है?

इस रक्त वर्ण की धारा का रहस्योद्घाटन करने के लिए आपको दूर किसी लबी यात्रा पर जाने की जरूरत नहीं। उँगलियों के छोर पर शुद्ध की हुई पिन की नोक जरा घुसेड दीजिए, बस फौरन् रुधिर की कुछ बूँदें निकल आएँगी। इन्हें शीघ्र एक अणुवीक्षण यत्र के नीचे रखकर इनका निरीक्षण कीजिए—आपको इसकी असलियत का ज्ञान हो जायगा। साधारणतः केवल एक रग के दिखलाई पडनेवाले इस द्रव मे आपको असख्य नन्हें-नन्हें ठोस जर्रे लगभग रगविहीन द्रव में तैरते हुए दृष्टिगोचर होंगे। यह रगविहीन द्रव वैज्ञानिकों द्वारा 'प्लाज्मा' (Plasma) कहलाता है, तथा उसमें के नन्हें-नन्हे चिपटे गोल आकार के ठोस जर्रे लाल कण (Red Corpuscles) कहलाते हैं। यदि इस रुधिर को कॉच के हलके पर्दे पर रखकर उस कॉच को दो-तीन बार उँगलियों से जरा हिला दें और तब अणुवीक्षण यत्र से इसका निरीक्षण करें तो ये लाल कण हमें एक दूसरे से अलग होते हुए दिखलाई पड़ेंगे, किन्तु पुन शीघ्र ही वे सिक्कों की गड्डियों की भाँति पक्तिबद्ध

हो जाएँगे जैसा कि चित्र से प्रकट है। ध्यान देने पर कुछ अन्य प्रकार के कण, जो लाल कणों से आकार में कुछ बडे होते हे, उन्हीं के बीच इधर-उधर दिखलाई पडते हैं। लाल कणों की अपेक्षा इनकी सख्या कम होती है। ये एक दूसरे से अलग-अलग रहते हैं तथा इनकी आकृति या रूपरेखा भी टेढी-मेढी होती है। शरीर के अन्तर्गत होनेवाली क्रियाओं के फलस्वरूप इनकी आकृति भी बराबर बदलती रहती है। ये श्वेत कण (White Corpuscles) कहलाते हें तथा अणुवीक्षण की दृष्टि-परिधि में दो चार की ही सख्या में ये दिखलाई पड़ते हे। इनके अतिरिक्त प्लाज्मा में तीसरे प्रकारके अत्यत छोटे एक और कोष भी पाये जाते हैं—ये कोष सबसे छोटे आकार के होते हैं। श्वेत कणों की अपेक्षा इनकी सख्या अधिक होती है और प्लाज्मा में ये इधर-उधर बिखरे रहते हैं। ये आसानी से दृष्टिगोचर नहीं होते। इसका कारण हमें आगे चलकर मालूम होगा। इन कणों को वैज्ञानिक रुधिर प्लेट या रुधिर प्लेटलेट् (Platelets) के नामसे पुकारते हैं।
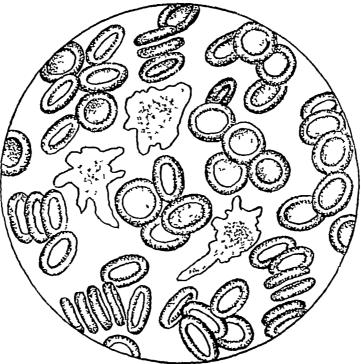
हमारे रुधिर में पाए जानेवाले और लाल श्वेत कण

ये अणुवीक्षण यत्र द्वारा रुधिर की बूँद का निरीक्षण करने पर देखे जा सकते हैं। लाल कणों की सख्या बहुत अधिक होती है और वे गोल चपटी मुद्राओं के आकार के होते हैं। श्वेत कणो की आकृति टेढी-मेढी होती है और वे लाल कणो के बीच इने-गिने दो-चार ही दिखाई पडते हैं। चित्र में दोनो प्रकार के कण प्रदर्शित हैं।

रुधिर के प्रति १०० भागों में ५५ भाग द्रव का होता है, और शेष ४५ भाग इन विभिन्न कणों का। प्राय. प्रति घन मिलीमीटर जगह में ५० लाख लाल कण, ५ लाख प्लेटलेट् और लगभग ५ हजार श्वेत कण मौजूद होते हैं। अत इनका परस्पर अनुपात लगभग १०००' १०० १ का रहता है। दूसरे शब्दों में प्रति श्वेत कण के पीछे लगभग १०० प्लेटलेट् और १००० लाल कण रुधिर में पाये जाते हैं। आकार में श्वेत कण सबसे बडे होते हे—लगभग १/१५०० इच, और प्लेटलेट् सबसे छोटे होते हें, इनका व्यास १/१०५०० इच के लगभग होता है। लाल कणो का आकार मध्यवर्ती है—करीब १/३२०० इच। अतएव रुधिर लाल रोशनाई की भाँति एक समागी घुला हुआ द्रव नहीं है। यह एक रगविहीन द्रव है जिसमें तीन प्रकार के ठोस कण तैरते रहते हैं। इनमें चूँकि लाल कणों की सख्या अत्यधिक होती है इसीलिए यह द्रव भी हमें लाल रंग का दिखलाई पड़ता है।

रुधिर का द्रव—प्लाज्मा

रुधिर का द्रव—प्लाज्मा—पानी-सरीखा एक द्रव है जिसमें अल्बूमीन (albumen) (जो कि मुख्य पौष्टिक तत्त्व है), अन्य एक अद्भुत पदार्थ जो फाइब्रिनोजन कहलाता है, कुछ चर्बीयुक्त पदार्थ, शर्करा, सोडियम तथा पोटैशियम के लवण एव यूरिया जैसे कुछ त्यागे हुए मल पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त ऑक्सिजन, नाइट्रोजन और कार्बन डाइ-आक्साइड नामक गैसें भी उसमे घुली हुई होती हैं। 'फाइब्रिनोजन' की मात्रा अत्यन्त ही कम होती है, अर्थात् केवल ०'२ प्रतिशत, यद्यपि रुधिर के थक्के बाँधने में यही पदार्थ काम देता है। वस्तुत प्लाज्मा के तरल भाग मे ९० प्रतिशत पानी, ८ से ९ प्रतिशत अल्बूमीनी या प्रोटीड पदार्थ, और १ या २ प्र० श० चर्बीयुक्त द्रव्य और अन्य चीजें तथा गैसें रहती हैं। अतः रुधिर का यह द्रव प्लाज्मा एक मिश्रण है जिसमे कुछ खाद्य पदार्थ, कुछ खनिज लवण, कुछ गैसें तथा त्याज्य मल पदार्थ घुले रहते हैं।

रुधिर मे खनिज लवण की उपस्थिति ही उसके स्वाद को कुछ खारा बनाती है। और उसमे जो एक खास प्रकार की गध आती है वह उसमे मौजूद उपर्युक्त अन्य पदार्थो के कारण ही होती है। प्रायः लोग कहते हैं कि हमारे रुधिर का स्वाद तेज़ाब की तरह खट्टा है, किन्तु यह बिल्कुल गलत बात है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो हमारा जीवित रहना सम्भव न था। वस्तुतः रुधिर क्षारीय होता है—यद्यपि अल्पांश मे ही—वह तेजाब की भॉति अम्लीय तो कभी नहीं होता।

ओपजनवाहक क्षुद्र लालकण

चिपटे गोल आकार के क्षुद्र लाल कण नन्ही प्यालेनुमा किश्तियो की भॉति हैं, जैसा कि पृ० २१२६ के चित्र मे दिखाया गया है। ये असख्य किश्तियॉ जब रुधिरधारा के उस मार्ग पर अग्रसर होती हैं, जो धमनी कहलाता है तो ये ऑक्सिजन तथा पोपक तत्त्वो से लदी रहती हैं, जिन्हें ये शरीर के प्रत्येक ततु तक पहुँचा देती हैं। इस समय उनके रक्त वर्ण के कारण हमारी रुधिर-धारा का रग भी लाल ही दिखाई देता है, किन्तु जब ये अपना बोझा ढो चुकती हैं तो वापस खाली हाथ नही लौटतीं, बल्कि शरीर का अनेक प्रकार का मल एव टूटे-फूटे कोषों का कूड़ा-कचरा लादकर शिराओं के रास्ते पुनः हृदय के पर्पिंग स्टेशन की ओर आती हैं। उस समय इनके रूप मे ललाई के बजाय कुछ श्यामता छा जाती है।

यद्यपि ये कण लाल कण कहलाते हैं, किन्तु अणुवीक्षण यत्र से देखने पर इनमें से प्रत्येक का रग पीला दीखता है। केवल समूह में ये लाल रग के दिखलाई पड़ते हैं, अतः रुधिर भी इन असंख्य कणों की वजह से मानों लाल रग धारणक र लेता है। चूॅकि इन्हें ओषजन ले जाने का काम करना होता है अतः अपने कार्य्य को दक्षतापूर्वक निभाने के लिये यह आवश्यक है कि गैस को शीघ्रता से जज्ब करने के लिये इनके धरातल का क्षेत्रफल तथा इनका समाव दोनों ही अधिकतम हों। ये दोनों ही बातें गणित के सिद्धान्त से परस्पर विरोधी हैं, क्योंकि अधिकतम धरातल तथा न्यूनतम समाव (आयतन) के लिए सबसे उपयुक्त आकृति चिपटे तवे जैसी होती है, और न्यूनतम् धरातल तथा अधिकतम समाव के लिए सबसे उपयुक्त आकृति गोले (sphere) की होती है। अतःस माव और धरातल दोनों को अधिकतम बनाने के लिए इन दोनों की मध्यवर्त्ती आकृति लेना आवश्यक है—न एकदम चिपटी और न पूर्णतया गोले की आकृति ही। इस प्रकार की आकृति उन्नतोदर ताल (लेन्स) की ही होती है। इसी कारण क्षुद्र योनि के रीढधारी जीवों से लेकर पक्षियों तक के समस्त जीवधारियों के रुधिर-कोष लेन्स की भॉति बीच में उभरे हुए तथा किनारे पर पतले होते हैं। इसी बीचवाले मोटे भाग मे कोष का केन्द्र (nucleus) होता है। किन्तु स्तनपायी जीवधारियो में, जिनमें मनुष्य भी शामिल है, इन कणो ने अधिक स्थान प्राप्त करने के लिए अपने घर के स्वामी—केन्द्र (nucleus)—का अस्तित्व ही मिटा दिया है। निस्सन्देह यह एक साहसपूर्ण कार्य है। अतः लाल कण मध्य में बहुत-कुछ खोखले हैं तथा इनका व्यास मुटाई से लगभग ४ गुना बडा है। वास्तव मे ये $\frac{१}{३२००}$ इच मोटे हैं और इनका व्यास है $\frac{१}{३२००}$ इच।

लाल कण इतने क्षुद्र आकार के तथा असंख्य क्यों हैं?

समूचे शरीर में ओषजन की पूर्ति करने का काम अच्छी तरह करने के निमित्त लाल कणों को वृहत् धरातल की जरूरत होती है। एक नियत आयतन के अन्दर इस शर्त को पूरी करने के लिए अनिवार्यतः इनकी सख्या अपरिमित तथा इनका आकार क्षुद्रतम होता है। २१३४ पृष्ठ पर दिए गए चित्रों से प्रकट है कि एक निश्चित आयतन को विभाजित करने पर उसके विभाज्य भाग जितने छोटे होंगे उतना ही अधिक धरातल उनसे प्राप्त होगा। लाल कणों के क्षुद्र आकार तथा उनकी अगणित सख्या के इस कारण के अतिरिक्त एक दूसरा कारण यह भी है कि इन्हें कैपीलेरी नामक बाल सरीखी बारीक रक्तवाहिनी नलिकाओं में से प्रायः एक-एक कण की लम्बी पंक्ति में गुजरना होता है।

इनके क्षुद्र आकार तथा अगणित सख्या का अनुमान आप कुछ मनोरञ्जक गणनाओं से लगा सकते हैं। हिसाब लगाया गया है कि एक बूँद मानव-रुधिर में जिसका आकार आलपिन के सिरे के बराबर ($\frac{१}{६२५}$ घन इञ्च या $\frac{१}{६२}$ घन मिलीमीटर) हो ५० लाख से भी अधिक लाल कण पाये जाते हैं। अर्थात् प्रत्येक घन इञ्च रुधिर में लगभग ८२०० लाख लाल कण मौजूद हे। इस प्रकार वयस्क मनुष्य के समूचे शरीर में २२०० से २२५० खरब तक इनकी सख्या पहुँचती है। वास्तव मे यह सख्या कल्पनातीत है, क्योंकि ईसा के जन्म से अब तक जितने सैकण्ड व्यतीत हो चुके हैं, उनकी सख्या भी १ खरब के १५ वें भाग तक मुश्किल से पहुँचती है। इन कणो के

आकार से हिसाब लगाया गया है कि यदि इन्हें एक-एक करके एक लम्बी पंक्ति में खड़ा किया जाय तो शरीर के समस्त लाल कणों से तैयार की गई पंक्ति २ लाख मील से भी अधिक लम्बी होगी और यह दूरी पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी की दो तिहाई है। इतनी लम्बी शृंखला पृथ्वी की विषुवत् रेखा पर तीन बार लपेटी जा सकती है और डाकगाड़ी इस लम्बे फासले को बिना कहीं रुके हुए १०० दिन में तय कर पायगी। यदि इन कणों को चौरस धरातल पर बिछा दिया जाय, तो ये ३३०० वर्ग गज धरातल घेरेंगे। इस प्रकार संसार के समस्त मनुष्यों के रुधिर के लाल कणों को बिछाकर पूरे भूमण्डल को ढका जा सकता है।

रुधिर में लाल रंग कहाँ से आया ?

शरीर के रुधिर के भार का लगभग आधा भाग लाल कणों का है। इन लाल कणों में ५७ प्रतिशत भाग जल का तथा ४३ भाग ठोस पदार्थ का होता है। ठोस पदार्थ मुख्यतः होमोग्लोबिन नामक द्रव्य होता है, जिसका प्रधान गुण यह है कि वह सरलतापूर्वक ओपजन ग्रहण कर सकता है तथा उतनी ही आसानी से उसे अपने में से निकाल भी सकता है। इसी होमोग्लोबिन में लोहा भी होता है—बल्कि शरीर भर में केवल इसी पदार्थ में लोहा मौजूद होता है। इस होमोग्लोबिन में लोहा तथा ओपजन के संयोग से ही रुधिर का गाढ़ा लाल रंग उत्पन्न होता है। जॉन रस्किन ने एक स्थान पर लिखा है कि "क्या यह अद्भुत बात नहीं कि यह कठोर तथा मजबूत धातु (लोहा) हमारे जीवन में इतनी घनिष्ठतम रीति से संयुक्त है कि हम लज्जित होने पर रक्ताभ भी इसकी सहायता के बिना नहीं हो सकते ?"

शरीर-कोषों को ओपजन दे देने के उपरान्त रुधिर के लाल कण अपना चटकीला लाल रंग खोकर अधिक गहरे जामुनिया रंग के हो जाते हैं तथा उनमें कुछ कालिमा-सी आ जाती है। हृदय, फेफड़े तथा रुधिर-संस्थानों का एकमात्र उद्देश्य यह होता है कि वे ओपजन को शरीर की विभिन्न पेशियों तक पहुँचाएँ। पेशियों में बनी हुई कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैस साधारणतः प्लाज्मा में घुल जाती है, केवल उसका थोड़ा-सा अंश लाल कणों में मिला रह जाता है। ओपजन के इस आदान-प्रदान तथा इसके फलस्वरूप उत्पन्न हुए परिवर्त्तनों का ही चित्रण इस लेख के आरम्भ में दिए गए चित्र में किया गया है।

लाल कोषों की रोमांचकारी जीवनचर्या

रुधिर का लाल कण केन्द्र (nucleus) से वंचित होने के कारण अपने लिए पौष्टिक तत्त्वों का निर्माण करके भरण-पोषण नहीं कर सकता, अतएव १५ से २० दिनों के भीतर ही इसका अत्यधिक कार्य्यशील जीवन समाप्त हो जाता है। लगभग तीन सप्ताह तक यह कण तीव्र गति से हमारे शरीर में भ्रमण करता रहता है, प्रति दिन (२५ सैकंड में एक चक्कर के हिसाब से) ३००० चक्कर यह लगाता है और इस तरह अपने लघु जीवन के तीन सप्ताह में यह शरीर के ६० हज़ार चक्कर लगा लेता है। तदुपरान्त इसकी मृत्यु हो जाती है और इसका शव शरीर के महान् समाधिस्थान 'तिल्ली' में पहुँचा दिया जाता है। यहाँ से लोहे के एक नन्हें नष्टप्राय कण के रूप में या तो यह यकृत में फेंक दिया जाता है, जहाँ यह पित्त को हरा रंग प्रदान करता है, या रुधिर-धारा की गन्दगी के रूप में यह श्वेत अमीबायड (Amoeboid) कणों द्वारा बहा ले जाया जाता है। ये श्वेत कण शरीर के भीतर की गन्दगी को दूर करने के लिए मानों भंगियों का काम करते हैं। इन पर आगे चलकर हम समुचित प्रकाश डालेंगे।

प्रतिदिन एक खरब लाल कोष मृत्युग्रस्त होकर धारा के प्रवाह में से अलग फेंक दिए जाते हैं, और इतनी ही संख्या में उनका स्थान ग्रहण करने के लिए नए कोषों का निर्माण होता है। इन नए कोषों की रचना कहाँ से होती है ? लाल कणों की रचना हड्डी की लाल मज्जा (marrow) में होती है। अपनी उत्पत्ति के समय ये गोल आकार के कोषों के रूप में होते हैं। इस अवस्था में प्रत्येक कोष के बीच एक केन्द्र मौजूद रहता है और जब तक वे पूर्ण रूप से बढ़ नहीं जाते, तब तक वे मज्जा में ही रहते हैं। इसी बीच वे अपने केन्द्र खो बैठते हैं, साथ ही अपने अंदर अति महत्वपूर्ण होमोग्लोबिन संचय करके वे लेन्स जैसी चिपटी आकृति धारण कर लेते हैं। हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण में एक करोड़ नवजात लाल कण हड्डियों के मज्जारूपी सुरक्षित बन्दरगाह से निकलकर उन कणों का स्थान ग्रहण करने के लिए बाहर निकलते हैं, जिनके शव रुधिर-धारा में बह चुके होते हैं। क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि हड्डी-सरीखी कठोर वस्तु इतने अतिशय कोमल कोषों का निर्माण करने में समर्थ होती है ?

इन ओपजनवाहक कणों के सम्बन्ध में एक और

दिलचस्प बात यह है कि विविध व्यक्तियों की आवश्यकतानुसार नये कणों की उत्पत्ति की संख्या भी घटती-बढती रहती है। जब हम किसी ऊँचे पहाड़ पर चढते हैं या वायुयान पर बैठकर ऊँचे आकाश में जाते हैं तो वहाँ हमें विरल वायु मिलती है और प्रत्येक बार श्वास लेने पर हमें अपेक्षाकृत कम मात्रा में ओषजन प्राप्त होती है। इस कारण वहाँ हमारे शरीर में कणों का आकार अपेक्षाकृत छोटा हो जाता है तथा उनकी संख्या बढ जाती है। कहते हैं कि १३ हजार फीट की ऊँचाई पर समुद्र के धरातल की अपेक्षा हमारे शरीर के लाल कणों की संख्या डेढगुनी हो जाती है।

हमारे शरीर रक्षक और सफ़ाई के जमादार अर्थात् श्वेत कण तथा प्लेटलेट

श्वेत कण सच्चे अर्थ में कोष कहा जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक के अन्दर उसका निज का केन्द्र रहता है। यह पदार्थों को अपने अन्दर जज्ब करने की सामर्थ्य रखता है और अपनी इच्छानुसार हर दिशा में भ्रमण करता है। यह आपने आकार को अभिवर्द्धित करके अपने को दो भागो में विभाजित भी कर सकता है। लाल कोषों के प्रतिकूल यह अपने अग को भीतर समेट भी सकता है तथा उन्हें कल्लो (Pseudopods) के रूप में बाहर की ओर निकालकर अपनी आकृति भी बदल सकता है। कभी यह एकदम गेंद की तरह गोल तो कभी लम्बी शक्ल धारण कर लेता है। ये कण मानव शरीर में स्वेच्छानुसार हर कहीं विचरण करते हैं। इसी कारण ये परिव्राजक कोष या 'अमीबाइड सेल'(Amoeboid cell)कहलाते हैं।

यह भी देखा गया है कि ये कण रक्त-संस्थानों की दीवालों को भेदकर पास के तन्तुओं तक पहुँच जाते हैं। ये विभिन्न प्रकार के होते हैं, जिनमें प्रत्येक अपना निज का महत्वपूर्ण काम पूरा करता है। ये रक्त-प्रवाह के मार्ग की रुकावटे दूर करते हैं—मानों सड़क पर झाड़ू लगानेवाले ये भगी हों। साथ ही ये ही हमारे शरीर-रक्षक का भी कार्य करते है।

जब कभी रोगी-कीटाणु हमारे शरीर में प्रवेश कर जाते हैं, तब श्वेत कण रक्तधारा से निकलकर उस अग मे पहुँच जाते हैं जहाँ पर रोग-कीटाणु मौजूद होते हैं, और शरीर की विभिन्न क्रियाओं की सहायता से ये उन रोग-कीटाणुओं को चारों ओर से घेरकर उनका भक्षण कर डालते हैं। कभी-कभी ये विजातीय द्रव्य श्वेत कणों द्वारा जज्ब नही किये जा सकते, ऐसी दशा में बाहर फेंक दिये जाते हैं। शरीर के अगों में या त्वचा पर चोट लगने पर भी इसी प्रकार की क्रिया सम्पन्न होती है। ये परिव्राजक कोष अगणित संख्या में उस स्थान विशेष पर दौड़कर पहुँच जाते हैं, और शत्रु-कीटाणुओं को परास्त कर उन्हें खा जाते हैं तथा मरे हुए अथवा विनष्ट तन्तुओं को अपने में जज्ब करके वहाँ की गन्दगी दूर कर देते हैं। फेफडे में पहुँचनेवाले धूलिकणों पर भी आक्रमण करके ये उन्हें खा जाते हैं। हड्डियों के निर्माण तथा रुधिर का थक्का बाँधने का काम भी इन्ही कणों द्वारा सम्पादित होता है।

श्वेत कण तथा प्लेटलेट (जिसका जिक्र आगे किया जा रहा है) लाल कणों से भिन्न काम पूरा करते हैं। ये हमारे शरीर की पुलिस, स्थल-सेना तथा जल-सेना सभी कुछ हैं, क्योंकि ये ही बाह्य पदार्थों तथा रोग-कीटाणुओं को गिरफ्तार कर उन्हें बाहर भगा देते हैं तथा तन्तुओं और रुधिर-धारा में निरन्तर घूम घूमकर पहरा देते हैं। यही धूल या गदगी को दूर करते तथा घायल अगों को पुनः स्वस्थ बनाते हैं। प्रकृति के आश्चर्यजनक सुप्रबंध के फलस्वरूप आकस्मिक विपदा का सामना करने के लिए श्वेत कणों की संख्या भी अपरिमित रूप से बढ जाती है। इस प्रकार विजातीय शत्रु से लोहा लेने के लिए इस शीघ्रगामी सेना की शक्ति बात की बात में बढायी जा सकती है। किन्तु कभी-कभी बाहर से आक्रमण करनेवाले इन कीटाणुओं की संख्या इतनी अधिक हो जाती है कि हमारे श्वेत कण रूपी रक्षक अपनी अधिकतम संख्या में भी इनका मुकाबला करने में असमर्थ रहते हैं, तभी हम रोगग्रस्त हो जाते हैं।

देखिए, एक श्वेत कण शरीर पर आक्रमण करने वाले रोग-कीटाणु को अपने में जज्ब करके किस प्रकार उसे खा जाता है।

श्वेत कणों का जीवन-काल चन्द सप्ताह में समाप्त

हो जाता है। इन मृत कणों का स्थान ग्रहण करने के लिए लिम्फ (Lymph) नामक अन्य एक द्रव से निरन्तर नए श्वेत कण रक्त में पहुँचते रहते हैं। इस नूतन द्रव लिम्फ के बारे में इस अध्याय के अन्तिम भाग में आप पढ़ेंगे।

रुधिर प्लेटलेट्

रुधिर में पाये जानेवाले रक्तकणों की यह तीसरी जाति है। लाल तथा श्वेत कणों के अनुसधान के बहुत दिनो बाद प्लेटलेटों का पता चला, क्योंकि ये इतने नाजुक स्वभाव के होते हैं कि प्रति बूँद रुधिर में ६ लाख से अधिक होते हुए भी ये इस तीव्र गति से अपना अग-विश्लेषण कर डालते हैं कि जब तक रक्त-बूँद को आप अणुवीक्षण यत्र के नीचे रखकर उसका निरीक्षण करें, तब तक इन ६ लाख कणों में से एक भी वहाँ मौजूद नहीं रहता। अत्यन्त सतर्कता से काम लेने पर ही रुधिर-कोषों के बीच-बीच दन्दानेदार हाशियेवाले या दीर्घ-वृत्ताकार आकृति के इन प्लेटलेटों को पहचाना जा सकता है। इनकी आकृति स्थिति के अनुसार कभी तवे सी चिपटी तो कभी अडे-जैसी दीर्घ-वृत्ताकार होती है।

रुधिर के लाल कणों को लालिमा प्रदान करनेवाले हेमोग्लोबिन नामक महत्त्वपूर्ण पदार्थ के रवे

ये अणुवीक्षण यत्र में जैसे दिखाई पडते है, उससे कई गुना परिवर्द्धित करके यहाँ दिखाए गए है।

नई वैज्ञानिक खोज के अनुसार प्लेटलेट् भी रोग-कीटाणुओं से हमारी रक्षा करते हैं तथा रुधिर का थक्का बँधने में सहायता देते हैं। दुर्घटनावश या जान-बूझकर जख्मी किए जाने पर जब रक्तवाहिनी नलिकाएँ कट जाती हैं तो इन्हीं प्लेटलेटों की बदौलत रुधिर जख्म के रास्ते से सबका सब नहीं बह जाता। जब प्लेटलेटों की सख्या कम होती है या वे बिल्कुल ही अनुपस्थित होते हैं, तब प्राय. तरह-तरह की सूजन हमारे अगों मे पैदा हो जाती है। इसीलिए जब कभी हमें भोजन के रूप मे विटामिनयुक्त चर्बीवाले पदार्थ नहीं मिलते, तब हमारे रुधिर मे प्लेटलेटों की संख्या फौरन् ही कम हो जाती है और हमारे शरीर में जगह-जगह फोडे-फुंसियाँ फूट-फूटकर निकलने लगती हैं। दूध, मक्खन या काडलिवर तेल के रूप में पुनः विटामिन ग्रहण करने पर प्लेटलेटों की सख्या फिर से पूर्ववत् बढ़ जाती है और सूजन तथा फोडे-फुन्सियाँ भी मिट जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य्य-रश्मियों के अभाव से भी प्लेटलेटों की सख्या गिर जाती है। अँधेरे में रखे जानेवाले जानवरों के रुधिर में प्लेटलेटों की सख्या अपेक्षाकृत कम हो जाती है, जिसके फलस्वरूप वे निर्बल तथा सुस्त पड़ जाते हैं। धीरे-धीरे सूर्य-रश्मियों के पुनः ससर्ग से उनके रुधिर में प्लेटलेटों के इन विचित्र कोषों की सख्या फिर पूरी हो जाती है और पुन. पिछले स्वास्थ्य और शक्ति को वे प्राप्त कर लेते हैं।

रुधिर का थक्का बँधना

अब हम रुधिर के थक्का बँधने की महत्वपूर्ण क्रिया पर प्रकाश डालेंगे, क्योंकि यह क्रिया मनुष्य की जीवन-रक्षा के लिए अत्यावश्यक है, अन्यथा रक्तवाहिनी नली, तन्तु आदि के कट जाने पर या गहरी चोट लगने पर रक्त का प्रवाह सभवतः कभी भी न रुक पाता।

यह सभी के अनुभव की बात है कि ताजे रुधिर की बूँदें पूर्णतया तरल होती हैं, किन्तु शरीर से बाहर निकलने के तीन या चार मिनट के भीतर ही रक्त इतना गाढा हो जाता है कि वह बह नहीं सकता। इसी क्रिया को थक्का बँधना कहते हैं। इस क्रिया में श्वेत कण, प्लेटलेट तथा प्लाज्मा मे मौजूद कुछ अन्य पदार्थ भाग लेते हैं। प्लेटलेटों की विशेषता यह है कि रुधिर-सस्थानों से बाहर आते ही उनके केन्द्र (nuclei) विभाजित हो जाते हैं। तब प्रोटोप्लैज्म में एक फेन-सा उठता है तथा कोष एक दूसरे से सयुक्त होकर एक हो जाते हैं। इसी बीच मानो जादू के जोर से अकस्मात् कुछ रेशे रुधिर मे प्लेटलेटों के पर्दों के बीच-बीच प्रकट हो जाते हैं और उन्हें बारीक जाली की भाँति चारों तरफ से ढक

एक इच लबी भुजावाले इस समचतुर्भुज पिण्ड के धरातल का आजू-बाजू तथा ऊपर-नीचे का कुल क्षेत्रफल ६ वर्ग इच होता है।
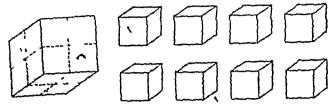
यदि उपर्युक्त पिंड को हम इस प्रकार विभाजित करें तो हमें आधी-आधी इच लबी भुजावाले आठ समचतुर्भुज पिण्ड मिलेंगे, जिनके समूचे धरातल के क्षेत्रफल की जोड १२ वर्ग इच होगी।
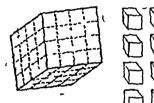
उक्त आठो खण्डो को यदि पुनः हम ऊपर लिखे अनुसार विभाजित करें तो पाव इच लबी भुजावाले कुल मिलाकर ६४ समचतुर्भुज पिण्ड बन जाएँगे, जिनके समूचे धरातल की जोड २४ वर्ग इच होगी। गणित के नियमो के इस चमत्कार को समझकर रुधिर के लाल कणों की छोटी आकृति तथा अपरिमित सख्या का रहस्य अच्छी तरह हमारी समझ में आ जाता है। इस तरकीब द्वारा प्रकृति ने इन कणों को निश्चित् घनत्व ही में अधिक धरातल प्रदान कर अधिकाधिक ऑक्सिजन ग्रहण करने योग्य बना दिया है।

लेते हैं। ये कोष तथा रक्त के लाल कोष एक दूसरे से सम्बद्ध होकर चिपचिपी 'जेली' (jelly) सरीखा रूप धारण कर लेते हैं। तरल द्रव या तो बाहर धरातल पर पसीज आता है या भीतर ही कोषों और रेशो के बीच फँसा रहता है। अब वह बह नहीं सकता। इस प्रकार उसका थक्का बँध जाता है। किन्तु प्रश्न तो यह है कि ये रेशे आते कहाँ से हैं?

रक्त के प्लाज्मा में चूना (lime) तथा अन्य एक पदार्थ फायब्रिनोजन (Fibrinogen) सदैव मौजूद रहता है। इसके अलावा श्वेत रक्त-कणों में एक और अद्भुत पदार्थ प्रोथ्रोम्बिन (Prothrombin) वर्तमान रहता है। जब रक्त-सस्थानों को चोट पहुँचती है, केवल तभी यह पदार्थ रक्त में घुले हुए चूने के ससर्ग में आता है और तब थ्रोम्बिन या थ्रोम्बोजेन (Thrombogen) बनता है, जो फायब्रिनोजन के साथ रासायनिक क्रिया करके उसे ठोस फायब्रिन रेशों में परिवर्त्तित कर देता है। ये सभी क्रियाएँ बड़ी तीव्र गति से सम्पादित होती हैं, क्योंकि करीब तीन मिनट के अन्दर-अन्दर रक्त का थक्का बँध जाता है। इस प्रकार रक्त की फटी हुई थैलियों का मुँह बन्द हो जाता है और उसका प्रवाह रुक जाता है। यान्त्रिक या रासायनिक उपचार इस क्रिया के अधिक जल्दी होने में ही सहायता पहुँचाते हैं, किन्तु वस्तुतः प्रत्येक दशा में प्लेटलेट् की मदद अनिवार्य है।

कुछ ऐसे व्यक्ति भी पैदा होते हैं, जिनके रुधिर में थक्का बँधने की शक्ति नहीं होती और यदि उनके शरीर के किसी अग में कट जाने के कारण चोट पहुँचे तो रक्त का प्रवाह निरतर जारी रहता है—रुकता ही नहीं। कदाचित् उनके रुधिर में या तो प्लेटलेट् बिल्कुल ही नहीं होते या उनकी सख्या अपर्य्याप्त होती है। उनकी इस कमी को हेमोफीलिया (Haemophilia) की बीमारी के नाम से पुकारते हैं। यह हमारे लिए सौभाग्य की बात है कि साधारणतः रक्त-सस्थानों में हमारे रक्त के गाढा होने या थक्का बँधने की सम्भावना नहीं रहती, अन्यथा, हम जीवित ही नहीं रह सकते। साथ ही यह भी कम सौभाग्य की बात नहीं है कि चोट लगने के थोडी ही देर के भीतर रक्त का थैलियो के बाहर थक्का बँध जाता है और इस प्रकार रक्त के अतिशय प्रवाह के कारण मृत्यु होने से हम बच जाते हैं।

लिम्फ (Lymph)

रुधिर-धारा से घनिष्ट सम्बन्ध रखनेवाला एक और महत्त्वपूर्ण द्रव हमारे शरीर के तन्तुओं मे नन्हीं थैलियों में बन्द पाया जाता है। इस द्रव को वैज्ञानिक लिम्फ (Lymph) के नाम से पुकारते हैं। यह एक पारदर्शक तथा हलके पीले रग का द्रव है, जो त्वचा के चोट खाने पर तुरन्त ही रिसता है। अनुमान किया जाता है कि क्षुद्र नलियों (capillaries) की दीवालो मे से होकर रक्त के द्रव पदार्थ के निकलने से इसका निर्माण होता है। शरीर

के तमाम अंगों से लिम्फ धीरे-धीरे रिसकर लिम्फैटिक थैलियों में आता है, जो नन्हीं-नन्हीं गोल या अण्डाकार गिल्टियों में से होकर निकलती हैं। ये गिल्टियाँ बगल, जघा, घुटनों के पीछे तथा जबड़ों के नीचे, फेफड़ों की जड़ में तथा आमाशय में होती हैं।

ये गिल्टियाँ मटर के दाने से लेकर बादाम तक के आकार की होती हैं तथा अनेक कोषों एव रेशेदार तन्तुओं से बनी होती हैं, जिस प्रकार कि नलियों में बन्द श्वेत रक्त कण। इन कोषों की सख्या निरन्तर बढती रहती है और इनमें से कुछ लिम्फ के साथ चले जाते हैं जो गिल्टियो में बहता रहता है। अत में इन लिम्फैटिक थैलियों का द्वार शिराओं से मिल जाता है। इस प्रकार गिल्टियों से निकलकर लिम्फ के साथ श्वेत कोष रुधिर में पहुँच जाते हैं। अत' इसी क्रिया के अनुसार लिम्फ से श्वेत कण रुधिर में पहुँचते हैं।

रोग कीटाणु (घ) हमेशा वातावरण में मौजूद रहकर हमारी त्वचा (च) से टकराते रहते हैं। जब किसी दुर्घटनावश ऊपरी चमड़ी के कटने से हमारे शरीर में घाव हो जाता है तो तुरत रक्त में थ्रोम्बिन पैदा हो जाता है और फायब्रोजन के ठोस फायब्रिनो में परिणत होने की क्रिया द्वारा घाव के ऊपर रक्त का थक्का बँध जाता है, साथ ही श्वेतकण घाव को दुरुस्ती में लग जाते हैं।

विषाक्त गैसों का प्रभाव

दुर्भाग्यवश कार्बन मानोक्साइड नामक गैस (जब कोयला परिमित वायु में जलता है, तब यह गैस उत्पन्न होती है) रुधिर के रगीन पदार्थ होमोग्लोबिन में आक्सिजन की अपेक्षा १४० गुना अधिक मात्रा में जज्ब हो जाती है और फलतः रुधिर का रग मनोहर चटकीला लाल (cherry red) हो जाता है। साथ ही कार्बन मानोक्साइड एव रुधिर का सयोग इतना घनिष्टतम होता है कि वे आसानी से अलग नहीं किये जा सकते। यदि कोई व्यक्ति बन्द कमरे में सो रहा हो, जिसमें कोयला जल रहा है, तो वह श्वास लेने की क्रिया में आक्सिजन तथा कार्बन मानोक्साइड दोनो ही फेफड़ों में खींचेगा। प्रत्येक बार श्वास लेने में कार्बन मानोक्साइड आक्सिजन की अपेक्षा १४० गुना अधिक मात्रा मे रुधिर के लाल कणों में जज्ब होगी और इस प्रकार उन्हें बेकार बना देगी। ज्यों-ज्यों अधिक सख्या में स्वस्थ तथा शुद्ध लाल कोष फेफड़े के ससर्ग में आते जायँगे त्यों-त्यों इस दूर न किये जा सकनेवाले विजातीय बोझ से वे लदते चले जायँगे। फलस्वरूप वे मरे हुए कोषों से किसी अर्थ में बेहतर नहीं रह पायँगे। इस प्रकार आक्सिजनवाहकों की कमी हो जाने के कारण इस व्यक्ति का दम घुटने लगेगा। तब उसके मस्तिष्क का श्वास-परिचालन-सम्बन्धी केन्द्र छाती के श्वसन-यत्र को आदेश देगा कि 'गहरी साँस लो'। पर जब नींद में पड़ा हुआ व्यक्ति इस आदेश का पालन करेगा तो यह शत्रु गैस उसके फेफड़ो में और भी अधिक मात्रा में पहुँचने लगेगी, यहाँ तक कि जीवनप्रदायिनी आक्सिजन गैस की कमी के कारण वह महसूस करने लगेगा कि उसका गला घुट रहा है और उसकी नींद खुल जायगी। किन्तु बहुधा ऐसा तभी होता है जबकि दशा औषधि उपचार के परे हो जाती है, मनुष्य के मस्तिष्क में विष मिल चुका होता है, उसकी इन्द्रियो की शक्ति शिथिल हो चुकी होती है और स्मरण-शक्ति भी नष्ट हो चुकी होती है। फलत' उसे सुधि नहीं रहेगी कि वह कहाँ पर है। वह बिस्तर से उठकर कमरे में बेसुध शराबी की भाँति लडखड़ाकर गिर पडेगा और कमरे से बाहर निकल सकने के पूर्व ही उसका दम टूट जायगा।

काला सुवर्ण !

कोयला इस युग का केवल प्रधान इंधन ही नहीं, प्रत्युत तारकोल, सापट कोक, कोल गैस, ग्रेफाइट, अमोनिकल द्रव, बेंजोल, पिकरिक ऐसिड, एन्थ्रसीन तेल, कार्बोलिक ऐसिड, आदि-आदि दर्जनो अति महत्त्वपूर्ण पदार्थो का जन्मदाता भी है। बाईं ओर के मानचित्र में यही दिग्दर्शित किया गया है कि १०० टन खनिज कोयले से हमें क्या-क्या वस्तुएँ मिलती है। नीचे के चित्र में मालगाडियो में लदकर कारखानो को जा रहे यन्त्रयुग के इस अति मूल्यवान् काले रग के सुवर्ण का दृश्य है। यदि यह इंधन यन्त्रों और कारखानो को न मिले तो कानपुर, अहमदाबाद, बबई और कलकत्ता जैसे हमारे उद्योग-केन्द्र बिल्कुल उजड जाएँ और हमारी रेलगाडियो तथा जहाजो को भी सदा के लिए अवकाश ग्रहण कर लेना पडे।
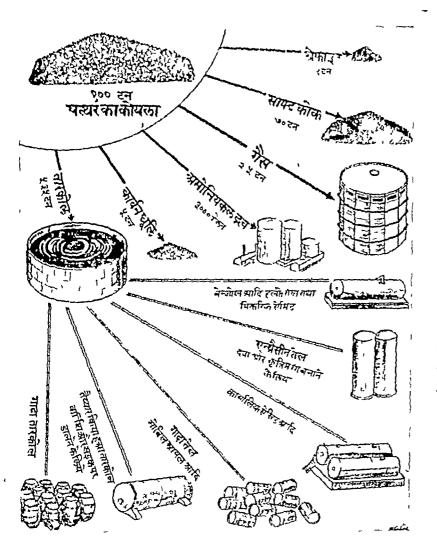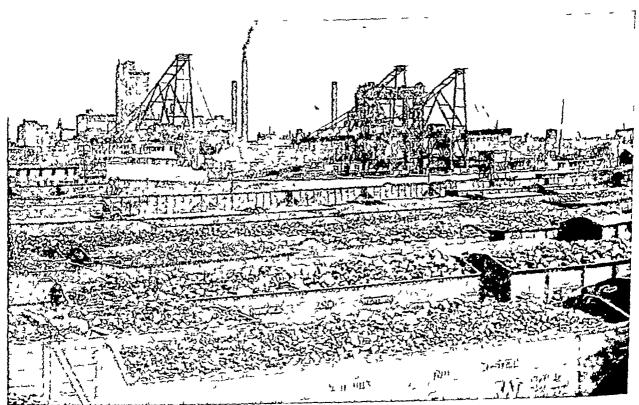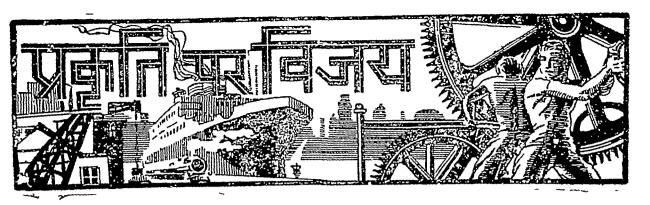
यंत्र-युग का सबसे महत्त्वपूर्ण ईंधन—कोयला

यदि आज पृथ्वी से खनिज कोयला एकाएक गायब हो जाय तो हमारे कारखानों, मिलों, जहाजों और रेलगाड़ियों की क्या दशा हो! सचमुच ही कोयला इस यन्त्र-युग के लिए सोने से अधिक मूल्यवान् है।

बीसवीं शताब्दी के इस यन्त्र-युग के निर्माण में खनिज कोयले का स्थान सर्वोपरि है। पृथ्वी के गर्भ से कोयले को निकाले हुए दो सौ वर्ष से अधिक नहीं हुए, किन्तु इतने थोड़े समय में ही कोयले की सर्वत्र धाक जम चुकी है। कोयले और लोहे ने मिलकर आज संसार में औद्योगिक क्रान्ति मचा दी है।

रोजमर्रा के कामों में हम कोयले का उपयोग करते हैं। खाना पकाते समय चूल्हे में भी हम कोयला जलाने लगे हैं। हलवाई भी भट्ठियों में कोयला जलाता है। और लोहार तो बरसों से कोयले की आग में ही लोहा गलाता रहा है। यही नहीं, लम्बी-लम्बी रेलगाड़ियाँ भी कोयले ही के बल पर द्रुत वेग से देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक दौड़ती हैं।

यदि और कुछ नहीं तो कम-से-कम अपनी लम्बी आयु के कारण ही कोयला हमारे लिए समुचित आदर का पात्र है। उसके एक छोटे से टुकड़े को, जिसे आप अँगीठी में जलाते हैं बनने में करोड़ों वर्ष लगे हैं, और जिस रूप में आप उसे आज देखते हैं इस रूप को धारण किये हुए भी उसे कई लाख वर्ष हो चुके हैं। इस प्रकार युगों की धूप और वर्षा की कहानी तथा घने वनों के पृथ्वी के गर्भ में विलीन होने की एक अतीव अद्भुत कथा कोयले के इतिहास में निहित है।

यदि आप शीशम की लकड़ी और पत्थर के कोयले को लें और किसी वैज्ञानिक से इनका विश्लेषण कराएँ कि इन दोनों पदार्थों में कौन-से मूल पदार्थ मौजूद हैं तो वैज्ञानिक आपको बतलाएगा कि दोनों वस्तुओं में कार्बन, आक्सिजन, नाइट्रोजन और हाइड्रोजन यह चार मूल पदार्थ पाए जाते हैं। कोयले में केवल कार्बन का अंश अपेक्षाकृत अधिक होता है। किन्तु इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं, क्योंकि कोयला भी लकड़ी से ही बना है। इस क्रिया में लकड़ी पर मिट्टी का दबाव पड़ने से तथा असह्य गर्मी के कारण उसकी आक्सिजन, नाइट्रोजन और हाइड्रोजन का बहुत-सा हिस्सा निकल गया है, केवल कार्बन शेष रह गया है।

योरप की एक कोयले की खदान के सिरे पर प्रस्थापित शैफ्ट के शीर्ष भाग का भव्य दृश्य

भूतत्त्ववेत्ता हमें बताते हैं कि आज से करोड़ों-लाखों वर्ष पूर्व पृथ्वी के अनेक भाग लम्बे-लम्बे

भूगर्भशास्त्रियो के अनुसार कार्बोनीफेरस नामक युग में आज से करोडो वर्ष पूर्व पृथ्वी पर ऐसे ही विशाल वृक्षो के वन खडे थे जो कालान्तर में मिट्टी की तहो में दब गए। उन्हीं के तने की लकडी भौगर्भिक गर्मी तथा लाखो वर्ष की रासायनिक क्रिया के फलस्वरूप क्रमश कोयला बन गई।

विशालकाय वृक्षों और झाड़ियों के घने जगलों से ढके थे। गर्मी और वर्षा के कारण इन घने जगलों में ये झाड़ियाँ सड़-गलकर दलदल-सी बन गई। इस तरह तनो, टहनियों और पत्तियो के कूड़ा-कर्कट की कई फीट मोटी तह बन गई। इस अरसे में जगल की जमीन बराबर नीचे को धँसती रही। नतीजा यह हुआ कि पास-पड़ोस की झीलों से, नदी से या समुद्र से पानी बहकर वहाँ आने लगा। इस पानी के साथ आई मिट्टी की एक पतली तह भी उसके ऊपर जमा हो चली। कुछ दिनो के बाद इस नई मिट्टी पर भी नये जंगल उग आए, फिर मिट्टी नीचे को धँस चली, और आखिर वह जलमग्न हो गई। प्रायः बीसियों बार इस क्रिया की पुनरावृत्ति हुई। इस तरह पेड़-पौधो की अनेक तहे जमीन के नीचे दब गई। कालान्तर में जमीन के दबाव और गर्मी के कारण इनमें अनेक रासायनिक परिवर्त्तन हुए और इन्होने कोयले का रूप धारण कर लिया यही कारण है कि कोयले की खानो मे अनेक तहें मिलती हैं। इन्हें 'सीम' कहते हैं और इन तहो के दर्मियान मिट्टी और बालू की तहें पाई जाती हैं। कोयले की ये तहें कई फीट मोटी होती हैं। हमारे देश मे झरिया और रानीगज की खानों में कोयले की कुछ तहें २७ फीट तक मोटी पाई गई हैं। झरिया की खानों मे कोयले की बीस भिन्न-भिन्न तहें हैं, जिन्हे एक दूसरे से जलज शिलाएँ अलग करती हैं। किन्तु कहीं-कहीं दो या दो से अधिक तहे मिलकर एक भी हो गई हैं।

कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि भूचाल के कारण पृथ्वी की ऊपरी पपड़ी टूट गई और शिलाएँ ऊपर-नीचे हो गई। ऐसी हालत मे पृथ्वी के अन्दर दबी हुई कोयले की चट्टानें प्रायः ऊपरी सतह पर आ जाती हैं, और तब उन तक पहुँचने के लिए हमें गहरी खानें नहीं खोदनी पड़ती। इस तरह का कोयला इँगलैंड में कई स्थानों पर नदी के किनारे चट्टानों मे मिलता है। अक्सर पहाड़ों के ढाल मे भी कोयला पाया जाता है।

परिस्थितियों के अनुसार कोयले के गुण में भी अन्तर आ जाता है। मुख्यतः चार भिन्न-भिन्न तरह के कोयले हमें मिलते हैं। कोयले का सर्वप्रथम रूप 'पीट' कोयला है। यह प्रायः दलदलों मे वनस्पतियों के एकत्र होकर जल में सड़ने और गलने से बना करता है। यह छूने में मुलायम और भूरे रग का होता है। इसमें अक्सर उद्भिज पदार्थों के रेशे पाये जाते हैं। सच तो यह है कि 'पीट' को अध-कचरा कोयला कह सकते हैं। इसके बाद लिग्नाइट—भूरे कोयले—का नम्बर आता है। यह भी पूर्णरूप से तैयार हुआ कोयला नहीं है। इसमें पानी का अश ज्यादा रहता है। जलने मे यह बहुत धुआँ देता है और अन्य कोयलों से हल्का भी होता है, किन्तु इस कोयले का सबसे बड़ा अवगुण यह है कि यह शीघ्र चूर-चूर हो जाता है। इस कारण इसके कण अधिकाश धुएँ के रूप में हवा मे उड़कर व्यर्थ में नष्ट हो जाते हैं।

खानो मे सबसे अधिक कोयला 'बिटुमिनस' श्रेणी का पाया जाता है। इसका रग काला होता है और जलते समय यह 'लिग्नाइट' से कम धुआँ भी देता है। यह लिग्नाइट

की अपेक्षा दबाव ज्यादा खाए रहता है, अतः इसमें से हाइड्रोजन का बहुत-सा अंश निकल चुका होता है। किन्तु फिर भी काफी मात्रा में हाइड्रोजन इसमें मौजूद रहती है, अत: जलते समय इसमें चटकीली लौ निकलती है।

इसके बाद कोयले की सबसे उत्तम जाति 'एन्थ्रासाइट' की है। यह क़रीब-क़रीब शुद्ध कार्बन होता है, अतः धीरे-धीरे बिना लौ या धुएँ के यह जलता है और जलने पर बहुत कम राख इसमें से निकलती है। शुरू में 'एन्थ्रा-साइट' कोयला देर में आग पकड़ता है। किन्तु इसकी आँच बहुत ही तेज होती है और कच्ची धातुओं के गलाने के लिए प्राय: इसका उपयोग किया जाता है।

एन्थ्रासाइट कोयले में ९५% कार्बन होता है। शेष ५% में आक्सिजन, नाइट्रोजन और हाइड्रोजन होती हैं। युगों के दबाव से ये शेष ५% गैसें भी निकल जाती हैं और फलतः हमें 'ग्रेफाइट' मिलता है। यह क़रीब-क़रीब पूर्णत. शुद्ध कार्बन होता है, अतएव यह जलता नहीं। पेंसिलों में ग्रेफाइट का ही प्रयोग होता है। कार्बन ही के अन्य एक रासायनिक रूप हीरे का स्थान इससे भी ऊँचा है। यह एकदम शुद्ध कार्बन होता है। इस तरह हम देखते हैं कि एन्थ्रासाइट कोयले से दो ही सीढी ऊँचे चढ़ने पर हमें हीरा मिलता है।

कोयला नये युग की देन है। प्राचीन काल में कोयले का नाम भी कोई नहीं जानता था। परन्तु आज सभी कारो-बारी प्रान्तों में कोयले का ही बोलबाला है। लोहे के कारखाने, बड़ी-बड़ी फैक्टरियाँ, लम्बी-लम्बी रेलें, जहाज, सभी कुछ कोयले के बल पर चलते हैं। कोयले पर मनुष्य ने किस तरह विजय प्राप्त की, यह एक मनो-रंजक कहानी है। स्वयं हमारे देश में रानीगंज और झरिया की ख़ानों से लाखों टन कोयला प्रति वर्ष निकाला जाता है। इँगलंड की न्यूकैसिल की कोयले की खानों से तो करोड़ों टन कोयला प्रति वर्ष बाहर निकलता है। किंतु इन खानों के निर्माण में मनुष्य को भारी क़ीमत चुकानी पड़ी है। कोयला खोदने के आधुनिक ढंग के विकास के इतिहास में तरह-तरह की अड़चनों पर विजय प्राप्त करने की एक लम्बी कहानी निहित है। कोयले की खोज में मनुष्य को ऐसे क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ा, जिसके बारे में उसकी जानकारी नहीं के बराबर थी—हमारा अभिप्राय पृथ्वी के गर्भ से है। इस रास्ते में हर एक मंज़िल पर नई-नई आफतों का सामना करना पड़ता था। अतः हर एक नई जानकारी और अनुभव के लिए महँगे दाम चुकाने पड़े। किसी की जान गई तो किसी की हड्डी-पसलियाँ टूट गईं। पहले शुरू में कोयला निकालने के लिए जहाँ कहीं कोयले की 'सीम' जमीन के निकट थी, खोह की तरह सुरंगें खोदी गईं और उसी तह को खोदते हुए लोग तिरछे जमीन के अंदर घुसते थे। उन दिनों औरत और बच्चे तक पीठ पर कोयला लादकर बाहर ले आते थे। किन्तु जरा गहराई
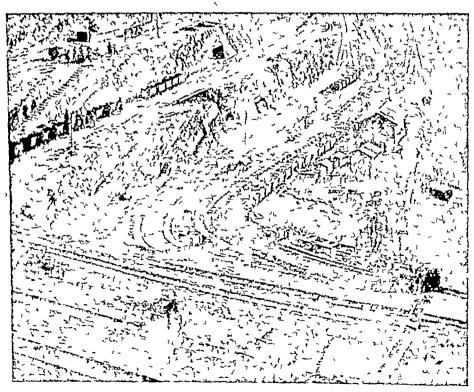
कई स्थानों में भूकंप या अन्य भौगर्भिक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप पृथ्वी के ऊपरी स्तरों के उलट-पुलट हो जाने से कोयले की दबी हुई चट्टानें ऊपर निकल आई हैं। ऐसी जगहों में गहरी खानें खोदने की आवश्यकता नहीं पड़ती बल्कि ऊपर ही से कुछ खुदाई करके कोयला निकाला जाता है। प्रस्तुत चित्र में कोयले की ऐसी ही एक खुली खदान का दृश्य है।
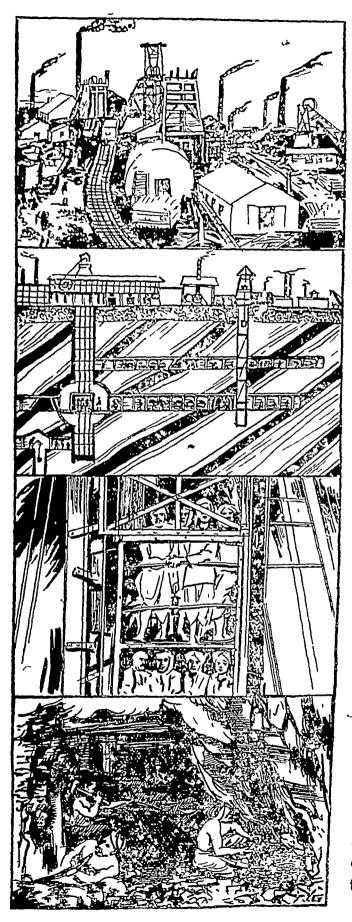
तक पहुँचने पर खान के अन्दर जब पानी मिलने लगा, तभी दिक्क़तों का श्रीगणेश हुआ। थोड़े दिनों उपरान्त नीचे की तहों तक पहुँचने के लिए जब सीधी, एकदम कुएँ की तरह सुरगें खोदी जाने लगीं तब तो पानी और अधिक मात्रा मे मिलने लगा।

इस पानी के निकालने के लिए पहले तो मामूली पुर की मदद ली गई, फिर रहट की सहायता ली, किन्तु ये तरीके कार्यकर साबित न हुए। इङ्गलैंड की कितनी ही खानें जलमग्न हो गईं। पानी की आफ़त से खानों की रक्षा करने मे लोग बेबस थे। बड़े-बड़े मस्तिष्क इस मुश्किल के हल करने में लगे हुए थे। आखिर १८वीं शताब्दी के आरम्भ में ही इङ्गलैंड के एक इञ्जीनियर न्यू कामेन ने एक ऐसे इंजिन का आविष्कार किया जो खान से पानी को तेजी के साथ उलीच सके। तदुपरान्त कोयले से चलनेवाले इंजिन भी बनाए गए, जिन्होंने पानी की समस्या को हमेशा के लिए हल कर दिया। इन वाष्प-इंजिनों का हाल आप पढ़ ही चुके हैं।

कभी-कभी जमीन के अन्दर पानी से भरा हुआ दलदल भी मिलता है, और उस दशा मे खान खोदते समय पानी को बाहर ही रोकना नितान्त आवश्यक होता है। ऐसी हालत में जिस जगह दलदल मिलता है, वहाँ दो विशालकाय पीपे एक के भीतर दूसरा गला देते हैं और उन पीपों के बीच के दलदल को आधुनिक तरीके से ठंडा करके जमाकर बर्फ़-सा कड़ा बना देते हैं, तभी खुदाई का काम पूर्ववत् जारी रक्खा जा सकता है। अब इस जमे हुए दलदल की मिट्टी को खोदकर बाहर निकाल देते हैं और उसी जगह सीमेन्ट और पत्थर की पक्की दीवाल खड़ी कर देते हैं। खान खोदते समय जहाँ-कहीं दलदल या पानीवाली मिट्टी मिलती है, उतनी दूर 'शैफ्ट' की दीवालों को चूने-पत्थर से पक्की कर देते हैं।

कोयले की कहानी—(१)

ऊपर, एक कोयले की खदान के सिरे पर का दृश्य है, जहाँ से धरती के भीतर खदान में उतरने का रास्ता है। तदुपरांत मानचित्र द्वारा यह दिखाया गया है कि किस प्रकार जमीन से सैकड़ों फीट नीचे खदान में सुरगें बनाई जाती हैं और उनके रास्ते कोयला खोदकर ऊपर पहुँचाया जाता है। इसके बाद एक शैफ्ट के रास्ते लिफ़्ट में बैठकर नीचे को उतर रहे और अंत में खदान में कोयला खोदते हुए मजदूर दिखाई दे रहे हैं।

ज्यों-ज्यों खानें गहरी होती गईं, नई-नई दिक्कतें सामने आने लगीं। खान के अन्दर ऐसी गैसें मिली जो ज़रा सी चिनगारी देखते ही भभक कर विस्फोट कर जाती हैं। बीसियों बार उन गैसो के विस्फोट होने से खानों में धड़ाका हुआ और सैकड़ो जानें गईं। इसके अतिरिक्त खान के भीतर ताजी हवा का पहुँचाना, कोयले को खोदकर काफी मात्रा में बाहर मशीन से निकालना, ये सभी समस्याएँ एकाएक सामने आ खड़ी हुईं।

पहले खान के गर्भ में विस्फोटक गैसों को बाँस के किनारे पर मशाल लगाकर विस्फोट करा लेते थे तब खान मे काम करनेवाले लोग घुसते थे। किन्तु यह तरीक़ा कुछ अधिक सतोषजनक न था। खानों के मैनेजर बराबर आग लगने से बहुत ही परेशान रहते थे। आखिर सर हैम्फ्री डैवी, जो उस समय के एक प्रमुख वैज्ञानिक थे, बुलाकर लाये गए। उन्होंने खानों का निरीक्षण किया और इस आफत से मज़दूरों की रक्षा करने के लिए उन्होंने 'डेवी सेफ्टी लैम्प' का आविष्कार किया। यह लैम्प अब भी खानों के अन्दर काम में लाया जाता है। यह दीपक इस सिद्धात पर बना है कि धातु की पतली तार की जाली मे से होकर इतनी गर्मी बाहर नहीं जा सकती कि बाहर की गैसो को वह विस्फोट कर सके। सेफ्टी लैम्प में इसी कारण पतले तार की जाली की चिमनी लगी रहती है। सर हैम्फ्री डैवी ने इस लैम्प के आविष्कार से हजारों-लाखों व्यक्तियों की जान बचाई है।

कोयले की चट्टानों को खोदते समय भी कभी-कभी चिनगारियाँ निकलती हैं, जिनसे गैसों के विस्फोट होने का अन्देशा रहता है, अत. खानों मे पानी का छिड़काव प्रचुरता से किया जाता है। किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी खान में काम करने वालों की हमेशा एक टाँग मानो क़ब्र मे रहती है। सम्भव है, कार्बन डाइआक्साइड, कार्बन मानोक्साइड या मार्श

कोयले की कहानी—(२)

ऊपर, एक आधुनिक ढग की खान में मजदूर मामूली कुदाल के बदले समुन्नत वर्मी विशेष से चट्टान तोड रहा है। तदुपरान्त, विना आदमी को मददसे अपने आप चलनेवाली कोयला खोदने की एक मशीन का चित्र है। इसके बाद लदान में से पानी निकालने का पम्प दिखाया गया है और सबसे नीचे मजदूर खोदी गई सुरग में बल्लियां और शहतीरें लगाते हुए दिखाई दे रहे है।
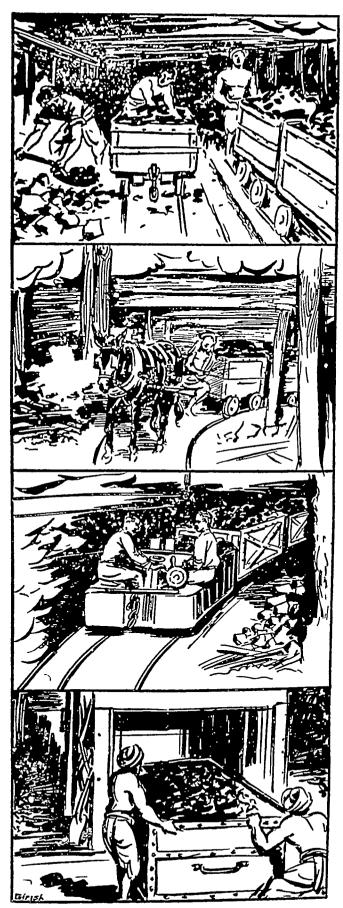
गैस के जहर से उनका दम घुट जाय, या खान की छत बैठने से जिन्दा ही वे वहीं दफन हो जायँ। प्रति क्षण खान के मजदूर को अपनी जान का खतरा बना रहता है।

अकेले इङ्गलैंड मे क़रीब ८॥ लाख व्यक्ति खानों में काम करते हैं, जिनमें १२००-१३०० प्रति वर्ष उनमें अपनी जान गँवाते हैं, और एक लाख से ऊपर घायल होते हैं। और यह भी उस दशा में जबकि गवर्नमेंट ने दुर्घटनाओं को रोकने के लिए तरह-तरह के क़ानून बना दिये हैं और मजदूरों को भी ख़तरे से बचने की शिक्षा दी जा रही है। कोयले ने निस्सदेह चमत्कार दिखाया है, पर इसके लिए हर साल अनेक क़ीमती जानें भी हमें गँवाना पड़ती हैं। अमेरिका में अभी हाल में एक यन्त्र बनाया गया है, जिसकी सहायता से अति सूक्ष्म मात्रा मे मौजूद 'कार्बन मानोक्साइड' को हम मालूम कर सकते हैं।

खान खोदने के लिए पहले लम्बे-लम्बे कुएँ ऐसे कम-से-कम दो शैफ्ट जमीन के अदर गलाने पड़ते हैं। इसी रास्ते से खान में कोयले खोदने के लिए हर तरह के औजार और मज्दूर नीचे भेजे जाते हैं तथा कोयला भी इसी रास्ते से निकाला जाता है। किंतु शैफ्ट गलाने में लाखों-करोड़ों रुपये का खर्च होता है, अत' खान की खुदाई शुरू करने के पहले भूतत्त्ववेत्ताओं तथा खनिजविद्या के विशेषज्ञों द्वारा उस स्थान की पूरी जाँच करा ली जाती है और जब यह इतमीनान हो जाता है कि वहाँ पर जमीन के नीचे कोयले की 'सीम' काफी गहराई तक मौजूद है, तभी उसमें हाथ लगाते हैं। इस प्रारम्भिक जाँच के सिलसिले मे प्रायः जगह-जगह जमीन में सूराख करने होते हैं। सूराख करने के लिए इञ्जिन द्वारा बर्मी चलाई जाती है। सैकड़ों फीट नीचे जाकर यह बर्मी कोयले की चट्टानों के

कोयले की कहानी—(३)

ऊपर, खोदकर कोयला ट्रालियों में भरा जा रहा है। ये ट्रालियां धरातल से सैकड़ो फीट नीचे सुरगों में लोहे की पटरियो पर कहीं घोड़ों द्वारा तो कहीं बिजली द्वारा परिचालित होती हैं, जैसा कि मध्य के चित्र में प्रदर्शित है। प्रत्येक ट्राली शैफ्ट के मुहाने पर आकर रुक जाती है, तब धकेलकर एक पिंजड़े में ठेल दी जाती है (दे० निचला चित्र), जो लिफ्ट द्वारा शैफ्ट की राह से धरातल पर ऊपर पहुँचा दिया जाता है।

टुकडे ऊपर को खींच लाती है। इस तरीके से ७००० फीट गहराई तक की जमीन की जॉच की गई है।

यदि इस प्रारम्भिक पैमाइश के बाद यह जॉच सतोषजनक साबित हुई तो फिर 'शैफ्ट' उस जगह गलाई जाती है, जहॉ पर कोयले की 'सीम' सबसे नीची होती है, ताकि खान के भीतर की सुरगो का ढाल इसी शैफ्ट की ओर हो। ऐसा होने से पानी वगैरह सब कुछ शैफ्ट की ओर ही ढलकर इकठ्ठा होगा और तब इसे आसानी से ऊपर को उलीच सकेंगे। शैफ्ट के चारो ओर कोयले की सीम के भीतर सुरगें खोदी जाती हैं। ज्यो ज्यो कोयला निकलता जाता है, सुरगें लम्बी होती जाती हैं। इन सुरगो की छतों को लकडी के तख्तों या लोहे की चद्दरों का सहारा देना आवश्यक होता है, क्योंकि हर घडी सम्भावना इस बात की रहती है कि कहीं ऊपर की छत सब कुछ लिये हुए बैठ न जाय और सैकडो मज़दूरो को जिन्दा दफना दे।

प्रत्येक खान में कम से कम दो शैफ्ट होते हैं—इस लिए कि एक शैफ्ट यदि चट्टानों के टूटने से या अन्य किसी दुर्घटना के कारण बन्द हो जाय, तो खान मे काम करनेवाले लोग दूसरे शैफ्ट के रास्ते से बाहर निकल सकें। साथ ही खान के अन्दर ताज़ी हवा पहुँचती रहने के लिए भी कम-से-कम दो शैफ्ट की जरूरत होती है। खान के अन्दर ताज़ी हवा सॉस लेने के लिए तो चाहिए ही, साथ ही ज़मीन के अन्दर की गरमी कम करने के लिए भी ताज़ी हवा का पहुँचाना ज़रूरी होता है। एक शैफ्ट से होकर बिजली के पखे के ज़रिए ताजी हवा खान के अन्दर जाती है और दूसरे शैफ्ट में पखा उलटे लगा रहता है, जो हवा को खान के अन्दर से खींचकर बाहर निकालता है। इस तरह खान के अन्दर ताजी हवा पहुँचती रहती है।

इन्हीं शैफ्टो के रास्ते से बराबर पम्प द्वारा पानी भी उलीचा जाता है, वरना खानो मे बढ़िया आ जाय। अनुमान किया जाता है कि प्रति एक टन कोयले के पीछे ८ टन पानी उलीचना ज़रूरी होता है। शुरु

कोयले की कहानी—(४)

ऊपर शैफ्ट के सिरे पर पहुँचकर कोयला पिंजडे की ट्रालो में से बाहर उँडेला जा रहा है, तदुपरात वह धोकर साफ किया जा रहा है, इसके बाद रेल की खुली वैगनो में भरकर कारखानों को भेजा जा रहा है। अतिम चित्र में वही शक्ति उत्पादन के लिए इञ्जिन के बॉयलर के भट्ठे में झोककर काम में लाया जा रहा है।
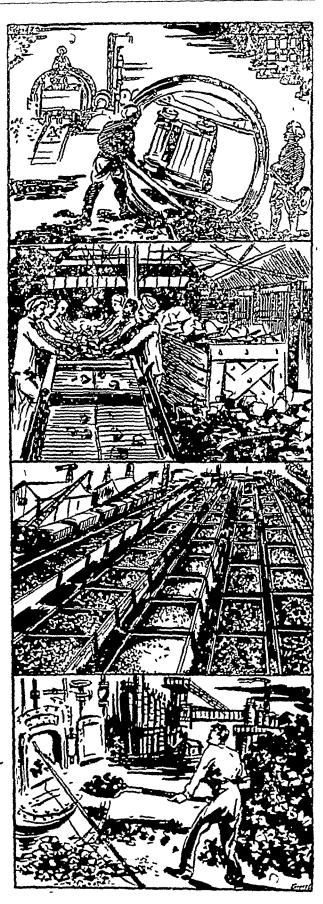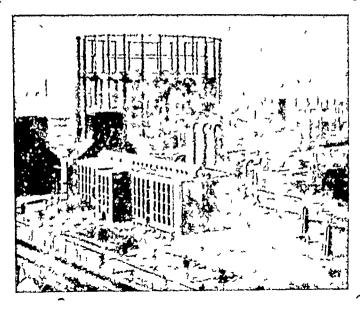
कोयले से विशेष तरीक़ों द्वारा कोल गैस, बेंज़ोल, कोलतार, अमोनिकल द्रव, साफ्ट कोक आदि कई महत्वपूर्ण पदार्थ आज दिन बनाए जाते हैं। इस चित्र में विलायत के एक बेंज़ोल पैदा करने के कारख़ाने का दृश्य है। यह द्रव मोटरों में जलाया जाता है।

में शैफ्ट के ऊपर सतह पर पम्प लगे रहते थे, जो पानी को नीचे से पाइप के जरिए उठाते थे। किन्तु अब पानी उलीचनेवाले पम्प शैफ्ट के पेंदे में ही एकदम खान के अन्दर लगाये जाते हैं।

खान के अन्दर सुरंगों में रेल की पटरियाँ बिछी रहती हैं। हमारे देश की खानों में ठेलों में कोयले भरकर इन्हीं पटरियों पर ठेलते हुए शैफ्ट तक मजदूर ले आते हैं। इंगलैंड में इन ठेलों को घोड़े भी खींचते हैं। शैफ्ट के रास्ते से बड़े-बड़े बालटों में भरकर कोयला मशीनों के जरिए ऊपर खींचा जाता है। अब तो इस काम के लिए भी विद्युत्-शक्ति की सहायता ली जाने लगी है। खान के अन्दर कोयला खोदने का काम हजारों मजदूर करते हैं। अक्सर तो वे सुरंग में लेटकर छेनी से कोयले की बड़ी-बड़ी चट्टानें काटते हैं। अब संकुचित वायु से परिचालित बर्मियों से यह काम लिया जाने लगा है। कोयले की बड़ी-बड़ी चट्टानों की जड़ को बड़ी दूर तक कोट लेते हैं और इस दरार में बारूद या डायनामाइट भरकर विस्फोट करा देते हैं। इस तरह बड़ी-बड़ी चट्टानें एकदम टूटकर नीचे गिर जाती हैं। इंगलैंड की खानों में तो यह काम भी बिजली की मशीनों से सम्पादित किया जाने लगा है।

योरप की आधुनिक खानों में इस कटे हुए कोयले को एक बड़ा-सा कलछुला (जो किसी मशीन के द्वारा घूमता है) उठाकर एक हरकत करते हुए प्लैटफ़ार्म पर रख देता है। यह प्लैटफ़ार्म इसे ले जाकर पटरी पर खड़ी गाड़ी में गिरा देता है, जो घोड़ा या यांत्रिक शक्ति की मदद से खींचकर शैफ्ट के नीचे ले आई जाती है। शैफ्ट के पेंदे से बाहर जमीन की सतह पर कोयले के बर्तनों को खींचकर लाने के लिए विद्युत-शक्ति द्वारा परिचालित लिफ्ट का प्रयोग किया जाता है।

प्रत्येक कोयले की खान के साथ एक धुलाई का विभाग होता है, जहाँ पर कोयले को खान से निकालने के बाद ही अच्छी तरह धो दिया करते हैं ताकि उसमें लगी हुई मिट्टी तथा कंकड़ आदि धुलकर अलग हो जायँ। इस क्रिया में ट्राम का कोयला एक विशालकाय बेलनाकार बर्तन में उँडेल दिया जाता है। इस बर्तन में लगभग आधी दूर पर अँगीठी के छड़ों की तरह लोहे के छड़ कसे रहते हैं। इन छड़ों के बीच की ख़ाली जगह में से कोयले के चूर नीचे गिर जाते हैं। तदुपरान्त छना हुआ कोयला एक दूसरे बेलनाकार बर्तन में जाता है, जहाँ पर पानी की तेज धार में यह अच्छी तरह धुल जाता है। धुले हुए कोयले को आप हाथ में लीजिए तो आपका हाथ मुश्किल से काला होगा।

खान में काम करनेवाले मजदूरों का जीवन निस्सन्देह खतरे से घिरा हुआ है। कदाचित् ही अन्य किसी व्यवसाय में श्रमिकों को ऐसी संकटपूर्ण परिश्रम की जिन्दगी व्यतीत करनी पड़ती है। सूर्योदय के पहले ही कड़कड़ाती सर्दी में भी खान का मजदूर ठीक समय पर खान पर पहुँच जाता है। शैफ्ट के अन्दर पिंजड़ों में बैठकर चार-चार पाँच-पाँच की टोलियों में ये मजदूर खान के अन्दर प्रवेश करते हैं। वहाँ बाह्य दुनिया के सम्पर्क से बिलकुल अलग टिमटिमाती बत्तियों के धुँधले प्रकाश में वे आठ घण्टे तक घोर शारीरिक परिश्रम करते हैं। बाह्य जगत् की धूप, सुखद बयार, जनकोलाहल आदि से दूर ये साहसिक श्रमिक अपनी जान को हथेली पर रखकर कोयले की चट्टानें काटते-गिराते हैं। जब तक वे खान के अन्दर रहते हैं, तरह-तरह के खतरों की आशंका उनको निरन्तर अबाध रूप से चौकन्ना बनाये रहती है। प्रतिक्षण उन्हें यह डर बना रहता है कि कहीं किसी ओर से छूटकर अकेली ट्राम बिना किसी प्रकार की सूचना दिये हुए उन्हें

कुचल न दे, अथवा कहीं कोई विगडैल टट्टू लात मारकर उनकी हड्डी-पसली न तोड दे। इनके अतिरिक्त खान के अन्दर विस्फोटन तथा पानी में डूबने या चट्टान के नीचे अचानक दब जाने का खतरा तो हमेशा बना ही रहता है।

इङ्गलैण्ड की एक खान का वर्णन एक ब्रिटिश पत्रकार के शब्दों में पढिए:—"उस ढालुआँ रास्ते में, जिससे हम नीचे खान के अन्दर गए, ट्राम की लाइनें भी स्लीपरों पर बिछी हुई थी। स्लीपरों के बीच में कीचड़ भरी हुई थी। इस सुरग के अन्दर बत्ती के धुँधले प्रकाश में हम धीरे-धीरे अन्धकार को चीरते हुए आगे बढ़ रहे थे। यह ऐन्थ्रामाइड कोयले की खान थी, जिसमें खुली लौ के लैम्प बिना किसी खतरे के इस्तेमाल किये जा सकते हैं। रास्ते में कई जगह ट्राम की लाइनों से ठोकर खाकर मैं गिरते-गिरते बचा। मेरे टखने कीचड़ में लथपथ थे, और ऊपर छत से ठण्डा पानी मेरी पीठ पर टपक रहा था। कई बार मेरा सिर सुरग की नीची छत से टकरा गया, और करीब २० मिनट तक मुझे झुककर चलना पडा ताकि फिर मेरा सिर छत से न टकरा जाय। अन्त मे हम उस स्थान पर पहुँचे जहाँ पर कोयला काटा जा रहा था।

"मैं आशा करता हूँ मुझे फिर कभी खान के अन्दर न जाना पडेगा। हद दर्जे की यहाँ ठण्ड थी, और जब कभी मै खडे होने की कोशिश करता, ठण्डा पानी मेरे कालर के अन्दर से होकर पीठ तक पहुँच जाता। फर्श पर बहते हुए बर्फ-सरीखे ठण्डे पानी मे मजदूर लेटकर कोयले की चट्टानें काटने का प्रयत्न कर रहे थे, और अपनी हिम्मत बँधाये रखने के लिए वे बराबर मुँह से सीटियाँ बजा रहे थे। कोयले से लदी हुई ट्राम-गाडियो को घोडे बडे परिश्रम से खींचते हुए ले जा रहे थे। इन थके हुए घोडो की श्वास से निकली हुई भाप बादलों के रूप में घनीभूत हो रही थी, साथ ही उनके खुरों से कीचड के छींटे इधर-उधर उड रहे थे।"

हवा के सम्पर्क से अलग बन्द बर्त्तनों में तपाने से पत्थर के कोयले में से गैस निकल जाती है, और साफ्ट कोक बच जाता है, जो बिना धुएँ के खूब तेज आँच के साथ जलता है। बडे-बडे शहरों के अन्दर प्राय घरों में खाना पकाने के लिए साफ्ट कोक का ही इस्तेमाल होता है। ऐसा करने से मकान की दीवालें काली नहीं पड़ने पाती। गैसों के निकल जाने के उपरान्त कोयले में से दो प्रकार के द्रव निकलते हैं—एक पानी-सरीखा द्रव, जो अमोनिकल द्रव के नाम से पुकारा जाता है और दूसरा काले रग का गाढा द्रव—कोलतार। दोनों द्रव जमीन के अन्दर गहरे गड्ढों में इकट्ठे होते हैं—नीचे कोलतार और ऊपर अमोनिकल द्रव तैरता रहता है।

गैस-व्यवसाय के प्रारम्भिक दिनों में कोलतार और अमोनिकल द्रव दोनों ही फज़ूल-सी चीज समझी जाती थीं। फैक्टरीवालो की समझ में नहीं आता था कि इनका कैसे इस्तेमाल करें। गैस-व्यवसाय में भी इन द्रवों की ठीक यही परिस्थिति थी, जो दो-चार वर्ष पहले चीनी के व्यवसाय में दुर्गन्धयुक्त शीरे की थी। उन दिनों शीरे से अलकोहोल बनाने की विधि की ओर चीनी की
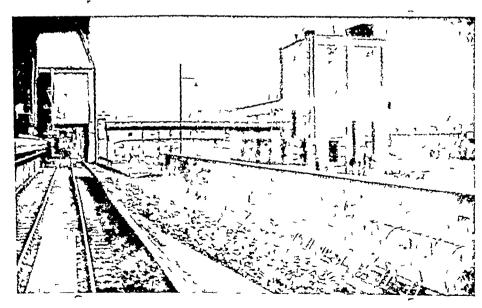
क्या आपको मालूम है कि आज दिन बाजारों में 'साफ्ट कोक' के नाम से जो कोयला बिकता है तथा हमारी अँगीठियो में खाना पकाने के लिए जलाया जाता है, वह कहाँ से आता है? वह खनिज कोयले में से ही गैस निकालकर तैयार होता है। यह इसीके एक कारखाने का चित्र है।

फैक्टरियों का ध्यान ही नहीं गया था। गैस तैयार करनेवाली फैक्टरियों के मालिक भी शुरू-शुरू में बड़े परेशान हुए कि कोलतार और अमोनिकल द्रव को कहाँ फेंकें।

किन्तु रसायनशालाओं में अनुसन्धान करने पर इन द्रवों की अद्भुत सम्भावनाओं का पता चला। फल-स्वरूप अमोनिकल द्रव से अमूल्य खाद 'सल्फेट ऑफ अमोनिया', अमोनिया गैस, अमोनियम कार्बोनेट (जो बिस्कुट की रोटियाँ बनाने के काम आती है), अमोनियम क्लोराइड तथा गन्धक का तेज़ाब आदि अमूल्य वस्तुएँ तैयार की जाने लगीं।

कोलतार के रूप में तो रसायनिज्ञों के हाथ भानमती का पिटारा लग गया, जिससे वे सैकड़ों चीज़ें तैयार करने में समर्थ हुए और न-जाने कितनी और चीज़ें तैयार कर सकेंगे। अनेक क़िस्म की दस्तावर दवाइयाँ, फोटोग्राफी के काम के रंग, कृत्रिम सुगंध, भाँति-भाँति के रंग, लाइसोल, बेन्जोल तथा पिकरिक ऐसिड आदि बीसियों प्रकार के विस्फोटक पदार्थ इससे तैयार किये जा रहे हैं। बेन्जोल का प्रयोग दौड़-प्रतियोगिता में भाग लेनेवाली मोटरों में बहुतायत से होता है। पेट्रोल की अपेक्षा बेन्जोल का वाष्पीकरण अधिक तीव्र गति से होता है। अतः रेस-मोटरकारों में पेट्रोल का स्थान बेन्जोल ने ग्रहण किया है। बारीक सूत को साफ करने के निमित्त भी बेन्जोल का प्रयोग होता है।

जिस बर्त्तन में कोयला तपाया जाता है, उसकी दीवालों पर भी कठोर कार्बन की तह जम जाती है। इसे ग्रेफाइट नाम से पुकारते हैं। विद्युत् बैटरी में ग्रेफाइट का प्रयोग एलेक्ट्रोड के रूप में होता है। पेन्सिल के अन्दर भी ग्रेफाइट ही रहती है तथा मशीन के सूक्ष्म पुर्ज़ों में चिकनाहट बनाये रखने के लिए तेल के स्थान पर ग्रेफाइट का चूर्ण ही काम में लाते हैं।

जलाने पर कोयले के अन्दर निहित ताप का केवल १५ प्रतिशत हमें प्राप्त होता है, शेष ८५ प्रतिशत धुएँ के साथ व्यर्थ जाता है। साथ ही धुएँ के बहाने उलटे आपकी गाँठ से पैसे खर्च होते हैं। अनुमान लगाया गया है कि अकेले लन्दन में धुएँ के कारण काली हुई
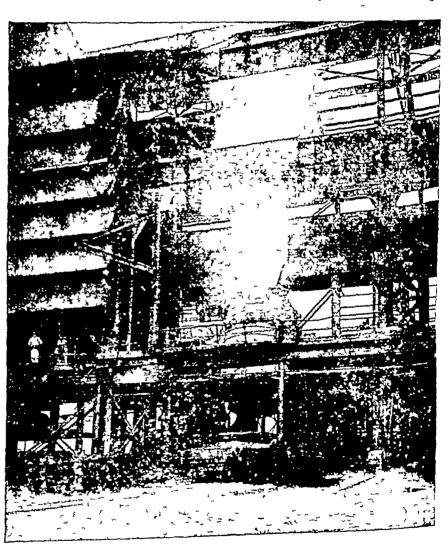
'हिन्दी विश्व-भारती' के एक पिछले अंक में आप लोहे की कहानी पढ़ चुके हैं। आपको यह जानकर दिलचस्पी होगी कि लोहा यद्यपि इस यंत्र-युग में सर्वोपरि आसन पर प्रतिष्ठित है तथापि वह बहुत अंशों में कोयले पर ही निर्भर है। ऊपर एक लोहे के कारखाने के 'बेसेमर कन्वर्टर' का चित्र है, जिसमें शोधे हुए कोयले (कोक) के ही संसर्ग से कच्चा लोहा शोधा जाता है। इस कार्य के लिये १ टन लोहे के पीछे आधे टन कोक की जरूरत पड़ा करती है।

इमारतों पर चूने की पुताई कराने या रंग चढ़ाने में लगभग ३ करोड़ रुपये खर्च होते हैं। धुएँ के कारण श्वास-संबंधी अनेक रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। फलस्वरूप मोटरकार की दुर्घटनाओं में जितने व्यक्ति मरते हैं, उससे कहीं अधिक व्यक्ति धुएँ के कारण उत्पन्न हुई श्वास की बीमारियों के कारण मरते हैं। और ये सब परीशानियाँ केवल इसलिए हैं कि हम कोयले का ईंधन की तरह प्रयोग करने का सही तरीका नहीं जानते।

और यदि कोयले को बन्द भट्टियों में तपाकर उसकी गैसों को अलग कर देते हैं तो यह कोल-गैस आसानी के साथ ईंधन के रूप में काम में लाई जा सकती है। कोलगैस में निहित ताप का ८६ प्रतिशत हम इस रीति से प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कोयले के स्थान पर कोल-गैस जलाना आर्थिक दृष्टि से अधिक वाञ्छनीय है। कोल-गैस और हवा के उचित मिश्रण को जलाने पर प्रकाश भी काफी मात्रा में प्राप्त होता है।

रसायनिज्ञों ने वरसों के अनुसन्धान के उपरान्त पता लगाया कि कोयले से २००० से भी अधिक भिन्न भिन्न पदार्थ प्राप्त किये जा सकते हैं। कोयले के अंदर पाँच तत्त्व कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन और गंधक मौजूद हैं। इन्हीं में से दो-दो तीन-तीन का एक दूसरे के साथ परस्पर रासायनिक संयोग कराकर हजारों प्रकार के भिन्न-भिन्न पदार्थ तैयार कर लिये जाते हैं। हमारे देश के नील का पुराना कारबार जो नष्ट हुआ उसकी वजह भी कोलतार से बनाये गये कृत्रिम नीले रंग की नई ईजाद ही है।

कोयले के तपाने से जो गैस निकलती है, वह निस्सन्देह बहुत ही गर्म होती है तथा इसमें हाइड्रोजन सल्फाइड, कार्बन डाईसल्फाइड, कार्बन डाइ-आक्साइड और अमोनिया आदि विजातीय द्रव मिले हुए होते हैं। ईंधन के लिए या रोशनी करने के लिए जलाने के पूर्व उस गैस को शुद्ध करना होता है। इसके लिए गैस को विशेष रीति से 'नहलाना' पड़ता

सर हम्फ्री डेवी ने खदानों के लिए खास तौर के एक 'सेफ्टी लैम्प' का आविष्कार किया, जिससे खदानों में आग लगने का भय नहीं रहा। इसका सिद्धान्त ऊपर के चित्र में समझाया गया है। यदि कोई जलनशील गैस खान के अन्दर हुई तो जाली के अन्दर पहुँचते ही यह लैम्प को लौ को छूकर जलने लगेगी। किन्तु जाली का तापक्रम इतना नहीं चढ़ पाता कि उसके स्पर्श से बाहरवाली गैस भी प्रज्वलित हो सके। इसका सिद्धान्त बगल के गोलाकार चित्र में दिखाया गया है। देखिए, बर्नर की गैस खोलते ही उसकी लौ जाली के अन्दर तो जलती है पर बाहर नहीं सुलगती।
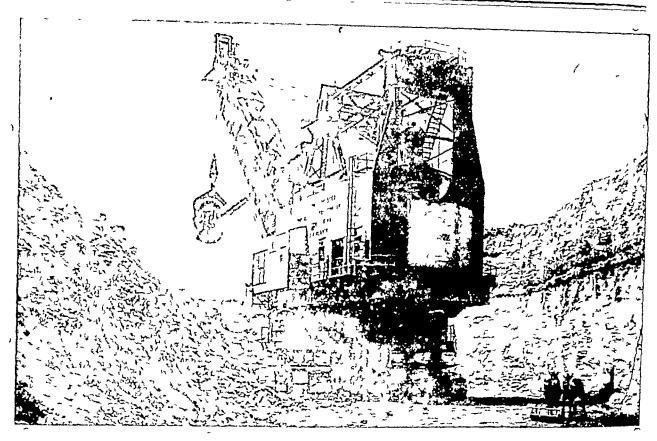
कहीं-कहीं कोयला धरातल से अधिक नीचे नहीं होता और थोड़ा खोदने पर ही उसकी 'सीम' निकल आती है। ऐसी दशा में कुएँनुमा शैफ्ट न गलाकर ऊपर की तमाम मिट्टी या पत्थर खोदकर अलग कर दी जाती है और इस प्रकार जो लंबा-चौड़ा गढ़ा बन जाता है, उसमें ऊपर से कोयला खोद लिया जाता है। प्रस्तुत चित्र में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की एक कोयले की खदान के लिए मिट्टी खोदकर अलग करते हुए एक भीमकाय 'क्रेन' यन्त्र का दृश्य है। यह दैत्याकार मशीन एक बार में अपने विशाल पंजे में पांच सौ मन मिट्टी उठाकर फेंकने की सामर्थ्य रखती है।

है। इस धुलने की क्रिया में गैस में मिला हुआ कोलतार का अंश भी पूर्णतया अलग हो जाता है।

इस गैस से अभी गन्धक के नन्हें-नन्हें कणों को भी दूर करना है। लकड़ी की तश्तरियों के पेंदे में सूराख करके उस पर लोहे की आक्साइड रखते हैं। उनमें से होकर जब गन्धकमय गैस गुजरती है, तब गन्धक लोहे के संग मिलकर लोहे की सल्फाइड बनाता है। बाद में इस यौगिक से गन्धक को अलग कर लेते हैं।

इस विशुद्ध गैस को विशालकाय टंकियों में भरते हैं। अब यह गैस जनता के प्रयोग के लिए तैयार है। 'मीटर' में से होकर नलियों के रास्ते यह गैस लोगों के घरों में ईंधन तथा प्रकाश के लिए पहुँचाई जाती है।

सोवियट रूस में कोयले को खान के अन्दर से निकालकर गैस-फैक्टरी तक ले जाने का झंझट भी हटाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इसके लिए खान के अन्दर डायनामाइट के विस्फोट से कोयले को तोड़ देते हैं, और उसे वहीं तपाकर उससे गैस, अमोनिकल द्रव तथा कोलतार प्राप्त कर लेते हैं।

वर्त्तमान युद्ध के छिड़ने पर युद्ध में संलग्न सभी देशों की गवर्नमेण्टों ने पेट्रोल पर कड़ा नियन्त्रण लगाया है। फलस्वरूप लारियों और मोटरकारों में पेट्रोल की जगह अब कोयले की गैस का प्रयोग प्रचुरता से किया जाने लगा है। मोटरकार के इंजिन में इस्तेमाल करने के लिए कोयले की गैस के साथ कतिपय हाइड्रोकार्बन मिलाकर उसे दबाव देकर द्रव के रूप में परिणत कर लेते हैं। इस्पात के मजबूत पीपों के अन्दर से दबाव घटने पर यह स्वयं गैसरूप धारण कर लेती है। यही गैस मोटरकार के इंजिन के सिलिण्डर में जलकर यान्त्रिक शक्ति उत्पन्न कर देती है।

कोयले के अन्दर निहित अपरिमित शक्ति को देखकर ही एक अँग्रेज लेखक ने इसे 'बोतल-बन्द सूर्य की शक्ति' की उपाधि दी थी, जो सर्वथा इसके गुणों के अनुकूल ही है।

संस्कृत वाङ्मय—(३)

वेदों का काल-निर्णय

संसार के साहित्य में शायद ही कोई ऐसा प्रसग हो जिसके तिथि-निर्णय के सम्बन्ध में इतने विरोधी विचार हों जितने ऋग्वेद के सम्बन्ध में हैं। कई विद्वानो ने २५००० ई० पू० से लेकर २०० ई० पू० तक इसके समय को आँका है। इस गणना में हमने उनके विचार छोड़ दिए हैं जो ऋग्वेद को अपौरुषेय मान उसकी तिथि का विचार ही नहीं उठाते अथवा जो उसके काल को ईसा से लाखों वर्ष पूर्व रखते हैं। इस प्रकार जो लोग अत्यन्त प्राचीन काल में ऋग्वेद को रखते हैं उन्हें दो तीन बातें न भूलनी चाहिएँ। एक तो यह कि अत्यन्त प्राचीन काल में (जैसे लाखों अथवा २५००० पूर्व) मनुष्य के विकास की ही क्या अवस्था थी यह कहना कठिन होगा, और बहुत सम्भव है उस युग में तो मानव सभ्यता का शायद कोई रूप ही न रहा हो। शायद अभी अग्नि का ज्ञान भी न हुआ था। दूसरे जो लोग पृथ्वी के स्तरविज्ञान का सहारा लेकर यह कहते हैं कि आर्यों का आदिम निवासस्थान पजाब था और वही उत्तर भारत में एक सूखा स्थल था, बाक़ी सारी भूमि समुद्र से ढकी जलमग्न थी, वे इस सम्बन्ध में दो गहरी गलतियाँ करते हैं। पहले तो उक्त भूमि की जलमग्न अवस्था कल्पनातीत पूर्वकाल की होगी, दूसरे यदि मान भी लें कि यह प्रदेश जलमग्न था तो फिर गगा, यमुना और सरजू-सी पूर्वीय नदियो का ज्ञान आर्य्यों को क्योंकर हुआ, जिनका कि उल्लेख ऋग्वेद में आया है। फिर यह बात भी नहीं भूलनी चाहिये कि ऋग्वेद को हम भाषा की दृष्टि से भी अत्यन्त दूर अथवा अत्यन्त निकट काल में नहीं रख सकते। २५००० वर्ष पूर्व तो कह नहीं सकते कि मनुष्य बोलता भी था या नहीं। फिर इतनी दूर की भाषा में जो अन्तर होना चाहिए वह ऋग्वेद और बाद के उपनिषद् अथवा काव्यों की भाषाओं में नहीं है। एक अद्भुत सिलसिला इस भाषा-विकास का हमें उपलब्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ हजार वर्षों के अन्तर पर बहुत ही अप्रगतिशील भाषा तक में भी अन्तर पड़ता है। यही कारण है कि सस्कृत और प्राकृतों में लगभग एक सहस्र वर्षों में इतना अन्तर पड़ गया कि फलत भारतवर्ष में प्रादेशिक भाषाओं का जन्म हुआ। फिर यदि ऋग्वेद की भाषा २५००० वर्ष पूर्व की मानें तो ब्राह्मणों, उपनिषदों और काव्यों की भाषा तक पहुँचने पर इसका रूप इतना बदल जाना चाहिए था जितना मनुष्य की कल्पना में भी न आ सके। इसके अतिरिक्त यदि इस विचार को मानकर पुराणों मे दिए महाभारत-युद्ध से पूर्व के राजवंशों पर दृष्टि डालें तो एक बड़ी विषम और असम्भव समस्या खड़ी हो जाएगी। क्योंकि इनके राजन्य अधिकतर वेदों के समकालीन अथवा उनसे भी प्राचीन हैं और चूँकि इनके प्रदेशों को पुराणकार अति पूर्व की नदियों के कांठों में रखते हैं, अतः इनको जलमग्न प्रदेश में रखना पड़ेगा। इस विचार के विरोध मे एक दिक्कत यह भी है कि इसमें मध्य-पूर्व एशिया में होनेवाली असुर-सुमेर प्रदेशों और सिन्धु कांठे के मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की द्रविड़ सभ्यताओं की खुदाई के आश्चर्यजनक फल का समावेश नहीं है, जिसका निर्देश आगे होगा।

एक विचार ज्योतिष-सम्बन्धी भी है जो स्वर्गीय बाल गंगाधर तिलक और जैकोबी का है। इनमें से प्रथम महोदय ने ऋग्वेद का समय लगभग ६००० ई० पू० और दूसरे ने लगभग ४५०० ई० पू० रखा है। परन्तु दोनो विद्वानों की सम्मतियों में एक बुनियादी कमी है। वह यह है कि ऋग्वेद के जिन मत्रो पर यह ज्योतिष-सम्बन्धी गणना की गई है उनका अर्थ सदिग्ध है। ज्योतिष सम्बन्धी गणना गणित पर अवलम्बित होती है, इसीलिए जिन आँकड़ो पर यह गणना की जाय वे स्वयं शिला की भाँति अचल और दिन की भाँति सत्य होने चाहिएँ। परन्तु इन मन्त्रो के भाव अत्यन्त सदिग्ध हैं और इस कारण यह गणना कल्पनात्मिका ही सिद्ध होगी।

२०० ई० पू० के तिथि-निर्धारण सम्बन्धी मत पर विचार

करना व्यर्थ है। क्योंकि छठी शताब्दी ई० पू० के युग में होनेवाले बुद्ध आदि ऋग्वेद और उसके बाद के भी वैदिक साहित्य की प्राचीनता स्वीकार करते हैं।

अब रह गया मैक्समूलर का विचार, जो ऋग्वेद को १२००—१००० ई० पू० के बीच रखता है, परन्तु इस पर पहुँचने में उसने जो साहित्यिक क्रम माना है वह काल-क्रम और भाषा विकास के दृष्टिकोण से हास्यास्पद है।

विन्टरनित्स ने ऋग्वैदिक साहित्य का प्रारम्भ २५०० ई० पू० के लगभग माना है। यह तिथि सत्य के निकटतम प्रतीत होती है, केवल यह कुछ उससे नीचे है। यदि विन्टरनित्स की पुस्तक का दूसरा सस्करण मध्य-पूर्व एशिया के प्रदेशो की खुदाई के बाद निकलता तो सभव है कि वह विद्वान् तब इस समय को इससे भी पूर्व ३००० ई० पू० के लगभग रखता। यह ३००० ई० पू० का समय ही यथार्थतः ऋग्वेद के प्रारम्भिक मत्रों का निर्माण-काल जान पड़ता है और इसे मानने मे प्रस्तुत मतों के विरुद्ध किसी प्रकार की अड़चन नहीं पड़ती। जिन प्रमाणो के आधार पर यह तिथि इन पंक्तियो के लेखक ने निश्चित की है वे नीचे दिए जाते हैं। इनमे से कई नए हैं, विशेषकर वे जिनका सम्बन्ध मध्य-पूर्व एशिया की पुरातत्व-सम्बन्धी खुदाई और एशिया माइनर के बोगजकोई नामक स्थान से प्राप्त लेखों से है।

(१) ह्यूगो विंक्लर ने सन् १६०७ ई० में एशिया-माइनर के बोगजकोई नामक स्थान में खत्ती राज्य-सम्बन्धी कुछ ईंटें खोद निकालीं। इन पर चौदहवीं शताब्दी ई० पू० के आरम्भ मे खुदे लेखो मे खत्ती और मितनी जातियों के सघर्ष के फलस्वरूप जो सन्धि हुई है उसका हवाला दिया गया है और उस सन्धि के साक्षीस्वरूप कुछ वैदिक देवताओं, जैसे मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्यों के नाम आए हैं। ये नाम वहाँ कैसे आए, इस सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ विद्वानों (जैसे मेयर और जाइल्स) का मत है कि ये आर्यो के भारत-प्रवेश से पूर्वकाल के ईरानी आर्यों के देवता हैं। परन्तु यह सम्भव नहीं, क्योंकि ज़ेन्दावेस्ता में जिस रूप में इन देवताओं के नाम मिलते हैं ये वैसे नहीं हैं। वरन् ये ठीक ऋग्वेद में आए नामों के अक्षरशः अनुकूल हैं। ऋग्वेद को सुरक्षित रखने के लिए जिन आठ तरह के पद, घन, जटा आदि पाठों की व्यवस्था की गई ठीक उन्हीं में से एक पाठ के अनुरूप बोगजकोई के इन देवताओं के नाम हैं, जैसे मि-इत्-र, व-अर्-रु-उण, आदि। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि इन देवताओं का ज्ञान खत्ती और मितनी जातियों को आर्यो के पूर्वाभिमुख प्रसार के समय नहीं हुआ वरन् तब हुआ जब भारतवर्ष की पश्चिमोत्तर सीमा पर ऋग्वेद के मन्त्रो का निर्माण हो चुका था। और इस सम्बन्ध में विद्वान प्रायः सहमत हैं कि ऋग्वेद के मन्त्र भारतवर्ष में ही बने। इसी कारण यह सीधा निष्कर्ष निकलता है कि जब ऋग्वैदिक आर्य भारतवर्ष मे बहुत काल से बस चुके थे तब उनकी एक (अथवा अनेकों) शाखा उत्तर-पश्चिम की ओर निकल गई और उन्होंने विजातियों के बीच अपने देवताओं की पूजा प्रचलित की। अब ज़रा यहाँ यह विचार कर लेना चाहिए कि यह समय कब रहा होगा। उपनिवेश-निर्माण के हेतु भारतीय आर्यो का इतिहास मे निष्क्रमण बहुत बाद का है—शायद गुप्तकाल के आस-पास, जब हिन्द-महासागर के अनेक द्वीपसमूह भारत के उपनिवेश बने। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार प्राचीन काल में केवल दो समय सिद्ध होते हैं जब इस प्रकार की कोई घटना हुई होगी। एक तो ऋग्वेद में वर्णित दशराज युद्ध से सम्बन्धित है। पुराण कहते हैं कि इस युद्ध के बाद द्रुह्यु उत्तर की ओर चले गए और वहाँ जाकर वे म्लेच्छों पर राज्य करने लगे। फिर महा-भारत के समय में भारतीय आर्यो की शक्ति अतुलनीय हो गई थी, जब उनके चरणों पर प्रायः सारा भारत लोटता था और उनसे मैत्री करने को विश्व उत्सुक रहता था। यह विवरण महाभारत में बडे विस्तार के साथ मिलता है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय अर्जुन-भीमादि ने भारतेतर देशों का दिग्विजय किया था और उत्तर में अपने उपनिवेश बसाए थे। महाभारत की तिथि, जो सबसे वैज्ञानिक कही जा सकती है और जिसका हम महाभारत के प्रसग में निश्चय करेंगे, १४०० ई० पू० के लगभग है। इस समय हम कार्यवशात् इस तिथि को ही मान लेते हैं। अतएव यदि महाभारत-युद्ध लगभग १४०० ई० पू० हुआ तो इससे कुछ ही पूर्व ये एशिया-माइनर के आसपास वाले आर्य उपनिवेश बने होंगे। बोगज-कोई के लेख इसके कुछ ही बाद के हैं। इससे यह भी कहा जा सकता है कि आर्यो की कोई और शाखा इसमे भी पूर्व वहाँ गई। इससे यह सिद्ध हो जाएगा कि यदि १४०० ई० पू० मे पहले ही यह आर्यों की शाखा भारत-वर्ष से आई (यह शाखा सम्भवतः वही द्रुह्युओं की है जिसका उल्लेख ऊपर कर आए हैं) तो अवश्य आर्यों के भारत में सर्वप्रथम बसने और बाहर फिर लौटकर

उपनिवेश बनाने में लगभग पन्द्रह शताब्दियाँ लगी होंगी। इस प्रमाण में ऋग्वेद के निर्माण का प्रारम्भ लगभग ३००० ई० पू० ठहरता है।

(२) पुराणों में जिन राजवंशों की तालिका दी हुई है उनकी ऐतिहासिकता मे सन्देह नहीं हो सकता, क्योंकि उनके कितने ही नाम वैदिक साहित्य के ब्राह्मणों, उपनिषदों और वेदों तक मे मिल जाते हैं। फिर आख़िर बाद के राजन्यकुलो के ऊपरी छोर तो कहीं न कहीं जा ही मिलेंगे, यदि पिता-पुत्र के क्रम से कुलों का विकास होना निश्चित है। और जब बाद के वशो, मौर्यादि, के सम्बन्ध में पुराण सही हैं तो भारत-युद्ध से पूर्व के राजवंशों के सम्बन्ध मे सही क्यो न होंगे—विशेषकर जब ये पुराण अत्यन्त प्राचीन अनुश्रुतियो से ग्रथित एक पूर्व पुराण पर बने हैं और जब इतिहास-पुराण का अस्तित्व न केवल ब्राह्मण-उपनिषदों में ही वरन् स्वय अथर्ववेद मे भी निर्दिष्ट है। फिर इतनी लम्बी तालिकाएँ मनगढन्त कैसे हो सकती हैं, जब उन शृंखलाओ की अनेक कड़ियाँ (राजा) उपनिषदो और ब्राह्मणों में आए उपाख्यानों में मिल जाती हैं? यह भी न भूलना चाहिए कि इन पुराने राजाओं के नाम वैदिक संस्कृत में हैं जो बाद के नामों से पूर्णतया भिन्न हैं। यही कारण है कि जब कभी आधुनिक राजाओ ने अपना वंश प्राचीन करने के लिए मनगढन्त वैदिक समय के पूर्वज गढे हैं, तब वे हास्यास्पद हो उठे हैं, क्योंकि ये नाम केवल संस्कृत ही रह सके, वैदिक नहीं। यहाँ पर मेरा मतलब पुराणों में दिए राजवंश-वृत्तो के उन भागों से है जो महाभारत-युद्ध अर्थात् (१४०० ई० पू०) के पूर्वकाल के हैं। इनकी पीढ़ियाँ मिलाने पर हम इस काल से लगभग पन्द्रह-सोलह सौ वर्ष पूर्व पहुँच जाते हैं। यही अनुपात लगभग उपनिषदों और ब्राह्मणों में आई गुरुपरम्पराओं की पीढियों को जोड़ने से भी प्राप्त होता है। ये पीढियाँ लगभग ५०-६० हैं और यदि प्रत्येक पीढी का जीवनकाल पचीस वर्षों के लगभग मानें तो उनका कुल जोड़ (६०×२५=१५००) क़रीब पन्द्रह शताब्दियो तक जा पहुँचेगा। ये कुल महाभारत-पूर्व के हैं, इसलिए ऋग्वेद का समय फिर ३००० ई० पू० के लगभग जा पहुँचा।

(३) ऋग्वेद द्वैपायन व्यास द्वारा संहिता के रूप में संग्रहीत हुआ। यह व्यास महाभारतकालीन व्यक्ति थे। यदि उनके संग्रह का काल १४५० ई० पू० के लगभग माना जाय तो ऋग्वेद के अन्तिम मन्त्रों के निर्माण का समय उससे पूर्व ही रखना होगा। अन्तिम मन्त्रों से हमारा मतलब उन मन्त्रों से है जिनमे महाभारत युद्ध से कुछ ही पूर्व होनेवाले देवापि और शान्तनु-सरीखे व्यक्तियों के नाम भी आए हैं। इस प्रकार इस वृहत् संहिता के प्राचीनतम स्तर बहुत आसानी से लगभग १५०० वर्ष पूर्व रखे जा सकते हैं और तब उनका आरम्भ ३००० ई० पू० के लगभग में होगा।

(४) प्रायः सभी विद्वान् इस बात को मानते हैं कि दक्षिण भारत की आर्यों द्वारा विजय ७०० ई० पू० के लगभग ही हो गई होगी, क्योंकि बौधायन और आपस्तम्ब के धर्मसूत्र दक्षिण में ही बने, जिनका समय उस काल के कुछ ही बाद रखा जाता है। परन्तु वास्तव मे दक्षिण-विजय का समय बहुत पूर्व रखना पड़ेगा। जिन विद्वानों ने ७०० ई० पू० के लगभग आर्यों की दक्षिण-विजय रखी है, उन्होंने साहित्य का विशेष प्रमाण नहीं लिया है। यथार्थ में उन्हें इस सम्बन्ध में महाभारत-पूर्व की पौराणिक राजवंशतालिका का ऐतरेय ब्राह्मण आदि की अनुश्रुति से मिलान करके यह राय क़ायम करनी थी। यह विचार कि ब्राह्मण-काल (लगभग १५०० ई० पू०) में आर्य कुरुपंचाल जनपद से आगे पूर्व में नहीं बढे थे, अत्यन्त दोषपूर्ण है और इसे अब शीघ्र छोड़ देना चाहिए। कुरुपंचाल जनपद निःसन्देह वैदिक आर्य संस्कृति का केन्द्र था। परन्तु इससे यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता कि आर्य इस काल में बहुत दूर पूर्व मे नहीं बढ चुके थे। सांस्कृतिक केन्द्र बहुधा विद्वानों को धोके में डालते हैं। वास्तव मे कुरुपञ्चाल में सरस्वती और दृषद्वती, गंगा और यमुना-सी पावन नदियो के बहने के कारण वह जनपद आर्यों की अवध, मध्यभारत और उत्तरी दक्खिन विजय के कई शताब्दियों बाद तक वैदिक संस्कृति का केन्द्र बना रहा। वास्तव में उस दक्षिण-विजय का समय २००० ई० पू० से भी पहले रखना होगा, क्योंकि जैसा ऋग्वेद के स्तरो से ही ज्ञात है, यदि इतने लम्बे काल मे आर्य केवल अफ़गानिस्तान और पंजाब के ही कुछ भागों में बढ सके, तो अवश्य दक्षिण तक पहुँचने और बीच का १२३००० वर्गमील प्रदेश जीतने में लगभग पन्द्रह शताब्दियाँ लगी होंगी, विशेषकर जब प्रति इंच भूमि के लिए उन्हें द्रविड़ो से लोहा लेना पड़ा था और जब वे स्वयं परस्पर भी लड़ रहे थे। सो बड़ी आसानी से यह दक्षिण विजय २००० ई० पू० से भी पहले रखी जा सकती है। एक

प्रमाण और लीजिए। पुराणों के महाभारत-पूर्व का राजवंश-क्रम मिलाने से पता चलता है कि आर्यों का अन्त-संघर्ष जिसमें सरयू के तट पर राजा चित्ररथ ने अपने प्राण खोए, २००० ई० पू० के लगभग हुआ। चित्ररथ के पिता ने गया के विष्णुपाद और (यू० पी० के) बांदा ज़िले के कालिंजर पर्वतों पर इन्द्र के लिए यज्ञ किया था। इससे यह सिद्ध है कि आर्य राजाओं ने २००० ई० पू० से पहले ही पूर्वीय संयुक्तप्रांत, अवध और बिहार को जीत लिया होगा। जबलपुर के चतुर्दिक का चेदि जनपद यादव वंशानुक्रम के अनुसार लगभग दस पीढ़ी (यथार्थ में राज्यकाल) बाद जीता गया। इस प्रकार इस घटना का काल लगभग २१५० ई० पू० होगा। चेद्य वंश के राजा कशु की प्रशस्ति ऋग्वेद के आठवें मण्डल में गाई गई है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार यह चेदि जनपद पहले-पहल यादव वंश की एक कनिष्ठ शाखा में होनेवाले राजा चिदि द्वारा महाभारत-युद्ध से पचास पीढ़ी अर्थात् लगभग ७५० वर्ष पूर्व जीता गया। इसलिए यह घटना लगभग २१५० ई० पू० घटी। इस प्रकार आर्यों का भारत में प्रादुर्भाव ३००० ई० पू० के लगभग रखना कुछ अनुचित न होगा।

काशी-राजवंश से जान पड़ता है कि काशी आर्यों के हाथ में प्रायः २६०० ई० पू० से भी पहले आ चुकी थी। पौराणिक और पश्चात् वैदिक साहित्य की अनुवृत्ति से ज्ञात होता है कि राजा दिवोदास के राज्य के बाद ही क्षेमक नामक दैत्य ने काशी को उजाड़ डाला था। इससे यह सिद्ध है कि काशी कुछ समय के लिए आर्यों के हाथ से निकल गई थी। ऐतरेय ब्राह्मण से विदित होता है कि विदर्भ देश का राजा भीम राजा सहदेव का समकालीन था। सहदेव दाशराज्ञ युद्ध से चार पीढ़ी बाद यानी लगभग १८५० ई० पू० में विद्यमान था। इस प्रकार उत्तर दक्खिन की विजय राजा भीम से पूर्व ही हुई होगी। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार यह घटना लगभग पच्चीस पीढ़ी पूर्व प्रायः बाईसवीं शताब्दी ई० पू० में घटी। अत. जब वैदिक और पौराणिक अनुश्रुतियों के सम्मिलित प्रमाणानुसार विदर्भ (बरार) की विजय लगभग बाईसवीं शताब्दी ई० पू० में ही हो गई तो ऋग्वेद का प्रारम्भिक काल ३००० ई० पू० के आसपास रखना ही पड़ेगा।

(५) ऋग्वेद की तिथि निश्चित करने में जो एक और विशिष्ट प्रमाण सहायक है वह है संस्कृत साहित्य का क्रमिक विकास। इस प्रमाण का उपयोग सर्वप्रथम मैक्समूलर ने किया, परन्तु उसके प्रयोग का ढंग विशेषकर गणनाक्रम में, अत्यन्त संकीर्ण हो गया है जिसकी तर्कहीनता का प्रतिवाद ह्विट्नी और विन्टरनित्स आदि विद्वानों ने किया है। परन्तु मैक्समूलर के ही तर्क को आधार बनाते हुए और उसकी संकीर्णता से बचते हुए हम ऋग्वेद का काल-निर्णय वैज्ञानिक रूप से कर सकते हैं। यह युक्ति इस प्रकार है। बौद्धों और जैनों ने न केवल उपनिषदों तक के वैदिक साहित्य का वरन् वेदांगों तक का निर्देश किया है। बुद्ध और महावीर छठी शताब्दी ई० पू० के हैं। और जैनों के तीर्थंकर पार्श्व तो उनसे पूर्व संभवतः सातवीं शताब्दी ई० पू० के हैं। तो सातवीं शताब्दी ई० पू० तक सारा वैदिक साहित्य तैयार हो चुका था। और इस बात का प्रमाण मिलता है कि इनसे भी पूर्व ही कुछ ऐसे ही वेदविरोधी धर्मवेत्ता पड़े थे जिन्होंने वैदिक साहित्य का भी विरोध किया था। लगभग इसी समय यास्क ने ऋग्वेद की लुप्त परम्परा से खोए वेदार्थ के पुनरुद्धार के लिए प्राचीन निरुक्तों के आधार पर अपना निरुक्त रचा। यास्क के समय अथवा उससे भी बहुत पूर्व वेद का अर्थ दुरूह हो चुका था, जिससे उसके निरुक्त की आवश्यकता पड़ी। और प्राचीन निघण्टुकार आचार्यों में से एक, जिनको यास्क उद्धृत करता है, कहता है कि वेद निरर्थक है। सो उससे पूर्व ही वेदों की अर्थपरम्परा लुप्त हो चुकी थी। ओल्डेनबर्ग ने यथार्थ ही सिद्ध कर दिया है कि प्राथमिक उपनिषदों और प्राथमिक बौद्ध साहित्यों में कितनी ही शताब्दियों का अन्तर पड़ा होगा। उपनिषद्काल को सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने लगभग ११०० ई० पू० में और प्रोफेसर रानाडे ने लगभग १२०० ई० पू० में रखा है। यह औपनिषदिक विचारों का क्रियात्मकता-काल १२०० ई० पू० और ६०० ई० पू० के बीच हमें रखना होगा। इस बात को न भूलना चाहिए कि उपनिषदों में जो गुरुपरम्परा आई है उसकी पीढ़ियाँ ६० तक हैं। फिर इन उपनिषदों का निर्माण ब्राह्मणों के बाद हुआ। ब्राह्मणकाल को इस प्रकार उपनिषद्काल से पूर्व लगभग १६०० ई० पू० और १२०० ई० पू० के बीच रखना होगा। इन ब्राह्मणों में भी गुरुकुलों की अनेक पीढियाँ दी हुई हैं। ये ब्राह्मण कुछ तो यज्ञ-क्रियाओं को रूप देने और प्राय ऋग्वेद के प्राचीन मंत्रों के भाव की व्याख्या के निमित्त लिखे गये। अत १५०० ई० पू० के पहले ऋग्वेद के प्राचीन स्तर निर्मित

हो चुके थे, जिनकी व्याख्या के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ी। अवश्य तब इन मंत्रों के भाव-लोप में कुछ शताब्दियाँ बीती होंगी और ऋग्वेद के प्राचीन स्तरों और प्राथमिक ब्राह्मण ग्रन्थों (लगभग १६०० ई० पू०) के निर्माण में सदियों का अन्तर पड़ा होगा। फिर ब्राह्मणों के पूर्व अथर्ववेद बन चुका होगा। यदि अथर्ववेद के प्राचीन स्तरों का निर्माण-काल प्राथमिक ब्राह्मण-काल से चार सौ वर्ष ही पूर्व मानें तो हम अथर्ववेद के प्राचीन भागों को लगभग २००० ई० पू० में रख सकते हैं। (यहाँ हम अथर्ववेद के उन मंत्रों को छोड़ देते हैं जो ऋग्वेद के हैं।) इस बात को सदा स्मरण रखना चाहिए कि अथर्ववेद बहुत काल तक वेदों में नहीं गिना गया और वेदों की संख्या केवल तीन रही, जिससे वे 'त्रयी' कहलाए। अतएव अथर्ववेद और त्रयी में इतने काल का अन्तर होना चाहिए जितने में त्रयी का रूप भुलाकर अथर्ववेद को भी वेदों की संख्या में गिन लिया गया हो। इस रूप में ऋग्वेद के प्राचीनतम स्तरों को ३००० ई० पू० के लगभग रखना कुछ अनुचित न होगा।

(६) भाषा-संबंधी सिद्धान्त का निरूपण ऊपर हम कर आए हैं। यहाँ बस इतना ही कह देना उचित होगा कि भाषा और साहित्य का जो क्रम-संबंध एक ओर ईरानी आर्यों की धर्मपुस्तक 'जेन्दावेस्ता' और ऋग्वेद में, और दूसरी ओर ऋग्वेद और ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांग, सूत्र और इतिहास, पुराण इत्यादि भारतीय संस्कृति में है, उसको देखते हुए हम ऋग्वेद का समय न कल्पनातीत पूर्व न पश्चात् ही रख सकते हैं, अतः उसे बीच में ही कहीं ३००० ई० पू० से उतरते हुए रखना होगा।

(७) ऋग्वेद ग्रन्थ नहीं है 'संहिता' है और इस संहिता की अनुक्रमणियों में सूक्तों के द्रष्टा ऋषियों के नाम दिए हैं। ये ऋषि मानव देहधारी पुरुष और स्त्री थे। उनकी वृहत् संख्या एक लम्बे काल को सामने रखती है। ये ऋषि बहुधा ऋषिकुल विशेष के थे, जिनका आपस में प्रायः संबंध पिता-पुत्र का था। इसी कारण उपनिषदों और ब्राह्मणों की गुरुपरम्परा की तालिकाएँ उनका वह संबंध घोषित करती हैं। ये तालिकाएँ पुराणों में दिए महाभारत-पूर्व के राजकुलों से प्रायः संबंध रखती हैं। ब्राह्मणों और उपनिषदों के कितने ही गुरु इन पौराणिक राजकुलों के गुरु हैं। सो ऋग्वेद के स्तर कई समय में निर्मित हुए हैं। उनका निर्देश हम आरम्भ में कर आए हैं। ये स्तर इतनी बड़ी संहिता में लगभग पन्द्रह शताब्दियों में बने होंगे और चूँकि संहिता का निर्माण १४५० ई० पू० के लगभग व्यास ने किया, ऋग्वेद के स्तर तब तक समाप्त हो चुके होंगे। उनके अन्तिम मंत्रों का निर्माण १४५० ई० पू० के लगभग ही समाप्त हुआ होगा, क्योंकि मंत्र में कौरव पाण्डवों के निकट-पूर्व राजा शान्तनु और उनके ऋत्विज् भाई देवापि का उल्लेख हुआ है। अतः यदि ऋग्वेद के प्रारम्भिक मंत्रों का निर्माण-काल पन्द्रह शताब्दी पूर्व लगभग ३००० ई० पू० रखें तो अत्युक्ति न होगी।

(८) अन्तिम और ऊपर के सारे प्रमाणों में कदाचित् सबसे सच्चा प्रमाण वह है जो सिन्धु काँठे के मोहन-जो-दड़ो और पंजाब के हड़प्पा तथा मध्य-पूर्व एशिया की पुरातत्त्व-सम्बन्धी आधुनिक खुदाई से प्राप्त हुआ है। विद्वानों की दृष्टि अभी उधर नहीं गई है, परन्तु आर्यों के भारत में आने और ऋग्वेद के निर्माण के समय पर उस खोज का महान् प्रभाव पड़ सकता है।

विद्वान् प्रायः इस बात में सहमत हैं कि सिन्धु काँठे की सभ्यता द्रविड़ थी। इस निर्णय में सबसे बड़ा सबूत यह है कि मोहन-जो-दड़ो के सहस्रों ठीकरों और प्रस्तरादि स्मारक अवशेषों में एक भी अश्व से सम्बन्ध रखनेवाली नहीं है। स्वयं गैंडे के चित्र को उत्कीर्ण करनेवाले लगभग ३०० मुद्रांक (seals) उपलब्ध हुए हैं और वृषभ को उत्कीर्ण करनेवाले तो कितने ही हैं। यदि यह सभ्यता आर्यों की होती तो उनके सतत पार्श्वस्थ अनुचर, दुःख-सुख और यज्ञ के साथी 'घोड़े' का उसमें न होना असम्भव था। फिर जो मानव-आकृतियाँ मिट्टी या प्रस्तर-मिश्रण की मिलती हैं वे स्पष्टतः अनार्य हैं। इस सभ्यता का प्रसार-काल ३५०० ई० पू० और २७०० ई० पू० के बीच रखा गया है। कैसे यह सभ्यता टूटी? सिंधु घाटी की सभ्यता संबंधी अपने ग्रन्थ में सर जान मार्शल ने मोहन-जो-दड़ो के घरों की कुछ तस्वीरें दी हैं। इनके निचले कमरों में से कई हाथ-पाँव, मस्तकादि कटे मनुष्यों के अस्थि-पंजर बिखरे पड़े हैं। अवश्य यह कथा किसी मानव-आक्रमण का उपसंहार है। पैने अस्त्रों से ही वे जीवित काल में काटे गए हैं। सम्भवतः आक्रमण से बचने के लिए वे भागे थे, परन्तु आक्रमणकारियों ने उन्हें ढूँढ-ढूँढकर मारा। ये आक्रमणकारी कौन थे? हमने ऊपर जो अन्य साधनों द्वारा ऋग्वेद का निर्माण-काल और सम्भवतः आर्यों का भारत-प्रवेश-काल स्थिर किया है वह ३००० ई० पू० के लगभग है। फिर सम्भवतः वे आर्य ही थे, जिन्होंने

३००० ई० पू० के समीप भारत मे प्रवेश कर दो-तीन सौ वर्षों तक निरन्तर लड़कर २७०० ई० पू० के लगभग द्रविडो की अद्भुत सभ्यता नष्ट कर दी । ऋग्वेद से विदित होता है कि आर्यों को उन अनार्यो से लडना पडा था, जो कृष्णकाय थे, अनासा थे, दास थे और दस्यु थे। इनके सेनापति दस और शूर थे। भारत मे ये लोग द्रविड़ो के अतिरिक्त और कौन हो सकते थे ? और इन द्रविडो का प्रबल निवासस्थान पजाब और सिन्धु का काँठा था जिसे आर्यों को अपने निवास के लिए तोडना पड़ा। इन दुर्द्धर्ष सामरिकों पर विजय पाने के लिये और इनके विशाल दुर्गों को तोडने के लिए आर्यों को ऋग्वेद मे अपने वीर देवता इन्द्र से अहर्निश प्रार्थना करनी पडी । आर्यो ने द्रविड़ो का और इन्द्र ने उनके लौह दुर्गों का अपने वज्र मे विध्वंस किया। मिट्टी के बने मकानो मे रहने वाले आर्यों को मोहन-जो-दड़ो आदि के पकाई ईंटो के द्रविडो के घर अवश्य लोहे के-से लगे होंगे । अतः आर्यो ने ही द्रविड़ो की यह सभ्यता नष्ट की, क्योकि आर्यो के भारत-प्रवेश और मोहन-जो-दड़ो के अन्त के छोर प्रायः मिले हैं। एक बात और। जिन कमरो का ऊपर निर्देश किया गया है उन्ही मे से एक मे (एक तस्वीर से जान पडता है) छोटे अस्थि-पञ्जरों के बीच एक विशालकाय अस्थिपञ्जर भी पड़ा है, जो सभवतः किसी आर्य का है। द्रविडों से लड़ता हुआ शायद वह आर्य वहीं मारा गया होगा। तस्वीर में एक सजीव पंजाबी कुली भी दिखाया गया है। वह अस्थि-पञ्जर उस कुली से भी काफी बडा है।

सुमेर (उर प्रदेश) की वह सभ्यता, जिसके अवशेष ईरान में मिले हैं,द्रविड़ों से बहुत मिलती है । उस सभ्यता ने बहुत-कुछ मोहन-जोदडो की सभ्यता से लिया था, यह सभी विद्वान् मानते हैं। सम्भव है, सुमेर लोग स्वयं द्रविड़ रहे हों । कम-से-कम इतना सत्य है कि सुमेरवाले आर्य न थे और वे अपने उत्तर-पश्चिम के महापराक्रमी असुरों के शत्रु थे। सुमेर सभ्यता से असुरों का सघर्ष लगभग ३५०० ई० आरम्भ हुआ और धीरे-धीरे असुरो ने उस सभ्यता का विनाश कर उस पर अपने राज्य खडे किए। यह कुतूहलजनक बात है कि लगभग इसी समय आर्यों ने सुमेर-सभ्यता से सम्पर्क रखनेवाली मोहन-जो-दड़ो की द्रविड़-सभ्यता की कमर तोड दी। क्या आर्यो और असुरों मे वही सम्बन्ध था जो सुमेर और मोहन-जो-दड़ों की सभ्यतावालों मे था ? सम्भवतः । ऋग्वेद के प्राचीनतम मत्रो मे प्रायः ग्यारह स्थलों में असुरों का अविरोधी वर्णन है। वे पराक्रम के प्रतीक समझे गए थे इसी कारण 'असुर' शब्द वरुण और इन्द्र का विशेषण बना। असुरो ने कोई विशेष पराक्रम के कार्य किए होंगे, जिससे उनका नाम आर्य देवताओ का विशेषण बना। सम्भव है, यह पराक्रम असुरो द्वारा सुमेर-सभ्यता के विनष्ट होने पर उनको प्राप्त हुआ होगा । फिर उन्हीं असुरों से आर्यों का सघर्ष प्रारम्भ हुआ तब आर्यों ने अपने ऋग्वेद के बाद के मत्रो मे उन्हे विरोधी रूप में दर्शा कर राक्षस कहा । यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि प्राचीन असुरो से आर्यों का मध्य एशिया में बहुत दिनों तक सघर्ष चलता रहा, जिससे दोनो टूट गए। असुरों से लड़ने वाले मध्य एशिया के आर्य पन्द्रहवी शती ई० पू० के खत्ती-मितनी आदि थे जो सभवतः द्रुह्यु राजन्यो के वशधर थे, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। सभव है, स्वय असुर भी आर्यों का ही एक बाद में आनेवाला दल* हो और पृथ्वी के लिए उनमें समय-असमय युद्ध होता रहा हो। निष्क्रमण की एक लहर का दूसरी से टकराना साधारण है । यह बात पौराणिक साहित्य की एक साधारण कथा है कि देव और असुर एक ही पिता के पुत्र थे— कश्यप की सपत्नियो से उत्पन्न। दैत्य दिति से उत्पन्न हुए और आदित्य अदिति से। अदिति से आदित्यों का प्रादुर्भाव स्वयं ऋग्वेद घोषित करता है। दैत्य असुर थे और आदित्य देव आर्य।

इस प्रकार ऋग्वेद का निर्माण-काल लगभग ३००० ई० पू० और १४५० ई० पू० के बीच ठहरता है।

आर्यो के भारत में आने की बात मान ही लेनी पडेगी, क्योकि वीर जाति घोडों के रहते हुए चुप नहीं बैठ सकती, जबकि पश्चिम से बराबर हमले हो रहे थे और पजाब आदि से सुमेर तक एक विरोधी सभ्यता सजग थी। एक-एक चप्पे जमीन के लिए जातियाँ लड़ीं, मरीं, और खो गईं।

---

*इस असुरों के आर्यो की ही एक लहर होने की सभावना की ओर मेरा ध्यान डा० रामविलास शर्मा ने डा० अनन्तप्रसाद बनर्जी की एक पुस्तक (Asuras) का उल्लेख कर आकर्षित किया। डा० बनर्जी की पुस्तक मध्य-पूर्वी एशिया में की गई खुदाई से पहले ही प्रस्तुत हो चुकी थी, जिससे सुमेर, असुर, और मोहन-जो-दडो की सभ्यताओ से प्राप्त सामग्री का उपयोग उसमें शायद न हो सका।

भील जाति—(१)

अपने पूर्व लेख में मैंने युक्तप्रान्त की एक जरायम-पेशा जाति—डोमों—का वर्णन किया है। प्रस्तुत और अगले लेख में मेरा विचार अन्य एक महत्वपूर्ण जाति का वर्णन करने का है, जो कि देश के किसी-किसी भाग में जरायम-पेशा और कहीं-कहीं एक आदिम जाति मानी जाती है और अन्य कुछ भागों में जिसकी गणना उन जातियों में की जाती है, जो कि शान्तिपूर्ण नागरिकों की भाँति एक स्थान पर बसकर खेती-बारी करके जीविकोपार्जन करती हैं। गत वर्ष जनवरी में लखनऊ विश्वविद्यालय ने उच्च कक्षाओं के छात्रों के दल के साथ इस महत्वपूर्ण जाति का अध्ययन करने के लिए मुझे भेजा था। उसी यात्रा में भील जाति के प्रत्यक्ष अध्ययन के आधार पर जिन निर्णयों पर हम पहुँचे उनका विस्तृत वर्णन आगे दिया जा रहा है।

भील और उनसे मिलती-जुलती जातियों की संख्या लगभग ५ लाख है। सन् १९३१ की मर्दुमशुमारी में भीलों की संख्या ३६३१२४ दर्ज हुई है। इनमें से १४४८३६ हिन्दू धर्मानुयायी तथा शेष २१८२८८ व्यक्ति आदिम जातीय धर्म को माननेवाले हैं। भीलों से सम्बन्धित कई जातियाँ भिन्न-भिन्न नामों से पुकारी जाती हैं। सन् १९३१ की मर्दुमशुमारी के आँकड़ों का यही रहस्य है। पटेलिया, रथिया, भिलाला और मनकर, इन सभी जातियों की उत्पत्ति भील जाति से हुई है। भील जाति मध्यभारत की जनसंख्या के दस प्रतिशत का प्रतिनिधित्व करती है। गुजरात में २२ लाख भील हैं। जिन प्रदेशों में भील विशेष रूप से बसे हुए हैं उनमें गुजरात, खानदेश, मध्यप्रान्त, मारवाड़, मेवाड़ और राजपूताना सम्मिलित हैं और रतलाम, सैलाना, झाबुआ, धार, बड़वानी जैसी मध्यभारत की अनेकों रियासतों में भी बड़ी संख्या में भील पाये जाते हैं।

भीलों की गणना भारत में द्रविड़ों से पूर्व पाई जानेवाली आदिम जातियों में की गई है। भील नाम की व्युत्पत्ति सम्भवतः तामिल शब्द 'विल' अथवा एक विशेष प्रकार के धनुष से, जो कि भीलों का आक्रमण और रक्षा दोनों ही का प्रधान अस्त्र है, हुई है। प्राचीन तामिल काव्य में 'विल्लवर' (धनुर्धारी) शब्द का प्रयोग प्राक् द्रविड़ जाति के जंगली मनुष्यों के लिए किया गया है। यदि यह बात सही हो तो यह मानना पड़ेगा कि भील शब्द द्रविड़ भाषा-भाषी जातियों की देन है। यह बड़ी ही महत्त्वपूर्ण बात है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि भीलों के जातीय सम्बन्ध का आधार यह तथ्य है कि भील आज भी

धनुर्धारी भील
(फोटो—लेखक द्वारा)

सामान्यतः धनुष-बाण का ही अपने विशेष अस्त्र के रूप मे प्रयोग करते हैं। धनुष का प्रयोग करने के कारण भीलो की गणना कोल, मुण्डा, सथाल तथा कोरवा एव प्राक्-द्रविड जातियो की उन वशज उपजातियो मे की गयी है जिनकी उत्पत्ति एक ही मूल जाति से हुई थी, यद्यपि शारीरिक गढन की दृष्टि से भीलो और इन जातियो मे कोई सादृश्य नही मिलता। प्रस्तुत लेख के साथ प्रकाशित चित्र मेरे इस कथन का प्रतिपादन करते हैं। मै इससे भी आगे बढकर निश्चय रूप से कह सकता हूँ कि जातीय दृष्टि से भील गुजरात की सवर्ण जातियों से भिन्न नहीं, सिवाय इस तथ्य के कि उनकी भिन्न-भिन्न कोटि की सस्कृति और रहन-सहन की आदिम प्रणाली के कारण उच्च वर्ण के लोगो की अपेक्षा देश की आदिम जातियो और निम्न-वर्ण के लोगों को उनके साथ मिश्रित होने मे अधिक सुगमता हुई है। फलतः आस-पास रहनेवाली उच्च जातियों की अपेक्षा भीलो में वर्ण-सकरता के चिह्न अधिक स्पष्ट दीख पडते हैं। यही बात उन प्रदेशों के बारे में भी सही है, जहॉ कि भील हिन्दू जातियो के साथ मिल-जुलकर रहते हैं। डा० जे० एच० हटन यही बात स्वीकार करते हुए लिखते हैं:—'शरीर की बनावट की दृष्टि से भील एक मिश्रित नस्ल को जाति प्रतीत होती है जिसमें काकेशियन और आस्ट्रेलाइड जातियों का पुट नजर आता है और कभी-कभी उनकी शारीरिक गढन में ऐसी विशेषताएँ मिलती हैं जिनमें मगोल जाति की झलक मिलती है यद्यपि उनके सिर खासे लम्बे मालूम होते हैं।' पर दरअसल सिर का खासा लम्बा होना मगोल जाति की विशेषता नहीं है, क्योकि सभी मगोलों का माथा या तो चौड़ा या गोल होता है।

भील जाति का अस्तित्व प्राचीन काल से ही रहा है। कम-से-कम द्वितीय अथवा तृतीय शताब्दी ईस्वी पूर्व से ही हमारे प्राचीन सस्कृत साहित्य में इनके उल्लेख मिलते हैं। गुजरात में भील जाति वहॉ की सबसे पुरानी जाति की हैसियत से प्रसिद्ध है, किन्तु मेरा ख्याल है कि अन्य स्थानो की तरह यहॉ भी भीलो की आखेटवृत्ति और उनके धनुष-बाण के प्रयोग ने उनके जातीय सम्बन्ध का निर्धारण किया है, यद्यपि इसके समर्थन में हमारे पास कोई मानव-विज्ञान-सम्बधी (anthropological) प्रमाण नहीं है। मि० एन्थोवेन 'ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स ऑफ बाम्बे (Tribes and Castes of Bombay, Vol I, Article on Bhil) में लिखते हैं कि गुणाढ्य के कथासरित्सागर में भील शब्द का उल्लेख मिलता है। वहॉ इस बात का उल्लेख है कि विन्ध्याचल पर्वत से होकर आगे बढने पर एक आर्य नृप को एक भील सरदार ने रोका था। फिर भी इससे यह नही प्रमाणित होता कि भील अनार्यों के वशज हैं, क्योकि विजेता जब कभी विजितो की चर्चा करते थे तो वे उनके लिए अप्रशसात्मक विशेषणों का प्रयोग करते थे, हॉ, यह उल्लेख भीलों की प्राचीनता का प्रमाण है।

श्री सी० एम० वेंकटाचार्य भीलों का सम्बन्ध निषादों अथवा भारत की पूर्व-द्रविड़ जातियों से बतलाते हुए (भारत की मर्दुमशुमारी रिपोर्ट, प्रथमखण्ड, तृतीय भाग, पृष्ठ ५१) भीलो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे निम्न धारणाएँ प्रस्तुत करते हैं—

"इसमे सन्देह नहीं कि ये ऐसी जाति के प्रतिनिधि हैं जो आर्यों और द्रविडो से पहले भारत में रहती थी। बहुत सम्भव है कि इनकी उत्पत्ति उन मूल भूमध्यसागरीय प्रदेश की जातियों से हुई हो, जो कि सहारा के घास के विस्तृत मैदानों (Steppes) में जलवायु सम्बन्धी कठिनाइयॉ उपस्थित होने पर, दूर-दूर जाकर फैल गई। और यह वही जाति है जिसे कैस्पियन संस्कृति के अन्तिम स्वरूप से सम्बन्धित उद्योगो का विन्ध्य प्रदेश में प्रसार करने का श्रेय प्राप्त है।" आगे चलकर वे पुनः लिखते हैं कि "भील महान् मुण्डा जाति का ही एक सम्प्रदाय है जो कि द्रविड़ों के पूर्व भारत में अपना क़ब्जा जमाये हुए थी और विन्ध्य पर्वत की दूसरी ओर के मध्य के क्षेत्रों में जिसका निवासस्थान था। और सम्भवतः दूसरी तरफ बसे हुए द्रविडों के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप उसे अपनी यह वर्तमान उपाधि प्राप्त हुई।" श्री सी० एस० वेंकटाचार्य किस प्रकार भूमध्यसागरीय देशों की जाति से भीलों के उद्गम की सम्भावना और उनके द्रविड जाति के वंशज होने की बात से सामजस्य स्थापित करेंगे, यह मै नहीं जानता, किन्तु मुझे तो इससे केवल यही पता चलता है कि भीलो की जातीय समानता अथवा सम्बन्ध पर प्रामाणिक रूप से कहने के लिए पर्याप्त प्रमाण लभ्य नहीं है। केवल धनुष और बाण का प्रयोग, जिसके कारण भीलो को 'निषाद' बतलाया गया है, इस बात का पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि वे अनार्य जाति के वशज हैं। निषाद लोग बिना नाक के माने गए हैं अर्थात् दूसरे शब्दो में उनकी नाक चपटी होती और सिरे की ओर धँसी हुई होती है। किन्तु भील जाति की, यहॉ तक कि उनके सबसे जगली सम्प्रदायवालों की भी नाकें

चिपटी नहीं होतीं और उनके शारीरिक निर्माण की अन्य विशेषताएँ निस्सन्देह इस बात की द्योतक हैं कि वे भूमध्य-सागरीय देशों की जातियों के वंशज हैं।

अभी हाल में श्रीमती ई० डब्ल्यू० एफ० मैकफरलेन ने भीलों में पाई जानेवाली विभिन्न रुधिर-श्रेणियों का विशेष अध्ययन किया है। उन्होंने यह पता लगाया है कि भीलों में रुधिर-श्रेणी B का प्रतिशत औसत बहुत अधिक होता है। वह भीलों के ४४ व्यक्तियों के रुधिरों की परीक्षा के आधार पर इस परिणाम पर पहुँची हैं और उनका यह विश्वास भी है कि भील B श्रेणी के रुधिर के उद्गम हैं। चूँकि भारत की कई आदिम जातियों और खासकर जरायम पेशा जातियों में B श्रेणी के रुधिर का प्रतिशत अंश बहुत अधिक होता है, अतः यह इस बात का द्योतक है कि भील आदिम जातियों की संतान हैं। गुजरात अनुसंधान संघ (Gujerat Research Society) के निमंत्रण पर हम लोग गुजरात के पंचमहाल जिले की भील बस्तियों में गए और हम लोगों ने लगभग ५०० भीलों की रुधिर-परीक्षा की। इन परीक्षाओं के परिणाम से हम इस बात के क़ायल हो गए कि भीलों तथा गुजरात की दूसरी जातियों में कोई फ़र्क़ नहीं है। अतः मैकफरलेन के इस कथन का कि भीलों में B श्रेणी का रुधिर बहुत अधिक मात्रा में होता है, समर्थन नहीं होता। ऐसा कदाचित् इसलिए हुआ कि मैकफरलेन ने सम्भवतः कुछ सम्बन्धित परिवारों की ही रुधिर-परीक्षा की। और इसमें आश्चर्य नहीं कि जिन नमूनों की उन्होंने जाँच की उनमें एक विशेष रुधिर श्रेणी के व्यक्तियों की संख्या अन्य श्रेणी की अपेक्षा बहुत अधिक थी। यदि सचमुच, जैसा मैकफरलेन का ख्याल है, भीलों के रुधिर में रुधिर-श्रेणी B का अंश प्रतिशत इतना ऊँचा (५४%) विद्यमान है, तो यह आसानी से माना जा सकता है कि ये लोग गुजरात की हिन्दू जातियों से भिन्न, जिनमें रुधिर-श्रेणी B का प्रतिशत भीलों के प्रतिशत के आधे से भी कम होता है, किसी अन्य जाति से संबद्ध रहे होंगे। मानव-शरीर के अन्य मान-निरूपणों से पता चला है कि भील जाति कोई आदिम सम्प्रदाय नहीं है। और यद्यपि भीलों ने आदिम जातियों अथवा पूर्व-द्रविड़ जातियों को अपने में मिल जाने दिया है। और उन्हीं से मिलते-जुलते ढंग की निम्न कोटि की ज़िन्दगी भी वे व्यतीत करते हैं, फिर भी मुण्डा, संथाल, कादर, इरुल, मलसार तथा मलार्यन-जैसी दूसरी पूर्व-द्रविड़ जातियों और भीलों में कोई समानता नहीं पायी जाती। वास्तविकता तो यह है कि आजकल जो भील विंध्य पर्वत और उसके सुरक्षित क्षेत्रों में निवास करते हैं वे इस क्षेत्र के आदि निवासी नहीं हैं। वे सारे देश में पहले फैले हुए थे और प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक काल—विशेषतया ऐतिहासिक काल—की विभिन्न आदिम जातियों से उनकी मुठभेड़ें अरावली की पहाड़ियों तथा विंध्य-पर्वत-समूहों के दुर्गम भूभागों में उनकी वर्तमान एकांतता के लिए ज़िम्मेदार हैं। इसी कारण पर्याप्त मात्रा में अपनी स्वतंत्रता को अक्षुण्ण बनाए रखने में भील समर्थ हुए। भीलों की परम्परागत कथाओं में उनकी वर्तमान एकांतता का उल्लेख नहीं है। उनमें केवल यह बतलाया गया है कि आरम्भ में भील मालवा के पश्चिमोत्तर प्रदेश में रहते थे, जहाँ से वे उस समय हटा दिए गए जबकि राजपूतों ने उनके देश पर विजय प्राप्त करना आरम्भ किया था। इन परम्पराओं में भारत के आर्यीकरण के आरम्भिक इतिहास में उनका सर्वप्रथम भाग लेने का भी उल्लेख है।

एक भील युवक
(फोटो—लेखक द्वारा)

पुराणों के अनुसार निषादों की उत्पत्ति मनु स्वायंभुव के एक वंशज अंग के पुत्र वेण से हुई। किंतु इस उत्पत्ति का सम्बन्ध भीलों से नहीं है, सिवा इस तथ्य के कि भील निषाद नामक जातियों की भाँति धनुष और बाण का प्रयोग करते हैं। उनकी उत्पत्ति के संबंध में एक परम्परागत कथा नीचे लिखे अनुसार है।

भील स्त्रियाँ और बच्चे
(फोटो—लेखक द्वारा)

पाँच भील एक साथ मिलकर महादेव जी से मिलने के लिए गए। पार्वती ने उन्हे अपने निकट आते हुए देखकर अपने पति से कहा—"आपके साथ मेरा विवाह हो जाने के फलस्वरूप मेरे पाँच भाई आपसे दहेज माँगने के लिए आ रहे हैं"। महादेवजी ने उन्हे एक प्रीतिभोज दिया। उसके बाद उन्होंने अपनी स्थिति समझाते हुए कहा कि मेरे पास सिवा अपने इस बैल नादी और कमडल के अतिरिक्त आप लोगो को भेंट करने के लिए कुछ भी नहीं है। इसलिए वे अपने घर वापस चल पड़े। फिर भी उन्हें कुछ-न-कुछ देने के विचार से महादेवजी नें उनके रास्ते में चाँदी की एक तिपाई रख दी। पर वे देख सकने में असमर्थ थे। पार्वतीजी ने यह देखकर कि किस प्रकार उन्होंने मिली भेंट खो दी, उन्हें बुलवाया और सारी घटना समझाई और बतलाया कि चूँकि वे तिपाई को नहीं देख सके अतः उनकी समृद्धि की आशा बहुत कम है, फिर भी वह जो कुछ कर सकेंगी उनके लिए करेंगी। और इस प्रकार पार्वतीजी ने उन्हें सूचित कर दिया कि नादी की ओर ध्यान देना उनके लिए विशेष आवश्यक है, क्योंकि उनकी कूबड़ अपरिमित सम्पत्ति से परिपूर्ण है। घर पर पहुँचने पर उन पाँचों में से एक ने यह सुझाव पेश किया कि नादी को मार डाला जाय और सम्पत्ति तत्काल प्राप्त कर ली जाय। दूसरों ने ऐसा करने में हिचक दिखलाई, पर अन्त में उसी की बात सबको माननी पड़ी। कूबड़ में कौड़ी की भी सम्पत्ति नहीं निकली, अतः वे पाँचो बडे निराश हुए। इसी समय पार्वती वहाँ आकर प्रकट हो गईं और उन्हे बतलाया कि बैल के कन्धे पर जुआ डालकर उसे हल में जोतना चाहिए था और इस प्रकार धरती माता से सम्पत्ति प्राप्त करना चाहिए था। चूँकि उन्होंने इतनी मूर्खता दिखलाई कि उस पुनीत पशु की ही हत्या कर डाली, इसलिए कभी भी उनका मुख न देखने की प्रतिज्ञा कर वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर वहाँ से चली गईं। उस पावन पशु की हत्या के कारण ही भील बराबर दुःखपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हैं और उनकी गणना किसी जाति मे भी नहीं होती है। यह केवल दतकथा है, पर इससे यह पता चलता है कि किस प्रकार भील अपने को आदिम जातियों से भिन्न मानते हैं और उनके इस दावे का समर्थन मानव-शरीर-मान-निरूपण सम्बन्धी (anthropometrical) प्रमाण भी करते हैं।

भील वास्तव में बडे दिलचस्प लोग होते हैं। स्वय अपनी जाति के भीतर उनमें दो ऐसे कबीले हैं जो क्रम से 'उजले' अथवा शुद्ध और 'मैले' अथवा अशुद्ध कहलाते हैं। ये अपने कबीले के भीतर ही विवाह कर सकते हैं। इस जाति में एक और तीसरा कबीला होता है जो कि अन्य दोनों से नीच माना जाता है, क्योंकि उसका पेशा गाना-बजाना होता है। यद्यपि भील जाति के विभिन्न कबीले पर्याप्त मात्रा में एक दूसरे से मिश्रित हो चुके हैं, फिर भी 'उजले' भील अपने ही कबीले के भीतर विवाह करने के नियम का बड़ी सख्ती से पालन करते हैं, केवल कभी-कभी 'मैले' कबीले की कन्यायें विवाह में भले ही ग्रहण कर ली जाती हैं, पर अपने कबीले की कन्याएँ वे 'मैले' को नहीं देते। इधर कुछ दिनों से भीलों में यह भावना लोकप्रिय हो गई है कि यह भेद-भाव मिट जाना चाहिए और दोनों कबीलों को परस्पर में एक दूसरे के भीतर विवाह करने की अनुमति मिलनी चाहिए। किन्तु मिथ्या धारणाएँ या अध भावनाएँ बडी मुश्किल से दूर होती हैं और सारी भील जाति को इस रूढि-प्रथा का उन्मूलन करने में बरसों लग जायेंगे। इस प्रकार के निर्णय का प्रभावकारी होना इस कारण और भी कठिन है कि भील बहुत ही विस्तृत क्षेत्र मे दूर-दूर पर बसे हुए ह।

प्रत्येक भील कबीला कई भिन्न-भिन्न समूहों (Sects) में बँटा है। ये अपने समूह के बाहर ही विवाह-सम्बन्ध कर सकते हैं। एक ही समूह के सदस्यों में परस्पर विवाह वर्जित होता है। इन प्रतिबन्धो के अतिरिक्त ग्रामीण भील नगरों की भील कन्याओ से विवाह नहीं करते,

क्योंकि उनका कहना है कि नगरों में रहनेवाली स्त्रियों के नैतिक चरित्र की विशुद्धता पर भरोसा नहीं किया जा सकता। जाति के बड़े-बूढ़े लोग ऐसी शादियों पर नाक-भौं सिकोड़ते हैं और इस प्रकार नगरों की भील जनता जाति का एक ऐसा भाग बन गई है जो अपने समूह के भीतर वैवाहिक सम्बन्ध रखती है, यद्यपि इस नियम का बहुत कड़ाई से पालन नहीं होता क्योंकि प्रायः ग्रामीण कन्याएँ धन और शहर की चमक-दमक और वैभव से आकर्षित होकर शहरों में विवाह कर लेती हैं।

समस्त भील जाति में प्रौढ़ विवाह की प्रथा प्रचलित है। ऐसा बहुत कम होता है कि कोई स्त्री १५ वर्ष से कम की अवस्था में और पुरुष २० वर्ष से कम की अवस्था में विवाह करे। केवल सम्पन्न घरों में बाल-विवाह की विशेष सुविधा प्राप्त है और केवल गाँव का मुखिया अथवा समृद्ध कृषक ही इस प्रकार का ठाट कर सकते हैं। विवाह से पूर्व स्त्री-पुरुष के प्रेम-सम्बन्ध को भील लोग अनुचित मानते हैं और यदि विवाह के पूर्व किन्हीं दो स्त्री पुरुषों में काफी घनिष्ठता स्थापित हो जाय और इसका पता चल जाय तो जाति के बड़े-बूढ़े अनुशासन के निमित्त उस स्त्री को उस पुरुष की विवाहिता पत्नी क़रार दे सकते हैं। किन्तु उन्हें विवाह के वैधानिक उपचारों के लिए अनुमति नहीं मिल सकती। यदि कोई पुरुष किसी ऐसी कन्या से विवाह करना चाहे जिसका किसी पुरुष से अनुचित प्रेम-सम्बन्ध रहा हो तो वह उस लड़की की स्वीकृति मिलने पर उससे विवाह कर सकता है। किन्तु यदि विवाह से पूर्व के प्रेम-सम्बन्ध के फलस्वरूप कोई शिशु उत्पन्न हो जाय तो जातीय समाज उसकी जिम्मेदारी उस दोषी पुरुष के ही सिर मढ़ता है और उसे ही इस नाजायज बच्चे के पालन-पोषण का व्यय उठाना पड़ता है। ऐसे विवाहों का उपचार, जिनमें भील वर-वधू बाल्यावस्था के होते हैं, अत्यन्त साधारण होता है। वर और वधू एक दूसरे को वस्त्र और मिष्टान्न का उपहार देकर और उपस्थित व्यक्तियों में गुड़ और मदिरा बाँटकर विवाह-प्रतिज्ञा की पुष्टि करते हैं।

माता-पिता द्वारा तय की गई शादियों में वर-पक्ष की ओर से चार आदमी कन्या के घर पर सगाई तय करने के लिए जाते हैं। यदि कन्या के संरक्षक इस सम्बन्ध के लिए राजी होते हैं तो इन लोगों को सात रुपये दिये जाते हैं ताकि उनसे गुड़ और मदिरा खरीदकर बिरादरी के लोगों को भोज दिया जाय। इसके बाद सगाई अकाट्य हो जाती है। शुभ दिन देखकर वर और वधू दोनों को अपने-अपने घरों पर तेल और हल्दी का उबटन लगाया जाता है। दोनों ही को अपने-अपने गाँव में कन्धे पर चढ़ाकर गाँव के चारों ओर होकर जुलूस निकालते हैं, क्योंकि जुलूस में वर-वधू के लिए भूमि स्पर्श करना अशुभ समझा जाता है। यह भी आवश्यक होता है कि वर और वधू दोनों ही इस अवधि में बिल्कुल ही चुप्पी साधे रहें। और अगर किसी अवसर पर दूसरे लोग हँसते भी हैं तो भी उन्हें अपनी इस चुप्पी को बड़ी दृढ़ता और सजीदगी के साथ क़ायम रखना पड़ता है। कभी-कभी ऐसा करना उन दोनों के लिए असह्य परीक्षा हो जाती है। किन्तु सहनशीलता की इस परीक्षा में उन्हें उत्तीर्ण होना आवश्यक होता है और एकाध सप्ताह के भीतर वे विवाहोत्सव के पश्चात् आनेवाले जीवन के लिए पूर्णतया अनुशासित हो जाते हैं। इस अवधि में ग्रामवासी भी उनके साथ शामिल हो जाते हैं। वे अपने साथ अपना भोजन, अन्य भोज्य पदार्थ तथा सौगातें लाकर वर-वधू के परिवारवालों को देते हैं, जो उन्हें प्रीतिभोज देते हैं। इस ढंग के एक विवाह में हमने देखा कि २१ वर्ष के एक नवयुवक वर का 'बाना बैठना' उत्सव मनाया जा रहा था और वह अपने मित्रों और सम्बन्धियों के कन्धों पर बिठाकर दिन-रात घुमाया जा रहा था। यहाँ तक कि उसकी वृद्धा माता भी उसे अपने कन्धों पर बिठाए हुए प्रशंसकों की भीड़ के साथ-साथ घूमते देखी गई।

एक भील युवती
(फोटो—लेखक द्वारा)

तत्पश्चात् वर को एक चारपाई पर बिठा दिया गया और उसकी नाक पर रूमाल डाल दिया गया। उस समय तक जब तक कि उपस्थित भीड हँसी-मजाक और आनन्द मनाने में मस्त थी, वह एकदम मौन धारण किए हुए वैसे ही बैठा रहा। कभी-कभी उसका पिता हुक्का लिये हुए आता और उसे पीने के लिए देता। हुक्के को पीने के बाद वह आदरपूर्वक पास प्रतीक्षा में खडे हुए अपने पिता को उसे वापस कर देता। इस समय उसे बोल देने या हँसा देने का कोई भी प्रयत्न सफल नहीं हो सकता था, क्योंकि उसने दृढ सकल्प कर रखा था। वह अपने मौन व्रत को भंग नहीं होने देगा, चाहे जो कुछ भी हो। जब उसे सचमुच परेशानी और थकावट महसूस होने लगती तो वह अपनी माँ अथवा बहन को इशारे से बुलाता और तब अपने पिता अथवा किसी निकट सम्बन्धी के कन्धों पर चढकर अपने शयन-गृह मे चला जाता। इस उपचार की अवधि मे, जो लगभग एक सप्ताह का होता है, समस्त ग्रामवासी और सम्बन्धी भावी वर और वधू के घरों पर आकर उनसे मिलते हैं। चारो ओर से सौगातो और भेंटों की वर्षा होती है।

'बाना बैठना' उपचार के समाप्त हो जाने के पश्चात् कुछ समय के लिए बाँस के चार लट्ठों पर जामुन की पत्तियो से आच्छादित एक मण्डप तैयार किया जाता है, और चारों ओर आम के पल्लवो से गुँथी हुई वन्दनवार लगा दी जाती है। फूल और झडियों से भी पण्डाल सजाया जा सकता है। मण्डप के नीचे सम्पन्न होनेवाला प्रथम उत्सव एक प्रीति-भोज के रूप मे होता है। इसमें चार कॉरे लडके और लडकियों को बैठाया जाता है और उन्हें 'मक्काथुली' अथवा एक विशेष प्रकार से बनी मक्का की रोटी, जिसमे अनेक बढिया चीजें पडी होती हैं, खिलाई जाती है। तत्पश्चात् मित्रों और सम्बन्धियों की भोजन और मदिरा की दावत होती है। तदुपरान्त वर चित्ताकर्षक ढग से सजधजकर मण्डप में आता है। उसके हाथो में एक तलवार और कटार होती है, और पोशाक लाल और सफेद रग की होती है, जो कि भीलों के विवाह की आम पोशाक है। वह अपनी कमर मे एक गमछा भी लपेटे रहता है। उसे मण्डप के नीचे खड़ा किया जाता है और उसकी माता चावल कूटनेवाला मूसल, तीर और सूप लिये हुए आती है, जिसे वह अपने पुत्र के चेहरे के चारो तरफ घुमाकर उसका परछन करती है और विशेष प्रकार की बनी चार मोटी रोटियाँ मण्डप के चारों कोनों मे फेंकी जाती हैं। जब सब तैयारियाँ पूरी हो जाती हैं तब वह अपनी बरात के साथ वधू के गाँव को रवाना होता है और साधारणतः सूर्योदय के समय वहाँ पहुँचता है।

वर की उपस्थिति मे वधू के साथ भी इसी प्रकार का उपचार होता है। वधू के घर में जो मण्डप बना होता है वहीं विवाह की मुख्य क्रिया सम्पन्न की जाती है। इस स्थान पर वधू एक दीपक जलाती है और उसी क्षण वहाँ पर वर लाया जाता है जिसके लिए उस दीपक को फौरन ही बुझा देना अनिवार्य होता है। तत्पश्चात् वधू के सम्बन्धी दम्पति के शरीर के ऊपरी वस्त्र का गठबन्धन कर देते हैं और वधू का भाई दोनों के हाथों को मिला देता है। इस सेवा के लिए उसे थोड़ा-सा गुड दिया जाता है और तब कगन और ताँवे की अँगूठी क्रमशः वधू की कलाई और उँगली में पहनायी जाती है और इसी के साथ विवाहोपचार समाप्त हो जाता है। विवाहोत्सव समाप्त हो जाने के पश्चात् ब्राह्मण द्वारा हवन कराया जाता है, किन्तु यदि ब्राह्मण मौजूद न हुआ तो भील जाति का ही बूढा व्यक्ति यह कार्य करता है। घी तथा तिल आदि अग्निकुण्ड में होमे जाते हैं और दम्पति को उसकी सात बार परिक्रमा करनी पडती है। ऐसे गाँवों में जिनमें हिन्दू रीति-नीति का प्रचार नहीं हुआ है, दम्पति एक शमी वृक्ष की बारह बार परिक्रमा करते हैं। प्रथम छः परिक्रमाओं मे वर, और शेष छः मे वधू आगे-आगे रहती है।

भील वर-वधू—(फोटो—लेखक द्वारा)

विश्व की कहानी
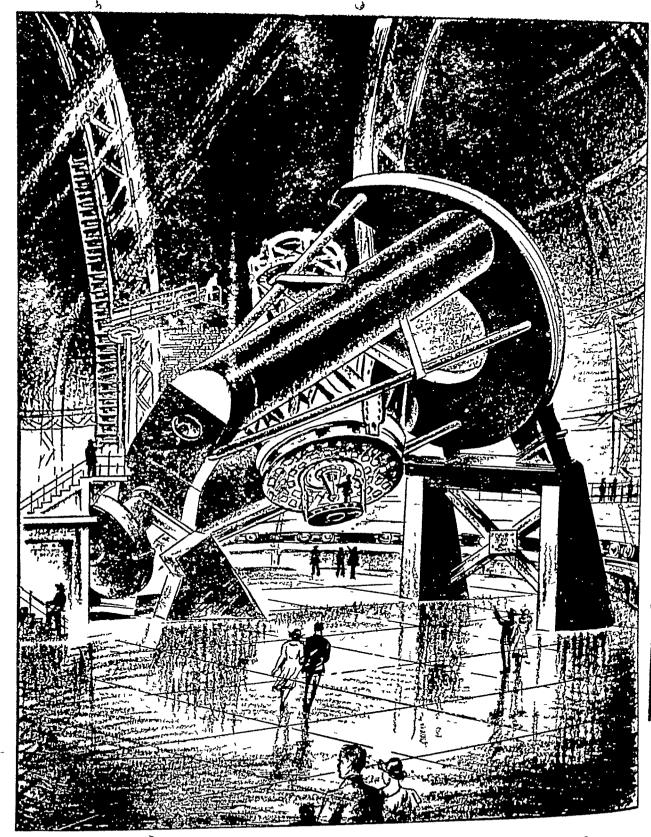
चर्मचक्षुओं द्वारा सारे विश्व-ब्रह्माण्ड की झाँकी देखने की मानवीय जिज्ञासा का प्रखर प्रतीक

इस चित्र में उस महान् पर्व-दिवस की कल्पना की गई है, जब प्रस्तावित २०० इंच व्यास का दूरदर्शक अपने विशाल गृह में प्रस्थापित होकर हमारी ज्ञान-परिधि के सीमान्त का अनुसंधान प्रारंभ कर देगा। अनुमान किया जाता है कि इस महान् आकाशभेदी यंत्र के आरोपित होने पर माउंट पालोमर का दूरदर्शक-भवन भीतर की ओर ऐसा ही कुछ दृश्य प्रस्तुत करेगा। चित्र में दिखाई दे रही मानवाकृतियों से तुलना कर इस दीर्घकाय यंत्र की विशालता का अंदाज़ लगाइये।

संसार का सबसे महान् नवीन दूरवीक्षण-यंत्र

२०० इंच व्यास का प्रस्तावित दूरदर्शक

जिसकी तुलना में दुनिया के तथाकथित सप्त आश्चर्य (Seven Wonders) फीके और निष्प्रभ प्रतीत होते हैं। कौन कह सकता है कि जिस दिन आधुनिक मानव का यह ब्रह्माण्ड-भेदी नेत्र अपनी पलक उठाएगा, उस दिन विज्ञान की कितनी समस्याएँ न सुलझ जाएँगी ?

पंद्रह वर्षों से लोग संसार के सबसे बड़े नवीन दूरदर्शक की चर्चा समाचारपत्रों में पढ़ते आ रहे हैं। कई बार सूचना मिली थी कि यह दूरदर्शक अब कुछ ही महीनों में तैयार होनेवाला है, परंतु आज भी (१६४२ के अंत तक) यह पूर्णतया तैयार नहीं हो पाया है। कारण यह है कि इतना बड़ा दूरदर्शक — इसके दर्पण का व्यास २०० इंच होगा — अभी तक कहीं भी नहीं बना था और इसलिए तरह तरह की कठिनाइयाँ उपस्थित होती रही हैं। आरंभ में बहुत-से वैज्ञानिकों को संदेह था कि इतना बड़ा दूरदर्शक बन भी सकेगा या

माउंट पालोमर के शिखर पर प्रस्थापित होनेवाला दूरदर्शक-गृह, जिसमें २०० इंच का महान् दूरदर्शक आरोपित होगा। इसके गुंबद का व्यास १२५ फ़ीट होगा।

नहीं। वस्तुतः, इस दूरदर्शक के बनाने की कठिनाइयों पर गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन और इंजीनियरिंग, इन सभी के विशेषज्ञों के पूर्ण सहयोग से ही विजय मिल सकी है। केवल रुपये की ही बात यह नहीं रही है, बल्कि यदि आज कोई चाहे कि ३०० या ४०० इंच व्यास का दूरदर्शक बने तो वह नहीं बन सकेगा—यह हमारे बस की बात नहीं। १०० इंचवाले दूरदर्शक से इतनी नई बातों का पता चला कि ज्योतिषियों का विश्व-सम्बन्धी सिद्धांत ही बदल गया। तो भी सभी ज्योतिषियों की लालसा थी कि कोई और भी शक्तिशाली दूरदर्शक बने, जिससे

२०० इंच व्यासवाले दर्पण की सिल्ली की पीठ के खाली पुश्ते
ऊपर बैठे हुए आदमियों की आकृति से तुलना कर सिल्ली के वृहद् आकार का कुछ-कुछ अंदाज लगाया जा सकता है।

ही नहीं, गरम शीशे को बहुत धीरे-धीरे ठंढा करना पड़ता है, नहीं तो वह तड़क जाता है। १०० इंच-वाले दूरदर्शक के दर्पण को ठंढा करने में कई महीने लगे थे, परंतु उसकी तौल कुल ५ टन थी। यदि २०० इंच व्यास के दर्पण को उसी पदार्थ का बनाया जाता और मोटाई भी उसी-अनुपात में रखी जाती तो शीशे की तौल ४० टन (लगभग १००० मन) होती और इसे ठंढा करने में ६ वर्ष लगते! इससे कम समय में ठढा करने में इसके तड़कने का भय रहता।

यदि दर्पण को शीशे का न बनाया जाय तो किसका बनाया जाय, इस प्रश्न पर अच्छी तरह विचार हुआ। मुरचा न खानेवाला (स्टेनलेस) इस्पात, अन्य इस्पात, इस्पात पर चिपकाया शीशा तथा और कई एक वैकल्पिक रीतियों पर विचार हुआ, परंतु अंतिम निर्णय यही हुआ कि केवल स्फटिक (कार्ट्ज) से ही कुछ आशा की जा सकती है। परंतु इसमें कठिनाई यह पड़ती है कि इसे गलाने के लिए प्रचंड ताप की आवश्यकता पड़ती है। तो भी विशेष रीतियों के उपयोग से २० इंच व्यास तक की सिल्ली बना ली गई और ऐसा संभव जान पड़ने लगा कि कदाचित् २०० इंच व्यास की सिल्ली भी बन जायगी। परंतु जब ख़र्च का परता बैठाया गया तो पता चला कि कुल प्राप्त धन का अधिकांश ऐसी सिल्ली बनाने में ही लग जायगा! इसलिए स्फटिक छोड़कर इसे 'पाइरेक्स' नामक शीशे का बनाना ही ठीक समझा गया। इसमें स्फटिक की अपेक्षा तापजनित प्रसार चौगुना होता है, यद्यपि शीशे की अपेक्षा एक-तिहाई ही होता है। विशेष पाइरेक्स में साधारण पाइरेक्स की अपेक्षा कुछ कम ही प्रसार होता है। अतएव अंत में २०० इंच वाले दर्पण के लिए इसी विशेष पाइरेक्स का उपयोग किया गया।
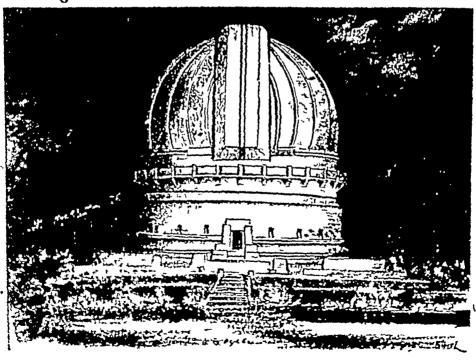
आज की उलझी हुई गुत्थियाँ भी सुलझ जायँ। डाक्टर हेल ने १९२७ में ज्योतिष पर एक लोकप्रिय लेख लिखा था जिसमें यह आशा हृदयग्राही रूप से प्रकट की गई थी। परिणाम-स्वरूप "रॉकफैलर जनरल एजुकेशन बोर्ड" के सभापति ने इस कार्य के लिए ६० लाख डॉलर (लगभग दो करोड़ रुपया) दिया। तभी से २०० इंच व्यास के दूरदर्शक बनाने की चेष्टा हो रही है।

कठिनाइयाँ

सबसे अधिक कठिनाई इस बात में पड़ी कि इतना बड़ा शीशा कैसे ढाला जाय! जैसा हम पिछले लेखों में देख चुके हैं, पुराने समय में दर्पण फूल (धातु) के बनते थे, परंतु पीछे कई विशेष गुणों के कारण शीशे के ही दर्पण बनने लगे। परंतु शीशा ताप का अच्छा संचालक नहीं है, इसलिए विभिन्न भागों के तापक्रम में अंतर रहने पर शीशे के दर्पण की आकृति ही बदल जाती है। इतना

ढलाई और घिसाई

दर्पण को हलका बनाने के लिए यह निश्चय किया गया

कि पीठ को सपाट न रखकर उस पर पुश्ते ढाल दिए जायँ। ऐसा करने पर अधिक पतली सिल्ली से काम चल जाता है, और बोझ आधा हो जाता है। इस विशाल सिल्ली को ढालने का बीड़ा 'कॉरनिंग ग्लास कंपनी' ने उठाया। पाइरेक्स बहुत जल्द जमकर कड़ा हो जाता है, इसलिए बड़ी भट्ठी में साँचे को रखकर इस साँचे में पिघला हुआ पाइरेक्स डालना उचित समझा गया। पुश्तों के बनाने के लिए साँचे में ११४ ढोकों का लगाना आवश्यक था। इन्हीं से शीशे में पुश्तों के बीच का गड्ढा बनता। आरंभ में कई एक जाँचें की गईं कि इन ढोकों को कैसे स्थिर रक्खा जाय, क्योंकि शीशा ढालने पर ये उखड़ आते थे। अंत में उन्हें इस्पात के मोटे-मोटे बोल्टुओं से कसने पर कुछ सफलता मिली और १२० इंच व्यास की सिल्ली ढालकर देख ली गई कि यह रीति ठीक है। परन्तु जब मार्च, १९३४ में पहली बार २०० इंच की सिल्ली ढाली गई तो बोल्टुओं का इस्पात भी पिघल गया। हाँ, परीक्षा के लिए इस सिल्ली को गणितसिद्ध वेग से दस-गुने वेग से ठंडा किया गया, तो भी वह नहीं तड़की। इससे अत्यंत बहुमूल्य अनुभव प्राप्त हुआ।

दूसरी बार सिल्ली ढालने के लिए क्रोमियम और निकल-मिश्रित इस्पात के बोल्टुओं से ढोके कसे गए। ये ठीक रहे। सिल्ली दस महीने में धीरे धीरे ठंडी की गई और ठीक निकली। अब प्रश्न यह था कि इस सिल्ली को पासाडेना तक कैसे पहुँचाया जाय। क्योंकि पासाडेना में ही इस पर घिसाई और पालिश हो सकती थी - वहीं माउंट विल्सन वेधशाला वाले घिसने, पालिश और कलई करने के यन्त्र थे। रास्ते की खड़खड़ाहट से शीशे के टूट जाने की भी आशंका थी। अंत में शीशे को विशेष रूप से पैक करके और खड़ी-स्थिति में रखकर रेल से पासाडेना पहुँचाया गया। मार्ग बहुत सोच विचार कर चुनना पड़ा, क्योंकि कहीं-कहीं तो ऐसी सुरंगें या पुलें पड़ती थीं कि जिनके भीतर से जाने में केवल एक-दो इंच की ही जगह बचती थी।

वस्तुत: यह सिल्ली ठीक २०० इंच की नहीं, बल्कि २०१ इंच व्यास की है। इसकी एक महीने की घिसाई में एक टन शीशा निकल गया, परन्तु शेष सेर भर शीशे की घिसाई में वर्षों समय लगा और यह काम अब भी जारी है। अंतिम घिसाई और पालिश में बड़ी सूक्ष्मता की आवश्यकता होती है। कहीं भी शुद्ध परवलयाकार रूप से इंच के लाखवें भाग से अधिक अन्तर नहीं रहना चाहिए। यह काम ऐसे मकान में किया जा रहा है, जहाँ का तापक्रम बराबर एक समान रक्खा जाता है। कोई भी व्यक्ति शीशे के बहुत पास नहीं जाता, क्योंकि शरीर की गरमी से दर्पण के किसी एक भाग के तापक्रम के बढ़ने की
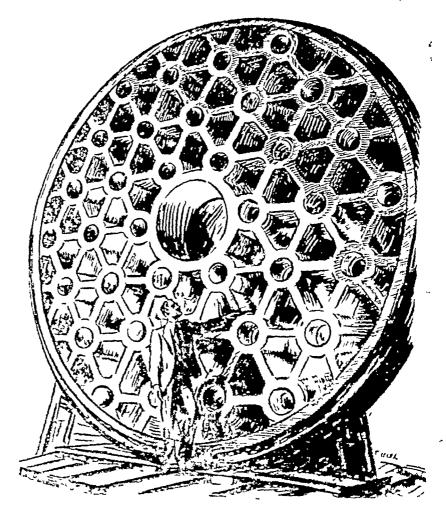
ढाले जाने के बाद दूरदर्शक की भीमकाय दर्पण-सिल्ली
यह सिल्ली के पेंदे या पीठ की बनावट का दृश्य है, जिस ओर पुश्ते बने हैं।
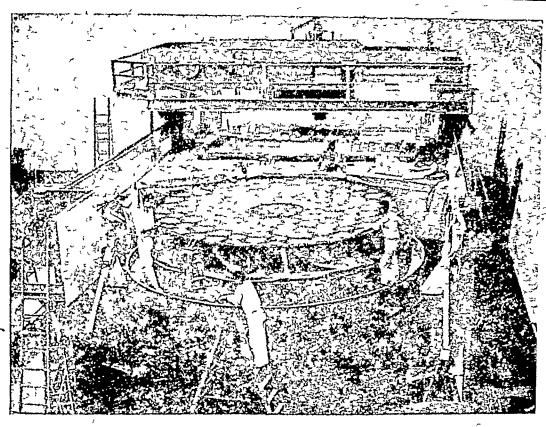
—पासाडेना के केलिफ़ोर्नियन इंस्टीट्यूट के कारखाने में विशेष यंत्रों द्वारा २०० इंच व्यास की बृहत् सिल्ली की घिसाई की जा रही है। इस कार्य के लिये 'कार्बोरंडम पाउडर' नामक एक बुकनी काम में लाई जाती है, जो प्रायः एक पाउंड शीशे की घिसाई में लगभग पाउंड भर ख़र्च होती है।

चाँदी की क़लई से अधिक चमकीली और स्थायी होगी

आरोपण

इधर तो दर्पण की आकृति ठीक की जा रही थी, उधर इसका आरोपण भी तैयार हो रहा था। दूरदर्शक की नली और उसके गुंबद को छोटा ही रखने के विचार से दर्पण का नाभ्यतर (फोकस) अपेक्षाकृत छोटा ही रखा गया है। इससे मंद प्रकाश की नीहारिकाओं के फ़ोटोग्राफ लेने में भी सहायता होगी। फ़ोटोग्राफी जाननेवाले इस बात को अच्छी तरह समझ सकेंगे। छोटे नाभ्यतर के कारण इस दर्पण का अपर्चर (छिद्र) फ/३'५ होगा, जबकि १०० इंच वाले दूरदर्शक का अपर्चर फ/५ है। १०० इंचवाले दूरदर्शक के आरोपण में यह अवगुण है कि उससे ध्रुव के पास के तारे नहीं देखे जा सकते। परन्तु २०० इंच वाले दूरदर्शक में यह त्रुटि भी न रहेगी, क्योंकि उत्तरी ध्रुव की ओर वाला धुराधार घोड़े की नाल के आकार का बनाया गया है और इस प्रकार बीच के रिक्त स्थान में दूरदर्शक को लाकर ध्रुवतारा भी देखा जा सकेगा। निरीक्षण करने वाले ज्योतिषी के लिये किसी चौकी की आवश्यकता नहीं रहेगी, क्योंकि आरोपण इतना दृढ़ बनाया गया है कि ज्योतिषी बराबर दूरदर्शक में ही बैठ सकेगा। इसके लिए नली के सिरे पर एक खोखला बेलनाकार गृह रहेगा। अवश्य ही, इससे कुछ प्रकाश

आशंका रहती है, जिससे आकार में फ़र्क आ सकता है।

आकृति ठीक हो जाने के बाद यह सिल्ली कुल ४ इंच मोटी रह जायगी। इसमें पुश्तों की मोटाई सम्मिलित नहीं है। माउंट विल्सन के १०० इंच वाले दूरदर्शक का दर्पण १३ इंच मोटा है। पतला होने के कारण इस नवीन दर्पण पर असम तापक्रमों का प्रभाव कम पड़ेगा। पीठ पर मधुमक्खियों के छत्ते के समान दिखलाई पड़नेवाले पुश्तों से केवल यही लाभ नहीं होगा कि दर्पण सुदृढ़ रहेगा, बल्कि पीछे के कोष्ठों में इस्पात की अँगुलियाँ रहेंगी जो दर्पण को कई स्थानों से थोड़ा थोड़ा सहारा देकर उठाए रहेंगी।

अंत में दर्पण पर अल्युमिनियम की क़लई की जायगी। इसके लिये इसे भीमकाय वायुशून्य कोठे में रखा जायगा। सब हवा निकाल लेने के बाद बिजली से कोठे के भीतर थोड़ी-सी अल्युमिनियम को इतना गरम किया जायगा कि वह वाष्प हो जायगी और सिल्ली पर उसकी बहुत पतली तह चढ़ जायगी। यह

रुक जायगा, परंतु यदि यहाँ कोई दर्पण रखा जाता, जैसा अन्य दूरदर्शनों में रहता है, तो उससे भी इतना ही प्रकाश कटता।

दूरदर्शक की नली दोनों सिरों पर गोल परंतु बीच में चौकोर है। बीच का भाग २२ फीट × २२ फीट की नाप का है और लंबाई ४४ फीट है। यह बड़े पुलों की तरह इस्पात की धरनों और पत्तरों से बना है। इसकी तौल २००० मन है और यह अत्यंत दृढ़ है।

आरोपण का सबसे बड़ा अवयव वह 'धुराधार' है जो नाल की आकृति का है। इसका व्यास ४६ फीट है और मोटाई ४ फीट। संसार भर की किसी भी मशीन में इतना बड़ा धुराधार नहीं लगा है!! (मशीनों के उस भाग को जिस पर किसी धुरी या सिरा टिका रहता है धुराधार कहते हैं।) सारी दुनिया में केवल एक ही मशीन थी जिस पर इतने बड़े धुराधार को चढ़ाकर खरादा और चिकना किया जा सकता था और वह थी पिट्सबरा नामक स्थान में। वहीं पर यह भाग बना। इसकी सतह गणित-सिद्ध आकार से कहीं भी ०.०००३ इंच से अधिक अशुद्ध नहीं है। यह अशुद्धि इतनी न्यून है कि बिना अच्छे सूक्ष्मदर्शक यंत्र के इसका पता ही नहीं चल सकता। ऐसी सचाई केवल अच्छी घड़ियों में ही देखने में आती है।

दूरदर्शक के चल भाग की तौल १२००० मन है, इसलिए उसको सचाई से चलाने के लिए यह अत्यंत आवश्यक था कि किसी प्रकार घर्षण की मात्रा बहुत कम कर दी जाय। बहुत अनुसंधान के बाद यही निश्चय हुआ कि बॉल-बेयरिंग या पारे में तैरते हुए ढोलों का उपयोग न करके तेल की गद्दियों का उपयोग किया जाय। इस योजना के अनुसार प्रत्येक गद्दी के बीच में एक छेद रहेगा और इस छेद से २५० पाउंड प्रति वर्ग इंच के चाप (दबाव) से तेल बराबर निकला करेगा। इस प्रकार वस्तुतः दूरदर्शक का अधिकांश बोझ तेल पर उठा रहेगा। फलतः वह इतनी सुगमता से घूम सकेगा कि नली को पकड़कर घुमाने में कुल उतना ही बल लगेगा, जितना २ सेर बोझ उठाने में। यदि बॉल बेयरिंग का उपयोग किया जाता तो इससे

(१) दूरदर्शक की बृहत् नली का निचला सिरा। यहीं एक लटकते हुए मंच पर वेध करनेवाले के बैठने का स्थान रहेगा। उसको नीचे से ऊपर ले जाने के लिए एक झूलेनुमा 'लिफ्ट' का प्रबंध रहेगा। (२) दूरदर्शक के विविध भागों को घुमाने-फिरानेवाला यों ही एक स्थान पर खड़े-खड़े मटका बटन दबाकर अपना कार्य करता रहेगा, (३) दूरदर्शक की बृहत् नली का ऊपरी सिरा, जिसमें फ़ोटो-प्लेट का नियंत्रण करनेवाले ज्योतिषी के लिए स्थान रहेगा। आने-जाने का रास्ता गुंबद की दीवार से नली के सिरे तक पहुँच रखनेवाले एक पुल द्वारा होगा।
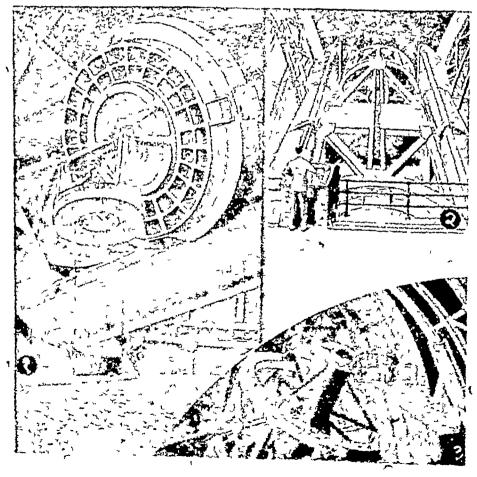
लगभग साढ़े चार सौ गुना बल लगाना पड़ता।

चालक घड़ी और सहायक यंत्र

साधारण दूरदर्शकों को चलाने के लिए घड़ियाँ लगी रहती हैं, परंतु २०० इंच वाला दूरदर्शक बिजली की मोटर से चलेगा, जिसके वेग का शासन स्फटिक के 'क्रिस्टल ऑसिलेटर' नामक यंत्र से होगा, जिसमें एक सेकंड में ५०,००० बार दोलन होता है। अपने वायुमंडल के कारण उत्पन्न विचलनों और अन्य दोषों के निवारण के लिए एक अत्यंत आश्चर्यजनक यंत्र बनाया गया है जो आपसे आप वेग को आवश्यकतानुसार न्यूनाधिक कर देता है। गुंबद भी उचित वेग से घूमता हुआ चलेगा। दूरदर्शक की सहायता के लिए तरह-तरह के युक्तिपूर्ण यंत्र बनाये गए हैं, पर उनका वर्णन यहाँ संभव नहीं है। केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि इन यंत्रों में विद्युत्-संचालन के लिए कुल १०० मील लंबा तार लगा है।

सहायक दर्पणों के उपयोग से प्रधान दर्पण का नाभ्यंतर तीन गुना और नौ गुना बढ़ाया जा सकता है। इसके लिए प्रधान दर्पण के बीच में ४० इंच व्यास का छेद कर दिया गया है। प्रधान दर्पण पर पड़नेवाला प्रकाश ऊपर जाकर नली के सिरे पर रखे उन्नतोदर दर्पण पर पड़ता है। वहाँ से प्रकाश फिर प्रधान दर्पण की ओर लौटता है और बीचवाले छेद के मार्ग से बाहर निकल आता है। वहीं आकाशीय पिंड का प्रतिबिंब बनता है। तीव्र प्रकाशवाले आकाशीय पिंडों का फोटो खींचने के लिए यही प्रबंध अधिक उत्तम पड़ता है। वर्णपट चित्रण के लिए प्रकाश को गौण दर्पणों की सहायता से खोखली धुरी के भीतर से निकाल लाते हैं। ये दर्पण ऐसी स्थितियों में रहते हैं कि अंत में प्रकाश बराबर एक ही दिशा से आता है, चाहे पिंड आकाश के किसी कोने में हो।

सब नवीन डिज़ाइनों की जाँच पहले से ही कर ली गई थी, इसके लिए पहले दशमांश पैमाने पर दूरदर्शक का एक नमूना भी बना लिया गया था और उसके अनुभव के आधार पर सोचे गए डिज़ाइनों में कई एक परिवर्तन करना पड़े।

दूरदर्शक-गृह

बड़े दूरदर्शक के संस्थापन के लिये उचित स्थान को बड़ी सावधानी से चुनना पड़ता है। निर्वाचित स्थान का वायुमंडल बारहों मास अत्यंत स्वच्छ रहना चाहिए। बादलों से भी कोई रुकावट नहीं पड़नी चाहिए। तापक्रम में, दिन और रात, या जाड़े और गरमी में, विशेष अंतर नहीं पड़ना चाहिए। पास में कोई ऐसा शहर नहीं रहना चाहिए जिसके प्रकाश से रात्रि के समय मंदतम तारों के देखने में कोई असुविधा हो। साथ ही, यह गृह ऐसे बीहड़ स्थान में भी नहीं होना चाहिए जहाँ आवश्यक सामग्री के पहुँचने में कठिनाई हो। यह स्थान भूमध्य-रेखा से बहुत दूर नहीं रहना चाहिए, क्योंकि बहुत उत्तर या दक्षिण के स्थानों से विपरीत गोलार्द्ध के तारों का अधिकांश दिखलाई नहीं पड़ता। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए पाँच वर्षों की खोज के बाद माउंट पालोमर नामक स्थान इस महान् यंत्र की प्रस्थापना के लिए चुना गया। यह स्थान समुद्र से ५,६०० फीट की ऊँचाई पर है और पासाडेना से १२५ मील की दूरी पर स्थित है।

इस दूरदर्शक-गृह का गुंबद चौदह मंजिले मकान के बराबर ऊँचा होगा। सरदी-गरमी से विशेष रक्षा करने की शक्ति प्रदान करने के लिए गुंबद दोहरा बनाने की योजना की गई है। इन दोनों गुंबदों के बीच ४ फीट की जगह होगी। दोनों गुंबद अल्युमिनियम के रंग से रँगे जायँगे, जिसमें वे धूप से अधिक गरम न हो पाएँ। गुंबद की तौल लगभग २५ हज़ार मन कूती गई है। तो भी यह इतनी आसानी से घूमता रहेगा कि ज़रा भी थरथराहट नहीं उत्पन्न होगी। यह मोटर-लॉरियों की तरह चार-चार पहिए-वाली ३२ गाड़ियों पर आश्रित रहेगा। ये गाड़ियाँ पूर्ण तथा समतल पटरियों पर चलेंगी। इनको चलाने के लिए नवीन ढंग का उपयोग किया जायगा। साढ़े सात-सात अश्वबल की चार मोटरें हवा-भरे रबड़ के पहिए चला एँगी। ये पहिए गुंबद को दबाए रहेंगे और जब पहिए घूमेंगे तो गुंबद भी घूमेगा। इस प्रकार गुंबद इतनी सुगमता और शांति से घूमेगा कि बिना सूक्ष्म जाँच के पता ही नहीं चलेगा कि वह चल रहा है या नहीं।

दूरदर्शक-गृह की निर्माण-योजना में दर्शक जनता का भी ध्यान रखा गया है। इस हेतु गुंबद के भीतर शीशे से बंद एक बारजा लगाने की योजना की गई है जिसके भीतर से लोग दूरदर्शक और इसके कार्य को प्राय. हर घड़ी देख सकेंगे। भीतरी दीवारों पर ऐसे चित्र बने रहेंगे, जिनसे लोग समझ सकेंगे कि दूरदर्शक से कैसे और क्या काम होता है।

निस्संदेह यह दूरदर्शक आधुनिक विज्ञान की महान् शक्ति का द्योतक है। इससे चंद्रमा इतना बड़ा दिखलाई पड़ेगा मानों वह २४ मील पर हो। साथ ही अरबों-खरबों नए तारे भी दिखलाई पड़ेंगे, और लाखों नवीन नीहारिकाएँ मनुष्य की दृष्टि-परिधि में आ सकेंगी। कौन कह सकता है कि अन्त में इससे क्या क्या नवीन परिणाम निकलेंगे।
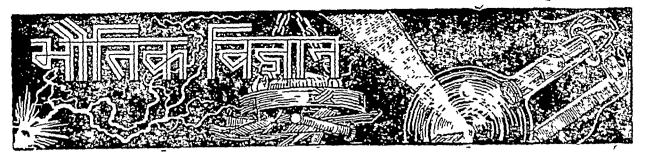
ध्वनिमय जगत्

हमारे प्राचीन मनीषियों ने तो इस निरंतर गतिशील ब्रह्माण्ड में व्याप्त आहत और अनाहत ध्वनि या नाद की महान् शक्ति और सत्ता की अनुभूति कर उसे ब्रह्म का ही एक रूप उद्घोषित कर दिया था— वे 'नाद-रूपं परं ज्योतिर्नादरूपी परो हरि' कहकर उसकी वंदना करते थे। आइए देखें, आधुनिक वैज्ञानिक की दुनिया में उसकी क्या परिभाषा की जाती है और उसे कितना महत्त्व प्राप्त है!

हम ध्वनि के संसार में रहते हैं। नवजात शिशु अपनी माता को शब्द के सहारे ही सबसे पहले पहचानता है। स्वयं अपनी आवश्यकताओं का ज्ञान भी वह रो-चिल्लाकर दूसरों को कराता है। आदि काल से ही मनुष्य ने शब्द के सहारे अन्य व्यक्तियों से अपना नाता जोड़ा। उसने आह्लाद, शोक, विस्मय आदि भावोन्मादों के प्रदर्शन के लिए शब्दों का ही आश्रय लिया। हमें कुछ ध्वनियाँ सुरीली और कर्णप्रिय लगती हैं तो कुछ अत्यन्त कटु। कुछ ध्वनियों के हम इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि वे हमारे ज्ञान-तन्तुओं पर विशेष प्रभाव नहीं डालतीं। हम डाक गाड़ी में बेदर्द खड़खड़ाहट और खटर-पटर होते रहने पर भी रात को थोड़ी देर में ही खर्राटे भरने लग जाते हैं, किन्तु जहाँ गाड़ी स्टेशन पर रुकी कि खटर पटर बन्द होते ही हमारी नींद खुल जाती है।

अवश्य ही हमारे मन में ध्वनि के सम्बन्ध में अनेकों प्रश्न उठते हैं। ध्वनि वास्तव में है क्या? यह कैसे उत्पन्न होती है? यह हमारे कानों तक कैसे आती है तथा इसकी अनुभूति हमें किस प्रकार होती है? आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि ध्वनि की बाह्य जगत् में कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। पदार्थ जगत् के कम्पन जब भौतिक साधनों द्वारा हमारे मस्तिष्क में पहुँचते हैं तब हमें ध्वनियों का बोध होता है। बाह्य जगत् के कम्पन हमारे कान के परदों में भी बहुत-कुछ उसी प्रकार के कम्पन उत्पन्न करते हैं, और इन कम्पनों को हमारे मस्तिष्क के श्रवण-ज्ञान-तन्तु तुरन्त ग्रहण कर लेते हैं।

ध्वनि द्वारा दीपशिखा के नृत्य का अद्भुत प्रयोग

यह प्रयोग पहलेपहल कोनिग नामक व्यक्ति ने किया था, इसीलिए उसके नाम पर यह मशहूर है। स्पष्टीकरण के लिए पृ० २१७१ का मैटर पढ़िए।

ध्वनि का बोध कराने वाले ये कम्पन किसी भी भौतिक पदार्थ में उत्पन्न किए जा सकते हैं — पानी, हवा, लकड़ी, लोहा आदि सभी पदार्थों में ध्वनि-बोधक कंपन का सृजन हो सकता है। अवश्य ही इनके भौतिक गुणों की विभिन्नता के कारण इनकी कम्पन-क्षमता भी विभिन्न मात्रा में होती है।
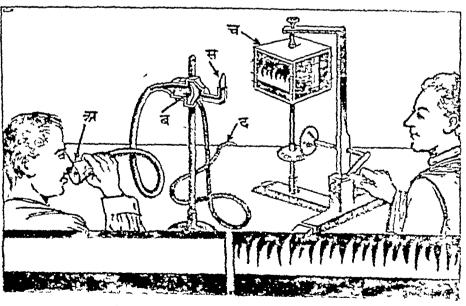
ट्यूनिंग फार्कों का प्रयोग और लिसाजाऊ की आकृतियाँ
(प्रयोग के स्पष्टीकरण के लिए देखिए पृष्ठ २१७२ का मैटर)

'पदार्थों में कम्पन होने से ही ध्वनियों का बोध होता है' इस तथ्य की जाँच करना कुछ अधिक दुस्तर नहीं है। सितार के तार में उँगली से कम्पन पैदा करके ही तो हम सुरीली ध्वनि की सृष्टि करते हैं। तबले और नगारे पर कसे हुए चमड़े पर चोट मारने पर वह थर्राकर कम्पन करने लगता है, और तभी हमें ध्वनि सुनाई पड़ती है। तबले पर कसे हुए चमड़े पर सरकंडे के गूदे की नन्हीं-नन्हीं गोलियाँ रख दीजिए। एक बार तबले पर थाप देने पर ये गोलियाँ देर तक उस पर उछलती रहेंगी। सितार को लिटा दीजिए और उसके तार पर पतले कागज का एक छोटा-सा टुकड़ा मोड़ कर इस प्रकार रखिए कि तार के दोनों ओर उसके कुछ भाग नीचे को लटकते रहें। तार पर उँगली से चोट देने पर कागज़ देर तक उस पर उछलता-कूदता रहेगा। मन्दिरों में बजनेवाले घण्टे को ले लीजिए। मुँगरी से चोट करने पर उसमें से ज़ोरों की ध्वनि उत्पन्न होती है। सावधानी के साथ ज़रा अपनी नाक को घण्टे की सतह से छुलाइए—उसकी कम्पन का आप स्पष्ट अनुभव करेंगे। ध्वनि-उत्पादक के कम्पन के बन्द होते ही ध्वनि भी लुप्त हो जाती है। घण्टे पर चोट देकर उसे फ़ौरन ही दोनों हाथों से कसकर थाम लीजिए — आवाज़ उसी क्षण बन्द हो जायगी।

ध्वनि-उत्पादक की कम्पन की गति प्रति सेकण्ड कम-से कम १६ होनी चाहिए तभी मनुष्य को ध्वनि का बोध हो सकता है। कुछ विशिष्ट प्राणियों में ध्वनि की अनुभूति करने की क्षमता मनुष्य की अपेक्षा अधिक होती है और ये १६ बार प्रति सेकण्ड से कम कम्पन करनेवाले पदार्थों द्वारा उत्पन्न हुए उद्वेलन को भी ध्वनि के रूप में अनुभव कर सकते हैं। उदाहरण के लिए एक पतली बैंत की छड़ी लेकर उसे कँपकपाइए। कम्पन की गति यदि धीमी हुई तो हमें किसी प्रकार की ध्वनि नहीं सुनाई पड़ेगी, किन्तु कम्पन की गति के बढ़ाते ही स्पष्ट ध्वनि सुनाई पड़ने लग जाती है। अनुभूति-योग्य ध्वनि के लिए कम्पन की महत्तम सीमा प्रति सेकण्ड २०,००० है। इससे अधिक कम्पन होने पर हमारे कान उससे उत्पन्न हुई ध्वनि को नहीं ग्रहण कर पाते। मच्छर की भनभनाहट भी उसके पंखों के कम्पन के कारण उत्पन्न होती है। स्वयं हमें बोलते समय अपने हलक के अन्दर के स्वर-रज्जुओं में कम्पन उत्पन्न करना होता है—इन स्वर-रज्जुओं को तानकर हम उनकी कम्पन गति को घटा बढ़ा सकते हैं, और ऐसा करने से इच्छानुसार तीव्र या कोमल स्वर हम उत्पन्न कर सकते हैं। उच्च श्रेणी के गवैये अपने स्वर-रज्जुओं पर इस दृष्टि से पूरा अधिकार रखते हैं। जलतरंग का एक प्याला लीजिए और इतना पानी डालिए कि बाँस की तीली से उस पर चोट करने पर उसमें से कोई मधुर स्वर उत्पन्न हो। अब एक सरकंडे के गूदे की एक पतली गोली उसके पास इस

प्रकार लटकाइए कि वह प्याले की कोर को छूती रहे। प्याले पर चोट करते ही गोली प्याले की कोर की कम्पन के कारण दूर छटक जाती है।

सच तो यह है कि आधुनिक युग के वैज्ञानिकों ने ध्वनि-उत्पादकों के कम्पन को भी स्पष्टतया दृष्टिगम्य कराने में सफलता प्राप्त की है। इस प्रकार का सर्वप्रथम प्रयास १८६२ में लन्दन-प्रदर्शिनी में रुडल्फ़ कोनिग ने किया था। एक लम्बी तुरही सरीखे वाद्ययन्त्र 'अ' के दूसरे छोर 'ब' पर उसने झिल्ली का हलका परदा लगाया। परदे की दूसरी तरफ़ गैस की लौ 'स' जल रही थी, जिसमें नली 'द' से गैस आ रही थी। सामने ही कुछ दूरी पर एक चौपहल दर्पण 'च' रक्खा था, जिसे हाथ से या विद्युत् द्वारा नचा सकते थे। दर्पण जब तेज़ी के साथ नाचता था, उसमें गैस की दीप-शिखा साधारणत समान ऊँचाई की दीखती थी। किन्तु तुरही में फूँक मारने पर तुरही के झिल्लीवाले परदे में कम्पन उत्पन्न होता और तदनुसार गैस की लौ भी ऊँची नीची होकर काँपती थी। इस वक्त नाचते हुए दर्पण में लौ का प्रतिबिम्ब भी दन्दानेदार-सा कटा हुआ दिखलाई देता, जैसा कि चित्र की निचली कोर पर परिवर्द्धित रूप में दर्शाया गया है (दे० पृ० २१६६ का चित्र)।

कम्पन करनेवाले पदार्थ पर यदि कोई हलकी सी बुकनी फैला दी जाय तो कम्पन के कारण यह बुकनी विचित्र आकृतियों के रूप में उस पदार्थ के धरातल पर एकत्रित हो जाती है। काँच का एक चौकोर टुकड़ा लीजिए, जो मध्यबिन्दु पर एक स्तम्भ (Stand) में कसा हुआ हो। इस पर समान रूप से पुष्प पराग की बुकनी बिछा दीजिए। किन्तु बुकनी की तह बहुत मोटी न होने पाए। अब बेले की धन्वा भी ताँत काँच की कोर पर रगड़िए और साथ ही काँच के धरातल के किनारे के किसी बिन्दु पर अपनी उँगली रख दीजिए। आप देखेंगे, पराग की बुकनी काँच के धरातल पर एक विशेष आकृति बना लेती है। काँच के धरातल को भिन्न-भिन्न स्थान पर छूने से ऐसी विभिन्न प्रकार की चित्राकृतियाँ बन जाती हैं। इसका कारण यह है कि काँच का टुकड़ा जब कम्पन करता है तो धरातल पर विशेष रेखाओं मे
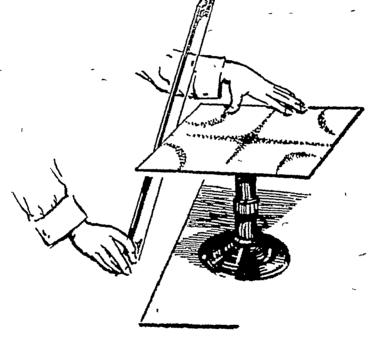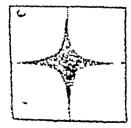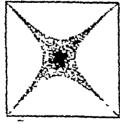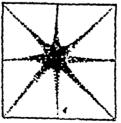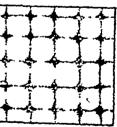
बेला की धन्वा द्वारा उत्पन्न अद्भुत आकृतियाँ जो 'चैल्डनी की आकृतियाँ' कहलाती हैं

ये विभिन्न आकृतियाँ स्तम्भ पर टिकी हुई काँच या पीतल की थाली पर बारीक बुकनी फैलाकर थाली की कोर को बेला की धन्वा से रगड़ने, साथ ही एक हाथ की उँगलियों से छूते हुए रखने पर इस बुकनी में उत्पन्न की जा सकती हैं (देखो पृष्ठ २१७१-२१७२ का मैटर)।

स्थित काँच के कण पूर्णतया स्थिर रहते हैं, पर शेष कण अवश्य कम्पन करते हैं। अत: अन्य स्थानों से हटकर पराग इन्ही रेखाओं पर एकत्रित हो जाता है। काँच तथा पीतल की थाली के कम्पन का सर्वप्रथम पता एक जर्मन वैज्ञानिक चैल्डनी ने लगाया था। अत: ये विभिन्न आकृतियाँ 'चैल्डनी की आकृतियों' के नाम से पुकारी जाती हैं (दे० पृ० २१७१ का चित्र)। तबले या ढोल पर मढे हुए चमड़े पर भी कम्पन उत्पन्न करके इस प्रकार की आकृतियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। इस दशा में तबले के चमड़े में कम्पन उत्पन्न करने के लिए उसे छूने की भी आवश्यकता नहीं। उसके निकट घण्टी बजाइए—घण्टी के स्पर्श से हवा में कम्पन उत्पन्न होती है। यह कम्पन करती हुई हवा तबले के चमड़े में हलकी कम्पन उत्पन्न करने में समर्थ होती है।

ध्वनि-उत्पादक के कम्पन को दृष्टिगम्य कराने के लिए 'ट्यूनिंग फार्क' नामक एक यंत्र की भी सहायता ली जा सकती है। ध्वनि के अध्ययन के लिए ट्यूनिंग फार्क एक अत्यन्त उपयोगी यंत्र है। वास्तव में ट्यूनिंग फ़ार्क काँसे या इस्पात की एक छड़-मात्र होता है, जो बीचोबीच में चिमटे की तरह मोड़ दी गई होती है। मोड़ का यह मध्यबिन्दु एक मजबूत स्तम्भ से जुटा होता है, जो इसे पकड़ने के लिए हैन्डल का काम देता है। प्रयोग के लिये दो ट्यूनिंग फार्क लेते हैं। इन पर पृ० २१७० के चित्रानुसार दो छोटे दर्पण (अ और ब) आरूढ करा दिए जाते हैं। इनमें से एक को सीधा खड़ा करके स्तम्भ में कस देते हैं और दूसरे को मेज के धरातल के समानान्तर रखकर स्तम्भ पर कसते हैं—इस प्रकार कि इनके दर्पण एक-दूसरे के आमने-सामने रहें। तीव्र प्रकाश की श्वेत किरणें आड़े ट्यूनिंग फार्क के दर्पण से परिवर्तित होकर खड़े ट्यूनिंग फ़ार्म के दर्पण पर पड़ती हैं। वहाँ से ये एक लेंस 'स' से होकर सफेद पर्दे पर पड़ती हैं। अब यदि आड़े ट्यूनिंग फार्क की टाँगों को रबड़ की हथौड़ी से चोट मार-कर कम्पित किया जाय तो पर्दे पर आलोक-किरण का धब्बा एक आड़ी रेखा में इधर से उधर नाचता दिखाई देगा और हमें पर्दे पर धवल आलोक की एक चटकीली तथा मोटी रेखा 'द' दिखेगी। अब यदि खड़े ट्यूनिंग फार्क को भी इस प्रकार कम्पित कराया जाय कि दोनों में कम्पन एक साथ ही आरम्भ हो तो पर्दे पर पड़नेवाला आलोक ज्यामिति की विविध सुन्दर आकृतियाँ बनाएगा, जैसी कि चित्र के निम्न भाग में अलग से दिखाई गई हैं। ट्यूनिंग फार्क की प्रति सेकण्ड की कम्पनगति के बदलने से ये आकृतियाँ भी बदली जा सकती हैं। लिसाजाऊ नामक एक वैज्ञानिक ने इस प्रकार बनी हुई आकृतियों का सर्वप्रथम विस्तृत अध्ययन किया था, अत ये आकृतियाँ लिसाजाऊ के ही नाम से प्रसिद्ध हैं (जानकारी के लिये दे० पृ० २१७० का चित्र)।

बच्चे प्रायः इसी प्रकार सिगरेट की टिनों के बीच लंबा धागा तानकर इस नक़ली टेलीफ़ोन द्वारा आपस में दूर से बातचीत किया करते हैं। यह अनुकूल माध्यम में ध्वनि-तरंगों की गति के नियम के कारण ही संभव होता है।

साधारणत: हम इस बात का अनुभव नहीं कर पाते कि ध्वनि को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने में कितना समय लगता है। कमरे में बातें करते समय हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे मुँह से शब्द निकलते ही दूसरे व्यक्ति उसे तुरन्त सुन लेते हैं। किन्तु वास्तव में बात ऐसी है नहीं। फ़ुटबाल के खेल में जब हम दूर खड़े होकर खेल देखते हैं तो फ़ुटबाल में 'किक' लगाने की धप की आवाज़ हमें 'किक' लगने के कुछ देर बाद ही सुनाई पड़ती है—अवश्य ही इसका कारण यह है कि 'किक' लगते समय उत्पन्न होनेवाली ध्वनि हम तक पहुँचने में आलोक की अपेक्षा अधिक समय लेती है। प्राय ध्वनियाँ हवा में से होकर हमारे कान तक पहुँचती हैं। ध्वनि की कम्पन को हवा में से होकर आगे बढ़ने में समय लगता है, ठीक उसी प्रकार जिस तरह एक लम्बी छल्लेदार कमानी के एक छोर पर धक्का देने से इस धक्के द्वारा उत्पन्न हुआ कम्पन कुछ देर उपरान्त दूसरे छोर तक पहुँच पाता है। बन्दूक की गोली की गति हवा में ध्वनि

की गति से कहीं तेज़ होती है। अत शिकार को गोली लग चुकने के बाद बन्दूक़ दगने का शब्द सुनाई पड़ता है, अन्यथा वह पहले ही भाग जाता। आलोक-तरंगों की भाँति ध्वनि भी वैकुअम को पार कर आगे नहीं बढ़ सकती। ध्वनि को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए भौतिक माध्यम का सहारा अवश्य चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि वह माध्यम हवा ही हो। लकड़ी, पानी, काँसा, लोहा, गैस आदि कोई भी पदार्थ ध्वनि-वाहक बन सकता है। इस सिलसिले में आप स्वयं एक रोचक प्रयोग कर सकते हैं। सात-आठ फीट लम्बे किसी सूखी लकड़ी के लट्ठे के एक छोर पर आप अपने कान लगाइए और दूसरे छोर पर अपने मित्र को नाखून से लकड़ी कुरेदने को कहिए। कुरेदने की आवाज आपको स्पष्ट सुनाई पड़ेगी। प्रयोग को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक नहीं कि लकड़ी का दूसरा सिरा ज़ोर से ही कुरेदा जाए। रसोईघर से लोहे या पीतल का कलछुला उठा लाइए। उसे मेज पर रखकर उसके एक सिरे को चाकू से कुरेदिए। अपने कान काफी निकट रखने पर आपको किसी प्रकार का शब्द सुनाई न पड़ेगा। अब कलछुले के एक सिरे को अपने कान में लगा लीजिए। चाकू से दूसरे सिरे को कुरेदने पर करकराहट का कर्कश शब्द सुनाई पड़ेगा। चूँकि इस बार कलछुले की डण्डी में से होकर ध्वनि आपके कानों तक पहुँचती है, अत ध्वनि की शक्ति का विशेष ह्रास नहीं हो पाता। आपने बच्चों को रस्सी के बने हुये नक़ली टेलीफोन से एक दूसरे के साथ बातचीत करते हुए देखा होगा। ऐसा टेलीफोन सिगरेट की टिन, मोमी क़ाग़ज और पतले धागे की सहायता से बनाया जा सकता है। सिगरेट की दो टिनों के पेंदे और ढक्कन हटा दीजिए और उन पर एक ओर मोमी काग़ज ख़ूब तानकर बाँध दीजिए। अब काग़ज के बीचोबीच नन्हा सा सूराख़ करके उसमें धागे का एक सिरा गाँठ लगाकर डाल दीजिए ताकि ज़ोर पड़ने पर धागा उसके अन्दर से निकलने न पाए। इसी प्रकार धागे का दूसरा छोर दूसरे टिन के अन्दर डाल दीजिए। धागे की लम्बाई तीस-चालीस गज़ ली जा सकती है। अब एक टिन से मुँह लगाकर धीरे धीरे बात कीजिए,

पृथ्वी में भी ध्वनि की कंपन की लहरें तीव्र गति से गमन करती हैं। इनका अनुभव भूचाल आनेवाले प्रदेशों में होता है। कहते हैं, भूचाल-केन्द्रों से आती हुई कंपन की गड़गड़ाहट घोड़े, गाय आदि चौपाए अपनी तीव्र श्रवण-शक्ति के बल पर मनुष्य से पहले ही सुन लेते हैं और चौकन्ने हो जाते हैं, जैसा ऊपर के चित्र में प्रदर्शित है। नीचे के चित्र में एक अमेरिकावासी 'रेड इण्डियन' धरती से कान लगाकर दूर से शत्रु के घोड़ों की टाप की आवाज़ की टोह लगाते हुए दिखाई पड़ रहा है।

दूसरे दिन में कान लगानेवाले व्यक्ति को सारी बात स्पष्ट सुनाई पड़ेगी। इस प्रयोग में धागे को ताने रहना चाहिए (दे० पृ० २१७२ का चित्र)।

माध्यम का घनत्व जितना अधिक होगा, उसमें से गुजरनेवाली ध्वनि का जोर भी उतना ही अधिक होगा। रात को तकिये के नीचे यदि घड़ी दबी रह जाती है तो उसकी टिक्-टिक् इतने जोर के साथ हमें सुनाई पड़ती है कि हमें नींद भी नहीं आती। तकिये के नीचे से घड़ी हटाकर उसे पास ही मेज पर रख देने पर घड़ी की टिक्-टिक् हमें बिल्कुल ही नहीं सुनाई पड़ती, क्योंकि हवा अपेक्षाकृत अधिक विरल माध्यम है। पानी के अन्दर भी आवाज हवा की अपेक्षा अधिक जोर के साथ सुनाई पड़ती है। इसी कारण मछली फँसाने के लिए बंसी लगानेवाले पानी में बसी डालते समय अत्यन्त सावधानी के साथ काम लेते हैं, ताकि पानी में किसी प्रकार की छपछपाहट का शब्द उत्पन्न न हो, अन्यथा मछलियाँ उस शब्द को सुनकर भग जायँगी। स्नान करनेवाले टब में पानी भरकर उसमें अपने सिर को डुबाइए। टब की दीवालों पर ठक्-ठक् की आवाज़ यदि आपके मित्र करें तो आपको यह आवाज़ पानी के भीतर ही खूब तेज सुनाई पड़ेगी।

समुद्र में डूबी हुई चट्टानों से जहाज़ों को सावधान करने के लिए पानी के अन्दर ही घण्टा बजाते हैं। चट्टान पर लंगर से बँधा हुआ एक पीपा पानी में तैरता रहता है। इस पीपे में एक विशालकाय घण्टा लगा रहता है। लहरों के धक्कों से यह पीपा बराबर हिलता रहता है, अत घण्टा भी बजता रहता है। निकट से गुजरनेवाले जहाजों के पेंदे के पास दोनों ओर माइक्रोफोन लगे होते हैं जो पानी मे डूबे रहते हैं। घण्टे की आवाज़ को ये माइक्रोफोन तुरन्त ग्रहण कर लेते हैं। बारी बारी से प्रत्येक माइक्रोफोन को कान से लगाकर जहाज़ का कप्तान पता लगा सकता है कि चट्टान किस ओर है और फलस्वरूप जहाज़ को वह उस ओर नहीं जाने देता।

हमारी धरती में से भी ध्वनि की कम्पन तेज़ी के साथ हरकत करती है। भूचाल आनेवाले प्रदेशों में भूचाल के केन्द्र से चली हुई कम्पन की गड़गड़ाहट को घास चरते हुए चौपाए फौरन् सुन लेते हैं और चौकन्ने होकर इधर-उधर भागने लग जाते हैं। अत. उस प्रदेश के निवासियों को आनेवाले भूचाल की मिनटों पहले सूचना मिल जाती है। घोड़े की टाप की आवाज़ भी मीलों की दूरी से धरती से कान लगाने पर सुनाई पड़ सकती है। अमेरिका के मूल निवासी 'रेड इण्डियन' अपने शत्रुओं की टोह लगाने के लिए प्राय: धरती से कान लगाकर सुनते थे कि शत्रु के घोड़ों की टाप सुनाई पड रही है या नहीं (दे० पृ० २१७३ का चित्र)।

उपर्युक्त दृष्टान्तों से यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है कि ध्वनि सभी प्रकार के पदार्थों मे से होकर गुजर सकती है। कुछ माध्यम ध्वनि के अच्छे परिचालक होते हैं, कुछ अधम परिचालक। रबड़, नमदा आदि ध्वनि के अधम संचालकों की श्रेणी मे आते हैं।

भौतिक माध्यम की अनुपस्थिति में ध्वनि एक स्थान से दूसरे स्थान को बिल्कुल ही नहीं जा सकती। इस तथ्य की जाँच करने के लिए निम्न प्रयोग किया जा सकता है। काँच के एक फ्लास्क को लेकर उसमें दो छेदवाली रबड़ की कार्क लगा दीजिए। एक सूराख़ से काँसे की एक घण्टी लटका दीजिए तथा दूसरे सूराख़ में काँच की नली डालकर रबड़ की ट्यूब से इसका सम्बन्ध एक वैकुअम पम्प से कर दीजिए। फ्लास्क हिलाने पर घण्टी बजती है और उसकी आवाज स्पष्ट सुनाई पड़ती है। वैकुअम पम्प को थोड़ी देर तक चालू रखिए। फ्लास्क के अन्दर की हवा विरल हो जाने के कारण अब घण्टी की आवाज़ धीमी सुनाई पड़ती है। अब वैकुअम पम्प को देर तक चलाइए ताकि फ्लास्क के अन्दर की लगभग तमाम हवा निकल जाय। इस दशा में फ्लास्क को हिलाने पर यद्यपि घण्टी पूर्ववत् ही बजती है, किन्तु हमे उसके बजने का शब्द बिल्कुल ही नहीं सुनाई पड़ता है।

मान लीजिए, रॉकेट आदि की सहायता से आप किसी प्रकार चन्द्रमा पर पहुँच जाँय तो यदि वहाँ की हद दर्जे की ठण्ड मे आपने किसी प्रकार अपनी रक्षा कर भी ली तो आप अपने मित्रों से बातचीत करने का आनन्द वहाँ न उठा सकेंगे। क्योंकि चन्द्रमा के धरातल पर हवा या अन्य कोई गैस का माध्यम मौजूद नहीं है—चन्द्रलोक में सर्वत्र पूर्ण निस्तब्धता विराजती है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, विभिन्न माध्यमों में ध्वनि की गति एक-सी नहीं होती। रेलवे-लाइन के पास बैठकर एक कान लोहे की पटरी से लगाइए और किसी दूसरे व्यक्ति से कहिए कि वह पटरी के दूसरे सिरे पर कंकड़ से चोट करे। पहले आपको एक तेज़ शब्द पटरी के सहारे सुनाई देगा और फिर अपेक्षाकृत धीमी आवाज़ हवा में से होकर आपके दूसरे कान में पहुँचेगी।

विभिन्न माध्यमों में ध्वनि की गति मालूम करने के लिए वैज्ञानिकों ने विशेष परिश्रम किया है, क्योंकि ध्वनि के सहारे समुद्र में खो गए जहाज का पता लगाया जा सकता है, आकाश में उड़ते हुए वायुयान की स्थिति ज्ञात की जा सकती है अथवा यह मालूम किया जा सकता है कि शत्रु की तोपें किस स्थान से गोले फेंक रही हैं। इन प्रश्नों पर बाद में विस्तृत प्रकाश डाला जायगा। अभी तो हमें देखना है कि ध्वनि की गति किस प्रकार नापी जा सकती है।

लगभग २०० वर्ष पूर्व ध्वनि की हवा में गति मालूम करने के लिए फ्रेंच वैज्ञानिकों ने सर्वप्रथम सफल प्रयास किया था। पहाड़ की दो ऊँची चोटियों पर दो तोपें रखी गईं। ये चोटियाँ एक दूसरे से ६१०४७ फीट की दूरी पर थीं। रात्रि की निस्तब्धता में यह प्रयोग किया गया था ताकि तोप दागने की आवाज सुनने में किसी प्रकार की अड़चन न पड़े, साथ ही तोप की बारूद के विस्फोट की चिनगारी भी स्पष्ट दिखाई पड़े। प्रत्येक चोटी पर वैज्ञानिकों की टोली 'क्रोनोमीटर' (ठीक समय-आलेखक घड़ी) लेकर तैयार थी। दस दस मिनट के अवकाश पर प्रत्येक चोटी पर तोपें १२ बार दागी गईं। प्रत्येक बार तोप दगने पर बारूद भड़कने की चमक के दृष्टिगोचर होने तथा उसकी आवाज के दूसरी चोटी पर सुनाई देने के बीच का समय लिख लिया गया। बारूद की चमक का आलोक इस दूरी को पार करने में नगण्य समय लेता है (स्मरण रहे आलोक की गति प्रति सेकण्ड १८६००० मील है!), किन्तु ध्वनि को इस
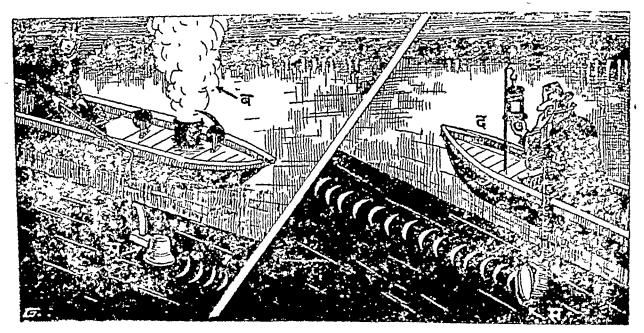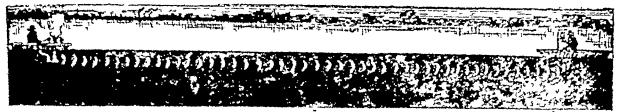
पानी के अंदर की ध्वनि की गति मालूम करने के लिए जिनीवा-झील पर किया गया प्रयोग

ऊपर बाईं ओर एक नौका पर घंटा 'द' पानी में लटक रहा है उसके बजते ही मैग्नीशियम पाउडर 'ब' सुलग उठा, जिसका प्रकाश देखते ही दाहिनी ओर ४४ ७३० फीट की दूरी पर स्थित दूसरी नौका में बैठे हुए वैज्ञानिक ने क्रोनोमीटर 'द' से तुरन्त समय नोट किया और वह तुरही 'स' द्वारा उसने घंटे की ध्वनि सुनने के लिए ध्यान केन्द्रीभूत किया। ध्वनि को इतनी दूर तक पानी के भीतर ही-भीतर रास्ता तय करने में ९। सेकंड समय लगा। नीचे झील पर दोनों नौकाओं का चित्र है और लहर द्वारा ध्वनि की कंपनों की गति प्रदर्शित की गई है।

फ़ासले के तय करने में पर्याप्त समय लगता है। इन प्रयोगों का औसत फल निकालने पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस दूरी को तय करने में ध्वनि को ५४½ सेकण्ड लगते हैं। अत. ध्वनि की रफ़्तार हवा में १११८ फीट प्रति सेकण्ड निकली। ध्वनि की गति आँकने के लिए दोनों ओर से तोपें इसलिए छोड़ी गई थीं कि हवा की प्रवाह-गति के कारण प्रयोग में किसी प्रकार की अशुद्धि का समावेश न हो। इस हिसाब से हवा में १ मील का फ़ासला तय करने में ध्वनि को लगभग ५ सेकण्ड लगे।

पानी के अन्दर ध्वनि अधिक तेजी के साथ चलती है। पानी में ध्वनि की गति मालूम करने के लिए सर्वप्रथम प्रयोग लगभग १०० वर्ष पूर्व स्विट्ज़रलैण्ड की जिनीवा झील में किया गया था। झील के दो आमने सामने के किनारों के निकट दो किश्तियाँ पानी में स्थिर रक्खी गईं। एक किश्ती से एक भारी घण्टा पानी के अन्दर लटकाया गया था—किश्ती के इसी छोर पर लीवर के सहारे एक हथौड़ी भी लगाई गई थी जो पानी के अन्दर घण्टे के पास लटकती थी। लीवर के दस्ते की मदद से इस हथौड़ी को हिलाकर घण्टे पर ज़ोरों के साथ चोट पहुँचा सकते थे। उसी छोर पर तश्तरी में मैग्नीशियम पाउडर रखा हुआ था और एक विशेष युक्ति द्वारा जलती हुई लकड़ी का एक टुकड़ा हथौड़ी के दस्ते के हरकत करते ही मैग्नीशियम को छू लेता और वह चमक के साथ जल उठता था। दूसरे छोर पर एक वैज्ञानिक हाथ में क्रॉनोमीटर लेकर बैठा था। उसके कान में तुरही के आकार का एक यत्र का पतला सिरा था, तथा इस यत्र का चौड़ा मुख पानी के अन्दर इस प्रकार लटकाया गया था कि दूसरी किश्ती के घण्टे की ध्वनि से उत्पन्न हुई पानी के अन्दर की कम्पन उसके मुँह में प्रवेश कर सके। इस तुरही के चौड़े मुँह पर धातु की एक पतली चद्दर लगी थी, जो पानी के कम्पन के आघात को पाकर स्वय कम्पन करके उसी प्रकार का शब्द उत्पन्न कर सकती थी।

इस प्रयोग के समय दूसरी किश्ती के वैज्ञानिक ने पहले तो क्रॉनोमीटर में उस समय को देखा जब उसे मैग्नीशियम की चमक दिखलाई पड़ी थी, तदुपरान्त उसने उस क्षण को नोट किया, जब उसे घण्टे की आवाज सुनाई पड़ी। दोनों किश्तियों के दर्मियान ४४,२३७ फीट की दूरी थी, तथा उस दूरी को तय करने में ध्वनि को पानी के अन्दर ९½ सेकण्ड लगे थे। इस हिसाब से ध्वनि की गति पानी में ४७०८ फीट प्रति सेकण्ड निकली। यह प्रयोग भी रात के अँधेरे में किया गया था। चूँकि झील का पानी स्थिर था अत इस बात की आवश्यकता नहीं समझी गई कि ध्वनि की गति दोनों ओर से नापी जाय (दे० पृ० २१७५ का चित्र)।

ठोस पदार्थों तथा हवा के अतिरिक्त अन्य गैसों में ध्वनि की गति नापने के लिए विशेष प्रकार के प्रयोगों का सहारा लिया गया है। पर यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया जा सकता। अगले किसी अध्याय में हम देखेंगे कि इनके अन्दर ध्वनि की गति कैसे आँकी गई है। इस स्थान पर हम केवल इस बात को बता देना आवश्यक समझते हैं कि ध्वनि की विभिन्न माध्यमों में गति क्या होती है। निम्नलिखित तालिका इसी उद्देश्य से दी जा रही है। तालिका के निरीक्षण से पता चलेगा कि लोहे के अन्दर ध्वनि की गति हवा की अपेक्षा १५ गुनी है।

माध्यम	ध्वनि की गति फ़ीट प्रति सेकण्ड
हवा (०°से० ग्रेड)	१०९०
हाइड्रोजन (,,)	४१६३
आक्सीजन	१०४१
पानी	४७१४
सीसा	४३२१ (लगभग)
सोना	६१०७ ,,
चाँदी	८५४४ ,,
जस्ता	१०७५० ,,
ताँबा	१२१७२ ,,
लोहा	१६८२० ,,
शीशा (काँच)	१६४१० ,,
पीतल	११४८० ,,
शाहबलूत लकड़ी	१२६२० ,,

इस तालिका में गति-मान देते समय ध्वनि की किसी विशेषता का उल्लेख नहीं किया गया है, क्योंकि चाहे धीमी हो चाहे कर्कश, तीक्ष्ण हो या भारी, हर श्रेणी की ध्वनि किसी एक माध्यम में लगभग समान गति से ही गमन करती है। यदि ऐसा न हो तो 'आर्केस्ट्रा' में बजनेवाले विभिन्न वाद्ययत्रों की ध्वनियाँ हमारे कानों तक पहुँचते हुए विभिन्न समय लेंगी और फलस्वरूप सगीत का सारा मज़ा किरकिरा हो जायगा। हाँ, इस क्षेत्र में किए गए नूतनतम प्रयोगों ने अवश्य इस पहलू पर विशेष प्रकाश डाला है, जिनके अनुसार प्रबल विस्फोट से उत्पन्न हुई तेज़ ध्वनि एक ही माध्यम में सामान्य ध्वनियों की अपेक्षा तीव्रतर गति से गमन करती है।

रासायनिक पदार्थों का राजा—गंधक का तेज़ाब

गंधक के तेज़ाब (सल्फ्यूरिक ऐसिड) से हमारे अधिकतर पाठक अवश्य परिचित होंगे, किन्तु शायद उनको इस बात का अनुमान न होगा कि वह कितना उपयोगी और महत्वपूर्ण पदार्थ है। ऐसे रासायनिक उद्योग बहुत कम होंगे जिनमें गंधक के तेज़ाब का व्यवहार न होता हो। यदि हम अपनी घरेलू वस्तुओं पर ही एक दृष्टि डालें तो स्पष्ट हो जायगा कि गंधक के तेज़ाब ने उनमें से अधिकतर की तैयारी में अवश्य ही बहुमूल्य योग दिया है। हमारे कपड़ों के सूत को दुग्धधवल करने के लिए ब्लीचिंग पाउडर (रंग नाशक चूर्ण) के साथ थोड़े-बहुत गंधकाम्ल का अवश्य ही व्यवहार हुआ होगा। मैले कुचैले चीथड़े-गूदड़, घास, लकड़ी अथवा रद्दी कागज़ से बने हुए हमारे नित्य व्यवहार में आनेवाले कागज़ की सफेदी ब्लीचिंग पाउडर और गंधक के तेज़ाब की ही क्रिया का परिणाम है। नील आदि अनेकों कृत्रिम रंग सल्फ्यूरिक ऐसिड के बिना नहीं बन सकते। ताँबा भी गंधक के तेज़ाब की सहायता से ही शुद्ध रूप में निकाला जाता है। कलई चढ़ी हुई लोहे की चादरें कलई चढ़ाने के पहले हलके गंधकाम्ल में ही डुबोकर साफ की गई थीं। आपकी घड़ियों, बाइसिकल के कुछ हिस्सों, डिब्बों, औज़ारों आदि पर निकल का मुलम्मा करने में भी गंधक का तेज़ाब व्यवहृत हुआ है। इसी प्रकार ताँबे और चाँदी के मुलम्मों को करने में भी इसी ऐसिड का उपयोग होता है। आपकी दीवाल पर चूने के साथ पुता हुआ तूतिया (कॉपर सल्फेट)—जिसका उपयोग ताँबे के शोधन में, उसका मुलम्मा करने में, छींट की छपाई में रंगों को पक्का करने के लिए, आलू, अंगूर आदि की फसलों में हानिकारक फफूँद को नष्ट करने में, मरहम आदि कीटाणुनाशक दवाओं में, मूत्र में अथवा अन्यत्र शक्कर की उपस्थिति की परीक्षा करने में, तथा ताँबे के अन्य यौगिकों को तैयार करने में भी होता है—ताँबे पर सल्फ्यूरिक ऐसिड की प्रतिक्रिया द्वारा ही निर्मित किया जाता है। वास्तव में केवल तूतिया ही नहीं, प्रायः सभी कृत्रिम सल्फेट धातुओं अथवा उनकी भस्मों एवं उनके अन्य लवणों पर इसी ऐसिड की प्रक्रिया द्वारा बनाए जाते हैं। सल्फ्यूरिक ऐसिड के ही लवणों का नाम सल्फेट होता है। फिटकरी (पोटै-

गंधकाम्ल की जल-ग्राहकता
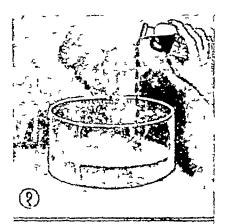
(१) ऐसिड और पानी के मेल से ताप का उत्पादन, (२) शक्कर और गंधकाम्ल का प्रयोग, (३) गंधक के तेज़ाब का रासायनिक जादू (विवरण के लिए देखिए पृ० २१७१-२१८१)।

शियम अलुमीनियम सल्फेट अर्थात् पोटैशियम सल्फेट, अलुमीनियम सल्फेट और पानी के सयोग से बना हुआ लवण), जिसका उपयोग घरों में बहुधा हुआ करता है, और जो चमडे की कमाई, कागज के निर्माण, रंगसाजी में रंगों को पक्का करने तथा पानी को साफ करने में बहुत व्यवहृत होती है; सोडियम सल्फेट, जो हलके जुलाब के लिए बहुधा लिया जाता है, और जो धोनेवाले सोडा और शीशा बनाने के काम में बहुत आता है, मैग्नेशियम सल्फेट (डॉक्टरों का मैगसल्फ), जो दवाओं में जुलाब की भाँति प्रयुक्त होता है, और सूत को चिकनाने, रंगसाजी, चमडे की कमाई और स्वयं गधक के तेजाब के निर्माण में भी काम आता है, फ़ेरस सल्फेट (कसीस) जो नीली स्याही के बनाने में काम आता है, और जिसका उपयोग रंगसाज़ी में, खेती में बेकार पौधों को नष्ट करने के लिए तथा रासायनिक प्रयोगशालाओं में भी होता है; जिंक सल्फेट, जिसका स्रवित जल में हलका घोल उठी हुई आँखों में डाला जाता है, और जो कपड़े की छपाई में और लिथोफान नामक सफेदा के बनाने में भी काम आता है,—ये सब गंधकाम्ल के ही उपयोग से तैयार किए जाते हैं। मिट्टी के तेल अथवा पेट्रोल के शोधन में भी गंधक का तेज़ाब बहुत बड़े परिमाणों में काम में आता है। मोटर-कारों, रेडियो-सेटों, आदि में काम में लाई जानेवाली स्टोरेज बैटरियों में भी इसी अम्ल का उपयोग होता है। आपकी सेलुलायड की वस्तुएँ—यथा कघी, सोप-केस, खिलौने आदि—भी सल्फ़्यूरिक ऐसिड की ही सहायता से तैयार हो सकी हैं; कारण सेलुलायड गनकॉटन और कपूर से बनाया जाता है (दे० पृ० ११६०-११६२), और ये दोनों पदार्थ सल्फ़्यूरिक ऐसिड की सहायता के बिना नहीं बनाए जा सकते। गन-कॉटन और नाइट्रो-ग्लिसरीन (पृ० ११६२) से बने हुए कारतूसों के धूम्रहीन पाउडर (कॉर्डाइट) का उत्पादन भी गधक के तेज़ाब के बिना संभव न हो सका है, कारण इन दोनों विस्फोटकों और प्राय सभी प्रचड विस्फोटकों का निर्माण गधकाम्ल के बिना असभव है। यही कारण है कि किसी भी राष्ट्र की आयुध-शक्ति सल्फ़्यूरिक ऐसिड पर निर्भर रहती है। वास्तव में, इस ऐसिड के बिना आधुनिक युद्ध संभव ही नहीं!

सल्फ़्यूरिक ऐसिड का सबसे बड़ा उपयोग कुछ महत्त्वपूर्ण रासायनिक खादों को तैयार करने में होता है। इनमें से अमोनियम सल्फेट का उल्लेख हम कर चुके हैं (दे० पृ० १०७३)। एक अन्य रासायनिक खाद "कैल्शियम सुपरफॉस्फेट" खनिज कैल्शियम फास्फेट पर गधक के तेजाब की क्रिया द्वारा बनाया जाता है। कैल्शियम फास्फेट [$Ca(PO_4)_2$] पानी में नहीं घुलता, किन्तु कैल्शियम सुपरफास्फेट [$Ca(H_2PO_4)_2$] पानी में सरलता से घुलकर जड़ों द्वारा शोषित होता रहता है, और इस प्रकार पौधों की फास्फोरस की आवश्यकता की पूर्ति करता रहता है। प्रति वर्ष लगभग ५० लाख टन गधकाम्ल रासायनिक खादों को बनाने में ख़र्च कर डाला जाता है। यही नहीं, इसके द्वारा क्षारीय ऊसरों को उर्वर क्षेत्रों में परिणत करने के कार्य पर भी विचार हो चुका है।

इसके अलावा यह तेजाब शोरे से नाइट्रिक ऐसिड, नमक से हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड, सोडियम ऐसेटेट से ऐसेटिक ऐसिड (सिरका का तेजाब), हड्डियों की राख अथवा प्राकृतिक कैल्शियम फास्फेट से फॉस्फरिक ऐसिड और फॉस्फरस मैदा से ग्लूकोज (अगूरी शक्कर) और 'स्टार्च सिरप', 'कॉर्न सिरप' आदि शर्बत बनाने के काम में आता है। कार्बनिक रसायन में अनेकों महत्वपूर्ण पदार्थों को बनाने में यह तेजाब प्रयुक्त होता है। इन सबका उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं। ऊन को साफ करने, स्टियरिन मोम बत्तियों को बनाने, जस्ता की क्रिया द्वारा हाइड्रोजन गैस के उत्पादन, गैसों आदि को सुखाने, तथा दवाओं में भी यह ऐसिड काम आती है। रसायनशालाओं में भी गंधक का तेज़ाब बहुत प्रयुक्त होता है। संसार में प्रतिवर्ष एक करोड़ टन से भी अधिक गधक के तेजाब का निर्माण होता है। इसमें से लगभग ५० प्रतिशत रासायनिक खादों को बनाने, १८ प्रतिशत मिट्टी के तेलों के शोधन, १२ प्रतिशत लोहे और इस्पात सबधी कार्यों, और शेष २० प्रतिशत अन्य सब बातों में ख़र्च होता है।

आप को अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि गधक के तेज़ाब की उपयोगिता कितनी विस्तृत है। वास्तव में, गंधक के तेज़ाब के बिना व्यापारिक उद्योग सभव ही नहीं। इसलिए यह कहा गया है कि किसी भी देश के अभ्युदय का अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि उसमें कितने गधक का तेज़ाब ख़र्च होता है। तो फिर, हम इसे रासायनिक पदार्थों का राजा क्यों न कहें!

उपयोगी किन्तु भयानक पदार्थ

इतनी उपयोगिता होते हुए भी गधक के तेजाब से उससे काम करनेवालों को सदैव सावधान रहना चाहिए। यदि प्रबल सल्फ़्यूरिक ऐसिड शरीर पर लग जाय और उसे तुरत ही न हटा दिया जाय तो उस स्थान पर शरीर

गंधक का तेज़ाब बनाने की चैम्बर-विधि (विवरण के लिए देखिए पृ० २१८२-२१८३)

झुलसकर काला पड़ जायगा और घाव हो जायगा। यदि यह प्रबल तेजाब कपड़े में छू भी जाय, तो समझ लीजिए कि उस स्थान का कपड़ा शीघ्र ही ग़ायब हो जायगा, यहाँ तक कि इस तेज़ाब के हलके घोल के पड़ जाने पर भी कपड़े का बच जाना कठिन होता है। और यदि आपने कहीं गलती से अथवा धोखे से प्रबल ऐसिड में, विशेषतः गर्म प्रबल ऐसिड में, पानी छोड़ दिया तो शामत मोल ले ली—धड़ाके के साथ यह गर्म सान्द्र ऐसिड छितराकर आपके शरीर पर आ पड़ सकती है, और झुलसकर आपको बुरी तरह घायल कर सकती है।

गंधकाम्ल की इस भयानकता का कारण क्या है? इस बात को समझ लेने के लिए उसके कुछ गुणों का ज्ञान आवश्यक है। सांद्र गंधकाम्ल पानी का एक बहुत ही प्रबल शोषक होता है, और इस शोषण में ताप के बहुत बड़े परिमाण का उत्पादन होता है। यदि आप सांद्र ऐसिड में पानी छोड़ देने की भूल करेंगे तो एका-एक इतनी गर्मी पैदा होगी कि कुछ पानी भाप में बदलकर धड़ाके के साथ ऐसिड को छितराते हुए निकल पड़ सकता है। अतएव यह याद रखना आवश्यक है कि गंधक के तेज़ाब के घोल को बनाते समय तेज़ाब सदैव धीरे-धीरे ठंडे पानी में छोड़ना चाहिए और मिश्रण को बराबर शीशे की छड़ से चलाता रहना चाहिए। आप देखेंगे कि शीघ्र ही मिश्रण बहुत गर्म हो जायगा। यह मिलाने का काम चीनी अथवा शीशे के ऐसे पात्र में करना चाहिए जो गर्मी से न चटके। यह शोषण शक्ति केवल यहीं तक सीमित नहीं, प्रबल गंधकाम्ल जीव-पदार्थों अथवा कार्बनिक पदार्थों में संयुक्तावस्था में रहनेवाले जलीय अंशों को भी बाहर निकालकर तीव्रतापूर्वक शोषित कर लेता है। यह गुण कई मनोरंजक प्रयोगों द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। एक परीक्षा-नली में थोड़ी सी सांद्र ऐसिड लेकर गर्म कर लीजिए। इसमें एक छोटा सा काग़ज़ का टुकड़ा छोड़ दीजिए। आप एक प्रक्रिया होते देखेंगे और बात

की बात में कागज कोयले (कार्बन) में बदलकर ऐसिड को काला कर देगा। कागज़ के स्थान पर लकड़ी (बुरादा), रुई (अथवा कपड़े का टुकड़ा), मैदा, शकर आदि छोड़ने पर भी आप इसी प्रकार की प्रक्रिया होते देखेंगे। बात यह है कि ये जीव-पदार्थ कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के रासायनिक संयोग से बने होते हैं, और इनमे हाइड्रोजन और ऑक्सिजन उसी अनुपात में रहते हैं, जैसा पानी में होता है। इसीलिए रसायनशास्त्र में इन यौगिकों को कार्बोहाईड्रेट कहते हैं। गंधकाम्ल इन दो तत्वों को पानी के रूप में निकालकर शोषित कर लेता है, और कार्बन रह जाता है। शकर और कागज़ पर गधकाम्ल के और भी प्रयोग किए जा सकते हैं।

एक बीकर में लगभग एक छटाँक शकर ले लीजिए और इसमें लगभग पौन छटाँक गुनगुना पानी छोड़ दीजिए। थोड़ी देर में शकर पानी में घुल जायगी। अब बीकर को एक प्लेट पर रखकर उसमें जल्दी से प्रबल सल्फ्यूरिक ऐसिड का शकर के घोल से लगभग सवा गुना आयतन छोड़ दीजिए। आप देखेंगे कि मिश्रण काला पड़ गया और झाग उठने लगा। इसके साथ ही साथ भाप के बादल निकलते हुए दिखाई देंगे, और यदि बीकर बहुत बड़ा नहीं है तो अन्त में यह झाग उसके सिरे तक उठकर स्पजी कोयले के रूप में रह जायगा।

कागज़ पर गन्धक के अम्ल की क्रिया एक रासायनिक जादू के रूप मे भी आप प्रदर्शित कर सकते हैं। एक नोकीले लकडी के टुकड़े द्वारा कागज पर हलके अम्ल से कुछ लिख दीजिए। इस समय दूर से कागज़ पर कुछ
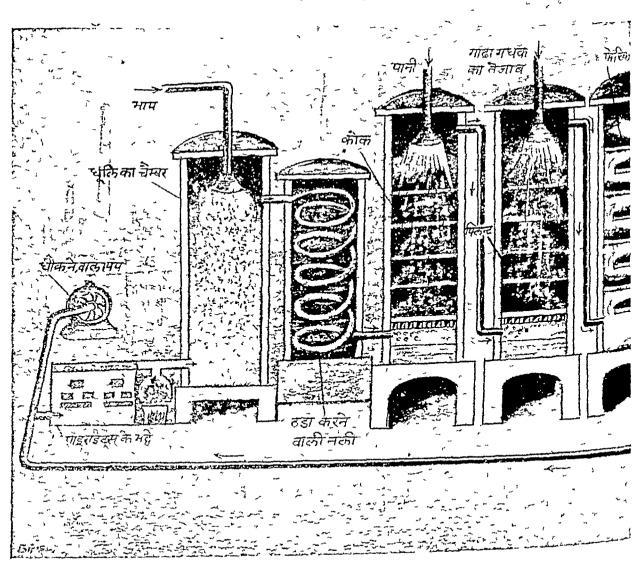
गंधक का तेज़ाब बनाने की संपर्क-विधि—अ (इस चित्र को अगले चित्र से जोड़कर देखिए)

न दिखाई देगा। लेकिन उस कागज को स्पिरिट-लैम्प के ऊपर गर्म हवा में अथवा आग के सामने रखने पर पानी के वाष्पीभूत हो जाने के कारण ऐसिड सान्द्र हो जायगी और कागज को लिखे हुए स्थान पर झुलस देगी। फलतः अक्षर काले होकर स्पष्ट हो जायँगे (दे० पृ० २१७७ का चित्र)।

केवल कार्बोहाइड्रेटों को ही नहीं, अधिकतर जीव-पदार्थों और कार्बनिक यौगिकों को यह अम्ल जल-विहीन करके कार्बन अथवा अन्य यौगिकों में परिणत कर देता है। अनेकों पदार्थों के बनाने की विधियाँ गन्धक के तेज़ाब की जलशोषणशक्ति पर निर्भर हैं। अनेक गन्ध-द्रव्य, विस्फोटक, ईथर, इथिलीन गैस, कार्बन मानोक्साइड गैस, आदि के उत्पादन में इसकी इसी जलग्राहकता का उपयोग होता है।

गन्धकाम्ल में यह झुलसाने और कुरेदने की क्षमता प्रधानतः उसके इस जलाकर्षक गुण के ही कारण होती है। वह एक प्रबल तेजाब भी है, किन्तु प्रबलतम नहीं; नमक और शोरा के तेजाब में अम्लता उससे अधिक होती है। अन्य तेजाबों की भाँति वह अनेक धातुओं, उनकी आक्साइडों, हाइड्रोक्साइडों, कार्बोनेटों तथा सल्फाइडों को अपने लवणों अर्थात् सल्फेटों में बदलकर स्वयं निराकृत हो जाता है। हाइड्रोजन (पृ० २७२-२७४), हाइड्रोजन परॉक्साइड (पृ० ६७५) और हाइड्रोजन सल्फाइड (पृ० २०६७) की उत्पादन-विधियों के वर्णन में इस प्रकार की कुछ क्रियाओं का उल्लेख हो चुका है।

सान्द्र गंधकाम्ल तेल के समान और पानी से दुगने से कुछ कम भारी (आपेक्षित घनत्व १'८४) गाढ़ा
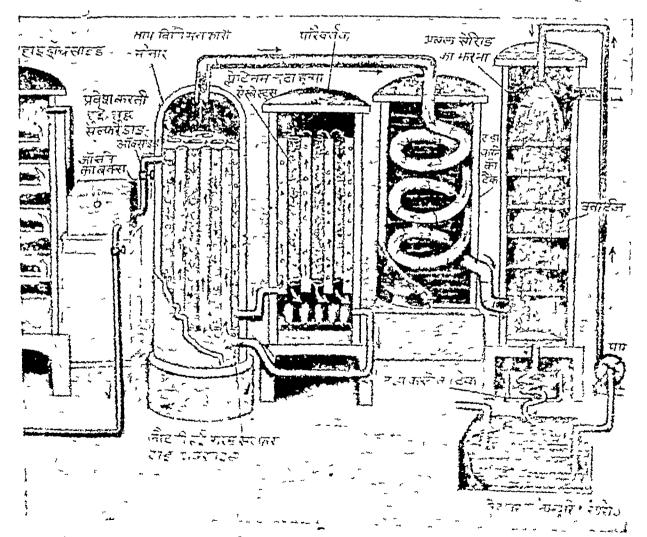
गंधक का तेज़ाब बनाने की संपर्क-विधि—(ख) (विवरण के लिए देखिए पृ० २१८२-८४ का मैटर)

द्रव होता है। वह काफी ऊँचे तापक्रम अर्थात् ३३८°C पर उबलता है। उसकी उपयोगिता का एक कारण ऊँचा क्वथनाङ्क भी है, कारण जब वह अन्य लवणों के साथ मिलाकर गर्म किया जाता है तो उन लवणों की अधिक वाष्पशील ऐसिडें निकल आती हैं और वे सल्फेटों में परिणत हो जाते हैं। शोरा से नाइट्रिक ऐसिड (पृ० १३१३-१३१४) और नमक से हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड (पृ० १६४५-१६४८) इसी प्रकार बनाई जाती हैं।

इनकी सल्फ्यूरिक ऐसिड में लोहा, जस्ता, मैग्नेशियम आदि धातु सल्फेटों में परिवर्तित होते हुए घुल जाती हैं। ठंडी सांद्र ऐसिड लोहा, पारा, ताँबा आदि धातुओं पर आक्रमण नहीं करती। किन्तु गर्म करने पर ये धातु सल्फेटों में बदल जाती हैं, और साथ ही साथ सल्फर डाइऑक्साइड गैस का उत्पादन होता है। प्रयोगशाला में यह गैस बहुधा ताँबे के छीलनों को गाढ़े गंधकाम्ल के साथ गर्म करके बनाई जाती है (पृ० २०६७)।

जैसा हम हाइड्रोजन के अध्याय (पृ० २७३) में बता चुके हैं, यह ऐसिड तीन तत्त्वों—हाइड्रोजन, ऑक्सिजन और गंधक के संयोग से बनी होती है, और इसका अणु-सूत्र (H_2SO_4) लिखा जाता है। गर्म करने पर वह पानी (H_2O) और सल्फर ट्राइऑक्साइड (SO_3) में विघटित होती है, और रक्त-तप्त पृष्ठ पर छोड़ने पर पानी, सल्फर डाइऑक्साइड और ऑक्सिजन में विच्छिन्न हो जाती है। इस प्रकार उसके एक अणु से एक अणु पानी (H_2O) का, एक अणु सल्फर डाइऑक्साइड (SO_2) का और एक परमाणु ऑक्सिजन (O) का प्राप्य रहते हैं। इस प्राप्य ऑक्सिजन के कारण उसमें ऑक्सीकारक गुण भी रहता है, उदाहरणार्थ सांद्र गंधकाम्ल को कोयले के साथ गर्म करने पर कोयले का कार्बन इस प्राप्य ऑक्सिजन के साथ संयुक्त होकर कार्बन डाइऑक्साइड में ऑक्सीभूत होकर निकलने लगता है, साथ ही ऐसिड पानी और सल्फर डाइऑक्साइड गैस में बदलकर उड़ने लगती है।

यदि शरीर पर सल्फ्यूरिक ऐसिड पड़ जाय तो उसे तुरत पहले पानी से, फिर खानेवाले सोडा (सोडियम बाइकार्बोनेट) के घोल से, और यदि यह न मिल सके तो धोनेवाला सोडा (सोडियम कार्बोनेट) के ही हलके घोल से धो देना चाहिए। इन दोनों पदार्थों की रासायनिक क्रिया से ऐसिडें नष्ट हो जाती हैं। यदि ये भी न मिलें तो चूने का पानी, अथवा अमोनिया अथवा अमोनियम कार्बोनेट, अथवा इस प्रकार के किसी हलके क्षार के घोल से धोना चाहिए। साबुन के पानी अथवा लकड़ी की राख के घोल का भी व्यवहार हो सकता है। लकड़ी की राख में पोटैशियम कार्बोनेट रहता है, जो अम्लों का निराकरण सरलता से कर देता है। इसमें दाहक क्षारों अर्थात् (कास्टिक सोडा या कास्टिक पोटाश) का प्रयोग कभी न करना चाहिए, कारण ये स्वयं दाहक होते हैं।

कपड़े पर सल्फ्यूरिक ऐसिड पड़ जाने पर उसे तुरंत ऊपर बताई हुई वस्तुओं के घोल से धो देना चाहिए। तनिक भी देर हो जाने पर ऐसिड अपना काम कर चुकेगी और यदि इसी समय नहीं तो धोबी के यहाँ से आने पर कपड़ा आपको फटा मिलेगा।

निर्माण की दो विधियाँ

गंधक का तेज़ाब प्राचीन काल के कीमियागरों को मालूम था। आठवीं शताब्दी से उसके ज्ञात होने का प्रमाण मिलता है। कीमियागर उसे कसीस या फिटकरी को स्रवित करके बनाते थे। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में गंधकाम्ल का निर्माण गंधक और शोरे को एक लोहे के पात्र में गर्म करके किया गया। इस पात्र से निकलती हुई एसिड की वाष्पें शीशे के बड़े-बड़े पात्रों में, जिनमें थोड़ा सा पानी भी रहता था, घनीभूत कर ली जाती थीं। कुछ ही वर्षों बाद शीशे की भंगुरता के कारण उसके पात्रों के स्थान पर सीसा के कक्षों (चैम्बरों) का प्रयोग होने लगा। इसी विधि का विकास होते होते उन्नीसवीं सदी के मध्य में आधुनिक 'चैम्बर विधि' का प्रवर्तन हुआ।

गंधक के तेज़ाब की उपयोगिता की वृद्धि के साथ ही साथ उसके उत्पादन की सस्ती से सस्ती विधियों को ढूँढ निकालने का प्रयत्न होने लगा था। चैम्बर-विधि इन्हीं प्रयत्नों का प्रथम सफल परिणाम थी। इसमें वैज्ञानिकों ने खनिज गंधक, पानी और हवा की ऑक्सिजन को एक साथ संयुक्त करके गंधकाम्ल में परिणत कर दिया। हाइड्रोजन, ऑक्सिजन और गंधक के यौगिक के निर्माण के लिए उनसे अधिक सस्ती वस्तुएँ और हो ही क्या सकती थीं?

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में "बैडिशे एनिलिन अंड सोडा फैब्रिक" नामक जर्मन निर्माताओं ने उपर्युक्त प्राकृतिक पदार्थों, अर्थात् खनिज गंधक, पानी और हवा की ऑक्सिजन, को सल्फ्यूरिक ऐसिड में संश्लिष्ट कर देने की एक सरलतर विधि को ढूँढ निकाला। इस विधि को 'सम्पर्क-विधि' कहते हैं। लगभग इसी समय इँग्लैण्ड में डा० रूडाल्फ़ मेसेल ने इसी विधि से सल्फ्यूरिक ऐसिड के निर्माण की सफलतापूर्वक योजना की।

प्रत्येक आधुनिक निर्माणशाला में प्रतिदिन सैकड़ों टन सल्फ्यूरिक ऐसिड तैयार हुआ करती है। यह निर्माण दोनों विधियों मे निम्न क्रम से होता है—

(१) गंधक अथवा लोहे की पाइराइट्स (जिसमें गंधक लोहे के साथ संयुक्तावस्था में रहता है) को हवा में जलाकर सल्फर डाइऑक्साइड गैस का उत्पादन करना।

(२) सल्फर डाइऑक्साइड और हवा की ऑक्सिजन को नाइट्रोजन पराक्साइड (No_2) गैस अथवा प्लैटिनम, वैनेडियम ऑक्साइड आदि उत्प्रेरकों की उपस्थिति में संयुक्त करके सल्फर ट्राइऑक्साइड में बदलना। इसी परिवर्तन के अनुष्ठान में मनुष्य को सबसे अधिक दिमाग लड़ाना पडा।

(३) सल्फर ट्राइऑक्साइड को पानी से संयुक्त करके सल्फ्यूरिक ऐसिड में परिणत करना।

चैम्बर विधि में सल्फर डाइऑक्साइड और हवा की ऑक्सिजन नाइट्रोजन पर्ऑक्साइड द्वारा संयुक्त की जाती है। यह नाइट्रोजन पर्ऑक्साइड नाइटर पात्रों से प्राप्त होती है (पृ० २१७६ का चित्र देखिये)। इन पात्रों में शोरा और सांद्र सल्फ्यूरिक ऐसिड का मिश्रण भरा रहता है, और इन दोनों की प्रतिक्रिया से नाइट्रिक ऐसिड उत्पन्न होकर वाष्परूप में निकलती हुई सल्फर डाइऑक्साइड गैस में मिलती रहती है। इसमें से कुछ सल्फर डाइऑक्साइड को सल्फ्यूरिक ऐसिड में बदलकर यह नाइट्रोजन पर्ऑक्साइड गैस में परिवर्तित होती रहती है। यह नाइट्रोजन पर्ऑक्साइड पहले ग्लवर मीनार में और शेष सीसे के चैम्बरों में सल्फर डाइऑक्साइड को सल्फर ट्राइऑक्साइड में बदलती रहती और स्वयं नाइट्रिक ऑक्साइड (No) गैस में परिणत हो जाती है। नीचे दी हुई रासायनिक समीकरण से यह प्रतिक्रिया स्पष्ट हो जाती है—

$$So_2+No_2=So_3+No$$

यह नाइट्रिक ऑक्साइड गैस सल्फर डाइऑक्साइड के साथ आई हुई हवा की ऑक्सीजन के साथ तुरत संयुक्त होकर फिर नाइट्रोजन पर्ऑक्साइड हो जाती है। इस प्रकार नाइट्रोजन पर्ऑक्साइड के प्राय. उतने ही परिमाण द्वारा सल्फर डाइऑक्साइड सल्फर ट्राइऑक्साइड में बदलती रहती है। जो थोड़ी-सी नाइट्रोजन पर्ऑक्साइड निकल जाती है उसकी पूर्ति नाइटर-पात्रों से हुआ करती है। इन सीसे के चैम्बरों का आयतन डेढ़ लाख से दो लाख घनफीट तक होता है, अर्थात् स्कूल के एक साधारण कमरे से लगभग बीसगुना। अन्तिम चैम्बर से निकलती हुई नाइट्रोजन की ऑक्साइडें 'गेलूजक मीनार' में झरती हुई सान्द्र सल्फ्यूरिक ऐसिड में शोषित कर ली जाती हैं। इस शोषण के बाद ऐसिड को 'नाइट्रेटेड ऐसिड' कहते हैं।

डॉ० रूडाल्फ मेसेल
जिसने इँगलेंड में 'संपर्क-विधि' जारी की।

ग्लवर मीनार में चैम्बरों से निकली हुई चैम्बर ऐसिड (जो ७० प्रतिशत ऐसिड होती है), और गेलूजक मीनार से निकली हुई नाइट्रेटेड ऐसिड ये दोनों ले जाकर गिराई जाती हैं। चैम्बर ऐसिड में मिला हुआ पानी सल्फर ट्राइऑक्साइड को शोषित करके सल्फ्यूरिक ऐसिड का उत्पादन करता है, और ग्लवर मीनार के ऊँचे तापक्रम पर उसी पानी की क्रिया द्वारा नाइट्रेटेड ऐसिड फिर सल्फ्यूरिक ऐसिड और नाइट्रोजन की ऑक्साइडों में विच्छिन्न हो जाती है। ये ऑक्साइडें फिर अपना वही काम शुरू कर देती हैं।

इस प्रकार ग्लवर टावर से सांद्र ऐसिड निकलकर नीचे टैङ्क में इकट्ठी होती रहती है, और वहाँ से यह आवश्यकतानुसार गेलूजक मीनार में भेजी जाती है। चैम्बरों में सल्फर डाइऑक्साइड के शोषण के लिए पानी अथवा वाष्प बाहर से प्रविष्ट की जाती है।

चैम्बर ऐसिड में लगभग ३० प्रतिशत पानी के अलावा और कई अपद्रव्य होते हैं। इसे उचित विशेष विधियों से गर्म करने से पानी, अधिक वाष्पशील होने के कारण, अलग हो जाता है, और ऐसिड अधिकाधिक सांद्र होती

जाती है। इस प्रकार प्राप्त की हुई लगभग ७८ प्रतिशत ऐसिड को बी० ओ० वी० (ब्राउन आयल आफ विट्रियल), और लगभग ९४ प्रतिशत ऐसिड को आर० ओ० वी० (रेक्टिफाइड आयल आफ विट्रियल) कहते हैं। सल्फ्यूरिक ऐसिड को आयल आफ विट्रियल इसलिए कहते हैं कि वह प्राचीन काल में कसीस (ग्रीन विट्रियल) से बनाई जाती थी और तेल-सरीखी गाढ़ी होती थी। आर० ओ० वी० के स्रवण से ९८ प्रतिशत ऐसिड निकल आती है।

अनेक उद्योगों (उदाहरणार्थ रासायनिक खादों की तैयारी) के लिए चैम्बर ऐसिड से पानी के अलावा अन्य अपद्रव्यों को निकाल डालने की आवश्यकता नहीं पड़ती। तथापि वह रासायनिक रीति द्वारा सर्वथा शुद्ध और रंगहीन कर दी जा सकती है।

गधकाम्ल के निर्माण की दूसरी रीति को 'सपर्क विधि' कहते हैं, कारण इसमें सल्फर डाइऑक्साइड और हवा की ऑक्सिजन का संयोग उत्प्रेरकों के सपर्क में किया जाता है। 'सपर्क ऐसिड' शुद्ध और सांद्र होकर निकलती है, अतएव इसका उपयोग परिष्कृत रासायनिक पदार्थों, शकर आदि खाद्य वस्तुओं, विस्फोटकों, एव नील आदि के निर्माण में, मिट्टी के तेल के शोधन में, तथा बैटरियों में होता है। इस विधि में यह विशेष ध्यान रक्खा जाता है कि उत्प्रेरक (विशेषत प्लैटिनम) तक पहुँचने के पहले सल्फर डाइऑक्साइड गैस सर्वथा शुद्ध कर दी जाय। पृ० २१८०–८१ के चित्रों में स्पष्ट है कि भट्ठियों में उत्पन्न होती हुई सल्फर डाइऑक्साइड में पंप द्वारा हवा मिलाकर इस मिश्रण को किस प्रकार अनेकों शोधक मीनारों में प्रविष्ट करते हैं। भाप और पानी से धूलि आदि, गधक के तेजाब से आर्द्रता, और फेरिक डाइऑक्साइड से आर्सनिक के यौगिक पृथक् हो जाते हैं। जाँचने के बक्स में गैसों की शुद्धता की परीक्षा होती है। इसमे प्रकाश का तीव्र पुज डाला जाता है, जिसका निरीक्षण एक शीशे की खिड़की से थोड़ी-थोडी देर बाद किया जाता रहता है। जब तक प्रकाश-पुज अदृश्य रहता है तब तक गैसें शुद्ध मानी जाती है, किंतु जैसे ही अपद्रव्यों की उपस्थिति में धूलि कणों के कारण वह दृष्टिगोचर होता है, गैसें पुनर्शोधन के लिए लौटा दी जाती हैं। इस बक्स से गैसें एक ऐसी मीनार मे उतरती हैं, जिसमे नलों द्वारा 'परिवर्तक' से निकलती हुई तप्त सल्फर ट्राइऑक्साइड ऊपर चढ़ा करती है। अतएव सल्फर डाइऑक्साइड भी परिवर्तक में प्रविष्ट होने के पहले गर्म हो जाती है।

चित्र में दिखाए हुए परिवर्तक में प्लैटिनम चढ़ा हुआ ऐस्बस्टस काम में लाया जाता है। इस उत्प्रेरक के प्रभाव में सल्फर डाइऑक्साइड और ऑक्सिजन का संयोग सबसे अच्छा ४००°C से ४५०°C तक होता है। यह तापक्रम आरंभ में गैस बर्नरों द्वारा प्राप्त कर लिया जाता है, फिर इन बर्नरों के जलने की आवश्यकता नहीं रहती, कारण सल्फर डाइऑक्साइड और ऑक्सिजन के सयोग से इतने ताप का उत्पादन होता रहता है, और ये गैसें ऐसी गति से प्रवाहित की जाती रहती हैं कि सर्वोत्तम तापक्रम बना रहे। ताप-विनिमयकारी मीनार में सल्फर ट्राइऑक्साइड अपना ताप सल्फर डाइऑक्साइड को दे देती है, इस प्रकार ताप का अपव्यय नहीं होने पाता। इसके बाद सल्फर ट्राइऑक्साइड ठंडी करके एक मीनार में झरती हुई प्रबल गधकाम्ल में शोषित कर ली जाती है, कारण यह सल्फर ट्राइऑक्साइड के लिए सबसे अच्छा शोषक होता है। इस प्रकार शोषण कर चुकने वाली ऐसिड से सल्फर ट्राइऑक्साइड का धूम निकला करता है, अतएव इसे धूमशील सल्फ्यूरिक ऐसिड कहते हैं। मीनार अथवा ऐसिड के टैंक में आवश्यक परिमाणों में हलकी ऐसिड अथवा पानी छोड़कर शोषित सल्फर ट्राइऑक्साइड सांद्र (९८%) सल्फ्यूरिक ऐसिड में परिणत कर दी जाती है।

प्लैटिनम चढ़े हुए ऐस्बस्टस के स्थान पर प्लैटिनम-कणों से ढके हुए स्पजरूप मैग्नेशियम सल्फेट का भी व्यवहार होता है। लेकिन प्लैटिनम एक तो महँगा होता है, दूसरे गैसों के अपद्रव्यों (विशेषत. आर्सीनियस ऑक्साइड) द्वारा उसकी प्रवर्त्तन-शक्ति शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। इसीलिए सपर्क-विधि में गैसों का शोधन अत्यावश्यक है। सन् १९२८ ई० में यह पता लगा कि वैनेडियम पेण्टाक्साइड इस कार्य के लिए एक बड़ा ही अच्छा उत्प्रेरक है, और उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अपद्रव्यों द्वारा उसकी सक्रियता का नाश नहीं होता। इस अन्वेषण से सपर्क विधि अधिक सरल और सस्ती हो गई है।

हमारे देश में सल्फ्यूरिक ऐसिड चैम्बर-विधि से कलकत्ता, कानपुर, बम्बई, गाजियाबाद, मद्रास, बड़ौदा और पजाब में बनाई जाती है। इधर टाटा क० और आसाम आयल क० ने उसे संपर्क-विधि से बनाना शुरु किया है। इस प्रकार भारतवर्ष में प्रति वर्ष लगभग २०,००० टन सल्फ्यूरिक ऐसिड तैयार होती है, जबकि इंग्लैण्ड और जर्मनी में दस-दस लाख टन से भी अधिक बनाई जाती है।

पृथ्वी की कहानी
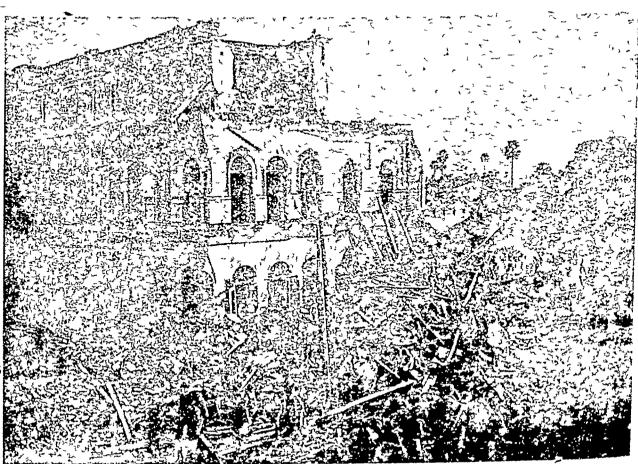
आप इन्हें कहीं आधुनिक युद्ध की हवाई बमबाज़ी और गोलाबारी द्वारा प्रस्तुत विनाश के चित्र न समझ बैठें ! ये हैं १९३४-३५ के भूचालों के कारण (ऊपर) क्वेटा और (नीचे) मुंगेर (विहार) के विध्वंस की दो तस्वीरें !
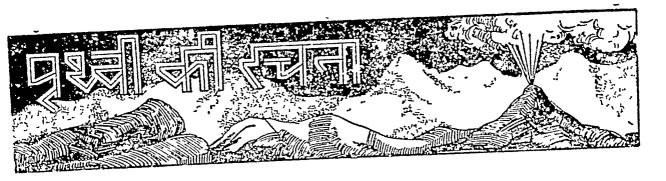
भूकम्प या भूचाल

अपने पैरों के नीचे की धरती के एकाएक हिल उठने, काँपने या खिसकने लगने का-सा अनुभव करने पर मनुष्य के मन में जैसी विचित्र भयमिश्रित सनसनी का संचार होता है, उसकी शब्दों द्वारा अनुभूति कराना संभव नहीं है। आदिकाल ही से पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागों में धरती के इन कंपनों की विध्वंस-लीला का परिणाम मनुष्य भुगतता चला आ रहा है और आज भी वह इस विषय में बिल्कुल असहाय है। किन्तु जहाँ पहले वह इसे एक दैवी कोप मानकर ही सिर झुका लिया करता था, वहाँ अब प्रकृति के अन्य रहस्यों की तरह इसका भी भेद जान लेने का वह अथक प्रयास कर रहा है। आइए, प्रस्तुत लेख में इस संबंध में अब तक प्राप्त जानकारी का कुछ परिचय आपको दें।

मनुष्यों का सहस्रों वर्षों का विपुल आयोजन पल-भर में मटियामेट कर देने और लाखों जीव-धारियों के प्राण क्षणभर में हर लेनेवाला भूकम्प प्रकृति की एक अनोखी विनाशकारी घटना है। यह घटना इतनी विचित्र है कि इसके घटने का कोई क्षीण आभास भी मनुष्य को नहीं मिलता। जादू के खेल की भाँति क्षणभर में सब कुछ हो जाता है। भूकम्प अकस्मात् ही होता है और अत्यंत सूक्ष्म काल के लिए, परन्तु उसका प्रभाव इतना भयंकर और व्यापक होता है कि उसकी स्मृति सदा के लिए मानव इतिहास में अंकित हो जाती है। पृथ्वी की रचना पर यद्यपि भूकम्प का प्रभाव नगण्य सा होता है, तथापि जिन कारणों से उसकी उत्पत्ति होती है तथा उसकी आकस्मिक अव-स्थाएँ, पृथ्वी की रचना में कम प्रभावोत्पादक नहीं हैं। ज्वालामुखी पर्वत के उद्गारकाल के समय तथा उसके कुछ पूर्व ज्वाला-मुखी का निकटवर्ती प्रदेश भयानक रूप से कँपकँपाने लगता है, मकान धरा-शायी हो जाते हैं, धरती फट जाती है तथा मानव सभ्यता के अनेकों दृश्यों में विचित्र उलट-पुलट हो जाती है। ज्वालामुखी प्रदेशों में जब जब ज्वाला-मुखी का उद्गार होने लगता है तब तब इस प्रकार के कम्प आते रहते हैं। अर्थात् इस प्रकार के आनेवाले भूकम्प वास्तव में ज्वालामुखी के उद्गार के ही परिणाम हैं। परन्तु बहुधा ऐसे ऐसे स्थानों में भी भूकम्प होते हैं जो कि ज्वालामुखी प्रदेशों के बाहर हैं और जिनके घटित होने के समय आसपास कहीं भी किसी ज्वाला-

कंप-लेखक या सीस्मोग्राफ नामक यंत्र
जिसकी सहायता से अब हजारों मील दूर तक के सूक्ष्म से सूक्ष्म पृथ्वी के कंपनों का पता लगाया जा सकता है।
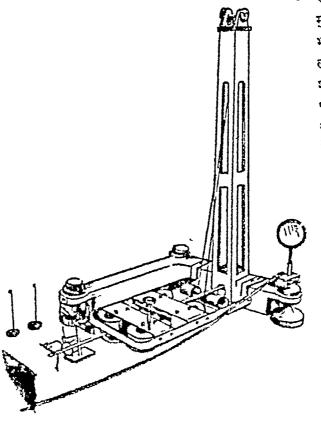
मुखी का उद्गार नहीं होता। साधारणत: 'भूकम्प' अथवा 'भूचाल' से उसी घटना से तात्पर्य है जो अदृश्य भूगर्भ में होनेवाली किसी असाधारण क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप धरातल के कुछ अंश के आकस्मिक विकम्पन के रूप में भूपृष्ठ पर घटित होती है।

धरातल के किसी-न-किसी भाग में भूकम्प प्रतिदिन होता ही रहता है। वैज्ञानिकों के अनुसार पृथ्वी प्रति दस मिनिट के अंतर पर एक बार थरथराती है और प्रति सप्ताह औसतन तीन बार हमारे इस ग्रह के कलेवर में जोरदार कंपन होता रहता है। इस प्रकार सम्पूर्ण धरातल पर वर्ष भर में लगभग ७००० कम्प होते हैं। परन्तु इनमें से बहुत थोड़े ऐसे होते हैं जो साधारण मनुष्यों का ध्यान आकर्षित कर सकते हैं अथवा मानव जीवन पर प्रभाव डालते हैं। अधिकांश इतने अल्पकालीन और सूक्ष्म-वेगी होते हैं कि चेतना-शक्ति द्वारा उनकी अनुभूति होना सामान्यत: असम्भव होता है। केवल तीव्र भूकम्पों का अनुभव ही हम कर पाते हैं, विशेषकर उनके द्वारा होनेवाली जन-धन की अपार क्षति के कारण।

जिन सूक्ष्म कम्पनों का अनुभव मनुष्य की चेतना-शक्ति के द्वारा होना असम्भव है, उनका प्रदर्शन करने के लिए वैज्ञानिकों ने एक विशेष यंत्र का आविष्कार किया है। इसे कम्पलेखन या सीस्मोग्राफ (Seismograph) कहते हैं। इस यंत्र के द्वारा धरातल पर होनेवाले सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कम्प का अनुभव भी हमें हो जाता है। यहाँ तक कि कुछ यंत्र पदचाप द्वारा उत्पन्न कम्पन भी अंकित कर सकते हैं। धरातल के विभिन्न भागों में लगभग ३५० प्रयोग-शालाएँ भूकम्प-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिए बनाई गई हैं। भारत में भी अलीपुर, कोलाबा तथा देहरादून आदि स्थानों में भूकम्प की नाप जोख करनेवाले यंत्र लगे हैं। भूकम्प से ठोस धरती भी उसी प्रकार लहराने लगती है जिस प्रकार जल लहराता है। प्रचण्ड भूकम्प के समय धरातल पर चलनेवाली कम्पतरंगों को हम प्रत्यक्ष ही देख सकते हैं। इन तरंगों के वेग, विस्तार और काल से हमें यह तो पता चल ही जाता है कि भूकम्प किस केन्द्र से उत्पन्न हुआ और कहाँ-कहाँ तक उसका प्रभाव फैला, साथ ही भूगर्भ के सम्बन्ध में भी रहस्यपूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। भूकम्प तरंगों से किस प्रकार भूगर्भ की रचना पर प्रकाश पड़ता है यह आपको हम पिछले एक परिच्छेद में बता चुके हैं (देखिए भाग ५—पृष्ठ ५५२)।

कम्पलेखक का प्रमुख भाग एक झूलता हुआ डण्डा होता है। इसे 'लंबक' अथवा 'पेण्डुलम' (Pendulum) कहते हैं। लंबक को एक चौखटे (फ्रेम) में इस प्रकार लटकाया जाता है कि चौखटा हिलने पर भी लंबक नहीं हिलता। लंबक के एक सिरे पर एक पेंसिल अथवा आईने का एक खण्ड लगा रहता है जिसके द्वारा प्रकाश-किरण परावर्त्तित हो जाती है। पेंसिल अथवा प्रकाश-किरण घूमते हुए बेलन पर लिपटे कागज या फ़ोटोफ़िल्म पर रेखा अथवा छाया अंकित करती रहती है। जब भूकम्प नहीं होता तब काग़ज़ पर सीधी रेखा खिंचती है। जब भूकम्प होता है तब बेलन हिलता है और कागज पर रेखा टेढ़ी मेढ़ी हो जाती है। बेलन का घूमना घड़ी से सम्बन्धित रहता है और इस प्रकार रेखा का समय स्वयं ही अंकित होता जाता है। प्रति-दिन विशेषज्ञों द्वारा इन कम्पलेखों का निरीक्षण होता है।

सीस्मोग्राफ़ द्वारा आलिखित पृथ्वी के कंपन का एक रेखा-चित्र

इस प्रकार के कंपन-चित्रों द्वारा विशेषज्ञ भूकंप की तीव्रता, उसकी लहरों की दिशा, आदि विविध बातों का अनुमान लगा सकते हैं।

भूकम्प बिना किसी भी प्रकार के पूर्वाभास के सहसा ही आरम्भ हो जाता है। एक प्रकार की गड़गड़ाहट की-सी ध्वनि सुनाई पड़ती है, जो क्षणभर में गंभीर गर्जन का रूप धारण कर लेती है। इसी के साथ-साथ धरती

कँपकँपाने लगती है और क्षणभर में वेग से हिलने लगती है। मकान, खम्भे, दरवाजे, खिड़की, पेड़, तार आदि सभी वस्तुएँ डगमग डगमग होने लगती हैं। धरती की डगमगाहट कभी कभी इतनी तीव्र होती है कि खड़े रहना कठिन हो जाता है और बहुत-से मनुष्यों को उलटी होने लगती है। मैदान में खड़े होकर धरती को लहराते हुए प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। क्षणभर में ही कम्प का वेग इतना अधिक हो जाता है कि वृक्षों की चोटियाँ धरती चूमने लगती हैं और वे जड़ से उखड़कर गिरने लगते हैं। मकानों की दीवारें अधिक न झुक सकने के कारण धराशायी हो जाती हैं। छतों के गिरने से मनुष्य दब जाते, जनपथ अवरुद्ध हो जाते हैं और पल भर में दृश्य विचित्र रूप से बदल जाते हैं। धरती में स्थान-स्थान पर दरारें हो जाती हैं, जिनमें कहीं कम और कहीं बहुत चौड़े विवर स्थाई रूप से खुले रह जाते हैं। इन दरारों से कहीं वेग से जल का स्राव होता है और कहीं कीचड़ और बालू का। कहीं मकान सहित धरती धँस जाती है, और मकानवाले जीवित समाधि ग्रहण कर लेते हैं, कहीं धँसी हुई भूमि में जल भरकर झील का रूप धारण कर लेता है। भूकम्प-तरंगों के साथ-साथ धरती में दरारें होती हैं और मुँद जाती हैं। इन दरारों में कहीं कहीं विचित्र दृश्य और घटनाएँ होती हैं। एक क्षण में लोग दरारों के भीतर समा जाते हैं और जो अति भाग्यवान् होते हैं वे किसी अदृश्य शक्ति द्वारा पुनः दरार के बाहर फेंक दिए जाते हैं। नदियाँ अपना मार्ग पलट देती हैं और कहीं-कहीं उनकी तली की भूमि उभर उठकर जलप्रवाह को रोककर नदी को झील में परिवर्तित कर देती है। कहीं नदी के मार्ग में इतनी गहरी और चौड़ी खाई हो जाती है कि नदी का समस्त प्रवाह उसी में विलुप्त हो जाता है। कहीं नए-नए झरने उत्पन्न हो जाते हैं और कहीं जलधारा की वेगपूर्ण फुहार छूटती दिखाई देती है। रेल की पटरियाँ विचित्र ढंग से मरोड़ी हुई दिखाई पड़ती हैं। कहीं-कहीं नदियों पर बने पुल खण्ड-खण्ड हो जाते हैं और कभी कभी पुल का कुछ भाग नीचे धँस जाने पर भी पुल टूटता नहीं, वरन् कामचलाऊ बना रहता है। कभी-कभी सम्पूर्ण मकान, बाग-बगीचे आदि खिसककर मील-दो-मील आगे-पीछे चले जाते हैं और उनके निवासियों को तनिक भी असुविधा नहीं होती। इसी प्रकार की अगणित विचित्र घटनाएँ भूकम्पकाल में घटित हो जाती हैं और इनके घटने में उससे भी कम समय लगता है जितना उनके वर्णन करने में लगता है। भूकम्प द्वारा सब से अधिक नरसंहार घने बसे नगरों में होता है। सहस्रों मनुष्य ऊँची-ऊँची इमारतों के भग्नावशेषों के नीचे दबकर प्राण देते हैं। यह भीषण विपत्ति इतनी अकस्मात् होती है कि लोग भाग सकने में सर्वथा असमर्थ होते हैं। प्रबल भूकम्प का धक्का इतना प्रचण्ड होता है कि जब तक लोग उसकी भीषणता का अन्दाजा लगा सकें तब तक वे विपत्ति में फँसकर असमर्थ हो जाते हैं। भारत में पिछले ९-१० वर्षों में दो भीषण भूकम्प घटित हो चुके हैं—बिहार और क्वेटा में—जो हमारी स्मृति में कल की-सी घटना की भाँति ताजे हैं। इनके प्रलयकारी विनाश का हाल हम सुनकर सन्न हो जाते हैं और उनके स्मरण

[illegible] के धुबरी-भूकम्प के समय रंगपुर (बंगाल) के समीप भूकम्प के प्रभाव से रेलवे-लाइन के टेढ़ी-मेढ़ी हो जाने का अद्भुत दृश्य

जापान में एक भूकप के फलस्वरूप रेलवे लाइन का एक विशाल पुल ऐसा बल खा गया था मानों किसी दानवीय शक्ति ने दोनों छोर से पकड़कर सलाख की तरह उसे मरोड़ दिया हो!

चित्र देख-देखकर हम रो पड़ते थे। परन्तु संसार में इनसे भी अधिक प्रचण्ड भूकम्प आ चुके हैं, जिनके विनाशकारी प्रभाव की अपेक्षा उपरोक्त भूकम्प क्षुद्र ही लगते हैं। परन्तु इस प्रकार के भूकम्प धरातल पर कभी-कभी ही आते हैं और जब कभी वे आ जाते हैं तब मानव समाज में त्राहि-त्राहि मच जाती है। मानवता पर वह ऐसा घाव होता है जो भर जाने पर भी अमिट छाप छोड़ जाता है। सहस्रों मनुष्यों और जीवों की दुर्घटनापूर्ण मृत्यु के साथ-साथ लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति का नाश भी होता है। आइए, इन अनर्थपूर्ण दुर्घटनाओं में से कुछ का संक्षिप्त हाल हम आपको सुनाएँ।

लिस्बन नगर में १७५५ ई० में एक महा प्रचण्ड भूकम्प हुआ था, जिसने ६ मिनिट के अल्प-काल में उस महानगरी को मटियामेट कर डाला था। ६०,००० मनुष्यों से भी अधिक इस भूकम्प की भेंट चढ़ गए। नगर के पास की पर्वत-शृङ्खलाओं के शिखर खण्ड-खण्ड होकर नीचे घाटियों में ढुलक पड़े और पर्वत-शृङ्खलाएँ चौड़ी-चौड़ी दरारों से भर गईं। भूकम्प से आतंकित सहस्रों नर नारियों ने समुद्र-तट पर संगमरमर के बने एक चौड़े घाट पर शरण ली। परन्तु दुर्भाग्य ने उनका पीछा वहाँ भी न छोड़ा। क्षणभर में सहस्रों लोगों को लिये हुए यह विशाल घाट जल में इस प्रकार विलुप्त हो गया कि एक भी जीव का शव तक तैरता हुआ दिखाई न दिया। समस्त योरप से चार गुने अधिक विस्तार के क्षेत्रफल में इस भूकम्प का प्रबल धक्का लगा।

लिस्बन के निकट, भूकम्प-काल में, सागर में एक विशेष खलबली मची और फलत एक अति वेगवती दैत्याकार तरंग उठकर भूकम्प के कुछ क्षण उपरान्त ही २० गज ऊँची पानी की भीत के रूप में तट से भीषण रूप में टकराई। दैत्याकार तरंग के वेग में पड़े सैकड़ों जलयान, नौकाएँ और बजड़े भूमि पर ला पटके गए। जब यह तरंग लौटने लगी तब वह अगणित नर-नारियों को अपने साथ बहा ले गई। केवल लिस्बन नगर में ही नहीं, इस प्रकार की तरंगों का उत्पात ग्रेटब्रिटेन, आयर्लैण्ड और पश्चिमी द्वीप-समूह के तटों पर भी भीषण रूप से हुआ। आयर्लैण्ड के किंसेल नामक स्थान पर सागर का जल बन्दरगाह में इस वेग से बढ़ा कि घाट को पार करके शहर के भीतर हाट तक फैल गया। अनेकों जल-

यानों, नौकाओं और बजड़ों को क्षति पहुँची। पश्चिमी द्वीपों के तट पर साधारणतः ज्वार के वेग के कारण २ फीट ऊँची तरंग आती है, परन्तु इस भूकम्प के धक्के से सहसा २० फीट ऊँची ज्वार तरंग भयङ्कर काले दैत्य के रूप में तट पर चढ़ आई। इस भूकम्प के प्रभाव से अमेरिका की झीलों तक में ज्वार उत्पन्न हो गया।

इटली और जापान में कुछ प्रचण्ड भूकम्पों के कारण महान् हानि हुई है। जापान में तो लगभग नित्य ही भूकम्प आते हैं। इटली के कालाब्रियन प्रायद्वीप में फरवरी १८८३ से दिसम्बर १८८८ तक भूकम्प के कई आघात लगे। सिसिली टापू के मेस्सीना नगर में इन भूकम्पों का विशेष प्रभाव हुआ। कहा जाता है कि भूकम्प के प्रथम आघात से ही २ मिनट के समय में कालाब्रिया अल्ट्रा में एपीनाईन्स के पश्चिमी पार्श्व से लेकर मेस्सीना नगर तक जितने भी गाँव, कस्बे और नगर थे सब मटियामेट हो गये। बड़ी बड़ी सभी अट्टालिकाएँ धूलि-धूसरित हो गईं और भूमि विचित्र रूप से नीची ऊँची हो गई। इसके छ सप्ताह उपरान्त ही एक दूसरा भूकम्प हुआ और उसके प्रभाव से कालाब्रिया की ग्रेनाइट पाषाण-श्रेणियों में नौ दस मील लम्बा एक गर्त उत्पन्न हो गया। जल की भाँति ही धरातल भी लहराता दिखाई देता था। राजमार्ग में बिछे पाषाण-खण्ड उलट-पुलट हो गए थे। कुछ इमारतों के आधे भाग धँस गए थे और आधे ज्यों के त्यों लटके रह गए थे। एक दो को छोड़कर लगभग सभी मकान चूर-चार हो गए थे। स्थान-स्थान पर रंध्र और गर्त बन गए थे। अनेकों रंध्र तो केवल क्षणभर के लिए खुले और मकानों, पशुओं तथा मनुष्यों को हड़पकर फिर तुरन्त बन्द हो गए, मानों किसी दानव ने भक्षण के लिए अपना मुख खोलकर फिर बन्द कर लिया हो। इससे भी विचित्र दृश्यों का अभाव न था। एक-दो स्थानों पर होनेवाले रंध्रों में समा गए मनुष्य क्षणभर में फिर बाहर फेंक दिए गए और सो भी एकदम अक्षतावस्था में। एक गज व्यास के अगणित छोटे गर्तों की स्थान-स्थान पर रचना हो गई, जिनसे जल, बालू और कीचड़ उफनता था। नदियों के मार्ग अवरुद्ध हो जाने से स्थान-स्थान पर झीलों और सरोवरों की रचना हो गई, जिनकी संख्या लगभग २१५ थी। इनमें से एक झील का विस्तार तो दो मील

१९३४ के बिहार-भूकम्प के अवसर पर [illegible] के बाजार में [illegible] जमीन के [illegible] नीचे धँस जाने का रूप। देखिए, [illegible] में कोई वृक्ष [illegible] गिर पड़ा है जो छोटा दिखाई देता है।

लम्बी और एक मील चौड़ी भूमि में था। एक स्थान पर ज़ैतून के वृक्षों की एक सम्पूर्ण वाटिका सैकड़ों फीट नीची घाटी में खिसक गई। फिर भी अगले वर्ष इन वृक्षों पर अच्छी फसल निकली। एक समूचा घर, गृहवासियों सहित, २०० फीट नीचे ख़न्दक में चला गया और आश्चर्य की बात यह थी कि किसी पर तनिक भी आँच न आई—न घर को और न मनुष्यों को ! इसी प्रकार पोलिस्टिना नगर का अधिकांश भाग नदी पार आधा मील दूर खिसक गया और पीछे भग्नावशेष खोजने पर उसमें अनेकों नगर-निवासी जीवित पाए गए। भूमि का रूप इस प्रकार उलट-पुलट हो गया था कि वहाँ की सरकार को लोगों की ज़मीन-जायदाद की सीमा निर्धारित करने के लिए १० लाख एकड़ भूमि की नए सिरे से पैमाइश करानी पड़ी थी।

१८२२ ई० में भूकम्प के आघात से चिली प्रदेश की समुद्र-तट की जलमग्न भूमि स्थाई रूप से ऊँची हो गई। १००००० वर्गमील भूमि सागर से निकलकर स्थल में सम्मिलित हो गई। सुप्रसिद्ध भूतत्त्ववेत्ता लियल ने इस भूखण्ड का आयतन लगभग ५७ घन मील आँका था, अर्थात् 'महान् पिरामिड' से १००००० गुना अधिक।

मिस्सिसिपी नदी की घाटी में १८११-१२ ई० में अनेक बार प्रबल भूकम्पों के आघात हुए। उन दिनों यदि उस स्थल की जन-सख्या आजकल की-सी घनी होती तब तो जनहानि का वारापार न होता। भूकम्प के आघातों से धरती में इतनी अधिक रंध्रें उत्पन्न होती थीं कि लोग वृक्ष काट-काटकर धरती पर बिछा देते थे, जिससे दरारों को पार करने में वृक्षों के तने पुल का काम दें।

भारत में १८६७ में, आसाम में भीषण भूकम्प आया था जो बिहार और क्वेटा की अपेक्षा कहीं अधिक प्रलयात्मक था। १२ जून को आसाम प्रान्त के पश्चिमी भाग में २॥ मिनिट तक जारी रहकर इस दुर्घटना ने महासर्वनाश उपस्थित कर दिया। शिलाग नगर इसका प्रमुख शिकार हुआ। शिलांग का ध्वंस होने के पूर्व ही १५०००० वर्गमील भूमि तक इसका प्रकोप फैल चुका था। यातायात के सभी साधन नष्ट-भ्रष्ट हो गए। पहाड़ियों से सहस्रों पाषाण घाटियों में लुढ़क पड़ते थे। मैदानों में लम्बी-चौड़ी दरारें होगई थीं, जिनसे जल और बालू की अपार राशि उफन-उफनकर बाहर निकलती थी। भूकम्प का आघात इतना प्रचण्ड था कि लोग विस्मय से अवाक् रह गए थे। धरती में ऐसे-ऐसे विचित्र ऊँचे-नीचे आकार बन गए थे जिन्हें देखकर विश्वास करना कठिन होता था कि क्षणभर की सूक्ष्म अवधि में इतना महान् परिवर्तन हो सकता था। इसके अतिरिक्त १६०५ के कॉगड़ा के भीषण भूकंप में, तथा अभी हाल के बिहार (१६३४) तथा क्वेटा (१६३५) के भूकपों में भी लाखों जन हताहत हुए और हजारों गाँव ढह पड़े थे, जिनकी याद अभी तक ताज़ा बनी हुई है। इसी प्रकार के महा विनाशकारी भूकम्प संसार के विभिन्न प्रदेशों में आते रहे हैं, जिन सबका वर्णन करना यहाँ सभव नहीं है। उपरोक्त दृष्टान्त तो केवल उन भूकम्पों के दिए गए हैं, जो आधुनिक काल में, अभी कल की सी घटना के रूप में धरातल पर घटित हुए हैं। आरम्भिक युगों के भूकम्पों के वर्णन कहीं-कहीं इतिहास की पुस्तकों में देखने में आते हैं। हाल ही में १६०८ का मेस्सीना नगर का भूकम्प, जिसमें ७७ हज़ार मनुष्य मरे थे, १६२३ का टोक्यो (जापान) का भूकम्प, जो आधुनिक युग का सभवत सबसे प्रलयकर भूकम्प था, तथा उसी वर्ष का कासू नगर का भयानक भूकम्प भुलाए भी नहीं भूल सकते। इनमें से प्रत्येक में लाख-डेढ़ लाख जन हताहत हुए थे।

भूमि के ठोस भाग पर तो भूकम्प आते ही हैं, बहुत से भूकम्प सागर की तली में भी आया करते हैं। इन भूकपों के प्रभाव से सागर में पड़े हुए तार (Cables) टूट जाते हैं तथा तली में पड़े विशाल गर्तों की रचना हो जाती और फलत महाप्रलयकारी तरगों का जन्म होता है। जब ये तरगें स्थल तट पर जाकर टकराती हैं तब इनके द्वारा भूकम्प से भी अधिक सर्वनाश होता है जैसा कि ऊपर लिस्बन के भूकम्प के हाल में आप जान चुके हैं। जापान के निकट समुद्र के एक निचले भाग में, जिसे 'टस्कारोरा गर्त' कहते हैं, १८६६ में एक प्रबल भूकम्प हुआ था। इसके फलस्वरूप तीन विशाल दैत्याकार तरंगों का उत्थान हुआ। सबसे प्रबल तरग ५० फीट ऊँची थी। जापान के तट पर पहुँचकर इसने क्षण भर मे २०००० मनुष्यों और १२००० इमारतों को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। इस भूकम्प के आघात के पौने आठ घटे उपरान्त ३५६० मील दूर होनोलूलू और १०॥ घटे बाद ४७६० मील दूर सेन फ्रैंसिस्को में ज्वार-तरगों का प्रचण्ड वेग हुआ था।

भूकम्पों के सम्बन्ध मे खोज करने पर यह प्रतीत हुआ है कि धरातल के कुछ विशेष भागों ही मे भूकम्पों के आघात विशेष रूप से आते हैं। जिस प्रकार ज्वालामुखी पर्वतों का विस्तार धरातल के कुछ विशेष भागों में है,

उसी प्रकार भूकम्पों का प्रकोप भी कुछ विशेष क्षेत्रों तक ही सीमित है। धरातल के मानचित्र पर अंकित भूकम्पों का क्षेत्र देखने से प्रतीत होता है कि इसका सम्बन्ध धरातल के पर्वतों और समुद्र-तटों से विशेष रूप से है। भूकम्प के क्षेत्र और ज्वालामुखी पर्वतों के क्षेत्र धरातल के कुछ भागों में समस्थलीय हैं, परन्तु कुछ स्थानों में इनमें इतना अधिक अन्तर पड गया है कि भूकम्पों का ज्वालामुखी पर्वतों से किसी प्रकार का सरल सम्बन्ध स्थापित करना उचित नहीं प्रतीत होता।

भूकम्प-क्षेत्रों की दो प्रमुख पट्टियाँ प्रशान्त महासागर को घेरे हुए हैं। इनमें से एक अमेरिका महाद्वीप के पश्चिमी तट के साथ अलास्का से चिली के दक्षिण तक चली गई है। इस पट्टी का कुछ अंश ऐसा है, जहाँ भूकम्प या तो होते ही नहीं और जब होते भी हैं तब सूक्ष्म कम्पों के रूप मे। ब्रिटिश, कोलम्बिया, वाशिंगटन, ओरेगान, दक्षिण कैलिफोर्निया, मेक्सिको का उत्तरी तट तथा पनामा जलडमरूमध्य आदि ऐसे प्रदेश हैं, जहाँ कभी भी कोई भीषण भूकम्प नहीं हुआ।

भूकम्प-क्षेत्रों की दूसरी पट्टी प्रशान्त महासागर के पश्चिम मे कमचटका प्रायद्वीप से आरम्भ होकर एशिया के पूर्वीय तट की द्वीपशृङ्खला को घेरती हुई (परन्तु महाद्वीप के स्थल भाग से स्वतंत्र) ईस्ट इंडीज द्वीपसमूह, पालीनीशिया द्वीपपुञ्ज और न्यूजीलैण्ड द्वीपों में फैल गई है। यह निश्चय नहीं हो सका है कि उपरोक्त दोनों पट्टियाँ अटलाण्टिक महासागर में पहुँचकर मिल गई हैं अथवा नहीं।

उपरोक्त दोनों पट्टियों का विस्तार इन्हीं क्षेत्रों में फैली ज्वालामुखी की पट्टियों के लगभग समान ही है। परन्तु एक तीसरी पट्टी भी भूकम्पक्षेत्रों की है, जो धरातल को मध्य भाग में घेरती है और ज्वालामुखी-क्षेत्रों से दूर है। यह उपरोक्त दोनों पट्टियों से समकोण-सा बनाती है और भूमध्यरेखा के समानान्तर हो गई है। अटलांटिक और प्रशान्त महासागरों में पहुँचकर यह पट्टी अदृश्य हो गई प्रतीत होती है, परन्तु सम्भवत. सागर की तली में भूकम्पों की नाप-जोख न हो सकने के कारण ही इसे अदृश्य मान लिया गया है। इस पट्टी का विस्तार पिरेनीज़ पर्वत, दक्षिणी फ्रांस, पुर्तगाल, दक्षिणी स्पेन, मोरक्को का उत्तरी पश्चिमी तट, इटली और आल्प्स पर्वत, बालकन प्रायद्वीप, एशिया माइनर तथा मध्य और पूर्वीय एशिया मे है। इसी की एक शाखा ईरान होकर अफ़ग़ानिस्तान और उत्तरी भारत तक फैली है। यही आगे चलकर एशिया के पूर्वीय तट में चली गई है। एक दूसरी शाखा मध्य एशिया मे फैली
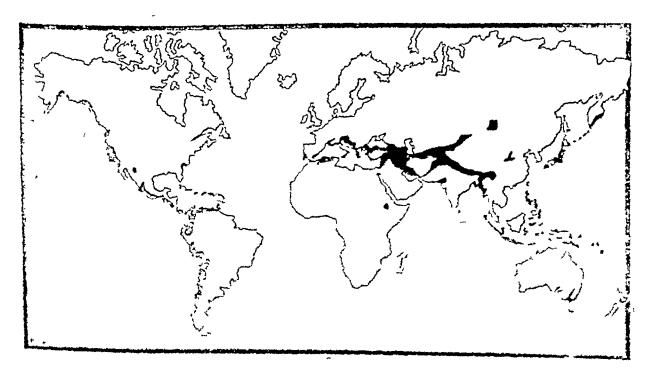
धरातल के भूकम्प-क्षेत्र (काले भाग भूकम्प प्रदेशों को सूचित करते हैं)

है। भूमध्यसागर के पूर्व में भूकम्पों का वृह विस्तीर्ण क्षेत्र है, जहाँ सहस्रों मील तक कोई ज्वालामुखी नहीं है।

जापान, इटली और ग्रीस ऐसे देश हैं, जहाँ भूकम्पों की भरमार रहती है। जापान में तो भूचाल इतने अधिक होते रहते हैं कि टोकियो आदि शहरों में प्रय. लोग भूकपों के बारे में ऐसे ही रोज़ चर्चा किया करते हैं जैसे हम लोग मौसम के बारे में करते हैं।

भूकम्प के क्षेत्र वास्तव में उन स्थानों के द्योतक हैं जहाँ भूकम्प बहुधा आते रहते हैं, परन्तु इसके अपवादस्वरूप ऐसे भी स्थान हैं जो इन क्षेत्रों के बाहर हैं, परन्तु जहाँ कभी (सौ-दो सौ वर्षों में) भूकम्प का कोई साधारण-सा आघात हो जाता है।

ज्वालामुखी पर्वतों के क्षेत्रों में भूकम्प उसी समय आते हैं जब कि ज्वालामुखी का उद्गार होने को होता है। भूगर्भ में अति उत्तप्त लावा, गैसें और भाप बाहर निकल पड़ने के लिए जब जोर लगाती हैं तब आसपास की भूमि थरथराने लगती है। जब तक उद्गार होता रहता है तब तक भूकम्प सवेग जारी रहता है और जैसे जैसे उद्गार का वेग कम होता जाता है भूकम्प का वेग भी धीमा पड़ता जाता है। उद्गार के उपरान्त भूकम्प का तनिक भी आघात नहीं होता। ज्वालामुखी-क्षेत्रों के भूकम्प की एक विशेषता यह है कि उसका प्रकोप ज्वालामुखी के चारों ओर आसपास के क्षेत्रफल तक ही सीमित रहता है, चाहे कितना ही भीषण भूकम्प क्यों न हो। ज्वालामुखी के विस्फोट से उत्पन्न भूकम्प का अनुभव दूरस्थ प्रदेशों में विरले ही समय होता है। ज्वालामुखी-क्षेत्रों में आनेवाले भूकम्पों के दो-तीन उदाहरण उपरोक्त मत को पुष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। १८८३ में इस्चिया नामक टापू, जो नेपल्स की खाड़ी में स्थित है, एक प्रचण्ड भूकम्प के भयानक वेग से हिल उठा। इस भूकम्प के आघात से कैसामिशिओला नामक नगर का पूर्णतया विध्वंस हो गया, जिससे सहस्रों नर-नारी अकाल मृत्यु को प्राप्त हुए। परन्तु इस भीषण भूकम्प का २२ मील दूर स्थित नेपल्स नगर पर तनिक भी प्रभाव नहीं हुआ। नेपल्स में भूकम्प का आघात भी यों ही सूक्ष्म-सा अनुभव हुआ। इसी प्रकार १८६८ में मआोनालोआ नामक ज्वालामुखी के उद्गार के समय हवाई द्वीप का दक्षिणी अर्द्ध भाग विकट वेग से प्रकम्पित हो उठा। उद्गार के ६ दिन पूर्व ही से भूकम्प के धक्के आने आरम्भ हो गए थे, जो प्रति बार अधिक प्रचण्ड होते जाते थे। जैसे-जैसे उद्गार का समय निकट आता गया इनका वेग महाभीषण होता गया और इसके फलस्वरूप विध्वंस और सर्वनाश के दृश्य उपस्थित होने लगे। परन्तु जब उद्गार आरम्भ हुआ तब भूकम्प का वेग अति शीघ्र कम हो गया। इतने प्रचण्ड और विध्वंसकारी भूकम्पों के आघात भी अधिक क्षेत्रफल में नहीं फैले। स्वयं हवाई द्वीप का ही उत्तरीय भाग अक्षत और शान्त बना रहा। यहाँ तक कि १५० मील की दूरी पर तो इन आघातों को किसी ने जाना भी नहीं।

पिछले तीस वर्षों में संसार के भिन्न-भिन्न भागों में उठे भूचालों का मानचित्र

काले बिन्दु भूकंप-केन्द्र के सूचक हैं। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इनमें से अधिकांश कंप केवल सीस्मोग्राफ़ द्वारा ही जाने गए थे, सामान्य लोगों को उनका पता भी न चला होगा। कुछ कंपों का ही, जो भीषण रहे होंगे, आभास जनसाधारण को मिला होगा।

मध्य अमेरिका में आनेवाले अति प्रचण्ड भूकम्प भी इसी प्रकार एक संकीर्ण क्षेत्रफल तक ही सीमित रहते हैं। इटना, विसुवियस तथा अन्य ज्वालामुखी पर्वतों के उद्गारकाल में भी इसी प्रकार के भूकम्प आए हैं। किन्तु कतिपय उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं, जिनमें

स्पष्टतया ज्वालामुखी की प्रतिक्रिया से उत्पन्न भूकम्प का प्रभाव हज़ारों मील तक पड़ते देखा गया है। १८८३ ई० का सुप्रसिद्ध क्राकाटोआ द्वीप का विस्फोट ऐसी ही एक प्रचण्ड घटना थी। यह द्वीप जावा और सुमात्रा के बीच सुण्डा जलडमरूमध्य में अवस्थित था। कहते हैं, उस पर स्थित रॉकोटा नामक सुप्त ज्वालामुखी २०० वर्ष तक प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न रहने के बाद एकाएक जग पड़ा और लगभग तीन महीने तक ज़ोरों के धड़ाकों के साथ जलती हुई धूलि, कीचड़ और कंकड़-पत्थर बरसाता रहा। उसके ये धड़ाके दिन-पर-दिन बढ़ते रहे। तब एकाएक समुद्र का पानी उबलती लावा के साथ जा मिला और गर्त्त में शक्तिशाली वाष्प का अगाध भण्डार भर जाने पर आख़िर एक दिन ऐसे ज़ोर का विस्फोट हुआ कि सारा का सारा द्वीप, टुकड़े-टुकड़े उड़ गया और सागर में अन्तर्धान हो गया। इस घटना से आसपास के क्षेत्र में तो भूचाल की अति प्रचण्ड लहरें उठीं ही, किन्तु सबसे अचरज की बात तो यह थी कि उनके धक्के से समुद्र में एक ऊँची लहर उमड़कर ८००० मील दूर अमरीका के केप हॉर्न और कैलिफ़ोर्निया के तट तक जा टकराई और उसकी [illegible] की [illegible] ने सारी पृथ्वी की परिक्रमा कर डाली!

ज्वालामुखी-क्षेत्रों में जो भूकम्प होते हैं [illegible] किन्तु [illegible] किसी ज्वालामुखी के विस्फोट से नहीं होते।

साधारण भूकंप के तीन प्रधान कारण
(१) चट्टानों के पर्त में किसी भ्रंश (Fault) ('क') के फलस्वरूप एकाएक दबाव के कारण उस पर्त के किसी भाग का खिसक जाना, (२) पृथ्वी के पिण्ड के सिकुड़ने ('ख') से चट्टानों की पर्तों में असन्तुलित अव्यवस्था, (३) किसी दरार की राह से समुद्रतल के पृथ्वी के गर्भ की अति उष्ण या पिघली हुई चट्टानों ('ग') तक जा पहुँचने के फलस्वरूप भीषण विस्फोट के साथ उसी भाग का बैठ जाना।
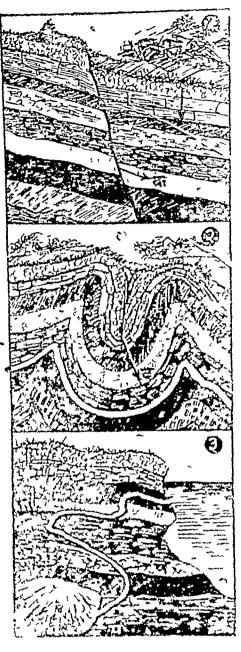
इन भूकम्पों का वेग तथा ध्वंसात्मक प्रभाव उसी प्रकार का होता है जैसा ज्वालामुखी के क्षेत्रों के बाहर के प्रदेशों में आने वाले भूकम्पों का होता है। इन भूकम्पों के आने के कारण भी वही हैं जो अन्य साधारण भूकम्पों के हैं।

साधारण भूकम्पों का कारण भूगर्भ में होने वाली क्रिया प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप पृथ्वी के कठोर पिण्ड की चट्टानों की स्थिति में सहसा परिवर्त्तन हो जाना है। इन अदृश्य क्रियाओं के कारण पिण्ड की चट्टानों पर दबाव और खिंचाव पड़ता है, जिसके कारण चट्टानें किसी एक विशेष रेखा पर इधर-उधर या ऊपर-नीचे खिसकने लगती हैं। जब दबाव या खिंचाव डालनेवाली शक्ति विरोधी शक्ति पर विजय प्राप्त कर लेती है तब अकस्मात् ही चट्टानें एक रेखा पर टूट-सी जाती हैं और तभी इस आघात से भूमि में कम्प उत्पन्न हो जाता है। साधारण भूकम्प के प्रमुख आघात के उपरान्त भी अल्पकालीन कम्प के आघात होते रहते हैं। टूटी हुई चट्टानों की स्थिति जब तक स्थायी नहीं हो जाती तब तक वे कम्प आते रहते हैं, क्योंकि चट्टानों की डाँवाडोल स्थिति कम्प उत्पन्न करती है।

जिस रेखा पर पिण्ड की चट्टानें टूटती या खिसकती हैं उसे भ्रंश (Fault) कहते हैं। लगभग सभी बड़े बड़े भूकम्पों में इस प्रकार के भ्रंश होते हैं। [illegible] के [illegible] भागों की

ऊपरी सतह तक दिखाई पड़ते हैं। १६०६ के सेन फ्रॅंसिस्को के भूचाल में इस भ्रंश-रेखा के ऊपर धरती में एक चौड़ी दरार हो गई थी। इस रेखा की एक ओर की भूमि दक्षिण की ओर खिसक गई थी। प्रत्येक सड़क, पाईप, भीत आदि जो भी इस रेखा को पार करती थी दो खण्डों में बँटकर उत्तर-दक्षिण हट गई। कहीं-कहीं इन दोनों खण्डों में २१ फीट तक का अन्तर हो गया। इसी प्रकार के दृश्य आसाम और जापान के भूकम्पों के समय भी देखने में आए। कहीं-कहीं भूमि खड़ी ऊपर-नीचे हो जाती है, जैसे अलास्का के १८८६ के भूकम्प में समुद्र का एक भाग ४७ फीट ऊँचा उठ गया था।

इन भ्रंशों और दरारों के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों में मतभेद है। कुछ वैज्ञानिक इन भ्रंशों को भूकम्प का कारण मानते हैं और कुछ भूकम्पों के कारण इनकी उत्पत्ति बताते हैं—जो कुछ भी हो यह सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं कि भूकम्पों का एक प्रधान कारण चिप्पड़ की चट्टानों पर पड़नेवाला दबाव या खिंचाव है।

जहाँ-जहाँ उच्च पर्वत-श्रेणियाँ गहरे ढालों से होकर अत्यन्त गहराईवाले सागरों से मिली हैं वे प्रदेश विशेष कर प्रबल भूकम्पों के क्षेत्र हैं। इसका कारण यह है कि गहरे ढालों के नीचे का चिप्पड़ ऊँचे पर्वतों के भार से नीचे सागर में ढकेले जाने का उपक्रम करता है। दक्षिण-अमेरीका का पश्चिमी तट इसी कारण असख्य प्रचण्ड भूकम्पों का क्षेत्र है। इस क्षेत्र में गगनचुम्बी पर्वत-श्रेणियाँ सागर-तट के एकदम ऊपर खड़ी हैं और महाद्वीपीय प्रदेश इतना कम चौड़ा है कि तट से १० मील के बाद ही सागर की असीम गहराई आरम्भ हो जाती है। इसी प्रकार जापान के पूर्वीय तट के निकट ही ४६५५ पोरस (२८००० फीट) गहरा 'टस्कारोरा गर्त्त' नामक समुद्र का भाग है जिसके कारण जापान भूकम्पों का क्षेत्र बना हुआ है। फिलीपाइन द्वीपों के पश्चिमी तट के टापुओं के समीप तो एक गर्त्त और भी अधिक गहरा है— उदाहरण के लिए मिंडानो द्वीप से केवल पचास मील की दूरी पर ३५,४०० फीट गहरा एक दह है, जिसमें पूरा एवरेस्ट पर्वत डूब सकता है! ये गर्त्त प्राय कगारों के खिसकने के फलस्वरूप भूकपों के कारण बन जाते हैं।

चिप्पड़ के भीतर चट्टानों पर दबाव और खिंचाव किस प्रकार और किन क्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होता है यह प्रश्न हल करने में अभी तक वैज्ञानिक असमर्थ रहे हैं। अभी कुछ वर्ष पूर्व तक तो इस समस्या को हल करने के लिए यह दलील दी जाती थी कि पृथ्वी के धीरे धीरे ठण्डा होकर सिकुड़ने से जो दबाव उत्पन्न होता है उसीसे चिप्पड़ की चट्टानें टूट जाती हैं अथवा ऊपर उठकर पर्वत श्रेणियाँ बनाती हैं, इसी कारण भूकम्प होता है। परन्तु आजकल वैज्ञानिकों ने इस दलील को लचर माना है, साथ ही इसके स्थान पर वे और कोई उपयुक्त दलील देने में भी असमर्थ हैं। इस प्रकार भूगर्भ की वे क्रिया प्रतिक्रियाएँ अभी तक रहस्यमय ही बनी हुई हैं, जिनके फलस्वरूप धरातल पर भूकम्प और ज्वालामुखी जैसी विध्वसक और विनाशकारी घटनाएँ घटित होती हैं और मनुष्य को, जिसने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का दावा किया है, सदैव आशंकित बनाए रखती हैं।

संसार के सभी ज्ञात भूकम्पों की तालिका देने के लिए तो यहाँ पर्याप्त स्थान नहीं है। हाँ, पिछले चार सौ वर्षों में हमारे देश भारत वर्ष में जिन बड़े विनाशकारी भूचालों के घटित होने का लेखा मिलता है उनकी सूची पाठकों की जानकारी के लिए नीचे दी जा रही है:—

जुलाई ६, १५०५ ई०—बहुत प्रचण्ड। क्षेत्र आधुनिक सयुक्त प्रान्त से लेकर ईरान तक। आगरा और दिल्ली में भी धक्के लगे।

मई, १६६८ ई०—क्षेत्र सिंधु नदी का डेल्टा। महान् हानि।

जुलाई १५, १७२० ई०—दिल्ली में क़िले की दीवारों को हानि पहुँची। कई जानें गईं।

अक्टोबर ११, १७३७ ई०—कलकत्ते में धक्के लगे। साथ में तूफान भी उठा। कई आदमी मारे गए।

अप्रैल २, १७६२ ई०—बंगाल और बर्मा। चटगाँव में सबसे अधिक हानि हुई।

सितम्बर १, १८०३ ई०—सयुक्त प्रान्त। मथुरा में सबसे प्रचण्ड धक्के लगे। कुतुब मीनार (दिल्ली) को भी हानि पहुँची।

जून १६, १८१६ ई०—कच्छ। सारे भारतवर्ष में भूकम्प का अनुभव हुआ। कच्छ की आसपास में बाढ़ आ गई और बहुत-सी भूमि जलमग्न हो गई। केवल भुज शहर में ही दो हजार आदमी मरे।

जून ६, १८२८ ई०—काश्मीर। बहुत प्रचण्ड। पीछे और भी धक्के लगे।

अगस्त २६, १८३३ ई०—बिहार और नेपाल। १६३४ ई० के भूकम्पवाले लगभग सारे क्षेत्र में असर हुआ, पर उतना प्रचण्ड नहीं।

फरवरी १९, १८४२ ई०—उत्तर-पश्चिमी हिन्दुस्तान। काबुल से दिल्ली तक। जलालाबाद और पेशावर में भीषण हानि।

अप्रैल १, १८४३ ई०—दक्खिन। दक्षिण भारत मे इधर यही एक भूकम्प ऐसा हुआ जिसमे काफी क्षति पहुँची।

जनवरी २४, १८५२ ई०—ऊपरी सिंध प्रान्त। यह भूकप साधारण था।

जनवरी १०, १८६९ ई०—आसाम। लगभग २५०,००० वर्गमील क्षेत्र पर असर पड़ा।

दिसम्बर ३१, १८८१ ई०—बंगाल की खाड़ी।

मई ३०, १८८५ ई०—काश्मीर। ३००० जानें गईं।

दिसंबर २०, १८९२ ई०—चमन (बलूचिस्तान)।

जून १२, १८९७ ई०—आसाम। विस्तार की दृष्टि से सभवत सभी भूकपों मे यह प्रचण्डतम था। लगभग १,७५०,००० वर्गमील भूमि पर इसका प्रभाव पड़ा। कलकत्ते में भी हानि हुई।

अप्रैल ४, १९०५ ई०—काँगड़ा। विस्तार १,६२५,००० वर्गमील। २०००० मनुष्य मारे गए। काँगड़ा, धर्मशाला आदि स्थान नष्ट-भ्रष्ट हो गए।

अक्टोबर २१, १९०९ ई०—बलूचिस्तान।

जुलाई ८, १९१८ ई०—श्रीमगल (आसाम)।

फरवरी १, १९२९ ई०—उत्तर पश्चिमी हिमालय। एबटाबाद मे विशेष क्षति। यह बहुत गहराई से उठा हुआ भूकप था।

जुलाई ३, १९३० ई०—धुबरी (आसाम) विस्तार ३५०,००० वर्गमील।

अगस्त २७, १९३१—बलूचिस्तान। २०० जानें गईं।

जनवरी १५, १९३४—उत्तरी बिहार। विस्तार १,९००,००० वर्गमील। लगभग बीस हजार आदमी मरे। मुंगेर, जमालपुर, मुजफ्फरपुर, आदि स्थानों मे अपार क्षति। इस भूकंप के धक्के सारे उत्तरी हिन्दुस्तान में अनुभव हुए। भारतीय इतिहास में यह सबसे प्रचण्ड भूकम्पों में से एक माना जाता है। इसके कारणों की खोज के लिए भूगर्भशास्त्र के पंडितों ने काफी दिमाग लड़ाया और [illegible] कि हिमालय [illegible] दीवार के कुछ नीचे [illegible] के [illegible] ही इस भूकप का उत्पादन हुआ।

मई ३१, १९३५—क्वेटा (बलूचिस्तान)। विस्तार १०१,००० वर्गमील। क्वेटा शहर [illegible] की हानि। कम-से-कम २५००० आदमी मरे। धक्के बहुत ही वेगवान और प्रचण्ड थे। इसका क्षेत्र यद्यपि बिहार-भूकप के क्षेत्र जितना विस्तृत नहीं था तथापि इससे जन-हानि कहीं अधिक हुई। इस भूकप का केन्द्र (epicentre) क्वेटा नगर के समीप ही था, फलत. वहाँ सबसे तेज धक्के लगे। सारा शहर नष्ट हो गया।

उपरोक्त भूकपों में १८९७ का आसाम-भूकंप, १९०५ का काँगड़ा-भूकप, १९३४ का बिहार-भूकप और १९३५ का क्वेटा-भूकप सबसे विकराल थे। बिहार और क्वेटा की घटनाएँ तो अभी कल की बातें-सी जान पड़ती हैं और उन प्रदेशों में अब भी उनकी छाप नहीं मिट पाई है। बिहार का दिल दहला देनेवाला धक्का जनवरी, १९३४, की १५ तारीख़ को दोपहर के लगभग सारे उत्तरी हिन्दुस्तान मे लगा। कुछ क्षण के लिए तो जहाँ-जहाँ भी वह धक्का लगा सभी लोग काँप उठे, पर बिहार के त्रस्त प्रदेश के सिवा अन्य स्थानों के लोग उस समय अनुमान भी न कर सके कि इस दो मिनिट के कंपन ने एक विशिष्ट क्षेत्र मे कैसा गजब ढहा दिया होगा। पता तो तब चला जब दिन पर दिन अखबारों मे विध्वस्त नगरों के करुण क्रन्दन की कहानी सुनाई पड़ने लगी। एक दिन जमालपुर के सर्वनाश की ख़बर आई तो दूसरे दिन मुंगेर और मुज़फ्फरपुर की। कभी हताहतों की संख्या दस हजार बताई जाती तो दूसरे ही रोज पन्द्रह हजार तक संख्या पहुँचने का हृदयद्रावक समाचार मिलता। और यह सब तो केवल नगरों की बात थी—विस्तृत देहात के प्रदेशों का तो बुरा हाल हफ्तों और महीनों बाद सुनने को मिला। सबसे बुरी दशा मुंगेर शहर की हुई। हजारों मकान क्षण भर में गिर पड़े और न जाने कितने स्त्री पुरुष-बच्चे उनके नीचे दब गए। जब मलबा हटाया गया तो हफ्तों तक लाशें और घायल व्यक्ति नीचे दबे मिलते रहे। किसी किसी परिवार के तो सब लोग मर मिटे। बहुतेरी स्त्रियाँ पर्दे के अभिचार के कारण घर से बाहर न निकल पाईं और वहीं समाधिस्थ हो गईं। न केवल मुंगेर, मुज़फ्फरपुर, जमालपुर, सीतामढ़ी, पटना आदि के ही हजारों मकान धराशायी हुए, बल्कि कुछ मकान और [illegible] की इमारतों में दरारें पड़ गईं। [illegible] भूमि का [illegible] ऐसा बदल गया मानों [illegible] ने [illegible] हो [illegible]। नदियों के [illegible] [illegible] दिखाई देने लगा और [illegible] दरारें [illegible]। [illegible]

चौड़ी दरारें अपना दानवीय मुख खोले पेड़ों, झोपड़ियों आदि को उदरस्थ करते दिखाई दीं। कई स्थानों में धरती आठ दस फीट तक नीचे धँस गई। रेलों की पटरियाँ टेढ़ी-मेढ़ी हो गईं। पुल ऐसे बल खा गए मानों किसी ने हाथों से पकड़ कर मरोड़ दिया हो। लाखों पेड़ धराशायी हो गये। जगह-जगह खेतों मे बालू उमड़ आई, और यह सब केवल कुछ क्षणों में ही हुआ! कई चमत्कारपूर्ण अनोखी घटनाओं के भी समाचार प्रकाशित हुए। कहते हैं, गंगा-तट पर खड़े एक व्यक्ति ने भूकम्प का धक्का लगते ही अपने सामने बह रही विराट् जलधारा को एकबारगी ही बालुकाराशि में विलुप्त होते देखा और मिनिट भर बाद पुनः बालू गायब हो गई और जल ऊपर उमड़ आया! एक स्थान मे पृथ्वी फटी और एक मोटरकार एकाएक धरती में समाकर ग़ायब हो गई। किन्तु आधे मिनिट बाद ही पुनः दरार खुली और मोटर वापस उछलकर बाहर निकल पड़ी! कई मकानों के आधे भाग तो ज़मीन चूमते दिखाई दिये और शेष का बाल भी बाँका न हुआ। कई जगह भूकम्प के शुरू होने के पहले ऐसी भयंकर गड़गड़ाहट की आवाज़ सुनाई पड़ी मानों एक साथ ही कई सौ तोपें छूट पड़ी हों या आकाश में बमवर्षक हवाई जहाजों का एक जत्था उमड़ पड़ा हो! मुज़फ़्फ़रपुर में एक बारह वर्ष का लड़का भूकम्प के दस दिन बाद मलबे के नीचे से खोदकर निकाला गया और जीवित पाया गया! इसी प्रकार जब शहर के आस-पास की इमारतें धड़ाधड़ गिर रही थीं एक गर्भिणी के बच्चा पैदा हुआ और माता और शिशु दोनों सुरक्षित रहे। विहार की भाँति नेपाल तथा हिमालय में भी भूकप का प्रभाव अधिक विनाशकारी था, किन्तु उन प्रदेशों के विध्वस का अधिक समाचार न मिल सका। सुनते हैं, काठमाण्डू के मकानों को काफी हानि पहुँची और कई जाने भी गई। इस भीषण विपत्ति के आघात से विहार के वक्ष स्थल पर जो घाव हो गया, उसे भरते-पूरते काफी समय लगा।

किन्तु अभी विहार की चोट से देश तिलमिला ही रहा था कि लगभग सवा साल बाद ही क्वेटा-भूकम्प की प्रलयंकर घटना ने फिर से सारे हिन्दुस्तान के रोंगटे खड़े कर दिए। यद्यपि इस भूकम्प का प्रभाव बिलूचिस्तान के कुछ भाग, विशेषकर क्वेटा नगर तक ही सीमित रहा तथापि उससे जो जनहानि हुई वह विहार से भी अधिक कँपानेवाली थी। विहार की तरह यहाँ ग़ैर-सरकारी लोगों को पहुँचने न दिया गया, अतएव बहुत समय तक विनाश के परिणाम का कोई ठीक समाचार ही न मिला। कहते हैं, इस भूकम्प का धक्का इतना प्रचण्ड था कि लोगों को मकानों से बाहर निकलने तक का अवसर न मिला और हजारों अपने ही घरों में ज़िन्दा दफन गए! बाद के आँकड़ों से ज्ञात हुआ कि क्वेटा नगर की लगभग तीन चौथाई आबादी इस दुर्घटना के कारण तबाह हो गई। भूकम्प के बाद भी कई दिनों तक साधारण धक्के आते रहे।

क्वेटा और विहार के बाद भारत में तो ईश्वर की कृपा से कोई उल्लेखनीय भूचाल नहीं आया, परन्तु ससार के अन्य भागों में हर साल कहीं-न-कहीं इस विनाशकारी घटना की ताण्डव-लीला के समाचार अख़बारों मे छपते ही रहते हैं। जनवरी २६, १६३६, के दक्षिणी अमेरिका के चिली प्रदेश का भूकम्प और कुछ ही वर्ष पूर्व टर्की के अर्जिजान प्रदेश में आनेवाले भूचाल कम विनाशक न थे। अभी हाल ही में भूकम्प के कारण टर्की के अदाबाज़ार नामक नगर के विध्वस के समाचार प्रकाशित हुए हैं। इनके अतिरिक्त पृथ्वी के किसी न किसी भाग में कंप होने की सूचना तो नित्यप्रति वेधशालाओं में कप-लेखकों द्वारा मिलती ही रहती है।

सच तो यह है कि काफी सर लड़ाने पर भी मनुष्य अभी अपने पैर के नीचे की धरती के भीतर के रहस्यों का संतोषजनक उद्घाटन नहीं कर पाया है। हमने करोडों-अरबों मील दूर ग्रह-नक्षत्रों के बारे में तो दूरदर्शक और रश्मिविश्लेषक यंत्र की सहायता से बहुत-कुछ बातें मालूम की हैं, परन्तु ४ हजार मील गहरे पृथ्वी के अतराल के स्वरूप के बारे में हम अब भी केवल अदाज़ के घोड़े ही दौड़ाया करते हैं। हमारे पूर्वज भूकम्पों का कारण पृथ्वी को उठाए रखनेवाले शेषनाग और दिग्गजों का हिलना-डुलना मानते थे। प्राचीन मंगोलियन लोगों के मतानुसार भूकम्प का कारण यह था कि पृथ्वी एक विशाल मेंढक की पीठ पर रक्खी है और जब कभी वह अपना सिर खुजाता, तभी धरती हिल उठती है! और जापान के किसान तो आज भी यह मानते हैं कि समुद्र में एक भीमकाय विराट् मत्स्य है जो क्रोध में आकर नीचे धरती को टक्कर देता है और इसी से जापानी द्वीप-समूह हिल उठता है! कौन जानता है कि विज्ञान की अटकलें लगानेवाला आज का भूगर्भशास्त्री भी इन्हीं लोगों की तरह निरे भ्रम मे ही हो! क्योंकि अभी हमने प्रकृति को जाना ही क्या है?

भारतीय तथा विदेशी पक्षी—(३)

संसार के कतिपय सबसे सुंदर और सबसे भौंड़े पखेरू

प्रस्तुत लेख विगत दो अंको से प्रकाशित हो रही पक्षियों संबंधी इस लेखमाला का धारावाही अंश है। अगले अंक में हम विशिष्ट रूप से अपने देश के प्रमुख पक्षियों का परिचय आपको देंगे।

'उड़ते हुए पुष्प या सजीव रत्न'

पक्षियों के उस वर्ग में जो अपने चटकीले जगमगाते हुए रंगों के लिए प्रसिद्ध हैं, सबसे उल्लेखनीय हैं दक्षिणी से उत्तरी अमेरिका तक फैले हुए नई दुनिया के वे अत्यन्त छोटे पखेरू, जिन्हें अंग्रेजी में 'हमिङ्ग बर्ड्स' (Humming Birds) या 'भनभनानेवाले पक्षी' के नाम से पुकारते हैं। ये पक्षी-जगत् के सबसे छोटे प्राणी हैं।

इन जगमगाते हुए सजीव रत्नों-जैसे मनोरम पखेरुओं की पाँच सौ से भी अधिक विभिन्न जातियाँ हैं, जिनमें से कुछ, जो सबसे अधिक भड़कीली होती हैं, आकार में केवल सवा दो इंच ही होती हैं! इनके अंडों का आकार एक-चौथाई इंच से लेकर इंच के पाँचवें भाग तक होता है और घोंसलों की भीतरी समाई का व्यास मुश्किल से तीन-चौथाई इंच के लगभग! पक्षी-जगत् के अन्य सभी
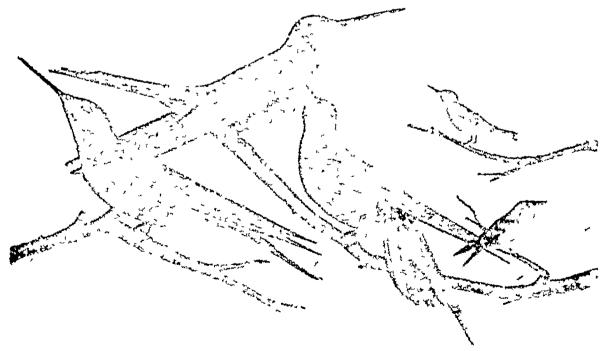
संसार के सबसे सुंदर लघु प्राणी—मध्य और दक्षिणी अमेरिका के 'भनभनानेवाले पक्षी'
इनमें से कुछ तो तितलियों और टिड्डियों से भी लघु आकार के होते हैं और उड़ते समय ऐसी तेज़ी से अपने पर फड़फड़ाते हैं कि मुश्किल से ही देखे जा सकते हैं। अपने चटकीले रंगों के कारण ही ये 'उड़ते हुए पुष्प' या 'पक्षी-जगत के नगीने' कहे जाते हैं।

'स्वर्ग का सर्वश्रेष्ठ पक्षी'

जिसके मोरछल जैसे परों के मनमोहक सौन्दर्य एवं अद्वितीय वर्ण-वैचित्र्य का सही अंदाज़ प्रत्यक्ष देखने पर या रंगीन चित्र द्वारा ही लगाया जा सकता है। यह निर्विवाद है कि यह पक्षी संसार में सबसे सुंदर होता है। इसीलिए इसके परों का मूल्य इतने ही वज़न के सोने से भी ज़्यादा आँका जाता है।

सदस्यों की भाँति इनमें भी नर विशेष सजधजवाले होते हैं—उनके पंखों के रंगों की तुलना यदि किसी से की जा सकती है तो केवल नीलम, पन्ना, माणिक, पुखराज आदि रत्नों से ही। वस्तुत उनके सम्बन्ध में कुछ भी लिखते समय अत्युक्ति से बच पाना असम्भव सा है—इतने अधिक सुन्दर और चटकीले होते हैं वे। आडोबान नामक लेखक ने इस पक्षी का परिचय 'इन्द्रधनुष का एक चमचमाता हुआ अंश' कहकर दिया है और बफन नामक एक दूसरे लेखक ने उसकी प्रशंसा में लिखा है कि 'उसके परों के परिधान में मानों पन्ना, माणिक और पुखराज नामक रत्नों की द्युति जगमगाती है।' सचमुच ही इन चिड़ियों को 'उड़ते हुए पुष्प या सजीव रत्नों' की जो उपाधि दी गई है, वह सर्वथा उचित ही है। कारण, उनके रंग की मनोरमता के साथ-साथ उनके यहाँ से वहाँ उड़ते समय की गति भी कम आकर्षक नहीं होती। ये चिड़ियाँ हमारे देश के 'लाल' या 'शकरख़ोर' नामक पक्षियों की भाँति, जिन्हें हम इनके सबसे नज़दीकी रिश्तेदार कह सकते हैं, विशेष रूप से फूलों की ग्राहक होती हैं और उन पर भौंरों की तरह मँडराया करती हैं। लाल या शकरख़ोर की तरह ये भी अपनी नलिकाकार चोंचों और लम्बी जीभों द्वारा फूलों का मधु चूसतीं और उस पर ही जीवन निर्वाह करती हैं, यद्यपि कुछ कीट-पतिङ्गों पर भी बसर करती हैं। वास्तव में इन चिड़ियों के उड़ने का ढंग पक्षियों की अपेक्षा पतिंगों से अधिक मिलता-जुलता है। उनके पंख एक मिनिट में लगभग पाँच सौ बार फड़फड़ा उठते हैं, जिससे एक विशिष्ट प्रकार की मधुर गुंजार या भनभन ध्वनि निकलती रहती है। इसीलिए इनका नाम 'भनभनानेवाली चिड़ियाँ' पड़ गया है। इन विचित्र पक्षियों का क्या रंग, क्या उड़ान, और क्या गुंजान सभी कुछ मनमुग्धकर है, और उनकी सबसे आकर्षक विशेषता तो है उनकी अत्यन्त लघु आकृति। वस्तुत वे चिड़ियाँ नहीं, बल्कि परी-देश की स्वप्निल वस्तु जैसी हैं, और उनके अण्डे तो ऐसे दिखाई देते हैं मानों छोटे-छोटे सफेद मटर के दाने हों।

'स्वर्ग के पक्षी'

ऊपर जिन सुन्दर पखेरुओं का परिचय हमने दिया है, उन्हीं जैसे तड़कभड़कदार किन्तु आकार में उनसे कहीं बड़े और अधिक आकर्षक एक और जाति के पक्षी हैं, जो इतने अधिक सुन्दर होते हैं कि जिन लोगों ने पहलेपहल उन्हें देखा उन्हें विश्वास नहीं हुआ कि ये इस मृत्युलोक के ही जीव हो सकते हैं! इसीलिए उनका नाम 'स्वर्ग के पक्षी' (Birds of Paradise) पड़ गया। ये चिड़ियाँ ईस्ट इंडीज़ द्वीप-समूह, न्यूगिनी के टापू और उत्तरी ऑस्ट्रेलिया के वनों में पाई जाती हैं। इनमें सबसे सुन्दर जाति का पक्षी 'स्वर्ग का सर्वश्रेष्ठ पक्षी' (The Superb Bird of Paradise) कहकर पुकारा जाता है, जिसके रंग-बिरंगे परों का मूल्य उतने ही वजन के सोने से

बीस या तीस गुना तक होता है। इस पक्षी के झिलमिलाते हुए मोरछल या चँवरनुमा पंख एक ज़माने मे पश्चिम मे महिलाओं की मूल्यवान् टोपियों की सजावट के काम मे लाये जाते रहे, अतएव उन दिनों उनकी बहुत मॉग रहती थी। बाद मे लोकमत उक्त प्रथा के विरुद्ध हो जाने पर उनका इस काम के लिये व्यवहार बंद हो गया और संभवत इसी से ये प्राणी असमय ही शीघ्रतापूर्वक पृथ्वी से विलुप्त होने से बच गए। इस चिड़िया के सिर और गरदन पर मुलायम पंखों की एक चौड़ी झालर-सी होती है और गले मे चटकीले पन्ने की नाईं हरित वर्ण का अयाल-सा होता है। उनकी दुम के शेष पख मिश्रित रक्तिम लाल, कत्थई और गहरे हरे रंग के होते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमे भी मादा से नर ही अधिक तड़कभड़क और शान-शौक़तवाला होता है, और जब वह प्रेमलीन होकर अपनी शृंगार-विहीना भूरे रग की प्रियतमा के आगे थिरकते हुए अपनी भव्य पखमाला का प्रदर्शन करता है, उस समय का उसका सौंदर्य्य वर्णनातीत हो जाता है। यह पक्षी प्राय. वृक्षों की डालियों पर अपना प्रणयाभिनय-नृत्य करता है। उस समय जब वह अपने पंख थरथराता है तो उसके बदन के आसपास के पर ऐसे झिलमिला उठते हैं मानों सोने के तार चमचमा रहे हों!

पक्षी-जगत् के कुछ सबसे भौंड़े सदस्य

प्रकृति के चिड़ियाख़ाने में जहाँ ऊपर उल्लिखित पक्षियों जैसे अत्यंत सुन्दर और मनोहर प्राणी देखने को मिलते हैं, वहाँ साथ-ही-साथ उसके सग्रहालय में ऐसे पखेरुओं की भी कमी नहीं है जो कुरूपता और भौंड़ेपन में भी सबको मात कर सकते हैं। सुन्दर पक्षियों की तरह इन भौंड़ी चिड़ियों की भी अनेक जातियाँ हैं। किन्तु यहाँ हम केवल दो नमूनों का ही उल्लेख करना पर्याप्त समझते हैं। ये हैं—हार्नबिल (Hornbill) या धनेश और एड्जूटण्ट स्टार्क (Adjutant Stork) या लगलग, जो अजीब वस्तुओं की किसी भी प्रदर्शनी में निश्चित रूप से ऊँचा इनाम पा सकते हैं।

हार्नबिल

यह एक बहुत बड़ा पक्षी है, जो लंबाई में ४॥ फीट के लगभग होता है। किन्तु इसकी इस लबाई मे असली बदन का हिस्सा बहुत ही कम अर्थात् केवल १४ इच होता है— वस्तुत वह उसकी बहुत लबी बृहदाकार चोंच तथा ढीली-ढाली भारी दुम को एक-दूसरे से सलग्न करने में मानों एक कड़ी का काम देता है। उसकी यह चोंच लगभग एक फ़ीट लंबी होती है और ऊपर की ओर उभरे हुए अपने एक शृंगवत् भाग की वजह से विशेष रूप से दर्शक का ध्यान खींचती है। इस उभरे हुए भाग के कारण यह पक्षी ऐसा दिखाई देता है मानों वह टोप पहने हुए हो, जिसे मजाक के लिये उसने अपने सिर पर रखने के बजाय अपनी भारी चोंच पर ही रख लिया हो! उसकी लाल-लाल आँखें, जिनमें ऊपरी पलक की कोर पर बरौनियाँ भी होती हैं, उसकी अजीब शक्ल को और भी अधिक विचित्र बनाने में विशेष योग देती हैं। इस पक्षी की तस्वीर पर ज़रा ग़ौर कीजिए—क्या यह आपको जगल का मसख़रा जैसा नहीं प्रतीत होता? पर यही नहीं, केवल शक्ल-सूरत ही नहीं, बल्कि इसकी करतूतों में भी निरालापन है। उदाहरण के लिये जब वह खाता है तो वह निगलने के पहले प्रत्येक कौर को पहले हवा में ऊँचे उछालता और तब उसे चोंच में झेलकर गटक जाता है। अपने इस अभ्यास के कारण कितनी भी दूर से कोई चीज उसके पास क्यों न फेंकी जाय वह उसे पकड़ने मे कभी भी नहीं चूकता। वस्तुतः यह पक्षी क्रिकेट के खेल में गेंद झेलनेवाले का काम बड़ी सफलतापूर्वक कर सकता है! किन्तु इसकी सबसे अधिक उल्लेखनीय विचित्रता तो है उसके घोंसले की अद्भुत निर्माणक्रिया, जिसका ज़िक्र 'विश्व-भारती' के पिछले एक अंक में किया जा चुका है (दे० अक १४, पृष्ठ १६८६)। हम यह बता चुके हैं कि इसकी चोंच असाधारणतया बड़ी होती है। पर वह केवल बड़े आकार की ही नहीं होती बल्कि उतनी ही ताक़तवर भी होती है। उसके द्वारा वह एक ही चोंट में कड़ी से कड़ी लकड़ी मे आधा इच तक गहरा छेद कर सकता है। इस पक्षी की मादा चिड़िया जब अंडा देने को होती है तो किसी वृक्ष के तने या डाल में एक सुरक्षित खोखला स्थान तलाश किया जाता है और चोंच से कुरेदकर ये पक्षी उसे इतना बड़ा कर लेते हैं कि मादा उसमें आराम से बैठ सके। जब वह इस घोंसले में अंडे देने के लिए प्रवेश करती है तो नर अपनी चोंच में भर-भरकर मिट्टी लाता है और उसे लसलसी बना क्रमशः राज की तरह चुनचुनकर उससे खोखले का द्वार मजबूती से बद कर देता है—केवल मादा पक्षी की चोंच बाहर निकलने-भर की एक दरार वह उसमें छोड़ देता है। इसी मे से चोंच निकालकर बदिनी मादा अपने मातृत्व-काल की पूरी अवधि-भर नर से भोजन पाती

रहती है। जब अंडे से बच्चा पैदा हो जाता है और बाहर उड़ने लायक हो जाता है तो खोखले के द्वार का मिट्टी का प्लास्टर कुरेदकर हटा दिया जाता है और मादा बच्चे सहित पुनः बाहर निकल आती है।

यह एक उल्लेखनीय बात है कि इस चिड़िया की चोंच पर जो उभरी हुई टोपी-सी पाई जाती है, वह शैशवावस्था में नहीं रहती, बल्कि वयस्क होने पर ही पैदा होती है। यह क्यों? सभवत इसका एकमात्र प्रयोजन यही दिखाई देता है कि घोंसला बनाते वक्त चोंच द्वारा वृक्षों के तने की लकड़ी कुरेदते समय उसके मस्तिष्क को ठेस या हानि से बचाने के लिए यह एक प्रकार के लाग का काम देती है, अर्थात् चोंच से चोट करने पर जो धक्का लगता है उसे यह जज्ब कर लेती है और इस प्रकार मस्तिष्क सुरक्षित रहता है।

टूकन

अजीब चोंचवाले पक्षियों में एक और उल्लेखनीय पखेरु अमेरिका के उष्ण प्रदेशों का निवासी टूकन (Toucan) है, जिसकी नारंगी रंग की वृहत् चोंच आजू-बाजू से चपटी होती है और आकार में लॉब्स्टर (Lobster) के चोंचे [illegible] होती है। यह चोंच बहुत बड़ी होने पर भी इतनी भारी नहीं होती कि जिससे पक्षी की उड़ान में बाधा पड़े। बल्कि उसके [illegible] की तरह [illegible] होती है। उदाहरण के लिए यह [illegible] पक्षी किसी एक डाली पर बैठे-बैठे ही चारों तरफ की [illegible] इस चोंच की [illegible] [illegible] रहता।

एडजूटण्ट स्टार्क या लगलग

हार्नबिल या टूकन से भी अधिक भौंडी शक्ल का एक पक्षी हमारे देश में ही होता है, जिसे अंग्रेजी में एडजूटण्ट स्टार्क (Adjutant Stork) का नाम दिया गया है और जो हमारे यहाँ की बोली मे लगलग कहलाता है। इस पक्षी की डरावनी लम्बी चोंच बहुत ही गंदे पिलौंहे रग की होती है और इसी तरह उसकी लम्बी टाँगें भी मटमैले भूरे रग की होती हैं। इस पक्षी की प्राय यह आदत होती है कि खड़ा रहते समय वह मसखरे की तरह अपने सिर को अपने कंधों में दबा सा लेता है, जिससे पीठ की ओर से देखने पर ऐसा दिखाई देता है मानों विलायती ढंग का कोट पहने हुए कोई कुबड़ा बूढ़ा सिकुड़कर खड़ा हो! इससे भी अधिक हास्यास्पद तो वह तब प्रतीत होता है जबकि खड़े-खड़े ऊब जाने पर वह घुटने मोड़ देता है। उस समय उसकी टाँगों के निचले भाग आगे की ओर निकलकर ऐसे दिखाई देने लगते हैं मानों गलती से वे उलटे लगा दिए गए हों। [illegible] चित्र देखिए। निस्संदेह [illegible] नामक [illegible] के शब्दों में 'यदि हार्नबिल या धनेश [illegible] का मसखरा है तो एडजूटण्ट या लगलग [illegible] है।' इसके चलने का ढंग देखकर, कोई भी हँसे बिना नहीं रह सकता।

पक्षी जगत् का सबसे भौंड़ा प्राणी—एडजूटण्ट स्टार्क
(परिचय इसी पृष्ठ के मैटर में देखिए)

अद्भुत [illegible] पक्षी

[illegible] दक्षिणी अमेरिका का [illegible] ([illegible]) [illegible] [illegible] नहीं [illegible]
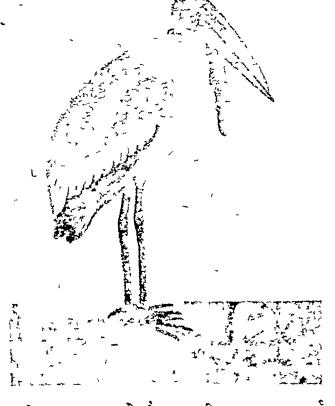
के वृक्षों पर पानी से छः से पंद्रह फ़ीट की ऊँचाई पर बनाता है। इसका घोंसला सूखी टहनियों को बटोरकर बनाया गया एक निरा चबूतरा सा होता है, जिसे ये पक्षी ब्रिटिश गायना के पिम्प्लर नामक कँटीले वृक्षों की दो डालियों के जोड़ पर रचते हैं। इन वृक्षों की कोमल हरी पत्तियाँ ही इन पक्षियों का प्रमुख आहार है। ये पखेरू बहुत अधिक निडर और पालतू-जैसे होते हैं और जब तक कि उनके घोंसलेवाली डाली एकबारगी ही हिला डुला नहीं दी जाती, तब तक छेड़ छाड़ करने पर भी वे अपना घोंसला नहीं छोड़ते।

होज़िन आकार में फाख्ते से कुछ छोटा होता है और उसके सिर पर एक/ हिलती हुई कलँगी होती है। इस पक्षी की उड़ने की सामर्थ्य परिमित होती है और उसके बदन की निचली बाज़ू यानी पेट की ओर की चमड़ी का एक अंश कड़ा होता है, जिसके सहारे टिककर वह प्राय: विश्राम करता है। इस अद्भुत चिड़िया का बच्चा अपने डैनों के दो-दो पर्जों की सहायता से छिपकली की भाँति चारों पैरों पर रेंगते हुए वृक्ष आदि पर चढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त वह उतनी ही कुशलतापूर्वक ऊपर से सिर के बल पानी में कूदकर डुबकी भी मार सकता है और सील नामक जलजतु की तरह बड़े मजे में तैर भी सकता है। कुछ ही मिनिटों में इस छोटी-सी चिड़िया को अपने जीवन में पहली बार एक साथ ही वृक्ष पर चढ़ते, वहाँ से पानी में कूदकर डुबकी लगाते और मजे के साथ तैरते हुए देखकर बीब नामक एक प्रकृति-वैज्ञानिक आश्चर्य में पड़ गया था—निस्संदेह यह किसी भी दर्शक के लिए एक चकरा देनेवाली बात थी!

इस पक्षी की बोली बड़ी ही विचित्र होती है—वह मेंढक की आवाज़ जैसी फटी और भर्राई हुई होती है, विशेषकर मादा पक्षी की आवाज़ नर से भी अधिक गभीर और गुड़गुड़ाने-जैसी होती है। उरगमों जैसे अपने विविध लक्षणों के कारण यह अजीब पखेरू आज दिन प्रकृति-वैज्ञानिकों के लिए जगलों या दलदलों की अन्य किसी भी चिड़िया से कहीं अधिक दिलचस्प और विस्मयोत्पादक है—उसे हम प्रकृति की एक जीवी-जागती पहेली कह सकते हैं।

वस्तुत यह अनोखा प्राणी उरगमों और पक्षियों के बीच की शृंखला की एक कड़ी जैसा है। अपने कई गुणों में तो वह पक्षियों से कहीं अधिक उरगमों का निकट सम्बन्धी प्रतीत होता है। मालूम होता है कि जहाँ तक इस पक्षी का सम्बन्ध है, विकास चक्र की गति अन्य प्राणियों की बनिस्बत मदतर रही, तभी तो क्या बोली, क्या हरकत और क्या आदतों में वह हमे पक्षी-जीवन के आरभिक दिनों के विगत युग की याद दिलाता है।

स्टार्क पक्षियों की अनेक उपजातियाँ होती हैं, किन्तु सभी बदसूरती के लिए नामाकेन हैं। यह 'ओपन बेल स्टार्क' का चित्र है। यद्यपि यह भौंडेपन में 'एडजूटण्ट स्टार्क' का मुक़ाबला नहीं कर सकता, फिर भी इसे देखकर भला किसको आकर्षण हो सकता है?

मनुष्य
की कहानी

हमारी रक्त-सचालन-प्रणाली—धमनियो, शिराओ और केशिकाओ का अद्भुत जाल
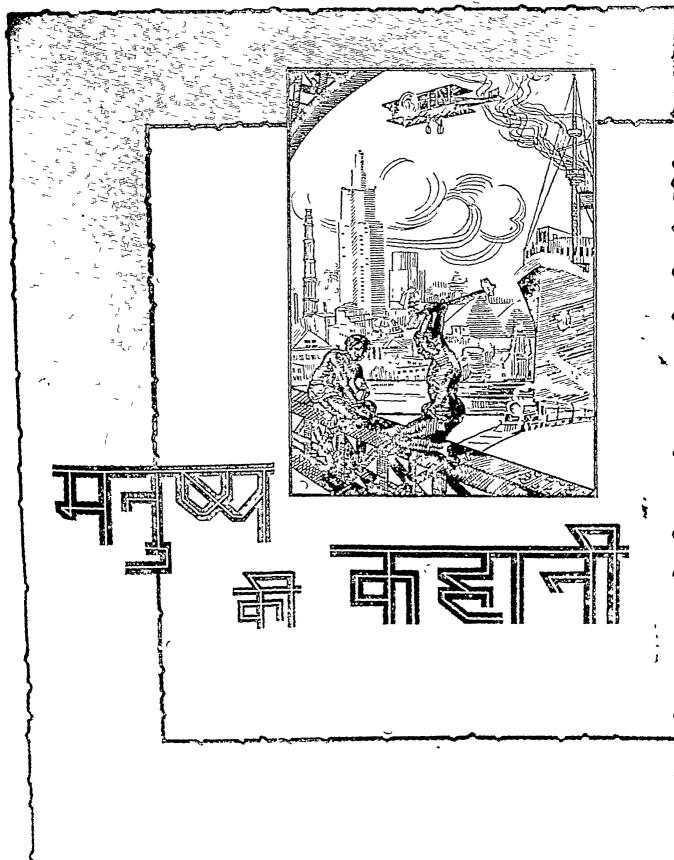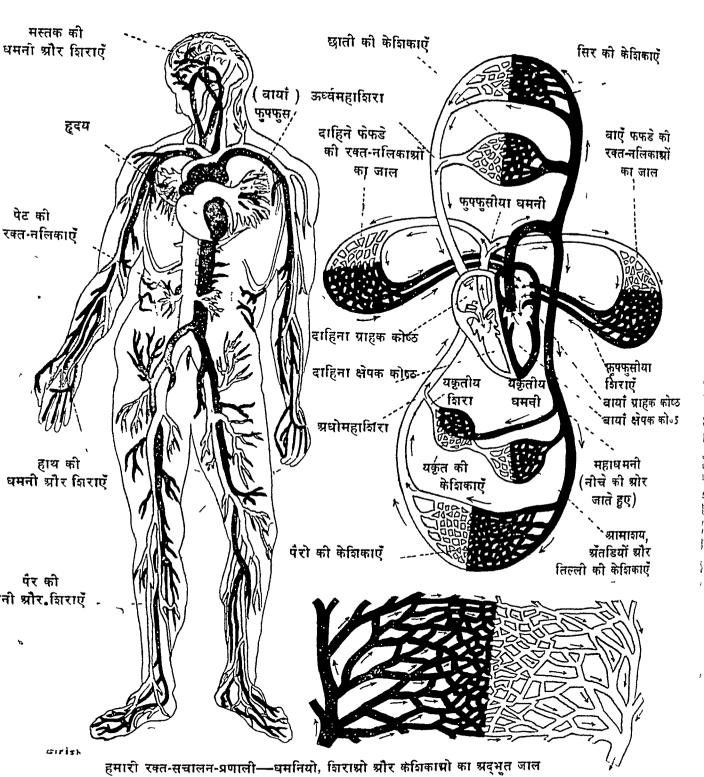
बाईं ओर, हृदय-रूपी आश्चर्यजनक पप और शरीर के हर भाग में फैली हुई उसमे सलग्न रक्त नलिकाओ का मानचित्र है। धमनियाँ लाल रग द्वारा और शिराएँ नीले रग द्वारा दिखाई गई है। दूषित रक्त शिराओ द्वारा हृदय के दाहिने ग्राहक कोष्ठ में आता और वहाँ से दाहिने क्षेपक कोष्ठ द्वारा शुद्ध होने के लिए फुफ्फुसो को भेज दिया जाता है, जहाँ से पुन बाएँ ग्राहक कोष्ठ में आकर बाएँ क्षेपक कोष्ठ की राह से महाधमनी में पप कर दिया जाता है, जो उसे शरीर के हर भाग में पहुँचा देती है। दाहिनी ओर, ऊपर मानचित्र द्वारा शरीर के विभिन्न भागो की धमनियों, शिराओ और केशिकाओ का जजाल दिखाया गया है। नीचे, केशिकाओ की सूक्ष्म रचना प्रदर्शित की गई है कि किस प्रकार वे धमनियो और शिराओ के बीच माध्यम का काम करती है।

इस आवरण की दीवार और हृदय के पृष्ठ की आपस में रगड़ नहीं हो पाती, क्योंकि थैली का भीतरी और हृदय का बाहरी पृष्ठ एक अत्यत चिकनी झिल्ली से मढ़ा रहता है, जो एक प्रकार के स्वच्छ तरल द्रव द्वारा निरंतर गीली और चिकनी बनी रहती है। इससे धड़कन के समय उपर्युक्त दोनों पृष्ठ आपस मे रगड़ने के बजाय एक दूसरे को छूते हुए चिकनाई से रपटते-से रहते हैं। इसी झिल्ली के नीचे होकर हृदय से बाहर की ओर वे धमनियाँ जाती हैं, जो उसके लिए आक्सिजन और अन्य खाद्य द्रव्य लाती हैं, क्योंकि शरीर की अन्य सभी पेशियों की भाँति हृदय को भी निरतर खाद्य और ऑक्सिजन की आवश्यकता पड़ती रहती है। कुछ लोग सोचते हैं कि हृदय एक ठोस मास-पिण्ड है, किन्तु वास्तव मे यह एक मास-निर्मित थैली है जिसका भीतरी खोखला हिस्सा एक खडे विभाजक परदे द्वारा एक-दूसरे से बिल्कुल अलग दाहिने वाएँ दो कोष्ठों में विभाजित है। इन कोष्ठों का परस्पर कोई सबंध नहीं होता। इनमें से प्रत्येक कोष्ठ में पुनः ऊपर-नीचे दो दो प्रकोष्ठ होते हैं जिनमें से एक की दीवार पतली होती है और दूसरे की मोटी। ये प्रकोष्ठ एक-दूसरे से पूर्णतया विलग नहीं होते, प्रत्युत् उनके बीच निर्यात के लिए एक तरह के कपाट लगे रहते हैं। इस प्रकार हृदय को हम एक दूसरे से सटे हुए किन्तु बिल्कुल स्वतन्त्र और सम्बन्ध-रहित दो विभागों वाला एक गृह कह सकते हैं, जिसके प्रत्येक हिस्से मे एक ऊपरी और एक निचली कोठरी होती है। इनमें ऊपरी कोठरी को 'ग्राहक कोष्ठ' (Auricle) और निचली को 'क्षेपक कोष्ठ' (Ventricle) के नाम से पुकारते हैं। इन चारों कोठरियों में से प्रत्येक बाजू की ऊपरी कोठरी उसी बाजू की निचली कोठरी से एक द्वार द्वारा सबद्ध है, किन्तु एक बाजू का दूसरी बाजू से कोई आवागमन का सीधा संबध नहीं है। 'ग्राहक कोष्ठ' हृदय की वे कोठरियाँ हैं जिनमें बाहर से रक्त आता है और 'क्षेपक कोष्ठ' वे हैं जिनमें से रक्त पुन बाहर जाता है।

हृदय के उपांगों में क्षेपक कोष्ठ सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें भी बाईं ओर का क्षेपक कोष्ठ दाहिनी ओर से कहीं अधिक सुदृढ और अधिक मांसल होता है—वह दाहिने क्षेपक कोष्ठ से लगभग दुगुना या तिगुना मोटा होता है और उसी को हृदय के श्रम का अधिकतर भार उठाना पड़ता है। उसे बृहत् धमनी या महाधमनी (Aorta) नामक उस बड़ी रक्त-प्रणाली में, जो उसमे से निकलती है, रक्त को धकेलना पड़ता है। यही नहीं, इस महाधमनी के रास्ते उसकी तमाम छोटी बड़ी शाखा-प्रशाखाओं में से होकर ऊपर मस्तिष्क से लेकर नीचे पैरों की उँगलियों तक सारे शरीर में तथा गुरदे, यकृत आदि सभी भीतरी अंगों मे होते हुए पुन एक अन्य प्रकार की प्रणालियों के जजाल के मार्ग से रक्त को धकेलकर वापस हृदय तक पहुँचाने का श्रम भी इसी कोष्ठ को उठाना पड़ता है। ज़रा अनुमान कीजिए कि इतनी लंबी और कठिन यात्रा को सम्पूर्ण करने के लिए रक्त को धकेलने मे कितनी अधिक शक्ति की आवश्यकता पड़ती होगी! यही कारण है कि बाएँ क्षेपक कोष्ठ की दीवार इतनी अधिक सुदृढ मासपेशियों द्वारा निर्मित होती है। दूसरे अर्थात् दाहिने क्षेपक कोष्ठ से 'फुफ्फुसीया धमनी' (Pulmonary Artery) नामक एक रक्त-प्रणाली निकलती है, जो समीप ही अवस्थित फेफड़ों को रुधिर पहुँचाती है। अत. इस क्षेपक कोष्ठ को बहुत कम लम्बे रास्ते तक ही रक्त को धकेलना पड़ता है—केवल हृदय से फुफ्फुसों तक और वहाँ से पुन. वापस हृदय तक।

ग्राहक कोष्ठ, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बहुत पतली दीवारवाले प्रकोष्ठ होते हैं और उनका काम होता है रक्त को बटोरना। फेफड़ों को छोड़कर शरीर के अन्य तमाम अङ्गों से दो प्रमुख नलिकाओं या शिराओं द्वारा, जिनमें से एक आगे से और दूसरी पीछे से इस प्रकोष्ठ में आकर मिलती हैं, रक्त खिंचकर दाहिने कोष्ठ में आता है। इसी प्रकार फेफड़ों का रक्त 'फुफ्फुसीया शिरा' (Pulmonary Veins) नामक चार नलिकाओं द्वारा बाएँ ग्राहक कोष्ठ में वापस आता है।

हृदय के कपाट या वाल्व

प्रत्येक बाजू के ऊपरी कोठे की फर्श बिल्कुल एकाकार नहीं होती, बल्कि वह छोटे-छोटे परदेनुमा किवाड़ों से युक्त होती है, जो इस प्रकार व्यवस्थित रहते हैं कि रक्त उनमें से होकर केवल एक ही दिशा में अर्थात् ग्राहक कोष्ठ में से क्षेपक कोष्ठ में प्रवाहित हो सकता है, उल्टे वापस नहीं आ पाता। ये परदेनुमा किवाड़ 'वाल्व' (Valves) या कपाट के नाम से पुकारे जाते हैं और छोटी-छोटी पेशियों से सबद्ध महीन सयोजक तन्तुओं की सहायता से चोर-दरवाजों की तरह खुलते और बद होते हैं। हृदय के इन कपाटों के ठीक-ठीक काम करने तथा स्वस्थ बने रहने पर न केवल हमारे शरीर का स्वास्थ्य बल्कि हमारा जीवन ही निर्भर है। इन कपाटों की अद्भुत व्यवस्था के द्वारा ही हृदय के प्रकोष्ठों में से रक्त का बाहर

और भीतर की ओर प्रवाह नियंत्रित होता रहता है।

दाहिने ग्राहक और क्षेपक कोष्ठों के बीच के द्वार के कपाट में तीन पर्दे-नुमा किवाड़ होते हैं जब कि बाईं ओर के ग्राहक और क्षेपक कोष्ठों के मध्यवर्ती कपाट में केवल दो। बाएँ क्षेपक कोष्ठ में रुधिर-निर्वात की प्रधान नलिका—महाधमनी (Aorta)—में खुलनेवाले और इसी प्रकार दाहिने क्षेपक कोष्ठ से फुफ्फुसीया धमनी में खुलनेवाले द्वारों के मुख भी ऐसे कपाटों द्वारा सुरक्षित रहते हैं, जो रक्त को हृदय से उन धमनियों में तो बाखूबी बहने देते हैं किंतु उलटकर धमनियों से वापस हृदय में कदापि नहीं आने देते। इनमें से प्रत्येक कपाट में दूज के चाँद की शक्ल के तीन छोटे छोटे जेबनुमा किवाड़ बने होते हैं, जिनके जेबों का मुँह नलियों की ओर रहता है। जब रक्त हृदय की ओर से धकेला जाकर धमनियों में प्रवाहित होता है तब ये कपाट धमनी की दीवार से चिपटे रहते हैं और रक्त के प्रवाह में उनसे कोई बाधा नहीं पड़ती—वह जोरों से बहता हुआ आगे बढ़ जाता है। किन्तु यदि वही रक्त पुनः धमनी की ओर से हृदय में वापस आने के लिए [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] तथा उनके कपाटों का स्वास्थ्य ठीक है या नहीं।

विलियम हारवे

जिसने पहले पहल अपनी खोज द्वारा पश्चिम की वैज्ञानिक दुनिया को रक्त के परिभ्रमण का रहस्य बताया।

हृदय की पेशियाँ और धड़कन

हृदय जिस प्रकार की मांस पेशियों द्वारा बना है, वे अपने ढंग के सबसे निराली जाति के तन्तुओं से बनी होती हैं—उनके तन्तु न तो अंगों की धारीदार ऐच्छिक पेशियों के-से होते हैं न अँतड़ियों के भीतरी पृष्ठ पर पाई जानेवाली अनैच्छिक बिना धारीवाली पेशियों जैसे। यह पहले ही एक लेख में बताया जा चुका है कि ऐच्छिक पेशी त्वरित संकोच की सामर्थ्य रखती है और फलस्वरूप बहुत जल्दी ही थक भी जाती है। इसके विपरीत अनैच्छिक पेशी में धीरे धीरे और लगातार संकुचित होते रहने का गुण होता है। परंतु हृदय के मांस के तन्तुओं में इन दोनों ही के गुण मिश्रित पाए जाते हैं—वे तेजी से सिकुड़ने और पुनः फैलने की भी सामर्थ्य रखते हैं, साथ ही सामान्य रूप से निरंतर [illegible] [illegible] करते हुए वे कभी थकते भी नहीं। प्रत्येक वयस्क स्त्री पुरुष में हृदय की [illegible] और शिथिल होने की क्रिया [illegible] मिनिट में ७० से ८० बार तक होती है और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

रहती है। इन क्रियाओं का ज्ञान हमें हृदय के स्पदन के स्वर द्वारा होता है, जो कि किसी भी व्यक्ति के हृदय पर कान लगाकर हम सुन सकते हैं। यह स्वर 'लुब्-डप्' जैसा सुनाई देता है। 'लुब्' शब्द कुछ-कुछ क्षेपक कोष्ठों के आकुंचन के कारण और उसके बाद तत्काल सुनाई पड़ने वाला 'डप्' शब्द वृहत् धमनियों के सिरे के वाल्व या कपाट के एकाएक बद होने के फलस्वरूप सुनाई देता है। ये स्वर स्टीथोस्कोप नामक स्वरपरीक्षक यत्र द्वारा बहुत स्पष्ट सुने जा सकते हैं, जिसका व्यवहार प्रत्येक डॉक्टर को करते हुए आपने देखा होगा। इसके अतिरिक्त बाहर के स्पर्श द्वारा भी हृदय की धड़कन का अनुभव किया जा सकता है। किन्तु यह बाहरी धड़कन वस्तुत. प्रत्येक स्पदन के समय हृदय के शिखर (Apex) के छाती की दीवार की ओर किंचित् धकेले जाने के फलस्वरूप ही हमें अवगत होती है।

हृदय का स्पदन एक स्वनियत्रित क्रिया है। उसकी मांसपेशियों में एक विशिष्ट प्रकार की नियमित लययुक्त गति करते रहने का स्वाभाविक गुण होता है। यदि किसी भी जीवित मनुष्य का हृदय उसके शरीर मे से बाहर निकालकर उपयुक्त वातावरण में रक्खा जाय तो वह एक मिनिट में लगभग ४० धड़कनों की गति से अपने आकुचन का क्रम जारी रक्खेगा और इस प्रकार उसका यह स्वाभाविक स्पंदन अनिर्दिष्ट काल तक जारी रक्खा जा सकेगा। सामान्य अवस्था में किसी भी स्वस्थ मनुष्य का हृदय प्रति मिनिट ७० से ८० बार तक धड़कता है, अर्थात् दिन रात में उसकी लगभग एक लाख धड़कनें होती हैं और प्रत्येक धड़कन में ४॥ औंस रक्त वह पप करता है, जिसका अर्थ यह हुआ कि चौबीस घंटों में कुल मिलाकर दो हज़ार गैलन जितना द्रव फुफ्फुसों से खींचकर वह वापस उनमें पप करता है। शक्ति की नाप के हिसाब से यह कार्य ३२ टन वज़न को ज़मीन से एक फीट ऊँचा उठाने के बराबर होता है। यह तो सामान्य दशा की बात है—इसके अतिरिक्त विशेष दबाव और जोर पड़ने पर हृदय इससे तीन गुना अधिक तक कार्य करने का सामर्थ्य रखता है। और तारीफ तो यह है कि यह सारा काम वह इतनी मुस्तैदी से और ऐसी तेज़ी से करता है कि हमें उसकी भनक भी नहीं पड़ती!

यहाँ इस बात को ध्यान में रखना ज़रूरी है कि यद्यपि हृदय हमारे शरीर के सबसे अधिक परिश्रम करने वाले अगों में से एक है तथापि यह बात नहीं है कि वह आराम न करता हो। वस्तुत' अपने प्रति दो स्पन्दनों के बीच के क्षणिक विराम की अवधि में वह काफी विश्राम कर लेता है। विराम के उस एक सैकड के अति सूक्ष्म अश जितने समय में ही हमारे इस अग को अपनी थकान मिटाने तथा भावी कार्य के लिए शक्ति-संग्रह करने का काम पूरा करना होता है। उसके प्रत्येक आकुचन और प्रसार में एक सैकण्ड के ४/५ भाग जितना समय लगता है। इस समय के लगभग आधे भाग में वह विश्राम किया करता है। इस प्रकार चौबीस घण्टों में वह कुल मिलाकर १२ घण्टे काम करता और उतने ही काल तक आराम कर लेता है। कुछ निरीक्षकों का तो कथन है कि वह केवल ६ घण्टे ही काम में लगाता है और शेष १५ घण्टे पुन रक्त के भरने की प्रतीक्षा में शिथिलता की दशा में ही बिताता है।

किसी भी सामान्य स्त्री का हृदय उसी वय के पुरुष के हृदय से अधिक तेज़ी से धड़कता है और बच्चों का उससे भी अधिक। परन्तु दरअसल अन्य बातों मे समानता रखते हुए भी विभिन्न व्यक्तियों के हृदय की धड़कन की गति में काफी अतर पाया जाता है। जहाँ कुछ पूर्णतया स्वस्थ व्यक्तियों के हृदय प्रति मिनिट ८० से ६० बार तक धकड़ते पाए गए हैं, वहाँ नेपोलियन जैसे अन्य कुछ व्यक्तियों के स्पन्दन की गति केवल प्रति मिनिट ४० ही आँकी गई है, यद्यपि ऐसा प्राय. अपवाद के रूप में ही पाया जाता है। आयु के अतिरिक्त हमारे विभिन्न कार्यों का भी प्रभाव हमारे हृदय की धड़कन की गति पर पड़ता है। उदाहरण के लिए हमारी त्वचा की ऊपरी सतह पर गर्मी पहुँचाने से हृदय की धड़कन की गति बढ जाती और सर्दी पहुँचाने से वह कम हो जाती है। इसी प्रकार भोजन करते समय वह तीव्र हो जाती और सोने या लेटने की दशा में मन्द हो जाती है। जब कोई व्यक्ति लेटा हुआ रहता है तो उसका हृदय खड़े होने की अवस्था की अपेक्षा प्रति मिनिट दस बार कम धड़कता है।

हृदय अपने अनवरत आकुचन और प्रसार द्वारा रक्त को एक के बाद एक अनेक क्रमबद्ध धक्कों द्वारा धमनियों में धकेलता है और धक्के की यह लहर एकबारगी धमनियों के सारे जंजाल में दौड़ जाती है। यह स्पन्दन की क्रिया वयस्क व्यक्तियों में सामान्यतया प्रति मिनिट ७२ बार होती है और जहाँ-कहीं कोई बड़ी धमनी शरीर मे सतह की ओर काफ़ी ऊपर होती है, वहाँ उसकी

फड़क उँगली लगाने पर स्पष्ट अनुभव की जा सकती है, बल्कि देखी भी जा सकती है। ऐसा अनुभव हाथ की कलाई और कनपटी में विशेष रूप से हम कर सकते हैं। कलाई पर पाई जानेवाली धमनी की फड़क को हम नाड़ी के स्पन्दन के नाम से पुकारते हैं और उसकी गति या चाल को परखकर प्रायः हृदय की स्वास्थ्य संबंधी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ हमें मिल सकती हैं। हमारे देश के अनेक अनुभवी वैद्य और हकीम केवल नाड़ी-परीक्षा द्वारा ही रोग के संबंध में बहुतेरी बातें मालूम कर लेते हैं, क्योंकि बहुतेरी बीमारियों का हृदय और उसकी नाड़ियों की गति पर अलग-अलग तरह से विशिष्ट प्रभाव हृदय से बाहर प्रवाहित होता है। ये धमनियाँ (Arteries) कहलाती हैं। दूसरी वे हैं, जिनके मार्ग से रक्त पुनः वापस हृदय को लौटता है। ये शिराएँ (Veins) कही जाती हैं। इनके अतिरिक्त तीसरी एक और प्रकार की नलिकाएँ हैं, जो छोटी धमनियों और सूक्ष्मतम शिराओं के सिरों के बीच एक तरह के संयोजक जाल के रूप में हर अंग में फैली हुई हैं। ये नलियाँ केश-जैसी पतली होती हैं, इसीलिए इन्हें केशिकाएँ (Capillaries) कहा जाता है। इनकी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ आपस में उलझी रहती हैं। वे इतनी अधिक सूक्ष्म होती हैं कि बिना सूक्ष्म-दर्शक यंत्र की सहायता के देखी भी नहीं जा सकतीं। यही

हृदय का बाहरी और आभ्यंतरिक दृश्य

बाईं ओर, हृदय और उससे संलग्न रक्तनलिकाओं का बाहरी दृश्य है। दाहिनी ओर लम्बाई में काटने पर उसके भीतरी प्रकोष्ठों की रचना दिखाई दे रही है। क—दाहिना क्षेपक कोष्ठ, ख—बायाँ क्षेपक कोष्ठ, ग—दाहिना ग्राहक कोष्ठ, घ—बायाँ ग्राहक कोष्ठ, च—महाधमनी, छ—ऊर्ध्व महाशिरा, ज—फुफ्फुसीया धमनी, झ—पैपिलरी पेशी, ट—महाधमनी का कटा अंश।

रहता है, तो पहचाना जा सकता है। [illegible] जानते हैं कि [illegible] में नाड़ी [illegible] के [illegible] हो जाते हैं।

रक्त किन नलिकाओं में होकर बहता है?

शरीर में [illegible]

[illegible] धमनियों से शिराओं में [illegible]

किया गया है। इन केशिकाओं के द्वारा ही पोषक तत्त्व शुद्ध रक्त से निस्सरित होकर शरीर-तन्तुओं को मिलता और उन्हीं के मार्फत तन्तुओं का मल अशुद्ध रक्त की धारा में आकर मिलता है। बड़ी धमनियों से अनेक छोटी-छोटी शाखा-प्रशाखाएँ फूटकर सारे शरीर में फैल गई हैं। इन्हीं के अन्तिम सिरे केशिकाओं के रूप में अवस्थित हैं। इसी प्रकार केशिकाओं से सूक्ष्मतम शिराओं की नलियाँ फूटकर क्रमश एक-दूसरे में मिलती चली गई हैं और अन्त में महाशिराएँ बन गई हैं।

धमनियाँ

धमनियाँ बड़ी मज़बूत, मोटी, और रबड़ की तरह स्थितिस्थापक (elastic) नलियाँ होती हैं। इनकी दीवारें तीन पर्त्तों की होती हैं। इन पर्त्तों मे सबसे बाहरी पर्त्त बहुत अधिक स्थितिस्थापक होती है, जिसकी वजह से नलिका के भीतर की ओर रक्त का दबाव समान बना रहता है—वह अपनी ऐंठन द्वारा क्रमश रक्त को आगे धकेलती रहती है। इसी तरह बिचली पर्त्त सौत्रिक तन्तुओं की एक मोटी पर्त्त होती है, जो अपने आकुंचन द्वारा धमनी का आकार कम कर सकती है और इस प्रकार उसमें बहनेवाले रक्त की मात्रा भी आवश्यकतानुसार घटा सकती है। तीसरी अर्थात् सबसे भीतरी पर्त्त पतली और चिकनी होती है, जिससे रक्त बिना किसी अड़चन या रगड़ के फिसलता हुआ बहता रहता है।

यदि हमारी धमनियों की नलियाँ स्थितिस्थापक न होतीं और उनकी रचना पेशियों की तरह मास द्वारा न हुई होती तो उनमें से होकर रक्त हृदय की धड़कन की गति के अनुसार रुक-रुककर क्रमश धक्कों के साथ आगे की ओर बढ़ता। यह धमनियों की विशिष्ट बनावट की ही बदौलत है कि वह हृदय से शरीर के कोषों तक और उन कोषों से वापस हृदय तक एक निरंतर सुसम्बद्ध धारा के रूप में प्रवाहित होता है। वस्तुत धमनी की दीवार की मासरचित बिचली पर्त्त हमारे शरीर के लिए प्रकृति की एक महत्त्वपूर्ण नियामत है। हमारे किसी भी अंग के लिए रक्त की रसद की आवश्यकता उसकी माँग के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है और यह सदैव एकसमान नहीं रहती। उदाहरणार्थ, हमारे आमाशय या पेट को विश्रान्ति की अवस्था की अपेक्षा पाचन-क्रिया एव पाचक रस बनाने में व्यस्त रहने की दशा में अधिक परिमाण में रक्त की आवश्यकता होती है। किसी भी अंग के लिए आवश्यक रक्त की मात्रा की रसद-पूर्त्ति में कमी-बेशी की यह व्यवस्था धमनियों की दीवार के सौत्रिक तन्तुओं के आकुंचन या प्रसार द्वारा सयोजित होती है। यदि नलिका की आकृति सिकुड़कर कम हो जाय तो स्वभावत ही उसमें बहनेवाले रक्त की मात्रा कम हो जायगी और इसी प्रकार प्रसरित होने पर वही अधिक हो सकती है। अधिकाश धमनियों में एक की शाखाएँ अन्य अंगों को जानेवाली दूसरी धमनियों की शाखाओं से स्वच्छन्दतापूर्वक सबद्ध होती हैं ताकि यदि एक प्रणाली से रक्त की पूर्ति कम हो जाय या बिल्कुल बद भी हो जाय तो दूसरी प्रणाली द्वारा उसके अभाव की पूर्ति की जा सकती है।

धमनियों में सबसे बड़ी और मोटी वह है जो बृहत् धमनी (Aorta) के नाम से पुकारी जाती है। यह हृदय के बाएँ क्षेपक कोष्ठ से निकलनेवाली शुद्ध रक्त की प्रधान प्रणाली है, जो क्रमश अनेक शाखा प्रशाखाओं में विभाजित होकर अन्त में अपने आख़िरी सिरों यानी केशिकाओं में जाकर समाप्त हो जाती है। हृदय से निकलकर कुछ दूर तक तो वह ऊपर की ओर जाती है और इसी फासले में उसकी आरम्भिक मुख्य शाखाएँ उससे फूटकर सिर और बाँहों की दिशाओं में चली गई हैं, तदनन्तर एक चौड़ा मेहराबनुमा मोड़ लेकर वह बाईं ओर घूम जाती है और हृदय के पीछे से निकलती हुई एकदम नीचे को चली गई है, जहाँ उसमें से भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटकर क्रमश आमाशय, पक्वाशय और उदरस्थित अन्य अंगों में फैल गई हैं। इससे भी और नीचे जाने पर वह दो प्रधान उपशाखाओं में विभाजित हो जाती हैं, जिनमें से प्रत्येक पैरों के रास्ते ठेठ पाँव की उँगलियों तक चली गई है।

वयस्क स्त्री-पुरुषों में बृहत् धमनी इतनी चौड़ी होती है कि उसमें एक साथ दो या तीन उँगलियाँ तक समा सकती हैं। स्वस्थ दशा में यह बृहत् नली रबड़ की एक बड़ी नली जैसी स्थितिस्थापक (elastic) होती है। उसकी इस स्थितिस्थापकता का बड़ा महत्त्व है, क्योंकि इस गुण द्वारा वह हृदय की प्रत्येक धड़कन के बीच की विराम की अवस्था में रक्त को आगे धकेलने के लिए आवश्यक शक्ति की पूर्त्ति करने में महत्त्वपूर्ण योग देती है। प्रत्येक धड़कन के साथ ही बृहत् धमनी ताजा रक्त से भर जाती और फलत फूलकर फैल जाती है। तब अपने स्थितिस्थापकता के गुण की बदौलत उसकी दीवार के सौत्रिक ततु ऐंठन द्वारा संकुचित हो रक्त को आगे धकेलने में मदद करते हैं, जिससे उसका प्रवाह समान बना रहता है।

बाएँ की तरह दाहिने क्षेपक कोष्ठ से भी एक बड़ी धमनी निकलती है, जिसे 'फुफ्फुसीया धमनी' (Pulmonary Artery) कहते हैं। इसकी दो शाखाएँ हैं, जो क्रमशः दाहिने और बाएँ फुफ्फुस में प्रविष्ट होकर अति सूक्ष्म प्रशाखाओं के रूप में फुफ्फुस कोठरियों के समस्त धरातल पर फैल गई हैं, जिससे कि उनकी सारी पतली दीवार पर रक्त पसर जाता है।

उपर्युक्त प्रधान धमनियों में से प्रत्येक के आरम्भ में अति सुदृढ़ अर्धचन्द्राकार परदेनुमा कपाट लगे हुए हैं, जो प्रत्येक धड़कन के साथ हृदय से निस्सरित होनेवाले रक्त की मात्रा को धमनियों में प्रवाहित होने से पूर्व क्षण भर के लिए रोक रखने और तब आगे बढ़ने देने का काम साधते हैं।

केशिकाएँ
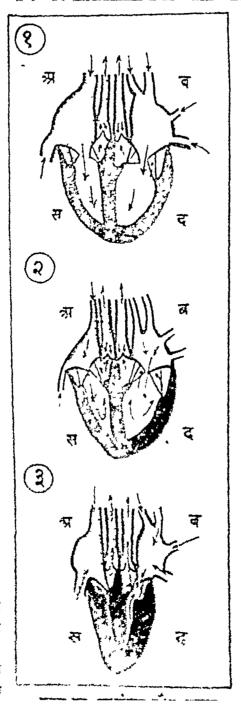
जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, धमनियों की अंतिम प्रशाखाएँ अर्थात् केशिकाएँ इतनी महीन होती हैं कि वे नंगी आँखों से नहीं देखी जा सकतीं। ये केवल [illegible] नलियों जैसी होती हैं और जाली के रूप में आपस में गुँथी रहती हैं जिनका [illegible] रक्त से ५०० गुना अधिक रक्त भरा रहता है। ये महीन नलिकाएँ हमारे शरीर में हर जगह विद्यमान हैं, सिवाय कुछ स्थानों के, जैसे त्वचा की सबसे ऊपरी पर्त में, भीतरी झिल्ली या स्तरों की कतिपय पर्तों में, हृदय की दीवार में, दाँत को बनानेवाले द्रव्य में, और आँख की पुतलिका में। केशिकाओं में से होकर रुधिर प्रति मिनिट एक इंच की गति से शिराओं की ओर बढ़ता है। इस दौरान में उसके द्रव भाग का कुछ अंश शरीर-तन्तुओं की लसीका की रसद पूरी करने के लिए केशिकाओं की दीवार में से छनकर बाहर निकल जाता है और आवश्यकता पड़ने पर उसका प्रवाह उलटकर तन्तुओं से वापिस केशिकाओं में भी होने लगता है। इसी प्रकार रक्त के श्वेत कण भी केशिकाओं की पतली दीवार में से निकलकर कोषों में जा मिलने का सामर्थ्य रखते हैं। इनके इस प्रकार किसी एक भाग विशेष में आकर जमा होने की प्रवृत्ति शरीर के किसी भी हिस्से के प्रदाह (inflammation) की अवस्था में विशेष रूप से बढ़ जाती है और इस दशा में इनके साथ साथ रुधिर के कुछ लाल कण भी केशिकाओं की दीवार में से [illegible]

उस समय उस जगह की केशिकाओं में रक्त की मानों बाढ़-सी आ जाती है।

हमारे शरीर के ऊपरी आवरण पर छाई हुई केशिकाएँ हमारे बदन के तापमान का नियंत्रण करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण योजना का काम देती हैं, जैसे कि त्वचा की रचना और क्रिया-विषयक एक पूर्ववर्त्ती लेख में इसी स्तम्भ के अन्तर्गत स्पष्टतया समझाया जा चुका है। जबकि केशिकाएँ रक्त से ख़ूब भरपूर होती हैं,उस दशा में हमारी त्वचा यदि अति शीतल वायु के सस्पर्श में आए तो परिणाम यह होता है कि रक्त और शरीर का तापमान कम हो जाता है। तापमान के इस अनावश्यक उतार को रोकने के लिए प्रकृति छोटी धमनियों को सिकुड़ने के लिए विवश करती है, जिससे ऊपरी पृष्ठ की अनेक केशिकाओं के रसद का मार्ग बन्द हो जाता है और इस प्रकार शरीर का भीतरी गर्म रक्त ऊपरी सतह तक नहीं पहुँचता। यही कारण है कि बेहद ठंढ के मौसम में हमारी त्वचा सिकुड़ी हुई और रक्तहीन या पीली-पीली-सी दिखाई देने लगती है। इसके विपरीत गर्मी के मौसम में हमारे शरीर की चमड़ी अधिक लाल दिखाई देने लगती है, जिसका अर्थ यह हुआ कि वह अधिकाधिक मात्रा में रक्त को ऊपरी सतह तक पहुँचाकर उसे अतिरिक्त ताप से मुक्त होने देती है। शारीरिक तापमान के उचित नियन्त्रण की इस प्राकृतिक योजना को आवश्यकता से अधिक वस्त्र पहन लेने की आदत द्वारा हम सहज ही गड़बड़ में डाल सकते हैं और इसी प्रकार हम चाहें तो त्वचा को खुले वातावरण की आदी बनाकर और भी अधिक क्रियाशील बनाने में भी सफल हो सकते हैं।

शिराएँ

शरीर के तमाम भागों में वितरित होने के उपरान्त रुधिर जिन प्रणालियों में होकर पुन. वापस हृदय में आता है उनकी बनावट उसी ढग की होती है जैसी धमनियों की। अन्तर केवल यही है कि इन शिराओं की दीवारें धमनियों की दीवार की अपेक्षा बहुत पतली होती हैं और इसी अनुपात में उन दीवारों की तीनों पर्तों की मोटाई में भी अन्तर है। शिराओं में स्थितिस्थापक एवं मांसरचित पर्त्तें बहुत ही कमज़ोर हैं, जिसके कारण वे रक्त से भर जाने पर सहज ही फूल जाती हैं और खाली होने पर शिथिल हो जाती हैं। इनमें जो वाल्व या कपाट होते हैं वे नहरों के बाँधों के निर्यात-द्वार जैसे होते हैं—वे रक्त को केवल एक ही दिशा में अर्थात् हृदय की ओर बहने देते हैं। ऐसे कपाट प्राय वहाँ होते हैं जहाँ विभिन्न छोटी शिराएँ आकर बड़ी प्रणाली में मिलती हैं। धमनियों से ठीक विपरीत, केशिकाओं के जाल से एक प्रकार की अति सूक्ष्म रक्तवाहिनी नलिकाएँ निकलती हैं, जिन्हें हम 'शिराक' (Venules) के नाम से पुकार सकते हैं। ये सूक्ष्म प्रणालियाँ बार बार एक दूसरे में मिलती हुई बड़ी शिराओं की रचना करती हैं। हृदय से जो रक्त बृहत् धमनी द्वारा सिर और भुजाओं में पहुँचाया जाता है, वही लौटकर 'ऊर्ध्व महाशिरा' (Superior or Anterior Vena Cava) नामक प्रणाली द्वारा वापस हृदय के दाहिने ग्राहक कोष्ठ में पहुँचता है। इसी प्रकार धड़ और पैरों का अशुद्ध रक्त 'निम्न महाशिरा' (Inferior or Posterior Vena Cava) नामक प्रणाली द्वारा वापस हृदय को लौटता है। किन्तु चूँकि उपर्युक्त दोनों प्रधान बृहत् शिराओं की समाई मिलकर महाधमनी की समाई से दुगुनी होती है अतएव शिराओं में रक्त के प्रवाह की गति धमनियों से आधी ही होती है—अर्थात् उनमें रक्त उतनी तेज़ चाल से नहीं बहता जितना कि धमनियों में।

फुफ्फुसों से रक्त हृदय को जिन प्रणालियों द्वारा वापस आता है वे चार शिराएँ हैं, जिन्हें 'फुफ्फुसीया शिराएँ' (Pulmonary Veins) कहते हैं। ये फुफ्फुसों से रक्त लेकर बाएँ ग्राहक कोष्ठ में प्रवेश करती हैं। इन तमाम रक्तवाहिनी प्रणालियों और शरीर में उनकी स्थिति तथा मार्ग का स्पष्ट निर्देश इस लेख के आरभ में प्रस्तुत रगीन चित्र में किया गया है। साथ ही उस चित्र में एक ओर केशिकाओं के द्वारा रक्त-सचार की क्रिया भी अलग से दिखलाई गई है।

रक्त-परिभ्रमण क्यों कर होता है और किस प्रकार वह जारी रहता है ?

तीन प्रकार की रक्त-नलिकाओं के ऊपर दिए गए विवरण से आपको यह बात भली भाँति स्पष्ट हो गई होगी कि हमारे शरीर में रक्त-संचरण की दो विभिन्न और एक दूसरे से अलग प्रणालिया है—प्रथम, हृदय से फुफ्फुसों को और वहाँ से वापस हृदय को, दूसरी, हृदय से शरीर के तमाम अन्य भागों को और वहाँ से वापस हृदय को। इनमें प्रथम को 'लघु या फुफ्फुसीय रक्त-संचरण' (Lesser or Pulmonary Circulation) और दूसरी को 'बृहत् या दैहिक रक्त-संचरण-प्रणाली' (Greater or Systemic Circulation) कहते हैं। जब हमने

ऊपर यह निर्देश किया कि धमनियाँ शुद्ध ओषजन से युक्त रक्त को हृदय से शरीर-कोषों तक पहुँचातीं और शिराएँ अशुद्ध ओषजनरहित रक्त को वहाँ से हृदय को वापस लाती हैं तो हमारा तात्पर्य वृहत् रक्त-संचरण से ही था। इसके विपरीत फुफ्फुसीय रक्त-संचरण में उल्टी ही विधि पाई जाती है—अर्थात् फुफ्फुसीया धमनी द्वारा हृदय से फुफ्फुसों को जो रक्त जाता है वह अशुद्ध और ओषजन-वंचित होता है तथा वहाँ से फुफ्फुसीया शिराओं द्वारा वापस हृदय को आनेवाला रुधिर शुद्ध और पूर्णतया ओषजनयुक्त होता है।

वृहत् परिभ्रमण के द्वारा ओषजन और अन्य पोषक द्रव्य से लदा शुद्ध रक्त धमनियों की राह शरीर के प्रत्येक भाग को भेजा जाता और केशिकाओं में पहुँचकर उसका पोषक द्रव्य छिटककर शरीर-कोषों में वितरित हो जाता है। साथ ही कोषों का मल और अन्य विजातीय द्रव्य उन्हीं केशिकाओं के मार्फत वापस लौटती हुई रक्तधारा में मिश्रित हो जाता है। यह अशुद्ध रक्त शिराओं द्वारा इकट्ठा किया जाकर हृदय के दाहिने ग्राहक कोष्ठ में उँडेल दिया जाता है, ताकि वहाँ से यह शुद्ध होने के लिए फेफड़ों को भेजा जा सके। इस प्रकार इस परिभ्रमण-प्रणाली का उद्देश्य [illegible] को [illegible] पहुँचाना और उनसे विजातीय मल [illegible]

हृदय के कपाट या वाल्व

यदि हम हृदय को बीच में से इस प्रकार काट दें कि दोनों ग्राहक कोष्ठ और वृहत् रक्त-प्रणालियाँ अलग उससे जुदा हो जायँ तो ऊपर से देखने पर हृदय के ऐसे ही तीन प्रकार के परदेनुमा कपाट हमें दिखाई देंगे।

गैलन से भी अधिक रक्त फेफड़ों को भेजता और वहाँ से वापस खींचता है। अब सवाल यह उठता है कि किसके बल पर रक्त इतनी अधिक मात्रा में प्रणालियों के जटिल जंजाल में से होकर निरंतर प्रवाहित होता रहता है—वह कौन सी शक्ति है जिससे रक्त-परिभ्रमण की यह क्रिया होती है और जारी रहती है? और क्योंकर हम उसका निश्चित ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं? निस्सन्देह ये बड़े जटिल प्रश्न हैं। किन्तु पिछले ३०-४० वर्षों में इस सम्बन्ध में बहुत-कुछ प्रकाश मिला है। यदि हमें रक्त-परिभ्रमण की क्रिया का मूर्त रूप अच्छी तरह समझना है तो आइए, रक्त के साथ-साथ उसके संचरण की सारी प्रणाली की हम कल्पना द्वारा एक दौड़ लगा लें। हम वहाँ से अपनी यात्रा शुरू करें जहाँ कि रक्त शुद्ध दशा में फुफ्फुसीया शिराओं के रास्ते हृदय के बाएँ ग्राहक कोष्ठ में आता है। देखिए, वह ग्राहक कोष्ठ में तब तक उमड़ता ही चला जाता है जब तक कि कोष्ठ रक्त से भरपूर नहीं हो जाता। तब एक निश्चित क्षण पर उसके फर्श का कपाट या वाल्व एक रहस्यपूर्ण ढंग से एकाएक खुल जाता और कोष्ठ की मांसपेशियों दीवारों के शुद्ध आकुंचन द्वारा रक्त इसी ग्राहक कोष्ठ के नीचे के बाएँ क्षेपक कोष्ठ [illegible]

आवेग से बृहत् धमनी के अर्द्धचन्द्राकार कपाट इस प्रकार खुलकर राह देते हैं कि इस ओर से तो रक्त-धारा प्रवाहित होती रहे, किन्तु वापस उल्टी दिशा में न बहने पाए। इस समूची क्रिया से वेग की जो लहर उत्पन्न होती है, वह प्रत्येक धड़कन के साथ बिजली की तरह धमनियों के सारे जजाल में व्याप्त हो जाती है। इस प्रकार एक के बाद एक क्रमश ज्यों-ज्यों रुधिर की मात्राएँ इन प्रणालियों में से होकर गुजरती हैं, वे उनका आकुंचन और प्रसार करती रहती हैं और स्थितिस्थापकता तथा अन्य गुणों की सहायता से एकसमान दबाव बनाए रखती हैं। इस प्रकार रुधिर धमनियों से केशिकाओं में आ पहुँचता है। इसके बाद, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, वह अपने पोषक तत्त्व के बोझ से मुक्त होकर तथा मल-द्रव्य एकत्रित कर शिराओं में बह निकलता है और इनमें विद्यमान एक हल्के से उल्टे दबाव तथा बृहत् शिराओं—विशेषकर पैर की शिराओं—में समुचित स्थानों में लगे हुए अर्द्धचन्द्राकार कपाटों के सहयोग से पुन हृदय में वापस खींच लिया जाता है। ये कपाट या वाल्व रक्त को दाहिने ग्राहक कोष्ठ तक की लबी मंज़िल की चढ़ाई करने में प्रचुर सहायता देते हैं। दाहिना ग्राहक कोष्ठ ठीक बाएँ ग्राहक कोष्ठ के साथ-ही-साथ सिकुड़ता है और उसमें पहुँचकर रक्त के साथ वैसा ही व्यवहार होता है जैसा कि बाईं बाज़ू में हुआ था। यह कोष्ठ भी रक्त से भरकर एकबारगी ही फूलकर कुप्पा हो जाता है, उसके फर्श के तीन परदेनुमा किवाड़ों से युक्त कपाट या वाल्व खुल पड़ते हैं, साथ ही उसकी दीवार की पेशियाँ सिकुड़तीं और फलत रक्त तेजी से दाहिने क्षेपक कोष्ठ में भर जाता है, जहाँ से वह उक्त कोष्ठ के आकुंचन द्वारा पुन फुफ्फुसीया धमनियों में फेंक दिया जाता है। इस प्रकार अंत में वह वापस फेफड़ों में आ पहुँचता है जहाँ से कि वह प्रारंभ में चला था।

रक्त-परिभ्रमण को जारी रखनेवाली विविध शक्तियाँ

रक्त-परिभ्रमण जिन शक्तियों द्वारा परिचालित और नियंत्रित होता है, उनमें हृदय निस्सदेह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रधान है। किन्तु इसके अतिरिक्त कम से कम तीन शक्तियाँ और भी हैं, जो इस क्रिया मे योग देती हैं। इनमें एक तो है वृहत् धमनियों की दीवारों का स्थितिस्थापकता का गुण, जो हृदय की धड़कनों के बीच के विराम के समय मे उसकी शक्ति को सचित कर जमा रखने का कार्य साधता है, जैसा कि धमनियों के विवरण के संबंध में बताया जा चुका है। धमनियों की यह स्थितिस्थापकता की शक्ति कतिपय रोगों में नष्ट हो जाती है, जिससे तदुरुस्ती पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। दूसरी शक्ति, जो रक्त-परिभ्रमण के सचालन में सहायता देती है, हमारी श्वसन क्रिया है। इस क्रिया के दौरान में प्रत्येक बार जब हम अपनी छाती फुलाते हैं तो न केवल उस समय हम अपने भीतर वायु ही खींचते प्रत्युत साथ-ही-साथ रक्त को भी शिराओं से हृदय में खींचते हैं। जो लोग बहुत ही कमज़ोर और मद रीति से श्वास लेते हैं उनका रक्त-परिभ्रमण सदैव कमजोर पाया गया है, क्योंकि वे इस कार्य का सारा बोझ हृदय पर ही डाल देते हैं। यही कारण है कि गहरी और सपूर्ण श्वास लेने की आदत डालने पर इतना अधिक महत्त्व दिया जाता है। वस्तुत किसी भी पूर्ण रूप से क्रियाशील वक्षःस्थल का अर्थ है शिराओं से हृदय को एवं वहाँ से फेफड़ों को जानेवाले मार्ग का बिल्कुल साफ और बाधारहित होना, साथ ही इन सस्थानों को निरतर पर्याप्त शुद्ध वायु भी मिलते रहना।

श्वसन-क्रिया के विवरण में यह बताया जा चुका है कि किस प्रकार श्वासोच्छ्वास के समय वक्ष स्थल के आदोलन द्वारा रक्त शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोषों में भर जाता है और किस प्रकार वह शक्ति में परिणत होकर परिश्रम के समय काम आने के लिए उन कोषों में सचित रहता है। यह अनुभव की बात है कि एकाएक कठोर श्रम का भार आ पड़ने पर हम बरबस अपनी साँस रोक लेते यानी दम साध लेते हैं और इसके बाद हमें काफ़ी गहरी साँसें लेना पड़ता है। ऐसे मौक़ों पर हमारे वे अग, जिन पर श्रम का अधिक बोझ पड़ता है, रुधिर की लालिमा से रक्ताभ हो जाते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि हमारे साधारण रक्त परिभ्रमण के भीतर ही भीतर अन्य एक और प्रकार का रक्त-सचालन भी होता रहता है और उसका नियन्त्रण धमनियों की दीवार की बिचली पर्त की पेशियों द्वारा होता है। ये पेशियाँ वात-नाड़ियों के नियंत्रण में रहती हैं, अतएव आवश्यकता पड़ने पर इस व्यवस्था द्वारा शरीर के किसी भी भाग को चाहे रुधिर द्वारा एकदम परिप्लावित किया जा सकता है, चाहे पर्याप्त रुधिर की मात्रा से वचित भी रक्खा जा सकता है। उदाहरण के लिए, भोजन के बाद हमारे रुधिर का

शिराओं के कपाट या वाल्व रक्त को केवल एक ही दिशा में बहने देते हैं (अ) इस चित्र मे शिरा को काटकर उसके भीतर के कपाट या वाल्वो को उस दशा में दिखाया गया है जब उनमें हो कर रक्त एक दिशा में प्रवाहित होता रहता है। देखिए, कपाट खुल कर शिरा की दीवार से चिपक गए हैं। रक्त के बहाव की दिशा तीर के चिह्नों द्वारा दिखलाई गई है। (ब) रक्त ने पलटकर जो उलटी दिशा में बहने का प्रयास किया तो फ़ौरन् वाल्व या कपाट बंद हो गए। (स) इस चित्र में एक प्रधान शिरा और उसमें आकर जुड़नेवाली उपशिरा का मानचित्र है। देखिए, दोनों के संगम पर ऐसे कपाटों की व्यवस्था है कि रक्त एक ही ओर बहता रहे, पलटकर वापस उपशिरा में न आने पाये।
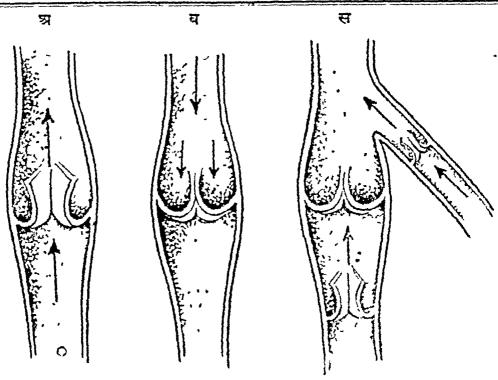
अधिकांश भाग आमाशय के क्षेत्र में प्रवाहित होता रहता है, और इसी तरह मनन करते समय मस्तिष्क के क्षेत्र में तथा दौड़ते समय पैरों में। ऐसे अवसरों पर इनकी अपेक्षा शरीर के अन्य भागों को कम रुधिर मिला करता है। यही कारण है कि भोजन करने के उपरान्त तुरन्त ही कठोर मानसिक परिश्रम वर्जित है।

हृदय की गति का आलेख लेने की विशिष्ट वैज्ञानिक पद्धतियों से लगाया जा सकता है। इस प्रकार न केवल हृदय की क्रिया-प्रक्रिया में असाधारणता की मात्रा का ही अंदाज लगाया जा सकता है, प्रत्युत् यह भी मालूम किया जा सकता है कि हृद्गत पेशियों के संचालन-कारी केन्द्रों में किस हद तक बिगाड़ हुआ है। ये बात-

धमनी और शिरा की रचना

बाईं ओर, एक धमनी और दाहिनी ओर एक शिरा को आड़ी काटकर उनके मानचित्र दिखाए गए हैं। देखिए शिरा की पर्तें विशेषकर मध्य पर्त्त धमनी की पर्त्तों से कितनी कम मोटी हैं।
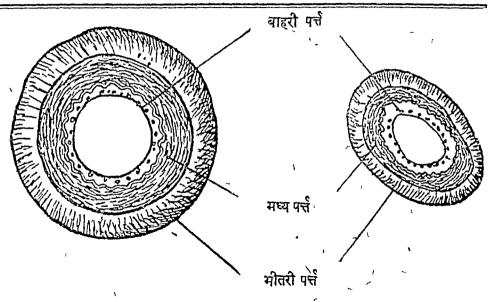
करता है अर्थात् वह उसकी गति तीव्र करने में योग देता है। अतएव सच तो यह है कि अधिकांश में 'हृदय की कमज़ोरी' की शिकायत नाड़ियों या वातसंस्थान की कमज़ोरी के कारण होती है न कि स्वयं हृदय की किसी ख़राबी या निर्बलता के कारण। प्रायः हमें शिथिलता, आँखों में अँधेरा छा जाना, चक्कर आना और इसी प्रकार की अन्य अप्रिय शिकायतें जो होने लगती हैं वे मूलत केन्द्रीय नाड़ी-मण्डल में गड़बड़ी के ही फलस्वरूप होती हैं जिसका कि प्रभाव नियंत्रक नाड़ियों द्वारा हृदय और उससे सलग्न रक्तवाहिनी नलिकाओं पर पड़ता है।

हृदय की भाँति धमनियों पर भी वात-नाड़ियों का शासन और नियन्त्रण है। यहाँ भी अनेक विशेष परि-स्थितियों के प्रभाव से, जैसे रस उत्पन्न करनेवाली ग्रंथियों के जमघट, विशिष्ट रासायनिक द्रव्यों की उपस्थिति, कार्बो-निक ऐसिड गैस के घनत्व आदि के कारण नियंत्रण करनेवाली नाड़ियों के रक्त नलिका-संकोचक अथवा प्रसारक सौत्रिक तंतु अधिक सक्रिय हो उठते हैं और फलत 'रक्त के दबाव' (Blood Pressure) अथवा रक्त के अपर्याप्त वितरण जैसी शिकायतें निगाह में आती हैं। बहुत सभव है कि शराब का एक प्रमुख प्रभाव धम-नियों का नियन्त्रण करनेवाली नाड़ियों के कार्य में बाधा उपस्थित कर देना हो। यही कारण है कि शराब पिए हुए का बदन ऊपर से लाल हो उठता है और ऐसा प्रतीत होता है मानों उसका रक्त ऊपर सिर की ओर दौड़ रहा हो। यदि ऐसा व्यक्ति बहुत देर तक किसी ठंढी जगह मे रहे तो बड़ी तेज़ी से वह अपने गर्माए हुए बदन की उष्णता खो बैठेगा और सभव है कि वह जान से भी हाथ धो बैठे। कई रोगों के विषों का भी ऐसा ही कुछ प्रभाव पड़ता है, जिससे कि रोगी या तो बेहद तेजी से गर्मी त्यागने लगता है या जितनी जल्दी चाहिए उतनी तेज़ी से नहीं त्याग पाता (और फलत. उसका तापमान बढ़ जाता है)। ज्योंही ऐसे रोग का दौरा समाप्त हुआ और रक्त-प्रणालियों की नाड़ियों का नियन्त्रण पुन ठीक हुआ त्योंही तापमान फिर सामान्य दशा पर आ जाता है। यह नाड़ीगत नियंत्रण, वस्तुत हमारी इच्छाशक्ति के परे की वस्तु है—उस पर हमारा बस नहीं है।

छोटी-छोटी रक्त प्रणालियों का आकुचन या प्रसार करनेवाली नाड़ियों की क्रिया-प्रक्रिया बहुत-कुछ रक्त में एड्रीनेलिन (Adrenalin) नामक द्रव्य की उपस्थिति या मात्रा पर निर्भर है जो कि दोनों गुर्दों के सिरों पर प्रस्तुत दो छोटी सी ग्रंथियों द्वारा निस्सरित एक रस है। कुछ जानवरों में से निकालकर यह रस दवा के रूप में भी काम में लाया जाता है, जिसका प्रयोग मुख्यत पेशियों की कार्यशीलता तथा रक्त के उपयुक्त दबाव को बनाए रखने के लिए होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रक्त-सचालन की क्रिया का समुचित नियंत्रण करने तथा प्रति मिनिट शरीर के हर भाग में शुद्ध रक्त की रसद-पूर्ति करते रहने मे नाड़ियाँ, विशिष्ट प्रकार की पेशियाँ और ग्रंथियाँ सभी महत्त्वपूर्ण भाग लेती हैं। विशेषता केवल यह है कि नाड़ियाँ तत्काल कार्य करती हैं और ग्रंथियाँ धीरे-धीरे, किन्तु वे अपना काम करती हैं मुस्तैदी के साथ।

हम हमेशा कहते हैं—हमारा हाथ, हमारा पैर, हमारी आँखें आदि। लेकिन अगर शरीर का एक-एक कण हमारा है तो यह 'हम'—इन सारी चीजों का स्वामी यह 'हम'—कौन सा है? स्वत्वाधिकारी और उसकी चीजें अवश्य ही एक नहीं हैं। तो फिर इन दो चीजों में कैसा संबंध है, जिन्हें हम मन और शरीर कहते हैं?

यही प्रश्न डेकार्टे नामक दार्शनिक के दिमाग़ में भी उठा था और उसने यह सिद्धान्त तय किया कि मन और शरीर यद्यपि दो भिन्न वस्तुएँ हैं—एक 'पदार्थ' है और दूसरा 'न-पदार्थ' है, फिर भी दोनों में कुछ ऐसा संबंध है कि एक की क्रिया का सीधा असर दूसरे पर होता रहता है। और मन की शरीर पर तथा शरीर की मन पर ये क्रिया-प्रतिक्रियाएँ पिनियल नामक ग्रन्थि की मध्यस्थता से होती रहती हैं। इतने से सन्तुष्ट न होकर उसने यह भी कह दिया कि इस संबंध को क़ायम करनेवाला परमात्मा है। यह मन और शरीर का आन्तरक्रियावादी सिद्धान्त कहलाता है।

आन्तरक्रियावादी सिद्धान्त का प्रतिपादक डेकार्टे

किन्तु इस सिद्धान्त ने सबसे बड़ी मुश्किल जो पैदा की वह यह थी कि इससे आधुनिक विज्ञान के शक्ति की नित्यता के सिद्धान्त का एकबारगी उल्लंघन हो जाता है। शक्ति नित्य है, वह अपना रूप बदल सकती है, लेकिन नष्ट नहीं हो सकती। शरीर एक भौतिक वस्तु है, पदार्थ है। मन कोई भौतिक चीज नहीं। उसकी स्थिति के लिए स्थान और काल की आवश्यकता नहीं। वह न-पदार्थ है। फिर ये दो सर्वथा भिन्न चीजें किस प्रकार एक दूसरे पर असर डाल सकती हैं? अगर पदार्थ मन पर क्रिया करना चाहता है तो उसे मन ही हो जाना पड़ेगा, अर्थात् वह न-पदार्थ हो जायगा। किन्तु ऐसा होना असंभव है। ठीक उसी प्रकार मन को भी शरीर पर प्रभाव डालने के लिए शरीर हो जाना पड़ेगा, यानी पदार्थ बनना पड़ेगा। यह भी उतना ही असभव है।

और यहाँ पर आकर आन्तरक्रियावादी सिद्धान्त का दिवाला निकल जाता है। फिर सवाल जहाँ का तहाँ रह जाता है—तो फिर मन और शरीर का आपस में क्या सम्बन्ध है?

इस प्रश्न का उत्तर हालैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक स्पिनोजा ने दिया। स्पिनोज़ा ने कहा—'विचित्र बात है! एक मामूली-सी बात डेकार्टे जैसे विद्वान् की समझ में नहीं आई! भई, आख़िर न-पदार्थ (मन) पदार्थ (शरीर) से टक्कर लेने क्यों जाने लगा? क्या ज़रूरत है कि ये दोनों आपस में एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया की झंझट में फँसने जायँ? डेकार्टे के जिस 'भगवान्' ने आन्तर-क्रिया की व्यवस्था की वह इतना मन्दबुद्धि नहीं था कि विद्वानों के प्रिय सिद्धान्त 'शक्ति की नित्यता' का उल्लंघन कराके उसे दुःख पहुँचाता। आदम को स्वर्ग से पृथ्वी पर भेजकर ही क्या उसने इस आदमी को कम तकलीफ दी थी! आपने दो घड़ियों को एक साथ चलते देखा होगा। अगर आपकी रिस्ट-वाच में सात बजकर पन्द्रह मिनट हो रहे हैं तो आपकी टाइप-पीस में भी ठीक सात बजकर पन्द्रह मिनट हुए हैं! तो क्या आप इससे यह कहना चाहते हैं कि चूँकि दोनों घड़ियाँ एक साथ, एक ही तरह से चल रही हैं इसलिए पहली घड़ी दूसरी पर और दूसरी पहली पर क्रिया-प्रतिक्रिया कर रही है?

यहाँ पर आपको स्पिनोज़ा के तर्क की सचाई माननी पड़ेगी और आप उत्तर देंगे—'नहीं'। इस पर स्पिनोज़ा समझाता है कि ठीक इस रिस्ट-वाच और उस टाइम-पीस

इसी तरह मन और शरीर भी एक दूसरे से उसी तरह भिन्न होते हुए भी एक दूसरे की तरह ही काम कर रहे हैं। जब मन खुश होता है तो शरीर हँसता है, जब शरीर नशे में होता है तो पैर के लड़खड़ाने के साथ मन भी लड़खड़ाने लगता है। और जिस तरह दोनों घड़ियाँ एक दूसरे पर क्रिया नहीं कर रही हैं, उसी तरह ये दोनों भी अलग अलग ही काम कर रहे हैं—लेकिन एक साथ, एक ही तरीक़े से, बिल्कुल समानान्तर। दोनों ही के डायल सात बजकर पन्द्रह मिनट दिखा रहे हैं।

इस मत ने मन और शरीर के समानान्तरवाद का नाम धारण किया। इसकी खूबी यही है कि शक्ति की नित्यता के सिद्धान्त पर जो चोट पहुँचती थी वह साफ़ बच गई।

पर आपको भी कोई क्या कहे जो पूछ ही बैठे—'तो ये दोनों घड़ियाँ एक साथ क्यों काम करती हैं?'

समानान्तरवाद का प्रतिपादक स्पिनोज़ा

स्पिनोज़ा ने छूटते ही जवाब दिया—'क्योंकि घड़ीसाज़ ने दोनों को एक ही समय और एक ही तरह से काम करने के लिए व्यवस्थित कर दिया है। मन और शरीर की यह व्यवस्था परमात्मा ने प्रारंभ से ही कर दी है।'

क्या अच्छा जवाब है!

और बहुत दिनों तक बड़े-बड़े दार्शनिक भी इसी सिद्धान्त को ठीक मानते रहे। [illegible] ने [illegible] सीधे इस [illegible] देखा, फिर भी [illegible] लाभ नहीं

'शक्ति की नित्यता' को यह हानि नहीं पहुँचाता, इसलिए आपको इसमें कोई नाराज़ी नहीं हुई। अन्यथा स्पिनोज़ा का जो ईश्वर इतना शक्तिशाली है कि दोनों को एक दूसरे के समानान्तर व्यवस्थित कर सकता है तो डेकार्ट का ईश्वर इतना कमज़ोर नहीं जो अपनी ही बनाई हुई सृष्टि में अपनी ही बनाई हुई दो चीज़ों को एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करने को बाधित न कर सके, चाहे दोनों लाख एक दूसरे से भिन्न रहें, और चाहे शक्ति की नित्यता जैसे हज़ार सिद्धान्त इसके नीचे कुचलते रहें।

और फिर हम लौटकर उसी प्रश्न पर पहुँच जाते हैं—तो आखिर मन और शरीर में आपसी संबंध क्या है?

उत्तर में हमारे देश के एक प्रमुख मनोवैज्ञानिक डा० गिरीन्द्रशेखर बोस ने कहा—'आदमी का मन सर्वदा उत्सुक है। और वह जानकर ही रहेगा। अगर हमारे अन्दर यह प्रवृत्ति नहीं होती तो ज्ञान विज्ञान का कहीं नामोनिशान भी नहीं रहता। और न वायुयान जैसी भारी चीज़ आकाश मार्ग से एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करती।'

उन्होंने यह दलील दी कि यदि [illegible] [illegible] का सबेरे [illegible] [illegible] में [illegible] 'ग्रीन [illegible]' का एक [illegible] [illegible] के पेट में [illegible] और [illegible] कि इस [illegible] से [illegible] तो इसके [illegible] हैं, [illegible]

एक भौतिक, दूसरा मानसिक। जब एक वस्तु किसी दूसरी वस्तु पर कार्य करती है तो उसका भौतिक पहलू दूसरी के भौतिक पहलू और उसका मानसिक पहलू दूसरी के मानसिक पहलू पर क्रिया करता है।

इस सिद्धान्त का नाम उन्होंने सर्व-मना-सहचारवाद दिया है। अंग्रेज़ी में इसका नाम इतना बड़ा है कि वह स्वयं एक आश्चर्य की चीज़ है, इसलिए उसका उल्लेख करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता। वह है Pan-Psychic-psycho-Physical parallelism। इसका हिन्दी अनुवाद होगा—"सर्व-मना-मनोशारीरिक-सहचारवाद (या समानान्तरवाद)"।

ऊपरवाले उदाहरण में शराब के अन्दर दो पहलुओं का होना माना गया है। जब मिस्टर शॉ शराब को गले के नीचे उतारते हैं तो उसका भौतिक पहलू शॉ के शरीर पर असर करता है, और उनके पैर लड़खड़ाना आदि उनके शारीरिक आचरण होते हैं। और उनका मानसिक पहलू नशे के रूप में उनके मन पर असर करता है और उनकी विचार-बुद्धि को भ्रष्ट करता है, तथा ज्ञान-शक्ति, इच्छा-शक्ति और नियंत्रण-शक्ति की सारी शृंखला ही बिखेर देता है।

इस सिद्धान्त का महत्व केवल इतना है कि यह साधारण मनोशारीरिक-सहचारवाद से एक क़दम आगे बढ़कर सहचारवाद को तो मानता है, लेकिन अपने अन्दर प्रच्छन्न रूप में आन्तरक्रियावाद के सिद्धान्त को भी थोड़ा प्रश्रय देता है। सच पूछिए तो यह भी कोई ख़ास दूर तक हमें कहीं नहीं ले जाता और इसका वास्तविक मूल्य केवल यही है कि और-और बहुत-से ऐसे सिद्धान्तों की तरह, जिनकी परीक्षा सीधे तौर पर ज्ञानेन्द्रियों अथवा माप-यन्त्रों के द्वारा नहीं की जा सकती, यह भी एक सिद्धान्त है और इसमें कल्पना कुछ और भी आगे तक बढ़ी हुई है।

इसी की तरह कल्पनापूर्ण एक और भी सिद्धान्त है जो मैं अपने दोस्तों को एक दिन बता रहा था। ऊपर की सामग्री ने अवश्य ही आपके भीतर यह भाव पैदा किया होगा कि जब यह सारी बात निरर्थक है तो यह बहस ही क्यों उठाई जाय! मैंने इसका जवाब ऊपर दे दिया है, अर्थात् मानव-बुद्धि की अत्यधिक उत्सुकता। तो मैंने यह सिद्धान्त दिया है कि आप चाहे हजार बार शक्ति की नित्यता को ठीक मानते रहें, और बार-बार परीक्षणों द्वारा इसकी सत्यता सिद्ध करते रहें, फिर भी यह सिर्फ़ एक सिद्धान्त है जो आपकी उस दुनिया में लागू है, जिसे आप नैसर्गिक रूप में देख रहे हैं। हो सकता है, नैसर्गिकोत्तर दुनिया में यह नहीं खट सके। यह तो हमारे ऊपर के झगड़े से ही साबित है। संभव है कि मन शरीर पर और शरीर मन पर सच ही सीधे-सीधे क्रिया-प्रतिक्रिया करते हों। कम-से कम इन सारी क्रिया-प्रतिक्रियाओं का बाह्य प्रतिरूप हम हरदम देख रहे हैं। मन का प्रभाव शरीर पर और शरीर का मन पर बराबर हो रहा है। लेकिन अगर आपको शक्ति की नित्यतावाला सिद्धान्त ऐसा ही प्रिय है तो आप मन को भी एक भौतिक पदार्थ क्यों नहीं मान सकते? अगर ईथर का होना सत्य कहकर माना जा सकता है तो यह भी कोई उतना बुरा नहीं। यह आश्चर्य हर आदमी रोज़ देखता है कि हर तरह से निर्जीव भोजन जो हम लोग खाते हैं वह शरीर के अन्दर जाकर सजीव बन जाता है। शायद युधिष्ठिर ने कुछ अधिक दिमाग़ से काम लिया होता तो इसी पर 'किम् आश्चर्यमत परम्' कहा होता और यक्ष भी सन्तुष्ट हो जाता! यदि यह संभव है तो मन को भी पदार्थ मान लेना कोई वैसा आश्चर्यजनक नहीं। बहुत-सी ऐसी चीज़ें हैं जिन्हें हम किसी तरह नंगी आँखों से नहीं देख सकते, उन्हें ख़ुर्दबीन से देख लेते हैं, और उससे भी अधिक शक्तिशाली ख़ुर्दबीन से और भी बहुत-सी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चीज़ें देखते हैं। अभी तक किसी ने इतना शक्तिशाली अणुवीक्षण यन्त्र नहीं बनाया कि मन को देखा जा सके, वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है और उससे भी सूक्ष्मतम है। लेकिन मान लीजिए कि वह भी पदार्थ ही है, ठीक उसी तरह जिस तरह आपका शरीर एक भौतिक पदार्थ है। और तब आप बख़ुशी कह सकते हैं कि मन और शरीर का आपसी संबंध आन्तरक्रियावादी है। मैंने इस सिद्धान्त का कोई नाम नहीं दिया है, इसलिए कि पहले ही से इस क्षेत्र में नामों की कमी नहीं और इसलिए भी कि लोग मेरे नाम से इसे याद न करने लग जायँ कहीं!

इतना जान लेना अत्यंत आवश्यक था, इसके पहले कि आप मनोविज्ञान को समझने के लिए आगे बढ़ सकें। क्योंकि अगर मन और शरीर के आपसी संबंध को अच्छी तरह समझे बिना आप आगे बढ़ने की कोशिश करेंगे तो शायद सब समाप्त करने पर भी आपके लिए यही कहावत लागू हो कि सारी रामायण समाप्त कर जाने पर भी आप नहीं जानते कि सीता कौन थी!

एक भौतिक, दूसरा मानसिक। जब एक वस्तु किसी दूसरी वस्तु पर कार्य करती है तो उसका भौतिक पहलू दूसरी के भौतिक पहलू और उसका मानसिक पहलू दूसरी के मानसिक पहलू पर क्रिया करता है।

इस सिद्धान्त का नाम उन्होंने सर्व-मना-सहचारवाद दिया है। अंग्रेज़ी में इसका नाम इतना बड़ा है कि वह स्वय एक आश्चर्य की चीज़ है, इसलिए उसका उल्लेख करने का लोभ मैं सवरण नहीं कर सकता। वह है Pan-Psychic-psycho-Physical parallelism। इसका हिन्दी अनुवाद होगा—"सर्व-मना-मनोशारीरिक-सहचारवाद (या समानान्तरवाद)"।

ऊपरवाले उदाहरण में शराब के अन्दर दो पहलुओं का होना माना गया है। जब मिस्टर शॉ शराब को गले के नीचे उतारते हैं तो उसका भौतिक पहलू शॉ के शरीर पर असर करता है, और उनके पैर लड़खड़ाना आदि उनके शारीरिक आचरण होते हैं। और उनका मानसिक पहलू नशे के रूप में उनके मन पर असर करता है और उनकी विचार-बुद्धि को भ्रष्ट करता है, तथा ज्ञान-शक्ति, इच्छा-शक्ति और नियन्त्रण-शक्ति की सारी शृंखला ही बिखेर देता है।

इस सिद्धान्त का महत्व केवल इतना है कि यह साधारण मनोशारीरिक-सहचारवाद से एक क़दम आगे बढ़कर सहचारवाद को तो मानता है, लेकिन अपने अन्दर प्रच्छन्न रूप में आन्तरक्रियावाद के सिद्धान्त को भी थोड़ा प्रश्रय देता है। सच पूछिए तो यह भी कोई ख़ास दूर तक हमें कहीं नहीं ले जाता और इसका वास्तविक मूल्य केवल यही है कि और-और बहुत-से ऐसे सिद्धान्तों की तरह, जिनकी परीक्षा सीधे तौर पर ज्ञानेन्द्रियों अथवा माप-यन्त्रों के द्वारा नहीं की जा सकती, यह भी एक सिद्धान्त है और इसमें कल्पना कुछ और भी आगे तक बढ़ी हुई है।

इसी की तरह कल्पनापूर्ण एक और भी सिद्धान्त है जो मैं अपने दोस्तों को एक दिन बता रहा था। ऊपर की सामग्री ने अवश्य ही आपके भीतर यह भाव पैदा किया होगा कि जब यह सारी बात निरर्थक है तो यह बहस ही क्यों उठाई जाय! मैंने इसका जवाब ऊपर दे दिया है, अर्थात् मानव-बुद्धि की अत्यधिक उत्सुकता। तो मैंने यह सिद्धान्त दिया है कि आप चाहे हज़ार बार शक्ति की नित्यता को ठीक मानते रहें, और बार-बार परीक्षणों द्वारा इसकी सत्यता सिद्ध करते रहें, फिर भी यह सिर्फ एक सिद्धान्त है जो आपकी उस दुनिया में लागू है, जिसे आप नैसर्गिक रूप में देख रहे हैं। हो सकता है, नैसर्गिकोत्तर दुनिया में यह नहीं खट सके। यह तो हमारे ऊपर के झगड़े से ही साबित है। संभव है कि मन शरीर पर, और शरीर मन पर सच ही सीधे-सीधे क्रिया-प्रतिक्रिया करते हों। कम-से कम इन सारी क्रिया-प्रतिक्रियाओं का बाह्य प्रतिरूप हम हरदम देख रहे हैं। मन का प्रभाव शरीर पर और शरीर का मन पर बराबर हो रहा है। लेकिन अगर आपको शक्ति की नित्यतावाला सिद्धान्त ऐसा ही प्रिय है तो आप मन को भी एक भौतिक पदार्थ क्यों नहीं मान सकते? अगर ईथर का होना सत्य कहकर माना जा सकता है तो यह भी कोई उतना बुरा नहीं। यह आश्चर्य हर आदमी रोज़ देखता है कि हर तरह से निर्जीव भोजन जो हम लोग खाते हैं वह शरीर के अन्दर जाकर सजीव बन जाता है। शायद युधिष्ठिर ने कुछ अधिक दिमाग़ से काम लिया होता तो इसी पर 'किम् आश्चर्यमत परम्' कहा होता और यक्ष भी सन्तुष्ट हो जाता। यदि यह संभव है तो मन को भी पदार्थ मान लेना कोई वैसा आश्चर्यजनक नहीं। बहुत-सी ऐसी चीज़ें हैं जिन्हें हम किसी तरह नंगी आँखों से नहीं देख सकते, उन्हें ख़ुर्दबीन से देख लेते हैं, और उससे भी अधिक शक्तिशाली ख़ुर्दबीन से और भी बहुत-सी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चीज़ें देखते हैं। अभी तक किसी ने इतना शक्तिशाली अणुवीक्षण यन्त्र नहीं बनाया कि मन को देखा जा सके, वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है और उससे भी सूक्ष्मतम है। लेकिन मान लीजिए कि वह भी पदार्थ ही है, ठीक उसी तरह जिस तरह आपका शरीर एक भौतिक पदार्थ है। और तब आप बख़ुशी कह सकते हैं कि मन और शरीर का आपसी संबध आन्तरक्रियावादी है। मैंने इस सिद्धान्त का कोई नाम नहीं दिया है, इसलिए कि पहले ही से इस क्षेत्र में नामों की कमी नहीं और इसलिए भी कि लोग मेरे नाम से इसे याद न करने लग जायँ कहीं!

इतना जान लेना अत्यत आवश्यक था, इसके पहले कि आप मनोविज्ञान को समझने के लिए आगे बढ़ सकें। क्योंकि अगर मन और शरीर के आपसी संबंध को अच्छी तरह समझे बिना आप आगे बढ़ने की कोशिश करेंगे तो शायद सब समाप्त करने पर भी आपके लिए यही कहावत लागू हो कि सारी रामायण समाप्त कर जाने पर भी आप नहीं जानते कि सीता कौन थी!

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, आर्थिक स्वदेशहित तथा औद्योगिक संरक्षण की नीति

यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि आज की अधिकांश अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याएँ शक्तिशाली देशों की स्वार्थमूलक व्यापार-नीति की ही उपज हैं। बल्कि यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि आजकल जो भीषण युद्ध-ज्वाला संसार में धधक रही है उसका भी प्रधान कारण यह स्वहितमूलक व्यापार-नीति ही है। आइए, इस लेख में आपको संक्षेप में बतलाएँ कि भिन्न-भिन्न देश इस नीति को सफल बनाने के लिए किस प्रकार पैंतरे बदलते हैं।

पिछले दो लेखों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रारम्भकाल तथा विस्तार की कहानी आपको सुनाई जा चुकी है। इस सम्बन्ध में निर्वाधित व्यापार मत के प्रचार, पालन, विरोध तथा उसके खण्डन का इतिहास भी बतलाया गया था। निर्वाधित व्यापार मत को अपनाने अथवा उसका विरोध करने का वास्तविक कारण अपने-अपने देश की आर्थिक उन्नति अथवा आर्थिक स्वदेशहित की चेष्टा थी। परन्तु आर्थिक स्वदेशहित मत का प्रचार अथवा निर्वाधित व्यापार मत का विरोध ही किसी देश की आर्थिक उन्नति करने के लिए पर्याप्त नहीं था। आर्थिक स्वदेशहित की नीति को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक था कि विदेशी व्यापार को रोकने के साथ साथ अपने देश की कला, उद्योग तथा व्यापार की उन्नति की सुसगठित योजना तैयार की जाय और उसको सफलीभूत बनाने की पूर्ण चेष्टा की जाय। इस क्रम को पूर्ण रूप से समझने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी आर्थिक स्वदेशहित नीति के दो पहलुओं पर विचार करना आवश्यक है। इनमें पहला है अन्य देशों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को घटाने और स्वदेश में विदेशी माल को रोकने का प्रयत्न करना अथवा स्वदेशी उद्योग-धन्धों की विदेशी माल से रक्षा के उपाय करना और दूसरा है स्वदेशी धन्धों और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को विस्तीर्ण बनाने के उपाय करना। स्वदेशी उद्योग-धन्धों के संरक्षण तथा उन्नति की नीति और क्रम भिन्न-भिन्न देशों में वहाँ की परिस्थिति तथा उनकी समस्याओं के अनुसार समय-समय पर बदलते रहे हैं। उद्योग-संरक्षण के महान् प्रयत्न में पारस्परिक समझौता, बहिष्कार, तथा राष्ट्रीय निषेध इत्यादि सभी उपायों का सहारा लिया गया है। इसके साथ-साथ उद्योग की उन्नति के लिए प्रचार, राष्ट्रीय सहायता, पदार्थ मूल्य-निर्णय, व्यापारिक सुविधाएँ तथा सिक्के के दर के घटाने-चढ़ाने इत्यादि का भी अवलम्ब लिया गया है। आइए, संक्षेप में इन पर विचार करें।

संरक्षण-कर अथवा आयात-कर

विदेशी पदार्थों के आयात को कम करने अथवा बन्द करने के लिए सबसे सरल उपाय के रूप में संरक्षण-कर अथवा आयात-कर का प्रयोग किया गया। स्वदेशी पदार्थों के बिक्री-दर और विदेशी पदार्थों के आयात-मूल्य दर के अन्तर के बराबर पदार्थों पर आयात-कर लगाया जाता था। इसमें प्रयोजन यह था कि विदेशी पदार्थ देश में सस्ते मूल्य पर न बिक सकें। विदेशी पदार्थों को आयात-कर द्वारा स्वदेशी पदार्थों की अपेक्षा महँगा बना दिया जाता था और इस प्रकार राष्ट्रनीति के सहारे उन विदेशी पदार्थों का आयात बन्द हो जाता था। इस नीति का पालन उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी में जर्मनी, संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) तथा फ्रांस में हुआ।

इस नीति के पालन में कभी-कभी दो राष्ट्रों में अनबन

तथा पारस्परिक व्यापारिक द्वन्द्व भी छिड़ जाता था। कारण यह था कि जब एक देश के पदार्थों के निर्यात अथवा बिक्री पर दूसरे देश में कर द्वारा रुकावट डाली जाती थी तो पदार्थ भेजनेवाले देश के व्यापार को उस सीमा तक हानि अवश्य होती थी और फिर वह राष्ट्र अपने व्यापार तथा उद्योग को बनाए रखने के लिए नाना प्रकार के उपायों का सहारा लेने के लिए विवश हो जाता था। यदि निषेध लगानेवाले देश से अन्य पदार्थ निर्यात करनेवाले देश मे जाते हैं तो अवश्य ही वह देश प्रतिरोधस्वरूप उस देश के निर्यात को अपने देश मे रोक देगा। इसका उदाहरण भारतवर्ष के कपड़े के व्यापार के इतिहास मे मिल सकता है। जब भारतीय धारासभा ने ओटावा पैक्ट (Ottawa Pact) के अनुसार जापानी कपडे पर अँग्रेज़ी कपड़े की अपेक्षा अधिक कर लगाना निश्चय किया तो जापानी राष्ट्र ने तुरन्त ही जापान में भारतवर्ष की रुई के आयात की मनाही की धमकी दी थी। केवल इतना ही नहीं वरन् साल भर के अन्दर जापान ने भारत से रुई न लेने के विचार को कार्यरूप में भी परिणत कर दिखाया था। इस प्रकार के व्यापारिक प्रतिरोध के अनेकानेक उदाहरण संसार के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में मिल सकते हैं। यदि ऐसे प्रतिरोधों का अन्त पारस्परिक समझौते से हुआ तो नवीन समझौते के अनुसार पुनः शान्तिमय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनों देशों में चलने लगता है। सन् १९३४ में जापान के प्रतिकार के पश्चात् भारत तथा जापानी राष्ट्र में इसी प्रकार का एक समझौता हो गया था, जिसको 'भारत जापान व्यापारिक-समझौता' (Indo-Japanese Trade Agreement) कहते हैं। इस समझौते के द्वारा दोनों देशों में पदार्थों के आयात-निर्यात की मात्रा निश्चित कर ली गई थी, जिससे उद्योग तथा उत्पादन शक्ति का ह्रास भी न हो और आवश्यक आयात भी हो सके। पारस्परिक समझौते द्वारा इस प्रकार दो देशों का व्यापारिक द्वन्द्व नहीं हो पाता, लेकिन यदि समझौता न हुआ तो अन्य उपायों तथा प्रतिकारों द्वारा एक देश दूसरे देश को अपनी नीति बदलने के लिए विवश कर देता है।

मुद्रा-विनिमय-दर

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-क्षेत्र में आयात-निर्यात-कर से अधिक महत्त्ववाली शक्ति सिक्के के मूल्य का दर होती है। इसके द्वारा भी आयात रोक सकते हैं और निर्यात की वृद्धि कर सकते हैं, अथवा आयात-कर को निरर्थक बना सकते हैं। सिक्के के विनिमय-दर के सम्बन्ध में दो बातों का जानना बहुत आवश्यक है। प्रथम यह कि दोनों देश एक ही धातु के सिक्के काम में लाते हैं अथवा नहीं। उदाहरणार्थ क्या दोनों देशों मे सोने का सिक्का ही प्रमाणित सिक्का है जैसे फ्रांस और अमेरिका में, अथवा दोनों मे चाँदी का सिक्का ही प्रमाणित तथा सर्वमान्य सिक्का है, जैसे भारत, चीन अथवा जापान में? यदि दोनों देशों में सिक्के एक ही धातु के हों तब तो सिक्के का विनिमय दर दोनों सिक्कों की धातु-मात्रा के अनुसार होगा, जैसा कि फ्रांस के फ्रेन्क और अमेरिका के डॉलर का विनिमय-दर फ्रेन्क-डॉलर में सोने की मात्रा के अनुकूल होता है। इसी प्रकार शुद्ध चाँदी के दो सिक्कों का भी विनिमय दर निश्चय हो सकता है। इस प्रकार के सरल विनिमय में यह मान लिया जाता है कि दोनों राष्ट्र अपने सिक्के तथा बहुमूल्य धातु के आयात-निर्यात पर कोई निषेध नहीं लगाएँगे। ताकि यदि किसी कारण से सिक्के का धातु-विनिमय-दर घट जाय अथवा बढ़ जाय तो सिक्के के स्थान पर धातु भेज दी जाय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का हिसाब चुका दिया जाय। परन्तु सिक्का-विनिमय-दर का प्रश्न उस समय जटिल हो जाता है जब दो देश भिन्न-भिन्न धातु के सिक्के व्यवहार में लाते हैं। यदि दोनों सिक्के शुद्ध धातु के हों तब तो धातु-मूल्य दर के अनुसार एक सिक्के का धातु-मूल्य दूसरे सिक्के के धातु-मूल्य के आधार पर लगाया जा सकता है। परन्तु वास्तविक संकट यह है कि कुछ देशों के सिक्के शुद्ध धातु के नहीं होते वरन् बहुमूल्य धातु में सस्ती धातु को मिलाकर बनाए जाते हैं, और उनका व्यावहारिक मूल्य राष्ट्र द्वारा निश्चित कर दिया जाता है। भारतवर्ष का 'रुपया' इसका जीता-जागता उदाहरण है। इस रुपए में पूरे एक तोला (रुपये का भार) चाँदी नहीं होती। उसमें अन्य सस्ती धातुएँ मिश्रित होती हैं। यदि इस रुपए का धातु मूल्य लगाया जाय तो सरकारी विनिमय-दर से कहीं कम होगा। ऐसी अवस्था में विनिमय-दर राष्ट्र द्वारा निश्चित कर दिया जाता है और धातु मूल्य का प्रभाव बहुत अंश तक शिथिल हो जाता है। यह भी कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से इस प्रकार के सिक्के नितान्त व्यर्थ हैं। उनका चलन केवल देश के अन्दर ही हो सकता है, जहाँ राष्ट्र की आज्ञा जनता को सिक्का निश्चित दर पर लेने के लिए बाध्य कर सकती है। भारतवर्ष में ठीक यही दशा है। यहाँ के रुपए का मूल्य

इँगलैंड के स्टर्लिङ्ग के एक शिलिङ्ग छः पेन्स के बराबर राष्ट्र द्वारा निश्चित कर दिया गया है। इस प्रकार देश के सिक्के का दर घटाने से देश के बने हुए माल का मूल्य अन्य देश के सिक्कों की तुलना में कम हो जाता है और विदेश के बने हुए माल का मूल्य अपने देश के सिक्के की तुलना में बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए यों समझ सकते हैं कि जब रुपए के दर को एक शिलिंग चार पेन्स से बढ़ाकर एक शिलिंग छ पेन्स कर दिया गया तो अँगरेजी माल प्रति रुपया दो पेन्स सस्ता हो गया। पहले यदि हमें एक शिलिंग चार पेन्स मूल्य के माल के बदले एक रुपया देना पड़ता था तो अब वही एक रुपया एक शिलिंग छ पेन्स के मूल्य का माल ख़रीदने में लगा। यदि सिक्के का दर बढाने के बदले घटा दिया जाय अर्थात् एक शिलिंग चार पेन्स के बदले एक शिलिंग दो पेन्स कर दिया जाय तो विदेशी माल भारतवर्ष में दो पेन्स प्रति रुपया महँगा हो जायगा। विदेशी माल के सस्ता होने से यहाँ उस माल की बिक्री देशी माल की अपेक्षा बढ़ जाती है, क्योंकि व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता में विदेशी माल अब सस्ता हो जाता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न देश व्यापार-वृद्धि के लिए दूसरे देशों के सिक्कों का विनिमय-मूल्य बढ़ा देते हैं। ठीक यही घटना सन् १९३० के व्यापारिक संकट के समय घटी थी। फ्रान्स, जर्मनी, इटली, इँगलैंड, जापान और सयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) में अपने सिक्के के अन्तर्राष्ट्रीय दर घटाने की ऐसी प्रतिद्वन्द्विता चली थी और उसकी सीमा यहाँ तक बढ़ी थी कि जापान ने भारतवर्ष के रुपए के पिछले विनिमय-दर की अपेक्षा अपने येन का विनिमय-दर ७५ प्रतिशत घटा दिया था। फलत जापानी माल भारतवर्ष में बहुत सस्ता हो गया था और बम्बई तथा अहमदाबाद की रुई की मिलों की दशा बहुत सकटपूर्ण हो गई थी। साराश यह कि विदेशी माल के आयात को रोकने के लिए प्राय राष्ट्र अपने सिक्के के दर को घटा देते हैं।

'क्रय-शक्ति की समता'

यहाँ पर यह बात समझ लेने की है कि आयात-कर अथवा सिक्के का विनिमय दर देश के व्यापार को केवल अल्पसामयिक सहायता दे सकते हैं और कुछ समय के बाद उनका लाभदायक प्रभाव नष्ट हो जाता है। इस क्रम को निम्न प्रकार से समझ सकते हैं। आयात-कर अथवा सिक्के का दर विदेशी माल को महँगा बना देता है, जिसका प्रभाव यह होता है कि देश में कर लगाए हुए पदार्थों का मूल्य स्वभावत बढ़ जाता है, जिससे रहन-सहन का ख़र्च बढ जाता है। रहन सहन का ख़र्च बढ़ने से कारख़ानों के मजदूरों की मजदूरी बढ़ानी पड़ती है। फिर एक प्रकार के पदार्थ के मूल्य के बढाने से अन्य पदार्थों का मूल्य भी बढ़ जाता है। सिक्के के दर के घटने से विदेशी मशीन, कच्चा माल, उत्पादन पदार्थ इत्यादि का भी मूल्य बढ जाता है और क्रमश इन कारणों से देशी पदार्थों का मूल्य पुन विदेशी पदार्थों के मूल्य के बराबर हो जाता है और आयात-कर अथवा सिक्के के दर से सहायता लेना फिर आवश्यक हो जाता है।

निर्वाधित व्यापार के अन्तर्गत यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को केवल आर्थिक प्रवृत्तियों पर छोड़ दिया जाय तो भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अपनी स्वाभाविक आर्थिक वृत्ति के अनुसार चलने लगता है और अल्प-कालिक असाधारण वृत्तियाँ आर्थिक चक्र द्वारा पुन पूर्वस्थिति को प्राप्त हो जाती हैं। इस तर्क को सरल भाषा में यों समझ सकते हैं कि यदि किसी देश में पदार्थ का मूल्य अधिक होने से आयात बढ़ जाय (क्योंकि ऐसी आर्थिक दशा में विदेशी व्यापारी को ऐसे देश में पदार्थ बेचने में अधिक लाभ होगा) तो इस प्रवृत्ति का प्रतिफल यह भी होगा कि उस देश का निर्यात घट जायगा। पदार्थ-मूल्य बढ़ने के कई कारण हो सकते हैं। एक बहुत साधारण तो यह है कि यदि देश में चलित मुद्रा की सख्या आवश्यकता से अधिक हो जाय तो पदार्थ-मूल्य मुद्रा के विनियम में बढ जाता है। ऐसी आर्थिक अवस्था में दो प्रवृत्तियाँ अवश्य प्रबल होंगी। पहली तो यह कि विदेशी पदार्थ बड़ी संख्या में आ जाने से सम्पूर्ण पदार्थों की सख्या देश की आवश्यकता से बढ़ जायगी और व्यापार के साधारण नियमानुसार ऐसी अवस्था में पदार्थ का मूल्य गिरने लगेगा और दूसरे देशों को निर्यात में अधिक लाभ न होगा। दूसरे यह कि आयात बढ़ने से देश का धन अधिक लग जायगा और इसलिए चलित मुद्रा की सख्या घट जाएगी और इसका भी प्रभाव यही होगा कि पदार्थ-मूल्य घट जाएगा। कभी कभी आयात तथा निर्यात के मूल्यस्वरूप धन बाहर जाने और आने का प्रभाव बैंक-दर के द्वारा भी प्रकट हो जाता है। इसको यों समझ सकते हैं कि आयात बढ़ने से और उसके फलस्वरूप रुपया बाहर जाने से उसकी सख्या कम हो जाती है और बैंक का सूद-दर बढ़

जाता है। बैंक का सूद-दर बढ़ने से विदेशी व्यापारियों को इस देश के बैंकों मे रुपया रखने से अधिक लाभ होता है और इस प्रकार विदेश का धन इस देश में थाती के रूप मे आने लगता है। रुपए की सख्या बढ़ने से बैंक दर फिर गिर जाता है और पदार्थ-मूल्य बढ जाता है। ठीक ऐसा ही निर्यात के बढ़ने से होता है। इस प्रकार इन आर्थिक प्रवृत्तियों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-क्षेत्र में समता स्थापित रहती है। इसी आर्थिक व्यापार-चक्र को 'पदार्थ मोल लेने के सामर्थ्य अथवा क्रय-शक्ति की समता' (Purchasing Power Parity) कहते हैं। इस स्वाभाविक आर्थिक गति के कार्य को राष्ट्र द्वारा सिक्के के निश्चित दर अथवा आयात-कर द्वारा रोक दिया जाता है; जिससे लाभ पहुँचानेवाली परिस्थितियों का शीघ्र ही ह्रास न हो और देश निरन्तर व्यापार लाभ उठाता रहे। इस प्रकार एक प्रतिबध के लगाने पर राष्ट्र को अन्य प्रतिबन्धों द्वारा उसका प्रभाव स्थायी बनाना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त आयात-कर का प्रभाव देश के आर्थिक सगठन पर भी पड़ता है। कहीं-कहीं सर्वशक्तिमान एकाकी व्यापारिक संस्थाएँ स्थापित हो जाती हैं जो राष्ट्र की संरक्षण-नीति का सहारा लेते हुए जन-साधारण से अधिक मूल्य लेकर निजी लाभ बढाती है। अमेरिका में इस प्रकार के प्रभाव का महत्त्व भली भाँति देखा जा चुका है और फिर इन शक्तिशाली संस्थाओं को नियम-बद्ध करने के लिए राष्ट्र को अनेक संकटों का सामना करना पड़ा है। अमेरिका के बड़े-बड़े ट्रस्ट बृहत् औद्योगिक संगठन की इसी नीति के फल हैं।

विदेशी आयात-निषेध

देश को इस प्रकार की अल्पसहायक नीति से छुटकारा देने और विदेशी व्यापार को रोकने के लिए कभी-कभी विदेशी आयात-निषेध (Prohibition) की नीति से भी काम लिया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह उपाय बहुत सीधा तथा सरल है, परन्तु इसमें दो देशो मे वैमनस्य बढ़ने की सम्भावना रहती है और इसीलिए एकदम निषेध की घोषणा करने की अपेक्षा राष्ट्र विदेशी व्यापार के मार्ग में संकट उपस्थित करने की नीति का पालन करना अधिक उपयुक्त समझते हैं। विदेशी व्यापार को रोकने की जिन चेष्टाओं का उल्लेख ऊपर किया गया है वे सब राष्ट्राधीन हैं। परन्तु कहीं-कहीं राष्ट्र इस प्रकार के कार्य करने को प्रस्तुत नहीं होता और राष्ट्र के उदासीन होने पर भी देश की जनता विदेशी व्यापार को रोकने तथा देशी व्यापार की वृद्धि करने की चेष्टा करती है। ऐसी अवस्था मे जनता की ओर से देशी पदार्थों के प्रचार के लिए सस्थाएँ स्थापित की जाती हैं, जो सर्वसाधारण और व्यापारियों को विदेशी व्यापार की वृद्धि की हानि बतलाती हैं और लोगों को तर्क तथा प्रार्थना द्वारा विदेशी पदार्थ न मोल लेने के लिए उत्तेजित करती हैं। कभी कभी इस प्रकार का अन्दोलन देश-व्यापी रूप धारण करता है और केवल प्रार्थना पर ही सन्तुष्ट न रहकर विदेशी पदार्थ की बिक्री पर धरना भी लगाया जाता है, जिसके द्वारा ग्राहक को लाचार किया जाता है कि वह विदेशी माल मोल न ले। कुछ देशों में राष्ट्र के श्रमजीवी दल से अनुरोध किया जाता है कि वह विदेशी व्यापार को रोकने के लिए उसको जहाज़ से उतारने, रेल पर ले जाने एवं शहरों और दूकानों तक पहुँचाने में योग न दे। भारतवर्ष के व्यापारिक जीवन में गत २० वर्ष में इस प्रकार की घटनाएँ घटी हैं। जिन देशों में राष्ट्र तथा जनता में सहयोग होता है वहाँ दोनों प्रकार की चेष्टाएँ मिलकर कार्य को बहुत शीघ्र सफल बनाती हैं।

विदेशी व्यापार को रोकने के चित्र का यह केवल एक पट है। परन्तु वास्तव में विदेशी व्यापार को रोककर देशी व्यापार की वृद्धि तभी हो सकती है जब विदेशी माल की रुकावट के साथ-साथ देशी माल का उत्पादन बढ़े। यही नहीं, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-क्षेत्र में वह आपेक्षिक मूल्य पर हाथोंहाथ बिक भी सके। इसलिए चित्र के दूसरे पट पर राष्ट्र के उन प्रयत्नों का उल्लेख है जिनके द्वारा देशी उत्पादन तथा व्यापार की उन्नति होती है। आइए, अब आपको इस दूसरे पहलू का दिग्दर्शन कराएँ।

उद्योग-धंधों की उन्नति में राष्ट्रीय सहायता

विदेशी पदार्थ का आयात पूर्णतया तब ही बद हो सकता है जब निषेध के साथ-साथ देशी पादार्थ इतनी सख्या में बनें कि देश की माँग पूरी हो सके। सख्या से अधिक महत्त्वपूर्ण बात पदार्थ-उत्पादन का मूल्य है। यदि देशी पदार्थ का मूल्य सदैव विदेशी पदार्थों की अपेक्षा अधिक रहा तो आयात कर हमेशा के लिए लगाना पड़ेगा और ग्राहकों को अधिक पैसा देना पड़ेगा। ऐसी अवस्था सदा के लिए कदापि नहीं चल सकती। इसलिए पदार्थ उत्पादन सस्ता भी होना चाहिए। उद्योग-वृद्धि के दो प्रमुख अग होते हैं—एक तो उत्पादन का बड़ी संख्या में होना और दूसरा पदार्थ-उत्पादन कला

की उन्नति एवं पदार्थ-उत्पादन-मूल्य की कमी। उत्पादन की मात्रा बढ़ाने के लिए पुराने कारख़ानों से भरपूर काम लेने और नए कारख़ाने खोलने की आयोजना करनी पड़ती है। इसके लिए बहुत धन की आवश्यकता होती है। कच्चे माल की पैदावार बढ़ाना आवश्यक हो जाता है और उसे खेतों से कारख़ानों तक लाने का सुप्रबन्ध करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में राष्ट्र इन उद्योगों की धन से सहायता करता है। इस आर्थिक सहायता के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। कहीं राष्ट्र ऐसे कारख़ानों को सहायतार्थ धन का दान कर देता है। कभी थोड़े सूद अथवा बग़ैर सूद के धन उधार दे देता है और कई वर्ष बाद लाभ होने पर उसे वापस ले लेता है। उदाहरणार्थ भारत-सरकार टाटा कम्पनी के लोहे के कारख़ाने को ५० लाख रुपया प्रति वर्ष की आर्थिक सहायता देती रही है। नए उद्योगों को चलाने के लिए प्रान्तीय सरकारें भी धन की सहायता देती रही हैं। कभी-कभी तो राष्ट्र ऐसे उद्योगों को अपने ही धन से और अपने अधीन भी चलाते हैं। जनता को ऐसे उद्योगों को चलाने के लिए प्रोत्साहनस्वरूप राष्ट्र अनेक सुविधाएँ देते तथा कच्चे माल की कृषि बढ़ाने के लिए प्रचार भी किया जाता है। उसकी पैदावार पर राष्ट्रीय कर बिल्कुल नहीं लिया जाता अथवा कम लिया जाता है। कभी कभी कच्चे माल का आयात भी बढ़ाया जाता और अन्य राष्ट्रों से कच्चा माल मोल भी लिया जाता है। कच्चे माल को खेतों से कारख़ानों तक पहुँचाने के लिए राष्ट्र नई-नई सड़कें तथा रेलें बनाता है, जिससे कच्चा माल शीघ्र और कम भाड़े पर कारख़ानों तक पहुँच सके। उत्पादन को सस्ता और अच्छा बनाने के लिए राष्ट्र अनुसंधानशालाएँ (Research Bureau) स्थापित करता है, जहाँ देश के विज्ञानाचार्य उद्योग-सम्बन्धी बातों पर नए-नए अन्वेषण करते हैं, जिससे उत्पादन का कार्य अच्छी तरह और कम ख़र्च में हो सके। हमारे देश में शक्कर बनाने के उद्योग के लिए कोयम्बटूर और कानपुर में ऐसे अनुसधानगृह बनाए गए हैं, जिनके द्वारा शक्कर बनाने की अच्छी रीति पर विचार किया जाता है और फिर उनका निश्चय सारे कारख़ानों को सूचित किया जाता है। इसी प्रकार अन्य उद्योगों के लिए भी संस्थाएँ बनाई जाती हैं, जो उद्योग-संलग्न देशवासियों को सलाह दिया करती हैं। कभी-कभी पदार्थ को बनाने के लिए किन किन कच्चे माल से सहायता ली जा सकती है इस पर भी विचार किया जाता है। अगर देश में एक प्रकार का कच्चा माल पैदा नहीं होता तो यह विचार किया जाता है कि देश में होनेवाला अन्य कौन-सा कच्चा माल है जिससे काम लिया जा सकता है। उदाहरण के लिए काग़ज़ बनाने के उद्योग में घास, सन, बाँस, गन्ने की खोई, पुराना कपड़ा, इत्यादि सभी से आवश्यकता तथा मूल्य के अनुसार काम लिया गया है। इस प्रकार की औद्योगिक उन्नति का श्रेय रसायनशास्त्र के विद्वानों को अधिक है। साराश यह है कि उद्योग को जीवित रखने तथा फलने-फूलने के लिए राष्ट्र विविध प्रकार की सहायता की आयोजना करता है। व्यक्तिगत व्यापारियों की सामर्थ्य के बाहर की बात है कि वे इस प्रकार के अन्वेषण का प्रबन्ध कर सकें, क्योंकि इसमें बहुत धन तथा प्रबन्ध की आवश्यकता होती है। संसार के उद्योग-धन्धों की वृद्धि आजकल मुख्यत ऐसी ही खोजों पर निर्भर करती है।

उत्पादन-मूल्य के घटाव के लिए अनुचित उपायों का प्रयोग

कभी-कभी व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता का सामना करने के लिए उत्पादन-मूल्य को कम करने में अनुचित उपायों का भी प्रयोग किया जाता है। जहाँ पूँजीपतियों का प्रभाव राष्ट्र पर अधिक है अथवा राष्ट्र औद्योगिक प्रश्नों को पूँजीपति और श्रमजीवियों का घरेलू झगड़ा समझकर हस्तक्षेप नहीं करता, वहाँ पूँजीपति श्रमजीवियों का वेतन कम करके, उनसे कारख़ानों में उसी वेतन पर अधिक घण्टे काम लेकर, तथा कम आयुवाले बच्चों और स्त्रियों को थोड़े वेतन पर कारख़ानों में नौकर रखकर अथवा अन्य निन्दनीय उपायों से उत्पादन-मूल्य घटाते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता का सामना करते हुए अपने लाभ को बनाए रखते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत-से देशों में इस प्रकार के कष्ट देकर श्रमजीवियों से कारख़ानों में काम लेना बन्द-सा हो गया है। और रूस में, जहाँ पूँजीपति रह ही नहीं गए हैं, यह प्रश्न उठता ही नहीं। इङ्गलैंड में भी समाजवादियों के प्रभाव से बहुत बड़ी रुकावट है। अमेरिका में राष्ट्र के हस्तक्षेप द्वारा श्रमजीवी क़ानून (Labour Code) के अनुसार ही पूँजीपति कार्य कर सकते हैं। जर्मनी और जापान में ऐसे नियम तो नहीं हैं पर अभी तक वहाँ इन निन्दनीय उपायों का सहारा नहीं लिया गया है, क्योंकि वहाँ राष्ट्र उद्योग की दूसरी प्रकार से सहायता करता है। भारतवर्ष में इस प्रकार के श्रमजीवी रक्षा के नियम अभी उतने अच्छे नहीं हैं जितने कि दूसरे देशों में हैं, फिर फैक्टरी क़ानून तथा औद्योगिक

कारखानों सम्बन्धी अन्य राष्ट्र-नियमों के कारण एव मज़दूर-दल तथा अखिल भारती यराष्ट्रीय महासभा के प्रभाव से थोड़ी-बहुत रुकावट अवश्य होती है। यहाँ के पूँजीपतियों का कहना है कि राष्ट्र की उदासीनता के कारण उत्पादन-मूल्य ऐसे उपायों द्वारा ही घटाया जा सकता है। सारांश यह है कि उत्पादन-मूल्य घटाने के लिए श्रमजीवियों तक का वेतन घटाकर प्रतिद्वन्द्विता का सामना किया गया है। इतनी चेष्टा के बाद भी यदि यह समझा जाता है कि अल्पकाल के लिए देश का औद्योगिक उत्पादन आपेक्षिक मूल्य पर नहीं हो सकता तो उस समय तक के लिए सरक्षण द्वारा आयात का मूल्य देशी मूल्य से बढ़ा देते हैं जिससे देशी कारखानों को हानि न पहुँचे और उनके उत्पादित पदार्थ देश मे बिक सकें।

अंतर्राष्ट्रीय-क्षेत्र में खपत के अन्य उपाय

यह क्रम तो अपने देश के अन्दर व्यापार तथा उत्पादन बढ़ाने का है। इसके अतिरिक्त देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को वृद्धि के लिए अन्य उपाय भी करने पड़ते हैं। किसी पदार्थ की बिक्री अन्य देशों में तब ही हो सकती है जब वह पदार्थ दूसरे देशों में आपेक्षिक मूल्य पर वेचा जा सके। यदि उत्पादन करनेवाले देश में उस पदार्थ का उत्पादन सम्बन्धी सभी सामान पैदा होता हो तथा अन्य सब प्राकृतिक सुविधाएँ वर्तमान हों तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उस पदार्थ की बिक्री निश्चित सी है। यदि ऐसा न हुआ अथवा अन्य देशों ने उस पदार्थ की बिक्री पर निषेध अथवा प्रतिबन्ध लगाए तो राष्ट्र को भिन्न-भिन्न प्रकार से उस उद्योग को सहायता देनी पड़ती है, जिससे उस पदार्थ की बिक्री होती रहे। यदि वह पदार्थ ऐसा हुआ जिस पर राष्ट्र द्वारा उत्पादन कर लगाया जाता है तो राष्ट्र ऐसे पदार्थ को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विद्यमान रखने के लिए उस पदार्थ के निर्यात पर उत्पादन-कर नहीं लेता। इस प्रकार उस पदार्थ का मूल्य दूसरे देशों में कर की मात्रा भर कम हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि देशवासियों के मोल लेने पर एक पदार्थ का मूल्य उसी पदार्थ के विदेशियों के मोल लेने के मूल्य से अधिक हो जाता है। भारतवर्ष के शक्कर के कारखानों ने ठीक इसी प्रकार की सुविधा के लिए भारत-सरकार से प्रार्थना की थी। उनका कहना था कि भारतवासियों की माँग से बची हुई शक्कर इगलैंड में वेची जाय और उसका मूल्य घटाने के लिए राष्ट्र तीन रुपया प्रति हन्डरवेट (cwt) का उत्पादन-कर न ले। दूसरी सहायता पदार्थ ले जाने के भाड़े की कमी की होती है। कभी-कभी राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्षेत्र में जानेवाले पदार्थों का रेल अथवा जहाज़ पर ले जाने का भाड़ा कम कर देता है। यदि रेलें आदि राष्ट्र की पूँजी द्वारा चलनेवाली न हुई तो राष्ट्र भाड़े का ख़र्च स्वयं दे देता है। इस प्रकार की सहायता द्वारा दक्षिणी अफ्रीका का कोयला बम्बई की मिलों में भारतवर्ष के कोयले से कम दाम पर वेचा जाता रहा है। यदि दक्षिणी अफ्रीका के कोयले पर जहाज़ द्वारा समुद्र-मार्ग से भारतवर्ष तक लाने का पूरा भाड़ा पड़े तो वह बम्बई में झरिया तथा रानीगज के कोयले की अपेक्षा मँहगा पड़े और न बिक सके। इस परिस्थिति को बचाने के लिए दक्षिणी अफ्रीका की सरकार भारतवर्ष को भेजे जानेवाले कोयले पर जहाज़ के भाड़े में सात शिलिङ्ग छ पेन्स प्रति टन की कमी कर देती रही है और इसी से भारतवर्ष में उसकी बिक्री बनी रह सकी है।

कार्टेल और सिन्डिकेट

तीसरी युक्ति यह होती है कि यदि किसी पदार्थ का उत्पादन देश में इतना अधिक हो जाय कि देशवासियों को उसके आयात की आवश्यकता न हो और उसका निर्यात हो सके अर्थात् उस पदार्थ के उत्पादन का देशवासियों को एकाधिकार प्राप्त हो तो राष्ट्र उस पदार्थ की बिक्री का मूल्य अपने देश के लिए स्वय निश्चय कर देता है और देश के कारख़ानों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता बन्द कर देता है। इस नीति का ध्येय यह होता है कि उत्पादित पदार्थ देशवासियों के लिए वास्तविक मूल्य अथवा अपेक्षित मूल्य से कुछ अधिक मूल्य पर वेचा जाय और इस प्रकार जमा किए हुए धन से उस पदार्थ का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य घटा दिया जाय, जिससे अन्य देशों की अपेक्षा अपने देश का मूल्य कम हो और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता में अपने देश का पदार्थ बिक सके। इस नीति का पालन करने के लिए राष्ट्र को एक विशेष प्रकार की सस्था स्थापित करना पड़ती है, जो समस्त देश के उत्पादन तथा बिक्री को नियमित करती है। ससार के सब देशों में इस प्रकार की नीति को सफलतापूर्वक चलानेवाला देश जर्मनी रहा है। जर्मनी में कारटेल (Kartel) अथवा सिन्डिकेट (Syndicate) नाम की बहुत-सी संस्थाएँ हैं। ये कारटेल किसी उद्योग में व्यक्तिगत कारख़ानों की उत्पादन-मात्रा स्वय निश्चय

करते हैं, जिससे प्रतिद्वन्द्विता के कारण सम्पूर्ण उत्पादन इतना न बढ़ जाय कि उसके दाम बिक्री में गिर जायँ। फिर ये कारटेल सब कारख़ानों के उत्पादित पदार्थ एक निश्चित भाव पर मोल ले लेते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि उत्पादित पदार्थ कारखानों से ले जाकर किसी केन्द्रीय स्थान पर एकत्रित किए जायँ। पदार्थ कारख़ानों ही में रहते हैं और रक्खे जा सकते हैं, परन्तु उन पर अधिकार कारटेल का होता है। इनकी बिक्री का नियम तथा दर कारटेल निश्चित करता है। बिक्री द्वारा प्राप्त सारा धन, कारटेल के कारखाने से मोल लेने के भाव को घटाकर, कारटेल का हो जाता है। इस समुचित धन से कारटेल उसी पदार्थ के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को फैलाता है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता का सामना करता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि अमुक पदार्थ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में १०) के दर से बिक सकता है और देशी कारख़ानों का वास्तविक उत्पादन-मूल्य १०॥) है, तो कारटेल उस पदार्थ को देश में ११॥) के दर से बेचेगा और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में १०) ही को बेचेगा तथा ॥) प्रति पदार्थ की कमी की पूर्ति कारटेल देशी लाभ के समुचित धन से कर देगा और बचा हुआ धन कारख़ानों में उत्पादन के हिसाब से बाँट देगा। इस प्रकार सब कारख़ानों से सामूहिक सहायता लेकर देश का व्यापार बनाए रक्खा जाता है। यदि कोई कारख़ाना अधिक लाभ उठाना चाहता है तो वह अपना उत्पादन-मूल्य घटा कर अपना निजी लाभ बढ़ा सकता है। हमारे देश में भी शक्कर के व्यापार में इसी प्रकार की एक संस्था 'इंडियन शूगर सिंडिकेट' के नाम से संयुक्त प्रान्त और बिहार प्रान्त के लिए स्थापित है। केवल अन्तर इतना है कि इस संस्था को शक्कर देश के बाहर भेजने अथवा बेचने का अधिकार नहीं है।

'मूल्य-भेद' नीति तथा उत्पादन-मूल्य से कम दाम पर माल बेचने की युक्ति

इस प्रकार की नीति में उत्पादन करनेवाले देश उत्पादन-मूल्य से बहुत कम दाम पर दूसरे देश में पदार्थ बेच देते हैं, जिससे वहाँ के कारख़ाने प्रतिद्वन्द्विता के कारण बन्द हो जाएँ और अपने देश के हाथ में एकाधिकार व्यापार आ जाय। देश और विदेश में पदार्थ के भिन्न-भिन्न मूल्य निश्चय करने की नीति को 'मूल्य भेद' (Price-discrimination) की नीति कहते हैं और दूसरे देश में उत्पादन-मूल्य से कम मूल्य पर पदार्थ बेचने की नीति को 'डम्पिंग' (Dumping) कहते हैं। इस नीति का पालन जर्मनी और जापान ने युद्ध से पूर्व किया था। मूल्य-भेद की नीति तो इँगलैंड के व्यापारी भी चलाते रहे हैं। युद्ध से पूर्व जिस मूल्य पर जापान की बनी हुई साइकिल तथा अन्य पदार्थ भारतवर्ष में मिलते रहे, उस मूल्य पर वही पदार्थ जापान देश में नहीं मिल सकते थे। यही हाल इँगलैंड और जर्मनी के बने हुए सामान का भी था। यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता की नीति का फल है कि अन्य देश अपने पदार्थ भारतवर्ष के बाज़ार को हाथ में रखने के लिए कम मूल्य पर बेचते रहे हैं। परन्तु इसका दुष्परिणाम यह होता है कि भारतवर्ष के उद्योग उन्नति नहीं कर पाते और सदैव राष्ट्र की ओर सरक्षण-कर के लिए देखा करते हैं।

सिक्के के दर के घटाव की युक्ति

जैसा आयात निषेध के सम्बन्ध में बतलाया जा चुका है, अपने सिक्के का दर अन्य देशों के सिक्कों के लिहाज़ से घटाने से भी अपने देश के निर्यात की वृद्धि होती है। कारण यह है कि इस युक्ति से अपने देश के पदार्थ दूसरे देश के सिक्के के दर में सस्ते हो जाते हैं, यद्यपि अपने देश में उनके मूल्य में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। परन्तु इसका परिणाम दो देशों में विरोध-भाव पैदा करनेवाला होता है और उन दो देशों के सिक्के के दर के घटाव तथा सरक्षण-कर की मात्रा के बढ़ाव में द्वन्द्व होने लगता है। जितना-जितना सिक्के का दर घटाया जाता है उतना-उतना उसके प्रभाव को नष्ट करने के लिए राष्ट्र सरक्षण-कर बढ़ाता है। ऐसी परिस्थिति एक समय भारतवर्ष के कपड़े के व्यापार के सामने आ गई थी, जब १६३० में जापान ने येन का भाव रुपए के लिहाज से बहुत कम कर दिया था और भारत सरकार को कपड़े के कारख़ानों की रक्षा के लिए ७५ प्रतिशत सरक्षण कर लगाना पड़ा था। इन पारस्परिक झगड़ों का अन्त आपस के व्यापारी समझौते अथवा सैनिक शक्ति द्वारा ही होना है। इसी प्रकार के व्यापारी झगड़े ने उन्नीसवीं शताब्दी में इङ्गलैंड और अमेरिका में युद्ध तक करवा दिया था। भारतवर्ष तथा जापान का झगड़ा दोनों राष्ट्रों में व्यापारी समझौते द्वारा मिट गया था, जिसके अनुसार जापानी कपड़े और भारतवर्ष की रुई के आयात निर्यात की मात्रा निश्चित कर दी गई थी। आजकल के महायुद्ध के कारणों में भी एक प्रमुख कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संबंधी समस्याएँ ही हैं।
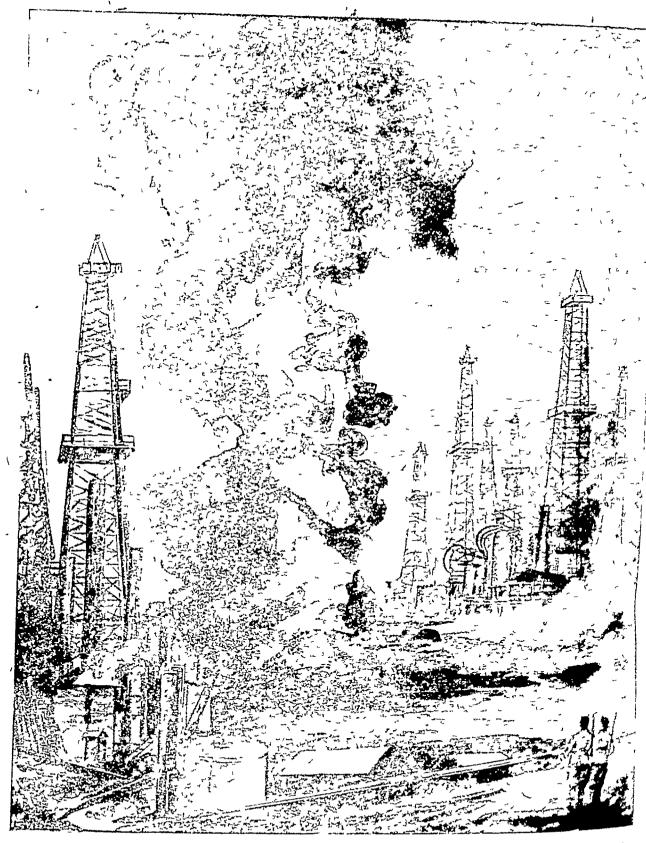
पेट्रोलियम के क्षेत्र में जब कभी आग लग जाती है तो मानों प्रलय-ताण्डव का दृश्य दिखाई देने लगता है। प्राय: पेट्रोलियम के कुओं में से ऐसी प्रज्वलनशील गैसें निकल पड़ती हैं जो ज़रा-सी चिनगारी पाते ही धधक उठती हैं। इनके साथ ही यदि तेल भी आग पकड़ ले तो भयंकर विस्फोट के साथ कुएँ के ऊपर का सारा साज-सामान टूट-फूटकर आकाश में उड़ जाता है और ऐसा भीषण अग्निकाण्ड हो जाता है जिसका महीनों तक अंत नहीं हो पाता।
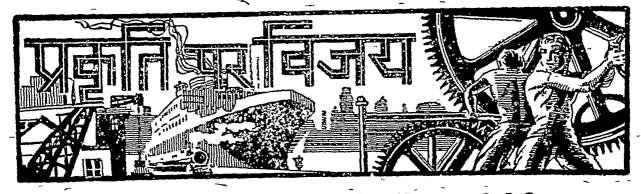
यंत्रयुग की शक्ति का स्रोत—खनिज तेल या पेट्रोलियम

आज दिन किसी भी देश की शक्ति का अनुमान उसके कल कारख़ाने, हवाई जहाज़, मोटरें आदि के बल पर ही प्राय. लगाया जाता है, किन्तु ये सभी शक्ति के साधन वस्तुत. एक दूसरी ही भित्ति पर स्थापित हैं, जो यदि ढह जाय तो ये कहीं के न रहें। यह भित्ति है खनिज तेल, जिसे हम निर्विवाद रूप से इस यंत्र-युग की शक्ति का प्रधान स्रोत कह सकते हैं। प्रस्तुत लेख मनुष्य की इसी मूल्यवान् सपत्ति के संबंध में है।

खनिज तेल के प्रयोग से प्राचीन काल के लोग सर्वथा अनभिज्ञ नहीं थे। यूनान तथा मिस्र के प्राचीन ग्रन्थों में खनिज तेल का उल्लेख आता है। उस सुदूर अतीत में खनिज तेल का प्रयोग शरीर में लगाने के लिए होता था। औषधि की भाँति इसे मालिश करने के काम में भी लोग लाते थे। तेरहवीं शताब्दी का प्रसिद्ध यात्री मार्कोपोलो लिखता है कि बाकू से खनिज तेल ले जाने के लिए लोग हज़ारो मील की दूरी से आया करते थे। मिस्र मे प्राचीन काल में शव पर अन्तिम सस्कार के पहले खनिज तेल भी चुपड़ते थे। रोम में जुपिटर के मन्दिर में सिसली से प्राप्त मिट्टी के तेल के दीपक से प्रकाश किया जाता था। बरमा में इरावदी के तट के मिट्टी के तेल के कुएँ हजारों वर्ष पूर्व के हैं।

चीन में भी ईसा से सैकड़ों वर्ष पूर्व 'आर्टीजन कुएँ' खोदकर खनिज तेल निकाला जाता था।

किन्तु यन्त्रों या मशीनों के लिए चालक शक्ति के साधन के रूप में खनिज तेल की परख १८ वीं शताब्दी के पूर्व कोई न कर पाया था। इसी कारण उन दिनों खनिज तेल (जिससे अब पेट्रोल, केरोसिन तेल, मोबिल आयल और वैसलीन आदि प्राप्त किए जाने लगे हैं) का कारबार भी कुछ अधिक पनप न सका था।

भूमि के अन्दर से खनिज तेल जिस समय बाहर निकलता है, यह पानी की अपेक्षा एक मटमैले गाढे पीले रंग के द्रव के रूप में होता है। इस द्रव को 'पेट्रोलियम' का नाम दिया गया है। 'पेट्रोलियम' लैटिन भाषा के दो शब्दों से मिलकर बना है—पेट्रा (Petra)= चट्टान, ओलियम (Oleum)=तेल। इस प्रकार
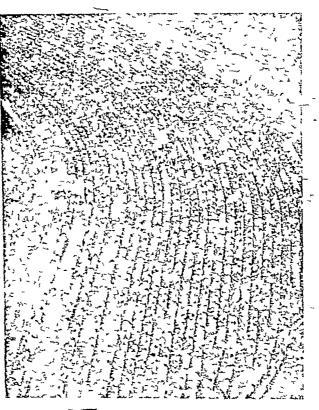
कल-कारखानों, हवाई अड्डों और युद्ध के मैदानों तक तेल पहुँचाने का महत्त्वपूर्ण काम करनेवाली ये तेलवाहक टंकियों की शृंखलाएँ वस्तुत आज दिन प्रत्येक देश की प्राणवाहिनी धमनियाँ बन रही हैं, क्योंकि इन्हीं पर उनके जीने-मरने का प्रश्न निर्भर है।
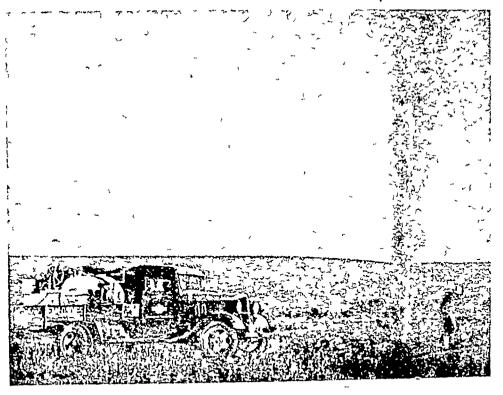
'प्रास्पेक्टिंग' के विशेषज्ञ इसी प्रकार डायनामाइट द्वारा एक हलका-सा कृत्रिम भूकंप पैदा कर उससे उत्पन्न तरंगों की मोटर पर लगे सीस्मोग्राफ़यंत्र द्वारा जाँचकर पता लगाते हैं कि नीचे की चट्टानों में तेल है या नहीं।

शरीर में मलते, क्योंकि उनकी धारणा थी कि ऐसा करने से उनके अन्दर चुस्ती और तेज़ी उत्पन्न होती है। नवागन्तुकों ने भी अमेरिका में जब अपना डेरा-डंडा जमाया तो रेड इण्डियनों की भाँति पेट्रोलियम का प्रयोग करना सीखा। किन्तु इनके बीच भी पेट्रोलियम का उपयोग औषधि के रूप तक ही बहुत दिनों तक सीमित रहा। धरती पर जहाँ पेट्रोलियम पसीजा करता, ये लोग कम्बल डाल देते कम्बल तेल को सोख लेता, तब इसे निचोड़कर तेल किसी

इसका अर्थ हुआ—चट्टान का तेल। भिन्न-भिन्न स्थानों पर पाए जानेवाले पेट्रोलियम का रंग हलके पीले से लेकर एकदम काला तक होता है।

यद्यपि प्राचीन काल से ही लोग पेट्रोलियम से परिचित थे, किन्तु उन दिनों इसे साफ करने की बात किसी को भी न सूझी। इसी गंदे द्रव को एक छिछले बर्तन में, जिसका आकार दिए जैसा होता था, रखकर वे जलाते—ठीक उसी प्रकार जैसे सरसों के गाढ़े तेल से हमारे यहाँ दिया जलाते हैं। पेट्रोलियम को साफ करके उससे केरोसिन तेल (Kerosene) प्राप्त करना लोग नहीं जानते थे। स्वयं हमारे बड़े-बूढ़ों के होश में ही केरोसिन या मिट्टी का तेल सर्वप्रथम बाजार में बिकने आया था।

आज दिन अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र को हम पेट्रोलियम का भण्डार कह सकते हैं। योरप के निवासी जब पहले-पहल अमेरिका के उस भाग में गए, जिसे अब संयुक्त राष्ट्र के नाम से पुकारते हैं तो उन्होंने देखा कि इस देश के कई प्रदेशों में धरती में से पेट्रोलियम का गाढ़ा तेल पसीज-सा रहा था। पानी के ऊपर भी कई स्थानों पर उन्होंने इस तेल को तैरते हुए देखा। उन्होंने यह भी देखा कि अमेरिका के मूल निवासी इस तेल को अपने

बर्तन में इकट्ठा कर लिया जाता। पानी पर तैरते हुए तेल को वे प्राय हाथ से ऊपर-ऊपर काछ लेते। उन दिनों पेट्रोलियम औषधि के नाम पर महँगे दामों बिका करता। गठिया के लिए इसकी मालिश करना रामबाण समझा जाता। उन दिनों घरों में साल छः महीने में मुश्किल से एकाध बोतल पेट्रोलियम ख़र्च हो पाता था।

१९वीं शताब्दी का आरम्भ होते होते इस नवीन तेल के दिन फिरे। १८०६ में पश्चिमी वर्जीनिया में नमकीन पानी (Brine) की खोज में कुएँ गलाते समय कुएँ के अन्दर नमक के घोल के साथ-साथ पेट्रोलियम भी प्रचुर मात्रा में मिला। नमक तैयार करने के लिए धरती में गड्ढे (कुएँ) खोदे जाते थे, जो लगभग आधा मील नीचे बालूवाली तह तक पहुँचते थे। नमक मिले हुए जल को कुएँ में से निकालकर जल को सुखाकर नमक प्राप्त करते थे। इस नमकीन जल में कभी-कभी पेट्रोलियम इतनी अधिक मात्रा में मिला हुआ होता कि उससे नमक बनाना सम्भव नहीं होता। ऐसी दशा में उस कुएँ के गलाने में व्यय किया गया रुपया डूबा हुआ समझा जाता। १८३० में ऐसे ही एक कुएँ की खुदाई के सिलसिले में देखा गया कि कुएँ के भीतर से निकलनेवाला

द्रव न तो पानी में नमक का घोल था और न पेट्रोलियम-मिश्रित घोल, बल्कि विशुद्ध पेट्रोलियम! कुएँ के अन्दर से थोडी थोडी देर पर अपनेआप पेट्रोलियम का उद्गार सा होता था। कहा जाता है, कई दिनों तक इस कुएँ से १५० टन पेट्रोलियम प्रति दिन के हिसाब से निकलता रहा। बाद में ३० वर्ष तक प्रति दिन कई पीपे के हिसाब से उसका निकलना जारी रहा।

१८४८ में सैमुएल एम० कियेर ने अपनी प्रयोगशाला में पेट्रोलियम के गाढे द्रव को गर्म करके उसका परिस्रवण (Distilation) किया। पेट्रोलियम से निकली हुई वाष्प को ठण्डा करने पर एक हलका तेल उसे मिला, जो लैम्प में बड़ी आसानी के साथ जलता था। अपनी तेज़ दुर्गन्ध के कारण इसे 'कार्बन का तेल' का नाम मिला। कहने की आवश्यकता नहीं कि यही मिट्टी का तेल या 'केरोसिन' था। उन दिनों यह एक रुपए प्रति बोतल के हिसाब से बिका करता था।

'केरोसिन' के कारण पेट्रोलियम की भी क़द्र अब बढ़ गई। तत्कालीन अन्वेषकों और वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। रसायनज्ञों ने पेट्रोलियम का आंशिक परिस्रवण करके उससे अनेक नए रासायनिक पदार्थ प्राप्त किए, जो बाद में व्यवसाय के विभिन्न क्षेत्रों में अत्यन्त उपयोगी साबित हुए। फलस्वरूप प्रत्येक प्रगतिशील देश में धरती के गर्भ के रहस्योद्घाटन का प्रयत्न किया जाने लगा कि कहाँ पर पेट्रोलियम मिल सकता है।

ज़मीन में गहरे कुएँ गलाकर उनमें से प्रचुर मात्रा में पेट्रोलियम निकालने के सर्वोत्तम साधन ढूँढ निकालने का श्रेय कर्नल एडविन एल० ड्रेक नामक एक अमेरिकन को प्राप्त है। खनिज तेल के व्यवसाय में अमेरिका के सयुक्त राष्ट्र का स्थान सर्वोपरि है और इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है कि ड्रेक ही इस व्यवसाय का जन्मदाता था। १८५४ में तेल के व्यवसाय को बड़े पैमाने पर चालू करने के उद्देश्य से एक कम्पनी पेन्सिलवानिया (सयुक्त राष्ट्र) में बनी। इस कम्पनी के डायरेक्टरों ने सोचा कि यदि नमकवाले क्षेत्र में कुआँ इतना गहरा गलाया जाय कि वह नमकीन पानी के स्तर को पारकर पेट्रोलियम-वाली छिद्रमय चट्टानों तक पहुँच सके तो विशुद्ध पेट्रोलियम प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो सकेगा। इस कम्पनी ने कर्नल ड्रेक को ऐसा कुआँ गलाने का भार सौंपा। यद्यपि ड्रेक कर्नल कहलाता था, किन्तु उसने सेना में कभी नौकरी नहीं की थी। वह इसके पहले रेलगाडी के कण्डक्टर का काम करता था, किन्तु अपने असन्तोष-जनक स्वास्थ्य के कारण उसने इस नौकरी से त्यागपत्र दे दिया था। तेल की खुदाई के प्रति उसके मन में बड़ा उत्साह था। आरम्भ में कुएँ के अन्दर से नमकीन पानी इतनी अधिक मात्रा में निकला कि सारा कुआँ इस पानी से ही लबालब भर गया। इस कठिनाई को दूर करने की ड्रेक ने एक सुन्दर तरकीब ढूँढ निकाली। उसने सोचा कि कुएँ के

तेल का कुआँ खोदते समय प्राय इसी प्रकार कभी-कभी पेट्रोलियम एकदम इतनी अधिक मात्रा मे धरती से बाहर निकल पड़ता है कि वह सँभाले नहीं सँभलता और उसका एक नाला-सा बह चलता है।

बीचोबीच यदि इस्पात का पतला पाइप गलाया जाय तो वह अवश्य नमकीन पानी के स्तर को पारकर पेट्रोलियमवाली तह तक पहुँच जायगा, अतः इसमें से नमकीन पानी के स्थान पर पेट्रोलियम ही निकलेगा।

इसी बीच ड्रेक ने नमक के कुएँ गलाने में सिद्धहस्त मिस्त्री बिली स्मिथ को इस्पात के पाइप गलाने के लिए नियुक्त किया। कम्पनी ने इस योजना को आरम्भ करते समय यह नहीं सोचा था कि इसे कार्यान्वित करने में इतना अधिक व्यय हो जायगा। फलतः कम्पनी की सारी पूँजी खान के चालू होने के पहले ही समाप्त हो गई। किन्तु ड्रेक इस अड़चन से हतोत्साहित होनेवाला व्यक्ति न था। उसने अपने निज का सारा रुपया तेल के कुएँ की खुदाई में लगा दिया। बिली स्मिथ ने मई १८५९ में यह काम आरम्भ किया था। मई से अगस्त तक वह ७० फ़ीट नीचे तक ट्यूब गला पाया था। प्रतिदिन ट्यूब ३ फ़ीट से अधिक नीचे नहीं धँस पाता था। २८ अगस्त को बिली स्मिथ अपने मज़दूरों के संग काम समाप्त करके शाम को डेरे पर जाने की तैय्यारी कर रहा था कि उसने देखा कि उस ७० फ़ीट लम्बे ट्यूब से पेट्रोलियम रिस रहा है! तुरन्त ही उसने कर्नल ड्रेक को बुलाया और कहा, "देखिए, "क्या निकल रहा है?" कर्नल ड्रेक की समझ में कुछ नहीं आया। उसने पूछा, "आख़िर इसका मतलब क्या है?" बिली स्मिथ ने उत्तर दिया, "यही तो तुम्हारी क़िस्मत है, जो अब जगी है!"

तेल का कुआँ खोदने के लिए काम में लाये जानेवाले एक शक्तिशाली ड्रिलिंग यंत्र का एक भाग। इस यंत्र द्वारा डेढ मील की गहराई तक खुदाई की जा सकती है।

दूसरे दिन सूर्योदय तक इस ट्यूब से कई बैरेल पेट्रोलियम निकाला जा चुका था। ड्रेक ने ट्यूब पर फ़ौरन् ही एक पम्प लगाया और तेल का खींचना जारी हो गया। कर्नल ड्रेक की प्रसन्नता की सीमा न थी, क्योंकि उसने यह अनुमान कर रक्खा था कि कम से कम ५०० या ७०० फ़ीट की गहराई पर जाने पर ही पेट्रोलियम उसे मिल सकेगा।

तब तो कुछ ही महीनों के अन्दर इस कुएँ के आस-पास के क्षेत्रों में सैकड़ों कुएँ अन्य कम्पनियों ने गलाए। इस क्षेत्र की ज़मीन का एक-एक बालिश्त तुरन्त ही तेल की कम्पनियों ने या तो पूर्णतया ख़रीद लिया या उसे पट्टे पर एक लम्बी अवधि के लिए ले लिया। जहाँ पहले इस क्षेत्र में सौ-सवा सौ से अधिक जनों की बस्ती न थी, कुछ ही सप्ताहों में वहाँ १५ हज़ार की जन-संख्या हो गई।

अब तो अमेरिका का संयुक्त राष्ट्र खनिज तेल के व्यवसाय में सर्वोच्च शिखर पर आसीन है। पिछले ७० वर्षों में अमेरिका के पेट्रोलियम-व्यवसाय ने आश्चर्यजनक उन्नति की है। इस व्यवसाय का आरंभ ड्रेक के ७० फ़ीट गहरे एकमात्र कुएँ से हुआ था, जिसके पीछे कुल पूँजी २००० डालर से भी कम लगी थी। इस कुएँ से प्रतिदिन दो-चार बैरेल से अधिक तेल नहीं निकलता था। तब से पेट्रोलियम की निकासी के लिए ३२ लाख से अधिक कुएँ संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न प्रान्तों में गलाए जा चुके हैं। फलस्वरूप पेट्रोलियम का व्यवसाय अमेरिका में इस सीमा तक बढ़ गया है कि कृषि और रेलवे के बाद वहाँ इसी का स्थान आता है। लगभग १२ लाख ५ हज़ार व्यक्ति इस व्यवसाय में लगे हुए हैं। इनके अतिरिक्त लगभग डेढ़ लाख मनुष्यों का स्वार्थ पूँजी के रूप में इस व्यवसाय से सम्बद्ध है। आँकड़े देखने से पता चलता है कि वहाँ ११ अरब डालर के लगभग पूँजी इस व्यवसाय में लगी हुई है।

पेट्रोलियम का पता कैसे लगाते हैं ?

पृथ्वी के गर्भ में छिपी हुई खनिजतेल की राशि का पता लगाने के लिए विज्ञान की भरपूर सहायता ली गई है। इस सिलसिले में एक सर्वथा नवीन विद्या 'प्रास्पेक्टिंग' (Prospecting) का निर्माण हुआ है। भूगर्भ की जानकारी पाने के लिए इसी विद्या की शरण ली जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस क्रिया में भौतिक विज्ञान, भूगर्भ विद्या तथा प्रस्तरान्तरित उद्भिज की जानकारी—सभी का प्रचुर मात्रा में समावेश है। वर्त्तमान जानकारी के अनुसार पेट्रोलियम केवल स्तरमयी चट्टानों में पाया जाता है, किन्तु सभी स्तरमयी चट्टानों में नहीं। उदाहरण के लिए सयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) में अधिकांश चट्टानें स्तरमयी हैं, किन्तु उनमें कुछ प्रतिशत ही ऐसी हैं जिनमें पेट्रोलियम मिलता है। प्रॉस्पेक्टिंग करने वाला विशेषज्ञ साधारणत सैकड़ों फीट नीचे पृथ्वी के गर्भ की चट्टानों की जाति निश्चित करने के लिए 'सीस्मोग्राफ' नामक यत्र का प्रयोग करता है। यह यत्र वास्तव में भूचाल की तीव्रता आदि नापने के काम आता है। किन्तु प्रॉस्पेक्टिंग का विशेषज्ञ स्वय ही एक कृत्रिम भूचाल उत्पन्न करता है। मान लीजिए, उसे पता लगाना है कि अमुक स्थान पर पेट्रोलियम निकलने की सभावना है या नहीं। बिना गहरा कुआँ खोदे ही, धरातल पर वह बारूद का विस्फोट कराकर एक हलका सा भूचाल उत्पन्न करता है। इस विस्फोटन से उत्पन्न हुई धरती की कम्पन गहराई में प्रवेश करती है और यदि यह स्तरमयी चट्टान के किसी 'भ्रंश' (fault) या मेहराव से टकराती है, तो पुन परावर्त्तित होकर यह ऊपर धरातल की ओर लौट आती है। कम्पन के नीचे जाकर ऊपर लौट आने के समय को आँककर भूतत्त्ववेत्ता तुरन्त हिसाब लगा लेता है कि कम्पन कितनी गहराई से लौटी है, साथ ही उसे इस बात का भी आभास मिल जाता है कि जहाँ से यह कम्पन लौटी है वहाँ पर किस जाति की चट्टान मौजूद है, और इस प्रकार वह अनुमान लगा लेता है कि उस स्थान पर पेट्रोलियम निकलने की सम्भावना है या नहीं। पेट्रोलियम व्यवसाय के प्रारम्भिक दिनों में प्रॉस्पेक्टिंग के विशेषज्ञों पर कुछ अधिक भरोसा नहीं किया जाता था, बल्कि उल्टे लोग इनकी हँसी उड़ाते थे। कोई इन्हें 'तेल सूँघनेवाला' बताता तो कोई इन्हें 'तेल के भूत' की उपाधि देता। किन्तु अब प्रत्येक पेट्रोलियम कम्पनी अनिवार्य रूप से इन विशेषज्ञों से परामर्श लेती है। क्योंकि वे जानती हैं कि इनसे परामर्श लेने पर झूठे कुओं की गलाई में उनके रुपये व्यर्थ नष्ट न हो सकेंगे।

इराक़ के तेल-क्षेत्रों से हैफ़ा और त्रिपोली के बंदरगाहों तक पेट्रोलियम ले जाने के लिए पाइप लाइन डाली जा रही है। इस प्रकार तेल धरती के भीतर ही हज़ारों मील दूर पहुँचाया जाता है।

यह निश्चय हो जाने के बाद कि अमुक स्थान पर तेल के लिए कुआँ खोदना है, उस स्थान पर सर्वप्रथम लोहे के गर्डर या लकड़ी की मजबूत बल्लियाँ गाड़कर एक स्तूपाकार (पिरैमिड की शक्ल का) लगभग ७० फीट ऊँचा ढाँचा खड़ा कर लेते हैं। इसे 'डेरिक' कहते हैं। फिर पास ही एक सुदृढ स्तम्भ पर लोहे की मज़बूत धुरी लगाकर उसके बल पर एक शहतीर इस प्रकार खड़ी करते हैं कि शहतीर का एक सिरा डेरिक के ठीक केन्द्र में पड़े। शहतीर का दूसरा सिरा एक वाष्प-इजिन से सम्बद्ध रहता है। यह इजिन साधारणत १५ अश्वबल की शक्ति का होता है। इजिन का ब्वॉयलर तथा इसकी भट्ठी डेरिक से कुछ दूरी पर स्थित होती है, ताकि

पेट्रोलियम के कुएँ से निकलनेवाली जलनशील अथवा विस्फोटक गैसों में आग लगने की सम्भावना न रहे। इस इंजिन की शक्ति से शहतीर का सिरा ऊपर-नीचे ठीक उसी प्रकार हरकत करता रहता है, जिस प्रकार ढेंकी चलती है। सबसे ऊपर 'टेम्पर स्क्रू' होता है, जिसका ऊपरी सिरा सीधे शहतीर के छोर में लगा होता है। टेम्पर स्क्रू के निचले छोर में एक पेंचदार क्लैम्प नामक हिस्सा लगा होता है, जो केबुल-तार या फ़ौलादी रस्सी (वरड़ी) को दृढ़ता के साथ पकड़ लेता है। इस केबुल के निचले छोर से लगभग २० फ़ीट लम्बी और ५ इंच मोटी लोहे की एक भारी छड़ जुड़ी होती है, जिसे 'सिन्कर बार' कहते हैं। दो और छड़ों के ज़रिए यह एक और लम्बे तथा भारी छड़ से सम्बद्ध रहती है। यह छड़ 'ऑगर बार' कहलाती है। 'ऑगर बार' के निचले छोर में चट्टान तोड़नेवाली बर्मी पेंच पर कसी गई होती है। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि केबुल-तार से लटके हुए यन्त्रों का भार बहुत ही अधिक होता है। यह सारा यंत्र निम्नलिखित प्रकार से काम करता है —

२३.२प्र.श.	पेट्रोल	
१३.५प्र.श.	केरोसिन	
४४.६प्र.श.	फ़ुएल ऑयल	
	लुब्रिकेटिंग और अन्य ग्रेड के तेल	
४ प्र.श.		
७.४ प्र.श.	मोम	
२.३ प्र.श.	नष्ट हो जाने-वाला अंश	
३.६ प्र.श.		

एक बैरल कच्चे पेट्रोलियम को साफ़ करने पर उससे प्रायः ऊपर लिखी वस्तुएँ निर्दिष्ट मात्रा में प्राप्त होती हैं

प्रचलित रीति से साधारण गहराई तक खोदे हुए कुएँ पर डेरिक खड़ी करके पहले केबुल-तार को एक विशालकाय रील से खोलकर उससे बँधे हुए सिन्कर बार को कुएँ में इतनी दूर तक लटकाते हैं कि ऑगर बार में लगाई हुई बर्मी की नोक कुएँ के तले पर जा टिकती है। अब केबुल को तानकर इसे टेम्पर स्क्रू के क्लैम्प में कस देते हैं। तदुपरान्त इंजिन की शक्ति से शहतीर को ढेंकी की भाँति ऊपर नीचे चलाते हैं। सिन्कर बार, ऑगर बार तथा उसमें लगी हुई बर्मी बार-बार ऊपर उठकर अपने ही बोझ से नीचे की चट्टान पर गिरकर उस पर चोट करती है। बर्मी क्रमशः ज्यों-ज्यों नीचे की ओर बढ़ती है, ऊपर टेम्पर-स्क्रू के पास बैठा हुआ मिस्त्री त्यों-त्यों टेम्पर-स्क्रू को धीरे धीरे नीचे खिसकाता चला जाता है ताकि हर बार नीचे गिरने पर बर्मी तले की चट्टान पर पूरे जोर के साथ चोट करे। जब बर्मी की नोक मन्द पड़ जाती है, तब मिस्त्री इंजिन को शहतीर के सम्बन्ध से अलग कर देता है, तथा टेम्पर स्क्रू के क्लैम्प से केबुल को छुड़ा देता है, और तब इंजिन की सहायता से रील पर केबुल-तार को लपेटना शुरू करता है। फलस्वरूप सिन्कर बार, ऑगर बार आदि सभी यंत्र कुएँ के बाहर उठ आते हैं। केबुल को डेरिक के सिरे पर लगी हुई एक गिर्री पर चढ़ाकर खींचते हैं, ताकि कुएँ के भीतर के विभिन्न पुर्ज़े सीधे ऊपर को खिंच सकें। बर्मी की धार को पुन. तेज़ करने के बाद उसे ऑगर बार में पुन लगा देते हैं, और कुएँ की खुदाई की क्रिया फिर पूर्ववत् जारी हो जाती है। टेम्पर-स्क्रू की सारी लम्बाई जब नीचे को खिसकाई जा चुकी होती है, तब इसे पुनः ऊपर उठाने के पहले क्लैम्प से केबुल को अलग करना पड़ता है। इंजिन को बन्द करके रील को ढीला कर टेम्पर-स्क्रू को पेंच पर उलटा घुमाकर ऊपर चढ़ा लेते हैं, तब क्लैम्प में केबुल को पहले की अपेक्षा ज़रा ऊपर को पकड़ते हैं, इस प्रकार कि उससे लटकते हुए यन्त्रों से सबद्ध बर्मी कुएँ की वर्तमान गहराई के तल को छूती रहे। और अब पुन इंजिन द्वारा शहतीर ऊपर-नीचे चलाई जाती है।

कुएँ की खुदाई का काम महीनों तक एक सा चलता रहता है। कम-से-कम एक इंजिनियर और एक मिस्त्री को चौबीसों घंटे वहाँ यंत्रों के परिचालन के लिए मौजूद रहना होता है। एक साथ इनकी बारह घंटे की ड्यूटी होती है। पृथ्वीतल की चट्टान से लगभग ३५० फ़ीट नीचे तक, जहाँ तक ऊपरी स्तर का पानी मिलता है, कुआँ क़रीब ८ इंच चौड़े व्यास का खोदा जाता है, और इतनी दूर तक

इस्पात की मजबूत नली गला दी जाती है ताकि कुएँ की दीवाल सुरक्षित रहे। तदुपरान्त सूराख़ पतला होता जाता है। अब ५६ इंच के व्यास की अन्य एक नली पहलीवाली नली में पुख्ता जोड़कर नीचे गलाते हैं। इस नली के निचले छोर पर तेज धार बनी होती है। कुएँ की दीवाल सँभालनेवाली बाह्य नली के बीच में ऊपर से नीचे तक एक और नली गलाते हैं, जिसका व्यास केवल २ इंच होता है। इसी नली के रास्ते पेट्रोलियम बाहर निकलता है। इस नली को इच्छानुसार बाहर भी निकाल सकते हैं, किन्तु बाहरवाली नली तो सदैव के लिए कुएँ में लगा दी गई होती है।

खुदाई समाप्त हो जाने के बाद कुएँ की तह को टारपीडो द्वारा तोड़ते हैं। लगभग २५ गैलन नाइट्रो ग्लीसरीन (एक शक्तिशाली विस्फोटक द्रव) टिन के कनस्टर में रखकर अत्यन्त सावधानी के साथ नीचे पेंदे में पहुँचाया जाता है और वहाँ पर चोट पहुँचाकर इसे विस्फोट कराते हैं। थोड़ी देर पश्चात् इस विस्फोट के फलस्वरूप एक गड़गड़ाहट का शब्द ऊपर को पहुँचता है और तुरन्त ही पीले रंग का पेट्रोलियम फौव्वारे के रूप में कुएँ से बाहर निकलने लगता है। इस उद्गार में पत्थर के छोटे छोटे टुकड़े तथा कनस्टर के अवयव भी लगभग १०० फीट ऊँचे आकाश में उड़ जाते हैं। इस डेढ़-दो हजार फ़ीट गहरे कुएँ की तह में पेट्रोलियम के ऊपर एक तो यूँ ही गैस का प्रबल दबाव रहता है, और फिर नाइट्रो ग्लीसरीन के विस्फोट द्वारा उत्पन्न हुई गैसें उस थोड़े-से स्थान में इतना अधिक दबाव उत्पन्न करती हैं कि उनके वेग से तह की चट्टानें बुरी तरह आन्दोलित हो उठती हैं और विवश हो पेट्रोलियम ऊपर को ज़ोर के साथ उफन पड़ता है। बाकू में विस्फोट के उपरान्त एक कुएँ से पेट्रोलियम इतने ज़बर्दस्त वेग से निकला था कि ऊपर की डेरिक आदि सब उखड़ गई थी और २४ घण्टे के अन्दर कुएँ के आसपास ६ फीट मोटी रेत की तह जम गई थी, जिसके ऊपर कई हजार टन पेट्रोलियम बह रहा था।

नए कुओं से आरम्भ में कुछ काल तक पेट्रोलियम अपने आप नीचे की गैस के ज़ोर से निकलता रहता है। ऐसे कुएँ 'फ़्लश कुएँ' कहलाते हैं। फ़्लश कुओं की पेट्रोलियम की निकासी पहले तो बढ़ती है, फिर धीरे-धीरे घटने लगती है। बाद में पेट्रोलियम को कुएँ के अन्दर
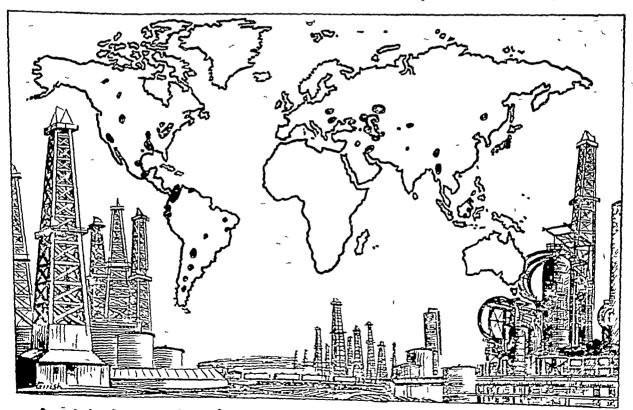
संसार के तेल-क्षेत्र—(नक़्शे में काले निशानों द्वारा मुख्य-मुख्य पेट्रोलियम उत्पादन-क्षेत्र सूचित किए गए हैं)।
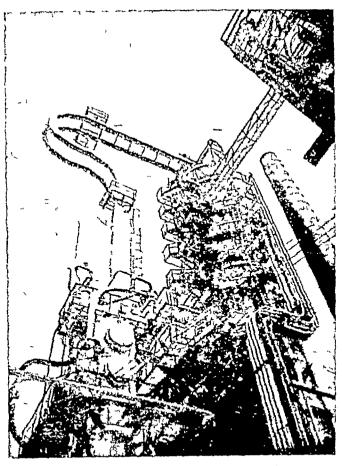
रूमानिया की एक 'रिफ़ाइनरी' या पेट्रोलियम साफ़ करने के कारख़ाने का दृश्य। देखिए, यंत्रों और नलों का कैसा जंजाल फैला हुआ है।

से पम्प करके निकालना होता है। लगभग सभी पुराने कुओं में पम्प लगा रहता है। फ़्लश कुओं की औसत निकासी प्रतिदिन ७·४ बैरेल होती है और पम्पिंग कुएँ की निकासी प्रतिदिन एक बैरेल के लगभग। अत नए कुओं से ही पेट्रोलियम की अधिकांश मात्रा हमें प्राप्त होती है। अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र में रॉकी पर्वत श्रेणी के पूर्वीय इलाक़ों के कुओं की निकासी प्रतिदिन ३६ बैरेल के लगभग है। साधारणत पेट्रोल के कुएँ पॉच वर्ष तक चालू रखे जाते हैं। इस अवधि में तेल की कम्पनी को कुएँ से काफी मुनाफा हो चुका होता है, साथ ही कुआँ भी व्यावसायिक दृष्टि से एक प्रकार से सूख-सा जाता है। पेट्रोलियम के कुछ प्रदेशों में कुएँ आठ दस वर्ष तक भी चालू रखे गए हैं, किन्तु ऐसे कुएँ गिनती के दो-चार ही निकलते हैं।

कुएँ से पेट्रोलियम को साफ करने के लिए फैक्टरियों तक ले जाने के लिए पहले लकड़ी के पीपे काम मे लाये जाते थे। इन पीपों की भीतरी सतह पर सरेस की गाढी पुताई कर दी जाती थी ताकि पेट्रोलियम टपककर बाहर न निकल सके। किन्तु पीपों में भरकर पेट्रोलियम को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने में ख़र्च अधिक पडता था, अत अब सैकडों मील लम्बे पाइप बिछाकर उन्हीं के द्वारा पेट्रोलियम को कुओं से सीधे साफ करनेवाली फैक्टरियों तक भेजते हैं। प्रत्येक कुएँ का पेट्रोलियम पहले वहा पर स्थित टङ्की में एकत्रित होता है। यह टङ्की काफी ऊँची बनाई गई होती है। इस टङ्की से दो इच व्यासवाली नली के सहारे पेट्रोलियम अपने आप बहकर निकट के पम्पिङ्ग स्टेशन की टङ्की में पहुँचता रहता है। यहाँ से शक्तिशाली इजिन द्वारा पम्प करके यह मुख्य पाइप-लाइन में भेजा जाता है। मुख्य पाइप का व्यास ६ इच होता है। पानी ले जानेवाले पाइप की भाँति एक पाइप दूसरे से पेचदार छल्लों द्वारा जुड़ा रहता है। पाइप बिछाते समय सदैव चौरस और ढालू भूमि तो मिलती नहीं, अत. पाइप को ऊँची-नीची भूमि पर से ले जाना होता है। कोई भी द्रव स्वयं ऊँचाई पर नहीं चढ सकता, अत. पाइप-लाइन पर थोडी-थोड़ी दूर पर पम्प लगाए जाते हैं जो पेट्रोलियम को पम्प करके आगे भेजते हैं। सैकडों मील लम्बी पाइप लाइन बिछाने का काम भी कम दुस्तर नहीं है। इस काम में इञ्जीनियरों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उदाहरण के लिए इराक़ के पेट्रोलियम को साफ़ करने के लिए उसे त्रिपोली और हैफ़ा के बन्दरगाहों तक पाइप-लाइन के सहारे ले जाने की व्यवस्था की गई है। इस उद्योग को सफल बनाने के लिए निर्जन प्रान्तों से होकर कई हजार मील लम्बी पाइप लाइन बिछानी पड़ी थी। कुल दस हज़ार मजदूर, मिस्त्री तथा इञ्जीनियरों ने इस काम को पूरा किया था। ग्रीष्म ऋतु के दिनों में यहाँ असह्य गर्मी पड़ती थी तथा जाड़े की ऋतु मे रात को इतनी ठण्ड पड़ती कि पानी तक जमकर बर्फ बन जाता था। इन प्राकृतिक अड़चनों के अतिरिक्त वहाँ के ख़ानाबदोश निवासी भी अवसर पाते ही लूट-मार मचाते थे। अत डेरे तबू के सामान आदि की रक्षा करने के लिए प्राय हथियारबन्द सन्तरियों का पहरा रखना पडता था। यह पाइप-लाइन एक सिरे से दूसरे सिरे तक भूमि के ६ फीट नीचे गडी हुई है। इस बात का भी भय था कि रेतीली भूमि के लवणमय पदार्थ

लोहे पाइप को खदर डालेंगे, अत पाइप पर एक सिरे से दूसरे तक 'एसबेस्टस' की एक पतली तह लपेटी गई है।

कुएँ से जिस दशा में पेट्रोलियम निकलता है, वह व्यवसाय की दृष्टि से किसी प्रयोजन का नहीं होता। अत काम में लाने के पहले इसे साफ कर लेना आवश्यक होता है। कच्चे पेट्रोलियम को साफ़ करके उससे पेट्रोल, मिट्टी का तेल (केरोसिन), इंजिन में जलानेवाला तेल (फ़ुएल ऑयल), लुब्रिकेटिंग ऑयल (मशीन की धुरी और पुर्ज़ों में देनेवाला तेल), पैराफ़िन, मोम और तारकोल आदि कई वस्तुएँ प्राप्त करते हैं।

पेट्रोलियम को साफ करने का सिद्धान्त मोटे तौर पर वही है जो खारे पानी को उबालकर उसके वाष्प का पुन द्रवीकरण करके मीठा पानी प्राप्त करने के लिए काम में लाया जाता है। 'रिफाइनरी' (पेट्रोलियम साफ करने के कारखाने) में से कच्चे पेट्रोलियम को टङ्की में एक बड़ी देगची में गर्म करने के लिए लाते हैं। इस देगची को 'स्टिल' कहते हैं। पेट्रोलियम में विभिन्न तापक्रमों पर उबलनेवाले अनेक द्रव मौजूद होते हैं। अतः सावधानी के साथ गर्म करने पर सबसे पहले पेट्रोल (गैसोलिन) गैस रूप में परिणत होता है। धातु की एक टेढ़ी नली द्वारा यह एक ऐसे बर्त्तन में पहुँचाया जाता है, जो निरन्तर ठण्ढा किया जाता रहता है। ठढ पाकर पेट्रोल इस बर्त्तन में पुनः द्रव रूप धारण कर लेता है। लगभग २००° फ़ा० से ४००° फ़ा० तक पेट्रोलियम का समूचा पेट्रोल बाहर निकलकर अलग द्रव रूप में इकट्ठा हो जाता है। अवश्य ही इस प्रकार से प्राप्त किया गया पेट्रोल विभिन्न श्रेणी के पेट्रोल का मिश्रण होता है। साधारण मोटरकार के इंजिनों में इस प्रकार का पेट्रोल बिना किसी अड़चन के काम में लाया जा सकता है। किन्तु इस पेट्रोल को भी दुबारा उबालकर इसमें उपस्थित विभिन्न श्रेणी के पेट्रोल को एक-दूसरे से अलग कर सकते हैं। 'स्टिल' के पेट्रोलियम में से पेट्रोल के
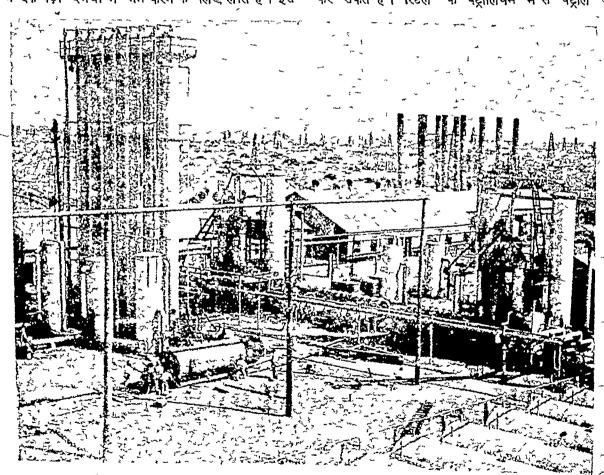
पीरू (दक्षिणी अमेरिका) के एक तेल-क्षेत्र का दृश्य। सामने एक 'रिफ़ाइनरी' या तेल साफ़ करने का कारख़ाना है।

बिल्कुल बाहर निकल जाने पर 'स्टिल' का तापक्रम धीरे-धीरे ४००° फा० से ५७५° फ़ा० तक बढ़ाते हैं। इस दौरान में हमें केरोसिन (मिट्टी का तेल) प्राप्त होता है। तदुपरान्त 'स्टिल' का तापक्रम ५७५ फा० तक बढ़ाने पर स्टिल में कुल पेट्रोलियम का लगभग ३६ प्रतिशत भाग एक गाढ़े तरल द्रव के रूप में बच रहता है, जो फ़्यूल ऑयल कहलाता है। यह अनाज पीसने की मशीनों तथा डिज़ेल ऑयल इंजिनों में जलाने के लिए ईंधन की तरह काम में लाया जाता है।

केरोसिन को बाजार में भेजने से पूर्व विभिन्न रीतियों द्वारा स्वच्छ करना पड़ता है, साथ ही इसे रंगहीन भी बनाना पड़ता है। साधारणत. इसे गाढ़े गन्धक के तेजाब के साथ मिलाकर खूब हिलाते हैं। इस क्रिया में केरोसिन में मौजूद गन्धक अलग हो जाता है, साथ ही केरोसिन का रंग भी साफ हो जाता है। तेज़ाब के साथ हिलाने के बाद उस बर्त्तन के पेंदे में गाढ़ा-गाढ़ा द्रव नीचे बैठ जाता है, जिसमें केरोसिन की तलछट इकट्ठी हो जाती है। इसे अलग कर लेते हैं। रूमानिया मे अब गन्धक के तेज़ाब के स्थान पर द्रव सल्फर-डाइ-ऑक्साइड का प्रयोग किया जाता है। इस तरीक़े में ख़र्च कम बैठता है, क्योंकि सल्फर-डाइ-ऑक्साइड पुन. पृथक् हो जाती है और इस प्रकार उसे बार बार काम में ला सकते हैं।

'स्टिल' में बचे हुए पदार्थ को एक विशेष रीति द्वारा पुनः गर्म करके उससे 'लुब्रिकेटिङ्ग ऑयल' तथा मोम प्राप्त करते हैं। इसी मोम से मोमबत्तियाँ बनायी जाती हैं। इस गाढ़े द्रव को ख़ूब ऊँचे तापक्रम तक गर्म करने पर इसमें से लुब्रिकेटिङ्ग ऑयल तथा मोम गैस बनकर अलग हो जाते हैं, जिन्हें ठण्डा करके द्रव रूप में परिणत कर लेते हैं। किन्तु इस तेल में मौजूद मोम को अलग करना आवश्यक होता है, अन्यथा अधिक ठण्ड पड़ने से मशीन के पुर्जों मे डाले गए अशुद्ध लुब्रिकेटिङ्ग ऑयल की मोम जमकर ठोस बन जायगी और मशीन के परिचालन में बाधा आ उपस्थित होगी। मोम को लुब्रिकेटिङ्ग ऑयल से अलग करने के लिए तेल को ख़ूब ठण्डा करते हैं। इस क्रिया में मोम जमकर ठोस बन जाती है और इस प्रकार इसे आसानी के साथ अलग कर लेते हैं।
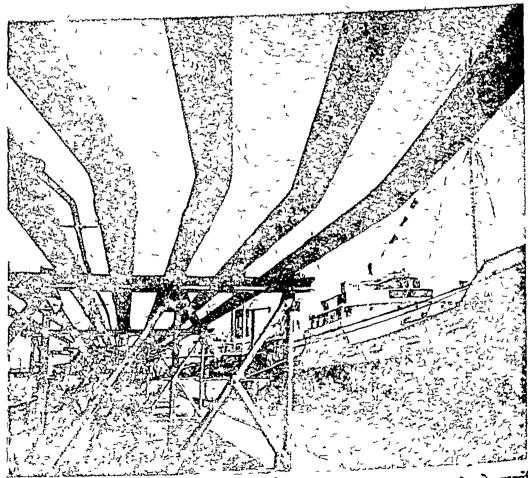
पेट्रोल एवं मिट्टी के तेल का निर्यात करनेवाले एक बंदरगाह पर रिफ़ाइनरी से आनेवाले पाइपों का जमघट—इन्हीं से तेल टैंकर जहाज़ों में भरकर विदेशों को भेजा जाता है।

जापान की कला—(२) चित्रकला

पिछले लेख में जापानी कला का अंश—भास्कर्य और स्थापत्य—के संबंध में कुछ जानकारी आप पा चुके हैं। आइए, अब संक्षेप में जापानी चित्रकला के स्वरूप और विकास की रूपरेखा से आपको परिचित किया जाय, जो संसार के कला-क्षेत्र में अपना एक खास स्थान रखती है।

यद्यपि स्पष्ट रूप से चीन ने जापानी कला और संस्कृति को प्रभावित किया है, तथापि एकबारगी हमें इस नतीजे पर नहीं पहुँचा जाना चाहिए कि जापानी कला में मौलिकता है ही नहीं, अथवा वह चीनी कलात्मक प्रतिभा की एक प्रशाखा-मात्र है। वस्तुतः युग युग में जापानियों का इतिहास इस बात की गवाही देता रहा है कि दूसरों की खूबियों को अपनाकर उनके संयोग से नवीन सृजन करना यह उनकी एक प्रधान जातीय विशेषता रही है। अभी हाल के ज़माने ही में उन्होंने पाश्चात्य व्यापारिक संगठन और उत्पादन के तरीकों को अपनाने में आश्चर्यजनक क्षमता दिखलाई है। यह सच है कि कला के क्षेत्र में जापान को आदि प्रेरणा चीन ही से मिली, किन्तु जापानी कला का बाद में जो विकास हुआ तथा जो गौरव उसने प्राप्त किया, उसका समस्त श्रेय चीन की दी हुई प्रेरणा को नहीं दिया जा सकता।

हम पहले ही बता चुके हैं कि मानवीय कला मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित की जा सकती है—एक तो वह जो प्रकृति की हूबहू नकल उतारना चाहती है, जिसमें कुदरत के रूपरंग और विविध पहलुओं की ज्यों-की-त्यों फोटो की भाँति प्रतिलिपि अंकित करने का प्रयास किया जाता है, दूसरी वह जो प्रकृति के सौन्दर्य को आत्मसात् कर, उसे एक नया पुट देकर, अपनी आत्मा की सूक्ष्मतर अनुभूतियों के अनुरूप संयोजन, नवविधान एवं पुनर्निर्माण द्वारा नवीन सृष्टि करने में प्रवृत्त होती है। इन्हीं दो मुख्य श्रेणियों के अन्तर्गत कला की प्रायः सभी कलाओं का समावेश हो जाता है, फिर चाहे किसी का एक वर्ग की ओर अधिक झुकाव हो और दूसरी ओर कम, साथ ही प्रत्येक की अपनी निज की विशेषताएँ भी हो सकती हैं। साधारण बोलचाल में, प्रथम श्रेणी की कला यथार्थवादी (realistic) एवं दूसरी आदर्शवादी (idealistic) कहकर पुकारी जाती है और मोटे तौर पर कदाचित् यह कहना ग़लत न होगा कि मिस्र और टर्की के पश्चिम की समस्त कला यथार्थवादी है तथा इन प्रदेशों के पूर्व की ओर की प्रधानतया आदर्शवादी। पिछले अंकों में चीनी कला की लाक्षणिक विशेषताओं की व्याख्या करते समय हम यह बता चुके हैं कि इस आदर्शवाद का अर्थ यह कदापि नहीं रहा है कि प्राकृतिक रूपरेखा को बिल्कुल तिलांजलि दे दी गई हो अथवा प्राकृतिक दृश्य को तोड़-मरोड़कर विकृत कर दिया गया हो। बल्कि प्रकृति की सुखमाओं को बटोरकर, उन्हें आत्मा की सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति के अनुरूप एक नए ढंग से सजाने का ही उद्योग इस कला में निहित है। चीनी कला के चरम उत्थान काल की कृतियाँ इस बात को भली भाँति प्रकट करती हैं कि उनमें केवल दृश्यचित्र के बाह्य निरूपण की अपेक्षा कलाकार की भावनामूलक अन्तर्दृष्टि को अधिक महत्व दिया गया है—उनका प्रयोजन यथार्थ में किसी बाह्य दृश्य विशेष का प्रत्यांकन करना न था, जितना कि किसी एक विशेष मनोभाव की अभिव्यक्ति करना। दूसरे शब्दों में इस प्रकार का चित्र प्रकृति के चुने हुए फूलों के एक गुलदस्ते जैसा नहीं, बल्कि कलाकार की अंतरात्मा के एक उभार जैसा होता था।

जापानी चित्रकला की विशेषताओं के बारे में सुदूर पूर्व की कला के जगत्विख्यात विशेषज्ञ, अन्यतम कला-

पारखी श्री लारेन्स बिनियन की निम्न सुंदर व्याख्या से अधिक सूत्रवत् विवरण अन्यत्र मिलना कठिन है। वह लिखते हैं.—

"जापानी चित्रकला में प्रकृति की छायाओं की नक़ल उतारने की एकदम अवहेलना की गई है। साथ ही उसमें न तो भास्कर्य जैसा प्रभाव लाने की ही कोशिश की गई, न चित्रित आकृतियों के समुचित स्पष्ट उभार की आवश्यकता पर ही अधिक जोर दिया गया है। वह तो वस्तुओं के यथार्थ निरूपण के बजाय केवल संकेत द्वारा उनका चित्रांकन करना अधिक पसद करती है। उसमे जिस दृष्टिकोण से काम लिया जाता है वह द्रष्टा की अनुभूति विशेष पर आश्रित होता है न कि दृश्य वस्तु के आकार-प्रकार पर। वस्तुत. उसका लक्ष्य बाह्य दृश्यचित्र की पूर्ण प्रत्याकृति उपस्थित करना नहीं होता, बल्कि उस दृश्य के कुछ महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट अगों को चुनकर केवल उनके ही चित्रांकन द्वारा अपनी भावना की अभिव्यक्ति करना होता है। इस शैली मे चित्रपट के उस भाग का भी जो कि बिल्कुल ख़ाली रहता है, चित्र के उद्देश्य की पूर्त्ति करनेवाले एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में उपयोग किया जाता है। यद्यपि जापानी कलाकार प्रकृति का बड़े मनोयोग के साथ अध्ययन करते हैं, किन्तु ऐसा करने मे उनका उद्देश्य केवल यही होता है कि उनकी स्मरण-शक्ति ऐसी सध जाय कि जो चित्र उन्हें अंकित करना हो उसको अपने मन के कल्पनापट पर एक बार अच्छी तरह कल्पित कर लेने पर फिर उस मानसिक चित्र को एकदम सचाई के साथ हूबहू परदे पर अंकित करने में ज़रा भी कठिनाई न हो। वे लोग जीवन, गति, हावभाव, चरित्र सभी का ध्यानपूर्वक अध्ययन करते हैं, किन्तु ऐसा करते समय उनकी आँखें निरंतर इस बात की खोज में रहती हैं कि किस प्रकार इनका प्रयोग आलकारिक रूप में किया जाय। उनकी चित्रकारी की-शैली चीनी पद्धति का अनुसरण करती है। इनके भी माध्यम चीनी रोशनाई (Chinese Ink) तथा पानी में घुलनेवाले रंग ही होते हैं, जिनमें से प्रथम द्वारा अधिक से अधिक चटकीले गहरे काले से लेकर हलके धूमिल रजत वर्ण तक की सभी गहराई की छायाएँ (shades) अकित की जा सकती हैं। रगों में आवश्यकतानुसार कभी चावल का माँड़, तो कभी मछली का सरेस भी मिलाया जाता है। जापानी चित्र या तो केवल रोशनाई द्वारा चित्रित होते हैं, या यहाँ-वहाँ हल्के रंगों द्वारा। अथवा कभी-कभी वे सपूर्णतया रग-बिरंगे भी होते हैं। जिस चित्रपट पर ये अकित होते हैं, वह या तो रेशम होता है या एक प्रकार का सोखनेवाला काग़ज। अत योरपीय तैल-चित्रों जैसी भड़कीली कोई वस्तु यहाँ देखने को नहीं मिल सकती। यहाँ तो हस्तलिपि (handwriting) की भाँति तूलिका द्वारा अकित रेखाओं को भी कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यजना करनेवाला एक मूल्यवान् साधन माना जाता है। इसीलिए यहाँ के चित्रकार के लिए तूलिका द्वारा (न कि लेखनी द्वारा) लिपि आलेख करने की दक्षता प्राप्त करना भी शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अग माना जाता रहा है।"

"आरभिक युग मे जापान मे भित्ति-चित्रकारी (Frescoe painting) की भी प्रथा थी, परन्तु उतने बड़े पैमाने पर कभी नहीं जैसी चीन मे। यहाँ के चित्र या तो 'काकेमोनो' (Kakemono) अर्थात् लटकानेवाली तस्वीरों के रूप में मिलते हैं, या 'माकीमोनो' (Makimono) अर्थात् जन्मपत्रियों की तरह आड़े लपेटे हुए लबे चित्रपटों के रूप में, जो कभी-कभी बेहद लंबे होते हैं। इसके अतिरिक्त, जापान के कुछ सर्वोत्तम चित्र परदों (Screens) पर बने भी मिलते हैं, जो प्राय. छ बार तह किये हुए होते हैं। ये यदि रगीन हुए तो उनकी पृष्ठभूमि प्राय' सुनहली या रजत-वर्ण की होती है। कुछ चित्र चौखटों मे मढ़े हुए भी मिलते हैं और दूसरे लकड़ी की ऐसी तख्तियों पर बने हुए, जो अपने दराजनुमा चौखटे में खिसकाई जा सकती हैं। काकेमोनो बढ़िया ज़रीनी कपड़े पर चढ़ाकर लपेटकर रक्खे जाते हैं और जब दिखलाना हुआ तो 'तोकोनोमा' (Tokonoma) नामक इसी काम के लिए बनाए गए एक प्रकार के आले या ताक़ में लटकाकर उनका प्रदर्शन किया जाता है।"

जापानी गृहों में एक बार में एक से अधिक चित्र प्रदर्शित नहीं किए जाते, जैसा कि हमारे अपने देश या अन्य देशों के दीवानख़ानों मे रहते हैं। इसका कारण यह है कि जापानी, जो मानव स्वभाव के दक्ष पारखी होते हैं, यह धारणा रखते हैं कि कमरे में एक से अधिक चित्र होने पर दर्शक का ध्यान बँट जाता है जिससे उसके अंतस्तल में वह प्रगाढ़ शांति नहीं विराज सकती, जो कि कला की परख करने, तथा उसका रसास्वादन करने के लिए इतनी अधिक आवश्यक है। जब तोकोनोमा में कुछ समय तक एक तस्वीर प्रदर्शित की जा चुकी होती है, तो

उसे हटाकर उसके स्थान में दूसरा चित्र लगा दिया जाता है, ताकि कोई भी आगन्तुक जब कभी उस घर मे प्रवेश करे तो उसे सदैव कोई नवीन उल्लासजनक कलाकृति देखने का अवसर मिलता रहे। इस तोकोनोमा के समक्ष प्राय एक पुष्पपात्र में कुछ चुने हुए फूल रक्खे रहते हैं, जो या तो वर्ण-भेद द्वारा आले के चित्र के सौंदर्य को निखारने में योग देते हैं या फिर उसके साथ सामजस्य स्थापित करते हुए उसकी शोभा बढ़ाते हैं। जापान में फूल-पत्तों की सजावट के काम को भी एक ऊँची कला का स्थान दिया गया है और केवल सूक्ष्मदर्शी सच्चे पारखी ही वहाँ की पँखड़ियों या पत्तियों की विशेष सजावट में निहित सूक्ष्म संकेतों का मर्म समझ सकते हैं। फूलों द्वारा सजावट की यह कला कुछ शताब्दी पूर्व अपनी चरमावस्था पर पहुँच गई थी और आज भी जापान में इसका प्रचार है। इसे वहाँ 'इकेबाना' (Ikebana) के नाम से पहचानते हैं।

जापानियों के मुख्य कला-विषय प्राय चीनी कला-[illegible]यों से सादृश्य रखते हैं। किन्तु जहाँ चीनी कलाकार प्रगाढ़ शांति के चित्रण मे ही आनन्दानुभव करते हैं, वहाँ जापानियों ने हलचल-भरे जीवन के

जापानी चित्रकला का एक नमूना
यह चित्र काष्ट-चित्रों के प्रचलन से पहले के युग का है, किन्तु इसमे आगे चलकर लोकप्रिय बननेवाले उक्त प्रकार के चित्रों की सरल शैली का पूर्वाभास मिलता है। इसके चित्रकार का नाम है कात्सुकावा और चित्रित विषय है 'एक सुदरी'।

चित्रण को ही अधिक महत्त्वपूर्ण और आनन्ददायक माना है। चीनी लोग मननशील और सहज जीवन के उपासक होते हैं। इसके विपरीत जापानी मूलत. एक योद्धा जाति के लोग हैं, अतएव उन्हें मध्यकालीन युग के सुदीर्घ गृहयुद्ध के ज़माने के अपने देशवासियों के शौर्य और साहसिक कार्यों में चित्रण के लिए मनचाही सामग्री दिखाई दी। उन्होंने बहुत बड़े आकार के चित्र बनाने की ओर अधिक ध्यान न दिया। इसका कारण यह था कि उनमें सुघड़ और सुव्यवस्थित रूप से संक्षेप में किसी भी कार्य को रोकने की स्वभावजन्य प्रवृत्ति रही है।

किसी भी योद्धा और ज़िन्दादिल जाति में जो उल्लास का भाव पाया जाता है वही उसकी कला में भी विशिष्ट रूप से अभिव्यक्त होता है। जापानियों के बारे में भी यह सच है। बल्कि उनकी हद दर्जे की हस्तलाघवता ही जापानी कलाकारों के लिए कदाचित् सबसे अधिक घातक भी साबित हुई है—उनकी तूलिका की पैंतरेबाजी के मारे चित्र के आतरिक महत्त्व की प्राय हत्या होती रही है। फिर भी, यह स्वीकार करना होगा कि सदियों से जापानियों में कला-सम्बन्धी स्वभावजन्य उच्च सुरुचि का एक भाव रहा हैं, जो केवल प्रतिभाशाली लोगों में ही पाया जा सकता है। सम्भवत अन्य किसी भी देश में कलात्मक सुरुचि का विकास इतने व्यापक पैमाने पर नहीं हुआ।

यह एक अचरज की बात है कि जिन जापानी छापे के रंगीन चित्रों की विदेशों में इतनी अधिक प्रशसा की जाती है, उनको स्वयं जापानवाले कला की दृष्टि से बहुत महत्त्व नहीं देते। वे इन छापे के चित्रों को घटिया क़िस्म की कृतियाँ समझते हैं, जिन्हें स्थायी सम्मान नहीं दिया जा सकता तथा जो निम्न कोटि की जनता की तुष्टि के लिए ही बनाई गई हैं। १८वीं सदी के जो प्रसिद्ध छापे के रंगीन चित्र मिलते हैं, वे श्रमजीवी कारीगरी वर्ग के लोगों द्वारा महज अपनी ही श्रेणी की जनता के लिए बनाये गये थे। पर स्वयं अपने देश के कला पारखियों द्वारा हेय समझे जाने वाले यही चित्र योरपियनों द्वारा जो कि संसार भर की कला से परिचित हैं, अनुपम चित्रकारी के चमत्कारपूर्ण नमूनों के रूप में प्रशंसित किये गये हैं। इन अद्भुत कलाकृतियों के मुक़ाबले की कोई चीज़ चीन के पास नहीं है। और न, जहां तक हमारी जानकारी है, चीनवालों ने जापान के महान् कलाविदों द्वारा चित्रित इन भव्य पर्दे के चित्रों जैसी ही कोई चीज़ कभी पैदा की, जिनकी गणना जापानी चित्रकला की सबसे अधिक गौरवास्पद कृतियों में होती है। यद्यपि साधारणत जापानी कला में वह गहराई नहीं पाई जाती जो चीनी कला में है, फिर भी वहा के आरम्भिक धार्मिक चित्रों में इस श्रेणी की भी अनेक उच्च कोटि की कृतियां मिलती हैं, और गतिशील एवं प्रचण्ड हलचल के चित्रण में तो मध्यकाल के जापानी कलाकार एकदम बेजोड़ हैं। इसके बाद के युगों अर्थात् उत्तरकालीन कला में एक प्रकार के विनोदपूर्ण उल्लास और सूक्ष्म निदर्शन का भाव अधिक मिलता है। वस्तुत जापानी चित्रकला की तह में निरतर १२०० वर्षों की एक अटूट परंपरा निहित है, जो लगातार नूतन संस्कारों द्वारा अनुप्राणित होती रही है और आज दिन भी जो बहुत-कुछ सजीव बनी हुई है। किन्तु चूँकि उसकी लगभग सभी सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ स्वदेश ही में छिपी पड़ी हैं, अतएव इस क्षेत्र में उसकी साधना की वास्तविक परिधि से बाहरी दुनिया अपरिचित-सी ही रही है और इसीलिये उन्हें समुचित आदर नहीं मिल पाया है।

छठी शताब्दी ईस्वी में कोरिया और चीन के रास्ते जापान में भारतीय बौद्ध मत का प्रवेश हुआ, और यह कहा जा सकता है कि जापानी चित्रकला का इतिहास भी उस देश में बौद्ध मत के इस आगमन के साथ ही शुरू होता है। जापानी चित्रकारी की प्राचीनतम शैली निश्चित रूप से चीनी ढङ्ग की है—वह उस चीनी बौद्ध शैली से मिलती जुलती है जो सर ऑरेल स्टाइन द्वारा चीनी तुर्किस्तान में तुर्फान नामक स्थान में खोजे गये बौद्ध भित्ति-चित्रों में देखने को मिलती है। पर जापान के आदि बौद्धयुग की सर्वोत्तम कृतियाँ नारा के सुविख्यात होरियूजी के मन्दिर में देखने को मिलती हैं, जिनका पिछले प्रकरण में उल्लेख किया जा चुका है। इन चित्रों पर बहुत कुछ चीन के टाङ युग की भित्तिचित्रकला का प्रभाव दृष्टिगत होता है और कुछ विशेषज्ञों ने तो यहा तक कहा है कि सम्भवत वे कोरिया के कलाकारों की रचना हों, जिन्होंने चीन में शिक्षा-दीक्षा पाई थी। कुछ भी हो, भारतीय दृष्टि में तो जापान के ये बचे-खुचे आदिकालीन बौद्ध चित्र बहुत कुछ अजन्ता के भित्तिचित्रों की याद दिलाते हैं। उनकी भावभगी, मुद्रा, विन्यास, रंग, विषय, शैली सब कुछ अजन्ता के सदृश है। निश्चय ही बाद को यदि कभी अनुसधान होगा तो नारा और अजन्ता की कलाओं में अवश्य पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकेगा।

आठवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जापान की राजधानी नारा से हटाकर कियोटो ले जाई गई। इस प्रकार जिस नवीन युग का उदय हुआ उसमें दो महान् चित्रकार सामने आए—प्रथम प्रसिद्ध महन्त कलाकार कोबो और दूसरा 'कोसे चित्र-प्रणाली' का जन्म-दाता कानाओका। दुर्भाग्यवश कानाओका की कोई भी कृति काल के निर्दय प्रहारों तथा मनुष्य की शिल्प विध्वंसकारी प्रवृत्तियों के प्रकोप से न बच सकी, फिर भी यह कहा जाता है कि वह एक सर्वतोमुखी प्रतिभा का कलाकार था, जो बौद्ध विषयों के साथ साथ दैनिक सांसारिक जीवन, पुष्प, पशु पक्षी आदि विविध विषयों का सुंदर चित्रण किया करता था।

६वीं शताब्दी के अंतिम चरण से १४वीं शताब्दी तक की कालावधि में जापान का चीन के साथ संपर्क एक प्रकार से बिल्कुल टूट-सा गया था। इन दिनों स्वयं अपनी ही दुनिया के घेरे में घिरा हुआ जापान एशियाई महाद्वीप से प्राप्त सांस्कृतिक निधि को आत्मसात् करने, साथ ही अपनी निजी प्रतिभा के अनुसार अपनी भावनाओं का विकास करने में तल्लीन रहा। ११वीं शताब्दी के आरंभ होते होते एक सुनिश्चित जापानी चित्रशैली का प्रादुर्भाव हो चुका था। इन्हीं दिनों जापानी कला-क्षेत्र में तोबा सोजो का नाम सामने आया। तोबा सोजो वास्तव में तो एक धर्माधिकारी या राज-पुरोहित था, किन्तु कलाकार के रूप में उसकी ख्याति के आगे उसके धार्मिक उच्च पद की गौरव गरिमा ढक-सी गई। तोबा सोजो सबसे अधिक याद किया जाता है मेंढक, बंदर आदि के उसके उन सजीव व्यंग चित्रों के लिए जिनमें तत्कालीन धर्ममंदिरों या विहारों के अपने साथियों का उसने खूब मजाक उड़ाया है। इस दृष्टि से हम उसे 'मिकी माउज' (Mickey Mouse) आदि आधुनिक विनोदी व्यंगचित्रों के निर्माता वाल्ट डिज़्नी का कला के क्षेत्र में आदि पुरखा मान सकते हैं। यह

जापानी कला की रेखाङ्कन-शक्ति का एक और उत्कृष्ट उदाहरण

यह ताओ युआन मिङ् नामक कवि का चित्र है। चित्रकार का नाम था गाकू। चित्र में कवि के पैरों का जूते के लिए नाप लेने का दृश्य है। विशिष्ट भाव-प्रदर्शन के लिए रेखाओं के प्रौढ़ प्रयोग पर ध्यान दीजिए।

कलाकार अपने ज़माने में इतना अधिक प्रख्यात हो चुका था कि आज तक जापान में व्यग-चित्रण-कला उसी के नाम पर 'तोबा ये' (Tobaye) कहलाती है। इस युग की राजसी शैली का नमूना हमे ताकायोशी के चित्रों मे मिलता है, जिसने ११ वीं शताब्दी के आरंभ में श्रीमती मूरासाकी द्वारा लिखित 'गेन्जी मानोगातारी' नामक सुप्रसिद्ध जापानी उपन्यास के लिए पहलेपहल चित्र बनाए थे। इस कलाकार की कृतियों में हमें 'तोसा प्रणाली' की उस पूर्णतया विकसित शैली का सबसे अधिक भव्य और मौलिक स्वरूप देखने को मिलता है जिसमें कि पुरातन 'यामातो'* परंपरा इतने अधिक प्रखर रूप में सुरक्षित रहने को थी। उत्तरकाल की कला में यथार्थत चीनी प्रभाव से मुक्त जो कुछ भी विशुद्ध जापानी ढग की चित्रकारी मिलती है, उसका मूल इन्हीं दिनों बोए गए बीजों में पाया जाता है। इस युग की शैली पर चीनी अभिव्यजनावाद की जरा भी छाया नहीं है। १२ वीं शताब्दी के मध्यकाल के लगभग तायरा और मिनामोतो नामक शक्तिशाली कुलों की पारस्परिक प्रतिद्वद्विता के फलस्वरूप जापानियों का गृहयुद्ध छिड़ गया, जिसमें वे लबे समय तक उलझे रहे। अत में मिनामोतो वंश को विजय मिली और उसके नेता योरीतोमो ने 'शोगुन' की उपाधि धारणकर अपनी राजधानी हटाकर कामाकुरा नामक स्थान में प्रस्थापित की। आज दिन यह स्थान बाद को निर्मित की गई अमिताभ बुद्ध की काँसे की भीमकाय प्रतिमा के लिए संसार भर में मशहूर है। कामाकुरा-युग के चित्रों में तत्कालीन राजनीतिक अशान्ति की स्पष्ट छाया दिखाई देती है। जिस शैली में तोबा-सोजो ने कमाल कर दिखाया था, तूलिका के झटके मात्र से थोड़े में जोरदार प्रभाव उत्पन्न करने तथा आकृतियों में एक सजीव उल्लास का भाव भर देनेवाली उसी शैली का प्रयोग अब युद्ध की हलचलों के दृश्य चित्रित करने के लिए किया गया। इस युग के सबसे महान् कलाकार थे मित्सुनागा, नोबुजाने और किओन। इनमें किओन द्वारा निर्मित गृहयुद्ध के ओजपूर्ण माकीमोनो चित्र अपनी नाटकीय रचना, गति-निदर्शन की तड़पन, क्रियात्मक शक्ति के ओज एव आश्चर्यजनक रचना-चातुर्य के लिए ससार भर की कला के क्षेत्र में बेजोड़ माने जाते हैं।

* 'यामातो' जापनियो की बोली में उनके अपने देश का प्राचीन नाम है, जैसा कि वर्त्तमान समय में वे उसे 'निप्पॉन' के नाम से पुकारते हैं।

इसके बाद के युग मे, जो जापानी इतिहास में आशिकागा-युग के नाम से पुकारा जाता है, एक बार फिर चीनी प्रभाव ज़ोर पकड़ता दिखाई दिया। १५ वीं शताब्दी तक आते-आते जापानी विचारधारा ज़ेन-बौद्ध धर्म के ससर्ग से पूर्णतया परिवर्त्तित हो गई। कामाकुरा-काल के गृहयुद्ध के जमाने में ज़ेन (=ध्यान) मत के विचारों ने क्रमश सामुराई नामक भद्र वर्ग, छोटे अमीरों के वर्ग तथा पुरोहित वर्ग सभी पर अपना प्रभाव जमा लिया था। इस मत के प्रतिपादक धार्मिक क्रिया-कलाप सबधी आडबर, मूर्त्ति-पूजा एव शास्त्रीय रूढियों से घृणा करते थे। उनका आधार था ध्यान द्वारा अपने अतराल म स्थित परम तत्त्व के साथ मौन भाव से योग स्थापित करना। इस मत से उत्तर सुङ्-काल की चीन की कला को प्रधान रूप से प्रेरणा मिली थी, अतएव जापानवाले अब इन्हीं दक्षिणी सुङों की ज़ेन प्रभाव से युक्त कला कृतियों की ओर मुड़े और इस नए पुनरुत्थान के हेतु सर्वोच्च अनुकरणीय आदर्शों के रूप में उन्होंने हसिया कुई और मायुआन जैसे प्राकृतिक दृश्यचित्रों के महान् चीनी कलाकारों को अपनाया। पुन राजधानी कामाकुरा से हटाकर कियोटो को ले जाई गई और उठती हुई पीढ़ी की प्रतिभा अधिकाधिक चीनी शैली की ओर आकृष्ट होने लगी। "अब लबे लपेटे जाने वाले चित्रपटों पर चटकीले रगों में शौर्य्यपूर्ण गाथाओं, राजदरबारी क्रिया-कलापों अथवा सत-महात्माओं विषयक दतकथाओं के चित्रण से ध्यान हटाकर लोगों ने तेजी से अकित किए जानेवाले स्याही के हलके रेखाचित्रों को अपनाया, जिनमें थोड़े में ही अमित शक्ति भरी जाने लगी। अब जो विषय प्राय चित्रित किए जाने लगे वे ऐसे ही कुछ होते थे जैसे फूलों से लदी हुई एक झिलमिलाती हुई टहनी, नरकुल की पतली सी शाख पर बैठी कोई एकाकी चिड़िया, कुहरे में से कुछ-कुछ झाँकती हुई कोई पर्वतमाला, अथवा ध्यानावस्थित कोई संत महात्मा। इन चित्रों का मूल विषय, फिर वह चाहे जो भी होता, चित्रित वस्तु का उतना प्रतिनिधित्व नहीं करता था जितना उस भावना का जो कि वह दर्शकों के मनमें पैदा करता था। वह होता था एक प्रकार से किसी लाक्षणिक संकेत या भावना में परिणत यथार्थता जैसा। ज़ेन मत का लक्ष्य ही था आत्मतत्त्व की अनुभूति करना, अतएव उसकी दृष्टि में तो लाक्षणिक भाव से किसी भी बात का सकेत मात्र उसके सपूर्ण निरूपण से कहीं अधिक कला पूर्ण समझा

जाता था। इस नवीन आन्दोलन का प्रधान नेता सोगा शुबुन नामक एक चीनी कलाकार था, जो जापान में आ बसा था। वह अपने पीछे शिष्यों और अनुगामियों की एक लंबी परंपरा छोड़ गया, जिनमें सबसे प्रसिद्ध था स्वयं उसी का पुत्र सोगा जाकोसू।

१५ वीं शताब्दी के अंतिम चरण में एक और संप्रदाय की नींव सेशू नामक कलाकार के हाथों पड़ी, जो कि स्वय जापानियों द्वारा अपने देश का सबसे महान् चित्रकार माना जाता है। उसका अनुगामी सेस्सान भी लगभग उसकी ही टक्कर का चित्रकार था जिसकी तूलिका की ओजस्विता और रचनाओं की प्रखरता एव गहराई उसके महान् गुरु से किसी दर्जे कम नहीं थी।

तीसरा एक और सप्रदाय कानो मासानोबू द्वारा प्रस्थापित हुआ, जो कानो-परंपरा के चित्रकारों की लंबी शृंखला का प्रथम पुरुष था। यह परंपरा आज दिन भी जीवित है। पर कानो चित्र परपरा को इतनी शक्ति न मिलती यदि उसे मोतोनोबू (१४७६ - १५५६) नामक कलाकार की प्रतिभा का सहयोग न मिला होता, जिसकी गणना जापान के सबसे महान् कलागुरुओं में की जाती है।

१५७३ ई० में अंतिम आशिकागा शोगुन के सिंहासन से उतार दिए जाने के उपरान्त अल्पकालिक तोयोतोमी-युग का आरंभ हुआ। इस युग में आशिकागा-काल के मौन कर्कश भाव से हटकर कलाकारों की रुचि भौतिक वैभव की तड़कभड़क के चित्रण की ओर मुड़ चली। इन्ही
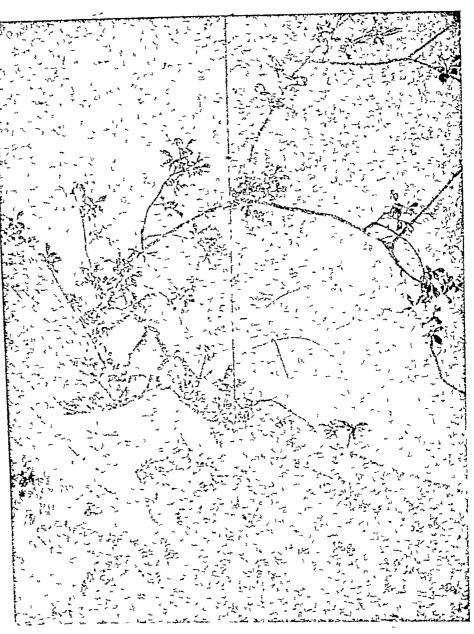
महान् चित्रकार ओकियो के शिष्य रोजेत्सू की एक कृति

इस चित्र मे लता, पुष्प और पक्षियों के चित्राङ्कन की कमनीयता ध्यान देने योग्य है। वस्तुत यह एक बडे चित्रपट का अशमात्र है। इस प्रकार के प्राकृतिक निदर्शन की तस्वीरें बनाने में जापानी कलाकारों ने कमाल हासिल किया है।

दिनों कोरिया के विजेता हिदेयोशी ने, जो एक नीच कुल में उत्पन्न हुआ था, अपने सामन्तों के साथ भव्य राजमहल बनाए और उन्हें खूब जी खोलकर सजाया। उनकी सजावट की माँग की पूर्त्ति करने के लिए यीतोकू और उसके शिष्यों ने विशालकाय पर्दों पर भव्य चित्रकारी की। इस युग के पर्दों पर बने चित्रों में से कुछ जापानी कला की सबसे सुंदर कृतियाँ हैं। उनमें विशद भव्य रचना के साथ-साथ ओज और विस्तार के भावों का सुंदर सम्मिश्रण दृष्टिगत होता है और कभी-कभी अभूतपूर्व रंगों का प्रदर्शन भी। उनकी रेखाएँ एक निराली कल्पना की भावना से ओतप्रोत हैं, जो ऊँचे दर्जे की कलात्मक अनुभूतिशीलता और सुविकसित सुरुचि की परिचायक है। आखिरकार शोगुनों के तोकूगावा राजवंश की सत्ता क़ायम होने पर गृहयुद्ध की समाप्ति हुई और जापान ने शांति की छत्रछाया में आकर पुनः दुनिया से किनारा कस लिया और वह अपने में ही तल्लीन हो गया।

तोकूगावा-युग में अनेक देदीप्यमान कलाकारों का उदय हुआ, जिनमें से तान्यू, कोयेत्सू, ओगाता कोरिन और केन्ज़ान जैसे महान् चित्रकारों के नाम आज भी जापान के घर घर में हरएक की ज़बान पर हैं। इस युग की मुख्य विशेषता यही थी कि तत्कालीन अनेक प्रख्यात-नामा कलाकारों ने कला के साथ-साथ शिल्प या कारीगरी के क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा उँडेली, जैसा कि माइकेल एन्जेलो या लियोनार्दो दा विंची ने इटली के पुनर्जागरण के युग में किया था। उदाहरण के लिए, कोयेत्सू न केवल एक उत्कृष्ट चित्रकार ही था, बल्कि साथ ही साथ वह एक बेजोड़ सुलेखक (Calligrapher), लकड़ी, धातु और लाख का कारीगर, तथा लकड़ी में कुरेदकर चित्र बनाने की कला का उद्धारकर्त्ता भी था। वह एक गाँव का मुखिया भी था, जहाँ उसकी देखरेख में अनेक शिल्पी अपनी-अपनी कारीगरी का काम करते थे। इसी प्रकार ओगाता कोरिन भी, जिसकी 'परदे पर तरंग-चित्रण' नामक एक कृति बोस्टन के अजायबघर में सुरक्षित है, एक अद्वितीय प्रतिभा-सम्पन्न चित्रकार, साथ ही बहुत ही ऊँचे दर्जे का कारीगर भी था। वह जापान के चुने हुए प्रतीकसूचक कलाकारों में से एक था, जो चित्रकारी तथा लाख के काम दोनों में सिद्धहस्त था। उसका भाई केन्ज़ान भी एक उत्तम चित्रकार तो था ही, किन्तु उससे भी अधिक ख्याति उसे मिट्टी के बर्त्तन बनाने की कला में प्राप्त थी।

सत्रहवीं शताब्दी के अंतिम दिनों तक जापानी चित्रकला विशेष रूप से केवल ऊँची श्रेणी के लोगों की ही सौंदर्य-पिपासा की परितृप्ति का साधन बनी रही—उसका कार्यक्षेत्र राजदरबार के दृश्यों के प्रत्यांकन, प्राचीन गण्यमान्य ग्रंथों की तस्वीरों के निर्माण अथवा ऊँचे वर्ग के वीर या संत महापुरुषों के चित्रों के निरूपण तक ही सीमित था। जन-साधारण अपने देश की उन महान् कलाकृतियों की क्वचित् ही झलक देख पाते थे और स्वयं उनकी जीवनधारा, सुख-दुख आदि का शायद ही कभी कला द्वारा निरूपण होता। राजसी ऐश्वर्य के नन्दनकानन से नीचे उतरकर विरला ही कोई कलाकार गरीबों की झोपड़ियों तक आने की उदारता दिखाता। वे तो सदैव धनी वर्ग एवं शिक्षित समाज की ही आवश्यकता पूर्त्ति करने में लगे रहते थे। यह सच है कि प्राचीन तोसा चित्रपटों में प्रायः जनसाधारण की ज़िन्दगी की हलचलों का चित्रण मिलता है, किन्तु वास्तव में यह सब किसी संत या वीर पुरुष की जीवन घटना के निरूपण के सिलसिले में पूरक के रूप में ही किया गया था, और उस पर भी आम बाज़ारू जनता को इन चित्रों को देखने का कभी मौक़ा न मिलता था, क्योंकि वे अधिकतर या तो देवालयों और मठों में या फिर शोगुनों और दाइमियों (Daimios) के आलीशान भवनों में ही सुरक्षित या सजे रहते थे। ऐसी परिस्थिति में यह अनिवार्य ही था कि कभी-न कभी जनसाधारण की कला-विषयक भूख को शान्त करने के लिए कुछ-न कुछ उपाय निकाला जाता —और सो भी किसी देवोपम स्वर्गीय सामग्री द्वारा नहीं, प्रत्युत् ऐसी इहलौकिक सामान्य इतर सामग्री द्वारा, जिसे साधारण लोग सहज ही अपनाकर पचा सकें। इसी आवश्यकता के परिणामस्वरूप धीरे धीरे "ऊकीयोये" नामक एक नवीन कलापद्धति का जापान में आविर्भाव हुआ, जिसका वहाँ की बोली में अर्थ होता है—'नित्यप्रति के जीवन के परिवर्त्तनशील नश्वर संसार की धारा का चित्रण'। इस प्रकार कलाकार की प्रतिभा को रोजमर्रे की ज़िन्दगी के चित्रण के लिए प्रेरित करने का यह शुभ प्रयास जहाँ तक सिद्धान्त की बात थी वहाँ तक तो ठीक था, किन्तु अभी यह समस्या सामने खड़ी थी कि इस तरह निर्मित किए जानेवाले चित्र क्योंकर साधारण जनता के घर-घर पहुँचाए जायँ। इस पेचीदी समस्या को निबटाने का एक बड़ा ही सफल तरीक़ा जापानी कलाविदों ने खोज निकाला, और वह था काठ

पर खुदाई कर इस प्रकार बने हुए ठप्पों से विविध रंगों के छापे के चित्रों को तैयार कर लेना। इन काष्ठ चित्रों (Woodcuts) का १७वीं शताब्दी के अंतिम दिनों में मीरोनोबू नामक एक प्रशसनीय चित्रकार ने समकालीन जनता की जीवनधारा को प्रतिबिंबित करने के लिए वेपैसे के एक बढ़िया साधन के रूप में सफल उपयोग किया और फलत. पहले हाथों से रँगे जानेवाले और बाद में हस्तमुद्रित ये काष्ठचित्र सच्चे अर्थ में एक लोकप्रिय कला के माध्यम बन गए, जो जनसाधारण की वस्तु बनकर भी सुसंस्कृत बनी रही। इन्हीं काष्ठ-चित्रों के रगीन छापों की ही बदौलत न केवल ऊकीयोये बल्कि जापान की समस्त चित्रकला की बाहरी दुनिया में प्रसिद्धि हो पाई है।

इन रगीन छापों के निर्माता उत्कृष्ट चित्रकार भी थे। हाँ, ऊकीयोये सम्प्रदाय के चोशून जैसे कतिपय श्रेष्ठ कलाकारों ने छापे बनाने में भाग न लिया। इस सम्प्रदाय के प्रधान कलागुरु मासानोबू, हारूनोबू, कियोनागा, उतामारो आदि जो १८वीं सदी में हुए,

प्रकृतिवादी शैली के महान् कलागुरु ओकियो की एक कृति

इस महान् कलाकार ने अपने पूर्वगामी किसी भी अन्य जापानी कलाकार से कहीं अधिक सीधे प्रकृति के अध्ययन द्वारा अपनी कला का निर्माण किया। किन्तु साथ ही वह अपने देश की परपरागत रूढ़ियों से भी कभी दूर न हटा।

तथा होकूसाइ और हिराशिजे जो १९वीं सदी में हुए, स्वदेश की अपेक्षा योरप में कहीं अधिक सम्मानित हुए, क्योंकि स्वयं जापान में उनकी गणना प्राचीन परंपरा के प्रामाणिक कला संप्रदायों में नहीं की जाती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऊकीयोये शत-प्रति शत जन-साधारण की ही कला थी।

१७३१ ई० में चीन का एक प्रख्यातनामा चित्रकार, शेन नान पिन, जापान आया और लगभग दो वर्ष तक नागासाकी नामक स्थान में रहा। इस अल्पावधि ही में उसकी शैली तत्कालीन जापानी चित्रकारों की प्रशंसा की पात्र बन गई और वे उसका अनुकरण करने लगे। यह शैली १५वीं शताब्दी के पुराने चीनी पुनरुत्थानकाल की शैली से सर्वथा भिन्न थी, विशेषकर इस बात में कि वह विचारपरक की अपेक्षा प्रकृतिपरक अधिक थी। इस संप्रदाय के प्रधान कलागुरु थे बून्चो, रिउरिकियो, बूसान और क्वाज़ान, गोकि प्रकृतिवाद का चरम विकास संभवत ओकियो नामक चित्रकार की कला में हुआ। ओकियो को एक असाधारण सूक्ष्म एवं सही कलापरक दृष्टि प्राप्त थी और उसको अपनी तूलिका पर असामान्य अधिकार था। अपने पूर्वगामी किसी भी अन्य जापानी कलाकार से कहीं अधिक उसने सीधे प्रकृति के अध्ययन द्वारा अपनी कला का निर्माण किया, यद्यपि साथ ही साथ अपने देश की कला की परंपरागत रूढ़ियों से भी वह कभी दूर न हटा।

ओकियो की प्रकृतिवादी प्रवृत्ति का अनुसरण १८वीं शताब्दी के अन्य कई प्रसिद्ध कलाकारों ने किया, जिनमें मोरी सोसेन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस चित्रकार ने जंगलों में जाकर हिरन, बंदर आदि जानवरों का असली हालत में अध्ययन कर उनके उत्तम चित्र बनाए। उसी की तरह जाकूचू नामक अन्य एक चित्रकार ने मुर्गे-मुर्गियों और मछलियों के रंगीन चित्र बनाने में कमाल हासिल किया।

१७ वीं शताब्दी के बाद से जापान उत्तरोत्तर योरपीय देशों के संसर्ग में आता गया और फलत जापानी चित्रकला में योरपीय शैली का प्रभाव धीरे-धीरे घुसने लगा। कुछ जापानियों ने डच लोगों से तैल चित्र बनाने की कला सीखी और १८वीं सदी में शिबा कोकन नामक एक चित्रकार ने निरी योरपीय शैली ही में अपनी तस्वीरें बनाईं। साथ ही ऊकीयोये संप्रदाय के कई छापों में भी योरपीय दृष्टिकोण अपनाने का प्रयास हुआ।

मेजी युग (१८६८-१९११) के प्रारंभिक वर्षों में, जबकि पाश्चात्य विचारधारा अधिक ज़ोर-शोर के साथ अपनाई जाने लगी थी, डच शैली की चित्रकारी के प्रति अन्य सभी शैलियों से अधिक अनुराग दिखाया गया। जापानी विश्वविद्यालयों और कला-कौशल के शिक्षालयों में योरपीय शिक्षक नियुक्त किए गए और यह आशंका बढ़ने लगी कि कहीं जापानी कला अपना मूल व्यक्तित्व न खो बैठे। किन्तु जापान के सौभाग्य से १८७८ ई० में ई० एफ० फेनोलोसा नामक एक अमेरिकन समीक्षक टोकियो-विश्वविद्यालय में दर्शन के प्रोफेसर नियुक्त हुए और उन्होंने ही पहलेपहल जापान और चीन की प्राचीन कला के सौन्दर्य तथा महत्त्व की ओर ध्यान आकर्षित कर पश्चिमवालों की आँखें खोलीं। इस विद्वान् का जापान के बुद्धिमान् समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उसने जापानी गवर्नमेण्ट को इस बात के लिए विवश किया कि वह देवालयों को कलाकृतियाँ बेचने से रोके और देश की तमाम मूल्यवान् स्मारक वस्तुओं को राष्ट्रीय निधि करार देकर उनकी रक्षा करे। प्राचीन परंपराओं के प्रति उसकी इस दिलचस्पी और उत्साह का प्रभाव जापानी चित्रकारों पर पड़े बिना न रहा। कला के विद्यालयों में योरपीय शिक्षकों को हटाकर उनके बदले गियोकुशो, हाशिमोतो गाहो, कानो होगाई जैसे प्रख्यात जापानी कलाकारों की अध्यापकों के रूप में नियुक्ति की गई और यह निश्चय किया गया कि जापान को कला क्षेत्र में योरप की प्रणाली की नकल करने के बजाय स्वयं अपनी ही राष्ट्रीय परंपरा को अपनाना चाहिए और उस पर गर्व करना चाहिये।

१८९८ ई० में ओकाकुरा काकुज़ो के नेतृत्व में, जिसने विदेश से आए हुए तरीकों के बजाय चित्रकारी की राष्ट्रीय शैली की शिक्षा के लिए 'निहोन बिजुत्सुइन' नामक संस्था की प्रस्थापना की, पुन एक पृथक् कला-संप्रदाय का आरंभ हुआ। योकोयामा ताइकवान और शिमोमूरा क्वानज़ान नामक जापान के सबसे अधिक ख्यातनामा आधुनिक चित्रकार इसी विचारधारा के प्रतिपादक हैं। इन प्रमुख कलाकारों के नेतृत्व का अनुसरण करते हुए अन्य कई उत्कृष्ट चित्रकार भी इस नवीन धारा में बह चले और आज दिन जापान के कलाक्षेत्र में ताकियूची सेहो तथा कवाई गियोकूदो के नाम समोच्च श्रेणी के कलाकारों में लिये जाते हैं, जोकि एशियाई कला-परंपरा को अक्षुण्ण बनाए हुए हैं।

संस्कृत वाङ्मय—(४)

ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्

ब्राह्मण

संस्कृत वाङ्मय में समयानुक्रम के अनुसार संहिताओं के बाद दूसरा स्थान ब्राह्मण-ग्रन्थों का है। साहित्यिक माधुर्य के विचार से इनमें कुछ भी आकर्षक नहीं। यजुर्वेद की भाँति ये भी नीरस हैं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उत्तरकाल के धार्मिक और आध्यात्मिक साहित्य को समझने के लिए ये अद्भुत कुंजी की भाँति हैं। धर्म-विज्ञान का मनन करने में तो इनका अध्ययन नितान्त आवश्यक है। ईश-प्रार्थना के इतिहास में जिस प्रकार यजुर्वेद का प्रचुर महत्त्व है उसी प्रकार यज्ञों और पौरोहित्य के इतिहास में इन ब्राह्मणों का विशिष्ट स्थान है।

यहाँ 'ब्राह्मण'—शब्द का अर्थ है किसी यज्ञ क्रिया-विशेष पर किसी विशिष्ट आचार्य का मत, टिप्पणी। ब्राह्मण-ग्रन्थ सामूहिक रूप से यज्ञ-विज्ञान पर विद्वान् पुरोहितों द्वारा की गई व्याख्याओं की संहिताएँ हैं। और यद्यपि उनमें जगज्जनन और प्राचीन ख्यातों आदि से संबंध रखनेवाली और यज्ञकर्म से रिक्त अन्य कथाएँ भी हैं, तथापि उनका विषय प्रारम्भिक रूप में यज्ञकर्म ही है, जिनकी विवेचना में ये सारे मतमतान्तर और ख्यातियाँ प्रसूत होती हैं। ब्राह्मणों के विषय यज्ञ हैं और उनमें विविध क्रियाओं पर विधान है। इन क्रियाओं के रहस्यमय अर्थ भी स्थान-स्थान पर दिए गए हैं और उनका सम्बन्ध प्रार्थना और ध्यान से भी किया गया है। कई स्थलों पर वे वेदों के विविध मन्त्रों पर दार्शनिक मत भी स्थापित करते हैं और इस रूप में वे निरुक्तों का स्थान ग्रहण करते हैं। जहाँ तत्कालीन अथवा प्राचीन विद्वानों के मत परस्पर-विरोधी हैं वहाँ ब्राह्मण एक के विरोध या दूसरे के पक्ष में अपने मन्तव्य प्रकाशित करते हैं। ऐसे स्थलों का ब्राह्मणों में प्राचुर्य है। कितने ही स्थल उनमें ऐसे भी हैं जिनमें स्थान और सुविधा विशेष से यज्ञक्रियाओं की रीतियों में होनेवाले अंतरों पर विचार किया गया है। किस यज्ञ में किस पुरोहित, होता आदि की किस रूप में कितनी दक्षिणा होगी—इसका उल्लेख भी जगह-जगह किया गया है। किस-किस यज्ञ से इस अथवा अगले जन्म में कौन-कौन-सी सुविधाएँ यजमान पाएगा—इसका भी विवेचन मिलता है। इस प्रकार ब्राह्मण वे ग्रन्थ हैं जिनमें यज्ञ-विज्ञान का निरूपण है।

सहज ही यह कल्पना की जा सकती है कि किसी समय में इस प्रकार के अनेकों ग्रन्थ वर्तमान रहे होंगे—उनसे कहीं अधिक जो हमें आज उपलब्ध हैं। ऐसी भारतीय ख्याति तो है ही, इसके अतिरिक्त उपलब्ध ब्राह्मणों के पाठों में ही अनेकों लुप्त ब्राह्मणों के उद्धरण मिलते हैं और जो ब्राह्मण आज उपलब्ध हैं स्वयं उनकी भी संख्या कुछ कम नहीं है। चारों वैदिक संहिताओं के अपने-अपने ब्राह्मण भी हैं, जिनकी रचना विविध शाखाओं के साथ चरणों में हुई थी। कृष्ण यजुर्वेद की संहिता में ही मंत्रों के अतिरिक्त यज्ञों के अर्थ और उनके प्रयोजन पर प्रकाशित मतों और व्याख्यानों का समावेश है। यजुर्वेद की संहिताओं के इन ब्राह्मण-सदृश भागों में हमें ब्राह्मण-साहित्य का आरम्भ दृष्टिगोचर होता है। कृष्ण यजुर्वेद के ये ही स्थल, जिनमें यज्ञ-क्रियाओं पर विधान अथवा उनके संबंध के मन्तव्य प्रकट किए गए हैं और जिनका संपर्क सीधा मंत्रों से है, वे प्रारम्भिक ब्राह्मण भाग हैं जिनका प्रणयन ग्रन्थ रूप में पश्चात् काल में विविध शाखाओं में सम्पन्न हुआ। यही कारण

है कि एक तो इन ब्राह्मण-ग्रन्थों की संख्या भी प्रचुर मात्रा मे बढ़ी और इसके अलावा ब्राह्मणों के अन्तर्गत गिने जाने वाले उन ग्रन्थों का निर्माण हुआ जो न तो अपने विषय और न अपने विस्तार के कारण ही ब्राह्मण कहला सकते हैं। निःसन्देह वे वैदिक साहित्य की अन्तिम कड़ी हैं। इस वर्ग के अनेक ब्राह्मण सामवेद से संबद्ध हैं, जो वेदांगों के सिवा और कुछ नहीं हैं। अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण भी इसी प्रसार का एक प्रयास है। गोपथ ब्राह्मण तो सारे वैदिक साहित्य के अन्तिम ग्रन्थों में से एक है। वास्तव में प्रारभ में अथर्ववेद का कोई ब्राह्मण न था। बाद मे जब किसी वेद की स्थिति ब्राह्मण के बिना असाधारण समझी गई तब गोपथ-जैसे प्रयास प्रस्तुत किये गये।

नीचे प्रमुख ब्राह्मणों का एक संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

ऋग्वेद का ऐतरेय ब्राह्मण है। इसमें चालीस 'अध्याय' हैं जो आठ 'पञ्चकों' में विभक्त हैं। इसके ग्रन्थकार अनुवृत्त के अनुसार महिदास ऐतरेय हैं। वास्तव में वह इसके सकलक अथवा सम्पादक मात्र थे। इस ब्राह्मण मे सोम-यज्ञ का सविस्तर और मुख्यत वर्णन है। इसके अतिरिक्त इसमें अग्निहोत्र और राजसूय का भी वर्णन है। इसके अन्तिम दस अध्याय कुछ लोगों के मत से बाद के हैं। इस ब्राह्मण से कौशीतकि या सांखायण ब्राह्मण का घना सम्बन्ध है। यह भी ऋग्वेद का ही ब्राह्मण है और इसमें तीस अध्याय हैं। इसके पहले ६ अध्यायों में अन्न-यज्ञ का वर्णन है और ७-३० तक में ऐतरेय ब्राह्मण से मिलता जुलता सोम-यज्ञ का विवेचन है। यह ब्राह्मण ऐतरेय से बाद का है और एक व्यक्ति का प्रणयन है।

ताण्ड्य महाब्राह्मण सामवेद का है। इसके पचीस भाग होने के कारण इसे पञ्चविंश ब्राह्मण भी कहते हैं। यह प्राचीनतम ब्राह्मणों में से एक है और इसमें कुछ अत्यन्त प्राचीन कथानकों का वर्णन है। इसके एक विशिष्ट भाग का 'शुद्धि' से सम्पर्क है जिसमें 'व्रात्यस्तोम' और उन यज्ञक्रियाओं का विवरण है, जिनके अनुसार 'व्रात्यों' को शुद्ध कर आर्यों अथवा ब्राह्मणों में मिला लेते थे। षड्विंश (अथवा छब्बीसवाँ) ब्राह्मण पचीस भागों वाले पचविंश अथवा ताण्ड्य का ही एक विस्तार है। षड्विंश का अन्तिम भाग अद्भुत ब्राह्मण कहलाता है, जो इन्द्रजाल पर एक वेदांग है। सामवेद का जैमिनीय ब्राह्मण ताण्ड्य-महाब्राह्मण से भी प्राचीन है। यह ब्राह्मण श्रुति और धर्म दोनों के इतिहास के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है, परन्तु यह अधिकतर असबद्ध और अपूर्ण भागों में ही प्राप्य है।

कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण वास्तव में तैत्तिरीय संहिता का ही एक उत्तर विस्तार है, क्योंकि कृष्ण यजुर्वेद संहिताओं में ब्राह्मणों का आरम्भ से ही समावेश हो गया है। इस प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण संहिता का अन्तिम भाग है। इस ब्राह्मण में पुरुषमेध का वर्णन है और चूँकि संहिता में पुरुषमेध का उल्लेख नहीं है, अत यह सिद्ध है कि यह ब्राह्मण काफी बाद का है।

शतपथ ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद का है। इसमें सौ अध्याय हैं। यह ब्राह्मण सब ब्राह्मणों मे बड़ा, विख्यात और अपने प्रस्तुत विषय के अनुसार प्रमुख है। वाजसनेयि संहिता की भांति ही शतपथ की भी 'काण्व' और 'माध्यन्दिन' दो शाखायें हैं। माध्यन्दिन शाखा में इसके सौ अध्याय १४ काण्डों मे विभक्त हैं। इस ब्राह्मण के पहले नौ काण्ड वाजसनेयि संहिता के अठारह भागों पर क्रमिक भाष्य है। ये शेष पाच काण्डों से नि सदेह प्राचीन हैं। फिर इनमें भी सम्भवत एक से पाँच काण्ड परस्पर सन्निकट हैं। इन काण्डों में याज्ञवल्क्य (जो चौदहवें काण्ड के अन्त मे शतपथ-ब्राह्मण के रचयिता कहे गये हैं) का उल्लेख प्राय ऐसे आचार्य के रूप में हुआ है जिसका मत संदिग्ध और विवादास्पद विषयों पर सर्वथा मान्य है। अग्निचयन का वर्णन करने वाले छठे से नवें तक के किसी काण्ड में याज्ञवल्क्य का नाम नहीं आया है। उसके स्थान पर शाण्डिल्य नामक एक दूसरे आचार्य का प्रमाण के रूप में उल्लेख हुआ है। यही शाडिल्य दसवें काण्ड के अग्निरहस्य का प्रवक्ता कहा गया है। ग्यारहवें से चौदहवें काण्ड में उपनयन, स्वाध्याय, मृत्यु-सम्बन्धी क्रियाओं आदि ऐसे विषयों के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है जो साधारणतया ब्राह्मण-ग्रन्थों के विषय नहीं समझे जाते। अश्वमेध, पुरुषमेध और सर्वमेध का वर्णन तेरहवें काण्ड में और प्रवर्ग्य-क्रिया का चौदहवें म है। इसी ब्राह्मण के अन्त में बृहदारण्यक नाम का प्राचीन और प्रमुख उपनिषद् है।

भिन्न-भिन्न वेदों के ब्राह्मणों में एक विशिष्ट अतर है। ऋग्वेद के ब्राह्मण क्रियाओं के सम्बन्ध मे उन विषयों पर ज़ोर देते हैं जो 'होता' से संपर्क रखते हैं। ये होता ऋग्वेद के मन्त्रों और सूक्तों का गान करते हैं। इसी प्रकार सामवेद के ब्राह्मण मुख्यतः उद्गाता और यजुर्वेद के अध्वर्यु

के कार्यों का विवेचन करते हैं। अपने विषयों के तात्विक निचोड़ में ब्राह्मण प्राय. अभिन्न हैं। इन ब्राह्मणों के प्रणयन में कई शताब्दियों का समय लगा है। सामवेद के वंशब्राह्मण में दिए वशवृत्तों में पचास-साठ गुरुओं के नाम आते हैं। इनका काल प्रसार एक सहस्र वर्षों से कम किसी प्रकार न रहा होगा। कुछ लोगों ने इन तालिकाओं के ऐतिह्य पर सदेह किया है, जो वेबुनियाद हैं। पहले तो इनमें से अनेकों ऐसे नाम हैं जो अन्य वैदिक साहित्य में भी मिलते हैं। दूसरे इन गुरुओं में से बहुतेरों का संबध पुराणों में दी हुई वश तालिकाओं के राजाओं से है, जिनके वे या तो पुरोहित या आचार्य हैं। इनका परस्पर मिलान करने से कोई इतिहास-क्रम नहीं बिगडता और यह सिद्ध कर देना आसान हो जाता है कि वे ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। तीसरे, इन तालिकाओं को सुरक्षित रखने में इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि जो गुरुभाई हैं वे ऊपर-नीचे न होने पावें और कोष्ठ-बद्ध हो जाएँ। फिर वेदों की भाँति ही ब्राह्मण और आरण्यक उपनिषदों के पाठों को भी असाधारण धार्मिक श्रद्धा से सुरक्षित रखा गया है। इस कारण उनमें किसी प्रकार की संकरता की सभावना नहीं। इस बात का भी स्मरण रखना आवश्यक है कि यज्ञ क्रिया के इस वैज्ञानिक विधि के विकास में प्रचुर समय लगा होगा। और यदि बौद्ध साहित्य ब्राह्मणों को प्राचीन मानता है और स्वयं बुद्ध इनकी स्थिति अपने से पूर्व मानते हैं तो चूँकि उनका अपना काल ई० पू० छठी शताब्दी है, अतएव ब्राह्मणों का संकलन उस समय तक पूरा हो चुका होगा। यदि महाभारत की घटना का समय १४०० ई० पू० के लग-भग मानें तो ब्राह्मणों की तालिका का प्रथम मानव गुरु तुरु-कावषेय, जनमेजय का पुरोहित था, उस तिथि के लगभग जा पहुँचेगा। और इस प्रकार १४०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक आठ शताब्दियों के बीच ब्राह्मण-साहित्य का विकास कुछ अयुक्तियुक्त न माना जाएगा।

वैसे इन ब्राह्मणों का समय स्थिर करना भी उतना ही कठिन है जितना सहिताओं का। इस सबध मे एक बात नि सदेह स्थिर हो जाती है। वह यह है कि जब इन ब्राह्मण ग्रन्थों का निर्माण प्रारम्भ हुआ उससे बहुत पूर्व ही ऋग्वेद का साहित्य समाप्त और सकलित हो चुका था। इतना ही नहीं वरन् वह अति प्राचीन भी समझा जाने लगा था। केवल ऋग्वेद ही नहीं प्रत्युत् अथर्ववेद के मेदभरे भाग, यजुर्वेद के याग-होम और सामवेद के गेय मत्र सभी इन ब्राह्मणों से अत्यन्त पूर्व-काल में निर्मित हो चुके थे। विन्टरनित्स का कहना है कि यह भी सभव है कि अथर्ववेद की सहिताओं का सपादन और प्रारम्भिक ब्राह्मण-साहित्य का निर्माण प्राय समकालीन रहा हो*। इस प्रकार का अनुमान सर्वथा वैज्ञानिक नहीं होगा, क्योंकि इससे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अनुवृत्त को क्षति पहुँचेगी। अनुश्रुति है कि व्यास ने अपने शिष्यों की सहायता से ऋग्वेदादि सहिताओं का सपादन किया, जो महाभारत काल में हुआ। तब कदाचित् ब्राह्मण-काल की क्रियात्मिका प्रणाली का जन्म तो अवश्य हो चुका होगा, क्योंकि ब्राह्मणों की तालिका का प्रथम आचार्य और जनमेजय का पुरोहित तुरु-कावषेय महाभारत काल के निचले सिरे को छूता है। फिर भी ब्राह्मणों के ग्रन्थन और इनके क्रियात्मक काल में काफी अन्तर रहा होगा। इस बात को न भूलना चाहिए कि इन तालिकाओंवाले ब्राह्मणों का निर्माण तभी हुआ होगा जब उन तालिकाओं की सबसे निचली कड़ी के नाम का आचार्य भी भौतिक दृष्टि से रह चुका हो। वैसे इसमें सन्देह नहीं कि कुछ ब्राह्मणों के कतिपय अश अत्यन्त प्राचीन हों—शायद इतने प्राचीन हों जितनी सहिताएँ स्वय हैं। क्योंकि जब से ही ऋचाओं का निर्माण हुआ होगा और जब से ही उनके क्रियात्मक और यज्ञात्मक रूप खड़े हुए होंगे तब से ही उनके अनुष्ठान-वैचित्र्य और मत-भिन्नताएँ भी उठ खड़ी हुई होंगी। इस रूप में जहाँ तक ब्राह्मणों में वेद अथवा यज्ञात्मिका व्याख्या की बात है उसका कुछ अंश अत्यन्त प्राचीन हो सकता है—शायद तुरु-कावषेय आदि से भी प्राचीन। और प्रस्तुत ब्राह्मणों में उन प्राचीन ब्राह्मणों का उल्लेख भी है जो इनके निर्माण के समय भी उपलब्ध न हो सके थे, खो चुके थे।

ऋग्वेद का सप्तसिंधु देश अब ब्राह्मण-काल मे विस्तृत हो चुका था। उस काल के कार्यों की क्रियात्मिकता का क्षेत्र अब कुरु-पञ्चाल जनपद हो चुका था। अब यज्ञों का धर्म-क्षेत्र 'कुरुक्षेत्र' हो चुका था। इस कुरुक्षेत्र का विस्तार गगा और यमुना के पश्चिम सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच था। पचालों का देश पडोस में ही गंगा और यमुना के बीच था। यह दिल्ली मे मथुरा तक का देश बहुत बाद तक 'ब्रह्मावर्त्त' कहलाता रहा। इसी जनपद में उस सस्कृति का प्रादुर्भाव और विकास हुआ

* भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० १६९।

जिसे ब्राह्मण-संस्कृति कहते हैं और जिसकी आर्य अथवा हिन्दू संस्कृतियाँ पर्यायवाची हैं। इस समय में ऋग्वेद काल की धार्मिक स्थिति से बहुत अन्तर पड़ गया था। देवता वही हैं, जो ऋग्वेद के हैं परन्तु अब वे अपने पैरों नहीं खड़े होते, यज्ञों से अपनी शक्ति प्राप्त करते हैं। कुछ देवता जो ऋग्वैदिक काल में गौण थे अब विशिष्ट हो जाते हैं। विष्णु और रुद्र अथवा शिव ऐसे ही में हैं। इस काल में विशेष महत्व प्रजापति को मिलता है, जो देव और असुर दोनों का जनक समझा जाता है। देवासुर संग्राम के अनेक निर्देश ब्राह्मणों में मिलते हैं। ऋग्वेद में असुर फिर भी देवता-सा है, परन्तु ब्राह्मणों में वह केवल दैत्य है। अब यज्ञ लक्ष्यार्थ नहीं किए जाते वरन् वे स्वयं एक आवश्यक कार्य हैं। वे स्वयं लक्ष्य हो जाते हैं। पूर्वकाल में देवता मुख्य थे, यज्ञ उनके प्रसाद के लिए किए जाते थे। अब दोनों एक हो गए। यज्ञ ही प्रधानत मुख्य वही प्रजापति हैं।

आरण्यक और उपनिषद्

साधारणतया यह धारणा है कि ब्राह्मण-काल में केवल यज्ञप्रसंगजनित शुष्क ब्राह्मण साहित्य की ही रचना हुई। परन्तु यह धारणा गलत है। आर्यों की भाँति उर्वर मस्तिष्क केवल यज्ञ-संबंधी बाल की खाल निकालने में ही नहीं लगा रह सकता था। यथार्थ में तो स्वयं ब्राह्मण-ग्रन्थों में, जैसा कि सायण ने पहले ही कहा है, कल्प के अतिरिक्त इतिहास-पुराण, गाथा और नाराशंसी साहित्य का उदय हो जाता है। और इस प्रकार वीर काव्य का आरम्भ ब्राह्मण-काल में ही होता हम पाते हैं। यह बात भी कुछ बेतुकी है कि उस समय की विविध आर्य जनता सरस गीत न गाती रही हो, अथवा सुन्दर कथाओं को कान न देती रही हो। उन दिनों जो कुछ गाया जाता था उसका कुछ आभास तो हमें वैदिक पाठों की शुन शेप-वाली आख्यायिका में मिल जाता है, पर वास्तव में उसका बड़ा भाग पुराणों और काव्यबद्ध इतिहासों में सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों के भाषा-साहित्य से ही स्पष्ट है कि उनसे पूर्व ही व्याकरण, शिक्षा, ज्योतिष आदि (जिनका विशद और स्वतंत्र वर्णन बाद के वेदांगों का विषय है) का रूप खड़ा हो चुका था। और न दार्शनिक विचार ही ब्राह्मणों से सर्वथा बाद में उठे। वास्तव में वे उनसे पूर्व ही जन्मे। स्वय ऋग्वेद के मन्त्रों में इस प्रकार के विचार और देवताओं के सबध में प्रश्नात्मक धारणाएँ उठ खड़ी होती हैं। ये सन्देहशील जिज्ञासु ही भारत के प्रथम दार्शनिक थे। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि इन दार्शनिकों ने अपने विचारों का प्रचार किया, अपने चरण स्थापित किए। और यद्यपि यजुर्वेद की संहिताओं में उनकी मखौल उड़ाई गई है, इसमें सन्देह नहीं कि इस मखौल में ही एक दबे भय का सचार रहा हो।

इतना अवश्य है कि ये दार्शनिक हमें यज्ञपुरोहितों में न मिलेंगे। यह संभव नहीं कि इन्द्र के प्रति यज्ञ कराने-वाले होता अथवा अध्वर्यु को इन्द्र के देवत्व में साधारण तया सन्देह होता हो। कदापि भी वे इन्द्र अथवा अन्य देवताओं के प्रति किए यज्ञों को निरर्थक नहीं घोषित कर सकते थे। इसके अतिरिक्त यज्ञ ही उनकी जीविका के भी साधन थे। अधिक तो सम्भव यह है कि ये सन्देहात्मक विचार उन धनियों के दिमाग में उठे हों जो प्रमादी और यज्ञों से कुछ उदासीन रहे हों—यज्ञों का विपुल व्यय जिन्हें अपव्यय सा लगता हो और पुरोहितों की बड़ी दक्षिणाएँ जिन्हें अखरती हों। उपनिषदों और स्वय ब्राह्मणों के कतिपय उदाहरणों से सिद्ध होता है कि राजन्य वर्ग का प्राचीन काल के साहित्यिक और मेधावी जीवन से घना संबध था। कौशीतकि ब्राह्मण* में राजा प्रतर्दन पुरोहितों से यज्ञ-विज्ञान पर विचार-विनिमय करता है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण† में विदेह जनक अनेकों बार अपने ज्ञान से पुरोहितों को चकित और निरुत्तर कर देता है। जब वह अग्निहोत्र के सबध में श्वेतकेतु, सोमशुष्म और याज्ञवल्क्य से प्रश्न करता है तो वे सद्य स्नातक उत्तर नहीं दे सकते। उसके चले जाने पर स्नातक एक दूसरे से कहते हैं कि "आश्चर्य है कि राजन्य ने हमें निरुत्तर कर दिया, अब हमें उसे ब्रह्मोदय (शास्त्रार्थ) के लिए ललकारना चाहिए।" याज्ञवल्क्य इस विचार से सहमत न होकर जनक के पास जाता और उससे उसका ज्ञान सीखता है।× यजमान अश्वपति भी इसी प्रकार अपने पुरोहित शौल्वायन को पढ़ाता है।○ उपनिषदों में तो राजाओं और राजन्यों के अतिरिक्त स्त्रियाँ भी दार्शनिक व्याख्यानों में भाग लेती हैं। वृहदारण्यक उपनिषद में वचक्नु की पुत्री गार्गी याज्ञवल्क्य से वादविवाद करती है। दूसरे स्थल पर वही याज्ञवल्क्य से कहती है कि "जिस प्रकार धनुर्धर दो अचूक बाणों को धनुष पर रखता है मैं भी तुम्हारे विरोध में खड़ी होकर दो प्रश्न करती हूँ

* २६, ५। † का० ११. × ११, ६, २; ३, १, २-४; ६, २. ○ वही, ११, ४, ७, १७-१०.

उनका उत्तर दो।" उसी उपनिषद् में याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी को आत्मविद्या का रहस्य समझाते हैं। ¤ बार-बार उपनिषदों में वे स्थल आते हैं जहाँ राजन्य (क्षत्रिय) ब्राह्मण को दीक्षित करते और ज्ञान देते हैं। यह विदेह जनक, प्रवाहण जैवलि और अश्वपति कैकेय का युग है। जनक याज्ञवल्क्य को उपदेश करता है, प्रवाहण जैवलि पञ्चाल परिषद् में दहाड़ता है और अश्वपति कैकेय याज्ञवल्क्य के गुरु उद्दालक आरुणि और उसके पुत्र श्वेतकेतु को शिष्य रूप में अपनी ज्ञानाग्नि से विदग्ध करने को 'समित्पाणि' होने का आदेश करता है। उपनिषद्-ज्ञान के दो मुख्य स्कन्ध 'आवागमन या पुनर्जन्म' † और 'आत्मा' × के सिद्धान्तों का निरूपण दो राजन्य क्रमश प्रवाहण और अश्वपति कैकेय करते हैं। जिस समय ब्राह्मणवर्ग यज्ञों में दत्तचित थे तभी राजन्यों और अन्य वर्गों के अनेकों समुदाय यज्ञ से इतर ज्ञान—पराविद्या —की खोज में विचार कर रहे थे। इन में से कुछ गृहस्थ थे, कुछ सन्यासी। सन्यास की ओर लोग झुकने लगे थे और फलस्वरूप धीरे ही धीरे कितने ही सम्प्रदाय खड़े होने लगे थे। उन्हीं में से दो प्रबल सम्प्रदाय बौद्धों और जैनों के उठ खड़े हुए, जिन्होंने यज्ञ विश्वास की नींव हिला दी।

फिर भी इससे यह कभी न समझना चाहिए कि इन दार्शनिक विचारों से ब्राह्मण सर्वथा दूर थे। यह सम्भव भी न हो सकता था, क्योंकि इन ब्राह्मणों के ही गुरुकुलों में सारे क्षत्रियों की प्रारम्भिक शिक्षा होती थी। प्रायः विचार विनिमय और वाद-विवाद वहीं हो जाते होंगे और दो-दो चोटें हो जाने के बाद ऋषि उस शृंखला को सर्वथा भुला न देता होगा। फिर सारे ब्राह्मण यज्ञ के ही आसरे तो रहते न रहे होंगे। उनमें भी धनी-ग़रीब थे और उनके चिन्तन की भी सुविधाएँ-असुविधाएँ थीं। इन सबसे ऊपर ब्राह्मणों में परिस्थितियों के अनुकूल अपने को परिवर्तित कर लेने की सदा से शक्ति थी। इसी के फलस्वरूप उस उठती-फैलती मेघमाला को उन्होंने बिखेर दी जो गौतम बुद्ध ने उत्पन्न की थी। स्वयं बुद्ध को ही उन्होंने अपने अवतारों की शृंखला में डालकर उन्हें विलुप्त कर दिया।

ब्राह्मणों में ही अथवा उनके परिशिष्ट के रूप में हमें वैदिक साहित्य के वे भाग मिलते हैं जिन्हें 'आरण्यक' कहते हैं। इनके पाठ रहस्यमय थे जो साधारणतया किसी को नहीं दिए जा सकते थे। विशिष्ट शिष्य ही उस भेदभरे साहित्य में दीक्षित हो सकते थे और इसी कारण उनका दान अरण्य अर्थात् वन की निर्जनता में ही सम्भव था। इनमें यज्ञों की क्रिया अथवा उनके अनुष्ठान की रीति नहीं दी हुई है, प्रत्युत् उनका विषय यज्ञों का रहस्यवाद और पौरोहितक आन्वीक्षिकी है। ब्राह्मण-धर्म के आदर्श आश्रमों के स्थापित हो जाने के बाद सहज ही इन आरण्यकों को पढ़ना वनवासी ऋषियों का कर्तव्य हो गया। प्राचीनतम उपनिषद् आरण्यकों के साथ इस घनता के साथ जुड़े हुए हैं कि उनको उनसे पृथक् करना कठिन है। उपनिषद् ही वेदान्त है, क्योंकि वे अपेक्षाकृत बाद में बने और इस प्रकार वे वैदिक साहित्य के अन्त के हैं। वैदिक विद्यार्थी के अध्ययन के अन्त में ही उन दार्शनिक पेचीदगियों पर गवेषणा होती थी जो उपनिषदों के विषय हैं। इन उपनिषदों में ही बाद के दार्शनिकों ने वेदों का रहस्य पाया।

वेदान्त के रूप में आरण्यक और उपनिषद् विविध वैदिक शाखाओं के हैं। अधिकतर तो वे ब्राह्मणों के ही भाग हैं। इस प्रकार ऐतरेय आरण्यक, जिसमें ऐतरेय उपनिषद् भी शामिल है, ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण के साथ जुड़ा हुआ है। इसी तरह हम देखते हैं कि कौशीतकि उपनिषद् और महानारायण उपनिषद् और आरण्यक ऋग्वेद के कौशीतकि ब्राह्मण के ही भाग हैं। कृष्ण यजुर्वेद में तैत्तिरीय आरण्यक तैत्तिरीय ब्राह्मण का ही भाग है जिसका अन्तिम भाग तैत्तिरीय उपनिषद् है। शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें काण्ड के प्रथम तीन भाग एक आरण्यक हैं और इसी काण्ड का अन्त सबसे महान् और प्रमुख उपनिषद् बृहदारण्यक है। छान्दोग्य उपनिषद्, जिसका प्रारम्भिक भाग एक आरण्यक है, स्वयं सामवेद के एक ब्राह्मण (सम्भवत ताण्ड्य महाब्राह्मण) का है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण सामवेद की जैमिनीय अथवा तलवकार शाखा का एक आरण्यक है। केन उपनिषद्, जिसे तलवकार उपनिषद् भी कहते हैं, इसी का एक भाग है।

तैत्तिरीय आरण्यक में बाद में जोड़े जानेवाले महानारायण उपनिषद् को छोड़ उपरिलिखित सभी उपनिषद् प्राचीनतम हैं। भाषा और शैली में वे ब्राह्मणों के से हैं जिनके वे भाग हैं। उन्हीं की भाँति इनकी भी वही

¤ बृह० उप०, ३, ६, ३, ८, २, ४, ४, ५, † छा० उप०, ५, ३, बृह० उप०, ६, २, कौ०, उप० १, १, × छा० उप०, ५, ११, श० ब्रा०, १०, ६, १,

प्राचीन गद्यात्मिका शैली है। केवल केन उपनिषद् का आधा पद्यात्मक है और यह उपनिषद् ऊपर गिनाए उपनिषदों में से अन्तिम है। प्रमुख उपनिषदों के स्वतन्त्र भाग भी ब्राह्मणों और आरण्यकों से बहुत बाद के नहीं हैं, और उनकी रचना कम से-कम बुद्ध और पाणिनि से पूर्व हो चुकी थी। इस प्रकार ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, कौषीतकि और केन उपनिषद् साहित्य के प्राचीनतम स्तर प्रस्तुत करते हैं। वेदान्त सिद्धान्त उनमें खरे मौलिक रूप में विद्यमान हैं।

कुछ उपनिषद्, जो थोड़े बाद के हैं, सभवतः प्राक्बौद्ध हैं। यद्यपि ये आरण्यकों के भाग नहीं हैं, इनका सबंध भी किसी-न-किसी वैदिक शाखा से है। कठ या काठक उपनिषद् का सपर्क कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा से है, जिससे शायद उस महानारायण उपनिषद् का भी संबध है जो तैत्तिरीय आरण्यक का परिशिष्ट-सा है। वाजसनेयि सहिता का अन्तिम भाग अमूल्य ईश उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद का है। मुण्डक और प्रश्न अथर्ववेद के हैं। इनका विषय भी वेदान्त ही है। इनमें साख्य और योग सिद्धान्तों का भी रूप खड़ा हो गया है। कृष्ण यजुर्वेद का मैत्रायणीय उपनिषद् बुद्धोत्तर काल का है। परन्तु प्राचीन उपनिषदों की भाँति यह गद्य में लिखा गया है। भाषा, शैली और विषय के आधार पर हम इसे सस्कृत के काव्य-साहित्य के सन्निकट पाते हैं। इसी काल का अथर्ववेद का माण्डूक्य उपनिषद् भी है। परन्तु शंकर ने ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में जिन प्रामाणिक बारह उपनिषदों का उल्लेख किया है उनमें न तो मैत्रायणीय है और न माण्डूक्य। फिर भी इन दोनों की गणना उन बारह के साथ होनी चाहिए। ये चौदह उपनिषद् प्राचीनतम भारतीय दर्शन के इतिहास के आधार हैं।

बाद के लगभग २०० उपनिषदों का संबध वेदों से बताया जाता है, परन्तु इनमें से केवल कुछ ही वास्तव में उनसे संपर्क रखते हैं। इनमें से अधिकतर दार्शनिक न होकर केवल धार्मिक अथवा उपासनापरक हैं जो बहुत बाद के धार्मिक सप्रदायों के हैं। अधिकतर का संबध पुराणों और तन्त्रों से है। विषय-के अनुसार इनके निम्न लिखित विभाग किए जा सकते हैं—(१) वेदान्त-सिद्धान्तीय, (२) योगसंबन्धी, (३) सन्यासपरक, (४) विष्णुप्रशंसक, (५) शिवप्रशसक, और (६) शाक्त अथवा अन्य संप्रदायों के उपनिषद्। उनके कुछ भाग तो गद्य में हैं, कुछ गद्य-पद्य में, कुछ वीर-काव्य सदृश श्लोकों में। इनमें कुछ, जो अपेक्षाकृत प्राचीन हैं, नीचे दिए जाते हैं—(१) जाबाल उपनिषद् (इसका शकर ने प्रमाणों में उल्लेख किया है); (२) परमहंस उपनिषद् (इसमें परमहंसों का वर्णन है), (३) बृहदाकार सुबाल उपनिषद् (इसका रामानुजाचार्य ने अनेकों बार उल्लेख किया है। इसमें सर्ग, मनोविज्ञान, आन्वीक्षिकी आदि का समावेश है); (४) गर्भ उपनिषद् (इसमें पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त होने की प्रार्थना है), (५) शैवों का अथर्वशिरस उपनिषद् (इसका उल्लेख धर्मसूत्रों में मिलता है); (६) ब्रह्मसूचिका उपनिषद् (जिसमें एकेश्वरवाद का उपदेश है)।

बहुत बाद के मुक्तिका उपनिषद् में १०८ उपनिषदों की सूची दी हुई है और इनका सबंध वेदों से किया गया है। इसके अनुसार ऋग्वेद के १० उपनिषद् हैं, शुक्ल यजुर्वेद के १६, कृष्ण यजुर्वेद के ३२, सामवेद के १६ और अथर्ववेद के ३१। परन्तु इस परिगणना का आधार प्राचीन अनुश्रुति नहीं है। ये उपनिषद् साधारणतया अथर्ववेद के कहे जाते हैं। यथार्थ में उपनिषद् का 'रहस्यमय सिद्धान्त' वाला अर्थ बराबर उनके सबध में सार्थक रहा। इसी कारण जब इस प्रकार के ग्रन्थ बने उनकी गणना उपनिषदों में कर ली गई और चूँकि अथर्ववेद का विषय अधिकतर भेदभरा है वे उसके साथ सबद्ध हो गए।

'उपनिषद्' शब्द उप-नि-सद् से बना है, जिसका अर्थ है 'किसी के समीप बैठना।' इसका भाव प्राचीन काल में रहस्य सिद्धान्तों की दीक्षा के लिए शिष्य का गुरु के समीप बैठना था। स्वय उपनिषदों में 'इति रहस्यम्' का पाठ प्राय' मिलता है। उपनिषदों का विषय 'ब्रह्म', 'आत्मा, और 'ब्रह्माण्ड' है। 'जीव' और 'प्रकृति' का उनमें समावेश है। आत्मा का जन्मान्तर रहस्य उन्हीं से प्रतिपादित किया गया है। एक ब्रह्म और आत्मा की अमरता का सन्देश विशेष रूप में उपनिषदों का है। भारतीय दर्शन का प्राचीन और प्रथम रूप इनमें सुरक्षित है, जिसका विस्तृत वर्णन यहाँ नहीं किया जा सकता। इनके स्रोत ईरानी सूफी सिद्धान्तों में, और नव-प्लेटोनिक और अलेक्जेन्ड्रियन क्रिश्चियनों के विचारों से लेकर रहस्यवादी एकहार्ट और टालर तक के सिद्धान्तों में बह रहे हैं। जर्मनी का प्रसिद्ध दर्शनिक शोपेनहार तो उपनिषदों पर लट्टू था। वह कहा करता था कि "ससार में सबसे अधिक सतोषप्रद और सर्वोच्च ज्ञान इन उपनिषदों का है। ये उपनिषद् मेरे जीवन के ढाढस रहे हैं अब ये मेरी मृत्यु के आश्वासन होंगे।"

भील जाति—(२)

पिछले प्रकरण में जिस रूढ़िगत वैवाहिक प्रथा का वर्णन किया गया है उसके अतिरिक्त अपहरण करके अथवा 'बलप्रयोग' द्वारा विवाह करने की भी प्रथा भीलों में प्रचलित है। बहुत-से क़बीलों में वधू-मूल्य चुकाने की दिक़्क़त से बचने के लिए वर-वधू के बलपूर्वक अपहरण करने का स्वाँग रचा जाता है, जिससे वधूमूल्य चुकाने की ज़रूरत नहीं रह जाती। भीलों में प्रचलित विवाह की इस "अपहरण" प्रथा मे परम्परागत प्राचीनता है, अत प्रचलित वैवाहिक प्रथा की कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न इसके पीछे नहीं है। भील युवक और युवतियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक पर्वतों और वनों के हरेभरे घास के मैदानों में पशुओं को चराते समय मिलते हैं और चरवाहों की बाँसुरी की सुमधुर ध्वनि भील-कन्याओं की हृत्तन्त्री को झंकृत कर देती है। कितने ही विवाह ऐसे अभिसारों के फलस्वरूप होते हैं। जब एक युवक और युवती एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं और विवाह करना चाहते हैं तो वे अपने-अपने माता पिता और सरक्षकों को इसकी सूचना देते हैं। अगर वे इनके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दें तो ये अपहरण का स्वाँग रचते हैं और लड़की अद्भुत और विचित्र रोमांचक परिस्थितियों मे अपने आप को अपहरण करनेवाले प्रेमी के हाथों समर्पित कर देती है।

पत्नियाँ प्राप्त करने के कुछ अन्य तरीक़े भी भीलों में पाए जाते हैं। इनमें से एक 'गोल गाधेडौ' उत्सव के नाम से प्रसिद्ध है। इस उत्सव में युवक और युवतियाँ एक लट्ठे अथवा वृक्ष के चारों ओर, जिसके सिरे पर एक नारियल का फल अथवा कुछ गुड़ बँधा होता है, घूमकर नृत्य करते हैं। जैसवाड़ा ताल्लुके में यह उत्सव होली के दिनों में मनाया जाता है। स्त्रियाँ लट्ठे के पास बने भीतरी गोलाकार घेरे के भीतर घूमती हुई नाचती हैं और पुरुषों को केन्द्र में पहुँचने से रोकती हैं, जो बाहरी गोलाकार घेरे में साथ ही एक ही ताल पर नाचते रहते हैं। दोनों की शक्ति परीक्षा उस समय आरम्भ होती है जबकि कोई एक नवयुवक भीतरी घेरे को पारकर केन्द्रस्थल तक छलाँग मारकर लट्ठे के सिरे पर पहुँच गुड़ खाने और नारियल को तोडने का प्रयत्न करता है। ऐसा करते समय स्त्रियों के जबर्दस्त विरोध का उसे सामना करना पडता है और अगर वह लट्ठे तक पहुँचने मं सफल हो जाता है तो स्त्रियाँ उसके कपड़ों को पकड़कर उसे झाड़ुओं से मारती हैं और कभी कभी तो उसे खरोंच भी लेती हैं। यदि इतने पर भी वह उन्हे हटाकर लट्ठे तक पहुँचकर गुड़ प्राप्त कर लेता है तो वह शौर्य-परीक्षा में सफल मान लिया जाता है। फलस्वरूप उसे अधिकार प्राप्त हो जाता है कि जिस लड़की को चाहे वह पत्नी के रूप में ग्रहण कर सकता है और तत्काल ही उस पर अपना आधिपत्य जमा सकता है। उस

भोपा मन्त्र-तंत्र द्वारा रोगी का उपचार कर रहा है!

उत्सव में जो युवती पत्नी के लिए चुनी जाती है वह अपने को गौरवशाली अनुभव करती है। यद्यपि स्त्रियों के अपहरण और तलाक की घटनाएँ भीलों में बहुतायत से पाई जाती हैं, फिर भी ऐसी युवतियाँ, जो कि 'गोल गधेडो' प्रथा के अनुसार विवाह करती हैं, किंचित् ही अपने पतियों का परित्याग कर नए विवाह करती हैं। जब कभी कोई पुरुष किसी ऐसी स्त्री को अपनी पत्नी बनाता है, जिसने अपने पहले पति का परित्याग किया हो तो उसे उसके पूर्व पति द्वारा उसके विवाह में ख़र्च की गई पूरी रक़म चुकानी पड़ती है। केवल पचायत ही को पति परित्याग तथा अनुपयुक्तता का निर्णय करने का अधिकार होता है और ऐसे निर्णय अन्तिम होते हैं। तलाक़ की क्रिया की पूर्ति के लिए रुष्ट पुरुष ग्राम पंचायत के सदस्यों की बैठक कराता है और उनकी उपस्थिति में अपनी पगडी से एक चीर फाड़कर अपनी पत्नी के हाथ में देता है और यह कहता है कि यह देखते हुए कि इसका चरित्र अशुद्ध है मैं इसका तलाक़ कर रहा हूँ और आज से मेरा इसका संबंध भाई-बहन का होगा। परित्यक्त पत्नी उस चीर को ले लेती है और अपने पिता के मकान की एक शहतीर में बडी सावधानी से उसे पूरे महीने या १५ दिन के लिए, जैसा वह पसन्द करे, लटका देती है। यह लटकती हुई चीर जाति के लोगों को यह प्रदर्शित करती है कि उसके पति का अब उस पर कोई अधिकार नहीं रहा और वह पुनर्विवाह कर सकती है। इसके बाद बहुत शीघ्र ही वह दूसरा विवाह कर लेती है।

भील के मृतकों की स्मारक-शिलाएँ

हिन्दुओं की तरह भील अपने मृतकों को जलाते हैं और संक्रामक रोगों से मरनेवालों को गाड़ते हैं। भील लोग 'माता' अथवा देवी माता को मिट्टी के बर्तन चढ़ाते हैं। जब चेचक का रोग महामारी का रूप धारण कर लेता है तो इस रोग की अधिष्ठात्री देवी के लिए झूला तैयार कर दिया जाता है। रोगियों की चिकित्सा उनके गाँवों में ही जादू अथवा तावीज़ों के प्रयोग द्वारा होती है और 'भोपा' अथवा भूत-प्रेत भगानेवाले विशेष रूप से उन प्रेतात्माओं को भगाने के लिए बुलवाए जाते हैं, जो उस रोग के कारण माने जाते हैं। भोपा केवल रोगों को ही अच्छा नहीं कर सकता है, वरन् वह दृश्य तथा अदृश्य जगत् के बीच तथा भीलों और उनके प्रेतात्माओं के बीच मध्यस्थ का भी कार्य करता है, यहाँ तक कि उसे दिव्य दृष्टि रखने का भी श्रेय प्राप्त है और वह भविष्यवाणी भी कर सकता है। भील बड़े अन्ध-विश्वासी होते हैं। उनको जहाँ जरा सा भी भूत प्रेतों द्वारा अपने ऊपर अनिष्ट पहुँचने, किसी की नज़र लगने आदि का शक हुआ कि वे अपने घरों को ही छोड़ देते हैं। वे टीका लगाने तथा जनगणना का विरोध करते हैं। उनका विश्वास है कि व्यक्तियों की गणना करने के फल-स्वरूप जातीय सख्या गिर जायगी। भीलों में जो महत्त्वपूर्ण व्यक्ति मरते हैं उनकी यादगार में लम्बी-लम्बी स्मारक-शिलाएँ खड़ी की जाती हैं। सारे भील प्रदेश में ऐसी स्मारक शिलाएँ बहुतायत से मिलती हैं।

भीलों का आर्थिक जीवन बडा ही कष्टपूर्ण होता है। वे अत्यन्त दरिद्र होते हैं। वे जो कुछ पैदा करते हैं, उससे उनकी साधारण आवश्यकता भी पूरी नहीं हो पातीं। न तो उन्हें ठीक से भोजन मिलता है और न पहनने को कपड़े। घर के नाम पर उनके पास एक छोटा सा झोपड़ा ही होता है, जिसका एक भाग उनके पशुओं के लिए होता है और शेष में उनके घर के लोग रहते हैं। भूमि के अतिरिक्त उनकी एकमात्र सम्पत्ति होती है उन्हीं के हाथों द्वारा बनाई हुई आटा पीसने की चक्की (जिसके द्वारा वे अपने मुख्य भोजन—मक्का का आटा—पीसते हैं) तथा लकड़ी के थोड़े-से करछुले और भोजन पकाने का एक मिट्टी का बर्तन। उनकी कमर में केवल चीथड़े लिपटे रहते हैं। यही कारण है कि भील दुस्साहसी चोर और डाकू बन जाते हैं और डाका डालना, आग लगाना और लूटपाट करना उनका नित्य का काम हो गया है।

विश्व की कहानी
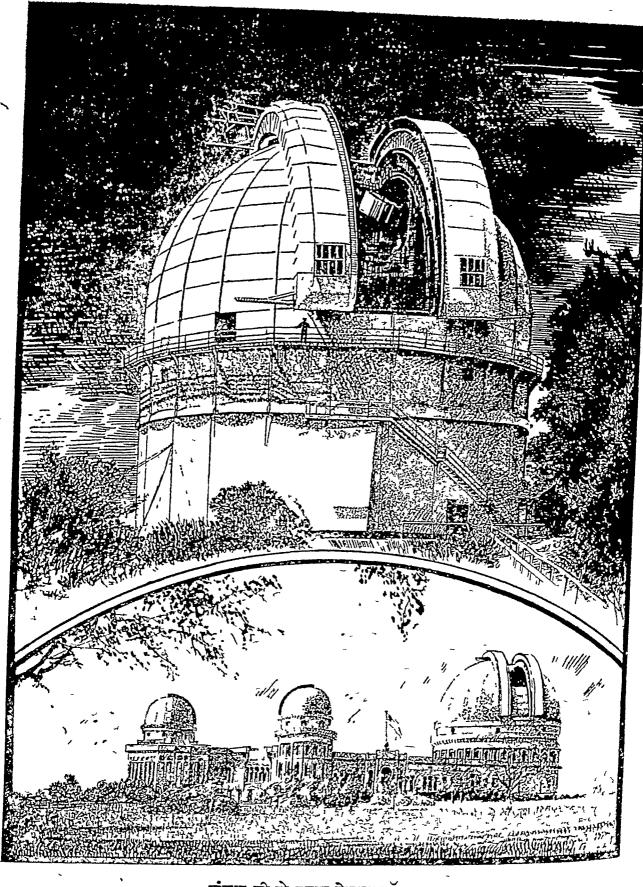
संसार की दो महान् वेधशालाएँ

(ऊपर) माउण्ट विल्सन वेधशाला, जहाँ १०० इंच व्यास का संसार का वर्त्तमान सबसे महान् दर्पणयुक्त दूरदर्शक प्रस्थापित है। (नीचे) यरकिज़-वेधशाला, जहाँ ४० इंच व्यास का संसार का सबसे बड़ा तालयुक्त दूरदर्शक लगा है।
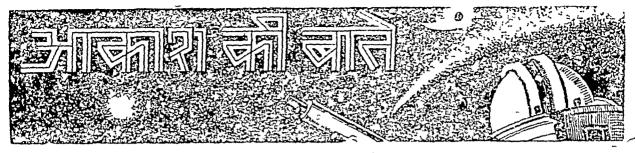
वेधशालाएँ और उनका कार्य

विगत कुछ लेखों में आपको दूरदर्शक के आविष्कार और विकास की कहानी सुनाई जा चुकी है। साथ ही संसार के प्रधान बड़े दूरदर्शकों का भी संक्षेप में हाल बताया जा चुका है। प्रस्तुत लेख में उन महान् ज्योतिषालयों का परिचय दिया जा रहा है, जहाँ ज्योतिष-संबंधी अध्ययन और अनुसंधान होता है तथा संसार के महान् दूरदर्शक प्रस्थापित हैं।

यंत्रों आदि की सहायता से तारों, ग्रहों, चंद्रमा और सूर्य आदि को देखने और उनकी स्थितियों को नापने को वेध करना कहते हैं, और उन स्थानों को जो ज्योतिषिक पिंडों के वेध के लिए विशेष रूप से बने रहते हैं वेधशाला कहते हैं। प्राचीनतम भारतीय वेधशालाओं का अब कोई चिह्न नहीं रह गया है, परंतु असुरबानीपाल (६६८-६२६ ई० पू०) के पुस्तकालय से मिले मिट्टी के खपड़ों पर अंकित ग्रंथों से पता चलता है कि ४००० ई० पू० से सुमेरी और बाबुली लोग विधिवत् वेध करते आए थे। ज़मीन के खोदने पर मिले खँडहरों से अनुमान किया जाता है कि बेबिलोनिया में ऊँचे-ऊँचे टीलों या मनुष्य की बनाई अट्टालिकाओं पर मंदिर बनते थे और उनकी छतों पर से ज्योतिषिक वेध किए जाते थे। मिस्र में भी सम्राटों की क़ब्रों से एक-दो ऐसे यंत्र मिले हैं जो स्पष्ट रूप से ज्योतिष के ही यंत्र हैं।
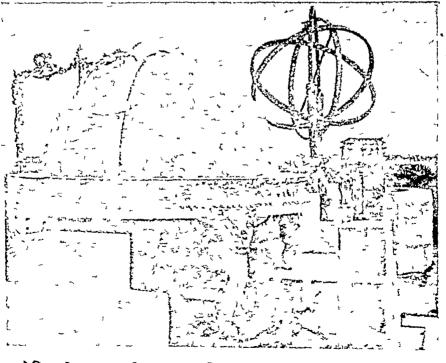
पेकिङ् के नगर-प्राचीर पर प्रस्थापित चीन की एक प्राचीन वेधशाला
इसे सम्राट् कुबलाई ख़ाँ ने तेरहवीं शताब्दी ई० में बनवाया था। १६८९ ई० में काँसे और पत्थर के ये यंत्र इसमें प्रस्थापित किए गए जो चित्र में दिखाई दे रहे हैं।

प्राचीन वेधशालाएँ

अलेक्ज़ेंड्रिया में पहले पहल ऐसी वेधशाला बनी जिसका हमें आज अच्छा ज्ञान है। यह यूनानियों की वेधशाला थी और यहाँ दूसरी शताब्दी तक काम होता रहा। इस वेधशाला के वेधों की अपने निजी वेधों से तुलना करके ही हिपार्कस ने पता चलाया कि पृथ्वी की धुरी आकाश में एक ही दिशा में नहीं रहती, वरन् लगभग २५,००० वर्ष में एक चक्कर लगाती है। अधिकतर हिपार्कस के वेधों के आधार पर ईसा की दूसरी
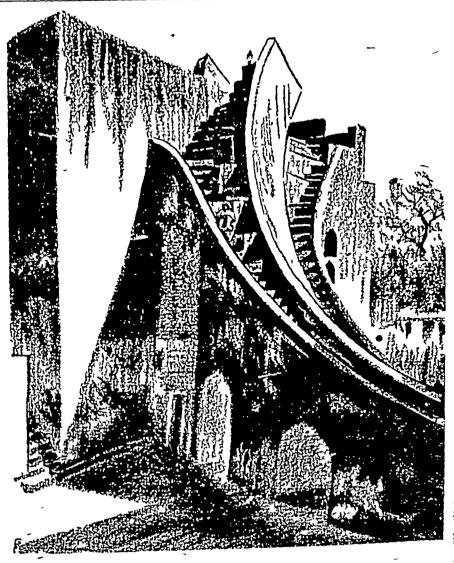
महाराज जयसिंह द्वारा प्रस्थापित जयपुर-वेधशाला का सम्राट्-यंत्र
(चित्र में यत्र का केवल आधा भाग ही दिखाई दे रहा है ।)

शताब्दी में टॉलमी ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की, जिसका नाम पीछे अरबवालों ने 'अलमजस्ती' रख दिया। इस शब्द का अर्थ है राजतेजोमय। इसी ग्रथ के अरबी अनुवाद से महाराज सवाई जयसिंह द्वितीय (जन्म सन् १६८६ ई०, मृत्यु १७४३ ई०) ने सस्कृत अनुवाद कराया, जिसका नाम सिद्धान्त-सम्राट् रक्खा गया। टॉलमी की पुस्तक की उत्तमता का एक अशुभ परिणाम यह हुआ कि लोगों ने वेध करना ही छोड़ दिया; उनका काम अलमजस्ती से ही चल जाता था।

यह शिथिलता कई सौ वर्षों तक रही। जब नवीं शताब्दी में मुसलमानों का उत्थान हुआ तो वे अलमजस्ती के आगे बढ़ने की बात सोचने लगे। तब वेधशालाएँ बनीं और फिर से वेध होने लगे। बहुधा देश का राजा स्वय वेधशाला बनवाता था। पद्रहवीं शताब्दी में उलुग़ बेग ने अपनी राजधानी समरकद म एक बहुत बड़ी वेधशाला बनवाकर और स्वय वेध करके तारों की स्थितियों की नवीन सूची तैयार की।

जयसिंह की वेधशालाएँ

महाराज सवाई जयसिंह द्वितीय अबर के (जयपुर) राजा थे। इनको बचपन स ज्योतिष का चाव था। उन्होंने देखा कि आँख से देखी बातों और सिद्धान्त से गणना द्वारा प्राप्त बातों में अतर पड़ता है। इसलिए उन्होंने प्राचीन भारतीय और सामयिक मुसलमानी तथा योरपीय ज्योतिष पद्धतियों का अध्ययन किया। योरपीय ज्योतिष का उन्होंने तिरस्कार किया, क्योंकि उनकी समझ में वह मुसलमानों के ज्योतिष से निकृष्ट था। अत में वेध करने के लिए उन्होंने दिल्ली, जयपुर, उज्जैन, काशी और मथुरा में वेधशालाएँ बनवाईं। दिल्ली की वेधशाला से सात वर्ष तक वेध करके जयसिंह ने नवीन तारा-सूची का निर्माण किया जिसका नाम, मुग़ल सम्राट् मुहम्मदशाह को प्रसन्न करने के लिए, उन्होंने 'ज़ीज मुहम्मदशाही' रक्खा।

'हिन्दी विश्व-भारती' में अभी तक दूरदर्शकों की ही महिमा दिखलाई गई है, परतु प्राचीन और आधुनिक गणित ज्योतिष के मौलिक यत्र वे हैं जिनसे तारों आदि की स्थिति नापी जा सकती है। जिस प्रकार पृथ्वी के किसी एक स्थान की स्थिति बतलाने के लिए हम अक्षांश (अर्थात् भूमध्यरेखा से दूरी) और देशान्तर (किसी विशेष स्थान, जैसे ग्रीनिच, के याम्योत्तर* से चुने हुए स्थान के याम्योत्तर की कोणिक दूरी) बतलाते हैं, उसी प्रकार तारे की स्थिति बतलाने के लिए भी 'क्रान्ति' (खमध्यरेखा

* किसी स्थान की याम्योत्तर रेखा वह रेखा है जो उस स्थान से होती हुई दक्षिण से उत्तर को जाती है (याम्य=दक्षिण,+उत्तर)।

से दूरी) और 'विषुवांश' बतलाना पड़ता है।

अपनी वेधशालाओं में जयसिंह ने जिन यंत्रों का निर्माण कराया वे उलुग़ बेग के यंत्रों से आकार या सिद्धान्त में संभवत मिलते जुलते थे, परन्तु तीन यंत्रों में उन्होंने विशेष नवीन बातों का समावेश किया। ये यंत्र थे सम्राट्-यंत्र, जयप्रकाश और राम यंत्र। प्रथम दो यंत्रों का नामकरण स्पष्ट है। तीसरे का नाम जयसिंह के एक पूर्वज रामसिंह के नाम पर हुआ था। इनमें सम्राट्-यंत्र वस्तुत प्रशसनीय है। इसके द्वारा किसी भी आकाशीय पिंड की क्रान्ति या विषुवांश की नाप सुगमता और सूक्ष्मता से हो सकती थी। त्रुटियों को दूर करने और वेध में अधिक सूक्ष्मता लाने के लिए जयसिंह ने इस यंत्र को पत्थर का और बहुत बड़े आकार का बनाया था। दिल्ली का सम्राट्-यंत्र १२५ फीट लंबा, १२० फीट चौड़ा और ६८ फीट ऊँचा है। खेद है कि भारतीय ज्योतिषियों ने जयसिंह की वेधशालाओं से कोई लाभ नहीं उठाया। जयसिंह के मरने के बाद उनकी नवीन तारा-सूची का भी प्रचार नहीं हुआ।

योरप में उन्नति

इधर सम्राट्-यंत्र आदि बन रहे थे, उधर योरप में गैलीलियो ने लगभग एक शताब्दी पहले दूरदर्शक का आविष्कार कर लिया था। दूरदर्शक से केवल दूरस्थ वस्तुएँ बड़ी ही नहीं दिखलाई पड़तीं, उससे नाप में भी बड़ी सूक्ष्मता आ सकती है। बंदूक से निशाना लगानेवाले सभी जानते हैं कि कुंदे के पास की नली, नाल के मुँह के पास लगी सोने या पीतल की घुंडी और शिकार ये तीनों वस्तुएँ एक साथ ही पूर्णतया स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़तीं। इसलिए निशाना बहुत सूक्ष्मता से नहीं लग सकता। दूरदर्शक से युक्त बंदूक भी बिकती हैं। ऐसी बंदूक की नली पर एक दूरदर्शक आरोपित रहता है। इस दूरदर्शक में स्वस्तिक के आकार में दो तार तने रहते हैं। ये तार और दूरस्थ शिकार दोनों एक साथ ही पूर्णतया स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। यदि दूरदर्शक उचित रीति से आरोपित रहे तो गोली ठीक उसी स्थान पर जाती है जहाँ दोनों तार एक दूसरे से मिलते हुए दिखलाई पड़ते हैं। यही बात स्थिति नापनेवाले यंत्रों में भी लागू है।
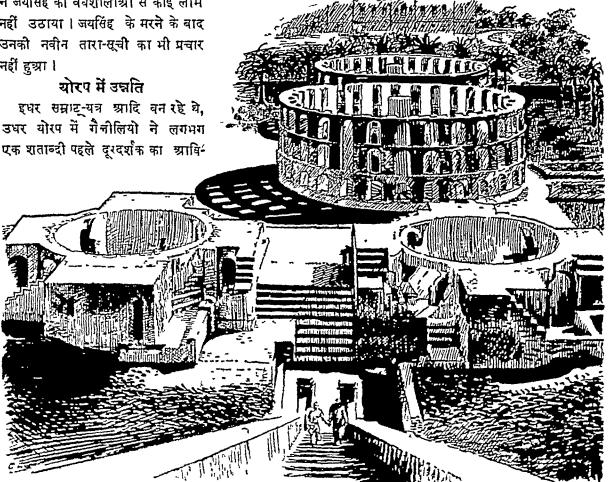
दिल्ली में प्रस्थापित जयसिंह की वेधशाला ('जंतर-मंतर') का विहंगम दृश्य
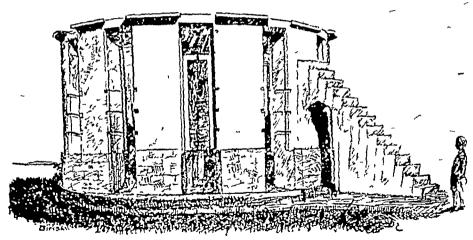
जयपुर-वेधशाला का राम-यंत्र

दूरदर्शक के उपयोग के पहले लोग यंत्र में नली या दो घुंडियाँ लगाते थे और देखते समय इन घुंडियों को या नली के अक्ष को तारे की सीध में रखते थे। परंतु इस प्रबंध से पूर्ण सूक्ष्मता नहीं आ पाती थी, क्योंकि दोनों घुंडियाँ और तारा, या नली के दोनों सिरे और तारा, एक साथ स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ते थे। यदि निकटतम घुंडी पर दृष्टि डाली जाती थी तो तारा और दूरस्थ घुंडी दोनों अस्पष्ट हो जाते थे; यदि दूरस्थ घुंडी पर दृष्टि डाली जाती थी तो निकटतम घुंडी और तारा अस्पष्ट रहते थे, इत्यादि। दूरदर्शक के लगाने से यह कठिनाई दूर हुई। परंतु गैलीलियो के आविष्कार के लगभग १६० वर्ष बाद जाकर ही नवीन विधि काम में लाई जा सकी। अब तो यंत्र-निर्माण-विद्या में इतनी उन्नति हुई है कि ऐसे यंत्र से भी जिसमें केवल एक इंच के व्यास का दूरदर्शक और ६ इंच व्यास के वृत्त हों, जयसिंह के भीमकाय सम्राट्-यंत्र से अधिक सूक्ष्म माप हो सकती है।

१६वीं शताब्दी के आरंभ में योरपीय ज्योतिषियों को ज्ञान हुआ कि चाहे यंत्र कितनी भी सूक्ष्मता से क्यों न बनाए जायँ उनमें कुछ-न-कुछ त्रुटि रह ही जाती है। तब से यह प्रथा निकली है कि यथासंभव शुद्धता लाने के बाद जो कुछ त्रुटियाँ रह जाती हैं उन्हें नापकर और परिणाम की गणना करके प्रतिशोध कर दिया जाता है। तभी से आधुनिक माप-प्रणाली का जन्म समझना चाहिए।

ग्रीनिच-वेधशाला

आधुनिक वेधशालाओं में क्या यंत्र रहते हैं और वहाँ किस प्रकार का काम होता रहता है, यह जानने के लिए, आइए, उदाहरणार्थ हम आपको लंदन की सुप्रसिद्ध ग्रीनिच-वेधशाला की सैर करा लाएँ।

लंदन से टैक्सी करके हम भीड़ और गगनचुंबी प्रासादों को पीछे छोड़ कोई आध घंटे में ग्रीनिच पहुँचते हैं। एक नीची-सी पहाड़ी है। उसी पर वेधशाला है। फाटक के पास पहुँचते ही हम चहारदीवारी में लगी हुई घड़ी देखते हैं, जिससे शुद्ध समय का ज्ञान होता है। इस घड़ी के समय में और वास्तविक शुद्ध समय में आधे सेकंड से अधिक अंतर कभी भी नहीं रहता। यह घड़ी केवल घड़ी का मुखड़ा भर है; इसके पीछे घड़ी के साधारण कल-पुर्ज़े नहीं हैं। इसकी सुइयाँ बिजली के कारण चलती हैं। प्रत्येक सेकंड पर क्षण मात्र के लिए बिजली आ जाती है और उसी से सुइयाँ चलती हैं। इस बिजली के आने का क्षण वेधशाला के भीतर वाली घड़ी से नियंत्रित रहता है। इसलिए यहाँ भी ठीक वही समय दिखलाई पड़ता है जो भीतर की संचालक घड़ी में।

आइए, भीतर चलें। राज ज्योतिषी की लिखित अनुमति हमारे पास है, इसलिए हम भीतर जाने पाते हैं। अभी युद्ध का समय नहीं आया है और यहाँ बम अभी नहीं गिरे हैं। लड़ाई से पहले की ही दशा में सब कुछ है। चलिए, पहले समय नापने का प्रबंध देखा जाय। फाटक से कुछ दूर चलकर हम उस स्थान में पहुँचते हैं जहाँ याम्योत्तर वृत्त यंत्र है। इसमें दूरदर्शक की धुरी इस प्रकार लगी है कि धुरी दूरदर्शक की मध्य रेखा से ठीक समकोण बनाती है। फिर, दूरदर्शक को इस प्रकार आरोपित किया गया है कि धुरी ठीक पूरब पश्छिम दिशा में है और वह ठीक क्षैतिज धरातल में भी है। इस दूरदर्शक के प्रधान ताल का व्यास ८ इंच है। हम दूरदर्शक को चलाते हैं तो देखते हैं कि यह ऊपर-नीचे घूम सकता है, अगल-बगल नहीं चल पाता। अगल-बगल चले कैसे? धुरी तो पूरब-पश्छिम दिशा को छोड़कर दूसरी स्थिति में जा नहीं सकती। देखिए कि दूरदर्शक से हम किसी तारे को तभी देख सकते हैं जब वह याम्योत्तर के धरातल में (अर्थात् उत्तर-दक्षिण और सिर के ठीक ऊपर रहनेवाले आकाशीय बिंदु से होकर जानेवाले धरातल में) आता है। वस्तुतः इस यंत्र का यही काम है कि हम जान सकें कि कोई तारा याम्योत्तर-धरातल में किस क्षण आता है। दूरदर्शक

के भीतर स्वस्तिक तार लगे हैं। जिस क्षण तारा स्वस्तिक के खड़े तार पर आता है उसी क्षण तारा ठीक यामोत्तर धरातल में रहता है। जब सूर्य का केंद्र वहाँ आता है तो हम जानते हैं कि ठीक मध्याह्न (दोपहर) हुआ है। उस क्षण ज्योतिषी घड़ी देखकर जान सकता है कि घड़ी ठीक चल रही है या तेज है या सुस्त। परंतु आँख उठाने में तो समय लगेगा, इसलिए वह बटन दबाता है। तारघर के संकेत की तरह एक संकेत बटन दबाते ही दूसरी कोठरी में पहुँच जाता है। हम देखते हैं कि इस कोठरी में चलते हुए कागज पर एक लेखनी सीधी रेखा खींचती रहती है। घड़ी के लंगर से सम्बद्ध बैटरी प्रति सैकंड क्षणमात्र के लिए विद्युत् धारा भेजकर इस लेखनी को ज़रा बगल में खींच लेती है। इस प्रकार प्रति सैकंड एक चिह्न बन जाता है। जब ज्योतिषी यामोत्तरवृत्त यंत्र के पास से बटन दबाता है तो दूसरी लेखनी से भी चिह्न बन जाता है। इस चिह्न की स्थिति को प्रति सैकंड बननेवाले चिह्नों की स्थितियों से मिलाकर ज्योतिषी सैकंड के सौवें भाग तक बता सकता है कि उसने बटन कब दबाया था और इसलिए अमुक तारा यामोत्तर धरातल पर कब पहुँचा था।

घड़ियाँ

आइए, अब वह घड़ी देखें जिसके लंगर के दोलन के अनुसार प्रति सैकंड बिजली आती रहती है। यह घड़ी तहखाने में है। तहखाने में कोठरी के भीतर कोठरी है। हम पहली कोठरी में घुसते हैं। तब बाहरी दरवाजा बंद करके भीतर वाली दूसरी कोठरी का दरवाजा खोलते हैं। भीतर घुसकर हम इस दरवाज़े को बंद कर लेते हैं। हमारे भीतर घुसते ही पंखा चलने लगा! यह क्यों? बात यह है कि इस कोठरी के भीतर तापक्रम सदा एक-सा रहे इसका स्वयंचल प्रबंध है। तापक्रम के थोड़ा-सा कम होते ही बिजली के हीटर (ताप-उत्पादक यंत्र) जल उठते हैं। नियत तापक्रम से नाममात्र भी अधिक तापक्रम होते ही हीटरों से बिजली कट जाती है और पंखा चलने लगता है। क्या सुंदर प्रबंध है! कैसे सुरक्षित स्थान में घड़ी रखी गई है! फिर, समूची घड़ी शीशे के बड़े-से बरतन में बंद है और उसमें से सब हवा निकाल ली गई है। बाहर से भीतर केवल बिजली के तार गए हैं, परंतु वायु के प्रवेश करने का कोई मार्ग नहीं है। घड़ी में न सुइयाँ हैं और न ददानेदार चक्र, प्राय एक लंगर भर है। यह 'स्वामिनी' घड़ी है। इसकी एक 'दासी' घड़ी भी है, जिसमें सुइयाँ भी हैं, मुख-पत्र भी। सुइयों के चलाने में कुछ बल लगाना पड़ता है। उसके कारण समय के माप में कुछ—संभवत. लेशमात्र—गड़बड़ी पड़ती है, इसलिए स्वामिनी को और कुछ काम करने को नहीं दिया जाता। उसे कुल इतना ही काम करना पड़ता है कि समय-समय पर वह क्षणभर के लिए बिजली का कनेक्शन (संबंध) स्थापित कर दे। इसका लंगर 'इनवार' नामक धातु का बना है, जो तापक्रम के घटने-बढ़ने पर भी स्वयं नहीं

ग्रीनिच-वेधशाला—युद्ध से पहले का दृश्य (फ़ोटो—'ग्रीनिच रायल आब्ज़रवेटरी' की कृपा से प्राप्त)
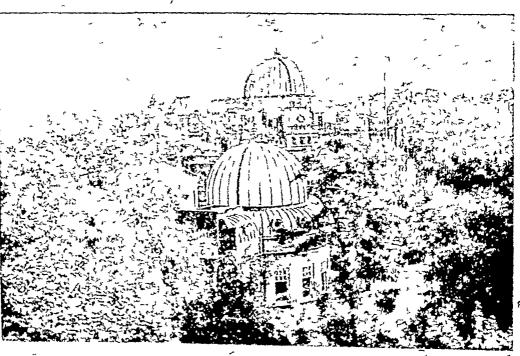
घटता बढ़ता, परंतु इतने पर ही भरोसा न करके ज्योतिषी उसे वायुशून्य बरतन में, फिर स्थिर तापक्रम बनाये रखने-वाले यंत्रों से संयुक्त कोठरी में, और अंत में उस समूची कोठरी को तहख़ाने की अन्य कोठरी में बंद रखना है। इस घड़ी को न सुई चलाना है और न वायु से रगड़ खाना है। न इसके कमानी है और न इसमें चाभी भरने की आवश्यकता है। इसको चालू रखने का प्रबंध यह है कि नियत समयों पर नियत मात्रा में एक अत्यंत क्षीण स्पर्श लंगर को एक चल बोझ से मिल जाता है। यह चल बोझ बिजली से उठता है और कुल एक इंच के दसवें भाग के बराबर आप से आप गिरता है, और इसी गिरने में लंगर को धीरे से ढकेल देता है। इसी से स्वामिनी निरंतर चलती रहती है। दो-चार वर्ष तक बिना किसी प्रकार की छेड़-छाड़ किए ही शुद्ध समय के अनुसार चलते रहना इसके लिए असंभव नहीं है।

यहाँ बहुत समय तक ठहरना मना है, क्योंकि घड़ियों की चाल में अंतर पड़ जा सकता है। हम अब दासी घड़ी की ओर देखते हैं। यह घड़ी कहीं अन्यत्र होती तो घड़ियों की रानी कहलाती। यह एक बहुमूल्य घड़ी है—कई हज़ार रुपयों की होगी। यह भी वायुशून्य शीशे में बंद है और इसके भी भीतर बिजली के तार गए-आए हैं। यह भी स्वामिनी की ही तरह चलती है, परंतु अंतर यह है कि इसे सुइयाँ भी चलानी पड़ती हैं और फिर उन्हें स्वामिनी की इच्छानुसार ही इसे चलाना पड़ता है। बात यह है कि ज्योतिषी जान-बूझकर दासी के चलने के वेग को कुछ तेज़ रखता है। जब स्वामिनी से क्षणिक बिजली आती है तो एक हल्की-सी कमानी दासी के लंगर के मार्ग में पड़ जाती है। इससे दासी के लंगर के मार्ग में थोड़ी-सी बाधा पड़ जाती है। लंगर को इतनी ही रुकावट काफी है। इस प्रबंध से वह स्वामिनी के लंगर से तेज़ नहीं चल पाता। झख मारकर दासी को उसी वेग से चलना पड़ता है जिस वेग से स्वामिनी चलती है। इस प्रकार वस्तुतः स्वामिनी के ही दिए हुए समय से दासी का संचालन होता है।

ग्रीनिच-वेधशाला का याम्योत्तरवृत्त यंत्र

घंटों का अंतर

आपके मन में सहज ही इन घड़ियों के प्रति आदर उमड़ आता है। यह अवश्य सूक्ष्मता की हद है। आप चुपके से अपनी कलाई उठाते हैं। देखना चाहते हैं कि इसमें और आपकी घड़ी में कितना अंतर है। हैं! यह क्या? आपकी घड़ी और इस घड़ी में तो कई घंटों का अंतर है! आप पूछते हैं कि बात क्या है? उत्तर यह है कि यह घड़ी नाक्षत्र समय बतलाती है। नाक्षत्र समय तारों वाला समय है। प्रत्येक तारा ठीक एक ही नाक्षत्र समय पर याम्योत्तर धरातल को पार करता है। उदाहरण के लिए यदि कोई तारा आज ४ बजकर ३२ मिनट २७.५४ सैकंड (नाक्षत्र समय) पर याम्योत्तर-धरातल को पार करता है तो कल भी ठीक इसी समय पर करेगा, और परसों भी और वस्तुतः प्रत्येक दिन यही होगा। इस तारे का याम्योत्तर गमन देखकर जिस क्षण ज्योतिषी ने बटन दबाया था उस क्षण घड़ी में क्या समय होना चाहिए यह वह ठीक-ठीक जानता है। इसलिए घड़ी सुस्त है या तेज़, और अंतर कितना है, इसका ठीक पता उसे तुरंत चल जाता है।
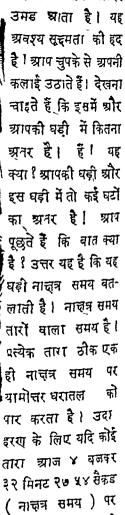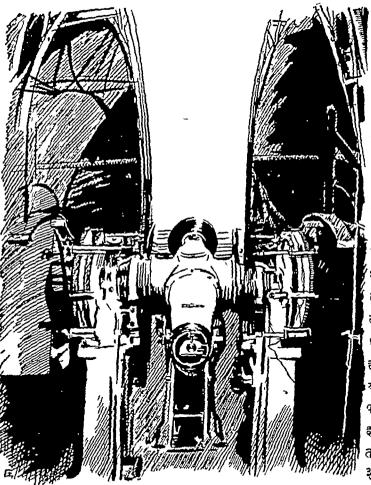
गणना से यह ज्ञात होता है कि जब नाक्षत्र समय

इतना है तो साधारण समय क्या है। इससे पता चल जाता है कि साधारण समय देनेवाली घड़ी तेज़ है या सुस्त। यह घड़ी भी अत्यत सावधानी से शीशे के वायु-शून्य बरतन में बद है और प्रति सैकंड क्षण भर के लिए बिजली चालू करती रहती है। इसी बिजली के धक्के से वह घड़ी चलती है जो बाहर चहारदीवारी पर हमने लगी देखी थी और वैसी ही अन्य कई घड़ियाँ भी इसी से चलती हैं।

हमने समय का प्रबध देख लिया। इसके अतिरिक्त यामोत्तरवृत्त यंत्र से यामोत्तर पर आने के अवसर पर क्षितिज से तारे की ऊँचाई भी नप जाती है। इसी से अत में क्रांति का पता चल जाता है। फिर, यामोत्तर पर आने के समय से ही विषुवांश का पता चल जाता है। इस प्रकार यह यत्र वही काम करता है जो जयसिंह का सम्राट्-यत्र करता था, परतु उससे यह कहीं अधिक सूक्ष्म है।

आइए, आप यामोत्तरवृत्त यत्र के केंद्र के ठीक उत्तर या दक्षिण खड़े हो जाइए। अब आप उस शून्य देशान्तर पर हैं, जिससे अन्य नगरों के देशान्तर नापे जाते हैं। इस रेखा से पूर्व के देशों में पूर्वीय देशान्तर और पश्चिम में पश्चिमी देशान्तर है।
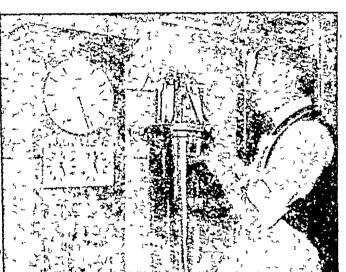
ग्रीनिच-वेधशाला की प्रसिद्ध 'स्वामिनी' और 'दासी घड़ियाँ' जो ससार की सबसे सही घड़ियाँ मानी जाती हैं। 'दासी' घड़ी में मुख-पत्र (डायल) और सुइयाँ हैं, स्वामिनी में यह कुछ भी नहीं, वह केवल बिजली का एक कनेक्शन भर स्थापित करती है।

चलिए, आगे बढ़ें। हम एक कोठरी में घुसते हैं। द्वार खोलते ही सैकड़ों घड़ियों की टिक्-टिक् टिक् टिक् ध्वनि सुनाई देती है। यह घड़ियों का परीक्षागृह है। यहाँ उनकी जाँच होती है। उत्तीर्ण और प्रमाणपत्र-प्राप्त घड़ियों को जहाज़वाले अपने साथ ले जाते हैं। ऐसी घड़ियों से शुद्ध ग्रीनिच समय का पता चलता है। रेडियो के कारण इन घड़ियों की माँग अब बहुत कुछ कम हो गई है, तो भी आज भी बहुत-सी घड़ियों की जाँच यहाँ होती है।

नवीन यामोत्तरवृत्त यंत्र

आगे चलकर हम देखते हैं कि यहाँ एक नवीन यामोत्तरवृत्त यत्र की जाँच हो रही है (यह हम सन् १९३९ की बात कह रहे हैं)। इस यत्र को इगलैंड की सबसे बड़ी यत्र निर्माता कपनी—कुक, ट्राउटन और सिम्स—ने बनाया है। जाँच करने के लिए जर्मनी की क्रुप कपनी से विशेष यत्र ख़रीदा गया है, जो सूक्ष्मदर्शक की तरह है। यामोत्तरवृत्त यत्र की धुरियों की जाँच हो रही है कि वे पूर्णतया गोल हैं या नहीं। पहली बार की जाँच में पता चला था कि कहीं-कहीं त्रुटियाँ रह गई थीं। ऊँचे स्थानों को फिर से घिसा गया है। अब की बार की जाँच से पता चलता है कि त्रुटियाँ अब भी रह गई हैं, परंतु कहीं भी सच्चे गोल (वृत्ताकार) आकार से इच के लाखवें भाग से अधिक अतर नहीं है। मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात है कि वह इससे अधिक सच्ची धुरी बनाए। इच का लाखवाँ भाग तो बाल की खाल से भी सूक्ष्म है! धुरी के ठीक हो जाने पर इस यत्र के चक्र पर अंश (डिगरी) सूचक चिह्नों की एक-एक करके जाँच होगी। इन चिह्नों के अकित करने में इतना यत्न किया गया है कि उसे ही हम सूक्ष्मता की सीमा मान सकते हैं। परतु ज्योतिषी उतने ही से सतुष्ट नहीं होता। वह बची-खुची त्रुटियों को स्वय नापेगा। प्रथम मोटी जाँच से पता लगा है कि एक अश के पद्रह हज़ारवें भाग से अधिक अंतर कहीं नहीं है। यदि आपको स्मरण हो कि रेखा-गणित पढ़ते समय चाँदे से अंश के दशम भाग के नापने में कितनी कठिनाई पड़ती थी तो संभवत: आप अनुमान कर सकेंगे कि एक अश का पद्रह हजारवाँ भाग क्या होता है।

पास में ही दफ्तर है, जहाँ समय की गणना होती रहती है। ग्रीनिच-वेधशाला सरकारी वेधशाला है। इसी-लिए यहाँ समय और तारे, चंद्रमा आदि की स्थितियों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। सरकार इन्हीं बातों की

पोत्सडाम वेधशाला की 'आइन्स्टाइन-मीनार'
इस वेधशाला की इमारत बड़े अजीब ढंग से बनाई गई है। महान् गणितज्ञ और वैज्ञानिक आइन्स्टाइन के सापेक्षितावाद की जाँच के कार्य में इस वेधशाला ने विशेष योग दिया है।
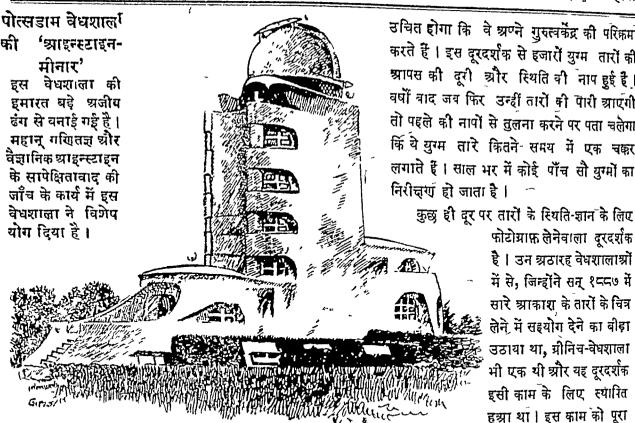
जानकारी को अधिक महत्त्वपूर्ण समझती है, क्योंकि जहाज़ के कप्तानों को इनकी आवश्यकता बराबर पड़ा करती है। परंतु यहाँ अन्य काम भी होता है।

पारे पर तैरनेवाला दूरदर्शक

ग्रीनिच में एक विशेष यंत्र है जो अन्य वेधशालाओं में नहीं रहता। यह ऐसा दूरदर्शक है जो पारे पर तैरता रहता है। है तो यह छोटा ही—६ इंच व्यास का और ६ फीट लंबा—परंतु इससे एक विशेष अनुसधान हो रहा है, वह यह कि पृथ्वी का अक्ष पृथ्वी की सतह के हिसाब से चल है या अचल? वर्षों से यह अनुसंधान हो रहा है और वर्षों तक होता रहेगा। इतना तो अब पता चल गया है कि पृथ्वी का अक्ष पृथ्वी की सतह को सदा एक ही समान बिंदुओं में नहीं काटता, परंतु अक्ष क्यों बदला करता है और किन नियमों के अनुसार बदला करता है, इसका अभी पता नहीं चल पाया है।

कुछ बड़े दूरदर्शक

थोड़ी ही दूरी पर ग्रीनिच का सुप्रसिद्ध २८ इच वाला दूरदर्शक है। ग्रेटब्रिटेन में यही सबसे बड़ा दूरदर्शक है। हम दिन में वेधशाला की सैर कर रहे हैं, इसी से यहाँ सन्नाटा है। प्रत्येक स्वच्छ रात्रि में यहाँ कोई ज्योतिषी युग्म तारों का निरीक्षण करता रहता है। युग्म तारे एक दूसरे की परिक्रमा करते रहते हैं, बल्कि समवत यह कहना अधिक उचित होगा कि वे अपने गुरुत्वकेंद्र की परिक्रमा करते हैं। इस दूरदर्शक से हजारों युग्म तारों की आपस की दूरी और स्थिति की नाप हुई है। वर्षों बाद जब फिर उन्हीं तारों की पारी आएगी तो पहले की नापों से तुलना करने पर पता चलेगा कि ये युग्म तारे कितने समय में एक चक्कर लगाते हैं। साल भर में कोई पाँच सौ युग्मों का निरीक्षण हो जाता है।

कुछ ही दूर पर तारों के स्थिति-ज्ञान के लिए फोटोग्राफ़ लेनेवाला दूरदर्शक है। उन अठारह वेधशालाओं में से, जिन्होंने सन् १८८७ में सारे आकाश के तारों के चित्र लेने में सहयोग देने का बीड़ा उठाया था, ग्रीनिच-वेधशाला भी एक थी और यह दूरदर्शक इसी काम के लिए स्थापित हुआ था। इस काम को पूरा हुए अब बहुत वर्ष हो गए। इन दिनों इस दूरदर्शक से कभी-कभी अवान्तर ग्रहों के फोटोग्राफ लिये जाते हैं, ताकि उनकी स्थितियों का पता रहे। यम (प्लूटो) का फ़ोटोग्राफ भी कभी-कभी इसी उद्देश्य से ले लिया जाता है।

इससे थोड़ी ही दूर पर ढोलक के आकार का गुंबद-वाला एक छोटा-सा यंत्र है, जिससे यथासंभव प्रति दिन सूर्य का फ़ोटोग्राफ़ लिया जाता है। इस यन्त्र के ताल (लेंज़) का व्यास कुल ४ इंच का है, परंतु साधारणत. ताल के केवल ३ इंच व्यास का केंद्रीय भाग ही काम में लाया जाता है। इस यंत्र से जो फोटो उतरता है उसमें सूर्य का व्यास ८ इच का रहता है। ठीक ऐसा ही फोटो दक्षिणी अफ्रीका और कोड़ेकनाल (मद्रास) में भी यथासभव प्रतिदिन लिया जाता है। जिन दिनों में ग्रीनिच में बादल आदि के कारण सूर्य का फोटो नहीं उतर पाता उन दिनों का फ़ोटोग्राफ अफ्रीका या भारत-वर्ष से मँगा लिया जाता है। उदाहरणत' १९३६ में २६३ दिन तो ग्रीनिच में फ़ोटो लिया जा सका और ३३६ दिन अफ्रीका में। तो भी तीन दिन ऐसे निकले जब न तो ग्रीनिच में फ़ोटो लिया जा सका था और न अफ्रीका मे। उन दिनों के फोटोग्राफ भारतवर्ष से मँगाए गए थे। इन फ़ोटोग्राफ़ों से सूर्य-कलंकों और उनके प्रभाव का सूक्ष्म निरीक्षण हो रहा है।

दफ़्तर

हाते के एकदम दक्षिण भाग में दफ़्तर आदि हैं और उनके बीच में २६ इंचवाला दूरदर्शक प्रस्थापित है। दफ़्तर में गणना, फोटोग्राफ़ों की नाप, साधारण पत्र-व्यवहार, प्रूफ़-संशोधन, प्रकाशन-संबंधी कार्य, आदि होता रहता है। इस समय दफ़्तर कर्मचारियों से भरा है, जिनमें बहुतेरी महिलाएँ भी हैं, परंतु संध्या के पहले यह सब सूना हो जायगा। यहाँ सबसे मनोरंजक काम है प्लेटों की नपाई। देखिए, यहाँ एक महिला समीपवर्ती तारों के हिसाब से यम (प्लूटो) की स्थिति नाप रही है। फ़ोटो लेने में तो कुछ ही मिनिट लगते हैं, परंतु नापने में घंटों का समय लग जाता है और गणना में कई दिन बीत जाते हैं। एक महिला फ़ोटो में तारों के चित्रों का व्यास नाप रही है—ऐसी नापों से तारों की चमक ज्ञात होती है। देखिए, गणना-विभाग में कुछ व्यक्ति सूर्य की दूरी जानने में लगे हैं। आवश्यक फ़ोटोग्राफ़ सन् १९३० में लिये गए थे। फिर वे नापे गए और तब गणना आरंभ हुई। काम अब प्राय समाप्त होने को आ गया है। अंतिम परिणाम यहाँ की पत्रिका में छपेगा।

दफ़्तरों के मध्य में स्थित गुंबदवाली बड़ी कोठरी में रक्खे २६ इंच के दूरदर्शक से तारों की दूरी नापने का प्रयत्न किया जाता है। इसके लिए प्रत्येक वर्ष हजार, सवा हजार फोटोग्राफ लिये जाते हैं, वे नापे जाते हैं और अंत में गणना होती है।

इन प्लेटों को नापने के लिए नवीन विधि से काम लिया जा रहा है। साधारण रीति से नापने में सूक्ष्मदर्शक द्वारा देखना पड़ता है। उससे आँख पर ज़ोर पड़ता है और कमर टेढ़ी हो जाती है। यहाँ जिस प्रकार सिनेमा में फ़िल्म का छोटा-सा चित्र परिवर्द्धित होकर पर्दे पर पड़ता है उसी प्रकार प्लेट का बड़ा-सा चित्र एक पर्दे पर डाला गया है। पर्दे पर चारख़ाने भी दिखलाई पड़ रहे हैं। आराम से बैठकर नापनेवाला दूरियों को लिखता चला जा रहा है। अभी तक पक्का पता नहीं है कि यह रीति पुरानी रीति से अधिक सच्ची निकलेगी या नहीं, परंतु नवीन प्रयोग करते रहने से ही तो नवीन बातों का पता चलता है और उन्नति होती है। यदि यह रीति संतोषजनक निकली तो नापनेवालों को बड़ी सुविधा रहेगी।

वेधशाला में एक ३६ इंच का दर्पणयुक्त दूरदर्शक भी है। अमेरिका के बड़े-बड़े दूरदर्शकों के आगे यह नगण्य सा है, परंतु यहाँ इससे तारों के वर्णपट के फ़ोटो-

माउंट हैमिल्टन पर स्थापित अमेरिका की प्रसिद्ध लिक-वेधशाला
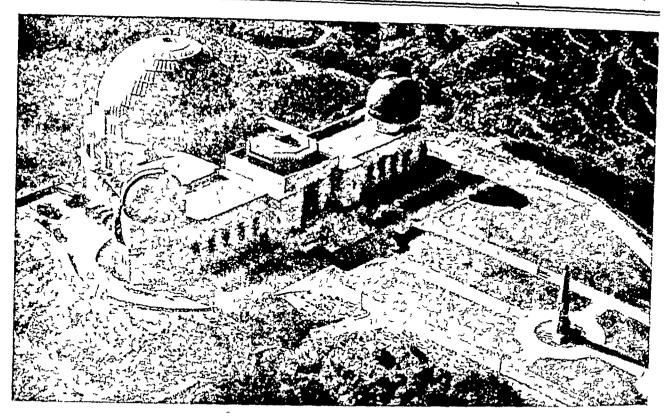
लोकरंजन और जनशिक्षा के लिए लास एंजिलस के समीप प्रस्थापित ग्रिफिथ वेधशाला और प्लनेटेरियम
अगले पृष्ठ पर प्रदर्शित 'ज़ाइस यंत्र' द्वारा कृत्रिम रूप में नक्षत्र-खचित आकाश का दृश्य दिखाकर दर्शकों को मनोरंजक ढंग से ज्योतिष-विषयक जानकारी कराई जाती है। ऐसे प्लनेटेरियम योरप-अमेरिका में और भी कई जगह हैं।

ग्राफ लिये जाते हैं। प्रत्येक वर्ष कोई तीन सौ फोटोग्राफ इस यंत्र से ले लिये जाते हैं।

वेधशाला में एक कारखाना भी है, जहाँ यंत्रों की मरम्मत होती है और छोटे-बड़े नवीन यंत्र बनते भी हैं।

अब हम वेधशाला को देख चुके। चलिए संचालक—राजज्योतिषी (ऐस्ट्रॉनोमर रॉयल) डाक्टर एच० स्पेन्सर जोन्स महोदय—को धन्यवाद दे आएँ।

योरप की अन्य वेधशालाएँ

केम्ब्रिज (इँगलैंड) और ऑक्सफर्ड में भी वहाँ के विश्वविद्यालयों की प्रसिद्ध वेधशालाएँ हैं, परंतु वे छोटी हैं। केम्ब्रिज में साढे ग्यारह इंचवाला वह दूरदर्शक है जिससे ऐडम्स के बतलाए हुए स्थान के आस-पास वरुण (यूरेनस) नामक ग्रह की खोज हुई थी। केम्ब्रिज में २५ इंच के व्यास का तालयुक्त दूरदर्शक भी है, जिसे एक शौक़ीन ज्योतिषी ने अपने हाथ से बनाया था और जिसे वह अंत में केम्ब्रिज-विश्वविद्यालय को दानस्वरूप दे गया था। यह जब बना था तब संसार में सबसे बड़ा दूरदर्शक था। अब इससे वर्णपट के फ़ोटोग्राफ़ खींचे जाते हैं।

पेरिस में फ्रांस की सरकारी वेधशाला है। यहाँ भी समय नापने पर अधिक ध्यान दिया जाता है। यहाँ से प्रसिद्ध ईफिल मीनार तक एक तार गया है जिससे वेधशाला की घड़ी को टॉवर के एरियल से सम्बद्ध कर देते हैं। इस प्रकार रेडियो द्वारा लोगों को सीधे वेधशाला की घड़ी ही से समय मिल जाता है। यहाँ साढे तेईस इंच व्यास का एक दूरदर्शक है जिसके भीतर इस प्रकार दर्पण लगे हैं कि दर्शक को ऊपर-नीचे उठना बैठना नहीं पड़ता। कुछ ही मील पर—म्यूडन में—इस वेधशाला की वह शाखा है जहाँ सूर्य का अध्ययन होता है। यहाँ पौने तैंतीस इंच का दूरदर्शक है, जो योरप में सबसे बड़ा है। इसका ६० फ़ीट व्यास का श्वेत गुंबद मीलों से दिखलाई पड़ता है और बड़ा सुन्दर जान पड़ता है। वेधशाला पहाड़ी पर बनी है। यहाँ सूर्य के जितने सुन्दर फ़ोटो लिये जा सके वैसे अन्यत्र नहीं उतर पाए हैं।

नीस (फ्रांस) में जो वेधशाला है, वह बहुत ही रमणीक स्थान पर बनी है। वह १२०० फीट ऊँची एक पहाड़ी पर शहर से थोड़ी ही दूर पर प्रस्थापित है। यहाँ ३० इंच का दूरदर्शक है। इस वेधशाला में केतुओं की खोज भी होती है। कई केतुओं का आविष्कार यहाँ हो चुका है।

जर्मनी में कई वेधशालाएँ हैं। हाइडलवर्ग की वेधशाला में डाक्टर मैक्स वोल्फ ने कई नवीन अवान्तर ग्रहों का आविष्कार किया था। वहाँ के सबसे बड़े दूरदर्शक का व्यास २८ इंच है। पोत्सडाम में तारों के मौतिक अध्ययन के लिए वेधशाला है। हामबुर्ग में नाविक ज्योतिष संबंधी वेधशाला है। गटिंगन में वहाँ के विश्वविद्यालय की छोटी-सी वेधशाला है, जहाँ विख्यात ज्योतिषी और गणितज्ञ गाउस ने वेध किए थे। बर्लिन में पूर्वोक्त पोत्सडाम वाली वेधशाला को लेकर चार वेधशालाएँ हैं।

पुलकोवा (रूस) की वेधशाला स्ट्रूवे के कारण प्रसिद्ध है, जिसने साढ़े नौ इंच के दूरदर्शक से (उस समय वही संसार का सबसे बड़ा दूरदर्शक था) युग्म तारों के संबंध में मौलिक काम किया। वहाँ अब तीस इंच का दूरदर्शक है। जब यह स्थापित हुआ था (१८८३ में) तो यही संसार में सब से बड़ा दूरदर्शक माना जाता था।

अमेरिका की वेधशालाएँ

संसार के बड़े-बड़े दूरदर्शक सब अमेरिका में ही हैं। वहाँ धन है और धनिकों में विज्ञान के लिए दान देने की प्रथा भी है। वहाँ बड़े यंत्रों के बनाने के साधन भी हैं। अधिकांश वेधशालाओं में केवल आधुनिक कार्य होता है। वहाँ एक सरकारी वेधशाला भी है—'यू० एस० नेवल वेधशाला, वाशिंगटन'—जहाँ समय की नाप होती रहती है। यहाँ भी एक अच्छा-सा यामोत्तरवृत्त यंत्र है। इसके अतिरिक्त इस वेधशाला के बड़े दूरदर्शक से – जिसका व्यास २६ इंच है—ग्रहों के उपग्रहों का वेध होता रहता है, जिससे उनके मार्ग का सच्चा पता चलता है। अपने समय में यह संसार का सबसे बड़ा दूरदर्शक था और मंगल के उपग्रहों का आविष्कार इसी से हुआ था।

अमेरिका की छोटी वेधशालाओं में हारवार्ड कालेज की वेधशाला बड़ी प्रसिद्ध है। यहाँ तारों पर बहुत काम हुआ है और कई नवीन बातों का पता चला है। यहाँ की तारा चित्रावाली प्रसिद्ध है। प्रत्येक स्वच्छ रात्रि में एक इंच व्यास के लेंज वाले कई कैमरों से एक साथ ही सारे दृश्य आकाश का फोटोग्राफ ले लिया जाता है। ये फोटोग्राफ बड़े यत्न से रक्खे हुए हैं। यदि आज किसी
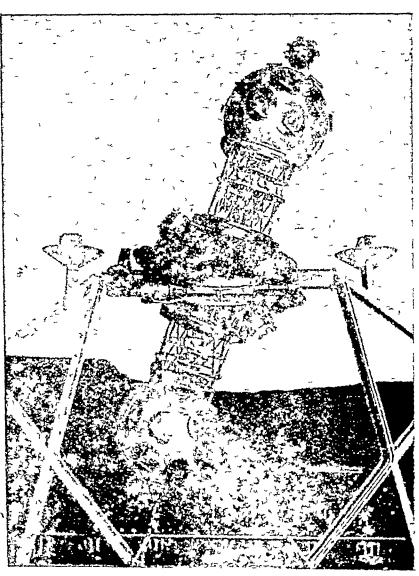
ग्रिफिथ वेधशाला और प्लैनेटेरियम का 'ज़ाइस यंत्र'
यह अद्भुत यंत्र इस युग के चमत्कारों में से एक है। इसके द्वारा सिनेमा की भाँति ज्योतिषगृह की गुंबदनुमा भीतरी छत पर तारों, ग्रहों आदि से खचित आकाश का कृत्रिम दृश्य प्रदर्शित किया जाता है और उनकी स्थिति समझाई जाती है।

तारे के इतिहास की आवश्यकता पड़ जाय तो इन चित्रों में ढूंढने से बहुत सी बातों का पता चल जायगा। इन चित्रों में बहुत से ऐसे नवीन तारों का पता चला है जिनकी ज्योति घटती-बढ़ती रहती है। यहाँ पर तारों का वर्णपट-चित्र भी बहुत खींचा गया है और वर्णपट के अनुसार तारों के वर्गीकरण की परिपाटी यहीं से प्रचलित हुई है। यहाँ का अधिकांश काम छोटे यंत्रों से ही किया गया है, यद्यपि एक १५ इंच का दूरदर्शक भी यहाँ है।

संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) की तीन सबसे बड़ी वेधशालाएँ हैं माउंट विल्सन, यर्किज और लिक। इसका नाम कई बार 'हिंदी विश्व भारती' में आ चुका है। लिक वेधशाला माउंट हैमिल्टन (ऊँचाई ४,२०० फीट) के शिखर पर प्रस्थापित है। इसके ३६ इंचवाले दूरदर्शक का इतिहास पहले दिया जा चुका है इस यंत्र से ग्रहों और उनके उपग्रहों की जाँच हुई है और बहुत से युग्म तारों की नाप हुई है। इस वेधशाला में ३६ इंच व्यास का दर्पणयुक्त दूरदर्शक भी है। इससे प्रोफेसर कीलर ने नीहारिकाओं के अत्यंत सुन्दर फोटोग्राफ़ लिये थे। नियत समयों पर यह वेधशाला जनता के लिए भी खुली रहती है और बहुत-से लोग जाकर बड़े दूरदर्शक द्वारा आकाश के मनोरम दृश्य देख आते हैं।

श्री चार्ल्स टी० यर्किज़ के दान के फलस्वरूप यर्किज वेधशाला का निर्माण हुआ है। यह शिकागो विश्वविद्यालय से सम्बद्ध है, परंतु शिकागो से लगभग ८० मील की दूरी पर है। यहाँ ४० इंच व्यास का संसार का सबसे बड़ा तालयुक्त दूरदर्शक है। इस वेधशाला का प्रधान गुँबद ६० फीट व्यास का है। जब आकाश स्वच्छ रहता है तो कोई न-कोई ज्योतिषी इससे काम करता ही रहता है, चाहे रात हो, चाहे दिन। अधिकतर इससे तारों के संबंध में ही काम हुआ है। चंद्रमा के भी कुछ अत्यंत सुन्दर फ़ोटोग्राफ़ यहाँ उतारे गए हैं। इस वेधशाला के हाते के भीतर सत्तर एकड़ भूमि है, और कई छोटे-बड़े यंत्र हैं जिनसे तरह-तरह के उपयोगी कार्य यहाँ हुए हैं।

माउंट विल्सन वेधशाला में संसार का वर्त्तमान सबसे बड़ा दूरदर्शक है। यह १०० इंचवाला दर्पणयुक्त दूरदर्शक है जिसकी चर्चा कई बार पहले इस स्तंभ के अंतर्गत की जा चुकी है। यह वेधशाला कैलिफोर्निया में पैसाडेना नगर से कुछ ही मील पर है। जिस शिखर पर वेधशाला है, वह समुद्रतल से लगभग ६,००० फीट ऊँचा है। इतनी ऊँचाई पर वायु अत्यंत स्वच्छ रहती है और बहुत कम दिन ही आकाश मेघाच्छादित रहता है। इस वेधशाला में दो अट्टालिका दूरदर्शक भी हैं। बड़ा १५० फीट ऊँचा है। छोटा, जो पहले बना था, ६० फ़ीट ही ऊँचा है। इन दूरदर्शकों के चित्र इससे पहले 'विश्व-भारती' में प्रकाशित हो चुके हैं। एक बेंडा दूरदर्शक भी है, परन्तु वायु की धाराओं के कारण इस दूरदर्शक से सूर्य उतना स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ता, जितना अट्टालिका दूरदर्शकों से।

इस वेधशाला में अनेक प्रकार का कार्य हुआ है और प्रत्येक दिशा में आशातीत सफलता मिली है। १०० इंचवाले दूरदर्शक के अतिरिक्त यहाँ ६० इंच का भी एक दर्पणयुक्त दूरदर्शक है। इन दोनों दूरदर्शकों के केवल व्यास ही बड़े नहीं हैं, बल्कि उनके दर्पण इतने सच्चे हैं और आरोपण इतना समतुलित और सुगमचल है कि उनकी बराबरी अन्यत्र कहीं नहीं हो पाई है। १०० इंचवाले दूरदर्शक से लिये गए चंद्रमा के फ़ोटोग्राफ अत्यंत सुन्दर उतरे हैं। यहाँ साधारणतः तारों का ही निरीक्षण होता रहा है। हाँ, अट्टालिका-दूरदर्शक से सूर्य की भौतिक और रासायनिक बनावट का भी अध्ययन हुआ है।

कनाडा की वेधशाला

कनाडा में विक्टोरिया शहर के पास एक बहुत अच्छी वेधशाला है। यहाँ आकार के हिसाब से संसार का द्वितीय सबसे बड़ा दूरदर्शक है। इसका व्यास ७२ इंच है और यह दर्पणयुक्त दूरदर्शक है। इससे भी साधारणतः तारों का ही निरीक्षण हुआ है, विशेषकर तारों का वेग नापा गया है। प्रत्येक शनिवार को जनता इस बड़े दूरदर्शक से आकाशीय पिंडों को देख सकती है। कहते हैं, सन् १६३६ में २५,५५६ दर्शकों ने इस सुविधा से लाभ उठाया था।

अफ्रीका की वेधशालाएँ

दक्षिणी अफ्रीका में केप ऑफ गुड होप में एक वेधशाला है। यह सरकारी वेधशाला है और विशेष रूप से इसीलिए खोली गई थी कि जो तारे ग्रीनिच से नहीं दिखलाई पड़ते वे यहाँ से देखे जायँ। यहाँ तारों की स्थिति बहुत दिनों तक नापी गई है। सारे आकाश के तारों के फ़ोटोग्राफ़ लेने की अन्तर्राष्ट्रीय योजना में यह वेधशाला भी सम्मिलित थी। यहाँ का सबसे बड़ा दूरदर्शक २४ इंच का है। यहाँ पर भी ग्रीनिच की तरह यथासंभव प्रतिदिन सूर्य का फोटोग्राफ लिया जाता है।

काहिरा (मिस्र) से कुछ मील पर स्थित मोकत्तम पहाड़ी पर हेलवान वेधशाला है। यहाँ ३० इंच व्यास का दर्पणयुक्त दूरदर्शक है, जिससे पहले दक्षिणी नीहा

रिकाओं के अच्छे फोटोग्राफ़ लिये जा चुके हैं।

भारतवर्ष की वेधशालाएँ

भारत इतना विशाल है, किन्तु यहाँ आधुनिक ढंग की अच्छी वेधशालाओं का अभाव-सा है। एक छोटी-सी सरकारी वेधशाला कोडेकनाल (मद्रास) में प्रस्थापित है। यह समुद्रतल से ७,७४५ फीट की ऊँचाई पर है। यहाँ अधिकतर सूर्य के संबंध में ही काम हुआ है। सूर्य की रक्त ज्वालाओं के कई सुन्दर चित्र यहाँ लिये गए हैं। सूर्य सम्बन्धी खोजों के लिए यहाँ के भूतपूर्व सचालक जे० एवरशेड महोदय को रॉयल ऐस्ट्रोनॉमिकल सोसायटी का स्वर्णपदक मिला था। यहाँ कोई बड़ा दूरदर्शक नहीं है। परंतु एक अच्छा वर्णपट और कैमरा (स्पेक्ट्रोहीलियोग्राफ) यहाँ है, जिसमें पहले सूर्य के प्रकाश को त्रिपार्श्व द्वारा उसके विविध इंद्रधनुष के समान रंगों में विभक्त कर दिया जाता है और तब इन रंगों में से किसी चुने हुए रंग को कैमरे के भीतर जाने दिया जाता है। इसके लिए फ़ोटो के प्लेट के सामने ऐसा यंत्र लगा रहता है जिसमें एक सँकरा, लंबा, चीरनुमा छेद रहता है। इस छेद को चलाकर सूर्य के विभिन्न भागों का चित्र पारी-पारी से उतार लिया जाता है। केवल एक रंग की रश्मियों से चित्र उतरता है। इसलिए ऐसे चित्र में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है कि सूर्य में वह पदार्थ कहाँ कहाँ है जो इस रंग की रश्मियों को उत्पन्न करता है। इस प्रकार हम इस यंत्र से ऐसे चित्र खींच सकते हैं जिनमें हाइड्रोजन के बादल या कैल्शियम के बादल स्पष्ट दिखलाई पड़ें।

भारतवर्ष की दूसरी वेधशाला निज़ामिया वेधशाला (हैदराबाद, दक्षिण) है, जहाँ १५ इंच का एक दूरदर्शक है। इससे अस्थिर ज्योति के तारों के संबंध में अनुसन्धान हो रहा है। यहाँ ग्रीनिच, पेरिस, केप ऑफ गुड होप आदि वेधशालाओं की तरह तारों के फोटोग्राफ लेने के लिए प्रामाणिक ढंग का विशेष दूरदर्शक भी है, जिसे इस वेधशाला ने सारे आकाश के तारों के फ़ोटोग्राफ़ लेने की अंतर्राष्ट्रीय योजना में सम्मिलित होने के लिए ख़रीदा था। निज़ामिया वेधशाला ने अपना काम पूरा करके कुछ अन्य वेधशालाओं के अधूरे काम की पूर्ति में सहायता दी थी। इस यंत्र से इन दिनों तारों की निजी गति जानने के लिए फोटोग्राफ लिये जाते हैं।

इस संक्षिप्त दिग्दर्शन में हमें बहुत-सी वेधशालाओं का नाम छोड़ देना पड़ा है और बहुतों का विवरण इतना संक्षिप्त रूप से देना पड़ा है कि उनके कार्य की महत्ता का पता नहीं चल पाता। परंतु पाठक ने इतना अवश्य देखा होगा कि बड़ी-बड़ी वेधशालाओं में चंद्रमा, सूर्य और ग्रह के सौंदर्य का निरीक्षण होता ही नहीं। कारण यह है कि आधुनिक ज्योतिषी समझते हैं कि ग्रहों के बारे में जो जानना था सो ज्ञात हो चुका है। हाँ, लॉवेल द्वारा प्रस्थापित फ्लैगस्टाफ (अरिज़ोना) वेधशाला में अवश्य ग्रहों का निरीक्षण होता रहता है, चूँकि वह इसी शर्त पर धन छोड़ गए हैं कि निरंतर ग्रहों का निरीक्षण होता रहे।
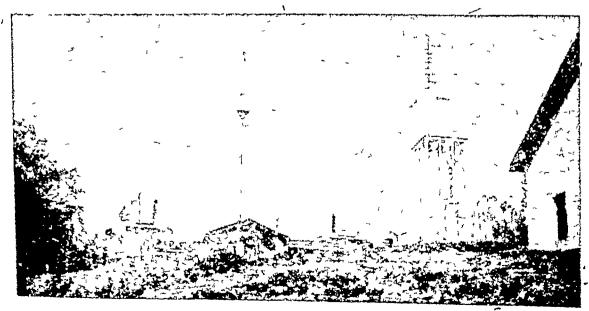
दक्षिण भारत की कोडेकनाल वेधशाला—(फ़ोटो—'कोडेकनाल वेधशाला' की कृपा से प्राप्त)
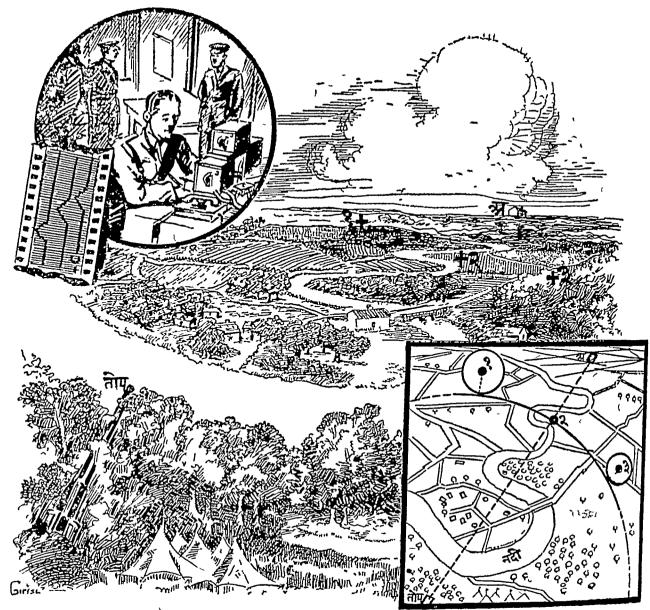
युद्ध-क्षेत्र में शत्रु-तोपों की स्थिति का पता लगाने के लिए ध्वनि-तरंगों के गति विधि-संबंधी नियमों का प्रयोग

इसके लिए तीन विभिन्न स्थानों में एक-दूसरे से आधा-आधा मील या इसी प्रकार के फ़ासले पर तीन माइक्रोफोन (चित्र में १,२,३) स्थापित किए जाते हैं और तीनों का सबंध बिजली के तार द्वारा एक केन्द्रीय दफ़्तर (अ) से रहता है। जब शत्रु की तोप के अपने छिपे हुए स्थान से दगने का शब्द सुनाई पड़ता है तो तीनों माइक्रोफोन बारी-बारी से केन्द्रीय दफ़्तर के विद्युत् यंत्र में विद्युत्-धारा द्वारा उक्त शब्द की सूचना देते हैं और फलत केन्द्रीय दफ़्तर में एक विशेष यंत्र द्वारा उक्त ध्वनि के चढ़ाव-उतार का मानचित्र तथा उसके पहुँचने के ठीक-ठीक समय का लेखा एक संवेदनशील फ़िल्म पर अंकित हो जाता है। चूँकि तीनों माइक्रोफोन अलग अलग फासले पर स्थित हैं, अतएव प्रत्येक तक तोप की ध्वनि के पहुँचने में जो समय लगता है, उसमें एक दूसरे से कुछ अंतर होता है। उदाहरण के लिए नं० २ माइक्रोफ़ोन पर जिस समय तोप का शब्द पहुँचा, उसके आधे सेकंड बाद नं० १ माइक्रोफोन पर और चौथाई सैकंड बाद नं० ३ माइक्रोफोन पर सुनाई दिया तो वायु में ध्वनि की गति—प्रति सैकंड ११२० फ़ीट—के हिसाब से यह ज्ञात हुआ कि शत्रु तोप नं० २ माइक्रोफोन की अपेक्षा नं० १ से ५६० फीट अधिक दूर है तथा नं० ३ से २८० फीट अधिक दूर। यह ज्ञात हो जाने पर केन्द्रीय दफ़्तर में उक्त प्रदेश के नक़्शे पर तीनों माइक्रोफोन की स्थिति पैमाने के अनुसार निश्चित करके २८० फीट के अर्द्ध व्यास से नं० ३ माइक्रोफोन को केन्द्र मानकर एक वृत्त खींचते हैं और फिर नं० १ को केन्द्र मानकर ५६० फ़ीट के अर्द्ध व्यास से एक दूसरा वृत्त खींचते हैं। तदुपरान्त एक तीसरा वृत्त इस प्रकार खींचा जाता है कि वह इन दोनों वृत्तों को छू सके, साथ ही यह वृत्त नं० २ माइक्रोफ़ोन की स्थिति से भी गुज़रे। बस, इसी तीसरे वृत्त का जो केन्द्र होगा, उसी पर शत्रु की तोप स्थित होगी। चित्र में ऊपर बाईं ओर केन्द्रीय दफ़्तर का भीतरी दृश्य तथा माइक्रोफोन की ध्वनि-निर्देशक फिल्म है। नीचे, दाहिनी ओर उक्त रण-प्रदेश का मानचित्र है जिसमें उपर्युक्त विधि से तोप की स्थिति निश्चित की गई है!

ध्वनि-तरंगें तथा उनका परावर्तन

पिछले अध्याय में हमने देखा कि ध्वनि उत्पन्न करने के लिए ध्वनि उत्पादक में कम्पन पैदा करना आवश्यक है। कुछ देर तक इस कम्पन को बनाए रखने के लिए यह भी ज़रूरी है कि ध्वनि-उत्पादक में स्थिति-स्थापकता या लचकीलापन का गुण मौजूद हो। विज्ञान की भाषा में स्थितिस्थापकता या लचकीलापन पदार्थ के उस गुण को कहते हैं, जिसके कारण अल्प मात्रा में स्थानान्तरित किए जाने पर वह पदार्थ पुन अपने पूर्ववत् स्थान पर आ जाता है। हमने यह भी देखा कि ध्वनि के आवागमन के लिए भौतिक माध्यम का होना आवश्यक है। इस माध्यम में भी लचकीलेपन का गुण मौजूद होना चाहिए। हवा, पानी, लोहा, लकड़ी आदि माध्यमों में यह गुण प्रचुर मात्रा में मौजूद रहता है। इसी कारण ये ध्वनि के अच्छे संचालक हैं। इसके प्रतिकूल लकड़ी का बुरादा, नमदा आदि में यह गुण नगण्य मात्रा में होता है, अत इनमें से होकर ध्वनि का आवागमन अच्छी तरह नहीं हो पाता। ये ध्वनि के अधम संचालक या प्रतिरोधक कहे जा सकते हैं। आइए, अब देखें कि किसी माध्यम में से होते हुए ध्वनि एक स्थान से दूसरे स्थान को कैसे जाती है। लगभग २३०० वर्ष पूर्व सुप्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने भी इस प्रश्न पर विचार किया था। उसका कहना था कि ध्वनि-उत्पादक के कम्पन के आघात से माध्यम के कणों में भी कम्पन उत्पन्न होती है और यही कम्पन माध्यम में ध्वनि-उत्पादक के चारों ओर फैल जाती है। अरस्तू के जमाने से लेकर अब तक का अनुसन्धान इसी मत का समर्थन करता है। घण्टी पर आघात करने पर उसमें कम्पन उत्पन्न होती है, घण्टी के संसर्ग में जो हवा है उसमें भी इसी तरह की कम्पन उत्पन्न होती है, जो धीरे-धीरे हवा में चारों ओर गोलाई में आगे बढ़ती है। इस प्रकार हवा में ध्वनि-तरंगें बन जाती हैं। ये तरंगें जब हमारे कान के पर्दे पर आकर टकराती हैं तो इनके आघात से हमारे कान के पर्दे में घण्टी के कम्पन के अनुसार ही कम्पन पैदा
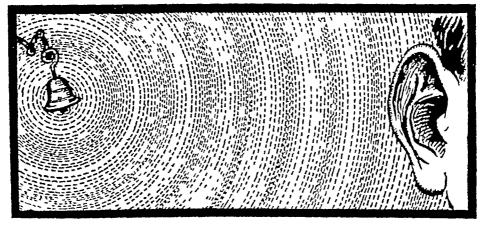
ध्वनि किस प्रकार हमारे कानों तक पहुँचती और सुनाई पड़ती है

जब घंटी बजती है तो उसकी दीवार कंपित होकर झनझना उठती है और फ़ौरन उसके संसर्ग में जो हवा होती है उसमें भी उसी तरह की कम्पन उत्पन्न होती है, जो धीरे-धीरे वायुमंडल में चारों ओर संकुचित और विरल होते हुए गोलाई में आगे बढ़ती है। इस प्रकार हवा में ध्वनि-तरंगें बन जाती हैं जो हमारे कानों के परदे पर टकराकर उसमें वैसी ही कम्पन उत्पन्न करती हैं जैसी घंटी में होती है, जिससे हमारे मस्तिष्क के श्रवण-तन्तुओं को घण्टी की ध्वनि सुनने की अनुभूति होती है।

होती है, जिसे ग्रहण करने पर मस्तिष्क के श्रवण-तन्तु घण्टी का शब्द सुनने का अनुभव प्राप्त करते हैं। पिछले लेख में आपको ट्यूनिंग फार्क का परिचय मिल चुका है। उसके प्रयोग द्वारा ध्वनि-तरंगों के निर्माण की क्रिया हमें भली भाँति समझ में आ सकती है। कम्पन करते हुए ट्यूनिंग फ़ार्क की भुजा 'ब' जब 'अ' से 'स' की ओर जाती है, तब वह अपने सामने की हवा पर रास्ते भर आघात करती जाती है, अत. यह हवा सकुचित (दबती) हो जाती है। किन्तु लचकीलेपन के कारण हवा अपनी सकुचित अवस्था से पुन. प्रसरण कर फैलना चाहती है। इस प्रयत्न में वह अपने सामने की हवा को दबाती है, फिर यह हवा अपने आगे की हवा को भी दबाती है। इस प्रकार हवा में सकुचन आगे की ओर उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। जब तक भुजा का सिरा 'स' पर पहुँचता है, तब तक हवा में भी सकुचन 'ब' से चलकर किसी बिन्दु 'च' तक पहुँच जाता है। ट्यूनिंग फार्क की भुजा 'स' से अब बाईं ओर को चलना आरम्भ करती है। अत 'स' से बाईं ओर हटने पर रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए दाहिनी ओर से हवा 'स' पर आती है, फलस्वरूप इस स्थान की हवा विरल हो जाती है। लचकीलेपन के गुण के कारण यह विरल अवस्था उत्तरोत्तर दाहिनी ओर बढ़ती जाती है, यहाँ तक कि जब तक फार्क की भुजा 'अ' पर पहुँचे, यह विरल अवस्था हवा में 'च' तक पहुँच जाती है। इस दरमियान पहले का सकुचन दाहिनी ओर बढ़कर एक बिन्दु 'छ' पर पहुँच जाता है, इस प्रकार कि 'च' और 'छ' की दूरी 'ब' और 'च' की दूरी के बराबर होती है। इस समय तक ट्यूनिंग फ़ार्क ने अपना एक कम्पन पूरा कर लिया और हवा में 'स' से 'च' तक एक विरल तथा 'च' से 'छ' तक एक सकुचन की अवस्था पहुँच गई। सकुचन तथा विरल अवस्था की यह जोड़ी हवा में एक ध्वनि तरंग बनाती है। चूकि ट्यूनिंग फ़ार्क का कम्पन कुछ देर तक जारी रहता है अतः एक सैकण्ड में जितनी बार ट्यूनिंग फ़ार्क कम्पन करता है, उतनी ही ध्वनि तरगें हवा में बनकर आगे बढ़ती हैं। स्पष्ट है कि ध्वनि-उत्पादक को केन्द्र मानकर ध्वनि-तरंगें उसके चारों ओर गोलाई के रूप में गमन करती हैं। (दे० इसी पृष्ठ का ऊपरी चित्र)

हवा में ध्वनि की एक लहर

ट्यूनिंग फ़ार्क के प्रयोग द्वारा ध्वनि-तरंगों के उत्पादन और फैलाव की क्रिया का दिग्दर्शन (स्पष्टीकरण के लिए इसी पृष्ठ का मैटर पढ़िए।)

इस स्थान पर यह स्मरण रखना आवश्यक है कि वायु में उत्पन्न हुई ध्वनि-तरगें जल में उत्पन्न होनेवाली साधारण लहरों से भिन्न होती हैं। तालाब में पत्थर का एक टुकड़ा फेंकिए तो उस स्थान से चारों ओर वृत्ताकार रूप में पानी की लहरें फैलेंगी। इन लहरों में पानी के कण ऊपर नीचे आन्दोलित होते हैं, जबकि तरगें उनसे समकोण बनानेवाली दिशा में गमन करती हैं। ऐसी तरंग 'अनुप्रस्थ तरग' (Transversewaves) कहलाती हैं। किन्तु वायु की ध्वनि-तरगों में वायु के कणों की हरकत उसी दिशा में होती है, जिस दिशा में तरगें आगे बढ़ रही

संकुचित विरल संकुचित विरल

वायु की ध्वनि-तरंगें ठीक उसी प्रकार संकुचित और विरल होकर फैलती हैं, जिस प्रकार एक पतली कमानी को चित्र के ऊपरी भाग में प्रदर्शित ढंग से लटका कर एक किनारे से हलका धक्का देने पर हम चित्र के निचले भाग में दिग्दर्शित ढंग से तरंगित होते देखते हैं।

हैं। ये तरंगें 'अनुदैर्ध्य तरंगें' (Longitudinal waves) कहलाती हैं। फिर भी दोनों प्रकार की तरंगों में माध्यम के कण अपने स्थान पर ही आन्दोलित होते या कम्पन करते रहते हैं, वे अपना स्थान छोड़कर आगे नहीं बढ़ते। माध्यम के अन्दर की केवल शक्ति (Energy) आगे बढ़ती है। यह शक्ति ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती हैं, माध्यम भी त्यों-त्यों तरंगों के रूप में आन्दोलित होता है। बन्दूक़ दगने पर यद्यपि उसकी आवाज़ ज़रा-सी ही देर में दूर तक पहुँच जाती है, किन्तु उससे निकला हुआ धुआँ तो नली के पास ही रह जाता है।

वायु की ध्वनि-तरंगों का निर्माण ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार छल्लेदार कमानी में सकुचन और विरल अवस्था पैदा की जा सकती है। एक लम्बी छल्लेदार कमानी को पतली डोरी से आड़ी लटका दीजिए, और तब एक सिरे पर हाथ से हलका धक्का दीजिए। आप देखेंगे कि कमानी में सकुचन तथा विरल अवस्था उस सिरे पर उत्पन्न होकर तेजी के साथ आगे बढ़ती हुई दूसरे सिरे तक पहुँच जाती है (देखिए पृ० २२७६ का निचला चित्र)।

तालाब के पानी की लहरें जिस प्रकार किनारे से टकराकर लौटती हैं, उसी प्रकार हवा की ध्वनि तरंगें भी किसी दीवाल या अन्य सपाट धरातल से टकराने पर परावर्तित होती हैं। पहाड़ी घाटियों में ज़ोर से चिल्लाने पर हमें अपनी आवाज़ की प्रतिध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है। किसी ऊँची दीवाल के ठीक सामने खड़े होकर चिल्लाने पर भी हम अपनी प्रतिध्वनि सुन सकते हैं। किन्तु यदि हम तिरछी दिशा में खड़े हों तो प्रतिध्वनि हमें सुनाई न पड़ेगी, क्योंकि आलोक-तरंगों की भाँति ध्वनि-तरंगें भी परावर्तन के साधारण नियमों से बद्ध हैं। दीवाल से खींची गई लम्ब रेखा के साथ आपतित ध्वनि जितना बड़ा कोण बनाती है ठीक उतना ही बड़ा कोण परावर्तित ध्वनि की दिशा और उस लम्बरेखा के बीच में बनता है। इस नियम की सत्यता की जाँच आसानी से की जा सकती है। लोहे की एक तख़्ती 'द' सीधी खड़ी कर दीजिए और 'अ', 'ब' दो नलियाँ मेज़ पर इस प्रकार रखिए कि दोनों इस तख़्ती के साथ समान कोण बनाएँ। नली 'अ' के सिरे पर एक घड़ी रखिए और 'स' पर दोनों तरफ़ नमदा चढ़ी हुई एक तख़्ती रखिए ताकि घड़ी की टिक्-टिक् का शब्द सीधे 'ब' तक न पहुँच सके। अब 'ब' के सिरे पर कान लगाने से घड़ी की टिक्-टिक् का शब्द आपको स्पष्ट सुनाई पड़ेगा, किन्तु इधर-उधर ज़रा-सा भी हटने पर आप यह शब्द न सुन पाएँगे (देखिए इसी पृष्ठ के चित्र का निचला भाग)।

ध्वनि-तरंगों का परावर्त्तन

आलोक तरंगों की भाँति ध्वनि-तरंगें भी परावर्त्तन के साधारण नियमों से बद्ध हैं। किसी दीवाल या अन्य सपाट धरातल से टकराने पर ध्वनि-तरंगें दीवाल से खींची गई लम्ब रेखा के साथ जितना बड़ा कोण बनाती हैं, ठीक उतना ही बड़ा कोण परावर्तित ध्वनि की दिशा और उस लंब-रेखा के बीच बनता है (दे० चित्र का भाग १)। इस नियम की सत्यता की जाँच के लिए (चित्र के भाग २ की भाँति) लोहे की एक तख़्ती 'द' सीधी खड़ी कर दीजिए और 'अ' 'ब' दो नलियाँ मेज़ पर इस प्रकार रखिए कि दोनों इस तख़्ती के साथ समान कोण बनाएँ। नली 'अ' के सिरे पर एक घड़ी रखिए और 'क' पर नमदा चढ़ी हुई एक तख़्ती रखिए ताकि घड़ी की टिक्-टिक् का शब्द सीधे 'ब' तक न पहुँच सके। अब 'ब' के सिरे पर कान लगाने से घड़ी की टिक्-टिक् स्पष्ट सुनाई पड़ेगी, किन्तु ज़रा भी इधर-उधर हटने पर यह शब्द आप न सुन पाएँगे।

नतोदर दर्पण से आलोक-रश्मियों के परावर्त्तन के प्रयोग हम देख चुके हैं। ध्वनि-तरंगें भी उसी नियमानुसार नतोदर दर्पण से परावर्तित होती हैं। यदि आमने-सामने फ़ासला

नतोदर दर्पण से भी ध्वनि-तरंगें ठीक आलोक रश्मियों की ही भाँति परावर्त्तित होती हैं। यदि आमने-सामने कुछ फ़ासले से दो बड़े आकार के नतोदर दर्पण रक्खे जायँ तो एक के केन्द्र-बिन्दु पर घड़ी रखने पर दूसरे के केन्द्र-बिन्दु पर उसकी टिक्-टिक् ज़ोरों के साथ सुनाई देगी, पर उससे तनिक भी इधर-उधर हटने पर उतनी स्पष्ट नहीं सुनाई पड़ेगी, जैसा कि ऊपर के चित्र में प्रदर्शित है। कटावदार रेखाओं द्वारा ध्वनि-तरंगों के परावर्त्तन का मार्ग निदर्शित है। दाहिनी ओर का आदमी दर्पण के केन्द्र-बिन्दु पर कान लगाने पर सामने के दर्पण से परावर्तित ध्वनि सुन रहा है पर बाईं ओर खड़ा व्यक्ति नहीं सुन पाता। नीचे के चित्र में लार्ड रेले का वह सुप्रसिद्ध प्रयोग दिग्दर्शित है जिसके द्वारा उसने यह सिद्ध किया था कि आलोक-तरंगों की भाँति ध्वनि-तरंगें भी एक माध्यम से दूसरे माध्यम में जाने पर अपना मार्ग बदल देती हैं। (निचले चित्र के स्पष्टीकरण के लिए देखिए पृ० २२८२ का मैटर)
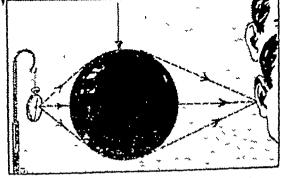
देकर दो बड़े आकार के नतोदर दर्पण रक्खे जायँ तो एक के केन्द्र-बिन्दु (Focus) पर घडी रखने से दूसरे के केन्द्रबिन्दु पर घडी की टिक् टिक् जोरों के साथ सुनाई पड़ेगी। अन्य बिन्दुओं पर घड़ी की टिक्-टिक् की आवाज उतनी स्पष्ट नहीं सुनाई पड़ेगी (देखो इसी पृष्ठ का चित्र)।

इस प्रयोग के आधार पर ऐसे यंत्र बनाए गए हैं, जिनकी सहायता से शत्रु के बमवर्षक वायुयान का पता लगाया जा सकता है। इस ढंग के यंत्र में एक नतोदर दर्पण लगा रहता है। इसे धीरे धीरे घुमाकर ऐसी स्थिति में ले आते हैं कि शत्रु-वायुयान का शब्द उसके केन्द्र-बिन्दु पर सबसे अधिक स्पष्ट और जोर के साथ सुनाई पड़े। इस स्थिति में शत्रु का वायुयान दर्पण की धुरी की ठीक सीध में पड़ेगा। इसी तरह समुद्र की गहराई नापने के लिए भी प्रतिध्वनि की मदद लेते हैं। पचास-साठ वर्ष पहले सीसे की साहुल को जहाज़ से नीचे पानी में लटकाकर समुद्र की गहराई नापते थे। किन्तु इस तरीक़े में अनेक अड़चनें थीं। देर तो लगती ही थी, साथ ही झाड़-झखार में साहुल के फँस जाने से समुद्र की गहराई भी ठीक नहीं मालूम की जा सकती थी। किन्तु अब दो चार मिनिट के अन्दर जहाज़ का कप्तान पता लगा लेता है कि समुद्र की गहराई अमुक स्थान पर कितनी है। पानी के अन्दर जहाज़ के पेंदे में दो यंत्र लगे रहते हैं। एक तेज आवाज़ उत्पन्न करने के लिए और दूसरा प्रतिध्वनि को ग्रहण करने के लिए। प्रतिध्वनि को ग्रहण करनेवाले यंत्र को 'हाइड्रोफोन' के नाम से पुकारते हैं। गहराई नापने के लिए ए० सी० (A C) विद्युत्-धारा द्वारा शब्द-उत्पादक यंत्र के इस्पात के पर्दे में तीव्र गति से क्षणिक कम्पन उत्पन्न करते हैं। फलस्वरूप एक तीव्र ध्वनि-तरंग पानी के अन्दर प्रवेश करती है। यह ध्वनि-तरंग समुद्रतल से टकराकर ऊपर लौटने पर हाइड्रोफोन में प्रवेश करती है। ज्योंही प्रतिध्वनि हाइड्रोफोन में पहुँचती है, हाइड्रोफोन में लगे हुए इस्पात के पर्दे में कम्पन उत्पन्न होती है। टेलीफोन के सिद्धान्त पर तत्काल हाइड्रोफोन से सम्बद्ध विद्युत् चक्र में विद्युत् धारा प्रवाहित होती है, जो विद्युत् यंत्र की सुई में हरकत पैदा करती है। ध्वनि उत्पन्न करने और प्रतिध्वनि के हाइड्रोफोन तक पहुँचने के दर्मियान का समय आसानी से नोट किया जा सकता है। ठीक इतने ही समय में ध्वनि पानी के अन्दर जहाज़ के पेंदे से समुद्रतल तक जाकर उतनी ही दूरी तक वापस लौट आई। अत उस स्थान पर समुद्र की गहराई मालूम हो जाती है, क्योंकि ध्वनि-तरंगों की गति पानी के अन्दर मालूम की जा

चुकी है। अवश्य ही कप्तान को काग़ज़-पेन्सिल लेकर हिसाब नहीं लगाना पड़ता कि अमुक स्थान की समुद्र की गहराई कितनी है। इसके लिए विशेष स्वयंक्रिय यंत्र लगे रहते हैं जो अपने आप समुद्र की गहराई अंकित कर लेते हैं। इस रीति से गहराई नापने के लिए जहाज़ की रफ़्तार को धीमी करने की आवश्यकता भी नहीं होती, क्योंकि ध्वनि को नीचे तक जाकर वापस लौटने में एकाध सैकण्ड से अधिक समय नहीं लगता। हम जानते ही हैं कि पानी के अन्दर ध्वनि तरगें प्रति सैकण्ड ५६०० फ़ीट की गति से गमन करती हैं। इस नवीन यंत्र के आविष्कार के बाद ही समुद्र-तल की विस्तृत पैमायश करना संभव हो सका है (देखिए पृ० २२८१ का चित्र)।

हाइड्रोफ़ोन की सहायता से पानी के अंदर ही अंदर चलनेवाली पनडुब्बियों का भी पता लगाया जाता है। जहाज़ के नीचे हाइड्रोफ़ोन पानी में लटका दिए जाते हैं। फिर उनके मुँह को धीरे धीरे चारों दिशा में घुमाते हैं। जिधर से पनडुब्बी आ रही होगी, उस दिशा में जब हाइड्रोफ़ोन का मुँह होगा तो पनडुब्बी के इंजिन की आवाज़ स्पष्ट सुनाई पड़ेगी। इस प्रकार मालूम हो जाता है कि अमुक दिशा से पनडुब्बी आ रही है, और कप्तान शत्रु की पनडुब्बी पर आक्रमण करने के लिए पहले से ही तैय्यार हो जाता है।

युद्ध के दौरान में शत्रु की तोपों की स्थिति का पता लगाने के लिए भी ध्वनि तरगों के गति-विधि संबंधी नियमों से लाभ उठाया जाता है। इसके लिए तीन माइक्रोफ़ोन (सूक्ष्म ध्वनि-ग्राहक यंत्र) एक-दूसरे से आधा मील के फ़ासले पर रखे जाते हैं। तीनों का सम्बन्ध विद्युत् के तार द्वारा प्रमुख केन्द्रीय दफ़्तर से रहता है। तोप दगने का शब्द पहुँचते ही तीनों माइक्रोफोन बारी-बारी से केन्द्र के विद्युत् यंत्र में विद्युत्-धारा भेजते हैं, जिससे प्रत्येक माइक्रोफ़ोन के पास तोप दगने का शब्द पहुँचने का समय अंकित हो जाता है। मान लीजिए नं० २ माइक्रोफ़ोन पर जिस समय तोप का शब्द पहुँचा उसके आधे सैकण्ड बाद नं० १ माइक्रोफोन पर और चौथाई सैकण्ड बाद नं० ३ माइक्रोफोन पर यह शब्द पहुँचा। अब चूंकि हवा में ध्वनि की गति ११२० फीट प्रति सैकण्ड है, अतएव

आक्रमणकारी शत्रु-वायुयानों का दूर से पता लगानेवाला यंत्र

इन यन्त्रों में प्रायः नतोदर दर्पण लगे रहते हैं, जिन्हें धीरे-धीरे घुमाकर ऐसी स्थिति में ले आते हैं कि शत्रु-वायुयान की घरघराहट का शब्द इनके केन्द्र-बिन्दु पर स्पष्ट और ज़ोर के साथ सुनाई पड़ता है। इस स्थिति में शत्रु-वायुयान दर्पण की धुरी की ठीक सीध में पड़ेगा।
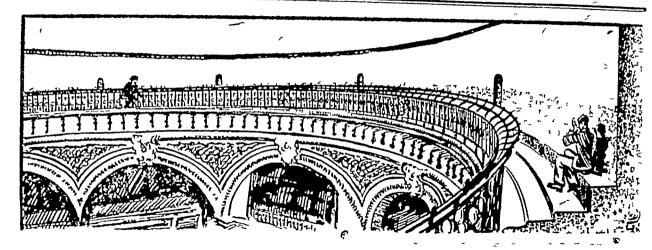
लंदन के सेंट पॉल्स कैथेड्रल की प्रसिद्ध बोलती हुई गैलेरी

इस वर्त्तुलाकार गैलेरी का व्यास १०८ फ़ीट और परिधि लगभग ३४० फ़ीट है। इसकी ख़ूबी यह है कि जब कोई व्यक्ति इसमें जाकर बोलता है तो उसके शब्द गैलेरी की सारी परिधि का चक्कर लगाकर पुनः बोलने वाले के कानों में आकर प्रतिध्वनि के रूप मे हूबहू सुनाई पड़ते हैं। यह इस प्रकार होता है कि ध्वनि बार बार दीवार से टकराकर निरतर परावर्तित होती जाती है और फलतः सारी गैलरी की परिक्रमा कर बोलनेवाले के कानों पर आकर टकराती है।

हम उपर्युक्त प्रयोग से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शत्रु की तोप नं० २ माइक्रोफ़ोन की अपेक्षा नं० १ से ५६० फ़ीट अधिक दूर है तथा नं० ३ से २८० फ़ीट अधिक दूर। अब केन्द्रीय दफ़्तर में नक़्शे पर तीनों माइक्रोफ़ोन की स्थिति पैमाने के अनुसार निश्चित करके २८० फ़ीट के अर्द्धव्यास से नं० ३ माइक्रोफ़ोन को केन्द्र मानकर वृत्त खींचते हैं। फिर नं० १ को केन्द्र मानकर ५६० फ़ीट के अर्द्धव्यास से एक दूसरा वृत्त खींचते हैं। तदनंतर ज्यामिति के सिद्धान्त के अनुसार एक तीसरा वृत्त इस प्रकार खींचा जाता है कि वह इन दोनों वृत्त को छू सके, साथ ही यह वृत्त नं० २ माइक्रोफोन की स्थिति से भी गुज़रे। इसी तीसरे वृत्त के केन्द्र पर शत्रु की तोप का स्थित होना निश्चित है (देखिए पृ० २२७४ का चित्र)।

बड़े आकार के व्याख्यान-भवन अथवा एसेम्बली-भवन आदि के निर्माण में भी इञ्जीनियर को इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि भवन के भीतर के गुम्बज तथा कोने ऐसे न बन जायँ कि व्याख्यानदाता के शब्दों के साथ उनकी प्रतिध्वनियाँ भी कक्ष में गूँजने लगें। हमारे मस्तिष्क के श्रवण-तन्तुओं के अन्दर एक विशेष गुण रहता है, जिसे हम 'ध्वनिस्थिरता' कह सकते हैं। कान के पर्दे पर किसी शब्द के पहुँचने के १/१० सैकण्ड बाद तक उसके सुनाई देने का अनुभव हमारे मस्तिष्क में बना रहता है। अत यदि किसी शब्द के सुनने के बाद १/१० सैकण्ड के भीतर ही उसकी प्रतिध्वनि हमें सुनाई पड़े तो यह प्रतिध्वनि मूल शब्द के साथ मिलकर उसकी शक्ति को और बढ़ा देगी। किन्तु यह प्रतिध्वनि यदि १/१० सैकण्ड के बाद हमारे कानों में पहुँचेगी तो यह अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाएगी और दूसरे शब्दों के साथ मिलकर गड़बड़ी पैदा करेगी। १/१० सैकण्ड में ध्वनि ११० फ़ीट जा सकती है। अतएव प्रधान कक्ष की दीवाल यदि वक्ता से ५५ फीट से अधिक दूरी पर होगी तो प्रतिध्वनियाँ व्याख्यानदाता के शब्दों के साथ मिलकर गड़बड़ी पैदा करेंगी। प्रतिध्वनि कम करने के लिए कक्ष की दीवालों की सतह को खुरदरी बनाना आवश्यक है। इसके लिए प्राय एसबेस्टॉस की हलकी परत दीवाल पर चढ़ा देते हैं। ब्राडकास्टिङ्ग स्टूडियों में प्रतिध्वनि की गूँज रोकने के लिए दीवालों तथा छत पर प्राय. दरी या कालीन लगा देते हैं। फ़र्श पर भी मोटी दरी बिछी रहती है। सगीत के लिए यह वाञ्छनीय समझा जाता है कि कमरे की दीवालों से वाद्ययन्त्रों की ध्वनि प्रतिध्वनित होकर थोड़ी गूँज पैदा करे, वरना प्रतिध्वनि की पूर्ण अनुपस्थिति में संगीत फीका और मनहूस जान पड़ता है। इसी कारण बढ़िया सगीत के समारोह का आयोजन खुले मैदान म कभी नहीं किया जाता, जबकि व्याख्यान के लिए खुली जगह ही सबसे अधिक उपयुक्त होती है खिड़कियों और दरवाज़ों को खोल देने से भी शब्दों का गूँजना बहुत कुछ कम हो जाता है, क्योंकि बन्द रहने पर खिड़कियाँ और दरवाज़े शब्दों को प्रतिध्वनित कर देते थे, किन्तु खुल जाने

प्रतिध्वनि की सहायता से समुद्र की गहराई नापने का प्रयास

कुछ वर्ष पहले सीसे की साहुल को जहाज़ से नीचे पानी में लटकाकर समुद्र की गहराई नापते थे। किन्तु इस तरीक़े में देर लगती और झाड़-झंखार में साहुल के फँस जाने से गहराई ठीक नहीं मालूम की जा सकती थी। आज दिन दो-चार मिनिट के अन्दर जहाज़ का कप्तान पता लगा लेता है कि अमुक स्थान पर समुद्र की गहराई कितनी है। इसके लिए जहाज़ के पेंदे में ('अ' 'ब') दो यंत्र लगे रहते हैं—एक तेज़ आवाज़ उत्पन्न करने के लिए और दूसरा इस प्रतिध्वनि को ग्रहण करने के लिए। प्रतिध्वनि ग्रहण करनेवाले यंत्र को 'हाइड्रोफ़ोन' के नाम से पुकारते हैं (देखिए चित्र में 'स', यह 'अ' का ही परिवर्द्धित चित्र है)। गहराई नापने के लिए विद्युत्-धारा द्वारा शब्द-उत्पादक यंत्र 'ब' के इस्पात के पर्दे में तीव्र गति से क्षणिक कम्पन उत्पन्न करते हैं, जिससे एक तीव्र ध्वनि-तरंग पानी में प्रवेश कर समुद्रतल से टकरा ऊपर लौटकर हाइड्रोफ़ोन 'अ' में प्रवेश करती है। ज्यों ही प्रतिध्वनि हाइड्रोफ़ोन में पहुँचती है, उस यंत्र में लगे हुए इस्पात के पर्दे में कम्पन उत्पन्न होती है और तत्काल उससे विद्युत्-धारा प्रवाहित होकर ऊपर जहाज़ में लगे विद्युत्-यंत्र की सुई में हरकत पैदा करती है, जिससे ध्वनि उत्पन्न करने और प्रतिध्वनि के हाइड्रोफोन तक पहुँचने के दर्मियान का समय नोट हो जाता है। ठीक इतने ही समय में ध्वनि पानी के अन्दर जहाज़ के पेंदे से समुद्रतल तक जाकर उतनी ही दूरी तक वापस लौट आई। अतः उस स्थान पर समुद्र की गहराई मालूम हो जाती है, क्योंकि ध्वनि-तरंगों की गति पानी के अन्दर मालूम की जा चुकी है। इनके लिए विशेष स्वयंक्रिय यंत्र लगे रहते हैं जो अपने आप ध्वनि के चढ़ाव-उतार के अनुसार एक ऐसा रेखाचित्र बनाते हुए समुद्र की गहराई अंकित कर लेते हैं, जैसा ऊपर के चित्र के भाग 'द' में प्रदर्शित है।
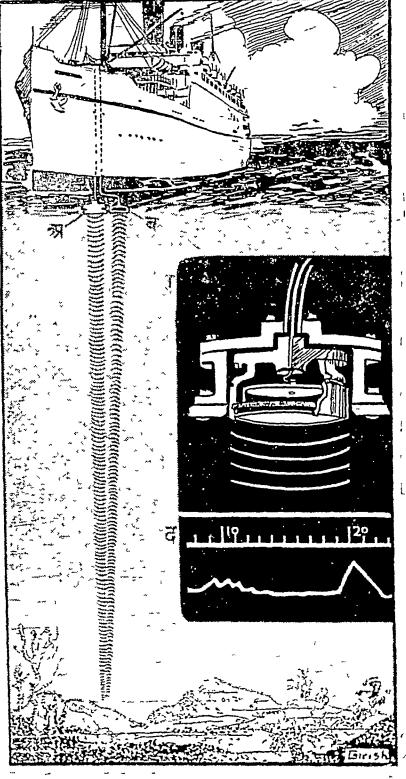
पर वे ही शब्द अब उनमें से होकर बाहर निकल जाते हैं, उनका कोई भी अंश प्रतिध्वनित नहीं होता। लखनऊ के एसेम्बली भवन में वक्ताओं की आवाज बुरी तरह गूँजती है। इस दोष को दूर करने के लिए गवर्नमेंट ने सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक डा० मेघनाद साहा से परामर्श किया था। डा० साहा ने एसेम्बली-हॉल के गुम्बज में कुछ परिवर्त्तन करने के लिए गवर्नमेंट को सुझाया था, किन्तु सम्भवतः आर्थिक अड़चनों के कारण उनके सुझाव कार्यान्वित न किए जा सके। कभी-कभी यह भी देखने में आता है कि यदि भवन श्रोताओं से ठसाठस भरा हो तो वक्ता की आवाज बिना किसी गूँज के स्पष्ट सुनाई पड़ती है। किन्तु उसी भवन में जब केवल दस-बीस श्रोता रहते हैं तो वक्ता की आवाज खूब गूँजती है। इसका कारण यह है कि जब भवन में कम व्यक्ति रहते हैं, तो फ़र्श पर बहुत सी जगह ख़ाली रहती है और यहाँ से वक्ता की आवाज़ प्रचुर मात्रा में प्रतिध्वनित होती है। श्रोताओं की सख्या अधिक होने से प्रतिध्वनि कम हो जाती है, क्योंकि मानव-शरीर ध्वनि का अच्छा शोषक है। और बजाय चिकने वस्त्र के यदि श्रोतागण खद्दर के वस्त्र या ऊनी कपड़े पहने हों तो प्रतिध्वनि की गूँज और भी कम हो जायगी, क्योंकि खद्दर और ऊनी कपड़े ध्वनि को अपने में अच्छी तरह जज्ब कर लेते हैं।

योरप और अमेरिका में व्याख्यान-भवन के निर्माण के पहले छोटे पैमाने पर उसका नमूना तैयार कर लेते हैं। इस नमूने के अन्दर विभिन्न यन्त्र रख कर देखते हैं कि इसमें ध्वनि-तरंगों की प्रतिध्वनि किस ढग पर हो रही है। यदि किसी प्रकार का दोष उसमें मिला तो उसी समय समुचित परिवर्त्तन कर लेते हैं, और तब उसी नमूने के अनुसार उस भवन का निर्माण करते हैं। इस पद्धति का अनुसरण करने से भवन में किसी प्रकार का ध्वनि दोष नहीं आने पाता।

ट्यूनिंग फार्कवाले प्रयोग में हमने देखा है कि एक सैकण्ड में यदि ट्यूनिंग फार्क २५६ बार कम्पन करेगा तो हवा में एक-एक करके २५६ ध्वनि तरगें एक सैकण्ड के अन्दर बन जायँगी और ये २५६ ध्वनि तरगें एक-दूसरे से सटाने पर ११२० फीट लम्बी होंगी, क्योंकि ध्वनि हवा में एक सैकण्ड में लगभग ११२० फ़ीट का रास्ता तय करती है। इस हिसाब से इस ट्यूनिंग फार्क द्वारा उत्पन्न हुई ध्वनि-तरंग की लम्बाई ११२०÷२५६ फीट, अर्थात् लगभग सवा चार फ़ीट होती है। इसके प्रतिकूल हम देख चुके हैं कि आलोक तरगों की लम्बाई बहुत कम होती है। परावर्त्तन के दृष्टिकोण से तरगों की लम्बाई विशेष महत्व रखती है। लहर-लम्बाई जितनी कम होगी उतनी ही हद दर्जे की चिकनी सतह उसके परावर्त्तन के लिए आवश्यक होगी। इसी कारण आलोक के परावर्त्तन के लिए बढ़िया कलाई किए हुए दर्पण की आवश्यकता होती है जबकि ध्वनि-तरगों के परावर्त्तन के लिए कोई पहाड़ी का ढाल या दीवाल काफ़ी होती है।

आलोक-तरंगों की भाँति ध्वनि-तरगें भी एक माध्यम से दूसरे माध्यम में प्रवेश करने पर अपना मार्ग बदल देती हैं—उनका आवर्त्तन हो जाता है। ध्वनि-तरगों के आवर्त्तन का प्रदर्शन सर्वप्रथम लार्ड रेले ने एक दिलचस्प प्रयोग द्वारा किया था। उन्होंने रबड़ के एक छोटे से बेलून में कार्बन डाइऑक्साइड गैस भरकर उसके एक ओर एक घड़ी रक्खी। उन्होंने देखा कि बेलून की दूसरी ओर एक विशेष बिन्दु पर कान ले जाने पर घड़ी की टिक-टिक ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती थी—इसी बिन्दु पर ध्वनि तरगें केन्द्रित हो गई थीं। बेलून यहाँ पर लेन्स या ताल का काम करता था। जिस प्रकार उन्नतोदर लेन्स के एक ओर मोमबत्ती रखने से दूसरी ओर उसकी आलोक रश्मियाँ केन्द्रित होकर बिम्ब बनाती हैं, उसी प्रकार बेलून द्वारा आवर्त्तित होकर ध्वनि-तरंगों ने भी दूसरी ओर ध्वनि का बिम्ब बनाया (दे० २२७८ पृष्ठ का चित्र)।

हवा के अन्दर भी जब दो विभिन्न घनत्व या तापक्रम के वायुस्तरों में से ध्वनि गुज़रती है, तो ध्वनि का मार्ग बदल जाता है, क्योंकि ध्वनि तरंगों में आवर्त्तन हो जाता है।

यदि ध्वनि गर्म वायुस्तर में से ऐसे वायुस्तर में प्रवेश करती है जिसका ऊपरी भाग निचले भाग की अपेक्षा ठण्डा हो तो ध्वनि ऊपर को मुड़ जाती है, और नीचे जमीन पर लोगों को वह ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती। और आगे बढ़ने पर यदि फिर ऐसा वायुस्तर मिला जिसका ऊपरी भाग गर्म और निचला भाग ठण्डा हो तो ध्वनि पुनः नीचे मुड़ेगी और अब धरती पर लोगों को वह ध्वनि सुनाई पड़ेगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि विशेष वायुस्तरों द्वारा आवर्त्तन होने के कारण ध्वनि-उत्पादक से कुछ दूर तक तो लोगों को ध्वनि सुनाई पड़ती है, फिर कुछ दूर तक ध्वनि का पता नहीं चलता, और फिर आगे जाकर वही ध्वनि सुनाई देने लगती है। बीच की जगह, जहाँ ध्वनि सुनाई नहीं देती 'ध्वनि की छाया' कहलाती है।

रासायनिक भाषा

संकेत, सूत्र, समीकरण और रासायनिक नामकरण का परिचय

इस स्तम्भ के पिछले लेखों में प्रायः H_2O, CO_2 आदि विविध रासायनिक बीजकों एवं उनके समीकरणों से सामना पड़ने पर, सम्भवतः हमारे बहुतेरे पाठकों के मन में यह प्रश्न उठा होगा कि आखिर ये सूत्र क्या हैं और क्यों प्रयुक्त होते हैं ? इस लेख में विद्वान् लेखक महोदय ने उपर्युक्त जिज्ञासा का बड़े सारगर्भित ढंग से समाधान प्रस्तुत किया है।

'हिन्दी विश्व भारती'-संपादक, श्री कृष्णवल्लभ द्विवेदी, ने मुझे कई बार अपने ही मधुर ढंग से चेतावनी दी है कि भई, ये रासायनिक सूत्र और समीकरण—SO_2, HNO_3, NaCl आदि विचित्र अक्षर-समूह—हमारे साधारण पाठकों को नहीं रुचते, जहाँ तक सम्भव हो इन्हें अपने लेखों में न आने दीजिए। मैंने अपने लेखों को लिखते समय संपादक महोदय की इस चेतावनी को सदैव ध्यान में रक्खा, तथापि स्थान-स्थान पर कुछ-न-कुछ सूत्रों और समीकरणों को दिए बिना काम ही नहीं चला—चले भी कैसे जब आधुनिक रासायनिक विज्ञान का प्राण परमाणुवाद है, और परमाणुओं की रासायनिक लीलाओं को व्यक्त करने का सबसे सुगम साधन संकेतों, सूत्रों और समीकरणों की यही रासायनिक भाषा है। मुझे प्रसन्नता है कि आज उन्हीं रोमन अक्षरों अथवा अक्षर-समूहों के प्रति साधारण पाठकों में रुचि उत्पन्न करने का थोड़ा-सा प्रयत्न करने का अवसर प्रस्तुत लेख में मुझे मिल रहा है।

बानवे मूलतत्त्व और एक एक मूलतत्त्व की सैकड़ों-सहस्रों रासायनिक क्रियाएँ। यदि मानव मस्तिष्क ने अपनी आवश्यकताओं से प्रेरित होकर अपने बुद्धिबल द्वारा इन संकेतों और सूत्रों का सृजन न किया होता तो रसायनशास्त्र उपवन नहीं, एक ऐसा दुर्भेद्य जंगल होता कि मनुष्य उसे दूर ही से देख उलटे पाँव लौटता !

परन्तु हमारे बहुतेरे पाठकों को तो इन्हीं संकेतों और सूत्रों के ही कारण बहुधा रासायनिक वाटिकाओं से उलटे पाँव लौटना पड़ा होगा। उनके लेखे ये संकेत और सूत्र मरकीले फूल नहीं, मार्ग पर उगी हुई कँटीली झँखरीली झाँड़ियों के समान होंगे। यदि ऐसा हो तो आश्चर्य भी नहीं। जिससे परिचय न हो उससे स्नेह कैसा ! यदि पाठक इन रासायनिक संकेतों और सूत्रों के प्रति अपनी उदासीनता छोड़ सकें तो मुझ परिचायक के साथ चलें। मुझे विश्वास है कि वही दुर्बोध अक्षर उन्हें ज्ञानामृत से भरे घटों के समान प्रतीत होंगे। बिहारी के दोहों के संबंध में एक पंक्ति है—'देखन में छोटे लगें, घाव करें गंभीर'। वैज्ञानिक कथन भला घाव क्यों करने लगे ! वे तो मस्तिष्क के होते हैं, हृदय से अपना नाता ही नहीं जोड़ते। अतएव यदि हम घाव की बात छोड़ दें और उक्त पंक्ति को बदलकर 'देखन में छोटे लगें, अर्थ धरें गंभीर' कर दें तो वह बिहारी के दोहों और रासायनिक सूत्रों आदि दोनों के लिए सार्थक हो जाता है।

रासायनिक भाषा का विकास

ईसा के लगभग ३०० वर्ष बाद की लिखी हुई ग्रीक की पाण्डुलिपियों में पदार्थों का सांकेतिक चिह्नों द्वारा पहले-पहल उल्लेख मिलता है। उस आश्चर्य और जादू के युग में और बाद में औषध और कीमियागरी के युगों में भी रसायनशास्त्री अपनी चर्चाओं को सर्वसाधारण के सामने खुले शब्दों में न रखना चाहता था—वह अपनी बातों को बड़ी ही सावधानी और प्रवीणता से गुप्त रखता था। यदि जादूगर का भेद खुल जाय तो वह जादूगर ही क्या ! यही गोपन इन युगों के सांकेतिक चिह्नों का प्रधान उद्देश्य था।

ग्रीस की उन प्राचीन पाण्डुलिपियों में अंकित कुछ मनोरंजक संकेतों को उनके अर्थसहित ज़रा देखिए—
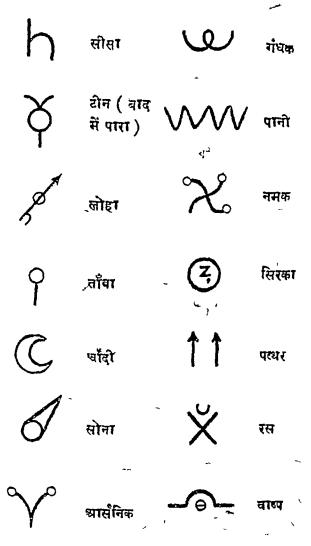
आप देखेंगे कि ये चिह्न निराधार नहीं, किसी-न-किसी पद्धति के अनुसार ही इनका चुनाव हुआ था। धातुओं का सांकेतिक उल्लेख ग्रहों के संकेतों द्वारा हुआ, यथा सुवर्ण का सूर्य, चाँदी का चाँद, ताँबे का शुक्र, लोहे का मगल, पारे का बुध और सीसे का शनिश्चर के संकेत द्वारा उल्लेख किया गया। इस पद्धति का अनुसरण १७वीं शताब्दी के अत तक कीमियागरों ने किया, यहाँ तक कि आज भी पारे को 'मर्करी' (Mercury) और चाँदी के लवण सिल्वर नाइट्रेट को 'ल्यूनर कास्टिक' (Lunar Caustic) कहते हैं। कुछ सकेत पदार्थों (यथा सिरका, रस, नमक, और आर्सेनिक) के ग्रीक नामों के संक्षिप्त रूप मात्र हैं। अन्य वस्तुओं के सकेत भी इसी प्रकार की विभिन्न कल्पनाओं के आधार पर बने, तथा पानी का संकेत तरंगों की कल्पना के आधार पर, पत्थर का तीरों की कल्पना के आधार पर, इत्यादि।

इस प्राचीनतम काल से लेकर एक हजार वर्ष से भी अधिक बाद तक इसी प्रकार के संकेतों का उपयोग होता रहा। कीमियागरी के युग की सन् १६०६ ई० में प्रकाशित एक पाठ्यपुस्तक से लिये गए कुछ संकेत उनके अर्थसहित नीचे दिए जाते हैं—
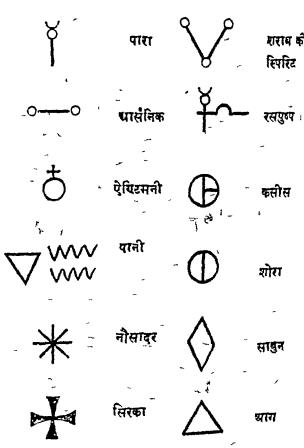
आप देखेंगे कि इतने दीर्घकाल के बाद भी बहुतेरे वही प्राचीन संकेत ही थोड़ा-बहुत परिवर्त्तन करके प्रयुक्त किये जाते रहे, और अनेकों अन्य नए सकेतों का भी उपयोग हुआ। रसपुष्प [Corrosive Sublimate (Mercuric Chloride)] पारे और वाष्प के सकेतों को मिलाकर बनाया गया। यह सकेत सार्थक है, कारण रसपुष्प पारे (Mercury) से बनता है और गर्म करने पर उड़ता है।

सन् १८०८ में डाल्टन ने अपने परमाणुवाद को स्पष्ट करने के लिए मूलतत्त्वों के सांकेतिक रूपों में बहुत कुछ परिवर्त्तन किया। डाल्टन के वृत्ताकार सकेतों से एक विशेष सुविधा यह प्राप्त हुई कि उन्हें जोड़कर यौगिकों के

अणुसूत्र भी अंकित किए जा सके। अपने परमाणुवाद के अनुसार डाल्टन ने इन संकेतों में जो अर्थ-परिवर्द्धन किया, वह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था—इसके अनुसार किसी तत्त्व का एक संकेत केवल एक ही परमाणु का द्योतक हुआ। अतएव किसी यौगिक के एक अणु में जिन तत्त्वों के जितने परमाणु हुए उन्हीं तत्त्वों के उतने ही संकेतों को एक साथ रख देने से उस यौगिक के एक अणु का सांकेतिक चित्र स्पष्टतः अंकित कर दिया जा सका। डाल्टन के परमाणु-संकेतों में से कुछ नीचे दिए जा रहे हैं—

हाइड्रोजन

ऑक्सिजन

नाइट्रोजन

कार्बन

गंधक

फॉस्फ़रस

G सोना

C ताँबा

L सीसा

डाल्टन ने पहलेपहल अपने कुछ संकेतों में तत्त्वों के नामों के प्रथम अक्षरों का उपयोग किया, यह ध्यान देने योग्य बात है।

इन संकेतों द्वारा डाल्टन ने यौगिकों के अणु चित्रों को किस प्रकार अंकित किया, यह नीचे कुछ उदाहरणों द्वारा प्रदर्शित है—

नाम	डाल्टन का सूत्र	आधुनिक सूत्र
पानी		H_2O
नाइट्रिक ऑक्साइड		NO
नाइट्रस ऑक्साइड		N_2O
नाइट्रोजन परॉक्साइड		NO_2
कार्बन मानॉक्साइड		CO
कार्बन डाइऑक्साइड		CO_2
अमोनिया		NH_3

आप देखते हैं कि डाल्टन के पानी और अमोनिया के सूत्र गलत हैं। पानी में प्रति अणु ऑक्सिजन का एक परमाणु और हाइड्रोजन के दो परमाणु रहते हैं, परन्तु डाल्टन के सूत्र में हाइड्रोजन का एक ही परमाणु अंकित हुआ है। अमोनिया गैस के अणु में हाइड्रोजन के तीन परमाणु रहते हैं, किंतु डाल्टन के सूत्र में एक ही प्रदर्शित है। डाल्टन इन अणुओं का संगठन ठीक-ठीक निश्चित न कर सका था।

लगभग ११ वर्ष बाद, सन् १८१९ में, बर्ज़ीलियस ने अब तक के सांकेतिक चिह्नों के दोषों को वैज्ञानिकों के समक्ष रक्खा। छापेखाने के युग में भला यह कहाँ की विवेक की बात कही जा सकती है कि सरलता से न छापे जा सकनेवाले इस प्रकार के ऊट-पटाँग संकेतों का ही उपयोग हो? वर्णमाला के अक्षर ही इस काम में क्यों न लाये जायँ, जो आसानी से छप भी सकें और याद भी हो सकें? बर्ज़ीलियस ने तत्त्वों के लैटिन नामों के प्रथम अथवा प्रथम दो अथवा दो प्रधान अक्षरों को उनके सांकेतिक रूप में प्रयुक्त करना शुरू कर दिया। वैज्ञानिक जगत् बर्ज़ीलियस की सारगर्भित सम्मति का कायल हुआ और डाल्टन के संकेतों का भी लोप हो गया। शीघ्र ही सारे मूलतत्त्वों के

पन्द्रहवीं शताब्दी	सोलहवीं शताब्दी	सत्रहवीं शताब्दी	१७८३ बर्गमैन	१८०८ डाल्टन	१८१४ बर्ज़ीलियस	
				G	Au	सोना
					Hg	पारा
				L	Pb	सीसा

रासायनिक संकेतों के क्रमिक विकास की एक झलक

देखिए, सोना, पारा और सीसा इन तीन द्रव्यों के निर्देश के लिए पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में क्रमशः किस प्रकार के संकेत काम में लाये जाते रहे और तदनन्तर बर्गमैन, डाल्टन और बर्ज़ीलियस द्वारा उनमें किस प्रकार के रूपान्तर प्रस्तुत किए गए।

संकेत सर्वसम्मति से इसी पद्धति के आधार पर निश्चित कर लिये गए। कुछ संकेत लैटिन, कुछ अंग्रेज़ी, तथा शेष कुछ अन्य योरपीय भाषाओं के नामों से ले लिये गए। आज दिन भी बर्ज़ीलियस की पद्धति पर बने हुए इन्हीं संकेतों का उपयोग हो रहा है। इसी पृष्ठ पर ऊपर दी हुई सारिणी से इन रासायनिक संकेतों के क्रमिक विकास की एक स्पष्ट झलक मिल जाती है।

नीचे हम ६२ में से ४० अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों के नाम, संकेत, परमाणु-भार* और प्रमुख संयोजन-संख्याओं को दे रहे हैं—

नाम	संकेत	परमाणु-भार	प्रमुख संयोजन-शक्तियाँ
अलुमीनियम (Aluminium)	Al	२७	३
ऐंटिमनी (Antimony, Latin *Stibium*)	Sb	१२२	३,५
आर्गन (Argon)	A	३९.९	०
आर्सेनिक (Arsenic)	As	७५	३,५
बेरियम (Barium)	Ba	१३७	२
बोरन (Boron)	B	१०.८	३
ब्रोमीन (Bromine)	Br	८०	१
कैल्शियम (Calcium)	Ca	४०	२
कार्बन (Carbon)	C	१२	४
क्लोरीन (Chlorine)	Cl	३५.५	१
क्रोमियम (Chromium)	Cr	५२	३
कोबाल्ट (Cobalt)	Co	५९	२
ताँबा (Copper, Latin *Cuprum*)	Cu	६३.६	१,२
फ्लोरिन (Fluorine)	F	१९	१
सोना (Gold, Latin *Aurum*)	Au	१९७	३
हीलियम (Helium)	He	४	०
हाइड्रोजन (Hydrogen)	H	१.००८	१
आयोडिन (Iodine)	I	१२७	१
इरीडियम (Iridium)	Ir	१९३	४
लोहा (Iron, Latin *Ferrum*)	Fe	५६	२,३
सीसा (Lead, Latin *Plumbum*)	Pb	२०७	२
मैग्नेशियम (Magnesium)	Mg	२४	२
मैङ्गनीज़ (Manganese)	Mn	५५	२
पारा (Mercury, Latin *Hydrargyrum*)	Hg	२००.६	१,२
नियन (Neon)	Ne	२०.२	०

* अर्थात् तत्त्व का वह आपेक्षिक भार जो हाइड्रोजन के परमाणु-भार को १.००८ अथवा ऑक्सिजन के परमाणु-भार को १६ मान कर निर्धारित किया जाता है।

निकल (Nickel)	Ni	५८·७	२
नाइट्रोजन (Nitrogen)	N	१४	३,५
ऑक्सिजन (Oxygen)	O	१६	२
फास्फरस (Phosphorus)	P	३१	३,५
प्लैटिनम (Platinum)	Pt	१९५	४
पोटैशियम (Potassium, Latin *Kalium*)	K	३९	१
रेडियम (Radium)	Ra	२२६	२
सिलिकन (Silicon)	Si	२८	४
चाँदी (Silver, Latin *Argentum*)	Ag	१०८	१
सोडियम (Sodium, Latin *Natrium*)	Na	२३	१
स्ट्रान्शियम (Strontium)	Sr	८७·६	२
गंधक (Sulphur)	S	३२	२,४
राँगा (Tin, Latin *Stannum*)	Sn	११८·७	२,४
टंग्स्टन (Tungsten, German *Wolfram*)	W	१८४	४,६
जस्ता (Zinc)	Zn	६५·४	२

सन् १८५८ में जर्मनी के विख्यात वैज्ञानिक केकुले ने चित्र-सूत्रों की कल्पना की। उसका लक्ष्य यह था कि अणु-सूत्रों में परमाणुओं की संयोजन शक्ति का भी प्रदर्शन हो, और यह भी प्रकट हो कि परमाणु संयोजन-शक्तियों द्वारा किस प्रकार संबद्ध रहते हैं। उसने डाल्टन के वृत्तों तथा बर्ज़ीलियस के अक्षर-संकेतों दोनों को एक साथ अपने सूत्रों में प्रयुक्त किया। हाइड्रोजन सरीखे एकशक्तिक मूल-तत्त्वों के परमाणुओं को उसने एक वृत्त द्वारा और ऑक्सिजन-सरीखे द्विशक्तिक तत्त्वों के परमाणुओं को दो वृत्तों को मिलाकर डम्बल-रूप में अंकित किया। इसी प्रकार नाइट्रोजन के त्रिशक्तिक परमाणु और कार्बन के चतुर्शक्तिक परमाणु को उसने क्रमशः तीन और चार मिले हुए वृत्तों द्वारा प्रदर्शित किया। इन्हीं आकारों के बीच में बर्ज़ीलियस के संकेतों को लिखकर केकुले ने उन्हें विभिन्न परमाणुओं के विशिष्ट संकेतों का रूप दे दिया। उसने अणु-सूत्रों की रचना इन संकेतों को दो कतारों में इस प्रकार रखकर की कि दोनों कतारों के प्रत्येक स्पर्श-बिन्दु से एक एक संयोजन-शक्ति का बोध हो। उसने यह सब कुछ किया, किन्तु उसके इन सूत्रों के प्रयोग में वही कठिनाइयाँ पड़ीं जो डाल्टन के संकेतों अथवा सूत्रों के प्रयोग में पड़ी थीं; अतएव समय की आवश्यकताओं के सामने केकुले के चित्र-सूत्र भी न ठहर सके। नये रचना-सूत्र और चित्र सूत्र बने जिनमें संयोजन शक्ति क्रमशः बिन्दुओं और रेखाओं द्वारा प्रदर्शित की गई। ये सूत्र सरलता पूर्वक लिखे, छापे और समझे जा सके, अतएव आज भी वही प्रयुक्त किये जाते हैं। अगले पृष्ठ पर दी हुई तुलनात्मक सारिणी में केकुले के तथा आधुनिक सूत्र प्रदर्शित हैं।

संकेत, सूत्र और समीकरण

जान जैकब बर्ज़ीलियस (१७७९—१८४८)

बर्ज़ीलियस की ही पद्धति पर निश्चित अक्षर-संकेत अथवा उनसे बने हुए सूत्र और समीकरण आपको रसायन की पुस्तकों और लेखों में दिखाई देते हैं। यदि आप को ईस्ट इंडियन रेलवे से E I R. और डाइरेक्टर आफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन से D P I अधिक सुविधामय प्रतीत होता है, तो कोई कारण नहीं कि हमारे रसायन-प्रेमी पाठकों को रासायनिक संकेत आदि असुविधामय जान पड़ें। फिर इनमें केवल शुद्ध संक्षेप ही नहीं, अ॰-परिपूर्णता का वह गौरव

यौगिकों के नाम	आधुनिक अणु-सूत्र	केकुले के चित्र-सूत्र	आधुनिक रचना-सूत्र	आधुनिक चित्र-सूत्र
हाइड्रोजन क्लोराइड	HCl	Cl H	$H \cdot Cl$	H—Cl
पानी	H_2O	O H H	$H \cdot O \cdot H$	H—O—H
अमोनिया	NH_3	N H H H	$H \cdot N \cdot H$ H	H—N(—H)(—H)
ऑक्सिजन	O_2	O O	$O{:}O$	O=O
सल्फ्यूरिक ऐसिड	H_2SO_4	H SO H O O	$HO \cdot SO_2 \cdot OH$	$O_2S(O-H)_2$
नाइट्रिक ऐसिड	HNO_3	O O H N O	$NO_2 \cdot OH$	O_2N-O-H
मीथेन	CH_4	H H H H	$H \cdot \dot{C} \cdot H$ (H ऊपर, H नीचे)	CH_4 (C से चार H)
मेथिल क्लोराइड	CH_3Cl	H H H Cl	$CH_3 \cdot Cl$	H_3C-Cl (C से तीन H और Cl)
कार्बन डाइआक्साइड	CO_2		$O{:}C\,O$	O=C=O
एथिल ऐल्कोहल	C_2H_5OH	H H H H H H	$CH_3 \cdot CH_2\,OH$	H—C(H)(H)—C(H)(H)—O—H
ऐसेटिक ऐसिड	CH_3COOH	H H H H	$CH_3CO \cdot OH$	H—C(H)(H)—C(=O)—O—H

केकुले के तथा आधुनिक सूत्रों की सारिणी

निहित है, जिससे उनका महत्त्व और उनकी मनोरंजकता कई गुनी बढ़ जाती है।

आप देखें न कि ऑक्सिजन का संकेत O न केवल इस तत्व के पूरे नाम का ही द्योतक है, किन्तु उसका अर्थ ऑक्सिजन का एक परमाणु भी है, जिस परमाणु का भार १६ होता है। इन्हीं संकेतों को जोड़कर पदार्थों के सूत्र बना लिये जाते हैं। 'विश्व-भारती' के १७वें अंक में मैं बता चुका हूँ कि संयोजन शक्तियों के सहारे ये सूत्र किस प्रकार बना लिये जा सकते हैं। H_2O पानी का सूत्र है। इसका अर्थ केवल पानी ही नहीं, उससे पानी के अणु और प्रत्येक अणु में रहनेवाले दो हाइड्रोजन और एक ऑक्सिजन के परमाणुओं का भी बोध होता है। संकेत के दायें पार्श्व में नीचे की ओर रक्खी हुई संख्या से उस तत्त्व के उन परमाणुओं की संख्या का बोध होता है जो इस अणु में रहते हैं। जिस संकेत के पीछे कोई अंक नहीं होता उससे एक परमाणु का बोध होता है। अतएव H_2O हमें यह भी स्पष्टत: बतला देता है कि पानी का अणुभार $१ \times २ + १६ = १८$ होगा। आप जानते हैं कि हाइड्रोजन का परमाणु-भार प्रायः १ और ऑक्सिजन का १६ होता है। फिर यदि पदार्थ गैस रूप में हो तो आपक

उसके भार और आयतन का सबंध भी विदित हो जावगा—गैस का जितना अणुभार हो उसके उतने ही ग्रामों का आयतन 0°C तापक्रम और ७६० मिलीमीटर दवाव पर २२'४ लीटर होता है।

संकेतों और सूत्रों को मिलाकर रासायनिक समीकरण बनते हैं, जिनका उद्देश्य रासायनिक क्रियाओं और तत्संबंधी अनेकों तथ्यों को संक्षेप (प्रायः एक ही पंक्ति) में प्रदर्शित कर देना होता है।

यदि हमारे पाठक रासायनिक समीकरणों को समझने का थोड़ा-सा कष्ट उठालें तो मैं तो यही समझूँगा कि वे रसायन के विषय में पैठने के पूर्ण अधिकारी बन गए। यह कोई कठिन बात नहीं। यदि आप रासायनिक संकेत और तत्त्वों की संयोजन-शक्तियों को समझते हैं तो आपको सूत्रों के समझने में कोई कठिनाई न पड़ेगी, और यदि संकेत और सूत्र दोनों पर आपका अधिकार हो गया, तो समीकरण स्वयं अपने भेदों को खोलने के लिए आपकी आँखों के सामने नाच उठेंगे। एक रासायनिक प्रतिक्रिया का आप उदाहरण ले लीजिए। जब हाइड्रोजन गैस जलती है अथवा यों कहिए कि जब वह ऑक्सिजन से संयुक्त होती है तो पानी बन जाता है। आप जानते हैं कि हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के एक-एक अणु में उनके दो-दो परमाणु रहते हैं। आप यह भी जानते हैं कि पानी का अणु-सूत्र H_2O होता है। तो फिर कठिनाई ही क्या! प्रतिकारी अणुओं के सूत्रों को बाईं ओर बीच में धन का चिन्ह लगाकर रख दीजिए और फिर समता का चिन्ह* अंकित करने के बाद दाहिनी ओर उत्पन्न पदार्थ (या पदार्थों) के सूत्र (अथवा सूत्रों) को लिख दीजिए—

$$H_2+O_2=H_2O$$

आपके समीकरण का 'कंकाल' तैयार हो गया। अभी उसमें कुछ त्रुटि है—क्या उसे आप देखते हैं? बाईं ओर ऑक्सिजन के दो परमाणु, किंतु दाहिनी ओर एक ही परमाणु प्रदर्शित है, तो क्या ऑक्सिजन के एक परमाणु का लोप हो गया? असंभव! द्रव्य की अक्षयता का सिद्धान्त क्या टल सकता है! यह आवश्यक है कि हम दोनों ओर विभिन्न तत्त्वों की संख्याओं को बराबर करके समीकरण को 'समतुलित' कर दें। हाइड्रोजन और पानी के एक एक अणु के स्थान में दो-दो लेकर अथवा यों कहिए कि H_2 और H_2O के सामने दो के अंकों* को रख कर इस अभाव को मिटा दीजिए—

$$2H_2+O_2=2H_2O$$

और यह देखिए, इस प्रतिक्रिया का समीकरण आपके समक्ष तैयार होकर निम्न प्रकार से अपनी मनोरंजक कहानी सुनाने लगा—

हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के संयोग से पानी बनता है।

जब हाइड्रोजन के दो अणु ऑक्सिजन के एक अणु से प्रतिक्रिया करता है तो पानी के दो अणु बन जाते हैं।

हाइड्रोजन के ४ भारात्मक भाग और ऑक्सिजन के ३२ भारात्मक भाग परस्पर संयुक्त होकर पानी के ३६ भारात्मक भागों का उत्पादन करते हैं। यदि आप सरलता के प्रेमी हैं तो यह कह लीजिए कि हाइड्रोजन का एक भारात्मक भाग ऑक्सिजन के ८ भारात्मक भागों से संयुक्त होकर पानी के ९ भारात्मक भागों को उत्पन्न करता है। यदि आप जानते हैं कि हाइड्रोजन का परमाणु भार १ और ऑक्सिजन का १६ है तो आप स्वयं इन अनुपातों की गणना समीकरण द्वारा कर सकते हैं।

ऐवोगैड्रो के सिद्धान्त के अनुसार हाइड्रोजन के २ आयतन ऑक्सिजन के १ आयतन से संयुक्त होकर भाप के २ आयतनों को उत्पन्न करते हैं। भाप मैंने इसलिए कहा कि ऐवोगैड्रो का सिद्धांत गैसों में ही लागू होता है तरल अथवा ठोस पदार्थों में नहीं।

यदि आप चाहें तो इस आधार पर कि किसी गैस के एक ग्राम-अणुभार का आयतन सामान्य तापक्रम और दबाव पर २२'४ लीटर होता है समीकरण के विभिन्न पदार्थों के भारात्मक और आयतनिक भागों की भी तुलना कर सकते हैं। यथा, ४४'८ लीटर हाइड्रोजन २२'४ लीटर ऑक्सिजन से संयुक्त होकर ३६ ग्राम पानी को बना देते हैं, आदि।

अंत में, समीकरण आपको बता रहा है कि उसकी प्रतिक्रिया में द्रव्य की अविनाशता के प्राकृतिक सिद्धांत का खंडन नहीं हुआ है।

केवल दो अक्षरों और एक अंक से बना हुआ यह छोटा-

* बहुधा इसके स्थान पर बाण के चिन्ह → का उपयोग होता है।

* यह याद रखिए कि सामने लिखी जानेवाली संख्या से अणु की संख्या का बोध होता है, और पीछे अंकित की हुई संख्या से यह सूचित होता है कि एक अणु में किसी तत्व के कितने परमाणु रहते हैं।

सा समीकरण आपसे कितनी आत्मकहानी कह गया! फिर भी वह साधनों के अभाव के कारण बहुत-सी बातें आपसे न बता सका। प्रतिक्रिया में भाग लेनेवाले पदार्थ किन भौतिक अवस्थाओं में हैं, किन दशाओं में यह प्रतिक्रिया घटित होती है, उसमें ताप* का उत्पादन होता है अथवा शोषण, वह कितना समय लेती है, किसी प्रकार का शब्द अथवा विस्फोटन तो नहीं होता, और वह विपर्ययशील † है अथवा नहीं,—ये सभी बातें इस समीकरण द्वारा प्रकट नहीं होतीं।

मुझे विश्वास है कि हमारे जो पाठक रासायनिक समीकरण से परिचित हो गये होंगे वे अब उनसे जल्दी नजर न फेरेंगे। फिर भी मैं अपने संपादक महोदय की चेतावनी नहीं भूलूँगा। अतिपरिचय बहुधा घृणा का कारण हो जाता है, समीकरण का परिचय मैंने दे दिया। अब अति और घृणा को मैं अवसर ही न दूँगा। इन्हीं समीकरणों को मैंने पाठकों को फुसलाने के लिए कभी-कभी डाल्टन के-से संकेतों अथवा पुतलियों द्वारा भी दिग्दर्शित किया है किन्तु ये पद्धतियाँ कहाँ तक सुविधामय हैं, इसका निर्णय अब वे स्वयं कर सकते हैं।

अब आप कल्पना कर सकेंगे कि यदि ये समीकरण न होते तो सहस्रों रासायनिक क्रियाओं को पूर्णतः वर्णित करने में क्या-क्या बीतती!

रासायनिक भाषा के परिचय में अब मुझे एक दो बातों के विषय में आपको कुछ और बतलाना है।

यौगिकों का नामकरण

आप जानते ही हैं कि तत्त्व परस्पर संयुक्त होकर यौगिकों का रूप धारण करते हैं। आपने इन यौगिक पदार्थों के तरह-तरह के नाम पिछले लेखों में पढ़े होंगे। आपने कदाचित् बला समझकर उन्हें टाला होगा। ये नाम निश्चित नियमों के अनुसार रक्खे जाते हैं, जिन्हें समझ लेने पर स्वयं आपकी दिक्कत हल हो जानी चाहिए। प्रायः सभी नाम यौगिकों के अणु में रहनेवाले परमाणुओं अथवा परमाणु-समूहों अथवा यौगिक मूलकों के सूचक होते हैं—सोडियम और क्लोरीन का यौगिक सोडियम क्लोराइड, कैल्शियम और ऑक्सिजन का यौगिक कैल्शियम ऑक्साइड, अमोनियम और

=
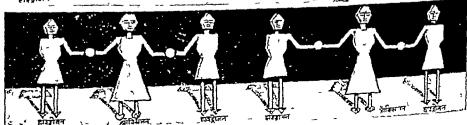
पुतलियों द्वारा हाइड्रोजन और ऑक्सिजन की प्रतिक्रिया का प्रदर्शन

बर्ज़ीलियस के संकेतों में इस चित्र का प्रतिरूप नीचे लिखे अनुसार होगाः—

$$2H{-}H \;+\; O{=}O \;\rightarrow\; 2H{-}O{-}H$$

---

* बहुधा ताप का उत्पादन समीकरण के अंत में '+ताप', और शोषण उसी प्रकार '-ताप' लिखकर प्रदर्शित कर दिया जाता है। कभी-कभी ताप के स्थान पर उसकी ठीक-ठीक मात्रा लिख दी जाती है, यथा—

$$2H_2 + O_2 = 2H_2O + \text{६८३००\ कैलरी}$$

(पानी)

इसका अर्थ यह है कि जब ४ ग्राम हाइड्रोजन ३२ ग्राम ऑक्सिजन से संयुक्त होती है तो ३६ ग्राम पानी बनता है और ६८३०० कैलरी ताप का उत्पादन होता है।

† जो प्रतिक्रिया दोनों ओर हो सकती है उसे विपर्ययशील कहते हैं। हाइड्रोजन और ऑक्सिजन संयुक्त होकर भाप उत्पन्न करते हैं, किन्तु यदि भाप ऊँचे तापक्रम अर्थात् २०००°C तक गर्म कर दी जाय तो वह हाइड्रोजन और ऑक्सिजन में विच्छिन्न होने लगती है। अतएव यह क्रिया विपर्ययशील हुई। बहुधा समीकरण में यह विपर्यय समता अथवा याग के चिह्न के स्थान पर दो 'विपर्यस्त बाणों' (⇌) द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, यथा—

$$2H_2 + O_2 \rightleftharpoons 2H_2O$$

सल्फेट मूलकों का यौगिक अमोनियम सल्फेट तथा एथिल और ऐसेटेट नामक परमाणु समूहों का यौगिक ऐथिल ऐसेटेट आदि।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि दो तत्त्वों के यौगिकों के नाम के पीछे सदैव 'आइड-'(-ide) प्रत्यय लगा रहता है यथा कार्बन और ऑक्सिजन का यौगिक कार्बन डाइऑक्साइड (CO_2), सोडियम और क्लोरीन का सोडियम क्लोराइड ($NaCl$), कैल्शियम और कार्बन का कैल्शियम कार्बाइड (CaC_2), मैग्नेशियम और नाइट्रोजन का मैग्नेशियम नाइट्राइड (Mg_3N_2), आदि।

बहुधा यौगिकों के नाम उनके किसी तत्त्व के परमाणुओं की संख्या के द्योतक भी होते हैं, यथा कार्बन मोनॉक्साइड (CO), जिसके अणु में ऑक्सिजन का एक परमाणु रहता है, सल्फर डाइऑक्साइड (SO_2), जिसके अणु में ऑक्सिजन के दो परमाणु रहते हैं, फास्फरस ट्राइक्लोराइड (PCl_3), जिसके अणु में क्लोरीन के तीन परमाणु रहते हैं, आदि। मोनो, डाइ, ट्राइ, टेट्रा, पेन्टा, हेक्सा, हेप्टा, आदि उपसर्ग ग्रीक भाषा से लिए गए हैं और उनके अर्थ क्रमश एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात, आदि हैं।

यदि वही परमाणु अथवा परमाणु-समूह एक से अधिक यौगिक बनाएँ तो उनमें से एक के परिमाणों का भेद बहुधा 'अस' (-ous) अथवा 'इक' (-ic) प्रत्यय नाम में लगा कर व्यक्त किया जाता है। फेरस क्लोराइड ($FeCl_2$) में क्लोरीन के दो परमाणु और फेरिक क्लोराइड ($FeCl_3$) में उसके तीन परमाणु रहते हैं। 'अस' से क्लोरीन के कम परिमाण का और 'इक' से उसके अधिक परिमाण का बोध होता है। इसी प्रकार नाइट्रस ऐसिड (HNO_2) और सल्फ्यूरस ऐसिड (H_2SO_3) के अणुओं में क्रमश नाइट्रिक ऐसिड (HNO_3) और सल्फ्यूरिक ऐसिड (H_2SO_4) के अणुओं से ऑक्सिजन का एक परमाणु कम रहता है।

कुछ यौगिकों में आपने 'पर-' (per-) उपसर्ग को व्यवहृत होते हुए देखा होगा, जैसे हाइड्रोजन परॉक्साइड में। उसका अर्थ यह है कि इसमें ऑक्सिजन का परिमाण साधारण से अधिक है। इसी प्रकार जिन यौगिकों में 'हाइपो' (hypo-) उपसर्ग का उपयोग होता है उनमें किसी तत्त्व अथवा मूलक का साधारण से कम परिमाण में होने का बोध होता है। हाइपोक्लोरस ऐसिड ($HClO$) में हाइड्रोजन, क्लोरीन और ऑक्सिजन से बने हुए अन्य सभी अम्लों की अपेक्षा सबसे कम ऑक्सिजन रहती है।

आपको ज्ञात होगा कि धातुओं, क्षारों अथवा अन्य लवणों की रासायनिक क्रियाओं द्वारा अम्लों के हाइड्रोजन के स्थान पर जब धातुओं के परमाणु बिठा दिए जाते हैं, तो लवण बन जाते हैं, जैसे सल्फ्यूरिक ऐसिड (H_2SO_4) में हाइड्रोजन के परमाणुओं के स्थान पर सोडियम के परमाणुओं को बिठा देने से वह सोडियम सल्फेट (Na_2SO_4) लवण में परिणत हो जाती है। अम्लों के ही नामों के अनुसार उनके लवणों के नाम भी रक्खे जाते हैं। यथा, हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड के सब लवण क्लोराइड, नाइट्रिक ऐसिड के नाइट्रेट, और सल्फ्यूरिक ऐसिड के सल्फेट कहे जाते हैं। 'अस' प्रत्यय वाले अम्लों के लवण के नाम के पीछे 'आइट' (ite) और 'इक' प्रत्यय वाले अम्लों के लवण के नाम के पीछे 'एट' (ate) प्रत्यय लगाए जाते हैं। एक उदाहरण से यह नामकरण स्पष्ट हो जायगा। हाइड्रोजन क्लोरीन और ऑक्सिजन तत्त्वों के चार अम्ल होते हैं—हाइपोक्लोरस ऐसिड ($HClO$), क्लोरस ऐसिड ($HClO_2$), क्लोरिक ऐसिड ($HClO_3$) और परक्लोरिक ऐसिड ($HClO_4$), अतएव इन अम्लों के सोडियम लवण क्रमश. सोडियम हाइपोक्लोराइट ($NaClO$), सोडियम क्लोराइट ($NaClO_2$), सोडियम क्लोरेट ($NaClO_3$) और सोडियम परक्लोरेट ($NaClO_4$) कहे जाते हैं।

जिस अम्ल के अणु में जितने हाइड्रोजन के परमाणु होते हैं उससे उतने ही प्रकार के लवण बनते हैं। सल्फ्यूरिक ऐसिड के अणु में हाइड्रोजन के दो परमाणु होते हैं। जो लवण इन दोनों परमाणुओं के धातुओं द्वारा हटाए जाने से बनते हैं उन्हें 'सामान्य लवण' कहते हैं, जैसे सोडियम सल्फेट (Na_2SO_4) एक सामान्य लवण है। जब ऐसिड के अणु में हाइड्रोजन के सभी परमाणुओं की स्थानापत्ति नहीं होती, तो 'ऐसिड लवण' बनते हैं। सल्फ्यूरिक ऐसिड के अणु से हाइड्रोजन के एक ही परमाणु को हटाकर जब सोडियम उसकी जगह लेता है, तो सोडियम बाइसल्फेट ($NaHSO_4$) लवण बनता है। इस प्रकार के लवणों को ऐसिड लवण इसलिए कहते हैं कि उनमें अम्लगुणधारी हाइड्रोजन के परमाणु का भी अस्तित्व होता है। मैं पहले कभी बता चुका हूँ कि अम्लों के अम्लता के गुण उनके हाइड्रोजन परमाणुओं में ही होते हैं। आप देखते हैं कि लवणों के नाम में 'बाइ' (Bi)

उपसर्ग लग जाने से उसकी अम्लता का बोध होता है।

मैं प्रमुख यौगिक मूलकों* और कुछ कार्बनिक परमाणु-समूहों तथा उनकी संयोजन-शक्तियों की सारिणी नीचे दे रहा हूँ। यदि आप इनसे भी परिचित हो गए और यदि आपको पृष्ठ १६६० पर दिया हुआ अणु-सूत्रों के बनाने का तरीका भूला नहीं है तो आप स्वयं अनेकों यौगिकों के अणुसूत्रों को बना लेंगे। तथापि यह तरीक़ा सर्वत्र लागू नहीं है। उदाहरणार्थ, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन की संयोजन-शक्तियों के सहारे आप पानी का सूत्र H_2O तो बना सकेंगे, परन्तु हाइड्रोजन परॉक्साइड-सरीखे यौगिकों की अणु रचना समझने के लिए उनके चित्र-सूत्रों का सहारा लेना पड़ता है। हाइड्रोजन परॉक्साइड के चित्र सूत्र $H-O-O-H$ से स्पष्ट है कि उसमें प्रत्येक ऑक्सिजन परमाणु की संयोजन शक्ति २ और हाइड्रोजन की १ है।

यौगिक मूलक

नाम	सूत्र	संयोजन-शक्ति
अमोनियम	NH_4	१
हाइड्रॉक्साइड	OH	१
कार्बोनेट	CO_3	२
बाइकार्बोनेट	HCO_3	१
नाइट्राइट	NO_2	१
नाइट्रेट	NO_3	१
सल्फाइट	SO_3	२
बाइसल्फाइट	HSO_3	१
सल्फेट	SO_4	२
बाइसल्फेट	HSO_4	१
थायोसल्फेट	S_2O_3	२
हाइपोक्लोराइट	ClO	१
क्लोराइट	ClO_2	१
क्लोरेट	ClO_3	१
परक्लोरेट	ClO_4	१
फ़ॉस्फेट	PO_4	३
सिलिकेट	SiO_3	२
परमैङ्गनेट	MnO_4	१
क्रोमेट	CrO_4	२
डाइक्रोमेट	Cr_2O_7	२
फ़ार्मेट	$HCOO$	१
ऐसेटेट	CH_3COO	१
आक्ज़ेलेट	C_2O_4	२
सायनाइड	CN	१

*क्लोराइड, आक्साइड आदि तात्त्विक मूलकों का संकेत वही होता है जो स्वयं तत्त्वों का। सल्फेट (SO_4) नाइट्रेट (NO_3) आदि यौगिक मूलक दो या अधिक तत्त्वों से बने होते हैं। कार्बनिक परमाणु-समूह गुणों में भिन्न होने के कारण मूलक नहीं कहे जाते।

कुछ कार्बनिक परमाणु-समूह

नाम	सूत्र	संयोजन-शक्ति
मेथिल	CH_3	१
ईथिल	C_2H_5	१
ऐल्डिहाइड	CHO	१
कार्बोक्सिल	$COOH$	१
कार्बोनिल	CO	२
फीनिल	C_6H_5	१

आयनिक संकेत

जब अम्ल, क्षार अथवा लवण पानी में घुलते हैं तो उनमें से प्रत्येक अंशतः अथवा पूर्णतः दो विद्युदाविष्ट अणु भागों में विभक्त हो जाता है। वास्तव में घोल में विद्युदाविष्ट होकर पृथक् हो सकनेवाले इन्हीं अणुभागों को मूलक कहते हैं। अनेकों कार्बनिक परमाणु समूहों में यह गुण नहीं होता, इसलिए वे मूलक नहीं कहे जाते। विद्युदाविष्ट रूप में इन मूलकों को 'आयन' कहते हैं। हाइड्रोजन, अमोनियम (NH_4) तथा धातुओं के मूलक धन विद्युत् से तथा हाइड्रॉक्साइड तथा ऐसिडों में रहनेवाले अन्य मूलक ऋण विद्युत् से आविष्ट होते हैं। इसीलिए प्रथम प्रकार के मूलकों को धन अथवा धातव मूलक और दूसरे प्रकार के मूलकों को ऋण अथवा ऐसिड मूलक कहते हैं। इन मूलकों की जितनी संयोजन-शक्ति होती है उतना ही आवेश आयनिक रूप में उन्हें प्राप्त होता है। आयन में इस विद्युदावेश को प्रदर्शित करने लिए धन (+), तथा ऋण (—), अथवा बिन्दु (˙) तथा (′) चिह्नों का व्यवहार होता है। उदाहरणार्थ, हाइड्रोजन आयन को H^+ अथवा $H^{\cdot}$, फ़ेरिक आयन को Fe^{+++} अथवा $Fe^{\cdot\cdot\cdot}$ और सल्फेट आयन को SO_4^{--} अथवा SO_4'' सांकेतिक रूपों से प्रकट किया जाता है। यदि हम समीकरण द्वारा जलीय घोल में सोडियम क्लोराइड का आयनों में विघटन प्रदर्शित करना चाहें तो इस प्रकार करेंगे—

$$NaCl \rightleftharpoons Na^+ + Cl^-$$

अथवा

$$NaCl \rightleftharpoons Na^{\cdot} + Cl'$$

पृथ्वी
की कहानी

चि० १—ओसपर्णी
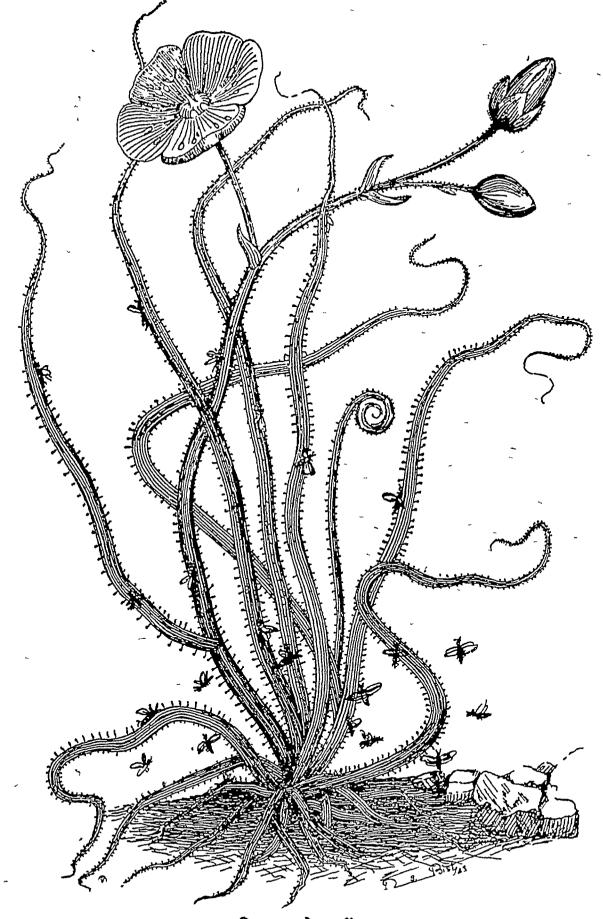
यह लसलसे रोमवाले कीटाशी पौधों का एक उत्तम उदाहरण है (विशेष विवरण के लिए देखिए पृष्ठ २२८७ का मैटर)।
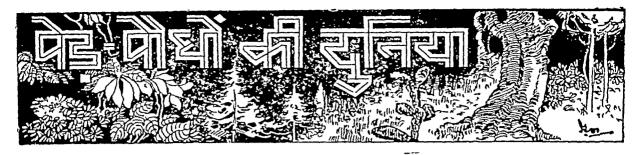
कीटाशी अथवा क्रान्तिकारी हिंसक पौधे—नाइट्रोजन-एसिमिलेशन के कुछ असाधारण तरीके—(१)

प्रकृति के अजायबघर की विचित्रताओं में वनस्पति-जगत् के उन अनोखे सदस्यों को निस्संदेह प्रथम श्रेणी में रखा जा सकता है, जो हिंसक जंतुओं की वृत्ति धारण कर विविध उपक्रमों से छोटे-छोटे कीट-पतिंगों को अपना आहार बनाते हैं। आइए, इस लेख में इन्हीं क्रान्तिकारी पौधों का आपको परिचय कराएँ। यह लेख दो भागों में दिया जा रहा है—प्रथम भाग यहाँ प्रस्तुत है और दूसरा अगले अंक में प्रकाशित होगा।

कार्बन-एसिमिलेशन की असाधारण रीतियों पर विचार करते समय (वि० भा० अ० १५ पृ० २०१३-२१) अमरबेल, गँठवा तथा दूसरे जिन पौधों की चर्चा की गई है उनके परिचय से निःसन्देह आप पौधों के विषय में विविध कल्पनाएँ कर रहे होंगे। ऐसे पौधे, जो चोर लुटेरों की तरह दूसरों की कमाई के सहारे जीवन व्यतीत करते हैं, अवश्य ही घृणा के पात्र हैं, परंतु इनसे भी अधिक निंदनीय हैं वे पौधे जिनका हम यहाँ उल्लेख करने जा रहे हैं। ये न मृताश्रयी पौधों की तरह सड़ी-गली हुई चीज़ों पर ही सन्तोष करते हैं और न पराश्रयी वृत्ति के सहारे अपने बन्धु-बान्धवों द्वारा अर्जित द्रव्य ग्रहण कर ही तृप्त होते हैं, वरन् विविध प्रपंच रच, जीव जन्तुओं को फँसा, उन्हें मौत के हवाले कर स्वयं इस कलंक से दूषित होने के साथ ही वनस्पतियों के बीच हिंसक समाज की स्थापना कर पशुओं के प्रति वनस्पति वर्ग द्वारा किए गए सारे उपकारों पर मानों पानी फेरते हुए प्रतिहिंसक की उपाधि प्राप्त करते हैं। कैसी विलक्षण लीला है! पेड़-पौधे, जिन्हें हम केवल पशुओं का आहार समझते हैं, कभी कभी उलटे उन्हीं पर आक्रमण कर उन्हें जाल में फँसा, उनकी निर्दयता से हत्या कर, अपनी उदर-पूर्ति का साधन जुटाते हैं!

चित्र २—लाल भरंडा

ऊपर, बाईं ओर, टहनी के परिवर्धित चित्र में रोएँ स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं।

पतिंगों का फूल पर आना स्वाभाविक बात है। वाटिका की शीतल मंद समीर केवल मनुष्य ही को नहीं वरन् कीट पतिंगों को भी आकर्षित करती है। वहाँ पहुँचकर चटकीले सुगंधित फूलों की शोभा निरख तथा मीठे मधु और सुगंधित पराग को

अभिप्राय से बन्दी बनाए गए पतिंगों को किसी भाँति का भय नहीं रहता। वे फूल के अन्दर मधु तथा पराग के लिए प्रवेश करते हैं और अवसर पा पौधे उन्हें फँसा लेते हैं। किन्तु अपना कार्य सिद्ध कर वे इन्हें पुनः मुक्त कर देते हैं। इस बहाने दोनों ही को लाभ होता है और पतिंगे घूम घूमकर एक फूल को छोड़ दूसरे में जा फँसते हैं।

कुछ पौधे ऐसे हैं जो पतिंगों को दूसरे ही प्रयोजन से क़ैद करते हैं। वे यों ही मधु उड़ाने और पराग लूटनेवाले ऐरे-ग़ैरे मुफ़्तख़ोरे कीड़ों को फूलों से दूर कहीं अलग ही फँसा रखते हैं। ऐसे पौधों में फूलों से परे पत्तो, टहनी या दूसरे अंगों में ग्रंथिलोम या मधुकोश होते हैं। ग्रंथिलोम लसलसे होते हैं और बहुधा कीड़े उनमें चिपककर जान तक गँवा देते हैं। अन्त में ऐसे जीवों के मृत पिंड नीचे गिरकर मिट्टी में घुल-मिलकर पौधों के काम आते हैं। फिर भी इन पौधों में न कीड़े पकड़ने का कोई विशेष ढंग होता है और न इन्हें हम कीटाशी पौधों में गिन ही सकते हैं।

कीटाशी पौधे विशेष प्रकार से ही कीड़े फँसाते हैं। इनकी लगभग ४०० जातियाँ हैं, जिनके कीड़े पकड़ने के ढंग के अनुसार तीन भेद माने जा सकते हैं —

चि० ३—पुटकी (Bladderwort)
तालाबों तथा झीलों का एक कीटाशी पौधा।

पाकर मतवाले हो ये नाचने लगते हैं। ऐसा नहीं कि पौधे अनायास ही अपना अमूल्य द्रव्य लुटाते हों। वस्तुतः साथ में उनका भी स्वार्थ रहता है। दूसरे जीवों की तरह पौधों में भी नर और मादा होते हैं, जिनके मेल से ही बीज बनते हैं। उनके मेल कराने का मुख्य साधन ये पतिंगे ही हैं। यही कारण है कि पौधे इन्हें विविध प्रलोभन दे अपना मनोरथ सिद्ध करते हैं। कभी-कभी तो वे इस क्रिया में पतिंगों को क़ैद भी कर रखते हैं। बतखवेल नामक एक ऐसे पौधे का उल्लेख किया ही जा चुका है (वि० भा० ग्रं० ३ पृ० २६६)। आगे चल-कर हम कुछ और भी ऐसे पौधों की चर्चा करेंगे। इस

१ वे कीटाशी पौधे जिनमें लसलसे रोम होते हैं। इन पौधों में कीड़े फँसाने के विशेष यंत्र या पात्र नहीं होते और न इनके किसी अंग में इस क्रिया के समय उत्तेजना ही होती है। इनकी पत्तियों या डालियों पर रोम होते हैं जिनसे गोंदीला रस निकलता है। इसी में कीड़े फँस जाते हैं।

२ वे कीटाशी पौधे जिनमें कीड़े फँसाने की तरह-तरह की तूँबियाँ, थैलियाँ या दूसरे पात्र होते हैं। इन पात्रों की बनावट ऐसी होती है कि कीड़े सुगमता से अन्दर घुस जाते हैं पर बाहर वापस नहीं आ पाते। शिकार पकड़ने में इन पौधों के अंगों में भी उत्तेजना नहीं होती।

३ वे कीटाशी पौधे जिनका एक न एक अंग स्पर्श से उत्तेजित हो उठता है और उससे लसलसा रस गिरने लगता है, साथ ही उस अंग में हरकत भी होती है। परिणाम

यह होता है कि पतिंगा वहीं फँसकर क़ैद हो जाता है।

१—लसलसे रोमवाले कीटाशी पौधे

लसलसे रोमवाले कीटाशी पौधों का ओसपर्णी (*Drosophyllum*) (चि० १) एक उत्तम उदाहरण है। इस जाति का एक पौधा पुर्त्तगाल तथा मरक्को में बलुआ और पथरीली भूमि पर उगता है। यह पौधा ६-१ इंच ऊँचा होता है और इसमें मुख्य शाखा के ऊपरी भाग से ३-४ छोटी-छोटी फूलों से लदी टहनियाँ निकलती हैं। पत्तियाँ घनी और ख़ास कर पौधे के निचले भाग पर ही होती हैं। देखने में ये रेखाकार कास या पतावर-जैसी होती हैं और इनके मध्य में ऊपरी सतह पर परनाली-सी रहती है। परनाली को छोड़ शेष पत्ती पर बड़ी (सनाल) और छोटी (नालरहित) ग्रंथियाँ होती हैं। बड़ी ग्रंथियों से लसलसा रस निकला करता है, जिसकी बूँदें जमकर प्रकाश में ओस के समान चमकती हैं। इसी से इस पौधे को ओसपर्णी कहते हैं। मधु की खोज में निकले पतिंगे इन जगमगा तीपत्तियों की रस बूँदों को मधु समझ उन पर आ टूटते हैं। नालरहित ग्रंथियों से कीड़े तथा अन्य नाइट्रोजनीय पदार्थ के स्पर्श से पहले साधारण लसदार और बाद में क्षारीय रस बह चलता है। यह रस पतिंगे का अंग लगते ही उसमें चिपक जाता है और ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है उस पर दूसरी ऐसी ग्रंथियों का रस भी चढ़ता आता है, जिसे छुड़ाने के लिए वह अपने पगों को पत्ती या अपने ही बदन पर रगड़ता है, जिससे बेचारा और भी उस लसलसे रस में फँस जाता है। इस रस से वह इतना सराबोर हो जाता है कि शहद में फँसी चिउँटी की तरह उसका हिलना डुलना कठिन हो जाता है और अन्त में लड़खड़ाता हुआ वह पत्ती के निचले भाग में, जहाँ नालरहित ग्रंथियाँ अधिकता से होती हैं, आ गिरता है। इन ग्रंथियों का क्षारीय रस, जो गोंदीले रस के साथ नाइट्रोजनीय पदार्थ के स्पर्श से बहता है, कीड़े के अंगों से पौष्टिक पदार्थ—मांस, रुधिर, वसा आदि—जज़्ब कर लेता है।

इस विचित्र ढंग से ओसपर्णी न जाने कितने कीड़ों को फँसा-फँसाकर नष्ट करता रहता है। कहते हैं कि ओपोर्टो के पास-पड़ोस के बाशिंदे, जहाँ ओसपर्णी अधिकता से होता है, इसे मक्खी मारनेवाले काग़ज़ की तरह अपने दरवाज़ों पर लटका देते हैं, जिससे मक्खियाँ मर जाती हैं और वे उनके उपद्रव से बचे रहते हैं।

कुछ पौधे ऐसे हैं जिनमें ओसपर्णी की भाँति किसी हद तक कीड़े पकड़ने की क्षमता तो है पर न इनमें यह क्रिया ही इतनी कुशलता से होती है और न फँसे कीड़ों

चि० ८—घटपर्णी

यह उस समूह के कीटाशी पौधों में सबसे विख्यात है, जिनमें शिकार फँसाने के लिए कूपी आदि विशेष प्रकार के कपट-पात्र होते हैं।

चि० ३—पुटकी (Bladderwort)

तालाबों तथा झीलों का एक कीटाशी पौधा।

पाकर मतवाले हो ये नाचने लगते हैं। ऐसा नहीं कि पौधे अनायास ही अपना अमूल्य द्रव्य लुटाते हों। वस्तुत: साथ में उनका भी स्वार्थ रहता है। दूसरे जीवों की तरह पौधों में भी नर और मादा होते हैं, जिनके मेल से ही बीज बनते हैं। उनके मेल कराने का मुख्य साधन ये पतिंगे ही हैं। यही कारण है कि पौधे इन्हें विविध प्रलोभन दे अपना मनोरथ सिद्ध करते हैं। कभी-कभी तो वे इस क्रिया में पतिंगों को क़ैद भी कर रखते हैं। बतखबेल नामक एक ऐसे पौधे का उल्लेख किया ही जा चुका है (वि० भा० ग्रं० ३ पृ० २९६)। आगे चलकर हम कुछ और भी ऐसे पौधों की चर्चा करेंगे। इस अभिप्राय से बन्दी बनाए गए पतिंगों को किसी भाँति का भय नहीं रहता। वे फूल के अन्दर मधु तथा पराग के लिए प्रवेश करते हैं और अवसर पा पौधे उन्हें फँसा लेते हैं। किन्तु अपना कार्य सिद्ध कर वे इन्हें पुनः मुक्त कर देते हैं। इस बहाने दोनों ही को लाभ होता है और पतिंगे घूम घूमकर एक फूल को छोड़ दूसरे में जा फँसते हैं।

कुछ पौधे ऐसे हैं जो पतिंगों को दूसरे ही प्रयोजन से क़ैद करते हैं। वे यों ही मधु उड़ाने और पराग लूटनेवाले ऐरे-ग़ैरे मुफ़्तख़ोरे कीड़ों को फूलों से दूर कहीं अलग ही फँसा रखते हैं। ऐसे पौधों में फूलों से परे पत्तों, टहनी या दूसरे अंगों में प्रथिलोम या मधुकोश होते हैं। प्रथिलोम लसलसे होते हैं और बहुधा कीड़े उनमें चिपककर जान तक गँवा देते हैं। अन्त में ऐसे जीवों के मृत पिंड नीचे गिरकर मिट्टी में घुल-मिलकर पौधों के काम आते हैं। फिर भी इन पौधों में न कीड़े पकड़ने का कोई विशेष ढंग होता है और न इन्हें हम कीटाशी पौधों में गिन ही सकते हैं।

कीटाशी पौधे विशेष प्रकार से ही कीड़े फँसाते हैं। इनकी लगभग ४०० जातियाँ हैं, जिनके कीड़े पकड़ने के ढंग के अनुसार तीन भेद माने जा सकते हैं —

१ वे कीटाशी पौधे जिनमें लसलसे रोम होते हैं। इन पौधों में कीड़े फँसाने के विशेष यन्त्र या पात्र नहीं होते और न इनके किसी अंग में इस क्रिया के समय उत्तेजना ही होती है। इनकी पत्तियों या डालियों पर रोम होते हैं जिनसे गोंदीला रस निकलता है। इसी में कीड़े फँस जाते हैं।

२. वे कीटाशी पौधे जिनमें कीड़े फँसाने की तरह-तरह की तूँबियाँ, थैलियाँ या दूसरे पात्र होते हैं। इन पात्रों की बनावट ऐसी होती है कि कीड़े सुगमता से अन्दर घुस जाते हैं पर बाहर वापस नहीं आ पाते। शिकार पकड़ने मे इन पौधों के अंगों में भी उत्तेजना नहीं होती।

३ वे कीटाशी पौधे जिनका एक न एक अंग स्पर्श से उत्तेजित हो उठता है और उससे लसलसा रस गिरने लगता है, साथ ही उस अंग में हरकत भी होती है। परिणाम

यह होता है कि पतिंगा वहीं फँसकर क़ैद हो जाता है।

१—लसलसे रोमवाले कीटशी पौधे

लसलसे रोमवाले कीटाशी पौधों का ओसपर्णी (*Drosophyllum*) (चि० १) एक उत्तम उदाहरण है। इस जाति का एक पौधा पुर्त्तगाल तथा मरक्को में बलुआ और पथरीली भूमि पर उगता है। यह पौधा ६-१० इंचा ऊँचा होता है और इसमें मुख्य शाखा के ऊपरी भाग से ३-४ छोटी-छोटी फूलों से लदी टहनियाँ निकलती हैं। पत्तियाँ घनी और ख़ास कर पौधे के निचले भाग पर ही होती हैं। देखने में ये रेखाकार कास या पतावर-जैसी होती हैं और इनके मध्य में ऊपरी सतह पर परनाली-सी रहती है। परनाली को छोड़ शेष पत्ती पर बड़ी (सनाल) और छोटी (नालरहित) ग्रंथियाँ होती हैं। बड़ी ग्रंथियों से लसलसा रस निकला करता है, जिसकी बूँदें जमकर प्रकाश में ओस के समान चमकती हैं। इसी से इस पौधे को ओसपर्णी कहते हैं। मधु की खोज में निकले पतिंगे इन जगमगा तीपत्तियों की रस-बूँदों को मधु समझ उन पर आ टूटते हैं। नालरहित ग्रंथियों से कीड़े तथा अन्य नाइट्रोजनीय पदार्थ के स्पर्श से पहले साधारण लसदार और बाद में क्षारीय रस बह चलता है। यह रस पतिंगे का अंग लगते ही उसमें चिपक जाता है और ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है उस पर दूसरी ऐसी ग्रंथियों का रस भी चढ़ता आता है, जिसे छुड़ाने के लिए वह अपने अंगों को पत्ती या अपने ही बदन पर रगड़ता है, जिससे बेचारा और भी उस लसलसे रस में फँस जाता है। इस रस में वह इतना सराबोर हो जाता है कि शहद में फँसी चिउँटी की तरह उसका हिलना डुलना कठिन हो जाता है और अंत में लड़खड़ाता हुआ वह पत्ती के निचले भाग में, जहाँ नालरहित ग्रंथियाँ अधिकता से होती हैं, आ गिरता है। इन ग्रंथियों का क्षारीय रस, जो गोंदीले रस के साथ नाइट्रोजनीय पदार्थ के स्पर्श से बहता है, कीड़े के अंगों से पौष्टिक पदार्थ—मांस, रुधिर, वसा आदि—जज़्ब कर लेता है।

इस विचित्र ढंग से ओसपर्णी न जाने कितने कीड़ों को फँसा-फँसाकर नष्ट करता रहता है। कहते हैं कि ओपोर्टो के पास-पड़ोस के बाशिंदे, जहाँ ओसपर्णी अधिकता से होता है, इसे मक्खी मारनेवाले काग़ज़ की तरह अपने दरवाज़ों पर लटका देते हैं, जिससे मक्खियाँ मर जाती हैं और वे उनके उपद्रव से बचे रहते हैं।

कुछ पौधे ऐसे हैं जिनमें ओसपर्णी की भाँति किसी हद तक कीड़े पकड़ने की क्षमता तो है पर न इनमें यह क्रिया ही इतनी कुशलता से होती है और न फँसे कीड़ों

चि० ४—घटपर्णी

यह उस समूह के कीटाशी पौधों में सबसे विख्यात है, जिनमें शिकार फँसाने के लिए तुँबी आदि विशेष प्रकार के कपट-पात्र होते हैं।

से नाइट्रोजनीय द्रव्य ग्रहण करने का विशेष साधन ही इनमें होता है। फिर भी इनमें फँसे जीवों की जान अवश्य चली जाती है। परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि ऐसे सभी पौधों को हम कीटाशी पौधे नहीं कह सकते। कीटाशी पौधों में जीव-जन्तुओं को एक न एक विशेष ढग से फँसाने की योग्यता और उनके मृत-पिंड से खाद्य रस ग्रहण करने की विशेषता रहती है। जिन पौधों में कीड़े फँसाने के रोम तो होते हैं पर उनसे खाद्य पदार्थ ग्रहण करने का सुभीता नहीं होता उनमें यह व्यापार अवाञ्छनीय पतिंगों को फूलों से अलग रखने का उपाय मात्र समझना चाहिए।

लाल भरंडा (*Jatropha gossypifolia*) (चि० २), जो अरंडी वर्ग का एक पौधा है, और हुरहुर (*Gynandropsis*) में लसलसे रोम पत्तों, टहनी और पुष्पनाल आदि पर होते हैं, जिनमें भुनगे, चिउँटियों या दूसरे छोटे-छोटे जीव फँस जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये कीटाशी प्रकृति के पौधे नहीं हैं और इनके लसलसे रोम हानिकारक कीड़ों को फूलों से परे रखने का साधन ही समझे जाते हैं, फिर भी जिन कीड़ों की इस तरह जान जाती है उनके अग वहीं सड़-गलकर जमीन में मिल जाते और किसी न किसी रीति से इन पौधों के काम अवश्य आते हैं।

२ कीटाशी पौधे जिनमें शिकार फँसाने की थैलियाँ, तूँबियाँ अथवा चोर-गड्ढे होते हैं

इस समूह के कीटाशी पौधों के अनेक उदाहरण हैं और अधिकतर लोग इन्हीं से परिचित भी हैं। इनमें धोखे धड़ी से कीड़े फँसाने के लिए विभिन्न प्रकार के कुंड, थैली, सुराही, तूँबी या दूसरे कपट-पात्र होते हैं, जिनमें शिकार अपने आप ही आ फँसता है, पर वहाँ से वापस नहीं जा पाता। पुटकी (Bladderwort) (चि० ३), घटपर्णी (*Nepenthes*) (चि० ४) पर्याणपर्णी (*Sarracenia*) (चि० ६) और कुम्भपर्णी (*Cephalotus*) (चि० ५) इनमें विख्यात पौधे हैं।

चि० ५—कुंभपर्णी

पुटकी पानी का पौधा है, जो ऋतु के अनुकूल पोखरों की पेंदी या सतह के कुछ नीचे तैरा करता है। इसमें जड़ें नहीं होतीं पर पत्तियाँ सूत्रवत् और अधिकता से होती हैं। पत्तियों के रूपान्तर से ही हज़ारों नन्हीं-नन्हीं सनाल थैलियाँ (चि० ७) बन जाती हैं। इन्हीं विचित्र थैलियों में फँस कीड़े जान गँवाते हैं।

पुटकी की कई जातियाँ हैं। बड़ी जातिवाली पुटकी की थैलियों का घेरा ५–७ मिलीमिटर और छोटी जातिवाली का २–७ मि० होता है। इनका रग पीलापन लिये पारदर्शी हरा होता है। थैली की पीठ थोड़ी बहुत उभड़ी हुई, बगलें चपटी तथा उदर फूला रहता है। थैली के ऊपरी सिरे पर सुई के छेद के समान मुँह होता है, जिससे मूँछ-जैसे नुकीले रोम निकले रहते हैं। उसके अन्दर ऊपर-नीचे दो होठों की तरह परदे होते हैं। निचला होंठ कुछ मोटा होता है तथा उस पर थैली के अन्दर की ओर को बढ़ी गद्दी-सी होती है और ऊपरी होंठ से एक झिल्ली-जैसा तिरछा परदा लटका करता है, जिससे थैली का मुख भीतर से ढका रहता है। पर्दा लचीला होता है और उसके ऊपर ६–८ तक लम्बे रोम होते हैं (चि० ७)। बाहर से दबाव पड़ने से पर्दा अन्दर को दब जाता है, जिससे थैली का मुँह खुल जाता है। पानी में तैरता हुआ कीड़ा जिस समय परदे से टकराता है, थैली का द्वार अन्दर को खुल जाता है और वह कीड़ा बिना प्रयास ही अन्दर खिसक आता है, परन्तु ज्योंही वह अन्दर दाखिल हुआ नहीं कि लचीला पर्दा पलटकर द्वार बद कर देता है। यह सारी क्रिया उसी प्रकार होती है जैसे चूहेदानी में चूहा फँसते समय। यथार्थ में इन थैलियों को कीड़ेदानी कहना अनुचित न होगा। बेचारा कीड़ा थैली के अन्दर न जाने किस मनदूरे से आया हो। सम्भव है, वह इन्हें दुश्मनों से बचाव का
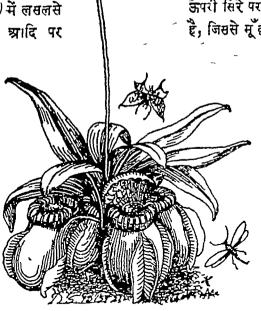
सुरक्षित स्थान समझकर आया हो। जिस समय वहाँ वह अपने सम्मुख निद्रित (मरे) और अर्धनिद्रित (अधमरे) अपने अन्य भाई-बन्धुओं को देखता है, तो उसकी उपर्युक्त कल्पना अवश्य ही दृढ़ हो जाती है और वह वहाँ सुखमय जीवन बिताने की धुन में थैली के अन्दर भ्रमण करने लगता है, परन्तु थोड़ी ही देर में जब उसका दम घुटने लगता है तब उसे अपनी भूल का पता चलता है। अब उसे यह स्थान छोड़ने की सूझती है और वह द्वार पर पहुँचकर परदा ठेल बाहर निकलना चाहता है, पर ऐसा होना असम्भव है। इस प्रयत्न में विफल हो अब वह क़ैदी इधर-उधर दौड़ता और बार-बार द्वार पर टक्कर मारता है, पर सब बेकार जाता है। इधर भूख और वायु की कमी से बेचारे की जान पर आ बनती है। अन्त में शिथिल हो अपने स्वजनों का साथ दे वह इस छोटी काल-कोठरी में शेष जीवन के लिए क़ैदी बन जाता है। अगर क़ैदी कमज़ोर हुआ तब तो एक दो दिन में ही वह प्राणों से हाथ धो बैठता है, परन्तु यदि कुछ हृष्ट-पुष्ट हुआ तो ६-७ दिन तक यंत्रणा भोगता रहता है। अन्त में ऐसे सभी क़ैदियों को प्राण छोड़ देना पड़ता है। वस्तुतः जो भी जीव पुटकी की थैली में आ फँसा वह सजीव वापस नहीं जा पाता। ऐसे कीड़ों की देह मरकर इन्हीं थैलियों के अन्दर सड़ जाती है। यह क्रिया कीटाणुओं के प्रभाव से होती है। थैली के अन्दर विशेष कोश होते हैं जो मृत जीवों से आर्गेनिक द्रव्य शोषण कर पौधे के अंगों में पहुँचाते हैं।

किसी किसी का मत है कि पुटकी की थैली के ऊपर-वाले रोम, जिनकी संख्या ६-८ तक होती है, उत्तेजनीय होते हैं और जिस समय कीड़े का अंग इनसे छू जाता है उस समय पर्दा अन्दर को दब जाता है, जिससे स्पर्श करनेवाला जीव पानी के साथ थैली के अन्दर खिंच आता है। यदि हम पुटकी के पौधे की जाँच करें तो इसमें हमको दो प्रकार की थैलियाँ मिलेंगी—एक पिचकी (चि० ८ अ) और दूसरी फूली हुई (चि० ८ ब)। पिचकी हुई थैलियों को क्षुधित थैलियाँ कहते हैं। क्षुधित दशा में ही पुटकी की थैलियों के रोम उत्तेजनीय होते हैं।

पुटकी की थैलियों में एक विशेष जाति के कीड़े (Crustaceans) अधिकता से फँसते हैं। प्रायः एक थैली में चौबीस पच्चीस या इससे
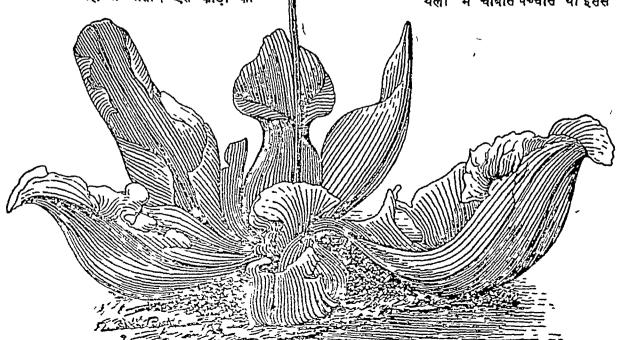
चि० ६—पर्यांणपर्णी—इसके भी चोर-गड्ढे पत्तियों के रूपान्तर से बनते हैं, जो विशेषतर पौधे के निचले भाग में होते हैं।

भी अधिक ऐसे जीवों के शव मिले हैं। यद्यपि ये कीड़े अत्यंत छोटे होते हैं फिर भी जिस पौधे में लाखों ऐसी थैलियाँ हों उसे इस ढंग से अवश्य ही बहुत-सा खाद्य आर्गेनिक द्रव्य मिल जाता होगा।

इस जाल के अन्दर कीड़े क्यों आ फँसते हैं, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। सम्भव है कि वे भोजन की खोज में या दुश्मनों से बचने के अभिप्राय से ही थैलियों में जा घुसते हों। थैली के मुँह पर कुछ बड़े बड़े रोम होते हैं, जो बड़ी जातिवाले कीड़ों को द्वार तक आने में बाधा पहुँचाते हैं। इस बात से दुश्मनों से पीड़ित कीड़ों के बचाव के लिए यहाँ पर आने के सिद्धान्त का भी समर्थन होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय बड़े जीव छोटे कीड़ों पर झपटते हैं उस समय वे भयभीत होकर जान बचाने के उद्देश्य से पुटकी की थैलियों में जा धँसते हैं। पुटकी की एक जाति के पौधे तर और नम जगहों में लिवरवर्ट्स (Liverworts) और मासेज़ (Mosses) के साथ भूमि या वृक्षों की शाखों तथा पेड़ पर भी उगते हैं। उनका भी कीड़े पकड़ने का यही ढंग है।

चि० ७—पुटकी की तूँबी

अ चि० ८ ब

(अ) सुषुप्तावस्था में पुटकी की थैली की लंबाई की ओर के कत्तल का मानचित्र, (ब) उसी थैली का ऐसा मानचित्र जिसमें पौधे के ऊपरी रोमों को जिस समय कीड़ा स्पर्श करता है और द्वार खुल जाता है वह अवस्था प्रदर्शित है।

पुटकी के ही संगी-साथियों में घटपर्णी (*Nepenthes*) और उसके भाई-बन्धु कुम्भपर्णी, पर्णपर्णी आदि हैं। इन पौधों में पत्तियों के रूपान्तर से तूँबियाँ या दूसरी ऐसी रचनाएँ बन जाती हैं, जिनमें कीड़े आ फँसते हैं। ये तूँबियाँ तरह-तरह की होती हैं। किसी कीटाशी पौधे में ये नालिकाकार (tubular), किसी में फनलाकार (funnel-shaped), किसी में सुराही-जैसी, किसी में कटोरी-जैसी और किसी में घटाकार होती हैं। कभी ये सीधी, कभी टेढ़ी-मेढ़ी, कभी हँसिये-जैसी और कभी मरोड़दार होती हैं। इतना अन्तर होने पर भी ये पत्रनाल का ही रूपान्तर समझी जाती हैं।

तूँबीवाले पौधों की पत्तियों के पत्रदल बहुधा छोटे होते हैं। किसी-किसी पौधे में तो ये तूँबियों के ढक्कन या दस्ते जैसे ही लगते हैं (चि० ६)। तूँबियों में प्रवेश करने के पहले पतिंगे इन्हीं पर आ बैठते हैं, मानों कुंड में छलाँग मारने के पूर्व उसकी गहराई आदि की जाँच कर रहे हों।

चोर गड्ढों के आकार आदि में अनेक भेद होने पर भी सबका ध्येय और कर्त्तव्य एक ही है। यह कर्त्तव्य है कीड़ों को फँसाना और उन्हें किसी-न-किसी प्रकार मारकर उनकी मृत देह से नाइट्रोजनीय द्रव्य का शोषण करना।

उपरोक्त प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए प्रत्येक जाति की तूँबिलता में तीन बातों का होना आवश्यक है—प्रथम पतिंगों या अन्य ऐसे जीवों को लुभाने का उपाय, दूसरे उन्हें किसी-न-किसी ढंग से फँसाने और तीसरे शिकार को मारकर हज़म करने की क्रिया।
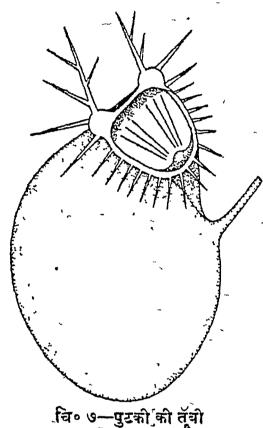
कीड़ों को फँसाने के साधन प्रायः वही सब होते हैं जो फूलों पर पतिंगों को खींच लाने के लिए होते हैं, अर्थात् मधु और चटकीले रंग। रंग तो दूर से ही मधुकोष की

सूचना देकर एक प्रकार से पतिंगों का पथ-प्रदर्शन भी करते हैं। मधु-ग्रंथियों का चोर गड्ढे से ऐसा संबंध रहता है कि मधु के लोभ में आया हुआ पतिंगा अवश्य ही चोर-गड्ढे में जा फँसता है। गड्ढे से बाहर निकलने में रोयें या दूसरी रचनायें बाधा पहुँचाती हैं। शिकार को सड़ाने-गलाने की क्रिया पर्णाण्यों में कीटाणुओं के प्रभाव से और घट-पर्णी में रसों द्वारा होती है। ये रस विशेषकर चोर-गड्ढों के निचले भाग के कोशों से आते हैं।

ध्येय तथा उद्देश्य में समानता होने पर भी तूंबियों में इतना अन्तर होता है कि इनकी यथार्थ दशा समझने के लिए अलग-अलग जाँच करना जरूरी है।

इन षड्यंत्री पौधों में प्राय घटपर्णी (*Nepenthes*) (चि० ४) सबसे अधिक विख्यात है। यह आरोही बेल अधिकतर भूमध्यरेखा के निकटवर्ती सघन वनों में होती है। न्यूकैलीडोनिया, न्यूगिनी, आस्ट्रेलिया, मैडागास्कर, फिलिप्पाइन द्वीप, कोचिनचाइना और भारतवर्ष के लंका द्वीप, बंगाल तथा आसाम के दलदली स्थानों पर नम वातावरण में इसकी कई जातियाँ उगती हैं। बीजोद्भव के कुछ समय पश्चात् तक, जब तक कि पौधा कुछ पुराना नहीं हो जाता, उसमें केवल साधारण पत्तियाँ ही निकलती हैं। ज्यों ज्यों पौधा पुराना होता है, इसमें असाधारण पत्तियाँ आना आरंभ हो जाती हैं। इन पत्तों के डंठल का निचला भाग चौड़ा और सपक्ष तथा दलवत् होता है। इसके ऊपर डोरा जैसा भाग होता है, जो डौंड़े का काम करता है और सिरे पर तूँबी होती है (चि० ४)। आरोही भाग के ऊपर होने के कारण ये तूंबियाँ अन्य झाड़ और पेड़ों की शाखों से, जिन पर बेल फैलती है, लटकी रहती हैं। तूंबियों के मुख पर ढकन जैसा भाग होता है, जो पत्रदल माना जाता है। जैसे-जैसे बेल छलड़ती है उसकी तूंबियाँ इधर-उधर लटकती जाती हैं।

चि० ६—एक जाति की घटपर्णी की तूँबी

दस्ते के सामान तूँबी के ऊपर का भाग पत्रदल है। तूँबी पर उभरी झालर के सहारे कीड़े सुगमता से द्वार तक आते हैं।

घटपर्णी की अधिकतर जातियों में तूंबियाँ ४-६ इंच के लगभग होती हैं, पर किसी-किसी जाति (*N Rajah* और *N Rafflesiana*) में ये एक हाथ तक लम्बी होती हैं। ऐसी तूंबियों के मुँह ७-८ अंगुल और पेट एक बालिश्त तक चौड़े होते हैं। इनमें कबूतर-जैसा पक्षी सुगमता से छिप सकता है!

प्राय तूंबियाँ और उनके ढकन भड़कदार और चटकीले होते हैं। इन पर अरगवानी तथा लाल धारियाँ और चित्तियाँ होती हैं, जिनसे फूल का भ्रम हो जाता है। आकार और रूप-रंग में ये बतखबेल के फूल-जैसी जान पड़ती हैं। तूंबियों के ढकन के भीतरी ओर अथवा उनकी कोर पर मधुग्रंथियाँ होती हैं जिनसे शहद बहा करता है। इसके लोभ से ही पतिंगे तूंबियों को घेरे रहते हैं। पतिंगे मधु के लिए तत्परता से तूँबी के अन्दर घुसते हैं; परंतु तूँबी के द्वार ढलवाँ होते हैं और वहाँ पर चिकनाहट और फिसलन होती है जिससे ये अनायास ही तूँबी के उदर में जा गिरते हैं। तूँबी के अन्दर एक तरल पदार्थ रहता है और वहाँ पहुँचते ही कीड़े उस रस में डूबने-उतराने लगते हैं। बहुतेरों के प्राण तो कुंड में एक डुबकी लगाते ही उड़ जाते हैं, पर कुछ साहसी जीव कुंड में तैरकर ऊपर चढ़ बाहर आने का प्रयत्न भी करते हैं। परन्तु इनका भी सारा परिश्रम विफल हो जाता है। एक तो तूँबी की दीवाल इतनी चिकनी होती है कि उस पर चढ़ना और रेंगना कठिन होता है, फिर अधिकतर जाति की घटपर्णी की तूंबियों के द्वार पर अन्दर को फैले कटिये-जैसे नीचे को झुके रोम होते हैं (चि० ४)। किसी-किसी तूंबिलता में तो ऐसे रोमों की दोहरी झालर होती है। इन कठिनाइयों को पारकर बाहर निकलना सरल नहीं है और तूँबी के अन्दर आया हुआ शिकार वहीं पड़ा-पड़ा सड़ जाता है।

तूँबी का रस, जो गुण में कुछ-कुछ क्षारीय होता है, विशेषकर उसके निचले भाग में विद्यमान ग्रंथियों से आता
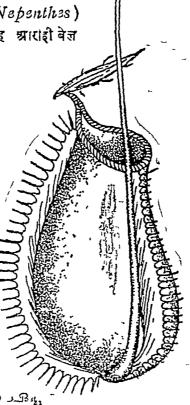
है। कहते हैं, जब तक तूँबी में जीव-जन्तु नहीं फँसते, यह रस धीरे-धीरे निचुड़ा करता है, पर जैसे ही कीड़े का शव वहाँ पहुँचता है, वह अधिक तेज़ी से बहने लगता है और उसमें अधिक क्षारत्व आ जाता है। अब इसमें रुधिर-मांस जैसे नाइट्रोजनीय द्रव्यों को हज़म और जज़्ब करने का गुण भी उत्पन्न हो जाता है। यथार्थ में इस रस में हमारे आमाशय के रसों जैसे गुण होते हैं। आर्गेनिक अम्लों के साथ इसमें पेप्सिन (Pepsin) भी मिला रहता है। इससे स्पष्ट है कि घटपर्णी की तूँबियों में कीड़े-मकोड़ों के हज़म होने में वही क्रियाएँ होती हैं जो हमारे उदर में भोजन पचने में होती हैं। इस रस के साथ इन तूँबियों में बरसाती जल भी भरा होता है। इस जल से प्रायः इन सघन वनों में भटकने, प्यास से पीड़ित मुसाफ़िरों के प्राणों की रक्षा हुई है।

कुम्भपर्णी *(Cephalotus)* (चि० ५) की एक जाति (*C. follicularis*) पूर्वी आस्ट्रेलिया में होती है। यह पौधा लगभग एक फुट ऊँचा होता है। इसमें भी दो भाँति की पत्तियाँ होती हैं, जो गुच्छे के रूप में पुष्पदंड के नीचे लगी रहती हैं। इसके चोर-गड्ढे केवल निचली पत्तियों में परिवर्तन से बनते हैं। इन चोर-गड्ढों में विशेष कर भूमि पर रेंगनेवाले कीड़े ही फँसते हैं। इसकी तूँबियाँ ज़मीन पर रक्खी रहती हैं। इनकी बाहरी ओर रोयेंदार रीढ़ें होती हैं, जिनके सहारे रेंगनेवाले कीड़े सुगमता से ऊपर चढ़ आते हैं। तूँबियाँ चित्र-विचित्र और रँगीली होती हैं और उनके अधखुले ढकन पर श्वेत चित्तियाँ और अरगवानी नसें फैली रहती हैं, जिससे इसे दूर से देखने से अवश्य ही फूल का भ्रम हो जाता है और उड़नेवाले कीड़े भी यहाँ शहद के लोभ से आ फँसते हैं। जिस समय ये मधुप्रेमी कीड़े तूँबी के निकट पहुँचते हैं वे इतनी जल्दी में होते हैं कि तूँबी के कपट-द्वार के अन्दर अवश्य ही घुस जाते हैं। इधर, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, तूँबी के अन्दर की दीवाल इतनी फिसलाऊ होती है कि एक बार अन्दर आया हुआ कीड़ा कहीं भी पैर नहीं जमा पाता और एकबारगी ही तूँबी के पेट में जा पड़ता है।

चि० १०—घटपर्णी की सुराही
सुराही में मरे और अधमरे कीड़ों के शरीर एकत्रित हैं, जिनसे वह लगभग एक तिहाई भर गई है।

घटपर्णी की भाँति कुम्भपर्णी की तूँबियों में भी जल भरा रहता है और प्राय पतिंगे इसी में डूबकर जान गँवा बैठते हैं। यदि वे इस जल से निकल भी पायें तो इनके बचाव की कोई सूरत नहीं है, क्योंकि ऐसी दशा में उनके सामने तीन बाधाएँ आ खड़ी होती हैं। पहले उन्हें एक गोल मींड़, जो तूँबी के अन्दर उभरी रहती है, पार करनी पड़ती हैं; तदनन्तर उन्हें दीवाल का वह भाग मिलता है जिस पर अन्दर को झुके छोटे परन्तु घने और तीक्ष्ण काँटे होते हैं, और अन्त में उन्हें शूल-सम काँटों से परिपूर्ण तूँबी की मुँडेर मिलती है। बेचारे कीड़ों का इन कठिनाइयों में से एक पर भी विजय पाना कठिन है। फिर जहाँ तीन-तीन ऐसी बाधाएँ हों वहाँ फँसे हुए जीव स कुशल बाहर कैसे आ सकते हैं। इस भाँति फंदे में फँसकर सैकड़ों जीव जान खो बैठते हैं, और उनके शव सड़-गलकर पौधे के काम आते हैं।

पर्याणपर्णी *(Sarracenia)* (चि० ६) के चोर-गड्ढे घटपर्णी और कुम्भपर्णी से भी विचित्र होते हैं। ये भी पत्तियों के रूपान्तर से बनते हैं। पत्तियाँ विशेषकर पौधे के निचले भाग में होती हैं और गुच्छों में चुनी रहती हैं। किसी किसी जाति की पर्याणपर्णी में पत्तियों के निचले भाग भूमि पर रक्खे रहते हैं और शेष भाग ऊपर को उठा रहता है। मध्य भाग में पत्ती थैली की तरह फूली रहती है और सिरे से कुछ नीचे, जहाँ चोर-गड्ढे का मुँह होता है, वह सिकुड़कर फिर फैल जाती है। इस तरह सबसे ऊपर छोटा-सा पत्रदल बन जाता है। यह पत्रदल मनोहर और पर्दे जैसा होता है और इसकी ऊपरी सतह पर मनोहर लाल नसें फैली रहती हैं। चोर-गड्ढे में बरसाती जल इकट्ठा हो जाता है। इस कपट-यान के मुँह पर ग्रंथि-रोम होते हैं, जिनसे मधुसम मीठा रस निरन्तर चोर-मुँह पर एकत्र होता है। मधु ग्रन्थियों के नीचे पत्ती का फिसलनवाला भाग रहता है। इसके नीचे सम्पुट की दीवाल पर नीचे को मुड़े काँटे-जैसे रोम होते हैं।

सम्पुट के नीचे जलभरा कुंड होता है। अब जरा विचार कीजिए कि इसमें शिकार कैसे आ फँसता है।

पर्याणपर्णी के पुष्प प्रायः मोहक होते हैं। चोर-पात्र के मुँह पर विद्यमान मधुग्रंथियों का रस कीड़ों को आकर्षित करता है। पतिंगे उड़कर और चिउँटियों जैसे रेंगनेवाले जीव रेंगकर वहाँ आ जमते हैं। पत्रदल की रंगीन धारियाँ पथप्रदर्शक बनकर दूर-दूर से कीड़े खींच लाती हैं। मधु की उमग में ये जीव कपट-द्वार से प्रवेश कर सम्पुट के अन्दर चोर-गड्ढे की ओर बढ़ते हैं और तुरन्त ही कपट-यन्त्र के फिसलाऊ भाग पर आ पहुँचते हैं और फलतः नीचे जा पड़ते हैं। अब ये बाहर आने के अनेक प्रयत्न करते हैं पर सम्पुट के उदरस्थ कँटीले रोम इन्हें ऊपर चढ़ने नहीं देते और अन्त में बेचारे थककर चोर-गड्ढे के निचले भाग में एकत्र जल में गिरकर जान खो बैठते हैं। यहाँ इनकी मृत देह जीवाणुओं (Bacteria) की सहायता से सड़ गलकर वहाँ सचित जल में घुल मिलकर एव शोषित हो पौधे के अंगों में जा पहुँचती है। शोषण चोर-गड्ढे के अधित्वक् के कोशों से होता है।

पर्याणपर्णी और घटपर्णी की तूंबियों में कभी-कभी तो इतने कीट पतिंगे इकट्ठे हो जाते हैं कि पौधे के आसपास कुछ दूर तक सड़ायँध आने लगती है। प्राय: इसके सम्पुट आधे से अधिक मृत कीड़ों से भर जाते हैं (चि० १०)। गंध पा इनके कुछ स्वजातीय कीट इकट्ठे हो इन्हें तत्परता से पर्याणपर्णी व घटपर्णी के फन्दे से छुटा अपने उदर-बीच स्थान दे जीवन मुक्त करते हैं। किसी-किसी जाति की पर्याणपर्णी में बरसाती जल के अलावा तूंबी के कोशों से क्षारीय रस भी आता रहता है। यह रस जहरीला तो नहीं होता पर कीड़ों को सड़ाने-गलाने में बड़ा काम देता है।

चित्र ११—परियाणपर्णी

परियाणपर्णी (*Darlingtonia*) (चित्र ११) के चोर-गड्ढे घुमावदार होते हैं। दूसरी बातों में यह पौधा भी पर्याणपर्णी के समान होता है। इसके चोर गड्ढों के घुमावदार होने के कारण काबू में आये पतिंगों का बाहर निकल आना और भी दूभर हो जाता है।

यद्यपि कीटाशी पौधों के चोर-गड्ढे अत्यन्त खतरनाक होते हैं और इनमें फँस करोड़ों कीड़ों की जान जाती है, फिर भी कुछ कीड़े ऐसे हैं जिन्होंने इन पर विजय प्राप्त कर 'चोर के घर छिछोर' की कहावत को चरितार्थ कर दिखाया है। इधर पौधे प्रपंच रच कीड़ों को फँसा भोजन जुटाते हैं, उधर ये पतिंगे धावा बोलकर उनकी अधम कमाई लूटते हैं। परियाणपर्णी और पर्याणपर्णी के चोर-गड्ढों में एक जाति की मक्खी स्वच्छन्द भाव से निश्शंक विचरा करती है। इसके पंजे विशेष प्रकार के होते हैं जिससे वह चोर गड्ढों की सारी कठिनाइयाँ अनायास ही पार कर इन दुर्गम तूंबियों के अन्दर फँसे कीड़ों को चट करती रहती है। परन्तु इतने से ही इसे सन्तोष नहीं होता और न केवल पेट भर लेना ही यह अपने जीवन का सर्वस्व समझती है। संसार में जितने भी प्राणी जन्मते हैं उन सबके सम्मुख अपनी सन्तान-वृद्धि का प्रश्न रहता है जिसे वे सब तरह से सुरक्षित और जीवन संग्राम में सफलीभूत होते देखना चाहते हैं। यही प्रश्न इस मक्खी के सामने भी रहता है। भला इससे सुन्दर और सुरक्षित स्थान, जहाँ भाँति-भाँति का शिकार अनायास ही आ टूटता है, उसे और कहाँ मिलेगा। अतः इन तूंबियों में यह सैकड़ों अण्डे भी ढेर कर देती है। समय पर अण्डों से भुँगे उत्पन्न होते हैं जो पतिंगों की मृत देह को मजे से चबाते हैं और अन्त में तूंबी की दीवाल में नक्ब लगाकर बाहर आ धमकते हैं। इस प्रकार यह विचित्र मक्खी इन तूंबियों में दूसरों की कमाई पर अपना गुजर-बसर करते हुए सुखमय जीवन व्यतीत करती है।
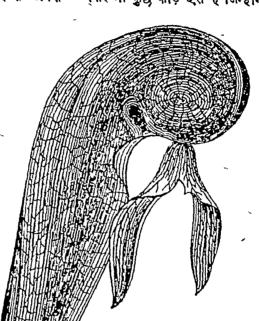
कच्छ के आखात में फ्लेमिंगो या हंसावर की बस्ती का एक सुंदर दृश्य

फ्लेमिंगो या हंसावर जल पक्षियों के उस विशिष्ट वर्ग का सदस्य है, जिसे हम बत्तखों और बगुलों की श्रेणियों के बीच रख सकते हैं। लंबी कमनीय गर्दन, हल्के श्वेत गुलाबी रंग के पंख और लंबी रक्तवर्ण टाँगोंवाला यह पक्षी पानी में तैर भी सकता है और चलता भी है। जिस समय यह अपनी गर्दन को घुमाकर अपने पंखों में छिपा एक ही पैर के बल पर छिछले पानी में निश्चल खड़ा रहता है तो ऐसा प्रतीत होता है मानों कोई बड़ा-सा कमल का फूल खिला हो। यह अंडे देने के लिए दलदलों के पास विचित्र प्रकार के गीली मिट्टी के छोटे छोटे ढूहनुमा घोंसले बनाता है, और ये ढूह एक ही स्थान में हज़ारों की तादाद में बने रहते हैं। प्रस्तुत चित्र बंबई के प्रिंस-ऑफ-वेल्स म्यूज़ियम में बनी हुई फ्लेमिंगों की एक कृत्रिम बस्ती का फ़ोटो है। [फ़ोटो—बाम्बे नेचरल हिस्ट्री सोसाइटी]

(दाहिनी ओर)

हमारे जलाशयों के किनारे का सुपरिचित शिकारी पक्षी—किलकिला—या कौडिल्ला

भारतीय तथा विदेशी पक्षी—(४)

कूजत कहुँ कलहंस, कहूँ मज्जत पारावत,
कहुँ कारण्डव उड़त, कहूँ जल कुक्कुट धावत,
चक्रवाक कहुँ बसत, कहूँ बक ध्यान लगावत,
सुक-पिक जल कहुँ पियत, कहूँ भ्रमरावलि गावत,
कहुँ तट पै नाचत मोर बहु रोर बिबिध पच्छी करत,
जल-पान न्हान करि सुख-भरे, तट शोभा सब जिय धरत।

—यमुना-छवि, भारतेंदु हरिश्चन्द्र

इस लेखमाला के विगत तीन लेखों में पक्षी-जगत् के मुख्य मुख्य पहलुओं और उसके कुछ उल्लेखनीय प्रतिनिधियों का परिचय आप पा चुके हैं। किन्तु अब तक हमारे विवरण में विशेषतर विदेश के पखेरुओं का ही जिक्र आया है, अपनी मातृभूमि के पक्षियों से परिचित होना अभी हमारे लिए बाकी है। वस्तुत भारतवर्ष के पक्षियों की जातियाँ इतनी अधिक हैं कि हजारों से उनकी गिनती लगाई जा सकती है। अतएव स्थानाभाव के कारण हम यहाँ उनमें से कुछ एक चुने हुए पक्षियों का ही उल्लेख करेंगे। भारतवर्ष के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इस देश में विशेष रूप से ऐसे पक्षियों का बाहुल्य है जो अपनी किसी ख़ास विशेषता के लिये अद्वितीय हैं। उदाहरण के लिए यही उस अनोखे पंछी साधारण कौए (*Corvus splendens*) की मुख्य आवासभूमि और आखेट की जगह है, जो सतर्कता, हाजिरदिमागी, निर्भीकता, चालाकी और धूर्तता में सारे पक्षी-जगत् में अपना सानी नहीं रखता। हम उसे पखेरुओं के संसार के चाणक्य या मैकियावेली (Machiavelli) की उपाधि दे सकते हैं। इसी के एक भाई बन्धु भुजगा नामक पक्षी (King-Crow or Black Drongo) का भी परिचय लवे-चौड़े विशेषणों द्वारा ही दिया जा सकता है—उसे हम निस्सकोच पक्षियों की दुनिया का 'काला नवाब' कह सकते हैं। यह पक्षी साहस की तो मानों साकार मूर्ति होता है—अभी तक किसी भी ऐसे परिन्दे का पता नहीं लगा है, जिससे यह महाशय भय खाते हों! हमारे देश के कुछ भागों में इसे प्राय. 'कोतवाल' के नाम से भी पुकारा जाता है—सो इसीलिए कि एक मध्यकालीन सूरमा की भाँति इस प्रकार इठलाते हुए यह यहाँ वहाँ घूमता रहता है मानो किसी पर अपनी बहादुरी के हाथ दिखाने का मौक़ा ढूंढ रहा हो। इसी तरह बाह्य सौन्दर्य और रूप रग के लिहाज से जब हम नजर दौड़ाते हैं तो रंग-बिरंगे परोंवाले मोर, नीलकंठ, सुनहली पीलक, किलकिला, शक्करख़ोरा, हुद-हुद, पतेना तथा उन्हीं जैसी न जाने कितनी चिड़ियाँ की तस्वीरें हमारी
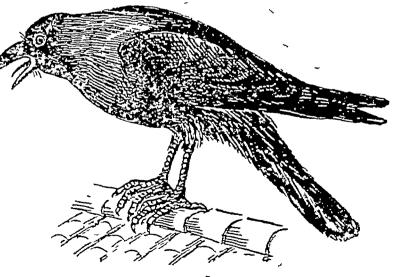
भारतीय कौआ
जो सतर्कता, निर्भीकता और चालाकी में पक्षियों में अपना सानी नहीं रखता!

सुंदरता की दृष्टि से भारतीय पक्षियों का शिरोमणि—मोर
दाहिनी ओर इस पक्षी की मादा है जिसको न तो इतने सुन्दर पंख ही प्रकृति ने दिए हैं न नृत्य करने की प्रेरणा ही।

उड़ान का जादू देखिए कि जब अपने बड़े बड़े डैनों को फैलाकर यह भद्दा पक्षी आकाश में ऊँचे मँड़राता है तो दूर से वह भी सुंदर ही लगता है! इन हद दर्जे के कुरूप तथा सुन्दर पक्षियों की चरम श्रेणियों के बीच हमें अपने देश में एक और वर्ग के पक्षी मिलते हैं जो भौंड़ेपन में अन्य सब चिड़ियों को मात करते हैं। सुप्रसिद्ध हार्नबिल या धनेश और एडजूटेंट स्टार्क या लग-लग, जिनका परिचय पिछले लेख में आपको मिल चुका है, इसी वर्ग के प्रतिनिधि हैं, जो किसी भी अनोखी नुमाइश में भौंड़ेपन के लिए इनाम पा सकते हैं। आइए, इन सभी वर्गों के दो चार नमूनों को लेकर विशिष्ट परिचय दें।

आँखों के आगे नाच सी जाती हैं। इनमें से कुछ तो देखने में इतने अधिक भड़कीले और चमक-दमकवाले होते हैं कि हम चाहें, या न चाहें किन्तु हमारा ध्यान बरबस उनकी ओर खिंच जाता है, तो दूसरे ऐसे झिलमिल रंग वाले होते हैं कि उनके सौन्दर्य्य का ज्ञान हमें तभी होता है जब हम हाथों में लेकर सूक्ष्म रूप से उनका निरीक्षण करते हैं।

यह तो हुआ भारतीय पक्षी-जगत् के चित्र का एक पहलू—उसके दूसरे छोर पर हम देखते हैं पखेरुओं में घिनौनेपन की पराकाष्ठा की उस साकार मूर्ति गिद्ध को, जो संसार का सबसे कुरूप पक्षी कहा जा सकता है तथा जो प्रकृति की दुनिया में मेहतर का काम करता है। उसकी आकृति कितनी भद्दी और लड़खड़ाकर चलने का उसका ढंग कैसा घृणास्पद-सा होता है! फिर भी

भारतीय पक्षी-जगत् के कुछ अत्यंत सुंदर सदस्य—मोर और उनकी जाति के पक्षी

अन्य उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों की भाँति भारत के भी अनेक पखेरू असाधारण रूप से भड़कीले और चमक-दमकवाले होते हैं। इनमें से कुछ सुन्दर चिड़ियों का परिचय आप इस लेख के साथ दिए गए विविध चित्रों में पा सकते हैं। इनके अतिरिक्त इस देश की और भी न जाने कितनी सुन्दर चिड़ियों के नाम कोई भी पक्षियों का प्रेमी आसानी से गिना सकता है। इनमें से अनेक नित्यप्रति अपनी रंग बिरंगी वेशभूषा और सुरीली बोलियों से हमारे देहात के वातावरण की शोभा बढ़ाते हुए खेतों पर काम करनेवाले सीधे-सादे ग्रामीण लोगों का श्रम हरते और उनके जीवन में मानों मिठास घोलते रहते हैं। मोर ही को लीजिए। कौन भारतवासी ऐसा होगा,

भारतीय पक्षी-जगत् के कुछ सुन्दर नमूने—(१)

(कृपया प्रत्येक पंक्ति में बाईं ओर से दाहिनी ओर को देखिए)
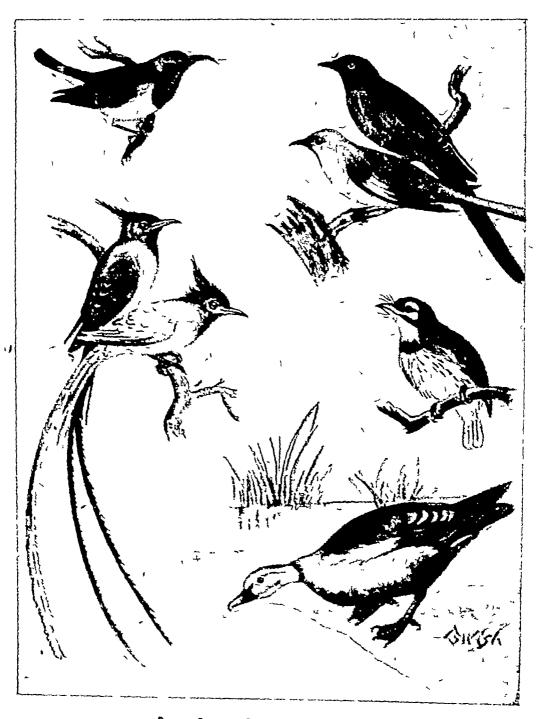
प्रथम पंक्ति—शकरखोर या लाल (Sunbird) लाल मुनिया—नर और मादा—(Scarlet Minivet) । द्वितीय पंक्ति—मछमरनी—नर और मादा—(Paradise Flycatcher), ठटेरा (Coppersmith) । तृतीय पंक्ति —चकवा या सुर्ख़ाब (Ruddy Sheldrake) ।
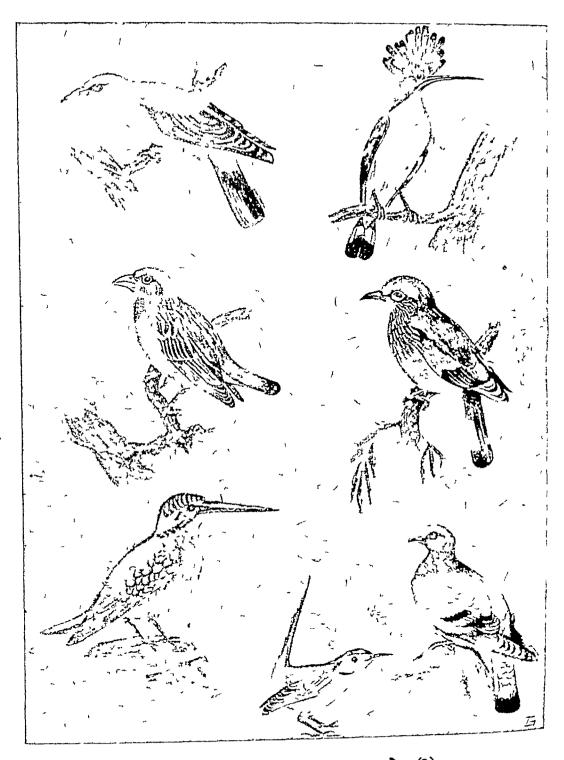
भारतीय पक्षी-जगत् के कुछ सुन्दर नमूने—(२)

(कृपया प्रत्येक पंक्ति में बाईं ओर से दाहिनी ओर को देखिए)

प्रथम पंक्ति—सुनहली पीलक (Golden Oriole), हुदहुद (Hoopoe)। द्वितीय पंक्ति—बया (Weaver bird) नीलकंठ (Roller or Blue Jay)। तृतीय पंक्ति—कौड़िल्ला (Kingfisher), जंगली कबूतर। चतुर्थ पंक्ति—पोदना (Tailor Bird)।

जिसके लिए यह एक अपरिचित पक्षी हो। कम से कम उसके लंबे सुन्दर पंखों को तो सभी ने देखा होगा, जो छोटे-छोटे पंखों, टोकरियों आदि को बनाने और सजावट के बीसियों अन्य कामों के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं। किसका मन उमड़-घुमड़कर आकाश में चढ़े हुए वर्षाकाल के बादलों के वितान के नीचे वन में थिरकते हुए मोर के मादक नृत्य का दृश्य देखकर मुग्ध न हुआ होगा? निश्चय ही उस दृश्य की गणना संसार के गिने-चुने मनोरम दृश्यों में की जा सकती है। कैसा जादूभरा वह दृश्य होता है, कैसा उल्लासजनक और मनोहर! जब मोर अपने चटकीले रंगवाले परों को एक विशाल पंखे की नाईं फैलाकर नाचता है तो उसकी दुम के लगभग पाँच फ़ीट लंबे वे अनोखे मोरछल अपने इन्द्रधनुष जैसे विविध रंगों और अनुपम चित्रकारी के कारण न केवल हमारी आँखों में चकाचौंध ही पैदा करते, प्रत्युत् जब उन्हें हवा में ऊपर उठाकर यह अद्भुत पक्षी अपनी प्रेयसी के सम्मुख इठलाता हुआ उन्हें झिलमिलाकर कँपाता है तो एक ऐसी छटा छा जाती है जिसका शब्दों द्वारा वर्णन करना असम्भव है। मोर के ये पंख जब फैले नहीं रहते तब भी बड़े ही कमनीय और मनोहर प्रतीत होते हैं। अपनी इस अद्वितीय दुम को पाकर गर्व करता हुआ जब वह चलता है तो उसके पर ज़मीन पर मानों झाड़ू सा लगाते जाते हैं। आपको जानकर अचरज होगा कि उसकी यह दुम हर साल गिर जाती है और पुनः उसके स्थान में नए पंख निकल आते हैं। उसके इस सौन्दर्य्य के अलावा मोर में शायद ही कोई और प्रशंसाजनक बात पायी जाती हो। स्वभाव से यह पक्षी बड़ा ही कुटिल होता है और प्रायः छेड़ने पर चोंच मार दिया करता है। उसकी बोली कितनी कर्कश होती है यह तो सभी जानते ही हैं, साथ ही विशेष रूप से साँप खाने की उसकी गंदी लत भी मशहूर ही है—किसी ने कहा ही है कि 'अहि कराल केकी भखै, मधुर अलापनि हारि।' सम्भवतः उसकी प्रेयसी (मोरनी) कभी कभी सोचती होगी कि इसका स्वभाव इतना चिड़चिड़ा न होता तो अच्छा था, चाहे इसके सौन्दर्य्य में कमी ही हो जाती। किन्तु जब मोर अपने अद्भुत परों को फैलाकर उसके सामने नृत्य करने लगता है तो वह इसके चिड़चिड़े स्वभाव की बात भूलकर इसके अनुपम सौन्दर्य्य से विस्मय विमुग्ध हो जाती है।

मोरनी न तो मोर की तरह विविध रंगों से सुशोभित होती है और न उसके पास वैसे शानदार लम्बे पर ही होते हैं। उसका बाह्य रूप-रंग सादा होता है और कदाचित् ऐसा होना उचित भी है क्योंकि उसी को अण्डों की देख-रेख करनी होती है। यदि उसका रंग भी उतना ही चटकीला होता तो अण्डों की चौकसी करना उसके लिए निरापद न हो सकता। 'उसकी आवाज़ भी मधुर तथा मंद होती है, जो प्रकृति में स्त्री-जाति की एक विशेषता है—' कम-से-कम उसके बारे में यह बात मोर के मुकाबले में तो कही जा सकती ही है जो प्रतिदिन प्रातः और संध्या को कर्णभेदी आवाज़ में चीखा करता है। अपने बच्चों के प्रति मोरनी के हृदय में प्रगाढ़ ममता होती है—उससे अधिक ममत्वपूर्ण माता का उदाहरण अन्यत्र शायद ही कहीं मिले। उसके नन्हें बच्चे जब पहलेपहल चलने योग्य होते हैं तो टेनिस की गेंद के आकार के होते हैं और उनकी लम्बी गर्दन के छोर पर पतली-सी ऊँची उठी हुई कलँगी

सारस

जो क़द में आदमी के क़रीब पहुँचता है।

पक्षियों की दुनिया में कुरूपता और घिनौनेपन की पराकाष्ठा—गिद्ध

फ्लेमिंगो या हंसावर

भारत के अन्य बड़े भड़कीले पक्षियों में फ्लेमिंगो (Flamingo) और सारस उल्लेखनीय हैं। फ्लेमिंगो अपने चमकीले गुलाबी तथा श्वेत रंग के परों, लम्बी लाल रंग की टाँगों, हद दर्जे की मुलायम और लचकदार गर्दन, तथा दन्दानेदार किनारेवाली मुड़ी हुई चोंच के लिए विख्यात है। एक लेखक ने इसकी दन्दानेदार चोंच की तुलना आलू कतरनेवाले आलूकस से की है। खाते समय यह अपने सिर को मोड़कर उलटा कर लेता है ताकि इसकी चोंच का उपरी भाग भूमि को छूता रहता है—इस प्रकार दलदल के कीचड़ सहित यह नन्हें नन्हें जीव-जन्तुओं को आसानी से चोंच में भर लेता है। चोंच के दबाने पर कीचड़ आदि तो उसके दन्दानेदार हाशियों में से छनकर बाहर निकल जाते और इस प्रकार साफ़ किये हुए घोंघे आदि जीव मुँह में रह जाते हैं, जिन्हें वह निगल जाता है। हंसावर अक्सर झीलों के किनारे देखे जा सकते हैं, किन्तु ये होते हैं बड़े सतर्क। जिस समय इनका समूह कीचड़ में शिकार ढूँढ़ने में व्यस्त रहता है, उनमें से एक पहरेदार का काम करता है और ख़तरे की आहट पाते ही विपद की सूचना देने के लिए ज़ोर से आवाज़ करता है, जिससे तुरन्त ही सारा झुण्ड पर फैला कर उड़ जाता है।

इन पक्षियों को एक टाँग पर खड़ा होना बड़ा प्रिय है। उस समय ये अपनी लम्बी गर्दन को उलटे मोड़कर परों के नरम लबादे से ढकी हुई पीठ में चोंच गड़ा लेते हैं और तब बड़ी बेफिक्री व आराम के साथ सुस्ताते रहते हैं। इनकी अत्यधिक लम्बी टाँगें केवल छिछले पानी में चलने के ही काम आती हैं, दौड़ने के लिए नहीं। फ्लेमिंगो बड़े अनोखे पक्षी होते हैं। ये अण्डे रखने के लिए गीली मिट्टी के विचित्र घोंसले बनाते हैं। कभी कभी ये हदनुमा घोंसले दो-दो हज़ार के झुण्ड में एक ही जगह बनाए जाते हैं। जिन दिनों ये पक्षी अपने इन मिट्टी के घोंसलों की नगरी में बसते हैं, उस समय वहाँ का दृश्य अतीव मनोरम होता है—बहुत कम भाग्यवान् व्यक्तियों को यह सुन्दर दृश्य देखने को मिलता है। आम जनता के लिए इस दृश्य को सुलभ करने के लिए बम्बई के प्रिन्स-आफ-वेल्स म्यूज़ियम

लगी होती है। किन्तु ये बढ़ते हैं बड़ी तेज रफ़्तार से, ऐसी तेज़ी से कि हम मानों इन्हें बढ़ते हुए अपनी आँखों से देख सकते हैं। कुछ ही दिनों में इनकी अजीब-सी भौंडी शक्ल बदल जाती है और माँ की तरह उनका भी शरीर सुडौल हो जाता है। विविध प्रकार के 'फीजेन्ट' (Pheasants) भी मोर की जाति के ही पक्षी हैं, और इनमें से अनेक तो विविध प्रकार के सुन्दर रंगों से विभूषित रहते हैं (जैसे Monaul Pheasant और Golden Pheasant)। लाल और भूरी वन-मुर्ग़ियाँ भी चटकीले रंगोंवाली होती हैं। मुर्गे की कुछ क़िस्में अपनी लम्बी दुम के लिए प्रसिद्ध हैं, जो कभी-कभी ६ फीट से भी अधिक लम्बी होती है। सच तो यह है कि दक्षिण अमेरिका और पश्चिमी द्वीप समूह के नन्हें सुरीली आवाज़वाले भनभनानेवाले पक्षियों और आस्ट्रेलिया, न्यूगिनी तथा पूर्वी द्वीप समूह के आश्चर्योत्पादक बड़े आकार के 'स्वर्ग के पक्षियों' (Birds of Paradise) के बाद सुन्दरता में मोर की जाति के 'फीजेन्ट' वर्ग के पक्षियों तथा उनके भाई-बन्धुओं का ही नम्बर आता है।

में पक्षियों के विभाग में बाम्बे नेचरल हिस्ट्री सोसाइटी ने इस प्रकार के अनेक घिरौंदों का एक नक़्ली नमूना बनाया है जिसकी तस्वीर इसी लेख के साथ (पृ० २३०४ पर) दी गई है। मैं आशा करता हूँ कि हमारे पाठकगण बम्बई जाने पर उस म्यूजियम में पक्षियों के सौन्दर्य के अन्य पहलुओं के साथ इस अनुपम दृश्य को देखना न भूलेंगे।

सारस

यद्यपि यह पक्षी अपने सौन्दर्य के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध नहीं है किन्तु अपनी जाति का यह सबसे ऊँचा पक्षी है—यह लगभग आदमी के क़द को पहुँचता है। देहातों में इधर उधर विचरता हुआ यह पक्षी हम अक्सर देखने को मिलता रहता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह अकेला शायद ही दिखाई देता हो, हमेशा इसका जोड़ा ही दिखाई देता है और प्राय. मैदानों में इसके संग इसके एकाध बच्चे भी घूमते रहते हैं। सारस के नर-मादा अपने दाम्पत्य प्रेम के लिए प्रसिद्ध हैं। सम्राट् जहाँगीर ने इन पक्षियों का विशेष अध्ययन किया था और वह इनके 'दाम्पत्य प्रेम से विशेष रूप से प्रभावित हुआ था।' उसने दो उदाहरण ऐसी मादा सारस के दिए हैं जो अपने जोड़े के मार डाले जाने पर स्वयं भी वियोग में घुल घुलकर मर गई थीं। साधारणत ऐसा ख्याल किया जाता है कि जब इनके जोड़े में से एक की मृत्यु हो जाती है तो दूसरा भी खाना-पीना छोड़ देता है और फलत अधिक दिनों तक वह जीवित नहीं रह पाता। विवाह के सूत्र में बँधे हुए दम्पति के लिए सारस एक अनुकरणीय आदर्श समझा जाता है। इसी कारण हिन्दुओं में यह पवित्र पक्षी माना जाता है और इसे किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचने दी जाती। सारस अपनी प्रणय लीला के लिए भी प्रसिद्ध है, जिसकी ऋतु वर्षाकाल है। यही उनके गर्भाधान का भी समय होता है। इसकी प्रणयक्रिया विचित्र और दर्शनीय होती है। उस समय नर-मादा दोनों उल्लास से भरे हुए एक-दूसरे के आस-पास उछलते हुए चक्कर लगाते हैं और अपने चौड़े पंख फैलाकर तथा गर्दन नीची करके हवा में ऊँची कुदानें भरते हैं। बीच बीच में अनुस्वारयुक्त स्वर में वे बड़े जोर से तुरही की-सी आवाज़ भी लगाते रहते हैं। उनके स्वर रज्जु बड़े शक्तिशाली होते हैं।

हुदहुद और नीलकंठ

हमारे यहाँ के सभी ग्रामीण तथा अधिकांश नगर निवासी इन दोनों पक्षियों और उनके चटकीले, मनोहर रंग से इतने अधिक परिचित होते हैं कि इनके बारे में विस्तारपूर्वक यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि

योरप का सबसे बड़ा शिकारी पक्षी—सुनहला उकाब
जिसे हम पक्षी-जगत के बाघ की उपमा दे सकते हैं। यह बहुत ऊँचाई पर घोंसला बनाता है। कहते हैं, यह भेड़ों तक को उस ऊँचाई तक उड़ा ले जाता है।

पक्षियों की दुनिया का मशहूर निशाचर— उल्लू

इन दोनों पक्षियों के रूप-रंग में अन्तर होता है, तथापि वास्तव में ये एक दूसरे के भाई-बन्धु ही हैं और एक ही श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं। हुदहुद (Hoopoe) की लम्बी चोंच पेड़ की छालों के अन्दर से कीड़े-मकोड़ों को ढूढ निकालने के लिए बहुत ही उपयुक्त होती है। यदि आपने इसे जीवित हालत में फुदकते हुए नहीं देखा है तो चित्र में इसका निरीक्षण कीजिए। देखिए, इसकी कलँगी कितनी शानदार है! बावजूद अपनी लम्बी और भयानक चोंच के यह एक शान्त प्रकृति की चिड़िया है।

नीलकंठ (Roller or Blue Jay) भी कीड़ों को नष्ट करने के दृष्टिकोण से एक उपयोगी चिड़िया है— 'नीलकंठ कीरा भखै, करै बधिक को काम।' यह पक्षी अच्छे सगुन का परिचायक है, किन्तु इसकी प्रकृति दुष्ट होती है। इसे पवित्र मानते हैं और भारत के कुछ भागों में इसे दुर्गा का आश्रित पक्षी मानकर उसकी पूजा भी करते हैं। बंगाल में इस पक्षी के सम्बन्ध में एक किम्वदन्ती प्रचलित है जो नीचे लिखे अनुसार है :—

'अपना पंख फैलाये हुए प्रथम आगन्तुक नीलकंठ एक ऊँचे वृक्ष की चोटी पर बैठा हुआ इतना सुन्दर दिखलाई दे रहा था कि उधर से गुजरते हुए एक यात्री ने उसे मार डाला और देवी दुर्गा के चरणों पर उसकी पूजा चढ़ा दी। देवी बहुत ही क्रुद्ध हुईं। भला उन्हें प्रसन्न करने के लिए इतने सुन्दर जीव की हत्या क्यों की गई! अतः तुरन्त ही उस मृत पक्षी के शरीर में प्राणों का सञ्चार कर उन्होंने उसे अपनी शरण में लेते हुए आशीर्वाद दिया कि 'जीवन के उल्लास से पूर्ण होकर तुम मेरे गुणगान करना।' तभी से नीलकंठ दुर्गा का प्रिय पक्षी होने के नाते पूजा जाने लगा। और आज तक सहवासकाल में जब वह प्रणयलीला में संलग्न होकर तरह तरह की केलि-क्रीड़ा करता है तो निरन्तर अपनी इष्टदेवी के नाम का उच्चारण करता रहता है। उसकी अतिशय चहचहाहट का यही रहस्य है।'

मछमरनी और कौड़िल्ला

कौड़िल्ला (Kingfisher) और मछमरनी (Paradise flycatcher) की अनेक जातियाँ होती हैं। चित्र में मछमरनी के नर और मादा दो पक्षी दिखलाए गए हैं। नर के पर चमकदार रेशम सरीखे श्वेत रंग के हैं, तुषार की भाँति निर्मल। उसकी दुम के बीचवाले दो पंख एक फुट की लम्बाई तक उल्टे मुड़े हुए रेशम की चँवर की तरह लटके हुए हैं। मादा मछमरनी का परिधान इस खूबी से वञ्चित होता है—इसका समूचा शरीर गहरे कत्थई रंग के पर से ढका होता है। हमारे बगीचे और खेतों की कीड़े पतिंगों से रक्षा करने में ये बहुत उपयोगी होते हैं और इस प्रकार मानव जाति का ये बड़ा उपकार करते हैं।

कौड़िल्ला या किलकिला भी हमारे देश में नदी तालाब और झीलों के किनारे आम तौर से पाया जाता है। इसकी भी अनेक उपजातियाँ होती हैं। चमकीले रंग वाला छोटा नीला किलकिला या मछरंगा हमारे ध्यान को विशेष रूप से आकर्षित करता है जब वह तीखे स्वर से 'चेरी' 'चेरी' की आवाज लगाता है। हम आश्चर्यचकित हो जाते हैं जब नीले मछरंगे को हम चुप्पी साधे हुए, नन्हीं मछलियों की टोह में एकटक ध्यान लगाए पानी से कुछ ही ऊपर एक ही स्थान में पर फैलाये, टकटकी बाँधे अपने आखेट साधते हुए देखते हैं; और तब अचानक अपनी ध्याना-

वस्थित मुद्रा छोड़कर वह पानी में फुर्ती से डुबकी लगाकर चोंच में शिकार दाबे हुए निकलता है या 'दाँव चूक जाने पर यूँ ही ख़ाली वापस आता है। इसकी फुर्ती को देखकर गोताख़ोर वायुयान भी लज्जित रह जायँगे। साधारण किलकिला प्रायः पुरानी दुनिया में सब कहीं पाया जाता है। मध्यम आकार का सफ़ेद सीनेवाला किलकिला एशिया माइनर से लेकर भारत और दक्षिणी चीन तक के प्रदेशों में पाया जाता है। इन पक्षियों के सम्बन्ध में यह एक बड़ी रोचक बात है कि ये मछलियों को इनके सिरे के बल निगलते हैं ताकि मछली के काँटे उनके गले में लग नहीं, क्योंकि इन काँटों का सिरा मछली की दुम की ओर निकला होता है। किन्तु जब किलकिला मछली को अपने बच्चों को खिलाने के लिए ले जाता है तो उस समय उसे वह दुम के बल पकड़ता है ताकि बच्चे जब उसे निगलें तो उसके काँटे उलटे पड़कर उनके गले में न अटकें। क्या इससे इन पक्षियों की बुद्धिमानी नहीं प्रकट होती?

पीलक और पतेने

सुनहली पीलक बड़ी सुन्दर चिड़ियाँ होती हैं। ये अपने चमकीले पीले और काले रंग के परों की छटा से हमारे बाग़-बग़ीचे और हरे खेतों की शोभा बढ़ाती हैं। यही पतेनों के सबंध में भी कहा जा सकता है, जो चटकीले आसमानी, हरे तथा लाल रंग की अपनी पंखमाला से हमारे देहात की शोभा में वृद्धि करते हैं। कीड़े-मकोड़ों को नष्ट करने के लिए ये भी विख्यात हैं। इनकी विचित्र कुहुक, चटकीले रंग तथा जोड़े से अलग होने पर अजीब बेचैनी और उदासी इनकी ख़ास विशेषताएँ हैं। जब जोड़े साथ रहते हैं तो ये बड़े ख़ुशदिल दीखते हैं। सुनहली पीलक 'आम्र पक्षी' के नाम से भी जानी जाती है, और इनकी मधुर आवाज़ से इन्हें आसानी से पहचाना जा सकता है। नर पक्षी की आँखें चमकीली सुर्ख़ और मादा की भूरी होती हैं।

कठफोड़े और शक्करख़ोर

अन्त में हम इस देश के सुन्दर पक्षियों की तालिका के अन्तिम छोर पर कठफोड़े (Woodpeckers) और शक्करख़ोर (Sunbirds) को पाते हैं। आपने इन सुन्दर पक्षियों को अनेक बार देखा होगा, और आप यह भी जानते होंगे कि सुनहले चोंच वाली यह चिड़िया जिसकी पीठ पर रंग बिरंगे धब्बे रहते हैं, कठफोड़ा क्यों कहलाती है। अपनी मजबूत चोंच से वृक्षों की कड़ी छाल पर ज़ोर की ठोकरें मारकर यह उनके अन्दर छिपे हुए कीड़े-मकोड़ों और उनके भुनगों को निकाल लेती है, इसीलिए इसे यह नाम मिला है। सौन्दर्य्य में कठफोड़ों को भी मात करनेवाले गहरे लाल, पीले, जामुनियाँ और चटकीले रंग की चित्तियोंवाले शक्करख़ोर नामक पक्षी, जो नगीनों जैसे चमचमाते हैं, अक्सर हमारे बग़ीचों के पौधों पर बैठे हुए फूलों तथा उन पर आनेवाले कीड़े पतिंगों को खाते दिखाई देते हैं।

कुरूप पक्षी

सुन्दरतम पक्षियों की झाँकी देखने के बाद, आइए, अब हम कुरूप पक्षियों का अवलोकन करें। यों तो संसार का सबसे कुरूप पक्षी ग़लीज मांस खानेवाला गिद्ध है, किन्तु गिद्ध के साथ साथ हम चील, उल्लू और कौए का भी उल्लेख करेंगे जो इसी कोटि में रक्खे जा सकते हैं।

गिद्ध और चील

प्रकृति की दुनिया में मेहतर का काम करनेवाला गिद्ध अपनी मनहूस पीली चोंच, अनावृत्त चेहरे और टाँगों तथा गन्दे मटमैले सफ़ेद डैनों (जिनके केवल छोर काले

कौओं द्वारा अपने अंडों की देखभाल तथा बच्चों का पालन करानेवाली कोयल

होते हैं) की सहायता से अपनी जाति के अन्य पक्षियों में आसानी से पहचाना जा सकता है। आदमियों से यह बहुत कम डरता है। हमारे देश में सब कोई इससे परिचित हैं—यह हमारे यहाँ मेहतर का काम बखूबी करता है। दूर से ही अपनी पैनी दृष्टि और कदाचित् तीव्र घ्राण-शक्ति की सहायता से यह मुर्दे का पता लगा लेता है। साहित्य में यह अपनी पैनी दृष्टि के लिए प्रसिद्ध है— "मैं देखौं तुम नाहिं, गिद्धहिं दृष्टि अपार।" बस्ती के जानवरों के मृत शरीर तथा गलीज मांस को खाकर यह गन्दगी दूर करता है। इसी कारण प्रत्येक म्यूनिसिपालिटी में इसे मारना कानून की दृष्टि से वर्जित है। इस आज्ञा का उल्लंघन करनेवाले को जुर्माना देना पड़ता है।

गिद्ध की भी अनेक उपजातियाँ हैं। राजगिद्ध को हम उसके विस्तृत रूप से फैले हुए विशाल डैने, लाल सिर, गर्दन तथा टाँगों और जंघों के सफ़ेद धब्बों से पहचान सकते हैं सफेद पीठवाला गिद्ध सबसे बड़े आकार के गिद्धों में से है। बम्बई में पारसियों के क़ब्रस्तान में (जहाँ उनके शव रखे जाते हैं) ये बहुतेरे बैठे पाये जाते हैं।

कुरूप पक्षियों में चील की भी गिनती होती है। यह समस्त भारत में पायी जाती है और भूरे रंग की बहुत बड़े आकार की चिड़िया होती है, जिसकी दुम फटी सी रहती है। यह बड़ी ढीठ चिड़िया होती है और प्राय बाज़ार में बेख़बर व्यक्तियों के हाथ से खाने की चीज़ें और टोकरियाँ झपट्टा मारकर ले जाती है। इसकी झपट प्रसिद्ध है।

चील और गिद्ध ज़बर्दस्त उड़ाके होते हैं और प्राय. आकाश में बादलों के बीच प्रात और संध्या को ऊँचे मँडराते हुए देखे जा सकते हैं। इनके घोंसलों में कोई ख़ास विशेषता नहीं होती। ये ऊँचे वृक्षों पर सूखी टहनियों को रखकर बनाये गये होते हैं।

उक़ाब और बाज़

उक़ाब (Eagle) और बाज़ (Hawk) गिद्ध जैसे कुरूप तो नहीं किन्तु स्वभाव में उनसे कहीं अधिक हिंसक होते हैं। ये अन्य चिड़ियों का शिकार करने के लिए प्रसिद्ध हैं। इनमें से कुछ खेतों के चूहों आदि को नष्ट करने के लिए विशेष उपयोगी होते हैं, जिसका जिक्र हम 'विश्व-भारती' के पिछले किसी अंक में कर चुके हैं। लम्बी टाँगों वाला बज़ार्ड या टीसा (Buzzard) केवल जाड़ों की ऋतु में भारत में आता है। लोंदे की तरह भद्दी शक्ल के इस पक्षी का रंग हलके पीले भूरे रंग से लेकर एकदम काला तक हो सकता है। इसकी दुम विशेष रूप से गोल गावदुम होती है और नीचे से देखने पर इसके डैने पारदर्शक दीखते हैं। कलँगीदार बज़ार्ड के चेहरे पर मछली के चोंइटे की तरह हलके पर होते हैं तथा इसकी टाँगें भी आधी दूर तक परों से ढकी होती हैं। नारंगी रंग के उक़ाब (Tawny Eagle) का सिर चिपटा और डरावना होता है।

इनके अतिरिक्त शिकार की टोह में झपट्टा मारने के लिए आसमान में उड़नेवाली चिड़ियों में बाज की जाति के उन विविध पक्षियों की गणना है, जिनमें अबाबील का शिकार करनेवाले 'शिकरा' से हम अधिक परिचित हैं। सिखाने पर यह आसानी के साथ अपने स्वामी के लिए तीतर और बटेर तथा छोटी जाति के अन्य पक्षियों को पकड़ ले आता है। एक पालतू शिकरे ने तो वास्तव में अपने पिंजड़े से निकलकर एक बार बन्दूक से दगी गोली तक को पकड़ लिया था! यह भूरे रंग का पक्षी लगभग १२ इंच लम्बा होता है। इसकी दुम पर नटकीली धारी पट्टियाँ होती हैं तथा इसकी पिलौंही आँखें भयोत्पादक होती हैं।

आकार में शिकरा से कुछ बड़े 'हेरियर' (Harrier) बाज़ होते हैं। इनमें साधारण हेरियर पीले रंग का होता है। सुबुक-बदन, भूरे-सफ़ेद रंग का यह पक्षी लगभग १८ इंच लम्बा होता है। इसके डैनों की शक्ल बहुत कुछ अबाबील के डैनों की तरह होती है और इसकी दुम लम्बी तथा पतली होती है। अपने उड़ने के विचित्र तरीक़े से, जो उतना तेज नहीं होता, यह पहचाना जा सकता है। पहले तो कुछ दूर दो-चार गज तक वह अपने पंख हुलाता है, फिर उन्हें निश्चल तानकर बेमन-सा मँडराता रहता है और फिर उन्हें दो चार बार फड़फड़ा देता है। यह कबूतरों और फ़ाख्ता का जानी दुश्मन है।

उक़ाब, जो भेड़ों तक को उड़ा ले जाते हैं!

भारतवर्ष से बाहर कुछ बहुत बड़े आकार के उक़ाबों की जातियाँ पाई जाती हैं, जिनमें सबसे प्रसिद्ध 'सुनहला उक़ाब' (Golden Eagle) है, जिसका एक चित्र पृष्ठ २३०६ पर इस लेख के साथ दिया गया है। देखने में वह ऐसा मालूम देता है मानों कोई बड़ी-सी चील हो। यह योरप और इंगलैण्ड का सबसे बड़ा शिकारी पक्षी है और उम्र के लिहाज से सबसे अधिक आयु पानेवाले पक्षियों में से एक है। चित्र में उसकी तीक्ष्णभेदी आँखों और बड़ी सी नुकीली चोंच पर ध्यान दीजिए। देखते ही

हमारे देश में सबसे अधिक पाला जानेवाला बुद्धिमान और सुन्दर पक्षी--तोता

आपको उसकी शक्ति का कुछ अंदाज़ हो जाता है। यह कितना ताक़तवर पक्षी होता है, इसकी एक झलक आप एक दर्शक द्वारा दिए गए निम्न आँखों-देखे विवरण में पा सकते हैं—"ऊँचे आसमान में एक उक़ाब मँडरा रहा था—वह लगातार चक्कर लगाते हुए निरंतर ऊँचे उठता चला जा रहा था। तब एकाएक उसकी दृष्टि नीचे-ज़मीन पर खेतों में विचरते हुए एक मेमने पर पड़ी—तुरन्त ही सर्राटे से नीचे उतरना उसने शुरू किया और झपटकर अपने अँकुए जैसे पंजों में उस बेचारे असहाय जानवर को पकड़ बात की बात में ऊपर उड़ा ले गया। वहाँ पर्वत की ऊँची चोटी पर अपने घोंसले में अंडों पर बैठी उसकी साथिन—मादा उक़ाब—मानों उसकी राह देख रही थी। दोनों ने तुरत ही शिकार का सफ़ाया कर दिया।" यह एक उल्लेखनीय बात है कि सभी उक़ाबों की यह आदत होती है कि जब वे अपने शिकार को खाते हैं तो उसे पंख फैलाकर छिपाए रहते हैं। सुनहला उक़ाब इतना भयंकर और निर्भीक शिकारी होता है कि एक बार एक उक़ाब के घोंसले में क़रीब ३०० बत्तखों और ५० ख़रगोशों की हड्डियों की ठठरियों के अलावा कई भेड़ों के भी अस्थिपंजर मिले थे। यह पक्षी बेहद दूरी से अपने शिकार की टोह लगा लेता है और इसके द्वारा मनुष्य के बच्चों तक को उठा ले जाने के जो क़िस्से सुनने को मिलते हैं, वे एकदम गप्पें नहीं हैं।

बड़ा समुद्री उक़ाब भी लगभग उतने ही बड़े आकार का तथा उतना ही शक्तिशाली होता है जितना कि सुनहला उक़ाब। यह लगभग अपने ही वजन के मेमने तक को उड़ा ले जा सकता है। उष्ण कटिबन्धों के निवासी छोटी दुमवाले उक़ाब की चोंच बड़ी ज़बर्दस्त होती है। कहते हैं कि वह छोटे-छोटे वानरों का शिकार कर अपना भरण-पोषण किया करता है। सम्भवत यही हमारे पुराणों और रामायण में उल्लिखित गरुड़ पक्षी हो।
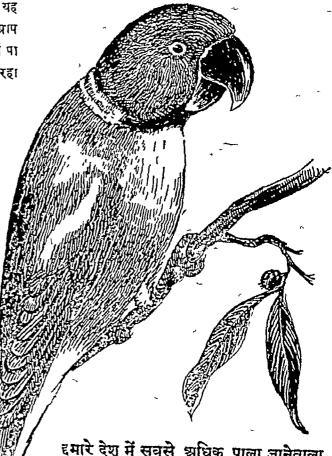
विविध जाति के उल्लू

कुरूप पक्षियों की श्रेणी में उल्लू की विविध जातियों का भी उल्लेख किया जा सकता है। यह एक निशाचर पक्षी है और हमारे देश में यह मनहूस और भयानक माना जाता है, यद्यपि हिन्दुओं द्वारा वह लक्ष्मी का वाहन स्वीकार किया गया है। हाँ, मन्त्र-तन्त्र और जादू टोने के लिए यह उपयोगी गिना जाता है और कुछ रोगों में उसके पंजे, पंख अथवा चोंच आदि के हिस्से तावीज़ की तरह बाँधे जाते हैं। हमारे यहाँ इस पक्षी की जो जातियाँ मिलती हैं, उनमें साधारण बड़ा उल्लू (Barn Owl) सर्वविदित है, जो प्राय दिन में कहीं नदी-किनारे के खोखलों में छिपा रहता है और रात को चुपके से चुहियों या छोटी-छोटी चिड़ियों के शिकार की टोह में निकलता है।

साधारण कौआ

आइए, अब हम भारत के साधारण श्रेणी के पक्षियों

का अध्ययन करें और सबसे पहले अपने चिरपरिचित कौए ही को लें।

कौए संसार के सबसे सफल पक्षियों में गिने जा सकते हैं, क्योंकि बावजूद इस बात के कि इनकी रक्षा के लिए किसी देश में क़ानून नहीं हैं तथा इनकी आदतें इतनी गन्दी हैं, ये संसार के कोने-कोने में फैले पाये जाते हैं। अमेरिका में, जहाँ निरन्तर इनको नेस्तनाबूद करने के लिए सार्वदेशिक आन्दोलन-सा चलता रहा है, इनकी संख्या प्रति वर्ष बढती ही जा रही है। यह पक्षी साल के बारहो महीने बना रहता है और सुबह जो पहला शब्द हमारे कानों में पड़ता है वह प्रायः कौए का ही शब्द होता है। ये किसी को भी प्रिय नहीं लगते, फिर भी क्या छत पर और क्या दीवालों पर हर कहीं इन्हें आप मौजूद पायेंगे। इधर उधर बिखरे हुए जूठन तथा बच्चों की फेंकी हुई खाने की चीज़ों को ये झट उठाकर ले जाते हैं। इनके खाने के लिए यदि सहन में कोई चीज फेंक दी जाय तो ये बहुत बड़ी संख्या में इकट्ठे हो जाते हैं और खूब काँव-काँव मचाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि ये आपस में बातचीत भी कर लेते हैं। जो कुछ भी हो, कम से कम इसमें तो सन्देह नहीं कि एक-दूसरे के कर्कश स्वर के संकेतों को ये समझते हैं और संकट-काल में उनके अनुसार तुरन्त ही काम भी करते हैं। इस सम्बन्ध में मुझे एक घटना की याद आती है। हमारे एक रीसर्च स्कॉलर के अध्ययन के लिए कुछ कौओं की आवश्यकता थी, अतः प्रयागशाला के चपरासी को आदेश दिया गया कि वह प्रतिदिन कुछ कौए मारकर ले आए। कुछ दिनों बाद आसपास के कौए अपने इस शिकारी को इतनी अच्छी तरह पहचान गए कि विश्वविद्यालय के हाते में घुसने के पहले ही कौए उसे देखकर सतर्क हो जाते, और उसके सिर के ऊपर उड़ते हुए काँव-काँव करके उस हाते के अन्य कौओं को तुरन्त आनेवाली विपदा की सूचना दे देते। जब कौओं का शिकार करना बन्द हो गया, तब भी कई दिनों बाद तक कौओं की यह हरकत जारी रही।

खेत में पकते हुए अनाज को कौए ऐसा समझते हैं मानों वह इन्हीं के लिए बोया गया हो। किन्तु वास्तव में अनाज का उनके खाद्य पदार्थों की तालिका में नगण्य-सा स्थान है। वस्तुतः कौओं के खाद्य पदार्थों की सूची बहुत लम्बी है। यद्यपि यह एक ढीठ पक्षी है, किन्तु गलीज़ चीज़ें खाकर मेहतर का काम करने तथा अनेक हानिकारक कीड़े मकोड़ों को नष्ट करने के कारण उपयोगी होता है। टिड्डी दल जब हमारे अनाज से भरे हुए खेतों पर उतरता है तो ये स्वयं सेवक सैनिकों की भाँति चील आदि अन्य पक्षियों के साथ टिड्डियों को नष्ट करने में कृषक की सहायता करते हैं। अपने पंजों में टिड्डियों को पकड़कर ये हवा में उड़ जाते हैं और वहाँ उन्हें निगल जाते हैं—यह क्रिया उस वक्त तक जारी रहती है जब तक कि उनके पेट में ज़रा-सी भी जगह खाली रहती है। ये सर्वभक्षी होते हैं और एक कुशल गृहपत्नी की भाँति जो कुछ भी मौसम के अनुसार लभ्य होता है उसी पर अपना जीवन-निर्वाह कर लेते हैं। खेत के अनाज की अपेक्षा कौआ कूड़े-कर्कट को अधिक पसन्द करता है—इसी कारण इसकी गिनती गन्दे पक्षियों में होती है। इसको चाहे कितनी देखरेख में रक्खा जाय फिर भी यह अपनी गन्दी आदत नहीं छोड़ता। कहा ही है कि 'वायस पालिय अति अनुरागा, होइ निरामिष कबहु कि कागा?'

साधारण कौओं की दो जातियाँ होती हैं—एक घरेलू कौआ और दूसरा जंगली। घरेलू कौए की गर्दन और सीने का रंग भूरा होता है किन्तु जंगली कौए का समूचा शरीर काला होता है। तथाकथित राज कौआ या भुजंगा (King Crow) कौए की जाति का पक्षी नहीं होता, वह ड्रोंगो (Drongo) नामक वर्ग का सदस्य होता है। कद में लम्बा और फटी पूँछवाला यह शानदार पक्षी अत्यन्त निडर होता है और घोंसले की रक्षा के निमित्त आक्रमण करने में ज़रा भी नहीं हिचकता। यह अन्य किसी भी पक्षी से भिड़ जायगा चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो। जिस वक्त शाम को अपने भोजन के लिए यह उड़ते हुए पतिंगों को पकड़ता है उस समय की इसकी उड़ान देखने ही योग्य होती है।

मदमाती किन्तु आलसी कोयल

फागुन-चैत के महीनों में हम सदैव कोयल की कूक की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करते हैं। छोटे-छोटे बच्चे इसकी कूक की नकल करते हैं और अक्सर कोयल उनकी आवाज़ का जवाब भी देती है। यह आम की ऋतु के आगमन की सूचना देती है और जिन दिनों हमारा भण्डार भरा रहता है उन दिनों यह हमारे साथ रहती है—इसी कारण देहातों में इसका सर्वत्र स्वागत होता है। अगहन और माघ के कटकटाते जाड़े में या तो यह चुप हो जाती है या अन्य प्रदेशों को चली जाती है। कहा ही है कि—

तुलसी पावस के समै, धरी कोकिला मौन।
अब तो दादुर बोलिहैं, हमैं पूछिहै कौन॥

कोयल साधारणत अपनी कूक द्वारा ही पहचानी जाती है। बहुत कम लोग इसके शरीर का वर्णन ठीक-ठीक कर सकते हैं। साधारणत. पायी जानेवाली कोयल एक बड़े आकार की भूरे-काले-रंग की चिड़िया होती है। इसकी दुम पर सफेद धब्बे और सीने पर बाज की तरह आड़ी सफ़ेद रेखाएँ होती हैं। मादा कोयल हलके भूरे रंग की होती है और इसके शरीर पर कुछ चित्तियाँ भी होती हैं। भारत में यह बात मशहूर है कि कोयल के अण्डे को कौआ सेता है। निम्नलिखित वर्णन से प्रकट होगा कि किस प्रकार कोयल कौए तथा अन्य पक्षियों को मूर्ख बनाकर अपना काम निकालती है—कुछ लोग इसे बहुत कुछ अत्युक्तिपूर्ण और अनैसर्गिक भी बतलाते हैं। कोयल अपना घोंसला कभी नहीं बनाती इस बात में यह तमाम चिड़ियों से अनोखी है। साथ ही इस चिड़िया की एक विशेषता यह भी है कि यह बहुत ही लम्बी अवधियों के बाद अपने अण्डे दिया करती है। कोयल के आकार को देखते हुए इसका अण्डा छोटा होता है। मादा कोयल के कई पति होते हैं, क्योंकि नर कोयल की संख्या मादा की अपेक्षा बहुत अधिक है।

अनुकूल ऋतु में कोयल के आगमन के समय तक कौए, दँहगल (Magpies) और इस जाति के अन्य पक्षी अपने घोंसले बनाने में व्यस्त होते हैं। अतः यह चालाक चिड़िया सोचती है कि जब बने बनाए घोंसले तैयार हैं तो अपने लिए अलग से घोंसला बनाने का श्रम क्यों किया जाय? अत मादा कोयल अपना अण्डा जमीन पर देकर उसे चोंच में उठा कौए, दँहगल या खंजन आदि किसी पक्षी के घोंसले में, जो अपने बच्चों के पालन पोषण के लिए उन्हें कीड़े मकोड़े खिलाते हैं और जिनके अण्डे बहुत कुछ कोयल के अण्डे सरीखे होते हैं, डाल आती है। कभी-कभी अन्य पक्षियों की दृष्टि बचाकर यह दूसरों के घोंसले में ही जाकर अण्डे दे आती है। इसे इस बात का इत्मीनान रहता है कि उसके नवजात बच्चे की देखरेख सन्तोषजनक रीति से की जायगी। घोंसले में पहुँचा आने के बाद आलसी कोयल अपने बच्चे के लिए कुछ भी नहीं करती।

एक निरीक्षक लिखता है कि जब कोयल के अण्डे देने का अवसर आता है, और मादा कौआ अपने घोंसले में अण्डा दे चुकी होती है, तो सन्ध्या के झुरपुटे में नर कोयल कौओं के घोंसले पर जाकर किसी कौए से, जो रात के बसेरे के लिए अपने घोंसले में विश्राम करता होता है, अनायास ही झगड़ा मोल लेता है, और उस समय मादा कोयल पास ही आड़ में छिपी रहती है। इस बीच कौए और नर कोयल में खूब ज़ोर-शोर की लड़ाई होती है और इस बहाने नर कोयल कौए को घोंसले से दूर ले जाता है। मैदान खाली होते ही कोयल चुपके से तीर की भाँति कौए के घोंसले की ओर दौड़ती है और वहाँ अण्डा दे आती है। और यदि अण्डा पहले ही दे चुकी होती है तो उसे चोंच से उठाकर वहाँ रख आती है। तदनतर धीरे-धीरे 'कूक्, कूक्' की आवाज़ करती हुई वापस लौट जाती है ताकि नर कोयल को सूचना मिल जाय कि काम पूरा हो गया।

ज्योंही अण्डा घोंसले के अन्दर पहुँचा त्योंही नर कोयल अपने छद्म युद्ध को छोड़कर अलग उड़ जाता है। जल्दी-जल्दी मादा कौआ उड़कर अपने घोंसले में पहुँ-

हमारे जलाशयों का निपुण गोताखोर पक्षी—बानवर (Snake-bird) जब यह तैरता है तो केवल इसकी लंबी चोंच का कुछ हिस्सा जल के ऊपर उठा रहता है। उस समय इसे देख साँप के तैरने की भ्रान्ति होती है।

वती है और बिना किसी प्रकार का सन्देह किए हुए घोंसले में रक्खे हुए अण्डों को सेने लगती है—उसे पता भी नहीं लगने पाता कि वह कोयल के रूप में आस्तीन में साँप पाल रही है। इस स्थान पर हम देखते हैं कि प्रकृति ने कोयल को छोटे आकार का अण्डा देकर उसका कितना उपकार किया है कि वह उसे अपनी चोंच में आसानी से उठाकर ले जा सके और छोटी जाति के पक्षियों के अण्डों के साथ उसका मेल खा सके।

कोयल का नवजात बच्चा अपने प्रतियोगियों का नाश कैसे करता है

कोयल के अण्डे के बारे में एक और अद्भुत बात है कि अन्य बहुत-से पक्षियों के अण्डे की तुलना में इसके सेने के लिए कम समय चाहिए। अतः जिस समय अपने अण्डे को फोड़कर कोयल का बच्चा बाहर निकलता है तो इसके इर्द-गिर्द या तो इसके पालक पिता के अण्डे या अपेक्षाकृत नन्हें बच्चे ही पड़े मिलते हैं। कोयल का नवजात बच्चा स्वय एक काले रग का अन्धा कुरूप जीव होता है। पर इसकी एक अद्भुत् विशेषता यह होती है कि इसका स्पर्शज्ञान बहुत ही बढ़ा हुआ होता है—यह घोंसले में अन्य किसी चीज़ के स्पर्श को बर्दाश्त नहीं कर सकता। अतएव जब कोई अण्डा या दूसरा बच्चा इसके शरीर से लगता है तो यह क्षुब्ध होकर उसे धक्का देकर घोंसले से बाहर निकालने का हर तरह से प्रयत्न करता है। किन्तु यह नन्हा-सा जीव दूसरे बच्चों या अण्डों को घोंसले से बाहर कैसे फेंक सकता है? उसे ऐसा करने के लिए पहले तो इन अण्डों या बच्चों को उठाना पड़ेगा, फिर घोंसले की ऊँची मेंड़ को फाँदकर उन्हें बाहर फेंकना पडेगा! आइए, देखें किस प्रकार वह इस कार्य में सफल होता है।

कोयल का यह नवजात बच्चा पास सटे हुए अण्डे को पहले कोल-कोलकर अपनी पीठ पर कन्धे के पुट्ठों के दर्मियान के गड्ढे में बिठा लेता है और अब यह घोंसले की ऊँची मेंड़ पर चढना आरम्भ करता है। इस क्रिया में उसके शरीर की एक और विचित्रता उसकी सहायता करती है। उसके पाँव पेड़ पर चढनेवाले पक्षियो के पाँव की भाँति होते हैं। उसके पजों की दो उँगलियाँ सामने की ओर और दो पीछे की ओर निकली होती हैं। किन्तु बड़ा होने पर वह पेड़ों पर कभी चढता नहीं, केवल फुदकता है, और उस समय उसके पजों की तीन उँगलियाँ सामने की ओर निकली रहती हैं और केवल एक ही पीछे की ओर मुड़ी रह जाती है। घोंसले की मेंड़ के ऊपर पहुँचकर अपनी पीठ का बोझा वह आहिस्ते से घोंसले के बाहर लुढका देता है और इस भारी परिश्रम से थककर बेदम होकर वापस घोंसले में आ रहता है। ज्योंही वह महसूस करता है कि दूसरा अण्डा या बच्चा उसके शरीर से लग रहा है, त्योंही पुन वह इसी क्रिया को दुहराता है। उसकी यह हरकत उस वक़्त तक जारी रहती है जब तक कि घोंसला पूर्णतया ख़ाली नहीं हो जाता और उस पर अकेले उसी का आधिपत्य नहीं रह जाता।

यह एक आश्चर्यजनक बात है कि इसके पालक माता-पिता इस अद्भुत् बच्चे की इस हरकत का विरोध करते नहीं जान पडते। अवश्य घोंसले के बाहर वे अपने दम तोडते हुए बच्चों तथा टूटे हुए अण्डों को देखते होंगे, किन्तु फिर भी वे कोयल के बच्चे का त्याग नहीं करते। सच तो यह है कि वे उसे भरपूर खिलाते पिलाते हैं, और मादा कौआ उसकी निरन्तर फरमाइशों को पूरी करती रहती है, यहाँ तक कि कभी-कभी उसके लिए काफी मात्रा में झिंगुर जैसी उसके अत्यत पसद की चीजें भी खाने के लिए ढूँढ लाती है। फलस्वरूप कोयल का बच्चा दिन दूना रात चौगुना बढ़ता है और शीघ्र ही वह अपने पालक माता-पिता से भी बड़ा हो जाता है। यहाँ तक कि वह इतना बढ़ जाता है कि उसके पालक पिता-माता को उसे खिलाने के लिए उसके कन्धों पर खड़ा होना पडता है। निस्सन्देह यह एक विचित्र दृश्य होता है।

यह कोयल का बच्चा अपने पालक माता-पिता के सग इधर उधर उस वक्त तक ही उड़ता फिरता है, जब तक कि जाड़ा आने पर अन्य उष्ण प्रदेशों को चले जाने का समय नहीं आ जाता। यह भी कम अद्भुत बात नहीं है कि यद्यपि इसके असली माता-पिता इसे कभी के छोड़कर चले गये होते हैं, फिर भी यह अकेले ही उड़कर अपने लिए ऐसा प्रदेश ढूँढ लेता है जहाँ इसे सूर्य की स्वास्थ्य-प्रदायिनी धूप और खाद्य पदार्थ प्रचुर मात्रा में लभ्य हो सकते हैं। इसी तरह अगली वसन्त ऋतु में पुन आप ही आप अपनी मातृभूमि को लौट जाने की प्रेरणा इसे होती है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि यद्यपि हम कोयल का स्वागत करते हैं, किन्तु यह वास्तव में एक नीच प्रकृति का जीव है, कौए से भी अधिक काला! अपनी बाल्यावस्था में ही दग़ाबाज़ी और हत्या सरीखे जघन्य कामों में यह लग जाता है। यदि पक्षियों के संसार में पुलीस का आयोजन होता, तो कोयल की ज़िन्दगी किस मुसीबत से बीतती?

पपीहा (चातक)

यह पक्षी भी वसन्त ऋतु में हमारे बीच आता है। वसन्त के आते ही हर कहीं इसकी 'पी कहाँ' 'पी कहाँ' की परिचित ध्वनि सुनाई पड़ती है। हमारे साहित्य में इस पक्षी की वेदना-भरी पुकार विरह की आकुल व्यथा की प्रतीक-सी बन गई है और विशेषतर हमारे यहाँ के कवियों ने पग-पग पर इसकी कसक-भरी कूक की याद दिलाई है। स्थानाभाव के कारण इसके संबंध में यहाँ अधिक विवरण देने में हम असमर्थ हैं।

भारत के सबसे बुद्धिमान् पक्षी—तोते और उनके भाई-बन्धु

तोतों के रूप-रंग से सभी भारतवासी परिचित हैं, क्योंकि घरों में प्रायः ये पिंजड़ों के अन्दर पाले जाते हैं। बुलबुल, शकरखोरे और मैना की भाँति पालतू चिड़ियों में ये भी सर्वप्रिय हैं। ये चहचहाते खूब हैं और देखने में भी सुन्दर होते हैं। किन्तु पालतू अवस्था में ही हमें इनके मस्तिष्क की शक्ति का आभास मिलता है। ये पक्षी अनेक आश्चर्यजनक बातों को दुहरा सकते हैं। इनका बोलना मौलिक तो नहीं होता, सिखाई हुई बात ही ये दोहराते हैं, किन्तु झटपट ठीक मौके पर इनका ठीक बात बोल उठना इनके प्रति प्रशंसा उत्पन्न किये बिना नहीं रहता। घर की वृद्धाएँ प्राय इन्हें 'राम-राम', 'पढ़ो बेटे सीताराम', 'हम भूले हैं' आदि वाक्य रटा देती हैं। क़रीब २० वर्ष हुए बनारस के एक धनी सज्जन ने वरुणा नदी के किनारे पर अपनी कोठी के बग़ीचे में बहुत-सी चिड़ियाँ पाल रक्खी थीं। उनके प्रवेश-द्वार के ठीक बगल में तोते, सुग्गे और काकातुआ का कठघरा था। ज्योंही कोई आगन्तुक इस कठघरे के समीप फाटक से गुज़रता, एक सुग्गा चिल्ला उठता—'यहाँ आओ यहाँ आओ, कहाँ जाते हो?' आगन्तुक बेचारा हैरान होकर इधर-उधर देखने लगता कि यह मानव-स्वर कहाँ से सुनाई पड़ रहा है। तोतों को पालतू बनाना बड़ा सहल है। मनुष्यों से ये खूब हिलमिल जाते हैं, फलस्वरूप इनके तरह-तरह के हाव-भावप्रदर्शन से हम आसानी से परिचित हो जाते हैं। इन्हें तरह तरह के शिकारियों जैसे करतब भी सिखाये जा सकते हैं।

इन्हें पिंजड़े में अपने अड्डे पर बैठे हुए ध्यानपूर्वक देखिए, किस नजाकत के साथ ये अपने नन्हें पंजों में केला या मूँगफली लेकर उसे चोंच के पास ले जाते हैं ताकि उसे कतर सकें। आप यदि अपने पालतू सुग्गे के पैरों को देखें तो पाएँगे कि उसके पंजे के दो नाख़ून आगे की ओर निकले हैं और दो पीछे की ओर। पैर की इस बनावट की मदद से ही यह आम, अमरूद आदि की फाँक या रोटी के टुकड़े को इतनी सफाई के साथ पकड़ पाता है तथा इसी कारण यह इतनी खूबी के साथ जहाँ चाहे चढ़ जाता है।

एक मल्लाह के पालतू तोते के बारे में एक रोचक कहानी हमने सुनी है। यह मल्लाह कलकत्ते में हुगली नदी पर लोगों को नाव पर इस पार से उस पार पहुँचाया करता था। एक दिन उसका तोता नदी में गिर गया। नदी की धार में यह बहा चला जा रहा था और चिल्लाता जा रहा था—'बीस रुपये नाव के लिए' 'बीस रुपये नाव के लिए'। किनारे पर एक मल्लाह के कानों में यह आवाज गई तो तुरन्त वह नदी में कूद पड़ा। जब उसने तोते को बचाकर उसके स्वामी के यहाँ
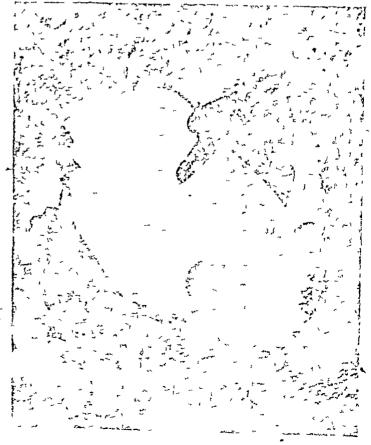
भारत का सबसे शानदार जलपक्षी—हंस

पहुँचा दिया तो इनाम के बीस रुपये माँगे। पहले तो उसके स्वामी ने इधर-उधर का बहाना बताया, फिर बड़ी तकरार के बाद तय पाया कि तोता ही इस झगड़े को निबटाए। इस पर तोता आँखें मींचते हुए चिल्ला उठा—'इस बदमाश को एक चवन्नी दो।' और उसका प्राण-रक्षक खिसियाकर चवन्नी ही ले चलता बना!

भारत का सबसे कुशल कारीगर पक्षी—बया

प्राणियों के कला कौशल और गृह-निर्माण की खूबियों के बारे में आप 'विश्व-भारती' के पिछले एक अङ्क में पढ़ चुके हैं। उस सिलसिले में बया के घोंसले का उल्लेख किया ही जा चुका है। गाँवों के सभी लोग इस चिड़िया और इसके बोतल सरीखे अद्भुत घोंसले से परिचित हैं। भारत में बया प्रत्येक स्थान पर मिलता है। उसके परों का रंग मटमैला होता है। बड़ा होने पर नर के वक्षस्थल के पर पीला रंग धारण कर लेते हैं। इसके पंजे बड़े और नाखून पैने होते हैं। बया झाड़ियों में अक्सर फुदकता रहता है और एक ही स्थान पर बसेरा लेता है। ये पक्षी सभी प्रकार के अनाज खा लेते हैं।

तोते से भी बढ़िया बातें लोग इसे सिखा लेते हैं। इसे दिखाकर लोग कुएँ में अँगूठी गिराते हैं, और यह उसके पीछे इतनी फुर्ती के साथ झपटता है कि उसे बीच रास्ते में ही चोंच से पकड़कर बाहर निकाल ले आता है। अँगूठी पानी तक नहीं पहुँचने पाती। सिखाने पर बया माथे की टिकली उतार लेता है और चोंच में मिश्री की डली लेकर दूसरों के मुँह में रख आता है। यह छोटी सी तोप में बारूद भरकर उसे दागता भी है। चोंच में दबाकर यह बनेठी भी फेर लेता है। इस प्रकार यह छोटा-सा पक्षी बड़े अद्भुत करतब दिखला सकता है।

हंस

आइए, अंत में इस देश के सबसे मशहूर जलपक्षी 'हंस' के रोचक वर्णन के साथ हम इस लंबे लेख को समाप्त करें। जब हम हंस को अपने परों को आधा ऊपर उठाए और गर्दन को अदा के साथ मोड़े हुए तथा दुम को तानकर सीधी खड़ी किए पानी में शान्तिपूर्वक बड़े इतमीनान के साथ तैरते देखते हैं तो हम उल्लसित हुए बिना नहीं रहते। हमारा साहित्य तो पग-पग पर हंस की महिमा के बखान से भरा है।

हंस की कई उपजातियाँ हैं, किन्तु उनमें राजहंस अधिक प्रसिद्ध है—यह हंस की सबसे बड़े आकार की जाति है। इनका आदि निवासस्थान हिमालय की मानसरोवर झील माना जाता है। हंस एक निर्भीक तथा रोमाञ्चप्रिय पक्षी है। यह एक ऊँचे दर्जे का प्रेमी, साथ ही ऊँचे दर्जे का घृणा करनेवाला जीव है। नर-हंस की कई पत्नियाँ होती हैं—ये जीव स्वभाव से बड़े भावुक होते हैं। मादा अपने बच्चों को जल्दी नहीं छोड़ती हाँ नर अक्सर उन्हें छोड़कर इधर-उधर सैर-सपाटे के लिए चला जाया करता है, किन्तु सङ्कटकाल सामने आने पर अपनी पत्नी और बच्चों की रक्षा करने में पूर्ण भावावेश और निर्भीकता से यह पक्षी काम लेता है। हंस अत्यन्त ही बुद्धिमान् और आदर्श माता-पिता होते हैं, जैसा कि इस बात से प्रकट है कि अपने बच्चों को ये उस वक्त तक सोने नहीं देते जब तक उनके भीगे हुए पर अच्छी तरह सूख न जायँ। इनका अपनी पीठ पर बच्चों को ले जाना निस्सन्देह सुन्दर दीखता है, किन्तु जल में कूदने की प्राथमिक शिक्षा देने के निमित्त बच्चों की टाँग को पकड़कर ऊपर उठाए रखना निस्सन्देह उनकी प्रकाण्ड बुद्धिमत्ता का द्योतक है। ये निरामिष आहारी होते हैं और इनकी जीवनचर्या में पूर्ण सामञ्जस्य की दृष्टि से इनका जीवन आदर्श माना जा सकता है।

इनकी आयु भी उकाब (Eagle) की आयु के बराबर होती है। भारतीय साहित्य में यह प्रसिद्ध है कि यदि हंस को ऐसा दूध पीने को दिया जाय जिसमें पानी मिला हो तो यह दूध से पानी अलग करके केवल दूध दूध पी लेता है और पानी को अछूता ही बर्तन में छोड़ देता है। अनेक पाठकों ने निम्नलिखित पङ्क्तियाँ पढ़ी होंगी—

> न्याय में हंसनि ज्यों बिलगावहु,
> दूध को दूध औ पानी को पानी।

किन्तु जीव विज्ञान के अध्ययन में इस अनोखे गुण का पता मुझे अब तक कहीं नहीं मिला है।

गानेवाले पक्षी

भारतीय पक्षियों में एक खास कमी अगर है तो यह यही कि इनमें बहुत कम को गाने की कला में वैसी निपुणता प्राप्त है जैसी विदेशों के अन्य कई पक्षियों को। यह सही है कि भारत में श्यामा, दहगल, मछमरनी, शकरखोर, भीमराज, बुलबुल सरीखी गानेवाली चिड़ियाँ हैं, किन्तु ये उस हद तक गहरा प्रभाव नहीं डालतीं जितना अन्य देशों के गायक पक्षी, जैसे योरपीय लार्क या चंडूल और ईरानी बुलबुल आदि। कदाचित् इसका कारण यह है कि भारत में योरप के वसन्त की-सी सर्मां नहीं आती और न हमारे यहाँ जाड़े की ऋतु ही उतनी निष्प्राण और मनहूस होती है जितनी योरप की।

मनुष्य
की कहानी
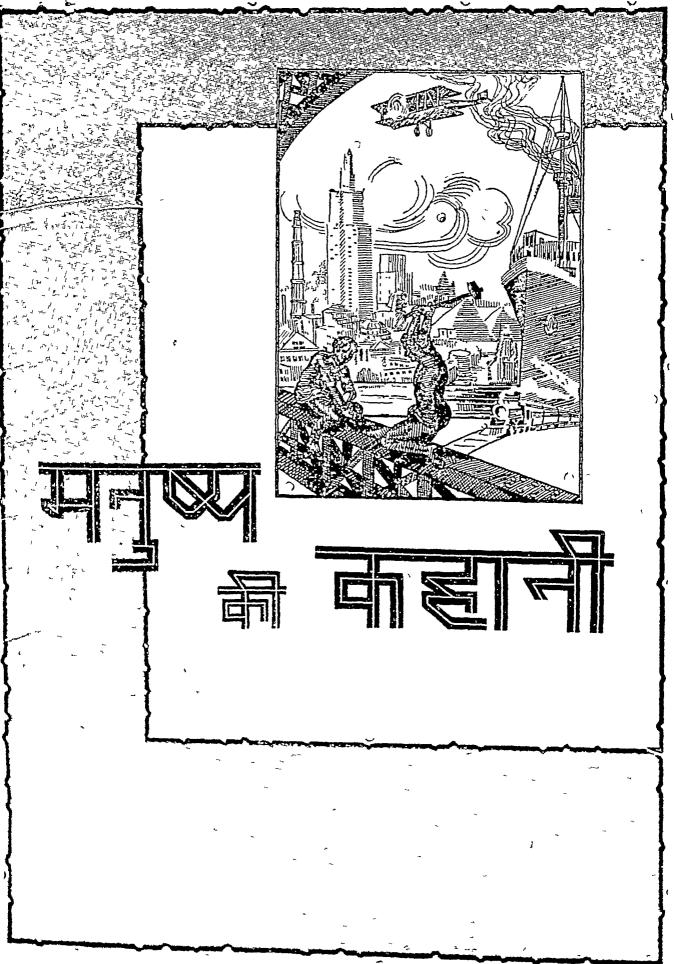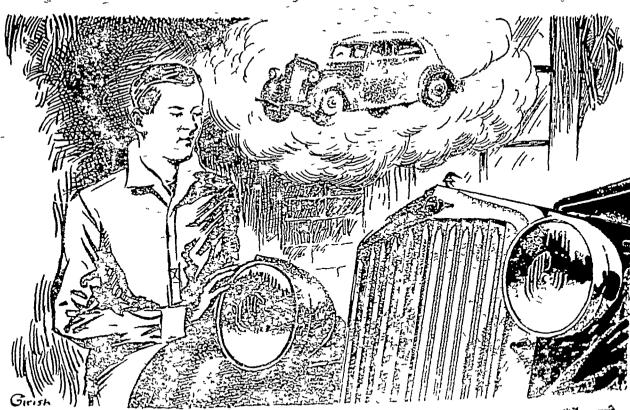
जैसा कि चित्र के ऊपरी भाग में प्रदर्शित है, सडक पर एक मोटरगाडी खड़ी है। आपने अपनी दोनों आँखें अच्छी तरह मूँद रखी हैं और दोनों कानों में उँगलियाँ दे रखी हैं, और इस तरह हटकर खड़े हैं कि गाडी आपको छू न ले। ऐसी अवस्था में आपके लिए मोटरगाडी का अस्तित्व वहाँ पर नहीं है। फिर भी आपसे कुछ दूरी पर ही गाडी अपनी पूरी शान के साथ खडी है। अब आप अपनी आँखें खोल डालिए और उँगलियाँ मोटर की पालिश पर रख दीजिए।— और सारी की-सारी मोटर आपके मन के अन्दर आँख, कान नाक और उँगलियों से होकर मानो घुस पड़ेगी जैसा कि चित्र के निचले भाग में प्रदर्शित है। अब इस स्थान पर एक की जगह दो गाडियाँ आ गईं – एक तो वह जो सडक पर खड़ी चल देने को है और दूसरी वह जो आपके मस्तिष्क और ज्ञान के अन्दर है। इस तरह से बाहरी किसी भी पदार्थ के अनुभव को 'प्रत्यक्ष अनुभव' कहते हैं (विशेष खुलासे के लिए सामने के पृष्ठ का मैटर देखिए)।

प्रत्यक्षानुभूति

आपने जरूर पढ़ा होगा कि लोक तीन हैं और भुवन चौदह हैं। लेकिन मनोवैज्ञानिकों ने साधारणतः दो ही लोक माने हैं—एक तो वह जिसे सुविधा के लिए आप 'बाहरी दुनिया' कह सकते हैं और दूसरा वह जिसे 'मन की दुनिया' कहा जा सकता है। बहिर्लोक में आप पेड़, पौधे, पत्थर, पहाड़, घर, द्वार आदि पाते हैं और मनोलोक में बहुत-सी और-और वस्तुओं के अलावा इन्हीं पेड़-पौधों के प्रतिबिम्ब।

बाहरी पदार्थ वे हैं जिन्हें अगर आप न भी देखें, अथवा स्पर्श न करें, या जिनका ज्ञान और किसी प्रकार न भी प्राप्त करते रहें, तो भी वे वर्तमान रहेंगे। जैसे मान लीजिए कि सड़क पर एक मोटरगाड़ी खड़ी है। आपने अपनी दोनों आँखें अच्छी तरह मूँद रखी हैं और दोनों कानों में उँगली दे रखी है, और गाड़ी से इस तरह दूर हटकर खड़े हैं कि किसी तरह वह आपको छू न ले। इस तरह आपने यह जानने का हर मार्ग बंद कर रखा है कि आपके आसपास कोई मोटरगाड़ी है, या और भी कोई चीज़ है। ऐसी अवस्था में आपके लिए मोटरगाड़ी का अस्तित्व वहाँ पर नहीं है। फिर भी आपसे कुछ ही दूरी पर गाड़ी अपनी पूरी शान के साथ खड़ी है। यह बाहरी पदार्थ है, जिसका अस्तित्व अनुभव करने वाले की अनुपस्थिति में अक्षुण्ण है।

अब तक आपके कान झनझना उठे हैं और आँखें पकपका गई हैं। इन्हें आप खोल डालिए और अपनी उँगलियों का आहिस्ते से मोटर की चमकीली पालिश पर रख दीजिए!—और सारी-की सारी मोटर आपके अन्दर आपकी आँख, कान, नाक और उँगलियों से होकर घुस पड़ेगी। अब इस स्थान पर एक की जगह दो गाड़ियाँ आ गई—एक तो वह जो सड़क पर खड़ी चल देने को है और दूसरी वह जो आपके मस्तिष्क और मन के अन्दर है। आपके चक्षुताल पर के इस बाहरी मोटर के प्रतिबिम्ब ने अपना रूप मस्तिष्क के अन्दर अंकित कर दिया है, उसकी विशिष्ट गन्ध नाक की गन्धवाहिनी नाड़ियों के जरिए दिमाग़ में पहुँच चुकी है और उसके एंजिन के चलते रहने की आवाज भी आपको सुनाई पड़ रही है। इन सारी चीज़ों के सम्मिश्रण से जो मोटर आपके अन्दर तैयार है, वह उस बाहरी मोटर से अलग ही एक चीज़ है।

इस तरह से बाहरी किसी भी पदार्थ के अनुभव को 'प्रत्यक्ष अनुभव' कहते हैं। जैसा कि नाम से जाहिर है, प्रत्यक्ष अनुभव उसी पदार्थ का होता है जो अनुभव करनेवाले के सामने वर्तमान हो। शरीर की संवेदन-क्रियाओं की सहायता से जो संवेदन हमारे मस्तिष्क में होते हैं, उन्हें मिला जुलाकर किसी भी पदार्थ का अनुभव किया जा सकता है।

अब प्रश्न यह होता है कि अनुभव किए हुए पदार्थों में हम भेद कैसे करते हैं? उदाहरणार्थ हम दृश्य वस्तु लें। आँखों से हम सैकड़ों वस्तुएँ देखा करते हैं और देखकर ही जान जाते हैं कि अमुक वस्तु घड़ी है, अमुक लालटेन है, अमुक आदमी है और अमुक कुत्ता है। हम यह भी देखकर जान लेते हैं कि अमुक वस्तु अचल है, अमुक चल रही है। आखिर यह कैसे होता है?

प्रश्न इतना आसान लगता है कि शायद आप समझें कि इस आदमी के दिमाग़ का कोई पेंच ढीला हो गया है जो ऐसे सवाल कर रहा है। फिर भी इस बेतुके सवाल ने चिरकाल से मनोवैज्ञानिकों की बुद्धि को चक्कर में डाल रखा है और इसका उत्तर किन्हीं भी दो मनोवैज्ञानिकों ने एक तरह से नहीं दिया।

एक दल वह है जो कहता है कि हमारी संवेदनग्राही इन्द्रियाँ किसी भी पदार्थ के संवेदन को अलग अलग हमारे मस्तिष्क में ले जाती हैं, जहाँ पर इन सारे संवेद-

निक अनुभवों का समष्टीकरण होता है और तब हमें पदार्थ का बोध होता है। इस सिद्धान्त को आचरणवादियों ने और भी दूसरे छोर पर पहुँचा दिया है। इस दल-वालों के मत से मस्तिष्क के अन्दर अपनी निज की क्रिया-शीलता नहीं। वह निष्क्रिय होकर बाहर से आते हुए संवेदनों को ग्रहण करता है ठीक उसी तरह जैसे उँगली गीली पुटीन को छू दे तो उस पर चिह्न जरूर पड़ जायगा लेकिन पुटीन स्वयं उठकर उँगली का चिह्न लेने नहीं जायगा। इस प्रकार गृहीत संवेदनों का संयोजन किसी रहस्यमय रूप में स्वयं होता रहता है, जिनका संयुक्त रूप प्रत्यक्ष-बोध होता है।

लेकिन अगर आप अन्तर्दर्शन की चेष्टा करें और यह देखने की कोशिश करें कि संवेदन ग्रहण से लेकर प्रत्यक्ष अनुभव होने तक आपके भीतर कौन कौन-सी क्रियाएँ होती हैं, तो आप पायेंगे कि यह उतना सरल नहीं जितना कि उक्त दल के मनोवैज्ञानिक कहते हैं। टेबुल पर रखे हुए सन्तरे की रूपरेखाएँ, रंग आदि अलग अलग होकर आपके मस्तिष्क में जा रहे हैं ऐसा आप अनुभव नहीं कर सकते, और न ऐसा ही मालूम होगा कि आँखों से होकर सन्तरे के दाहिने किनारे वाली वह रेखा आ रही है, और घ्राण-तन्तुओं से उसकी वह गन्ध घुसी पड़ रही है। बल्कि आप हमेशा यह पायेंगे कि सन्तरा अपने संपूर्ण रूप में आपके सामने रखा हुआ है।

और अब फिर देखिए कि एक सेब भी उसी की बगल में रखा हुआ है। आप देखते ही जान जाते हैं कि यह सेब है, सन्तरा नहीं। और सेब और सन्तरे में अन्तर है।

इस तरह हमने देखा कि अपने प्रत्यक्ष-बोध में हम अलग अलग सांवेदनिक आकृतियाँ नहीं देखते, वरन् एक सम्मिलित प्रतिकृति देखते हैं और एक प्रतिकृति और दूसरी प्रतिकृति का अन्तर भी स्वयं ही अनुभव कर लेते हैं। इस प्रकार की प्रतिकृति के अनुभव तथा अन्तर जानने की क्रिया में तीन चीजें मुख्यतः सहायक होती हैं। वे हैं—प्रतिक्रिया का गुण, समय और स्थान। वस्तु-जगत् का हर पदार्थ इन तीन गुणों से युक्त है।

आप अपना रेडियो खोल दीजिए। यन्त्र संगीत हो रहा है। आपका कोई प्रिय फिल्मी गाना वाद्य यन्त्रों पर बजाया जा रहा है। आपके मित्र ने प्रश्न किया—"बताओ तो, कौन-कौन-से यन्त्र बजाए जा रहे हैं?" आपने अपने कान को थोड़ी मेहनत दी और कहने लगे—'सितार है, बेहला है, बाँसुरी है, सराद भी मालूम हो रहा है और वह जो बीच-बीच में बज रहा है, वह क्या है ... शायद क्लैरोनेट है!"

तो आपने जाना कैसे कि इतने भिन्न प्रकार के बाजे एक साथ बज रहे हैं? गाना तो एक ही है और इनके सप्तक भी एक ही हैं। जिस समय बाँसुरी का ध-म बजता है उस वक्त सितार का भी ध-म ही बजता है। दोनों के सुर भी बिल्कुल एक हैं। वायु के प्रकंपन की गति हर यन्त्र की बिल्कुल एक है, अन्यथा बेसुरा हो जायगा। फिर भी आप आसानी से आवाज़ों का विश्लेषण कर बता देते हैं कि पाँच भिन्न यन्त्र काम में आ रहे हैं।

जिसकी सहायता से आप इस अन्तर को बता सके उसी को शब्द का गुण कहते हैं। अंग्रेजी में इसे Tone Quality अथवा Timbre कहते हैं। यह शब्द गुण हर वस्तु का अलग अलग होता है और जब एक ही प्रकंपन (Frequency) की दो आवाज़ें दो भिन्न यन्त्रों से निकाली जाती हैं तो इसी शब्द-गुण के द्वारा दोनों के अन्तर का बोध होता है। किसी भी सांवेदनिक अनु-भूति का निजस्व गुण जितना ही किसी दूसरी अनुभूति के निजस्व गुण के अनुकूल होगा उतना ही उन दोनों में भेद करने में कठिनाई होगी। एक ही यन्त्र द्वारा अनुभूत वस्तुओं में गुण का अन्तर जितना होता है, उससे बहुत अधिक अन्तर दो या अधिक भिन्न यंत्रों द्वारा अनुभूत वस्तुओं में होता है। टेबुल पर रखे हुए सन्तरे को चखने से कई तरह की अनुभूतियाँ होती हैं। कुछ खट्टा अधिक मीठा स्वाद, सन्तरे की खास गन्ध और आँखों द्वारा देखे गए रूप, इन सारी चीजों को मिलाकर सब से अलग सन्तरा नामक वस्तु का ज्ञान हम प्राप्त करते हैं।

दूसरी अन्तर बतानेवाली प्रतिकृति है समय। आपकी खिड़की के बाहरवाले वृक्ष पर से पपीहा बोल उठता है—पी कहाँ पहले 'पी' की सी आवाज़ आती है, फिर तुरन्त 'कहाँ' की-सी। और आप तुरन्त कह उठते हैं—"वह पपीहा बोला।" लेकिन अगर किसी ने सिर्फ "पी" कहा या "कहाँ" कहा, या "पी" कहने के दो मिनिट के बाद "कहाँ" कहा तो आप हर्गिज नहीं पहचान सकते कि यह पपीहे की बोली है। यही प्रतिकृति (Pattern) का सामयिक पहलू है। समय में एक के बाद दूसरी अनुभूति अगर एक ही प्रकार का अन्तर देकर हो तो हमेशा उसी वस्तु का बोध होगा। तीसरी प्रतिकृति है स्थानिक। बाहरी स्थान में अलग अलग अवस्थित वस्तुओं की अगर एक ही सांवेदिक अनु-भूति हो तो स्थान के कारण ही उनका रूप पहचाना जा

सकता है। आकाश में लाखों तारे हैं, जो प्रायः सभी एक दूसरे के समान हैं। लेकिन जब हम सप्तर्षि की ओर देखते हैं तो तुरन्त पहचान जाते हैं कि ये सप्तर्षि हैं, और केवल इसीलिए कि इन सातों तारों ने एक दूसरे के आसपास एक ख़ास तरह का स्थान ले रखा है। अगर ठीक इसी तरह के सात विन्दु काग़ज़ पर भी इस ढंग के स्थानीय गुट्ट में बना दिए जायँ तो हम उसे सप्तर्षि ही कहेंगे।

और यहाँ पर गुटबदी की एक मज़ेदार समस्या उपस्थित होती है। जर्मनी के मनोवैज्ञानिकों का एक स्कूल है जिसे 'गेस्टाल्ट' (Gestalt) स्कूल कहते हैं। जर्मन 'गेस्टाल्टन' शब्द का हिन्दी पर्याय नहीं। अंग्रेज़ी में काम चलाने के लिए इसे Constellation कहते हैं। हिन्दी में इसे हम 'गुटबदी' कह सकते हैं।

इस दल के मत से मन के अन्दर एक प्रवृत्ति है हर अनुभव को एक अर्थपूर्ण रूप देने की। मन कभी भी बेमतलब कोई चीज़ देखना नहीं चाहता, कभी दो ऐसी वस्तुओं के बीच जिनके बीच आपस का कोई संबंध हो ऐसा अन्तर नहीं देखना चाहता। उदाहरण के लिए आप बगल का ऊपरी चित्र लें। पहली दृष्टि में आप कहेंगे कि यह एक सितारे का चित्र है। लेकिन तनिक ग़ौर करके देखिए। इसके अन्दर पाँच कोण हैं, जो प्रत्येक एक दूसरे से अलग हैं। आप चाहे जितनी ही चेष्टाएँ कीजिए, फिर भी पाँचों कोणों को अलग देखते हुए भी आपका मन इनका सितारे-सा वाला रूप नहीं भूल सकता। गेस्टाल्ट स्कूल के विचार से इस एक कोण की रेखाओं और दूसरे कोण की रेखाओं के बीच जो विच्छिन्न स्थान है उसे मन तड़पकर भर देता है, मानों वह दोनों रेखाओं के बीच के रिक्त स्थान पर एक संयोजक पुल बाँध देता है और इन सबको मिलाकर अर्थपूर्ण तारे का रूप दे देता है।

इसी तरह नीचे बाईं ओर के चित्र में अगर आपसे कहा जाय कि सारे विन्दुओं और त्रिकोणों को एक साथ देखिए तो कोशिश करके भी सारे विन्दु आपको त्रिकोणों से अलग एक गुट्ट-से दिखलाई देंगे और यही हाल त्रिकोणों का भी होगा। दाहिनी ओर के चित्र में अगर आपसे कहा जाय कि आप इसकी बारह रेखाओं को अलग-अलग रेखाएँ समझकर देखिए तो यह और भी कठिन है। हर तरह से उन रेखाओं का समूह आपको एक बक्स सा ही दृष्टिगोचर होगा, उन्हें पृथक् देख पाना संभव नहीं।

किसी भी वस्तु को कुछ-न-कुछ अर्थ देने की मन की कैसी ज़ोरदार प्रवृत्ति है, यह पृ० २३२५ के चित्र ने आप और भी अधिक समझ सकेंगे। वह एक पहेली-चित्र है। पहली दृष्टि में आप देखते हैं कि यह

आप चाहे जितनी कोशिश करें, इन पाँचों कोणों को अलग देखते हुए भी आप इनका सितारेवाला रूप नहीं भूल सकते।

बाईं ओर के चित्र में कोशिश करने पर भी आप सब विन्दुओं और त्रिकोणों को एक-साथ नहीं देख पाते। अवश्य सारे विन्दु त्रिकोणों से अलग एक दल बनाते हुए और सारे त्रिकोण विन्दुओं से अलग दल बनाते दिखाई देंगे। यही हाल दाहिने चित्र की बारह रेखाओं का है, जिनका बक्सवाला रूप हमें नहीं भूलता!

एक फूलवाले पौधे का चित्र है। अब आपको कहा जाता है कि इसके अन्दर नेपोलियन के चेहरे से मिलती-जुलती कुछ मानवाकृतियाँ छिपी हुई हैं और कोशिश करके आप उन्हें ढूँढ निकालते हैं। पा लेने के बाद आप कोशिश कीजिए कि पहले खाली फूल के पौधे का जैसा चित्र देखा था, इसे वैसा ही फिर देख सकें। आप छिपे हुए मनुष्यों के चेहरों को भूल जाने की चेष्टा कीजिए। परन्तु आप सफल नहीं हो रहे हैं। क्यों?

पहले मैं बता चुका हूँ कि एक दल ऐसा है जो प्रत्यक्षानुभूति (Perception) को अनेक संवेदनों के संयोजन का परिणाम कहता है। हम जब गति का अनुभव किसी वस्तु में करते हैं तो कौन सी क्रियाएँ मस्तिष्क में होती हैं? मान लीजिए कि एक घोड़ा आपके सामने दौड़ा जा रहा है। संयोजन-वादी स्कूल के अनुसार आपको यह देखना चाहिए कि घोड़ा दस गज दौड़ने में पचास स्थान में पचास तरह का रूप धारण करता है। और इन पचासों सांवेदनिक अनुभूतियों को मस्तिष्क की कोई रहस्यपूर्ण शक्ति एक में मिला देती है और आप देखते हैं कि घोड़ा दौड़ रहा है। आप इस अनुभव का अन्तर्दर्शन (Introspection) करने की कोशिश कीजिए। आप यही पायेंगे कि घोड़ा और उसकी गति को अलग-अलग आप नहीं देख सकते। बल्कि केवल गतिमान घोड़ा ही दिखलाई पड़ता है।

१९१२ में फ्रैंकफर्ट नामक स्थान में वर्दीमर (Wertheimer) गति-दर्शन पर अन्वेषण कर रहा था। कौफ्का (Koffka) और कॉयलर (Kohler) के ऊपर जाँच हो रही थी। शायद आपको पता नहीं हो कि चल-चित्र का प्रथम आविष्कारक एक बेल्जियम का मनोवैज्ञानिक था। उसका नाम था प्लेटो। इसने एक ऐसा यंत्र आविष्कार किया जिसके ज़रिए बहुत-से अचल चित्रों को जल्दी जल्दी एक के बाद एक पर्दे पर दिखलाया जा सकता था। इस क्रिया से उसने देखा कि ये अचल चित्र पर्दे पर चलायमान दिखलाई देते हैं। उसके बाद से सिनेमा में बहुत उन्नति हुई, लेकिन इनका मूल सिद्धान्त प्लेटो का वही यंत्र है।

सिनेमा की फिल्म की किसी पट्टी के अंश को देखिए। यों देखने से उसके सभी चित्र प्राय एक-से ही लगते हैं। लेकिन अगर ग़ौर से देखिए तो मालूम होगा कि चित्र की आकृतियों में थोड़ा थोड़ा अन्तर है, पर प्रत्येक चित्र उस आकृति का अचल रूप है। अगर सिनेमा के प्रोजेक्टर के द्वारा इन्हें जल्दी जल्दी पर्दे पर प्रदर्शित किया जाय तो वह आकृति गतिमान दिखलाई पड़ेगी। तस्वीरों का प्रदर्शन ऐसा होना चाहिए कि ख़ुद पर्दे पर स्थिर दिखलाई दें, अन्यथा सभी आकृतियाँ एक दूसरे से मिलकर विकृत हो जायँगी। इसके लिए यह तरीक़ा काम में लाया जाता है कि प्रोजेक्टर पर जब एक तस्वीर के बाद दूसरी तस्वीर सामने आती है तो बीच की रोशनी को एक पखा काट देता है। एक के बाद दूसरा दृश्य आता जाता है, जो प्रत्येक स्वयं अचल है, और बीच-बीच में अँधेरा होता है। लेकिन दृश्य इतनी जल्दी-जल्दी आते जाते हैं कि मध्यवर्ती अंधकार अलक्षित रह जाता है। इसका कारण यह है कि एक तस्वीर जब आँख के आगे से हट जाती है तब भी उसकी प्रतिछाया थोड़ी देर तक आँखों के आगे से नहीं हटती। एक दृश्य से दूसरे दृश्य के प्रदर्शन के बीच के समय का अन्तर यदि ज्यादा हो जाय तो चित्रों में कंपन दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार प्रदर्शित दृश्यों को देखकर उसके अन्दर की आकृतियों के चलने-फिरने आदि का बोध होता है। यह गति का बोध कैसे होता है?

अगर हम यह कहें कि अलग-अलग देखे हुए दृश्यों ने ही मिलकर गति का ज्ञान कराया तो यह ग़लत होगा। इन दृश्यों में स्वयं गति निहित नहीं है। इसके अलावा भी कुछ ऐसा है जो इस गति की भावना देता है।

वर्दीमर ने देखा कि सम्पूर्ण अनुभूति के विश्लेषण के द्वारा इस गति को मौलिकों (Elen ents) में विभाजित करके नहीं जाना जा सकता। और उसने इस अन्वेषण को और भी सरल किया, अर्थात् दो सीधी रेखाओं के बीच में थोड़ी दूर का अन्तर रख कर उसने पर्दे पर उनका प्रदर्शन किया और पाया कि यह अन्तर जब एक ख़ास दूरी का हो जाता है तो एक रेखा दूसरी रेखा की ओर चलती हुई मालूम पड़ती है। और ऐसा देखने में यह नहीं होता कि मस्तिष्क पहले एक स्थान पर रहता है और फिर जल्दी से दूसरा स्थान ले लेता है, बल्कि होता यह है कि गति को गति समझकर देख सकना भी मस्तिष्क का एक मौलिक गुण है। इसकी परीक्षाओं ने संयोजनवादी स्कूल के सारे सिद्धान्तों को ही धराशायी कर दिया।

गति का प्रत्यक्ष दर्शन कैसे होता है, यह आपने देख लिया। अब आपको यह बताने की कोशिश करूँगा कि दूरी का प्रत्यक्षानुभव किस प्रकार होता है।

आपसे दस गज़ हटकर एक कुर्सी रखी हुई है। आपकी आँखों पर इस कुर्सी की प्रतिछाया पड़ती है और आप

बता देते हैं कि सामने की चीज एक कुर्सी है और वह करीब अठारह बीस हाथ की दूरी पर है। आप इस दूरी का अन्दाज कैसे करते हैं? क्या ऐसा होता है कि आपसे एक गज की दूरी पर रखी हुई कुर्सी का चक्षुपट पर पड़ा प्रतिबिम्ब आपसे दस गज़ की दूरी पर रखी कुर्सी के प्रतिबिम्ब से १० गुना बड़ा है, और जब आप कहते हैं कि वह कुर्सी दस गज़ दूर है, तो क्या आप एक गज़ पर की कुर्सी के प्रतिबिम्ब के आकार को १० से विभाजित करके कह देते हैं कि चूँकि दूसरी आकृति इससे १० गुना छोटी है, इसलिए वह दस गज की दूरी पर है? आप इसका अन्तर्दर्शन करें और देखें कि क्या होता है? आप पायेंगे कि इस तरह तुलना करने के लिए आपके मस्तिष्क में कोई प्रतिबिम्ब नहीं आता, बल्कि एक ही प्रतिबिम्ब होता है और आप स्वय बता देते है कि यह दस गज़ की दूरी पर रखी हुई कुर्सी का है।

कुछ लोग इसे इस तरह बताने की कोशिश करते हैं कि हम सच ही चलकर देखते हैं कि कुर्सी कितनी दूरी पर है। और इसी तरह प्रत्येक पदार्थ के पास जाकर छूकर देखने से जो अभ्यास हो जाता है उसी के बल पर सिर्फ आँखों से देखकर दूरी का अनुभव कर लेते हैं। इनके सिद्धान्त से आँखों में सिर्फ देखकर दूरी समझ सकने की शक्ति नहीं, हम दूरी का अनुभव पेशीय-वेदन, अर्थात् उतनी दूर जाने से पेशी में जो मेहनत पड़ेगी उसके सवेदन के आधार पर करते हैं।

इस फूल के पौधों मे तीन मानवाकृतियाँ छिपी हैं। उन्हें देख पाने पर फिर आप चाहे जितनी कोशिश करें हर बार पौधे को देखने पर वे दिखाई देंगी, पहले की तरह खाली पौधा अब आप नहीं देख सकते।

गेस्टाल्टवादियों के मत से मस्तिष्क निष्क्रिय नहीं रहता कि उपर्युक्त सवेदनवादियों ने दिखलाने की कोशिश की है। बल्कि मस्तिष्क क्रियात्मक रूप में काम करता है और सर्वदा सम्पूर्ण दृश्य को ग्रहण करके प्रत्येक पदार्थ का स्थान स्वयं निश्चित कर देता है।

अब हम जानने की कोशिश करें कि समय का प्रत्यक्ष दर्शन कैसे होता है। हम यह कैसे जानते हैं कि एक घंटा बीत गया, या पाँच मिनिट समय बीत गया? पहले और पीछे का ज्ञान हमें कैसे होता है? जब बाँसुरी बजाने के कुछ ही देर के बाद घंटी की आवाज होती है तो हम कैसे कह सकते हैं कि पहले बाँसुरी बजी थी, जिसके एक मिनिट बाद घंटी बजी?

बचपन से ही ये बातें इतनी स्वाभाविक रही हैं कि इस सबध में हमने कभी ध्यान नहीं दिया और अचानक ऐसे सवाल का उत्तर देना मुश्किल हो जाता है। अधिक से अधिक यही कह सकते हैं कि हम समय का पहले-पीछे सबधी अनुभव स्वय अपने स्वभावानुसार कर लेते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने अन्तर्दर्शन द्वारा यह पता लगाया है कि एक अनुभव के प्राप्त करने के बाद बहुत-सी शारीरिक क्रियाएँ हो जाती हैं। मान लीजिए कि घड़ी के अनुसार बाँसुरी सुनने के पाँच मिनट बाद घंटी की आवाज़ हुई। बाँसुरी की आवाज़ का अनुभव हो जाने के बाद ३५० बार कलेजे में धड़कन हुई, ६० बार साँस आई और गई तथा एक ख़ास परिमाण में ख़ून एक स्थान से दूसरे स्थान तक शरीर में दौड़ता रहा। इन सारी शारीरिक क्रियाओं का हिसाब अर्द्धचेतन रूप में मस्तिष्क ने रखा, और इसलिए घंटी की आवाज और बाँसुरी की आवाज़ के बीच के अन्तर का उतना अन्दाज़ किया, जिसे बाहरी भाषा मे ५ मिनिट का समय कहा जाता है। इसका सबसे सुन्दर प्रमाण यह है कि क्लोरोफार्म द्वारा बेहोश किया गया व्यक्ति नहीं बता सकता कि कितनी देर वह बेहोश रहा।

लेकिन इस सिद्धान्त में भी एक बड़ी भूल है जो इससे साबित होती है कि भौतिक समय और मानसिक समय में बहुत अधिक अन्तर होता है। एक अच्छी फ़िल्म देखते हुए तीन घंटे का समय मुश्किल से एक घंटे जितना मालूम होता है। लेकिन स्टेशन पर बेकार बैठकर ट्रेन की प्रतीक्षा में बिताया हुआ एक घंटा तीन घंटे से भी बहुत

ज्यादा मालूम होता है। तो फिर क्या यह कहा जा सकता है कि मग्न होकर दिलचस्पी के साथ बिताए हुए तीन घंटों में हमारी कलेजे की धड़कन एक तिहाई हुई, या स्टेशन में बैठे हुए इसकी गति तिगुनी थी? फिर भी अन्तर अत्यधिक रहा। क्यों? इसका कारण हम अपने मानसिक प्रतिक्रिया का प्रतिन्यास (attitude) कह सकते हैं। हम उस वस्तु को वैसा ही देखते हैं जैसा कि देखना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में किसी वस्तु का लक्षित रूप वैसा ही होता है जैसी कि प्रतिक्रिया उसकी ओर करने का हमारा ध्यान होता है। घेरी रात में जंगल में जब अचानक वृक्ष समूह के पीछे कुछ काली-काली धारियाँ नज़र आती हैं तो हम उसे बाघ के रूप में देखते हैं। कारण कि रात के जगल में हम पहले ही से कुछ डरे-से रहते हैं और हमारा मन पहले से ही भयभीत होने की प्रतिक्रिया में उलझा हुआ रहता है।

अपनी आँखों के सामने गुज़रती हुई हजारों चीजों में वही चीज़ें हमें दिखलाई देती हैं, जिन पर हमारा ध्यान होता है। इसकी भी वजह यही है कि हमने जिस पर ध्यान दे रखा है उसके प्रति एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया करने को हम तैयार हैं, अतएव वही चीजें मस्तिष्क में अर्थ के साथ दिखलाई देती हैं, बाक़ी हमारे काम के लिए निरर्थक होने के कारण हम देख नहीं सकते, यद्यपि उन सबके सांवेदनिक चित्र चक्षुपटों पर पड़ते रहे हैं।

अब हम यह देखें कि भाव (idea) कैसे बनते हैं। जिन वस्तुओं का संवेदन होता है, उसे अर्थ देकर हम उसका प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं। प्रत्यक्ष दर्शन तभी तक होता है जब तक संवेदन-उत्पादक वस्तु सामने मौजूद रहती है। उस वस्तु के हटते ही प्रत्यक्ष दर्शन तो लुप्त हो जाता है, लेकिन उसकी याद दिमाग़ में रह जाती है। यह है उस प्रत्यक्ष दर्शित वस्तु का प्रतिरूप (image)। मस्तिष्क में रह गए किसी भी वस्तु के अर्थसहित प्रतिरूप को

इन चित्रों में मंदिरों का आकार और स्थान बिल्कुल एक है, फिर भी मार्ग की दो रेखाओं के थोड़े-से हेर-फेर से दोनों में दूरी के कितने अंतर का बोध होता है। यह क्यों?

ही हम 'भाव' कह सकते हैं। साधारण भाव (Simple ideas) मस्तिष्क के अन्दर रहकर एक दूसरे से मिल जा सकते हैं और तब वे सम्मिलित भाव (Complex ideas) हो जाते हैं। जैसे सोना हमने देखा है, उस का भाव हमारे मन में है। पहाड़ हमने देखा है और उसका भी भाव हमारे मन में है। इन दो साधारण भावों को मिलाकर सोने के पहाड़ के सम्मिलित भाव का निर्माण होता है।

प्रकृति में जितनी भी वस्तुएँ हैं या घटनाएँ होती हैं उनके प्रति हमारी विशेष तरह की प्रतिक्रियाएँ होती हैं। आप एक ऐसे प्राणी की कल्पना कीजिए जो दो ही तरह की प्रतिक्रियाएँ कर सकता है—एक तो किसी वस्तु की ओर बढ़ना, दूसरे किसी वस्तु से दूर भागना। जब आग मिलेगी और उसे जलन मालूम होगा तो वह उससे दूर भागेगा। और जब उसके लिए कोई खाद्य पदार्थ मिलेगा तो उसकी ओर बढ़ेगा। लेकिन यदि उसे बचकर रहना है तो यह याद रखना होगा कि अमुक वस्तु उसके जीवन के लिए हानिकारक है और अमुक लाभदायक। इस तरह पहले संवेदन के द्वारा उस वस्तु का ज्ञान होता है, फिर हानि लाभ के अनुसार उसकी प्रतिक्रिया होती है, और प्रतिक्रिया की इसी प्रवृत्ति के कारण उसका प्रतिरूप उसके मन में रह जाता है। जैसे-जैसे मस्तिष्क विकसित

होता है वैसे-वैसे अपने अनुभव-क्षेत्र को वह विस्तीर्ण करता है, क्योंकि उसे हमेशा अनेक प्रकार की प्राकृतिक वस्तुओं और घटनाओं का मुक़ाबला करना पड़ता है। उसी के अनुसार वह अपनी प्रतिक्रियाएँ निश्चित करता है। इस तरह भाव-निर्माण करने की उसकी प्रवृत्ति हो जाती है। यही प्रवृत्ति प्रत्येक प्राणी के सोचने समझने की क्रिया की जड़ में है। अन्यथा प्राणी का नाश अवश्यम्भावी था। इस तरह हम देखते हैं कि संवेदन, प्रत्यक्ष दर्शन और भाव-निर्माण का एक-दूसरे के साथ चोली-दामन का संबंध है।

गगनचुम्बी इमारतें

प्रकृति की भौतिक शक्ति को अपनी दासी बनाकर आज के वैज्ञानिक मनुष्य ने किस अचरजभरी नई दुनिया की रचना कर डाली है, इसकी सबसे अच्छी झाँकी यदि पाना हो तो अमेरिका की न्यूयार्क जैसी महानागरी के उन गगनचुम्बी प्रासादों में से किसी की सैर कर आना पर्याप्त होगा, जिनकी इस युग के प्रधान आश्चर्यों में गणना की जा सकती है ! ये क्या हैं, आइए, इस लेख में पढ़िए।

संस्कृति और सभ्यता की सीढ़ियों पर एक-एक करके ज्यों-ज्यों मानव अपने क़दम बढ़ाता गया, उसने भवन-निर्माण कला में भी उसी अनुपात में उन्नति की—खोह-कन्दराओं से निकलकर पहले उसने मिट्टी के घिरौंदे बनाए, फिर उससे श्रेष्ठतर घर, और तदनतर भव्य इमारतें जिनके भग्नावशेष मिस्र, यूनान, रोम, मध्य योरप और स्वयं हमारे ही देश के मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा जैसे स्थानों में अब भी हमें आश्चर्यचकित करने के लिए खड़े हैं।

भवन निर्माण-कला के इतिहास के पिछले पन्नों को उलटने पर हम देखते हैं कि सुदूर प्रागैतिहासिक युग से लेकर आज तक उच्च श्रेणी की इमारतों के निर्माण के पीछे तत्कालीन सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों की शक्तियाँ काम करती रही हैं। इन नियन्त्रणों के अन्दर रहकर भवन-निर्माताओं ने यथाशक्ति अपनी कलात्मक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति इन इमारतों की रूपरेखा में की है। इस दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि किसी भी राष्ट्र और युग की संस्कृति की झाँकी हमें उसकी भवन-निर्माण कला में बहुत-कुछ देखने को मिल सकती है। प्राचीन काल के भवन उस युग की संस्कृति के विश्वस्त मापदण्ड कहे जा सकते हैं। मिस्र के महान् स्तूप (पिरैमिड), यूनान के विशालकाय स्तम्भ वाले मन्दिर, रोम की ऊँची मेहराबों वाली विविध इमारतें, तथा गोथिक कला से ओत-प्रोत मध्ययोरप के धर्म-मंदिर (गिरजाघर) इन सब के कलेवर में अपने युग विशेष की संस्कृति, कला तथा सामाजिक जीवनधारा
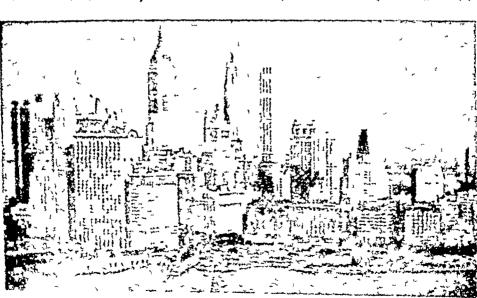
मनुष्य द्वारा निर्मित पर्वताकार अट्टालिकाओं का सबसे बड़ा जमघट—न्यूयार्क नगर की गगनचुम्बी इमारतों का दूर से दिखाई देनेवाला विहंगम दृश्य
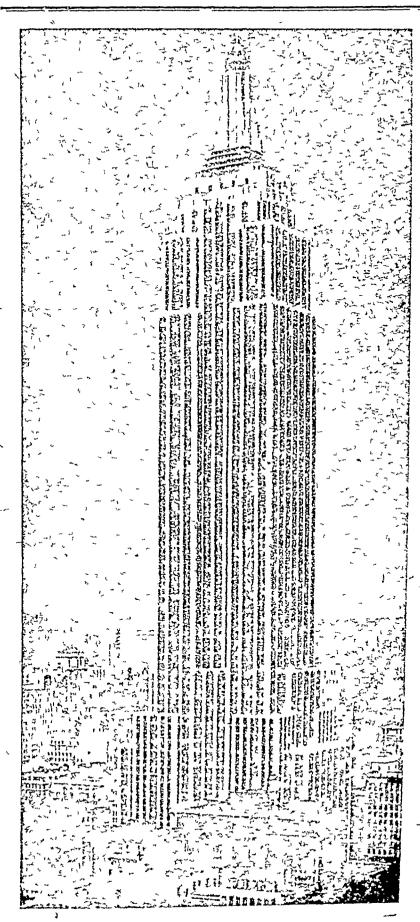
की मानों एक संपूर्ण आत्म कहानी निहित है।

१६ वीं शताब्दी के प्रथम चरण तक समाज की रूपरेखा धर्म, कृषि तथा वस्तुओं की अदला बदली द्वारा व्यापार से ही निर्धारित होती थी, क्योंकि तब तक आधुनिक यंत्रयुग का विकास नहीं हो पाया था। उस युग में भवन-निर्माण-कला का विकास क्रमशः तीन मौलिक दिशाओं में हुआ—प्रथम, स्तम्भ और उस पर टिके हुए दरवाज़े के सपाट पटाव के रूप में (यूनान की स्थापत्य-कला), दूसरे, स्तम्भ और उस पर अवलंबित सादे मेहराब के रूप में (रोम की कला), और तृतीय, स्तम्भ जिन पर लकड़ी के त्रिभुजाकार ब्रैकेट रख कर तिकोने मेहराब बनाये जाते थे।

किन्तु पिछली शताब्दी में वाष्प-यंत्रों, विद्युत् शक्ति और अन्य क्रान्तिकारी आविष्कारों का बल पाकर संसार के सभी देशों में वाणिज्य-व्यवसाय ने आश्चर्यजनक प्रगति की। फलस्वरूप स्थापत्य-कला को भी उसी तीव्र गति से आगे बढ़ना पड़ा। किन्तु स्थापत्य-कला के विशेषज्ञ अपने युग की क्रान्तिकारी प्रगति का साथ न दे सके। वे अपने क्षेत्र की सदियों पुरानी रूढ़ियों की ज़ंजीरों को एक ही झटके में न तोड़ सके। पुरानी विचारधारा के प्रति उनका मोह इतना प्रगाढ़ था कि नवीन शैली का आविष्कार करने के बजाय उन्होंने पुरानी शैली में ही तरह-तरह के सुधारों का समावेश करने का प्रयत्न आरम्भ किया। फलस्वरूप यंत्रयुग की प्रारम्भिक इमारतें कला की दृष्टि से एकदम निकृष्ट उतरीं। न तो प्राचीन कला का गौरव ही उनमें शेष रहा और न नवीन युग के जागरण की छाप ही उन पर लग पाई। परम्परा का मोह इस हद तक इन कला-

गगनचुम्बी अट्टालिकाओं की रानी न्यूयार्क की 'एम्पायर स्टेट बिल्डिंग' जो दुनिया में अब तक बनाई गई सभी ऊँची है (ऊँचाई १२४८ फ़ीट)।

यद्यपि संसार की सबसे ऊँची इमारतें आज दिन न्यूयार्क में देखने को मिलती हैं, परन्तु वास्तव में सर्वप्रथम गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ या 'स्काईस्क्रेपर' अमेरिका के शिकागो नगर में बनना शुरू हुई थीं। ऊपर के चित्र में शिकागो के एक भाग का दृश्य है।

निर्माण-कला में रोमन-युग के बाद अब वास्तविक क्रान्तिकारी परिवर्तन लेकर यह इस्पात युग आया। अब तक पत्थर अथवा ईंट की दीवालें समूचे भवन का बोझ सँभालती थीं, किन्तु इस्पात की गर्डरों ने ऊँची अट्टालिकाओं में प्रत्येक मंज़िल का भार अलग अलग सँभालने का गुर पहली बार भवन-निर्माताओं को बतलाया। स्थापत्य-कला ने मानो एक छलाँग में विकास का एक लम्बा रास्ता तय कर लिया। पत्थर और ईंटों के भारी भरकम बोझ से दबी हुई इमारतों को इस्पात की बदौलत पहली बार आकाश छूने की सम्भावना दिखाई दी। इस्पात के ढाँचों पर पतली दीवारें खड़ी करके गगनचुम्बी इमारतों का निर्माण करना मानों इस आधुनिक युग की स्थापत्य-कला का प्रतीक बन गया।

कारों के मन में व्याप गया कि १६ वीं शताब्दी की प्रमुख देन—लोहा-सरीखी सामग्री—का प्रयोग उन्होंने यदि इमारतों के निर्माण में किया तो उसे भी एक विशेष पद्धति द्वारा रँग-रँगाकर लकड़ी का रूप पहनाया और इस ख़ूबी के साथ यह काम किया कि साधारण व्यक्ति की आँखें निश्चय ही धोखा खा जायँ। यदि उन्होंने रबड़ का प्रयोग किया तो पालिश और रंग चढ़ाकर उसे भी संगमरमर का रूप देने की कोशिश की। क्योंकि अब तक लकड़ी और संगमरमर का ही प्रयोग बढ़िया इमारतों में होता आ रहा था और कलाकार अपनी कला का प्रदर्शन लकड़ी और संगमरमर पर ही करना जानते थे। रबड़ और धातुओं पर अपनी कलात्मक सृजनशक्ति को आजमाना उन्हें मंजूर नहीं था। वस्तुत. यह कहना ग़लत न होगा कि १६ वीं शताब्दी स्थापत्य-कला का कलंक-युग था, जबकि मशीनों की चकाचौंध में मानव कला के क्षेत्र में नवसृजन का सूत्र खो बैठा था।

किन्तु इस चकाचौंध से सँभलने में सभ्य समाज को बहुत देर न लगी—शीघ्र ही प्राचीन रूढ़ियों को त्यागकर उसने नवीन परिस्थितियों के अनुकूल अपनी स्थापत्य-कला का विकास करना आरम्भ कर दिया। भवन-

प्राचीन काल में विशालकाय इमारतें, धीरे-धीरे एक लम्बे अरसे में तैय्यार की जाती थीं। उनके निर्माण में किसी प्रकार की जल्दी नहीं की जाती थी। हज़ारों लाखों की संख्या में मज़दूर उन पर खटते थे। साथ ही उन दिनों विशालकाय भवनों का निर्माण या तो सरकार कराती थी या धार्मिक संस्थाएँ ही। मिस्र के पिरेमिड, आगरे का ताजमहल, लन्दन का सेण्टपाल कैथेड्रल तथा मध्य योरप के अनेक गिर्जाघर इसके उदाहरण हैं। आधुनिक युग व्यवसाय के साँचे में ढल चुका है—जीवन चक्र पहले की अपेक्षा कहीं अधिक तेज़ी से अब घूमता है। अब किसी को इतनी ताब नहीं कि तीस बरस तक

ताजमहल के निर्माण के लिए वह प्रतीक्षा कर सके। अब तो उसे चालीस-पचास तल्ले की गगनचुम्बी इमारतें साल छः महीने के अन्दर ही खडी करने की धुन रहती है। फिर बड़े पैमाने के व्यवसाय ने व्यवसायियों के हाथ में इतनी विशाल सम्पत्ति पहुँचा दी है कि जिन विशाल इमारतों के निर्माण करने में सरकार भी हिचकिचाए, उन्हें वे आसानी से अपनी थैली के बल पर बनवा सकते हैं। और इन्हें ऐसी इमारतों की आवश्यकता भी है। अमेरिका जैसे व्यवसाय-प्रधान देशों में गाँव की जनता का एक बहुत बड़ा अंश कृषि कार्य को ट्रैक्टरों और मशीनों पर छोडकर शहरों में आ बसा है, जहाँ कारखानों में तरह-तरह के सामान मशीनों द्वारा तैय्यार कराते हैं। आवश्यकता तथा विलास-वैभव के भाँति-भाँति के सामान की तैय्यारी के लिए, उनके बेचने का प्रबन्ध करने के लिए, तथा उनसे सम्बद्ध कारबार की देखरेख के लिए हज़ारों-लाखों की संख्या में इमारतों की ज़रूरत पडती है। फिर इस व्यवसाय में लगे हुए व्यक्तियों के रहने के लिए भी उसी अनुपात में अनगिनत मकान चाहिएँ। ये इमारतें वृहत्काय तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से निर्दोष होनी चाहिएँ। आधुनिक युग की इस आवश्यकता को पूरी करने के उद्योग में ही वास्तुकला के लौहयुग का जन्म हुआ। इस दिशा में सबसे पहले क़दम संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) और जर्मनी ने बढ़ाया। और ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि फ़ैक्टरी और कारखानों का विकास सबसे अधिक पहले इन्हीं देशों में हुआ।

बड़े कारख़ानों में हज़ारों की संख्या में कारीगर काम करते हैं, कारख़ाने से सम्बद्ध आफ़िस में भी सैकड़ों क्लर्क तथा अन्य कर्मचारी लगे रहते हैं। शहर से बाहर रहने में इनके आने-जाने में समय और पैसे दोनों ख़र्च होते हैं। अत फ़ैक्टरी की उत्पादन-शक्ति बढाने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि इनके रहने के लिए फ़ैक्टरी के पास शहर में ही भीमकाय इमारतें बनाई जायँ। अमेरिका और कनाडा की गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ (स्काईस्क्रेपर) इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाई गई हैं। व्यवसायप्रधान नगरों में भूमि इतनी सुलभता से नहीं मिल सकती कि दूर तक फैली हुई इमारतें वहाँ बनाई जा सकें—अत. इमारतों में यथेष्ट जगह बनाने के लिए उन्हें अगल-बगल में न फैलाकर सीधे ऊपर को ले जाना पड़ा।

प्रारम्भ में अधिक से अधिक पाँच छः तल्ले ऊँची इमारतें ही बनाई गईं। इस्पात के बल पर और भी ऊँची इमारतें बनाई जा सकती थीं, किन्तु केवल सीढ़ियों के सहारे बार-बार इतने ऊँचे चढ़ना साधारण व्यक्तियों के बस की बात न थी। अत. वास्तव में गगनचुम्बी इमारतों का बनना विद्युत् लिफ़्ट के आविष्कार के बाद हुआ, जिससे ऊपर चढ़ने-उतरने की समस्या हल हो गई।

गगनचुम्बी इमारतें स्थापत्य-कला में एक क्रान्तिकारी युगान्तर की प्रतीक हैं। इस्पात के ढाँचे पर खड़ी ये इमारतें अन्य सभी श्रेणी की इमारतों से इस बात में भिन्न

ऊँचाई के लिहाज़ से दुनिया की दूसरी सबसे महान् अट्टालिका—न्यूयार्क की 'क्रिस्लर बिल्डिंग' (ऊँचाई १०४६ फ़ीट)

हैं कि इनकी दीवालों पर किसी प्रकार का बोझ सभालने का काम नहीं रहता। ये दीवालें वास्तव में इमारत के लिए हलके परदे मात्र का काम देती हैं, जो धूप, हवा और वर्षा से उसमें रहने वालों की रक्षा करती हैं— प्रधान इमारत का सारा बोझ तो इस्पात के उस ढाँचे पर ही टिका रहता है जो इमारत की ठठरी के रूप में खड़ा किया जाता है और जो उसके कलेवर के भीतर छिपा रहता है। ईंट पत्थर के साधारण मकानों में ऊपर के प्रत्येक तल्ले का नक्शा निचले तल्ले की दीवालों की डिजाइन द्वारा ही निर्धारित होता है। ऐसे मकानों में ऊपर के तल्लों की डिज़ाइन स्वतंत्र रूप से नहीं बनाई जा सकती, क्योंकि ऊपर के तल्ले में कमरे घेरने के लिए दीवालें नीचे के तल्ले की दीवालों के ऊपर ही बन सकती हैं। इसके प्रतिकूल इस्पात के ढाँचे पर बने हुए भवन में प्रत्येक तल्ले पर कमरों की डिज़ाइन भिन्न बनायी जा सकती है क्योंकि दीवालें उसी तल्ले के लौह ढाँचे पर टिकी रहेंगी। नीचे के तल्लों पर वे किसी भी प्रकार आश्रित न रहेंगी। एक बार तैय्यार हो जाने पर साधारण ढग की इमारतों के अन्दर कमरों आदि की डिजाइन बदलने में बड़ी अड़चन पड़ती है, किन्तु इस्पात के ढाँचेवाले भवन के किसी भी तल्ले में जब चाहें तब मनमाने परिवर्त्तन किए जा सकते है, क्योंकि इसके प्रत्येक तल्ले का निर्माण स्वतंत्र रूप से होता है। इस प्रकार के परिवर्त्तन से ऊपर या नीचे के तल्लों पर किसी प्रकार का असर नहीं पड़ता।

यदि मिस्र का सुप्रसिद्ध महान् पिरैमिड न्यूयार्क की गगनचुम्बी अट्टालिकाओं के बीच लाकर स्थापित किया जाय तो वह कैसा दिखेगा, इसकी कल्पना चित्रकार ने इस चित्र में की है। अदाज़ लगाया गया है कि महान् पिरैमिड के आकार का हुबहू एक पत्थर का स्तूप न्यूयार्क में खड़ा किया जाय तो उसमें ४७ करोड़ रुपए ख़र्च होंगे, यद्यपि समय ३ महीने ही लगेगा!

अमेरिका के स्थापत्य-कलाकारों ने गगनचुम्बी इमारतों के निर्माण में उपयोगिता के सामने कला का तिरस्कार किया हो, यह बात नहीं है। इन कलाकारों ने गोथिक शैली की सर्वोत्तम ख़ूबियों को अपनाया है। गोथिक शैली की विशेषता यह है कि देखनेवाले की आँखें बरबस इमारत के ऊपर की ओर उठ जाती हैं। इन गगनचुम्बी इमारतों की डिज़ाइन में भी यही ख़ूबी नज़र आती है। इस्पात की गर्डरों के ढाँचे आयताकार बनते हैं। गगनचुम्बी इमारतों के लिए इन ढाँचों की उर्ध्व लीकें अधिक ऊँची रक्खी जाती हैं और क्षैतिज लीक अपेक्षाकृत कम लम्बी। इसी प्रकार समूचा ढाँचा एक पिरैमिड की भाँति समुचित अनुपात के साथ ऊपर सँकरा होता जाता है। किसी भी गगनचुम्बी इमारत को तैय्यार करने के पहले कलाकार उसका एक छोटा नमूना पहले तैय्यार करता है, फिर कला के दृष्टि कोण से उसमें काट-छाँट की जाती है, ताकि बावजूद अपने विशाल आकार के उसके अनुपात में किसी भी पहलू से असामञ्जस्य नज़र न आए। ऐसा करने में न तो इमारत में किसी प्रकार की कुरूपता आने पाती है और न उसकी सामग्री या भूमि ही व्यर्थ में नष्ट होने पाती है। यही कारण है कि हज़ार-हजार फीट ऊँची ये इमारतें कला की दृष्टि से अपने ढग की सर्वाङ्गसम्पूर्ण होती हैं।

इन स्काईस्क्रेपरों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनके बनाने में देर कुछ भी नहीं लगती। इस्पात के ढाँचे प्रति सप्ताह चार मंज़िल के हिसाब से खड़े किये जा सकते

हैं, और दीवालें प्रति सप्ताह तीन मंजिल के हिसाब से। कन्क्रीट की दीवाल लोहे की छड़ों के सहारे पहले जमीन पर लिटाकर सीमेंट आदि से ढाल ली जाती हैं, फिर क्रेन की सहायता से उन्हें उठाकर ठीक स्थान पर इमारत के ढाँचे में खड़ा करके अपनी जगह पर जमा देते हैं। इस प्रकार दीवाल बनाने के लिए लकड़ी के ढाँचे खड़ा करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। स्काई-स्क्रेपर में ढाँचे भरने का काम प्रायः बीचवाली मंज़िल में आरम्भ किया जाता है। इस प्रकार ऊपर और नीचे के तल्ले साथ-साथ बनते जाते हैं। जिस वक्त सबसे निचली मंजिल के कमरे तैय्यार होते रहते हैं, उसी वक्त सबसे ऊपरवाला तल्ला भी तैय्यार हो जाता है। प्रत्येक इमारत के निर्माण के लिए पहले से ही प्रोग्राम बना लिया जाता है कि इतने दिन में इसे तैय्यार करना है। जितने एञ्जीनियर, मिस्त्री, लुहार सभी तत्परता से इसके निर्माण में लग जाते हैं। आँधी तूफान, वर्षा किसी भी चीज की वे परवाह नहीं करते। प्रोग्राम के अनुसार उनका काम अबाध रूप से जारी रहता है और अवधि के भीतर ही व इमारत खड़ी कर देते हैं। फिर भी इन ऊँची इमारतों को खड़ी करना कोई आसान काम नहीं है। कहा जाता है कि स्काईस्क्रेपर पर काम करने वाले मिस्त्रियों में कदाचित् ही कोई ऐसा हो जो पाँच वर्ष से अधिक समय तक अपने काम पर बिना किसी दुर्घटना का शिकार हुए डट सका हो। अमेरिका के बड़े शहरों में प्रति वर्ष सौ सवा सौ स्काई-स्क्रेपर तैय्यार किए जाते हैं। अमेरिका के बढ़ते हुए व्यवसाय की तीव्र गति का साथ इसी ढंग की इमारतें दे सकती हैं और यही कारण है कि उस देश में ये इस तेज़ी के साथ पनप सकी हैं।

अमेरिका की ये गगनचुम्बी विशाल अट्टालिकाएँ एक दृष्टि से सर्वसम्पन्न होती हैं। इनके अन्दर आफ़िस, दूकानें,

पेरिस की प्रसिद्ध ईफ़िल मीनार
इस गगनचुम्बी स्मारक की ऊँचाई ९८४ फ़ीट है।
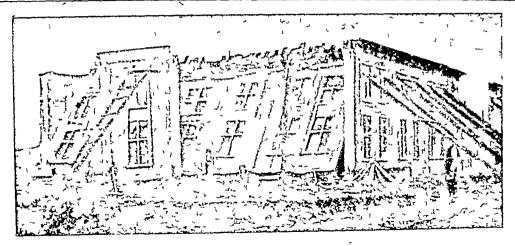
आज दिन इमारत के इस्पाती ढाँचे को ढकने के लिए जो दीवारें निर्मित की जाती हैं, वे ज़मीन पर ही बिछाकर कंक्रीट से ढाल ली जाती हैं और फिर इसी तरह खड़ी करके अपने स्थान में लगा दी जाती हैं।

थियेटर, सिनेमा, क्लब, होटल, गिर्जाघर, स्नान के तालाब तथा पार्क और वाटिकाएँ सभी कुछ आप मौजूद पाएँगे। प्रायः इन अट्टालिकाओं में रहनेवाले लोग हफ्तों तक बाहर सड़क पर नहीं जाते। उसी इमारत के अन्दर उनकी सभी आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं—प्रात.काल उठकर वे जलपानगृह में चाय-पानी पीकर उसी इमारत में स्थित ऑफिस में जाकर अपना कार्य करते हैं, तीसरे पहर को वहीं के होटल में खाना खाकर फिर शाम को उसी में स्थित क्लब में टेनिस खेलकर रात की दावत भी अपने मित्र के यहाँ उसी इमारत के किसी तल्ले में खाने जाते हैं। सब-कुछ उस विशालकाय इमारत के भीतर ही हो जाता है। सबसे ऊपर की छत पर पार्क बने होते हैं जहाँ उस इमारत के किराएदार शुद्ध वायु का सेवन प्रात. और सायंकाल करते रहते हैं। सुमनोहर हरी दूब, फूलों के पौधों आदि से सज्जित छत पर की ये वाटिकाएँ वेबीलोन की झूलती हुई वाटिकाओं की याद दिलाती हैं, जिन्हें लगभग २६०० वर्ष पूर्व वेबीलोनिया के तत्कालीन एक बादशाह ने अपनी पत्नी के मनोरंजन के लिए ३०० फ़ीट ऊँचे स्तम्भों पर मेहराब डालकर तथा उन पर छत का निर्माण कर किया था। इस छत पर फूल, पौधे, झाड़ियाँ आदि लगाकर एक सुरम्य वाटिका तैय्यार की गई थी। इस झूलती हुई वाटिका में जगह-जगह कृत्रिम पहाड़, झरने तथा झीलें बनाई गयी थीं जिन्हें देखकर बादशाह की पत्नी को बोध होता कि वह अपने जन्मभूमि के पहाड़ी प्रदेश में ही विचर रही है।

इन गगनचुम्बी इमारतों के नीचे की दस मंजिलों की खिड़कियाँ सदैव बन्द रहती हैं ताकि शहर की गर्दभरी दूषित वायु कमरों में न जा सके। विद्युत् यंत्रों द्वारा ताजी और शुद्ध हवा इन कमरों में ऊपर से भेजी जाती है। जाड़े के दिनों में यह हवा नीचे भेजी जाने के पहले उपयुक्त तापक्रम तक गर्म कर ली जाती है, फिर कमरों में घुमाते हुए इसे नीचे भेजते हैं। दो-दो चार-चार मिनट के उपरान्त ऊपर से इस ताज़ी हवा के झोंके नीचे भेजे जाते हैं।

सफाई की दृष्टि से ये अट्टालिकाएँ आदर्श साबित होती हैं। कन्क्रीट की दीवाल और फ़र्श पानी की धार से अच्छी प्रकार धोई जा सकती हैं और चूहे आदि इनकी दीवालों में कुछ भी नहीं कर सकते।

यद्यपि संसार की सबसे ऊँची इमारतें आज दिन न्यूयार्क में देखने को मिलती हैं, परन्तु वास्तव मे सर्व-प्रथम गगनचुम्बी इमारतें अमेरिका के शिकागो नगर में बनाई गई थीं। शिकागो की धरती में चट्टानों का अंग कम है, अतः इन भारी इमारतों की नींव तैय्यार करने के लिए विशेष उपायों की शरण लेना पड़ी। पुलों के स्तम्भ के लिए जिस प्रकार नींव तैय्यार करने के लिए इस्पात के पीपों में सीमेण्ट भरकर उन्हें धरती में गलाया जाता है, उसी प्रकार इन इमारतों की नींव में भी ऐसे सीमेण्ट-भरे हुए पीपे गलाए गए। नींव की खराबी के कारण शुरू की बनी हुई अनेक गगनचुम्बी इमारतें कालान्तर में काफी नीचे को धँसीं, कुछ तो लगभग १ फ़ुट तक धँस चुकी हैं। इसके प्रतिकूल न्यूयार्क नगर एक मजबूत चट्टान के ऊपर बसा हुआ है, अत गगनचुम्बी ऊँची इमारतों की नींव के लिए यहाँ की धरती हर तरह से उपयुक्त है। इसीलिए न्यूयार्क मे ऐसी इमारतें बहुत अधिक बन सकी हैं। न्यूयार्क में इमारतों के इस प्रकार ऊँची बनाए जाने का एक कारण वहाँ जगह की बेहद कोताही भी है। शायद आपको ज्ञात हो कि हमारे देश के बंबई नगर की भाँति न्यूयार्क का सबसे महत्त्वपूर्ण

भाग द्वीप पर बसा हुआ है, और ज्यों-ज्यों इस महानगर की वृद्धि होती गई त्यों-त्यों ज़मीन की कमी के मारे लोगों ने इमारतों को ऊँचे चढ़ाना शुरू किया। फल यह हुआ कि आज दिन संसार की सबसे ऊँची गिनी-चुनी इमारतों में, पेरिस की ईफ़िल मीनार को छोड़कर, छः सौ फीट से अधिक ऊँची सर्वप्रथम बारह अट्टालिकाएँ अकेले न्यूयार्क नगर में ही हैं। इन इमारतों की सिरमौर है सुप्रसिद्ध 'एम्पायर स्टेट बिल्डिंग', जिसका चित्र पृष्ठ २३२८-२९ पर आप देख सकते हैं। यह संसार की सबसे ऊँची इमारत है। एम्पायर स्टेट बिल्डिंग के निर्माण में लगभग ५८ हज़ार टन इस्पात, ७ हजार घनगज़ कन्क्रीट, २० लाख घनफ़ीट चूना, ३० लाख ईंटें और ३० लाख वर्गफ़ीट तार की जाली काम में लायी गई। १२४८ फीट ऊँची इस इमारत में कुल १०२ तल्ले हैं। इसमें लगी हुई तमाम खिड़कियों की संख्या ६४०० है। दिन-रात ६७ विद्युत् लिफ़्ट इसमें ऊपर-नीचे चढ़ा-उतरा करते हैं। यह विशालकाय इमारत स्वयं एक छोटा-मोटा क़स्बा-सा है, जिसमें दिन के समय २०००० व्यक्ति रहते हैं, जो विभिन्न पेशों में लगे रहते हैं। कामकाज के सिलसिले में पन्द्रह-बीस हजार व्यक्ति और भी इस इमारत में आते-जाते रहते हैं। यों तो इसमें ८० हज़ार तक आदमी रह सकते हैं। इस भवन की चोटी पर गैसलीन वायुपोतों के लंगर के लिए चमकदार इस्पात का एक स्तम्भ लगा हुआ है, जिसके शिखर की ऊँचाई सड़क से १२४८ फीट है। यह अट्टालिका १९३१ में तैय्यार हुई थी। और इतनी बड़ी इमारत को तैय्यार करने में कुल १२ महीने का समय लगा था। कुल मिलाकर इसमें लगभग १५०,०००,००० रुपये ख़र्च हुए थे।

एम्पायर स्टेट बिल्डिंग के बाद न केवल न्यूयार्क की बल्कि सारे संसार की इमारतों में दूसरा नंबर 'क्रिस्लर बिल्डिंग' का है, जो ऊँचाई में एम्पायर स्टेट बिल्डिंग से लगभग २०० फीट ही कम है। किसी-किसी के मत में यह इमारत एम्पायर स्टेट बिल्डिंग से कहीं अधिक सुंदर है, विशेषकर इसके शिखर की मीनार बड़ी ही चित्ताकर्षक है। इसकी एक गैलरी की छत पर संसार का सबसे बड़ा भित्ति-चित्र चित्रित है—लगभग ११० फ़ीट लंबा और ६७ फ़ीट चौड़ा। इस इमारत में ७७ मंज़िलें हैं और ज़मीन से शिखर तक की इसकी पूरी ऊँचाई १०४६ फीट है। पृष्ठ २३३१ का चित्र देखिये।

एक आधुनिक स्काइस्क्रेपर के निर्माण का दृश्य

देखिए इस्पात की गर्डरों की ठठरी पर किस प्रकार बीच की मंज़िलों ही से दीवारें चुनी जा रही हैं।
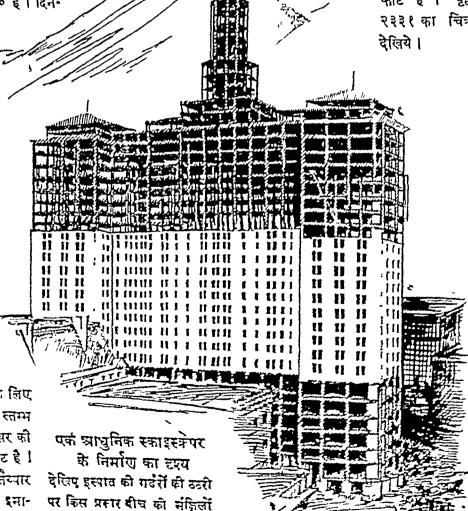
किन्तु ऊँचाई में अपने ही शहर की अन्य कई इमारतों से कम होने पर भी न्यूयार्क की सबसे विशद इमारत सुप्रसिद्ध राकफ़ेलर सटर की अट्टालिका है। यह वस्तुत एक इमारत नहीं बल्कि कई इमारतों का समूह कहा जा सकता है। यह इमारतों का जमघट लगभग १२ एकड भूमि पर फैला हुआ है, जिसमें १२ इमारतें हैं। इन इमारतों के मध्य में ८५० फीट ऊँची 'रेडियो कारपोरेशन ऑफ अमेरिका' की भव्य अट्टालिका है। इस पूरे समूह की आबादी २ लाख के लगभग होगी। यदि आपको आँकड़े जानने का शौक़ हैं तो इतना कहना पर्याप्त होगा कि इमारतों के इस समूह में लगी खिड़कियों की संख्या २८०००, दरवाज़ों की संख्या १००००, और बिजली के लिफ़्टों की सख्या १८५ है। इसके निर्माण में कुल १२५,००० टन ईस्पात तथा ४० करोड़ ईंटों का प्रयोग हुआ है!

न्यूयार्क की ऊँची अट्टालिकाओं में एक और इमारत उल्लेखनीय है और वह है 'वूलवर्थ बिल्डिंग', जो कई दिनों तक संसार की सबसे ऊँची इमारत रही है। यह इमारत १९१३ में बनी थी। इसमें कुल ५५ तल्ले हैं। इसकी ऊँचाई ७९२ फ़ीट तक पहुँचती है। इसके कमरों के फ़र्श का क्षेत्रफल ३० एकड़ से अधिक है। इन कमरों में हवा-रोशनी पहुचाने के लिए ५ हज़ार खिड़कियाँ लगी हुई हैं। इमारत की देखभाल के लिए ३०० कर्मचारी नियुक्त हैं, जिनमें आग बुझानेवाले, चौकीदार, मिस्त्री तथा बिजली ठीक करनेवाले इञ्जीनियर भी शामिल हैं। मानों एक छोटे-मोटे क़स्बे की देखरेख करने के लिए ये कर्मचारी रखे गए हों।

न्यूयार्क की अन्य महान् अट्टालिकाओं के नाम हैं 'वाल टावर' (९८४ फ़ी०) 'रेडियो बिल्डिंग' (८४० फी०), 'मनहट्टन बैंक' (८३८ फी०), 'मेट्रापालिटन लाइफ़ बिल्डिंग' (७०० फी०) 'न० ५०० फ़िफ़्थ एवेन्यू' (६९९ फी), 'सिटी बैंक' (६८६ फी०) और 'सिंगर बिल्डिंग' (६१२ फ़ी०)। न्यूयार्क के अतिरिक्त शिकागो, फ़िलाडेल्फ़िया, बोस्टन, डेट्राइट, सैन फ्रान्सिस्को आदि अन्य अमेरिकन नगरों में भी स्काइस्क्रेपर के ढँग की इमारतें बनी हैं, पर स्थानाभाव के कारण हम इनका विशेष विवरण देने में यहाँ असमर्थ हैं।

अमेरिका से बाहर न तो इतनी ऊँची इमारतें इधर बनीं और न अभी बनने की उम्मीद ही है। लंदन, टोकियो, बर्लिन, आदि संसार के अन्य कई महानगर न्यूयार्क के प्रतिस्पर्द्धी हैं, किन्तु वहाँ के नगर-विधान के अनुसार केवल एक निश्चित ऊँचाई तक ही मकान बनाए जा सकते हैं, इसलिए वहाँ इतनी ऊँची अट्टालिकाएं बनने की अभी कोई सम्भावना नहीं दीखती। हाँ, अमेरिका से बाहर एक स्मारक ज़रूर ऐसा है, जो ऊँचाई में वहाँ की अट्टालिकाओं से होड़ बद सकता है और वह है पेरिस की सुप्रसिद्ध 'ईफ़िल मीनार', जिसकी ऊँचाई ९८४ फ़ीट है। लगभग ७००० टन लोहे से बनाई गई यह भीमकाय रचना सन् १८८९ में पेरिस की नुमाइश की याद में बनाई गई थी और तब से अब तक ज्यों की त्यों अटल खड़ी हुई अपने निर्माता के नाम को अमर किए हुए है। इसके ऊपर तक बिजली का लिफ़्ट गया है, और शिखर पर से वायरलेस के ब्राडकास्ट होते हैं।

इस स्थान पर मिस्र के महान् पिरैमिड से इन गगनचुम्बी अट्टालिकाओं की तुलना करना अनुपयुक्त न होगा। महान् पिरैमिड मिस्र में काहिरा नगर से थोड़ी दूर पर स्थित है। इस स्तूप की चारों आधार रेखाओं में से प्रत्येक ७५५ फीट लम्बी है, तथा इसके शीर्ष भाग की ऊँचाई ४५० फीट है। पिरैमिड का आधार लगभग १५ एकड़ भूमि पर फैला हुआ है। अनुमान किया जाता है कि एक लाख मजदूरों ने २० बरस में इस स्तूप का निर्माण किया था। लगभग ६० लाख टन पत्थर इसके बनाने के लिए काम में आए थे। ऐसे पत्थरों के टुक्ड़ों की सख्या २३ लाख से ऊपर है। नील नदी के उस पार से ये पत्थर लाये गये थे। बाढ़ के दिनों में ये विशालकाय पत्थर के टुकड़े नाव पर नील नदी में बहाकर लाये जाते थे। तदुपरान्त ढलुए चढ़ाव के सहारे धीरे-धीरे इस पिरैमिड पर रक्खे जाने के लिये ऊपर पहुँचाए जाते। उस ज़माने में न तो आधुनिक ढंग के क्रेन थे, और न अन्य कोई मशीनें। चीटियों की भाँति हज़ारों की सख्या में लगकर गुलाम मज़दूर इन पत्थरों को ऊपर खींचकर ले जाते। इस महान् स्तूप का निर्माण आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व हुआ था। निस्सन्देह तत्कालीन मिस्र-निवासी प्रारम्भिक इञ्जीनियरिंग विज्ञान में सबसे बढ़े-चढ़े हुए थे। अमेरिका के एक इञ्जीनियर ने अनुमान लगाया है कि यदि महान् पिरैमिड के आकार का स्तूप न्यूयार्क नगर में आज दिन बनाया जाय तो लगभग ४७ करोड़ रुपए ख़र्च होंगे यद्यपि उसके निर्माण में कुल ३ महीने का समय लगेगा। इसी कल्पना को पृ० २३३२ के चित्र में अभिव्यक्त किया गया है।
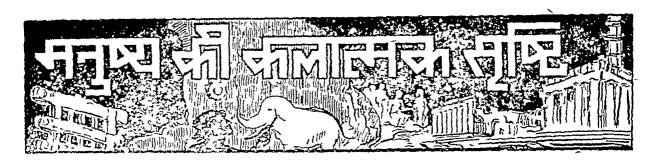
भारतीय कला—(१)

विषय-प्रवेश

मानव-इतिहास के आदि-युग से आरंभ कर हमने पिछले अनेक प्रकरणों में क्रमशः प्राचीन मिस्र, बेबिलोनिया, असीरिया, क्रीट, यूनान, रोम, चीन और जापान आदि की अपने-अपने ढंग की विविध कला-धाराओं के उद्गम, विकास एवं मुख्य-मुख्य विशेषताओं का संक्षेप में परिचय देने का प्रयास किया है, और अब हम आ खड़े हुए हैं स्वयं अपने ही देश—भारतवर्ष—के कला-मंदिर के तोरण-द्वार पर! वास्तव में तो हमें इससे पहले ही अपने घर का द्वार खटखटा लेना चाहिए था, किन्तु हमने यह आवश्यक समझा कि अपनी इस पैतृक निधि का यथार्थ मूल्य आँकने और उसकी गौरव-गरिमा को ठीक-ठीक समझ पाने के लिए पहले औरों की कमाई पर भी नज़र दौड़ा लें। और हमें विश्वास है कि हमारा यह श्रम विफल नहीं रहा है—हम संसार के अपने अन्य सभी प्रमुख प्राचीन पड़ोसियों की पूँजी की जानकारी लेकर अब स्वयं अपने ख़ज़ाने की झाँकी देखने को बढ़ रहे हैं। निस्सन्देह अभी अपनी इस वसीयत का पूरा-पूरा नाप-जोख करते कई दिन हमें लगेंगे। तो फिर आइए, पहले उन आरंभिक सूचनाओं और हिदायतों को पढ़ लें, जो इस कला के महान् संग्रहालय में प्रवेश करने के पहले जान लेना ज़रूरी है।

इसके पहले कि हम भारतीय कला क्षेत्र का सुविस्तृत रूप से दिग्दर्शन आरंभ करें, यह बेकार न होगा यदि हम उसकी कुछ प्रमुख विशिष्टताओं को जान लेने का यत्न करें। अब तक जिन-जिन महादेशों की कलाओं का पिछले प्रकरणों में हमने निरीक्षण किया है उनमें से प्रत्येक की कला पर कोई-न-कोई अपनी निजी विशेषता और निरालेपन की छाप हमें दिखाई दी, प्रत्येक का कोई गुप्त प्रेरणा-स्रोत हमें दृष्टिगत हुआ जिसने अन्य सब देशों की कलाओं से विशिष्ट बनाकर उसके ललाट पर मानो सदा के लिए उस जाति विशेष का एक परिचयात्मक चिह्न अंकित कर दिया, जिससे कि उसका जन्म हुआ था। इस प्रकार प्राचीन मिस्र की कला को हमने शाश्वतता, अटल अडिग स्थिरता एवं अपरिमेय भव्यता के प्रतीक के रूप में अपने आपको अभिव्यक्त करते देखा तो असीरियन कला निर्द्वन्द्व शक्ति, यूनानी कला दैहिक सौन्दर्य विषयक परिपूर्णता तथा प्रकृतिपरक मानववाद, चीनी कला अविचलित शान्त तत्त्वचिन्तन एवं गहन अन्तर्दर्शन और जापानी कला पूर्ण सामंजस्य तथा सुरम्य प्रकृति-पूजन के भाव का प्रतिनिधित्व करते हमें दिखाई दी। भारतीय कला का भी इसी प्रकार अपना एक मूल प्रेरक उद्गम-स्रोत रहा है, जिससे उसकी समस्त कलात्मक धाराएँ अपनी मर्मर संगीत-ध्वनि लेकर उच्छ्वसित हुई हैं। वह प्रेरणा स्रोत है 'धर्म', जो हमारी सबसे बड़ी वसीयत—सबसे अनमोल पैतृक संपत्ति है। संसार के अन्य किसी भी राष्ट्र के पास इससे अधिक मूल्यवान पैतृक निधि नहीं है, और न कहीं और देखने को मिल सकता है एक के बाद एक आनेवाली अगणित शताब्दियों के विशद चित्रपट पर उस वसीयत की अटूट पैतृक धारा का वह निरंतर उमड़ता हुआ प्रवाह ही, जो हम भारतवासियों ही को नसीब हुआ है। आज दिन मिस्र के वे प्राचीन देवता कहाँ हैं? उनकी विशाल भव्य पाषाण-प्रतिमाएँ तो निस्सन्देह अब भी खड़ी हैं, किन्तु नील नदी की उपत्यका में धरती जोतनेवाला मिस्र का कृषक आज उनकी ओर किंचित् मात्र भी उस सम्मान के भाव से नहीं देखता, जैसा कि उसके पूर्वज देखा करते रहे होंगे। इसी प्रकार बाल (Baal), मोलोक (Moloch), एस्टार्ट (Astarte) आदि बाबुली देवी देवता भी अतीत के अन्धकारपूर्ण विस्मृति-लोक में कभी के निर्वासित कर दिए जा चुके और यूनानी देवता अपोलो भी ललित कला की अधिष्ठात्री अपनी सहयोगिनी देवियों सहित पार्नेसस पर्वत के शून्य निर्जन वनों में निराश्रित ठंडी आहें भर रहा है! किन्तु भारत का सीधा-सादा ग्रामवासी तो आज भी अपने साथी-संगियों का अभिवादन 'जय रामजी की' कहकर ही करता है, यद्यपि रघुराज

श्रीरामचन्द्र सहधर्म्मिणी-सहित अपने उज्ज्वल चरणों से इस देश की भूमि को पावन करते हुए जिन दिनों यहाँ के आदिकालीन वनों में विचरे होंगे, उस समय को गुज़रे हज़ारों युग बीत चुके। यही बात श्रीकृष्ण, शिव, दुर्गा, बुद्ध, शंकर आदि अन्य दिव्य मनीषियों के बारे में भी कही जा सकती है, जो हमारे यहाँ एक बीते युग के कल्पित देवताओं या पौराणिक व्यक्तियों के रूप में नहीं प्रत्युत् विविध रूप और आकृतियों में अपने आपको अभिव्यक्त करनेवाले एक ही परमात्मा की प्रतीक-रूपी जीती-जागती शक्तियों के रूप में माने जाते हैं। इस प्रकार हमारे यहाँ इन सबका आज दिन भी वैसा ही वास्तविक अस्तित्व स्वीकार किया जाता है जैसा कि भारतीय इतिहास के धुँधले आदि-युग में उन्हें प्राप्त था और अंतर्राष्ट्रीयतावाद के दिन पर दिन बढ़ते जा रहे प्रभाव के बावजूद भी भारत की जीवनधारा में आज भी धर्म का पुट उसी प्रकार मिला हुआ है, जिस प्रकार कि वह तुलसीदास, कबीर, चैतन्य, शकर, बुद्ध, महावीर या उनके भी पूर्व के पौराणिक और वैदिक ऋषियों के युग में था।

कला के इतिहास की एक सरसरी-सी जानकारी भी किसी भी जिज्ञासु के मन में यह बात जमाने के लिए पर्याप्त है कि संसार के लगभग सभी देशों में प्रेम और धर्म इन दो तत्त्वों का स्थान मानव-जीवन में सदैव एक आधारशिला के रूप में रहा है। धर्म ही वह सर्वोपरि शक्ति है, जो मनुष्य को दृश्य जगत् से परे के उस रहस्यमय अदृष्ट लोक में कुछ खोजने को निरंतर प्रेरित करती रहती है जहाँ देश और काल का अस्तित्व नहीं पाया जाता, और जहाँ विविध रूपधारी परम सत्ता का केवल एक ही अंतिम रूप दिखाई देता है। वह परम सत्ता उपासक के गुण-स्वभाव एवं वैयक्तिक प्रवृत्तियों के अनुसार किसी को परम शक्ति के रूप में तो किसी को परम ज्ञान अथवा परम आनन्द के रूप में दिखाई देती है और अंत में साधक की परम सिद्धि की पराकाष्ठा उस समय होती है जब कि वह अपने मनोनीत इष्टदेव में तादात्म्य भाव से धुलमिलकर एकाकार हो जाता है। औसतन प्रत्येक भारतवासी जब अपनी-अपनी रुचि विशेष के अनुसार अपने इष्टदेव की मनोनीत रूप में उपासना करता है तो उस समय वह इस बात को अच्छी तरह से जानता है कि जो परमात्मा उसे उस समय एक विशिष्ट रूप में दिखाई देता है वह अपनी निरपेक्ष अवस्था में वस्तुतः किसी भी रूप या आकार में बद्ध नहीं होता—वह तो पूर्णतः निर्गुण और निराकार है। केवल अपने भक्तों की आराधना के मार्ग को सरल बनाने के हेतु ही वह वर्णनातीत निर्गुण ब्रह्म सगुण रूप धारण कर दिखाई देता है। चूंकि उस परम शक्ति की सत्ता और गुण अनंत हैं, अतएव उसके दिखाई पड़नेवाले विविध रूपों की भी कोई गिनती नहीं लगाई जा सकती—वह अनन्तरूप है। हिन्दू धर्म के उपासना क्षेत्र में उन अनगिनत देवी-देवताओं के पाये जाने का यही मूल रहस्य है, जिनको कि देख-देखकर पाश्चात्य समीक्षक इतने अधिक खीझ उठते हैं तथा जिनके कारण परस्पर न जाने कितनी कटुता, उपहास और ग़लतफ़हमी पैदा हुई है। वस्तुत प्रत्येक हिन्दू अपनी मनोनीत पद्धति से उपासना करते समय अन्य लोगों द्वारा अपने-अपने ढंग से चाहे जिस रूप में ईश्वर को पूजने की स्वतन्त्रता को उदारतापूर्वक सहर्ष स्वीकार करता है, क्योंकि उसका तो यह दृढ विश्वास है कि उपासना के जितने भी अलग-अलग पंथ हैं, उनका यदि सच्चे भावपूर्वक अनुसरण किया जाय तो वे सभी एक ही परम लक्ष्यबिन्दु अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति की ओर ले जायँगे। दूसरों के प्रति इस प्रकार की उदारता का भाव रखने तथा अन्य धर्मों में जो कुछ भी ऊँची उठानेवाली बात हो उसके साथ आध्यात्मिक नाता जोड़ने की इस प्रवृत्ति के फल-स्वरूप ही भारतवर्ष की विचारधारा में धार्मिक सहिष्णुता की एक ऐसी प्रगाढ़ भावना पनप सकी है जैसी कि अन्य किसी भी देश में नहीं पाई जाती। और यदि धर्म के नाम पर मंदिरों आदि को नष्ट भ्रष्ट करने तथा अपने से पृथक् विचार रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति तथा संस्था को निर्दयता पूर्वक कुचलने और नेस्तनाबूद करने की कलंकमयी प्रवृत्ति ने भारतीय इतिहास के पन्नों पर अपने कालिमा-मय पदचिह्न छोड़े हैं तो वह विदेशों से आए हुए विजयोन्माद से मदमाते धर्मान्ध आक्रमणकारियों के आगमन के बाद ही हुआ है। किन्तु प्रकृति और काल-चक्र के प्रहार तथा अर्थलोलुप विजेताओं अथवा धर्मान्ध अत्याचारियों द्वारा किए गए निरंतर आघातों के बावजूद भी इस देश के एक छोर से दूसरे छोर तक देवालयों में प्रतिष्ठित अनगिनत देवी-देवताओं का जो भव्य समारोह हमें आज भी देखने को मिलता है, वह इस बात का जीवित प्रमाण है कि एक के बाद एक आने-वाली विगत अनेक शताब्दियों की कालावधि में युगों

और मध्ययुगों के दुर्भेद्य पाषाण खण्डों को काटते हुए किस प्रकार इस देश की धर्म एवं आध्यात्मिक साधना की कलकलमयी मंदाकिनी शत-सहस्र वीथिकाओं की रचना कर उनमें निरन्तर प्रवाहित होती रही है। संसार का दूसरा कौन ऐसा देश है, जो एक ही मूल उपासनाक्रम के अपनी जन्मभूमि में इस प्रकार एक अटूट शृंखला के रूप में विकसित होने का सगर्व दावा कर सकता हो?

भारत के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में आदि वैदिक युग से आज तक एक मूलभूत तत्त्व के रूप में धर्म की जो यह अटूट धारा प्रवाहित होती रही है, उसकी यहाँ की कला पर एक अमिट छाप पड़ी है। व्यर्थ के विवाद में पड़े बिना ही हम भारतीय-कला पर भारतीय धर्म के प्रभाव को संक्षेप में केवल दो शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं—लाक्षणिक प्रतीकवाद और रूढ़ि अथवा परम्परानुसरण। एक ही परम सत्ता के अगणित रूपों में पूजन आराधन के परिणामस्वरूप स्वभावतः ही असंख्य प्रतीकों का भी जन्म हुआ और कालान्तर में इन लाक्षणिक प्रतीकों को विविध आसन, मुद्रा, रूप, वर्ण, लक्षण, वाहन, आयुध आदि की विशिष्ट नियमावली में बद्ध कर दिया गया। तन्त्रों में, जोकि वेदों से कुछ ही बाद के समय के हैं तथा सभी विवादास्पद बातों के निर्णय के लिए जो वैदिक संहिताओं को ही अंतिम आधार मानते हैं, अनेक मूल वैदिक देवता तांत्रिक 'शक्तियों' के साथ घनिष्ठ रूप में संबद्ध कर दिए गए हैं, और ये शक्तियाँ उन देवताओं के ही स्त्री-रूप तथा उनके विशिष्ट तेज की प्रतीक मानी गई हैं। तन्त्र-मत और महायान बौद्ध मत के समागम से तो मध्य-युग में आकर धार्मिक कल्पना के क्षेत्र में—विशेषकर बंगाल, नेपाल और तिब्बत में—मानों नवसृजन की बाढ़-सी आ गई। अपनी टूटी फूटी हालत के बावजूद भी जिस रूप में 'साधनमाला' नामक उस युग की एक अनमोल कृति हमें मिली है, उसमें प्रतीकवाद की मानों भरमार है और अब भी भारतीय धर्मप्रतिमाओं के प्रत्येक अनुसंधानकर्त्ता को मध्ययुग की तांत्रिक बौद्ध मूर्तियों की पहचान का पता लगाने में एक दुर्लभ आनन्द मिलता है। उन प्रतीकों के गुप्त लाक्षणिक अर्थ की मीमांसा करने की यहाँ आवश्यकता नहीं, यह तो धार्मिक इतिहासकार के अनुसंधान का विषय है। किन्तु तत्कालीन कलाकारों ने जिस प्रकार से उस युग के उन [illegible] साधकों की कुसुमित कल्पनाओं का बराबर ध्यान देते हुए उनके भव्य स्वप्नों को वास्तविकता का परिधान पहनाकर उन्हें एक स्थूल आकार दिया, उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा किए बिना कोई समीक्षक भी नहीं रह सकता।

भारतीय कला में रूढ़ि अथवा परंपरानुसरण के भाव की प्रधानता का कारण इस बात में है कि इस देश की दीर्घ इतिहास-सरिता के निरन्तर उतार-चढ़ाव के बावजूद भी यहाँ की धर्म परम्परा के प्रमुख स्रोत लगातार एक अटूट धारा के रूप में प्रवाहित होते रहे हैं। कई समान और असमान धार्मिक मतों के इस देश में घुस पड़ने के बावजूद भी भारतीय धार्मिक जीवन के शाश्वत धारा प्रवाह में कोई ध्यान देने योग्य परिवर्त्तन नहीं हो पाया है और इसीलिए यहाँ की प्रधान परंपराएँ आज दिन तक वैसी ही गठी हुई और सप्राण हैं जैसी कि उन दिनों रही होंगी जब पहलेपहल उनके आदि रूप अभिव्यक्त हुए होंगे। यह सच है कि विस्तार की बातों में अथवा कुछ गौण विषयों में कई छोटे-छोटे परिवर्त्तन हुए हैं, किन्तु हर हालत में इन विषयान्तरों से उस विविधता और समृद्धि का ही बढ़ावा हुआ है, जिसका अन्यथा आज दिन 'भारतीय कला' के नाम से ज्ञात कलात्मक सृजन के इस विशद भाण्डार में अभाव ही रहता। ये विषयान्तरसूचक नवधाराएँ ही उसमें नवीन जीवन और प्राण का संचार करती रही हैं, अन्यथा वह निरी एक जी उबानेवाली बार-बार दोहराई गई सी वस्तु होती। और फिर भारतीय कला यदि रूढ़िमूलक भी है तो उस प्रकार की नहीं है जैसी कि प्राचीन मिस्र की पुरोहितों द्वारा नियंत्रित कला थी—वह शिल्पशास्त्रों के विविध विधानों और दृढ़ नियमों के बावजूद कभी भी निष्प्राण और अनुर्वर हो जाने की अधोदशा तक न गिरी। पिछले युगों में भारतीय महाद्वीप के भिन्न-भिन्न भागों में धर्म के क्षेत्र में जो साहसपूर्ण नवप्रयोग किए गए, उनसे प्रेरणा पाकर कला के क्षेत्र में भी उतने ही उच्च आशयपूर्ण और साहसिक प्रयोगों की ओर हाथ बढ़ाया गया। आगे चलकर हम देखेंगे कि किस प्रकार इस देश के विविध धार्मिक मत नवीन विचारों के ज्वार-भाटे के साथ साथ नूतन परिधान पहनते रहे और उनके ही साथ-साथ कदम बढ़ाते हुए किस प्रकार कला के क्षेत्र में भी सहानुभूतिसूचक समान रूपान्तर होते गए।

भारतीय परंपरा कभी भी बाह्य आकार-प्रकार को ज्यों-का-त्यों बनाए रखने और उनकी बार बार पुनरावृत्ति करनेवाली परंपरा नहीं रही है, जैसा कि अन्य देशों की परंपराओं के बारे में देखा जाता है। यदि आप कतिपय ग्रीक, रोमन मिस्री या असीरियन मूर्तियों को गौर से देखें तो मेरे इस कथन का आशय आपकी समझ में आ जायगा। आप

देखेंगे कि उन लोगों के यहाँ अपने रोचक इतिहास की इतनी लम्बी अवधि में लगातार एक समान शैली और लगभग एक ही विधि (technique) से काम लिया गया है—साराश यह कि यदि आप उनकी एक ही कृति देख लें तो मानों सभी कृतियाँ आपने देख लीं। आपको सभी ग्रीक मूर्तियों में स्थूल शरीर की मांसल बाह्याकृति का वही एक-सा ऊपरी निदर्शन, वही शरीर-रचना सम्बधी सूक्ष्म रेखांकन, और लगभग वही गिनी चुनी दैहिक मुद्राएँ देखने को मिलेंगी। इसी तरह अनेक शताब्दियों की कालावधि में बिखरी हुई तमाम मिस्री कलाकृतियों में भी वही अविचलित भव्यता और शाश्वतता का भाव, तथा समस्त असीरियन मूर्तियों में वही उद्दण्डता, आतंक और निर्दय सत्ता की भावना आप देखेंगे। इसके प्रतिकूल भारतीय कला में बाह्य आकार-प्रकार संबधी रूढ़ियों का उतना अनुसरण नहीं किया जाता, जितना कि 'रस' विषयक परंपरा का। किसी भी देवता का बाह्य आकार-प्रकार चाहे जैसा हो, उसके प्रतिनिधि भाव में कोई अन्तर नहीं पड़ना चाहिए, यही यहाँ का लक्ष्य रहा है। उदाहरण के लिए शिव, चाहे जिस युग में उनकी प्रतिमा बनी हो, हमें सदैव हर्ष-शोक से परे सर्वव्यापी कल्याणकारी परब्रह्म के ही प्रतीक के रूप में चित्रित दिखाई देते हैं और इसी तरह अपने प्रचण्ड रूप द्वारा भय हरनेवाली मा काली सदैव विश्व संहारक प्रलयंकर शक्ति के रूप में ही हमारे यहाँ प्रदर्शित की गई हैं। यही बात बुद्ध के बारे में भी लागू है, जो सदैव ध्यानमग्न और महान् करुणा से ओत-प्रोत ही दिखाई देते हैं, फिर चाहे उनकी मूर्ति तक्षशिला में गढ़ी गई हो, चाहे अमरावती, मथुरा, अथवा सारनाथ में। उनकी बाहरी आकृति या वेशभूषा में अन्तर पाया जा सकता है—वे कहीं एक यूनानी जैसे, तो कहीं सिथियन, मगधवासी, आन्ध्र, ब्रह्मदेशीय, सिंहली अथवा कंबोजदेशीय जैसे चित्रित किए जा सकते हैं। किन्तु सर्वत्र उनमें 'रस' की परंपरा अक्षुण्ण भाव से समान ही होनी चाहिए। यह जो बाहरी आकार-प्रकार से अधिक आन्तरिक भाव के तत्त्व पर अत्यधिक ज़ोर दिया गया है, सो भारतीय कला की एक ख़ास विशेषता है। अनेक आधुनिक चित्रकार अजंता, तिब्बत, राजपूताना, काँगड़ा, या मुग़ल शैलियों की महज़ नक़ल करके प्राचीन परंपरा को फिर से जगाने की धुन में भारतीय कला की इस अत्यंत महत्त्वपूर्ण विशिष्टता के प्रति ध्यान देने से चूक जाते हैं और किसी भी युग विशेष अथवा स्वयं अपने ही युग की प्रतिनिधि भावना को सही-सही समझे बिना केवल उस युग की गौण रचना विधि का अनुकरण मात्र करने में ही सफल हो पाते हैं। इस प्रकार से प्राचीन कला का पुनरुत्थान असंभव है जब तक कि आज का कलाकार अतीत की उन कृतियों के पीछे जो प्रेरक भाव रहा है उसे फिर से खोजकर न जान ले। वस्तुतः प्रत्येक सच्चे कलाकार को 'रस' के रूप में मिली हुई अपनी उस अनमोल वसीयत के साथ-ही-साथ स्वयं अपने युग के प्रति भी खरा होना चाहिए। सम्भव है कि प्राचीन आकृतियों और रचनाशैली की नक़ल कुछ लोगों को भ्रान्ति में डालकर उन्हें प्राचीन भावना के पुनरुत्थान का भुलावा दे सके, किन्तु एक दक्ष कला-पारखी की आँखें यह भाँपे बिना नहीं रह सकतीं कि यह सिवा रचना-विधि की कलाबाज़ी और थोथी नक़ल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार के अनुकरण के प्रयास कुछ समय के लिए प्रचारवादियों द्वारा प्रशंसित हो अथवा थोथी राष्ट्रीयता की परितुष्टि करके क्षणिक ख्याति-लाभ कर भी लें तो भी अंत में उनके लिए जोश ठण्डा पड़कर असफलता की मरुभूमि में विलीन हो जाना ही बदा है। क्योंकि आंतरिक प्राणशक्ति ही वह प्रेरक शक्ति है जो हर प्रकार के कलात्मक सृजन में ओज भरती है और कला के महान् युग सदैव राष्ट्र की उस प्राणशक्ति के पुनरुत्थान के समय ही प्रकट होते हैं। हम देखते हैं कि बुद्ध की वाणी ने इस देश में ही नहीं बल्कि, जहाँ-जहाँ भी बौद्ध मत फैला वहाँ न केवल आध्यात्मिक उत्थान प्रत्युत् एक सुनिश्चित कलात्मक पुनरुत्थान की भी नींव डाली। साराश यह है कि महान् कला का उदय एक महान् आध्यात्मिक उत्थान के साथ ही होता है और यह एक ऐसा सत्य है जिसकी भारतीय इतिहास में कई बार पुनरावृत्ति होती रही है।

भारतीय कला की तीसरी विशेषता है उसकी आलंकारिकता। भारत के कलाकारों ने अपनी कृतियों को ग्रीक या रोमन कलाकारों की भाँति एकदम प्रकृति की हूबहू प्रतिकृति बनाने का कभी प्रयास नहीं किया, बल्कि उनका प्रयत्न सदैव प्रकृति की नक़ल करने के बजाय उन्हें अपने मन की भावनाओं के अनुकूल बनाने की ही ओर रहा। इसीलिए कुछ सुन्दरता की माँग और कुछ अपनी आन्तरिक भावनाओं के उभाड़ से प्रेरित हो उन्होंने प्रकृति को अपने निजी आयोजन के अनुसार एक नए साँचे में ढालने का प्रयत्न किया और प्राकृतिक तथ्यों को जैसा उन्हें अनुकूल प्रतीत हुआ वैसा ही रूप उन्होंने दिया।

संस्कृत वाङ्मय—(५)

वेदांग और सूत्र-साहित्य, इतिहास (रामायण-महाभारत) और पुराण, तथा तंत्र-साहित्य

वेदांग और सूत्र-साहित्य

मुण्डक उपनिषद् के अनुसार विद्या दो प्रकार की होती है—एक परा, दूसरी अपरा, (१,१,५)। परा वह उत्तम विद्या है जिससे अक्षरब्रह्म का ज्ञान होता है और अपरा विद्या ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष हैं (तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोज्योतिषमिति)। इस तालिका में शिक्षा से ज्योतिष तक की विद्याएँ वेदांगों के अन्तर्गत आती हैं। वेदांगों का यह प्राचीनतम उल्लेख और गणना है। 'वेदांग' का अर्थ है 'वेदों के अंग', जो छः हैं। प्राचीन काल में इनसे पुस्तकों का नहीं वरन् उन नामधेय विषयों का निर्देश होता था जिनसे वेदार्थ समझने में सहायता मिलती थी। इस प्रकार इनका आरंभ ब्राह्मण और आरण्यकों में ही हो गया था, जिनमें इन पर विचार किया गया है। धीरे धीरे इन विषयों में से प्रत्येक की निर्दिष्ट पुस्तकें प्रस्तुत हो गईं।

'सूत्र' का अर्थ है सूत, एक संक्षिप्त परिभाषा अथवा संकेत। अनेक सूत्रों के समाहार को भी सूत्र ही कहते हैं। इनका प्रयोग वैज्ञानिक था। लोग तब विचार्य विषयों को रट लेते थे। इस रटने के कार्य में सूत्र बड़े सहायक होते थे। संसार के साहित्य में यह भारतीय सूत्र-शैली अनूठी है। [illegible] में इनके संबंध में लिखा है कि सूत्रकार को एक मात्रा बचा लेने से पुत्रोत्पत्ति का सुख होता है। कालान्तर में इन सूत्रों की पुस्तकों पर टीकाएं लिखी गईं, व्याख्या भी लिखी गईं और अब तो सारे सूत्र ग्रन्थों पर बड़े-बड़े भाष्य प्रस्तुत हैं, जिनकी सहायता के बिना वे समझे नहीं जा सकते थे। [illegible] का [illegible] हुआ। [illegible] का यह नया [illegible] द्वारा निर्मित हुआ है।

कल्प-साहित्य—प्राचीनतम सूत्र ग्रन्थ वे हैं जो अपने प्रतिपाद्य विषय में भी ब्राह्मणों और आरण्यकों से सबद्ध हैं। ऐतरेय आरण्यक के अनेक स्थल सूत्रों में लिखे हुए हैं और इनके रचयिता अनुश्रुति के अनुसार आश्वलायन और शौनक के-से सूत्रकार हैं। सामवेद के भी कुछ 'ब्राह्मण' वास्तव में सूत्र ही हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रधान विषय कल्प (क्रियादि) प्रथम वेदांग है, जिसे 'कल्पसूत्र' कहते हैं। कल्पसूत्रों का निर्माण यज्ञक्रियाओं और उनके नियमादि की जानकारी के लिए ऋत्विक् पुरोहितों के हेतु हुआ। ब्राह्मणों में बताए गए वे कल्पसूत्र जो श्रौत-यज्ञों से संबंध रखते हैं 'श्रौतसूत्र' कहलाते हैं। अन्य जो सूत्र गृहस्थ सम्बन्धी नित्य प्रति के यज्ञ-होमादि का विधान करते हैं वे 'गृह्यसूत्र' हैं।

श्रौतसूत्र धर्म के इतिहास और यज्ञादि के ज्ञान के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। इनमें तीन प्रकार की यज्ञाग्नि, अग्निहोत्र, प्रतिपद् और पूर्णचन्द्र के यज्ञ और विशेषकर सोमयज्ञ के नियम लिखे हैं। गृह्यसूत्रों के विषय और भी विविध हैं। इनमें मनुष्य के गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त के (श्राद्ध आदि) संस्कारों का विधान है। रीति और आचार का वर्णन ही इनका प्रधान विषय है। इनमें गर्भाधान, शिशुजन्म, जननी और शिशु, नामकरण, अन्नप्राशन, मुण्डन, उपनयन, ब्रह्मचारी, आचार्य आदि के सम्बन्ध में तत्कालीन रीति और आचार का उल्लेख है। विवाह के संबंध में विस्तृत रूप से सारे नियमों का इनमें वर्णन है।

इन सूत्रों का एक तीसरा वर्ग, जो गृह्यसूत्रों से संबद्ध है और उन्हीं का एक सिलसिला सा है, 'धर्मसूत्रों' का है। इनमें [illegible] धर्म, वर्ण और आश्रमादि के सम्बन्ध में नियम प्रस्तुत हैं। इनका वर्णन हम आगे चलकर व्यवहार-विधि के साथ करेंगे। [illegible] 'स्मृतियों' का उल्लेख धर्मसूत्रों के बाद ही होना

चाहिए। इनमें अग्निवेदी और यज्ञ स्थल के ठीक ठीक मान का वर्णन है। भारतीय ज्यामिति पर प्राचीन ग्रन्थ होने के नाते शुल्वसूत्र गणित के इतिहास की प्राचीन सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

केवल कृष्ण यजुर्वेदीय बौधायन और आपस्तम्ब शाखाओं में ही कल्पसूत्र चारों प्रकार के श्रौत, गृह्य, धर्म और शुल्वसूत्रों से सयुक्त हैं। सभवतः बौधायन और आपस्तब चारों खण्डों से संयुक्त संपूर्ण कल्पसूत्रों के रचयिता थे। आपस्तंबीय शाखा से मिली हुई ही भारद्वाज और सत्याषाढ़ हिरण्यकेशी की शाखाएँ हैं। ये सारे सूत्र तैत्तिरीय सहिता से संबंध रखते हैं। इसमें सदेह नहीं कि इनमें दाक्षिणात्य बौधायन सबसे प्राचीन हैं। और इनके शीघ्र बाद के ही भारद्वाज, आपस्तब और हिरण्यकेशी हैं। गौतम के धर्मसूत्र भी लगभग इसी समय (ल० ५००—४०० ई० पू०) के हैं। मानव, श्रौत, गृह्य और शुल्वसूत्र और मानव गृह्यसूत्र से सबद्ध काठक गृह्यसूत्र मैत्रायणी संहिता के हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र, पारस्कर गृह्यसूत्र, कात्यायन शुल्वसूत्र शुक्ल यजुर्वेद के, तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र और आश्वलायन गृह्यसूत्र, एवं शांखायन के श्रौत और गृह्यसूत्र ऋग्वेद के हैं। इसी प्रकार लाट्यायन और द्राह्यायण के परस्पर सबद्ध श्रौतसूत्र, जैमिनीय श्रौत और गृह्यसूत्र एव गोभिल तथा खादिर के गृह्यसूत्र सामवेद के हैं। इसी अन्तिम वेद के ही अर्षेयकल्प और मशककल्पसूत्र भी हैं। सामवेद का सामविधान ब्राह्मण भी वास्तव में सूत्र-साहित्य का ही अग है। अथर्ववेद का कौशिकसूत्र है और भारतीय इन्द्रजाल, जादू आदि के इतिहास के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण सामग्री उपस्थित करता है। इसी वेद का परन्तु बहुत बाद में लिखा वैतान श्रौतसूत्र है। गृह्यसूत्रों के बाद ही श्राद्धकल्पों और पितृमेधसूत्रों का स्थान हैं। श्रौत-गृह्यादि सूत्रों के अतिरिक्त इस विषय पर कुछ और भी सामग्री है जो इनके परिशिष्ट-सी है। इनको 'परिशिष्ट' कहते भी हैं। इनमें से गोभिलपुत्र का गृह्यसंग्रहपरिशिष्ट, कर्मप्रदीप, अथर्ववेदीय इन्द्रजालपरक परिशिष्ट और प्रायश्चित्तसूत्रादि मुख्य हैं। बाद के कल्पग्रन्थ 'प्रयोग', 'पद्धति' और 'कारिका वर्गों के हैं।

शिक्षा—'शिक्षा' सबधी सूत्र कम से कम इतने ही प्राचीन हैं जितने कि कल्पसूत्र। कल्पसूत्र ब्राह्मणों के पूरक ग्रन्थ हैं, इसी प्रकार वेदाग-शिक्षा के सूत्र वैदिक सहिताओं के सन्निकट हैं। वैदिक संहिताओं के पाठों का ठीक-ठीक उच्चारण ही शिक्षा का विषय है। इस वेदाग का प्राचीनतम उल्लेख तैत्तिरीय उपनिषद् (१, २) में मिलता है, जहाँ इसके छः प्रकरणों अर्थात् वर्ण, स्वर, मात्रा-बल, साम, और सन्तान (वर्णः स्वरः ॥ मात्रा बलम् ॥ साम सतान ॥) का निर्देश हुआ है। सहिता-पाठ और पद-पाठ शिक्षा के प्राचीनतम आविष्कार हैं। इस वेदाग की सबसे प्राचीन रचनाएँ 'प्रातिशाख्य' हैं, जिनके नियमों के अनुसार पद-पाठ से सहिता पाठ बनाया जा सकता है। संहिताओं की प्रत्येक शाखा से सपर्क रखनेवाले साहित्याग होने के कारण ये प्रातिशाख्य कहलाते हैं। 'ऋग्वेद-प्रातिशाख्य' आश्वलायन के गुरु शौनक का रचा बताया जाता है। यह ग्रन्थ पद्यात्मक है जो प्राचीन काल में सूत्ररूप में था। 'तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य-सूत्र' तैत्तिरीय सहिता का है। कात्यायन द्वारा निर्मित 'वाजसनेयि-प्रातिशाख्य सूत्र' वाजसनेयि सहिता का और 'अथर्ववेद-प्रातिशाख्य-सूत्र' अथर्ववेद का है। एक 'साम-प्रातिशाख्य' भी उपलब्ध है और 'पुष्पसूत्र' सामवेद के उत्तरगान का प्रातिशाख्य है। 'पञ्चविध सूत्र' में यज्ञों में सामों के गाने के नियम हैं।

इन ग्रन्थों का प्राधान्य दो प्रकार का है। प्रथमतः तो वे सस्कृत व्याकरण के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं, दूसरे उनसे यह सिद्ध होता है कि प्रातिशाख्यों के समय से आज तक के हजारों वर्षों के बीच सहिताओं के पाठ में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ा है। प्रातिशाख्य शिक्षा वेदांग के प्राचीनतम प्रतिनिधि हैं। इनके अतिरिक्त शिक्षा नाम से कुछ और ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं जो भारद्वाज, व्यास, वशिष्ठ, याज्ञवल्क्यादि द्वारा रचे कहे जाते हैं, परन्तु हैं वे बहुत बाद के। इनमें से कुछ प्राचीन भी हैं। इन्हीं में से काफी पुराने तैत्तिरीय प्रातिशाख्य से सबद्ध 'व्यास-शिक्षा' है।

शिक्षा-वेदांग से मिलती-जुलती ही कुछ 'अनुक्रमणियाँ' हैं, जिनमें वैदिक सहिताओं की विषय-सूची दी हुई है। शौनक ने ऋग्वेद की कई प्रकार की अनुक्रमणियाँ प्रस्तुत कीं—ऋषियों की, सूक्त और छन्दों की, और देवताओं की। कात्यायन ने 'सर्वानुक्रमणी' निर्मित की, जिसमें सूत्र-शैली में ऋग्वेद की प्रत्येक ऋचा के प्रथम शब्द, मत्रों की सख्या, ऋषि और उसके कुल का नाम, देवता, और छन्द के नाम दिए हुए हैं। 'बृहद्देवता' और 'ऋग्विधान' भी शौनक द्वारा ही रचित कहे जाते हैं। इनमें से पहले ग्रन्थ में ऋग्वेद के देवताओं की बृहत् सूची है। दूसरे में मत्रशक्ति का वर्णन है।

निरुक्त—निरुक्त पर हमें इस समय केवल एक महर्षि यास्क का ग्रन्थ उपलब्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि और भी इस प्रकार के ग्रन्थ प्रस्तुत हुए होंगे जो अब नष्ट हो गए हैं। वेदांग निरुक्त से भी पता चलता है कि ऋग्वेद का पाठ अत्यन्त शुद्ध है। अनुश्रुति के अनुसार 'निघंटु' (शब्द सूची) भी महर्षि यास्क द्वारा ही प्रणीत है। परन्तु वास्तव में 'निघंटु' यास्क का नहीं है, यह स्वयं वह ही स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि 'निघंटु' की रचना प्राचीन ऋषियों के वंशजों ने की है। स्वयं यास्क की उन पर टीका अथवा भाष्यमात्र है। वेदार्थ समझने के लिए निघंटु का निर्माण हुआ। निघंटुओं में शब्दों की पाँच सूचियाँ हैं जो तीन भागों में विभक्त हैं। पहले भाग निघंटुकाण्ड के भी तीन खण्ड हैं, जिनमें वैदिक शब्द एक विशेष क्रम में संग्रहीत हैं। दूसरे नैगमकाण्ड अथवा एकपदिक में कठिन वैदिक पदों की व्याख्या है और तृतीय दैवतकाण्ड में पृथ्वी, अंतरिक्ष, आकाश (स्वर्ग) के देवताओं के तीन वर्गों के विभाजन हैं। निरुक्त वैदिक भाष्यों में सर्वप्रथम से थे और यद्यपि यास्क का निरुक्त अकेला है और भाष्यों में प्रथम है तथापि निस्सन्देह इस प्रकार के प्राचीन निरुक्त ग्रन्थों में यह अन्तिम है। यास्क का समय स्थिर करना कठिन है, परन्तु अवश्य वह ई० पू० ७०० और ५०० के बीच विद्यमान थे।

छन्द और ज्योतिष—छन्द और ज्योतिष वेदांगों में भी, जो आज हमें प्राप्त हैं, उन साहित्यों के निचले छोर ही हैं। सामवेद का 'निदानसूत्र' छन्द का ग्रन्थ है, जो पतञ्जलि का बनाया कहा जाता है। ऋग्वेद और यजुर्वेद का एक छन्द-संबंधी वेदांग 'पिंगल' भी समझा जाता है, परन्तु है वह बाद का, क्योंकि वह उन छन्दों पर भी विचार करता है जो परवर्तीकाल के संस्कृत काव्य में प्रयुक्त हुए हैं। 'ज्योतिष-वेदांग' ज्योतिष के ऊपर एक छोटा पद्यात्मक ग्रन्थ है, जिसमें नक्षत्रों और चन्द्रमादि पर विचार किया गया है।

व्याकरण—व्याकरणपरक वेदांग ग्रन्थ सर्वथा नष्ट हो गए हैं। यह वेदांग भी वेदों के अध्ययन में ही प्रस्तुत हुआ और वैदिक शाखाओं के साथ ही इसके ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ होगा। ब्राह्मणों में हम कहीं कहीं व्याकरणिक पारिभाषिक शब्द मिलते हैं। इस समय व्याकरण का जो प्राचीनतम ग्रन्थ प्राप्त है वह है पाणिनी की सर्वप्रसिद्ध 'अष्टाध्यायी'। परन्तु इसमें वैदिक व्याकरण के स्वरूप के विचार कम हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में यह किसी वैदिक शाखा से संयुक्त नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि वैदिक अध्ययन की सहायता के रचे गए व्याकरण वेदांग भी कभी थे जो आज अभाग्यवश नष्ट हो गए हैं। स्वयं पाणिनि ने अपने ग्रंथ में शाकटायनादि अनेक आचार्यों का उल्लेख किया है। परन्तु स्वयं अष्टाध्यायी वेदपरक नहीं है। इसका कारण यह है कि साहित्य धीरे धीरे अपने को धर्म से स्वतंत्र करने लगा था और एक प्रकार के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उत्तरोत्तर विकास होने लगा था। अष्टाध्यायी धर्म की शृङ्खला से सर्वथा स्वतंत्र सर्वाङ्गपूर्ण वैज्ञानिक ग्रन्थ है। इसके रचयिता महामुनि पाणिनि आधुनिक यूसुफज़ई के पठान इलाक़े में शालातुर गाँव के ब्राह्मण (पठान, पख्त) थे, जो मगध के साम्राज्य के दिनों में उसकी राजधानी पाटलिपुत्र में आ बसे थे। जैसा कि नवीन उपलब्ध ग्रन्थ 'मञ्जुश्री मूलकल्प' से विदित होता है, पाणिनि पाँचवीं शती ई० पू० में पाटलिपुत्र में सम्राट् नन्द के समकालीन और उसकी सभा के सभ्य भी थे।

इतिहास-पुराण

वैदिक साहित्य के बाद जिन ग्रन्थों का निर्माण हुआ अथवा जिनका प्राधान्य है वे हैं इतिहास-पुराण। वास्तव में इतिहास पुराणों की अत्यधिक प्राचीनता इससे भी प्रमाणित है कि उनका उल्लेख स्वयं वैदिक साहित्य के ग्रन्थों में हुआ है। शतपथ ब्राह्मण का वक्तव्य है—"मध्वाहुतयो ह वा एता देवानां यदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशंस्यः। स य एवं विद्वाननुशासनानि . इतिहासपुराणं गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते मध्वाहुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति।" इस उद्धरण से सिद्ध है कि शतपथ ब्राह्मण के निर्माण के समय इतिहास-पुराण विद्यमान थे और तब भी वे पुराने (पुराण) हो चुके थे। इतिहास पुराणों की और भी प्राचीनता अथर्ववेद के एक मंत्र से सिद्ध होती है—'इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।' ब्राह्मणों से पता चलता है कि यज्ञ तथा अन्य उत्सवों के अवसर पर आख्यान, इतिहासादि गाए जाते थे। अश्वमेध की प्रारम्भिक क्रियाओं में देवताओं और वीरों के आख्यानों का वर्ष भर तक गायन हुआ करता था। उस अवसर पर एक ब्राह्मण और एक क्षत्रिय वीणा बजानेवाले स्वरचित गाथाओं में यजमान राजा की उदारता और युद्धादि की स्तुति करते थे। मृत्यु के अवसर पर भी शोकित व्यक्तियों

को अन्यमना करने के लिए इतिहास और पुराणों की कथाएँ कही और गाई जाती थीं।

इन आख्यानों और इतिहासों के चक्र-से होते थे। इस प्रकार का एक चक्र 'सुपर्णाख्यान' नाम से आज भी उपलब्ध है। सुपर्णाख्यान में सर्पमाता कद्रू और पक्षि-माता विनता तथा गरुड़ और नाग की शत्रुता की कथा है। इस आख्यान का आरभ वैदिक काल में हुआ और यह महाभारत के आस्तीक पर्व में वर्णित है। इतिहास-पुराण को छान्दोग्य उपनिषद् (७, १, ७) और बौद्ध सुत्तनिपात (३, ७ सेलसुत्त) में 'पचम वेद' कहा गया है। इससे सिद्ध है कि वैदिक काल में भी किसी-न-किसी रूप में ये विद्यमान थे और पेशेवर 'ऐतिहासिका' और 'पौराणिका' बहुत प्राचीन काल में इन्हें गाते और सुनाते फिरते थे। बुद्ध के समय तक इतिहास, पुराण और गाथाओं का असमाप्य कोष विद्यमान था, जिसका ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी समान रूप से व्यवहार करते थे।

इतिहास-पुराणों के अतिरिक्त मानव प्रशस्ति में गाथा-नाराशसीयों का भी उल्लेख मिलता है। एक ओर तो इनका सम्बन्ध ऋग्वेद की दानस्तुतियों और अथर्ववेद के कुन्ताप सूक्तों से हैं और दूसरी ओर वीरों और नृपतियों की वीरगाथाएँ होने के कारण ये वीरकाव्य के उद्गम हैं। ये मानव प्रशस्तियाँ शीघ्र ही वीरगाथाओं में विकसित हो गईं जिनके केन्द्र विशिष्ट वीर अथवा प्रधान घटनाएँ होती थीं। इनकी अटूट लबी शृंखला में रामायण और महाभारत के वीरकाव्य अन्तिम कड़ियाँ थे। इन दोनों काव्यों की रचना से बहुत पूर्व ही निस्सन्देह रामयण के नायक राम और महाभारत के महायुद्ध के सम्बन्ध की रही गाथाएँ गाई जाती होंगी। राम के वनभ्रमण और कौरव-पाण्डवों के युद्ध सम्बन्धी काव्यों के अतिरिक्त अन्य राजकुलों की गाथाएँ और काव्य भी निर्मित हुए होंगे, ऐसा रामायण और विशेषकर महाभारत में दिए हुए अनेक वीराख्यानों से प्रमाणित है।

वीरकाव्यों के रचयिता, गायक और रक्षक राजदरबारों में रहनेवाले 'सूत' थे जो विशिष्ट अवसरों पर राजाओं के गौरवगान किया करते थे। ये सूत प्राय युद्धों म भी जाते थे जिससे अपने वीर-गायन से शूरों का साहस बढ़ा सक और समर के प्रत्यक्ष उदाहरण से भविष्य में और भी वीरकाव्य रच सकें। इसी प्रकार सूत संजय ने महाभारत-युद्ध की कथा धृतराष्ट्र से कही थी। इन दरबारी चारणों का एक वर्ग (वर्ण) बन गया था, जिनके घरानों में वीर-काव्य पुश्तैनी रूप से पिता द्वारा पुत्र को प्रदान किया जाता था। वीरकाव्य इन्हीं सूतों द्वारा प्रस्तुत हुआ। इन सूतों का सम्बन्ध राजन्य अथवा क्षत्रिय वर्ग से था। इनके अतिरिक्त गायकों का एक वर्ग और था जिन्हें 'कुशीलव' कहते थे और जो गाथाओं को याद करके बीन की सहायता से जनता में गाते फिरते थे। वास्तव में जनता में वीर-गायन फैलाने का श्रेय इन्हीं कुशीलवों को था। रामायण से विदित होता है कि राम के पुत्र कुश और लव वाल्मीकि से सीखकर राम के कृत्य गाते फिरते थे। इन कुशीलवों और चारणों के ही वश के गायक आजकल सयुक्तप्रांत में वे लोग हैं जो ढोलक लिये विवाहादि के अवसरों पर आल्हा गाया करते हैं।

परन्तु रामायण और महाभारत सर्वथा इस प्रकार के गाए हुए वीर गायन ही नहीं हैं। भारतवर्ष के तथा सस्कृत के वे आदि वीरकाव्य भी हैं, जिनमें दो कुलों की विशिष्ट प्रशस्तियाँ एक अद्भुत अद्वितीय शृखला में काव्यबद्ध हुई हैं। इतना ज़रूर है कि इनमें से महाभारत में इस प्रकार अन्य गाथाओं और आख्यानों का सकलन हुआ है कि इस काव्य का काव्यरूप ही प्राय. विनष्ट हो गया है।

रामायण—रामायण महाभारत से कई बातों में भिन्न है। प्रथमत. वह महाभारत से अत्यधिक अल्पाकार है और इसके कथानक (प्लाट) में उससे कहीं अधिक क्रमबद्ध एकता है। महाभारत के घटना काव्य को छोड़ इसके सम्पूर्ण कलेवर को काव्य कहने में अनेक विद्वानों को आपत्ति होगी और है, परन्तु रामायण को वर्तमान रूप में भी हम एक काव्य कह सकते हैं। महाभारत के रचयिता व्यास की ऐतिहासिकता में शायद लोगों को सदेह भी हो परन्तु रामायण के रचयिता वाल्मीकि के ऐतिहासिक व्यक्ति और काव्यकार होने मे युक्तित सदेह नहीं हो सकता। वाल्मीकि 'आदिकवि' कहे जाते हैं और उनकी रामायण 'आदिकाव्य'। काव्य में कथावस्तु से अधिक प्राधान्य उसके काव्यरूप को दिया जाता है। इस रूप का मडन 'अलकारों' से होता है। उपमा, व्यजना, श्लेषादि काव्य के गुण होते हैं। काव्य साहित्य में इन अलकारों का आरभ रामायण में ही होता है। लगभग दो हज़ार वर्षों से रामायण भारतवर्ष में राजा-रक, सेठ स हूकार, गृही-सन्यासी सभी को प्रिय रही है और इसकी कथा और इसके पात्र उनमें आदर्श-भाव जाग्रत करते रहे हैं। कालिदास और भवभूति-से महान् कवियों ने अपने

रूप का अधिकांश पुष्यमित्र शुंगकालीन किसी कवि ने, संभव है, खड़ा किया हो। बाद के होनेवाले किसी कवि द्वारा निर्मित होकर भी रामायण वाल्मीकिरचित हो सकती थी—ऐसा करना भारतीय परम्परा के अनुकूल ही था, विशेषकर जब रामायण की प्रारम्भिक मूल गाथा वाल्मीकि द्वारा ही निर्मित्त हुई थी। इसमें उदात्त और आदर्श भावों का वर्णन अत्यन्त चमत्कार से हुआ है। भारतीय समाज का आदर्श रूप इसमें स्थिर किया गया।

महाभारत—महाभारत के विषय में ऊपर कहा जा चुका है कि वह शृंखलाबद्ध काव्य नहीं बल्कि एक संहिता है। वास्तव में पुराणों की भाँति वह कई प्रकार के प्रकरणों से सजा हुआ कथाओं-उपकथाओं से युक्त एक सपूर्ण साहित्य है। निस्सन्देह इसके अतिरिक्त उसमें भारत-युद्ध का प्रसंग मुख्य है जो कुछ हद तक क्रमबद्ध भी है। शताब्दियों के अन्तर में इस मूल कृति के ऊपर अनेक कथाओं का आवरण चढ़ा दिया गया। इस प्रकार महाभारत आज केवल भारतों (कौरव पाण्डवों) के युद्ध का ही काव्य नहीं वरन् प्राचीन चारण-गान तथा सूत-कथाओं का बड़े कौशल से संपादित एक साहित्य-सिन्धु है। इसमें पुराण-शैली की विष्णु और शिव की कथाएँ, सर्गों और भौगोलिक स्थलों तथा वंश-तालिकाओं के वर्णन हैं। काव्य के अतिरिक्त इसमें कितने ही प्रसंग गद्य और कितने ही चम्पू (आधे पद्य, आधे गद्य) शैली में संग्रहीत हैं।

लगभग १५०० वर्ष पहले इसका वह रूप खड़ा हो चुका था जैसा यह हमें आज उपलब्ध है। यह अट्ठारह पर्वों में विभक्त है और उन्नीसवें पर्व के रूप में हरिवंश नाम का एक पुराण उपसहार (खिल) के रूप में इसमें जुड़ा हुआ है। इस समय इसमें एक लाख श्लोक हैं इसलिए इसे 'शतसाहस्री' संहिता भी कहते हैं। इस महाभारत के रचयिता वेदों और पुराणों के सपादक महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास माने जाते हैं।

सारे महाभारत का सवाद के रूप में होना निश्चय ही उसकी अत्यंत प्राचीनता का द्योतक है। ऋग्वेद में यम-यमी आदि के उपाख्यान सवाद के ही रूप में हैं। महाभारत की बाहरी रूपरेखा वर्णन करनेवाले उग्रश्रवस् हैं, परन्तु काव्य के भीतर वक्ता वैशम्पायन हैं। नैमिषारण्य में ऋषियों के बीच यह कथा कही जाती है।

इसमें कोई सदेह नहीं कि महाभारत मूल रूप में आधुनिक से बहुत छोटा था। सर्वप्रथम इसका नाम 'जय' था, तब सभवतः इसमें केवल भारत-युद्ध का ही वर्णन था। उसके पश्चात् इसका नाम 'भारत' पड़ा—भारतों (कुरुओं) के इतिहास के नाम पर। और अन्त में जब यह ग्रन्थ बाद के प्रक्षेपों से बृहदाकार होकर शतसाहस्री हो चुका था तब 'महाभारत' कहलाया। उग्रश्रवस् स्वयं कहते हैं कि वह उस ग्रन्थ को केवल ८,८०० श्लोकों का जानते हैं, परन्तु व्यास का कथन है कि २४००० श्लोक हैं। इससे यह सिद्ध है कि महाभारत धीरे-धीरे मूल से बढ़ता गया और अंत में उसने वर्तमान रूप धारण किया। इसमें स्थल-स्थल पर अत्यन्त सुन्दर और मधुर काव्य मिलता है।

महाभारत की कथा—संक्षिप्त में महाभारत की कथा इस प्रकार है:—कुरुराज विचित्रवीर्य की मृत्यु के उपरात उनके ज्येष्ठ पुत्र धृतराष्ट्र के जन्मान्ध होने के कारण उनके कनिष्ठ पुत्र पाण्डु सिंहासन पर बैठे। पाण्डु की अकाल मृत्यु हुई, इस कारण कुछ काल के लिए धृतराष्ट्र को स्वयं राज्य की बागडोर सँभालनी पड़ी। पाण्डु के पाँच बेटे थे—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव। वे पाण्डव कहलाते थे। धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव कहलाते थे और संख्या में सौ थे। उनमें दुर्योधन, दुःशासन आदि बड़े थे। गुणों से विभूषित होने के कारण युधिष्ठिर को धृतराष्ट्र ने अपना युवराज चुना। इससे कौरवों के अग्रज दुर्योधन के बदन में आग लग गई। उसने कुछ चालों से पाण्डवों को राजधानी छोड़ने पर मजबूर किया। इधर-उधर घूमते हुए पाण्डव राजा द्रुपद की राजधानी में पहुँचे। वहाँ राजपुत्री द्रौपदी का स्वयवर हो रहा था। स्वयवर में द्रौपदी को अर्जुन ने जीत लिया और राजकुमारी का विवाह पाँचों पाण्डवों के साथ हो गया। इस विवाह से पाण्डवों का सबध बलिष्ठ हो गया और धृतराष्ट्र ने उन्हें बुलाकर राज्य दो भागों में बाँट दिया। बड़ा भाग दुर्योधन को मिला और अत्यन्त छोटा पाण्डवों को। कौरवों की पैतृक राजधानी हस्तिनापुर थी और पाण्डवों की इंद्रप्रस्थ हुई। परन्तु यहाँ भी दुर्योधन ने पाण्डवों को शान्तिपूर्वक राज्य न करने दिया। दुर्योधन ने युधिष्ठिर को द्यूत खेलने के लिए ललकारा और अपने मामा शकुनि की सहायता से धोखे से दाँव पर राज-पाट, भाई, स्त्री सब कुछ रखवाकर जीत लिया। हारनेवाले को बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास भी करना था। तेरह वर्ष के बाद पाण्डवों ने अपना राज्य वापस माँगा, जिसका उत्तर दुर्योधन ने क्रोध और हुंकार से

दिया। वासुदेव कृष्ण और महात्मा विदुर के सन्धि के सारे प्रयत्न निष्फल हुए। इस पर घमासान युद्ध छिड़ गया। अट्ठारह दिनों तक कुरुक्षेत्र के मैदान में अत्यन्त संहारक समर होता रहा। अन्त में विजय युधिष्ठिर की हुई। युधिष्ठिर ने कुछ काल तक बड़े ऐश्वर्य से राज्य किया, फिर अर्जुन के पौत्र परीक्षित् को राज्य देकर भाइयों और द्रौपदी को ले वह हिमालय गलने के लिए चले गए।

महाभारत के अन्य स्कन्ध—महाभारत में कौरव-पाण्डव-युद्ध के अतिरिक्त, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अन्य विषय भी वर्णित हैं। इसमें युद्धपूर्व की प्राचीन गाथाएँ और आख्यान मुख्य हैं। ये हैं शकुन्तला-दुष्यन्त, ययाति-देवयानी, नल दमयन्ती, राम-सीता, नहुष-विदुला आदि के संबंध की।

महाभारत में कुछ दूसरे प्रकार की पौराणिक कथाएँ और ख्यातियाँ भी हैं। जनमेजय का नाग-यज्ञ, कद्रू-विनता की कथा, रुरु का सर्प-यज्ञ, इन्द्र वृत्र के युद्ध, अग्नि के प्रणय-प्रसंग, जल-प्रलय, राजा अनुकम्पक के प्रति नारद द्वारा कथित मृत्यु कथा, सावित्री-सत्यवान, ऋष्य-शृंग का आख्यान, वसिष्ठ विश्वामित्र के संघर्षादि अनेक स्थल पुराणपरक हैं। इसी प्रकार उसमें कितनी ही दृष्टान्तपरक कथाएँ भी हैं।

परन्तु इन युद्धेतर स्कंधों में जो प्रमुख हैं वे हैं अध्यात्म संबंधी प्रकरण जिनमें नीति, धर्म और मोक्ष का विधान है। शान्तिपर्व के पूर्वार्द्ध में राजधर्म कहा गया है और अनुशासनपर्व में मुख्यतया धर्मशास्त्रानुचरण अथवा व्यवहार (क़ानून)। इनके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर बृहस्पति और विदुर-नीत्यादि कही गई हैं। अध्यात्मपरक प्रसंगों में सर्वप्रधान और सर्वमान्य जो स्थल है वह है छठे पर्व की गीता। अध्यात्म का अपूर्व ग्रन्थ गीता उपनिषद्-तत्वों का निचोड़ है। कर्म मार्ग का यह अपूर्व उपनिषद् है। इसके उपदेशों में कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग के परस्पर विरोधी जैसे सिद्धान्तों का विस्मयजनक समन्वय किया गया है। इसके वक्ता कृष्ण हैं और श्रोता अर्जुन। और इसका प्रसंग तब आता है जब धनंजय ने अपने स्वजनों को मारने से इन्कार कर दिया है। इस ग्रन्थ को विदेशी विद्वानों ने भी अत्यन्त सराहा है। भाषा इसकी अत्यन्त सरल और सशक्त है। अनुशासन और शान्तिपर्व जैसे दो और अध्यात्मपरक प्रकरण महाभारत में भरे हैं।

महाभारत का इतिहास अत्यन्त दुरूह है, जो इसमें उपसंहार की भाँति जुड़ा हुआ है। इसमें विशेष वर्णन वृष्णि और अन्धक कुलों का है, जिनमें कृष्ण उत्पन्न हुए थे। यह विष्णु की प्रशंसा में सकलित हुआ है। हरिवंश के तीन मुख्य भाग हैं—हरिवंशपर्व, विष्णुपुराण और भविष्यपुराण। हरिवंश में राजाओं और ऋषियों की कथाएँ और सूर्यादि वंशों का विवरण है, विष्णु-पुराण में कृष्णचरित वर्णित है, और भविष्यपुराण में संभावित घटनाओं का कथन है।

महाभारत का समय—महाभारत की कुछ ख्यातियाँ और कथाएँ वेदों के काल में पहुँच जाती हैं।

वैदिक काल में 'भारत' या 'महाभारत' नाम का कोई काव्य न था।

महाभारत में अनेक ऐसी कथाएँ हैं जिन्हें छठी शताब्दि ई० पू० से बाद तक बौद्धों और जैनों ने भी अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है। ये कथाएँ वास्तव में तपस्वी जीवन की थीं।

यदि महाभारत नाम का कोई काव्य ई० पू० छठी और चौथी शताब्दियों में उपलब्ध था तो उसकी जानकारी कम से-कम बौद्धों को न थी।

आश्वलायन गृह्यसूत्र में महाभारत के अस्तित्व का प्राचीनतम उल्लेख मिलता है। यह काल संभवतः चौथी शती ई० पू० है।

लगभग ५०० ई० के भूमिदान के एक लेख में महाभारत को शतसाहस्री संहिता कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि यह ग्रन्थ वर्तमान रूप में लगभग ४०० ई० में प्रस्तुत हो चुका था।

इस प्रकार महाभारत को 'जय' से लेकर अपनी वर्तमान स्थिति तक पहुँचने में करीब आठ-नौ सौ वर्ष लगे होंगे, जिस बीच में महाकाव्य के अतिरिक्त इसकी अनेक ख्यातियाँ, आख्यान, गाथाएँ आदि जोड़ी गईं। अतः महाभारत का समय लगभग ई० पू० पाँचवीं सदी और ४०० ई० के बीच रचना सुनिश्चित प्रतीत होता है।

पुराण—पुराणों का समय निश्चित रूप और उनमें वर्णित विषय दोनों के नाते संस्कृत-साहित्य में विशेष स्थान रखते हैं। इनका स्थान साहित्य में जितना महत्वपूर्ण ऐतिहासिक है उससे कहीं अधिक धार्मिक साहित्य में है। वैदिक साहित्य के बाद हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य-भण्डार को विशेष रूप से समृद्ध किया है वह है पुराण-वर्ग। विष्णु और शिव की महिमा इन ग्रन्थों में विशेषकर

गाई है और बाद का भारतीय अथवा हिन्दू धर्म इन्हीं देवताओं अथवा इन्हीं के वर्ग के देवी देवताओं—का पूजा-क्षेत्र है।

पुराण का मौलिक अर्थ है 'पुराणं आख्यानम्', अर्थात् प्राचीन कथाएँ। प्राचीन साहित्य यानी ब्राह्मणों, उपनिषदों और बौद्ध ग्रन्थों में 'पुराण' शब्द प्राय. 'इतिहास' शब्द के साथ सबद्ध मिलता है। परन्तु इतिहास पुराणों से यह तात्पर्य नहीं है कि इतिहास और पुराण नाम के ग्रन्थ उपलब्ध थे। वे केवल साहित्य मात्र थे। फिर भी अथर्ववेद में (५,१६,६) जहाँ वेदों के अतिरिक्त पुराणों का भी उल्लेख है अवश्य पुराणों द्वारा किसी न-किसी रूप के ग्रन्थ की ओर सकेत किया गया है। वास्तव में सूत्र साहित्य में यथार्थ पुराणों का अस्तित्व प्रमाणित है। गौतम धर्मसूत्र में लिखा है कि राजा को दण्डनीति में वेद, धर्मसूत्र, वेदाग और पुराणों को प्रमाण मानना चाहिए। यहाँ वेदादि की ही भाँति निश्चय ही पुराणों के एक ग्रन्थबद्ध साहित्य का उल्लेख है। आपस्तबीय धर्मसूत्र में पुराणों के दो और भविष्यत्पुराण का एक सदर्भ उल्लिखित है। और चूँकि इन धर्मसूत्रों को ई० पू० पाँचवीं और चौथी शताब्दियों के बाद नहीं रख सकते, अतएव पुराणों का यह ग्रन्थबद्ध रूप किसी न-किसी रूप में चौथी पाँचवीं शताब्दियों ई० पू० में ही स्थिर हो जाता है। जो पुराण हमें उपलब्ध हैं निश्चय वे ही वे ग्रन्थ नहीं है जिनका उल्लेख इन धर्मसूत्रों में मिलता है। यथार्थ में यह पुराण एक मूलपुराण है, जिसके आधार पर आधुनिक पुराणों के प्राचीन ऐतिहासिक अथवा प्रागैतिहासिक वृत्तान्त लिखे गए हैं। वायुपुराण एक स्थल पर बताता है कि किस प्रकार यह मूलपुराण बना। उसमें लिखा है कि यह मूलपुराण विविध वंशों को यशस्वी कीर्त्तियों से संबध रखने वाले इतिहास क आख्यानों, उपाख्यानों और गाथाओं के योग से निर्मित्त हुआ। सो यह आख्यान और गाथाबद्ध इतिहास वैदिक काल में भी प्राप्य था और शतपथ ब्राह्मण ने जो 'पुराण' को वेद घोषित किया है (पुराण वेद. सोऽयमिति किंचित्पुराणमाचक्षीत—१३,४,३,१३), उससे ब्राह्मणकाल मे इस पुराण-साहित्य की महत्ता लक्षित होती है। पुराण उस काल मे वैदिक मन्त्रों की भाँति समादृत होते थे। इसी कारण पुराण मे वर्णित विषय पूरी तरह सुरक्षित रखा जा सका और जिस प्रकार ब्राह्मणों ने वेदनिधि को अत्यन्त क्षमता और परिश्रम से बचा रखा, उसी प्रकार पुराण साहित्य के प्रचार और उसकी रक्षा के लिए भी एक विशिष्ट ऋषि-वर्ग पनप उठा। इन्हें सूत कहते थे और इनका काम क[illegible] बाँचना था। दुर्भाग्यवश सूतनामधारी कथावाचकों और पुराणकारों की शृंखला टूट गई। यदि वे भी ब्राह्मण की भाँति जीवित रहते तो वेदों की तरह ही पुराणों [illegible] परपरा भी सुरक्षित रहती और उनकी कथाओं [illegible] पावनता भी ऋचाओं की नाईं बनी रहती। उनमें त[illegible] प्रक्षेप की गुंजायश भी न रहती।

अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण में जिस इतिहास पुराण का उल्लेख है उसमें तत्कालीन और उससे [illegible] प्राचीन वशों के आख्यानों और कुलकर्मों का समावेश रहा होगा। जब गुप्तकालिक वर्तमान पुराणों में क्रमागत वशतालिकाएँ इस रूप में सुरक्षित मिलती हैं, तब अन्त्य वैदिक काल में तो उस समय की तथा उससे भी पूर्व की तालिकाएँ और पूर्ण रूप में प्राप्य रही होंगी। [illegible] सार्वजनिक सूतों का वह समुदाय वैदिक काल में पूर्ण तन्मयता से प्राचीन इतिहास की सामग्री से तत्कालीन ढाँचा तैयार करता था। उसे वे सूत उत्तरकालीन पीढ़ियों के लिए सूत्ररूप श्लोकों में व्यक्त कर छोड़ते थे। ये श्लोक वर्तमान पुराणों में भी जहाँ-तहाँ आसानी से पढ़े जा सकते हैं। ये पुराण भारत-युद्ध के पूर्व के व्यक्तियों के सबध में साधारणतया तो नाममात्र लिखते हैं, परन्तु जब किसी महत्वपूर्ण राजा का प्रसग आ जाता है तब वे वहाँ तक के जीवित नाराशसी गाथाओं के अवतरण देते हैं। उदाहरणार्थ वायुपुराण को ले लें। इक्ष्वाकुवशी राजाओं के नाम गिनाते हुए यशस्वी मान्धाता के समीप जब पुराणकार आता है, तब वह कहता है—"पौराणिक ब्राह्मणों ने इस राजा के सम्बन्ध में ये दो श्लोक सँभाल रखे हैं।" उसी प्रकार की नराशसी गाथाएँ त्रिशकु, हरिश्चन्द्र, दिलीप, अलर्क, ज्यामेघ, बभ्रु, भरत, कार्तवीर्यादि राजाओं के विषय में भी सुरक्षित हैं। इन राजाओं की साधारण नामावली उपस्थित करते हुए भी पुराणकारों ने वैज्ञानिक रीति से काम लिया है। इस प्रकार वायु और मत्स्य पुराण इक्ष्वाकु राजनामावली पर विचार करते हुए जब नल नामक राजा तक पहुँचते हैं, तब उनकी धारा रुक जाती है और वे कहते हैं—"पुराणों में दो नल विख्यात हैं—एक वीरसेन का पुत्र और दूसरा इक्ष्वाकुवशीय।" इसी प्रकार एक नाम के कई राजाओं का उल्लेख करते हुए ब्रह्मपुराण कहता

है कि सोमवंश में दो अर्जुन और दो ही परीक्षित हुए, तीन भीमसेन और दो जनमेजय हुए।" वायुपुराण तुर्वसुवंश के सम्बन्ध में भी कहता है—"अविक्षित का पुत्र राजा मरुत्त, जिसका उल्लेख ऊपर हो गया है, उस नाम के इस राजा से सर्वथा भिन्न था।" ऊपर के उद्धरणों से प्रमाणित होगा कि इन राजवंशों की तालिकाओं पर पूर्ण रूप से विचार किया जाता था और ये तालिकाएँ महाभारत युद्ध से लगभग पचास वर्ष पूर्व ही मूल पुराण में कृष्ण द्वैपायन व्यास द्वारा इकट्ठी कर ली गई थीं।

प्राचीन परिभाषा के अनुसार पुराणों के वर्णन के विषय पाँच हैं—सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (पुनःसृष्टि, प्रलय के बाद की), वंश (देवताओं और ऋषियों की वंशतालिकाएँ), मन्वन्तर (प्रत्येक मन्वन्तर का एक मनु था) और वंशानुचरित (अर्थात् सूर्य और चन्द्रवंश की राजतालिकाएँ)। परन्तु प्रस्तुत पुराणों में इन पाँचों से कहीं अधिक विषयों का वर्णन मिलता है जिनमें अध्यात्म, अलंकार, धर्म, सम्प्रदाय, आचार, व्यवहार, सभी पर साहित्य है। इन पुराणों में अधिकतर प्राचीन सूर्य और चन्द्रवंशों के साथ भविष्य के राजवंश भी जोड़ दिए गए हैं जो वास्तव में ऐतिहासिक काल के राजकुल हैं। पुराणों को प्राचीनतर करने के लिए इस भविष्य कथन शैली का सहारा लिया गया है। इन पिछले राजकुलों ही में शैशुनागों, नन्दों, मौर्यों, आंध्रों, शुंगों, कण्वों और गुप्तों के वंश आते हैं और इस कारण इन पुराणों की गुरुता बढ़ जाती है। पुराणों में इन राजकुलों का तिथिक्रम लगभग छठी शताब्दि ई० पू० से चलकर ईसा की सातवीं शती के पूर्व समाप्त हो जाता है क्योंकि इनमें हर्ष और उसके बाद के व्यक्तियों और कुलों का वर्णन नहीं मिलता। इन तालिकाओं के कारण ही पुराण प्राचीन राजनीतिक इतिहास के विषय में अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। इनकी सत्यता इस प्रकार और भी निश्चित हो जाती है कि इनके राजवंशों का वर्णन तत्कालीन बौद्ध और जैन ग्रन्थों में भी मिल जाता है।

इन पुराणों की संख्या प्राचीन परम्परा के अनुसार अठारह है। ये निम्नलिखित हैं—(१) ब्रह्म (२) पद्म (३) विष्णु (४) वायु अथवा शिव (५) भागवत (६) नारद, (७) मार्कण्डेय (८) आग्नेय, (९) भविष्य, (१०) ब्रह्मवैवर्त, (११) लिङ्ग, (१२) वाराह, (१३) स्कन्द (१४) वामन (१५) कूर्म (१६) मत्स्य, (१७) गरुड और (१८) ब्रह्माण्ड। यह तालिका सभी पुराणों में दी हुई है। इन पुराणों के अतिरिक्त कुछ महापुराण और उपपुराण भी हैं।

ब्रह्म पुराण को आदि पुराण भी कहते हैं, परन्तु वास्तव में इसका कुछ ही भाग प्राचीन है। पद्म-पुराण बृहदाकार है। इसके ६ काण्ड हैं—आदिकाण्ड, भूमिकाण्ड, ब्रह्मकाण्ड, पातालकाण्ड, सृष्टिकाण्ड और उत्तरकाण्ड। विष्णु-पुराण अन्य पुराणों की अपेक्षा एक काव्य-सा प्रतीत होता है। इसके भी ६ भाग हैं। वायु-पुराण का दूसरा नाम शिव पुराण भी मिलता है। इस पुराण में चौथी शती ई० के गुप्त शासन और उस राज्य के प्रसार का उल्लेख है। भागवत-पुराण भक्तों में बहुत प्रसिद्ध है। इसके वर्णित विषय विष्णु-पुराण के विषय से बहुत मिलते हैं। सम्भवतः यह उसी पर अवलम्बित है। और दसवीं सदी ईस्वी तक यह संकलित हो चुका था। बृहन्नारदीय पुराण भक्ति-विषयक पुराण है और इसमें 'सर्ग-प्रतिसर्गों' का पुराण-परक वर्णन भी नहीं है। मार्कण्डेय पुराण विष्णु, वायु और अग्नि पुराणों की भाँति ही प्रधान पुराणों में से है। उनमें से प्राचीनतमों में से यह एक है। पार्जिटर की राय में इसके कुछ भाग तृतीय शताब्दी ईस्वी अथवा इससे भी प्राचीन हैं। अग्नि-पुराण एक विश्वकोष जैसा है, जिसमें भगवद्गीता से लेकर अलंकार शास्त्र तक के निचोड़ हैं। भविष्य पुराण में भविष्य कथन है और शाकद्वीप के भोजक और मग वर्ग के सूर्य पुजारियों का वर्णन है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में वैष्णव सम्प्रदाय की स्तुतियाँ आदि दी गई हैं। लिंग पुराण में लिंगपरक शैव पूजा का माहात्म्य है। वाराह-पुराण में भी विष्णु के वाराहावतार की कथा है। स्कन्द-पुराण भी शैव सम्प्रदायपरक पुराण है, परन्तु इसके अतिरिक्त भी इसमें पुराणोचित अनेक विषय हैं। कूर्मपुराण में विष्णु शिव और [illegible] पर विचार है। मत्स्य पुराण भी प्राचीन पुराणों में से एक है। इसमें भी राजाओं की वंशावलि दी गई है और [illegible] है। गरुड़-पुराण वैष्णव पुराण है। ब्रह्माण्ड पुराण सम्भवतः वायु पुराण का प्राचीन रूप है। इसमें [illegible] माहात्म्य और [illegible] है। [illegible] हो गया है।

[illegible] पुराण, [illegible] है, [illegible] है कि [illegible] कहते हैं।

इससे दूसरी शती ई० पू० के इतिहास और ग्रीक-शक आदि के भारत-आक्रमणों पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार का यह अद्वितीय पुराण है।

उपपुराणों में मुख्य निम्नलिखित हैं— विष्णुधर्मोत्तर, बृहद्धर्म-पुराण, शिव-पुराण, गणेश-पुराण, चण्डी-पुराण, शाम्ब-पुराण, कल्कि पुराण, कालिका-पुराण, नीलमतादि। नैपाल की वंशावलियाँ, नेपाल माहात्म्य, वागवती-माहात्म्य आदि भी उपपुराणों से संबंधित हैं।

तन्त्र-साहित्य

संहिता, आगम, और तंत्र—पौराणिक साहित्य पर तान्त्रिक साहित्य का ख़ासा असर पड़ा दिखाई देता है। उसके रूप कई हैं—जैसे शिव-पार्वती के संवाद, गूढ़ मंत्रों और यंत्रों का प्रयोग। परन्तु पुराण जहाँ काव्य का कलेवर धारण कर ख्यातियों और प्राचीन अनुवृत्तों पर ज़ोर देते हैं वहाँ 'तन्त्रों', 'संहिताओं', और आगमों में धर्मतत्त्व का निरूपण है और वे सांप्रदायिक आचार और रहस्यमय मंत्रों और गूढ सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। सूत्रतः संहिताएँ वैष्णवों, आगम शैवों और तंत्र शाक्तों के पवित्र ग्रन्थ हैं। परन्तु इन तीनों के साहित्य में विशेष अन्तर न होने के कारण सबकी तंत्र संज्ञा ही है। सम्पूर्ण तंत्र में चार भाग होने आवश्यक हैं—(१) ज्ञान (सिद्धान्त), (२) योग, (३) क्रिया और (४) चर्या (नियमादि)। प्रत्येक तंत्र में तो ये चारों प्रकरण सदा नहीं होते, परन्तु प्रत्येक में अध्यात्म और रहस्यवाद की चर्चा अवश्य रहती है।

शैव आगमों के विषय में हमारा ज्ञान नहीं के बराबर है। आगम २८ हैं और प्रत्येक के कई-कई 'उपागम' हैं। इनकी तिथि के विषय में कुछ कहना कठिन है।

वैष्णव पाञ्चरात्र संप्रदाय की 'संहिताओं' के विषय में हमारा ज्ञान कुछ अधिक है। अनुश्रुति के अनुसार तो पाञ्चरात्र संहिताओं की संख्या १०८ है, परन्तु वास्तव में उल्लेख २१५ का है, जिनमें से बारह प्रकाशित हैं। प्राचीनतम संहिताओं में से एक 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' है। यह लगभग चौथी शती ईस्वी का काश्मीरी ग्रन्थ है। यद्यपि पाञ्चरात्र-संहिताओं का आरंभ उत्तर में हुआ, उनका प्रसार अधिकतर दक्षिण में ही हुआ। ये प्राय. पाँचवीं से नवीं सदियों के हैं। इन दाक्षिणात्य संहिताओं में से एक प्राचीन संहिता 'ईश्वर-संहिता' है। इसका उल्लेख श्रीरामानुजाचार्य के गुरु यामुनाचार्य ने किया है। आचार्य यामुन का देहान्त १०४० ई० में हुआ था। स्वयं श्रीरामानुज ने 'पौष्कर', 'परम' और 'सात्वत'-संहिताओं का ज़िक्र किया है। नारद पाञ्चरात्र की बृहद्ब्रह्म संहिता में श्रीरामानुज के संबंध में भविष्यद्वाणी होने के कारण स्वयं यह बारहवीं सदी ई० से पूर्व का नहीं हो सकता। नारद पाञ्चरात्र के नाम से प्रकाशित ज्ञानामृतसार संहिता में राधा कृष्ण की प्रशस्ति है और चूँकि इसका विषय वल्लभ संप्रदाय के सिद्धान्तों से मिलता है, अत इसका निर्माण श्रीवल्लभाचार्य से कुछ ही पूर्व लगभग सोलहवीं सदी के आरंभ में हुआ होगा।

तंत्रग्रन्थ साधारणतया शाक्तों के हैं, जिनमें शक्तियाँ प्रधान मानी गई हैं। इसमें पाण्डित्यपूर्ण अध्यात्म-सिद्धान्तों के साथ ही अत्यन्त निगूढ़ रहस्यवाद तथा अन्धविश्वास की बातें भी हैं। इनमें अत्यन्त कठोर आचार का विधान है। अनुश्रुति के अनुसार तंत्र ६४ हैं परन्तु तंत्रों की हस्तलिपियों की संख्या इससे कहीं अधिक है। इनका आदि स्थान बंगाल था, जहाँ से ये बौद्ध संप्रदाय के ज़रिए आसाम और नैपाल तथा तिब्बत और चीन तक फैले। इनमें शिव-पार्वती के संवाद होते हैं। जब शिव उत्तर देते और पार्वती प्रश्न करती हैं तब उसे आगम कहते हैं और जिनमें शिव शिष्य और पार्वती गुरु का आचरण करती हैं उसे निगम कहते हैं।

इन आगमों में प्रधान महानिर्वाण तंत्र है, जिसमें शाक्त धर्म का सर्वोत्तम विवेचन है। यह बहुत प्राचीन तो नहीं है परन्तु महत्वपूर्ण अवश्य है। 'कौल' अर्थात् शाक्तों के प्रधान ग्रन्थों में एक 'कुलार्णव-तंत्र' है, जिसमें छः प्रकार के कुलाचारों का वर्णन है। कौल संप्रदाय का दूसरा प्रधान ग्रन्थ 'कुलचूडामणि' है। यह एक 'निगम' है।

'प्रपंचसारतंत्र' में विश्वतत्त्व का निरूपण है। यह शंकराचार्य द्वारा रचा कहा जाता है। 'तंत्रराज तंत्र' में प्रसिद्ध श्रीयन्त्र का वर्णन है। श्रीयन्त्र में नौ त्रिभुज और नौ वृत्त एक-दूसरे में गुथे हुए दिखाए होते हैं। यह अत्यन्त रहस्यपूर्ण यन्त्र है, जिसका चिन्तन करने से भक्त की देवी के साथ एकता स्थापित होती है। 'कालीविलास-तंत्र' निषिद्ध तंत्र है। 'ज्ञानार्णव तंत्र' में क्रियाओं का विधान है। ११वीं सदी के लक्ष्मण देशिक विरचित 'शारदातिलक-तंत्र' में मंत्रों का निरूपण है।

तंत्रों की प्राचीनतम नैपाली हस्तलिपियाँ सातवीं से नवीं सदी ईस्वी की हैं, अतः इन साहित्य का आरंभ पाँचवीं सदी के पूर्व ही रखना होगा। परन्तु तंत्रों के कुछ तात्त्विक रूप उपनिषदों, ब्राह्मणों और अथर्ववेद तक में मिलते हैं।

उत्तरी हिम-प्रदेश के निवासी एस्किमो—(२)

इस लेख का पूर्वार्द्ध अंक १३ (पृ० १६१७-१६२४) में प्रकाशित हो चुका है। पाठक कृपया उससे क्रम मिलाकर ही लेख का यह शेष भाग पढ़ें।

इसके पहले कि हम अदम्य साहसी एस्किमो के साथ उसकी समुद्री आखेट-यात्रा पर चलें, आइए क्षणभर के लिए उसकी साज-सज्जा पर भी एक सरसरी नजर दौड़ा लें। 'काइआक' नामक उसकी अद्भुत नौका का तो परिचय हम पिछले लेख में पा ही चुके हैं—यही है समुद्री जंतुओं का शिकार करने का उसका प्रमुख साधन और उसका सबसे महत्त्वपूर्ण वाहन, जिसके बल पर प्रकृति को ललकारते हुए वह अपना जीवन निर्वाह करने में समर्थ होता है। सागर-तट पर बहकर आई हुई लकड़ियों द्वारा निर्मित सील की खाल से मढ़ी गई डेढ़ फीट से भी कम चौड़ी और करीब अठारह फीट लंबी यह अनोखी नौका अकेले नाविक के लिए अब तक ईजाद की गई सभी हाथ से खेयी जानेवाली नावों में सबसे अधिक सफल कही जा सकती है। वह आधुनिक विज्ञान की भाषा में इतनी अच्छी तरह से 'स्ट्रीमलाइन्ड' (Streamlined) की हुई होती है कि खेये जाते समय उसकी गति में जल और वायु की अवरोधक शक्ति के कारण कम-से-कम बाधा पड़ने पाती है, और वज़न में इतनी हलकी होती है यह कि अपने सारे साज-सामान के साथ आसानी से एक आदमी द्वारा सिर पर उठाकर मीलों ले जाई जा सकती है! जैसा कि पिछले लेख में बताया जा चुका है, इसके मध्यभाग में मढ़ी हुई खाल के बीच एक आदमी के बैठने भर को एक गड्ढा-सा बना रहता है, जिसमें पैर डालकर नाविक बैठ जाता है और ऊपर से [illegible] का बना हुआ एक विशेष प्रकार का [illegible] जैकेट पहन लेता है, जो उसकी कमर तक पहुँचता है और नौका पर [illegible] के साथ बँधकर इस प्रकार [illegible] हो जाता है कि न नाविक को पानी से भीगने [illegible] रहता, न नौका के ही भीतर पानी की एक बूँद तक घुस पाने का कोई मार्ग शेष रह जाता है। काइआक को खेने के लिए एक प्रकार का दोमुँहा डाँड काम में लाया जाता है, जिसे बीच से आड़ा पकड़कर नाविक अपनी जगह से हिले बिना ही दाएँ बाएँ दोनों बाजू सपाटे से पानी काटता रहता है। इस अद्भुत नाव के साथ उन अजीब हथियारों पर भी जब हम निगाह डालते हैं, जो कि नाविक की बैठक के आसपास बड़े मौके से सजे रहते हैं, तब यहीं एस्किमो की आविष्कार-प्रवीणता और वातावरण के अनुकूल साधन जुटाने की उसकी विलक्षण व्यावहारिक बुद्धि का सच्चा परिचय हमें मिलता है। इन अस्त्रशस्त्रों की सबसे उल्लेखनीय विशेषता उनके उस विचित्र आयोजन में होती है, जिससे पानी पर दूर से फेंके जाने पर भी वे न तो शिकार के साथ गायब होकर खो ही पाते हैं, न बार-बार विनष्ट होने के कारण उन्हें बदलने की ही आवश्यकता रहती है। वे हमारे पुराणों में वर्णित उन बाणों जैसे होते हैं, जो अपना काम समाप्त कर वापस योद्धा के तरकश में चले आते थे! आप कहेंगे कि यह कैसे संभव हो सकता है—क्या कभी कोई बाण शिकारी के हाथ से छूटकर अपने आप उसके पास पुनः वापस भी लौट सकता है! किन्तु [illegible] और [illegible] कहे जानेवाले एस्किमो लोगों ने [illegible] दिखाई देनेवाली बात को भी [illegible] दिखाया है और सो भी बहुत ही [illegible] तरीके से। उन्होंने [illegible] का आधार लिया—[illegible] फेंके जानेवाले अपने विविध हथियारों में उन्होंने [illegible] की [illegible] बाँध दी [illegible] जो [illegible] में [illegible] है, दूसरे [illegible] के [illegible] (Bladder) [illegible] कि वह पानी पर तैरती रहे और यदि

'काइआक' पर सवार होकर सील और वालरस का शिकार

यदि इस क्षण शिकारी ज़रा भी अपना निशाना चूक जाय तो फिर मौत ही से सामना है! इसी घड़ी में एस्किमो की दृढ़ता का सच्चा परिचय मिलता है।

यार को डूबकर खो न जाने दे। इस तरह एक पत्थर से उन्होंने दो शिकार मार लिये—जहाँ उन्होंने अपने औज़ार को खो जाने से बचा लिया, वहाँ साथ-ही-साथ निशाना ठीक बैठने पर घायल शिकार को भी अपना बंदी बना लेने की योजना उन्होंने कर ली। अन्यथा समुद्र के विशाल पट पर शिकार मार चुकने पर भी क्या ठिकाना था कि वे उसे पा ही जाते—संभव है कि वह डुबकी लगाकर ख़ुद भी ग़ायब हो जाता, साथ ही उनके हथियार को भी ले डूबता! एस्किमो के इन हथियारों में सबसे महत्त्वपूर्ण 'हार्पून' (Harpoon) होता है, जो उनका शिकार करने का प्रधान अस्त्र है और जिसका प्रयोग अब योरपवाले भी ह्वेल मछली के शिकार के लिए करते हैं। वस्तुतः इन हथियारों में एस्किमो जाति के न जाने कितने हज़ार वर्षों के कटु अनुभव और निरन्तर प्रयोगों की कहानी निहित है। उन्हें हम आवश्यकता की पुकार पर आविष्कार का पल्ला पकड़ने की मानवीय प्रवृत्ति के मूर्त्तिमान् प्रतीक कह सकते हैं। ज़रा सोचिए कि यदि सुदूर ध्रुव-प्रदेश के ऊजड़ हिमखण्ड में जा फँसी मानवता की इस एकाकी टोली ने इन निराले साधनों और उपक्रमों का अवलंब न लिया होता तो उसकी क्या दशा हुई होती? क्या वह अपना अस्तित्व रख पाती?

सील और वालरस जैसे जन्तुओं का शिकार करना कहने में जैसा सरल मालूम देता है वैसा कोई खिलवाड़ या हँसी-ठट्ठे का खेल नहीं होता। यदि हम उसे खेल ही कहें तो वह होता है जान की बाज़ी बदने का एक खेल, जिसे एस्किमो जैसे निर्भीक और धैर्यवान् खिलाड़ी ही खेल सकते हैं। वस्तुतः शिकार की संकटापन्न स्थिति में ही हमें एस्किमो के सच्चे स्वरूप को देखने का अव-

सुख मिलता है। प्रायः सारे योरपियनों ने सामाजिक व्यवहार में इन लोगों को असीम सहिष्णुता तथा विनम्रता से काम लेते और तलवार का जवाब तलवार से न देने की नीति बरतते देखकर इन पर 'कायर' होने का आरोप किया है, किन्तु एस्किमो लोगों के जातीय शब्द-कोश में वीरता का अर्थ रोष के आवेश में अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठना नहीं, प्रत्युत् विकट से-विकट संकट का सामना पड़ने पर भी अपनी स्थिरता, गम्भीरता और विवेक बुद्धि को अडिग बनाए रखना ही है। और इसका परिचय हम उनकी जीवन चर्या में पग पग पर मिलता है। वे उस लोलुपता और पारस्परिक द्वेषभाव के शिकार नहीं, जिसके विष में तथाकथित सभ्य कहलानेवाली जातियाँ दहक रही हैं। यह सच है कि उनका जीवन भी एक कठोर संघर्ष है—सम्भवतः संसार की अन्य सभी जातियों से अधिक कठोर। किंतु उनकी लड़ाई प्रकृति से ही है, उसी से अपने मुँह का ग्रास छीनने को वे सदैव जूझते रहते हैं, हमारी तरह स्वयं आपस में छीना-झपटी करना उन्होंने नहीं सीखा।
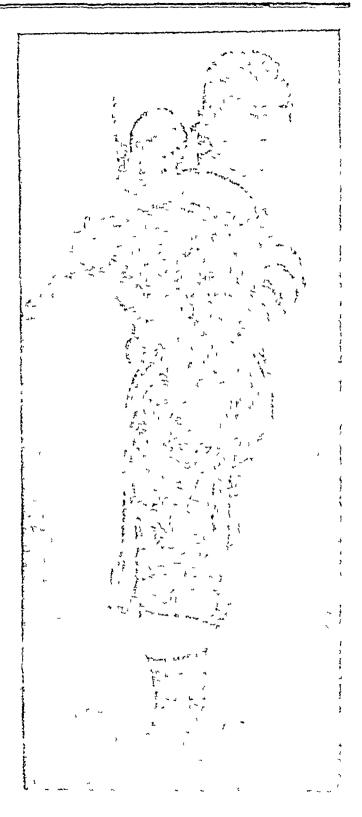
यहाँ तक कि पुरुष जब सील, वालरस आदि का शिकार करके वापस लौटता है तो स्त्रियों का ही यह काम होता है कि उन मारे हुए जंतुओं को समुद्र-तट से उठाकर या घसीटकर घर तक लावें। पुरुष तो यदि शिकार के अलावा अवकाश के समय में कोई और काम देखते-भालते हैं तो केवल अपने हथियार-औजारों को ही, और उनकी भी सजावट आदि में स्त्रियों का ही हाथ विशेष रहता है। वे तो सुबह पौ फटी नहीं कि अपनी काइआक सँभालकर समुद्र की लहरों के साथ फिर होड़ बदने को चल देते हैं—या जाड़े का मौसम हुआ तो बारहसिंघों की खोज में अपने कुत्तों के साथ आखेट को निकल पड़ते हैं। प्रायः सील, वालरस आदि तट से दूर समुद्र की किसी ख़ास जगह में झुंड के झुंड मिलते हैं—ऐसी जगह ही एस्किमो का शिकारगाह होता है, जिसका निश्चित पता उन्हें होता है। इन जंतुओं का शिकार करने को जब वे जाते हैं तो बड़े तड़के ही सोते से उठकर वे सागर-तट की किसी ऊँची-सी चट्टान पर चढ़कर पहले यह जानने की कोशिश करते हैं कि दिन का मौसम कैसा रहेगा। बरसों से समुद्र की छाती अपना खेल खेलते-खेलते उनकी आँखें उसके स्वभाव इतनी अधिक परिचित हो चुकी होती हैं कि उसकी ल की आवाज भर से वे अदाज लगा लेते हैं कि आया दिन शांत रहेगा या एक विकट तूफान खड़ा हो जायग जब उन्हें मौसम अनुकूल प्रतीत होता है तो तुरन्त अपने झोपड़ों में वापस आकर वे हथियार औज़ारों सं अपनी-अपनी काइआक उठाते हैं और बिना कुछ ख पिए ही अपनी शिकार की पोशाक पहन निश्चित शिक गाह की ओर झपाटे से डॉड़ चलाते हुए दौड़ पड़ते प्रायः एक साथ ही तट की विभिन्न बस्तियों से ऐसे शिकारियों की नौकाएँ एक ही दिशा में अग्रसर होते दिख देंगी। उस समय ऐसा प्रतीत होता है मानो काले-क पक्षियों का एक दल लहरों को चूमता हुआ समुद्र ओर उड़ा चला जा रहा हो।

लगभग दो-ढाई घंटों तक लगातार चलाकर वे अपने शिकार की जगह पर प पाते हैं। इस बीच रास्ते भर गप-शप, हँ मज़ाक, और मीठी चुटकियों का ताँता ल रहता है। यदि चलते-चलाते कहीं कोई स चिड़िया उनके लपेट में आ गई तो बिजली तड़प की तरह तुरन्त ही किसी एक शिव के हाथ से बर्छीनुमा कोई एक शस्त्र ब की तरह छूटते आप देखेंगे और बात की में वह पक्षी हथियार सहित खिंचकर काइआ में आ गिरेगा! किन्तु यह तो रास्ते च की मुफ़्त की कमाई हुई—ख़ास निशाना और ही है। वह देखिए, शिकार की निश्चि जगह आ पहुँची। अब बिल्कुल चुप्पी ह जाइए—डॉड़ों को भी ऐसे आहिस्ते से चल इए कि ज्यादा छपछप न हो, वरना वे पानी की सतह के ऊपर काली-काली सी चीजें डूबती-उतराती दिखाई पड़ रही हैं, प भर में आँखों से ओझल हो जायँगी! तो वे अनमोल मोटी ताज़ी सीलें हैं, जिन टोह में शिकारियों का यह दल समुद्र लहरों को चीरते हुए इतनी दूर तक आ है। देखिए, किसी ने असावधानी से पा पर छपछप की यह आवाज़ की और ये सब

एक एस्किमो पुरुष और उसकी स्त्री

इधर योरपियनों के संसर्ग में आने के बाद एस्किमो बारहसिंघों के शिकार में बंदूक से भी काम लेने लगे हैं।

सब चौंक सी उठीं। किस तरह अपनी गरदन उठाकर वे उन गोल गोल सशंकित आँखों से इधर-उधर घूर रही हैं! नहीं, जल्दबाज़ी करना उचित न होगा। मुमकिन है, वे भड़ककर एकदम ग़ायब हो जायँ।

और हमारे ये चतुर शिकारी इसी तरह धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए घंटों उचित अवसर की तलाश करते रहते हैं। तब अचानक टोली में से किसी एक शिकारी को नज़दीक ही एक असाधारणतया हृष्ट-पुष्ट सील पानी से ऊपर गरदन उठाए दिखाई पड़ती है और वह फ़ौरन् ही चौकन्ना होकर मानो बिजली की तरह उसकी ओर लपकता है। किन्तु वह हार्पून उठाकर निशाना ताके तब तक तो वह जानवर पानी में डुबकी लगाकर फिर ग़ायब हो जाता है। अब लुका छिपी का एक मज़ेदार खेल शुरू होता है। शिकारी पिछले अनुभव से खूब जानता है कि अमुक जगह पर डुबकी लगाकर सील फिर किस जगह पर कितनी देर बाद निकलेगी। वह न तो उसका पीछा छोड़ता है न अपना धैर्य ही खोता है। अंत में अनुकूल अवसर आया देख वह ताककर शिकार मारता है और सरसराता हुआ हार्पून सील के बदन में जा घुसता है। घायल सील एक अजीब थरथराहट से काँप-सी उठती है—उसकी दुम फड़फड़ाती है और एक बार ऊँचे उछलकर हार्पून की रस्सी को खींचते हुए वह पानी में बड़े ज़ोर से गोता मारकर ग़ायब हो जाती है। पर अभ्यस्त शिकारी तत्काल ही [illegible] के साथ तेज़ी से सरसराती हुई बढ़ती चली जा रही हार्पून की रस्सी के पीछे काइयाक को बढ़ा देता है और इस बीच अपने दूसरे अस्त्र—[illegible]—को संधान कर फिर से शिकार के ऊपर आने की मानो साँस रोककर प्रतीक्षा करता रहता है। आख़िर दो-चार मिनट में घायल सील को फिर पानी के ऊपर आने को विवश होना पानी पर एकदम सीधी खड़ी हो शिकारी को जैसे चबा डालने को उस पर टूट पड़ती है! किन्तु इसी समय एक और तीक्ष्ण बर्छा उसकी छाती में झक् से घुसकर उसका काम तमाम कर देता है और जो कुछ काम शेष रह जाता है उसे शिकारी का तीखा लंबा छुरा पूरा कर देता है। तब सावधानीपूर्वक अपने बर्छों और हार्पून को उसके बदन में से निकालकर शिकारी उसे नौका की बाजू में बाँध देता है और पुनः दूसरे शिकार की टोह में आगे बढ़ जाता है। इस प्रकार तब तक उसका काम जारी रहता है जब तक कि दो-चार सीलें वह नहीं मार लेता। किन्तु सदैव सबको आसानी से ही इस तरह शिकार हाथ नहीं लग जाया करता। कभी कभी निशाना ठीक बैठ जाने पर भी हार्पून की रस्सी में उलझकर शिकार के साथ ही शिकारी भी काइयाक सहित पानी के भीतर खिंचता चला जाता है और इस तरह उसके प्राणों पर आ बनती है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी यह भी होता है कि मौसम के एकबारगी ही बिगड़ जाने पर तूफ़ानी लहरों की प्रचण्ड थपेड़ से लड़खड़ाकर या घायल शिकार के प्रत्याक्रमण से अपना संतुलन खोकर काइयाक एकदम उलट जाती है और उस समय यदि नाविक इतना होशियार न हुआ कि उलटी हुई नाव को फिर से अपने बदन के एक झटके से ही सीधी कर ले तो उसके प्राण जाने की नौबत आ जाती है। और सील के बजाय जब वालरस जैसे भीमकाय भयानक जंतु से कभी उलटा सामना पड़ जाता है तब तो मानो लोहे के चने चबाना पड़ता है। वालरस एक दानवाकार जानवर होता है—लगभग बारह-तेरह फ़ीट लंबा—और उसके जबड़े से सूअर की तरह लंबे दाँत बाहर निकले रहते हैं, जिनकी लपेट में आने पर वह आदमी को चीरकर फेंक सकता है। इस जानवर का

लगती हैं, तट पर एक हर्ष-ध्वनि गूँज उठती है और यदि ह्वेल जैसा कोई बड़ा जानवर मारकर लाया गया हो तब तो सारा गाँव ही उसमें से अपना-अपना हिस्सा बँटाने को तट पर आ डटता है।

यहाँ हमें एस्किमो के सामाजिक जीवन की एक ख़ास विशेषता की झलक देखने को मिलती है। आपको यह जानकर अचरज होगा कि जहाँ संसार की सभ्य कहलानेवाली जातियाँ अभी साम्यवाद के कोरे राग ही अलाप रही हैं, वहाँ इन असभ्य कहलानेवाले एस्किमो लोगों में न जाने कब से एक प्रकार का सच्चा व्यावहारिक साम्यवाद समाज में प्रचलित है। उदाहरण के लिए जब कोई शिकारी सील, वालरस आदि का शिकार करके लाता है तो उसे उसके 'ब्लबर' (Blubber) अर्थात् चर्बीले अंश विशेष का एक एक टुकड़ा अन्य प्रत्येक शिकारी को देना पड़ता है, चाहे उसे उनसे शिकार में कोई मदद मिली हो या न मिली हो! गाँव में आने पर बस्ती के प्रत्येक बच्चे को भी इसी तरह ब्लबर का एक-एक टुकड़ा खाने को मिलता है। और जब कोई शिकारी ह्वेल मछली को मारकर लाता है तब तो सारे गाँव को उसमें अपना हिस्सा बँटाने का अधिकार होता है। यही नहीं, जब गाँव में अकाल की दशा होती है तो लोगों के पास जो कुछ भी माँस होता है वह सब मिलकर बाँट लिया जाता है और फिर यदि फाँका करना पड़ता है तो सभी मिलकर भूखों मरते हैं। एस्किमो लोग भूमि पर अपना कोई व्यक्तिगत अधिकार नहीं मानते—वस्तुतः कुछ हथियार औजारों और काइआक नौकाओं अथवा पहनने के कपड़ों को छोड़कर इन लोगों में व्यक्तिगत जायदाद नामक कोई चीज़ ही नहीं होती। इनमें उदारता की मात्रा इस दर्जे तक बढ़ी-चढ़ी होती है कि यदि कोई पथिक एस्किमो लोगों की बस्ती में पहुँच जाय तो वह जिस किसी भी झोपड़े का द्वार पहले खटखटाएगा वहीं उसे तुरन्त आश्रय मिल जायगा और वहाँ वह चाहे जितने दिन भी ठहरेगा कोई मना न करेगा। बल्कि जब वह जाने लगेगा तो ये लोग उसके साथ कई दिन के लिए खाना भी बाँध देंगे! इस प्रकार आज के सभ्य जगत् को यह आदिम जाति बहुत कुछ सबक सिखा सकती है।

जैसा कि पिछले लेख में बताया जा चुका है, एस्किमो संसार में सबसे अधिक हँसमुख, प्रसन्नचित्त और निर्द्वन्द्व प्रकृति के लोग हैं। उन्हें अपने कठोर संघर्ष से इतना अवकाश ही कहाँ कि वे एक-दूसरे से लड़ना-झगड़ना या व्यर्थ का फिसाद करना सीखें! वस्तुत: वे गाली-गलौज नाम की कोई चीज़ ही नहीं जानते—उनकी भाषा में गाली देने के लिए कोई शब्द ही नहीं बना! उनका तो आदर्श है—'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्।' वे कभी किसी के दिल को चोट नहीं पहुँचाते। उनका स्वभाव एकदम सरल निष्कपट बच्चों का-सा होता है। और यही उनकी सबसे बड़ी थाती है, जिसके बल पर भूतकाल के सताप और भविष्य की चिन्ता से मुक्त होकर वे अपना जीवन सन्तोष के साथ बिताते रहे हैं। वे न तो झूठ ही बोलते हैं, न उन्हें चोरी करना ही आता है। यदि कोई किसी को कुछ उधार देता है तो फिर उस चीज़ को वापस नहीं माँगता। यदि कोई समुद्र में बहकर आई हुई लकड़ियों को बटोरकर तट पर जमा कर दे तो चाहे वह ढेर बरसों वैसा ही क्यों न पड़ा रहे, दूसरा कोई उसे हाथ न लगाएगा।

हाँ, जब से तथाकथित सभ्य योरपीय जातियों ने इन पर ज़बर्दस्ती अपने आचार-विचार, धर्म, व्यापार, आदि लादकर इन्हें 'सुधारने' तथा 'सभ्यता के दायरे में लाने' का प्रयत्न करना शुरू किया है तब से इनके सरल एकान्त जीवन में बहुत बड़ी खलबली पैदा हो गई है। प्रकृति के ये भोले-भाले प्राणी सभ्यता की छूत लगने के बाद से न केवल अपना स्वास्थ्य, जातीय शुद्धता, परंपरागत दृढ़ता और निष्कपट स्वाभाविक प्रवृत्ति ही धीरे धीरे खोते चले जा रहे हैं, बल्कि आसार ऐसे दिखाई देने लगे हैं कि कहीं वे अपने अस्तित्व ही से हाथ न धो बैठें! उनकी जनसंख्या चेचक, खसरा, क्षय आदि 'सभ्य संसार' के रोगों के नवागत आक्रमण से दिन पर दिन घटती चली जा रही है और जो कुछ लोग बचे हैं उनमें भी वर्णसंकरता का प्राबल्य बढ़ता जा रहा है! सचमुच ही जो जाति हज़ारों वर्षों से प्रकृति की विषम कठोरताओं द्वारा दबाए न दबी, वह गोरी सभ्यता के एक ही प्रहार से कुलबुला उठी! यह इस बात का एक जीता जागता उदाहरण है कि रूढ़ियों के किसी विशेष वातावरण में लालित पालित लोगों के लिए एक विदेशी संस्कृति या नवीन पद्धति का जीवन, फिर चाहे वह उत्कृष्ट ही क्यों न हो, कितना आत्मघातक सिद्ध हो सकता है। उनके लिए तो उनकी परंपरा ही वरदानतुल्य होती है।